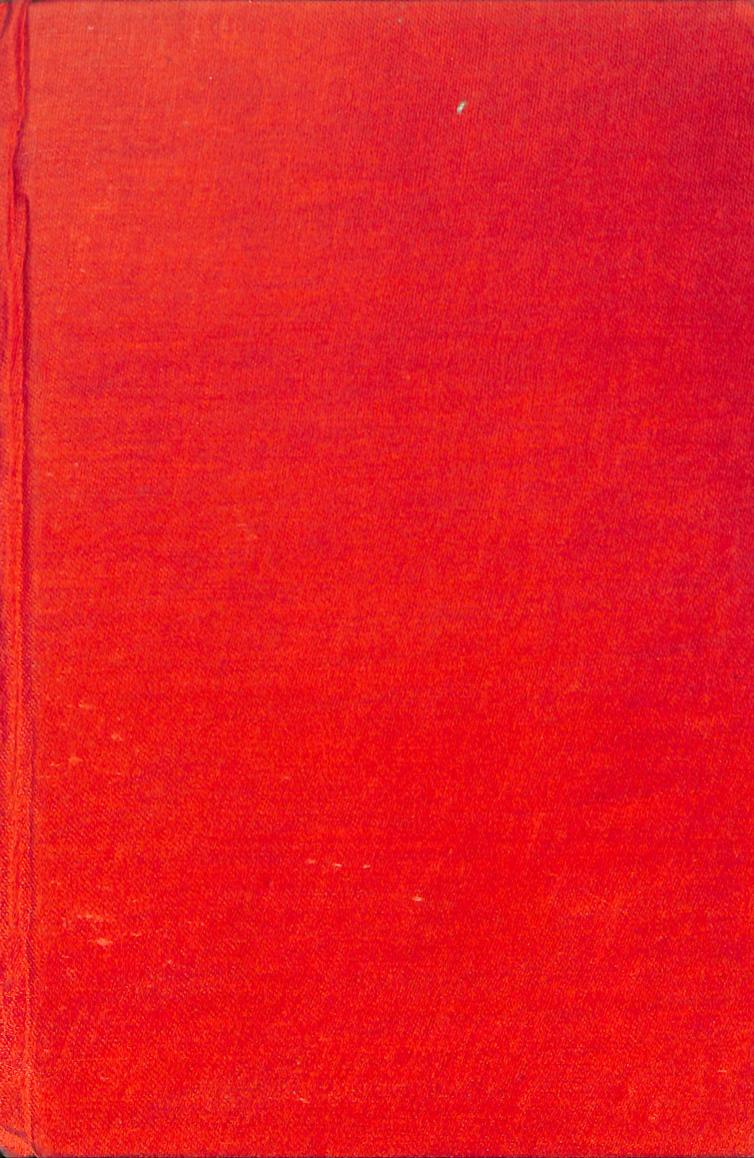
PARÁŠARA-MÁDHAVA

(Text, Commentary with English Introduction)

Vol. I ĀCHĀRAKĀŅŅA



Dr. N. P. UNNI



PARĀŚARA-SMŖTI

PARĀŚARA-MĀDHAVA

Vol.-I

ACHARAKANDA

With the gloss by

MADHAVACHARYYA

Edited with the notes by M. M. CHANDRAKANTA TARKALANKARA

Introduction by

N. P. UNNI

ORIENTAL BOOK CENTRE Delhi (India)

Published:

Oriental Book Centre

5824, New Chandrawal,

(Near Shiv Mandir), Jawahar Nagar,

Delhi-110007

Ph.: 23851294, 65195809

E-mail: newbbc@indiatimes.com

All rights reserved, no part of this Publication may be reproduced in any form or by any means without permission of the Publisher.

Edition: 2007

ISBN: 81-8315-057-8

Laser Type Setting by: :
A-ONE GRAPHICS
JD-18C, IInd Floor, Pitampura,
Delhi-88, Ph.: 65640278, 9811167357

Printed By:
Jain Amar Printing Press
Delhi-110007

पराशर-स्मृतिः

श्रीमन्माधवाचार्य्यकृतव्याख्या सहिता

आचारकाण्डरूप प्रथमभागात्मिका

महामहोपाध्याय श्रीचन्द्रकान्त तर्कालङ्कार परिशोधिता

भूमिका एन. पी. उन्नी

ओरिएंटल बुक सेन्टर दिल्ली (भारत) प्रकाशक :

ओरिएंटल बुक सेन्टर

5824, न्यू चन्द्रावल, निकट शिव मन्दिर,

जवाहर नगर,

दिल्ली-110007

Ph.: 23851294, 65195809

E-mail: newbbc@indiatimes.com

संस्करण: 2007

ASSES.

ISBN: 81-8315-057-8

अक्षर संयोजक :

ए-वन ग्राफिक्स

जे. डी.-18सी, पीतमपुरा, दिल्ली-110088

फोन: 65640278, 9811167357

मुद्रक : जैन अमर प्रिंटिंग एजेन्सी, दिल्ली

Contents

Vol. I

| Introduction: | |
|-------------------------------|---------|
| (1) The Smrtri Literature | 1-50 |
| (2) Parāśara - The Author | 51-53 |
| (3) Mādhava - The Commentator | 54-63 |
| (4) Contents of the Smrti | 64-99 |
| (5) Vyavahārakāņḍa | 100-122 |
| ACHARAKANDA | |
| आचार-काण्ड रूप | |
| प्रथम अध्याय - | 1-423 |
| द्वितीय अध्याय - | 424-569 |
| तृतीय अध्याय - | 569-796 |
| Vol II | |
| PRĀYAŚCHITTAKŅDA | |
| प्रायश्चित्तकाशु | |
| चतुर्थ अध्याय: - | 1-49 |
| पञ्चम अध्याय: | 50-60 |
| षष्ठाऽअध्याय: - | 61-112 |
| सप्तमोऽध्याय: - | 113-151 |
| अष्टमोऽध्याय: - | 152-199 |
| नवमोऽध्याय: - | 200-237 |
| दशमोऽध्याय: - | 238-292 |
| एकादशोऽध्याय: - | 293-361 |
| द्वादशोऽध्याय: - | 362-538 |
| | |

(ii)

Vol III

| व्यवहारकाण्डम् | |
|---|---------|
| अथ व्यवहार: प्रस्तूयते | 1-3 |
| अथ तङेदा विरूप्यन्ते | 4-8 |
| अथ सभा निरूप्यते | 17-28 |
| अथ व्यवहारदर्शनविधि निरूप्यते। | 28-36 |
| अथ सेधादिविधि: | 37-41 |
| अथ दर्शनोपक्रमः | 41-46 |
| अथ चतुष्पाद्व्यवहार: प्रस्तुयते | 46-53 |
| अथ उत्तरपादो: निरूप्यते | 53-60 |
| अथ क्रियापाद: | 60-64 |
| अथ साक्षिनिरूपणम् | 64-131 |
| अथग्निविधि | 131-137 |
| अथ जलविधि: | 137-141 |
| अथ विषविधि: | 141-146 |
| अथ तण्डुनविधिः | 146-147 |
| अथ तप्तमाषविधि: | 147-149 |
| अथ धर्म्माधर्म्मविचारविधिः | 149-150 |
| अथ क्रमप्राप्तो निर्णयपाद: कथ्यते | 150-173 |
| इदानीमाधिनिरूप्यते | 173-182 |
| अथिधमोचनम्। | 182-185 |
| अथ प्रतिभू: | 185-190 |
| अथर्णग्रहणधर्मा: | 190-204 |
| अथ निक्षेपाख्यस्य द्वितीयपदस्यविधिरुच्यते | 205-230 |
| अथ र्वतनस्यानपाकम्मरिख्यं विवादपदमुच्यते | 231-246 |
| अथ साम्बद्व्यतिमाख्यविवादपदस्य विधि रुच्यते | 247-255 |
| अथं क्रीतानुशयः कथ्यते। | 255-258 |
| अथ विक्रौयासम्प्रदानम् | 258-262 |
| | |

| अथ स्वामीपाल विवाद: पदविधि। | 262-269 |
|--|---------|
| अथ सोमाविवाद: निर्णय। | 269-283 |
| अंथ दण्डपारूष्यम्। | 283-293 |
| अथ वाक्यपारूष्यम्। | 293-297 |
| अथ स्तेयम् | 298-307 |
| अथ साहसम् | 307-315 |
| अथ स्त्रीसङ्गहणम् | 315-325 |
| अथ दायभागाख्यंव्यवहारपदं कथ्यते। | 326-388 |
| अथ द्यूतसमाह्वयाख्येविवादपदे निरूप्येते - | 388-396 |
| पराशर माधवस्यशुद्धिपत्रम् - आचार काण्डम् | 1 |
| पराशरमाधवस्याकादिक्रमेण विषय सूचि - | 1-28 |
| पराशरमाधवोल्लिखितप्रवृक्तृणमकारादिक्रमेण | 29 |
| प्रज्ञापनपत्रम् - | |
| पराशरमाधवोल्लिखितस्मर्कृणमकारादिक्रमेण | 30-47 |
| प्रज्ञापनपत्रम् - | |
| पराशरमाधवोल्लिखितानांदार्शनिकानामकारादिक्रमेण | 48 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितनिबन्धकृर्कृणमकारादिक्रमेण | 49 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितानाम्प्रवचनानामकारादिक्रमेण | 50-52 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितानाम्निर्दिष्टप्रवचनां श्रुतीनां | 53-55 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितानाम्निर्दिष्टस्मर्तृकानां स्मृतीनां | 56 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितानाम्पुराणानामकारादिक्रमेण | 57-60 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितानाम्निर्दिष्टपुराणानामांपुराणसन्दर्भानां | 61 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |

| पराशरमाधवोल्लिखतानाम्इतिहासग्रन्थानां | 62-63 |
|--|--------|
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितानाम्श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासातिरिक्त ग्रन्थानां | 64 |
| प्रज्ञापनपत्र म् | |
| प्रराशरमाधवोल्लिखितानाम्दार्शनिक ग्रन्थानां-प्रज्ञापत्रम् | 65 |
| पराशरमाधवोल्लिखितानाम्निबन्धग्रन्थानां प्रज्ञापत्रम् | 66 |
| शुद्धिपत्रम् - व्यवहारकाण्ड- | 1-2 |
| अवतरिणका - | 1 - 11 |
| विषयसूचि - व्यवहार काण्डस्य | 1-21 |
| पराशरमाधवोल्लिखितश्रुतीनामकारादिक्रमेण | 22 |
| प्रज्ञापनपत्रम् - | |
| पराशरमाधवोल्लिखितनिर्दिष्टास्मर्तृनामस्मृतीनां | 23 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितगीतावाक्यानां | 24 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितपुराणनाममकारादिक्रमेण | 25 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितनिर्दिष्टनामपुराणवाचनाना | 26 |
| मकारादिक्रमेण-प्रज्ञापनपत्रम् | 20 |
| पराशरमाधवोल्लिखितेतिहासनाम्नामकारादिक्रमेण | 27 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | 27 |
| पराशरमाधवोल्लिखित स्मृर्त्तनाम्नामकारादिक्रमेण | 28 |
| शुद्धिपत्रम् - प्रायञ्चित्तकाण्डम् | |
| विषयसूचि – प्रायञ्चित्तकाण्डम | 1- |
| पराशरमाधवोल्लिखितपौराणिकानामकारादिक्रमेण | 1-35 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | 36 |
| पराशरमाधवोल्लिखित दार्शनिकानामकारादिक्रमेण | 0.5 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | 37 |
| | |

| पराशरमाधवोल्लिखित स्मृतिनिबन्धकृर्त्तणमकारादि क्रमेण- | 38 |
|--|-------|
| प्रजापनपत्रम | 20 |
| पराशरमाधवोल्लिखित वैयाकरण नामकारादिक्रमेण | 39 |
| पराशरमाधवोल्लिखितप्रवचनानामकारादिक्रमेण | 40 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितनामनुक्तप्रवचनानांनुक्तप्रवचनानां | |
| पराशरमाधवोल्लिखित श्रुतीनामकारादिक्रमेण प्रज्ञापनपत्रम् | 41 |
| पराशरमाधवोल्लिखत स्मृतिग्रन्थानामकारादिक्रमेण | 42-43 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखत नामनिर्दिष्टस्मर्तृकानांस्मृतीनां | 44 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखित पुराणनामकारादिक्रमेण प्रज्ञापनपत्रम् | 45-47 |
| पराशरमाधवोल्लिखित नामनिर्दिष्टपुराणानाम्नांपुराणनाम्यानां | 48 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितस्मृतिपुराणितरिक्तानांधर्म्मग्रन्थानामकारादि- | 49 |
| क्रमेण प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितदर्शनग्रन्थानामकारादिक्रमेण | 50 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखतस्मृतिनिबन्धनामकारादिक्रमेण | 51 |
| प्रज्ञापनपत्रम् | |
| पराशरमाधवोल्लिखितव्याकरणग्रन्थानामकारादिक्रमेण | 52 |
| प्रजापनपत्रम | |





THE SMRTI LITERATURE

The word Smṛti is used in two senses. It is applied to all ancient orthodox non-Vedic works such as Pāṇini's grammar, to the śrauta, gṛḥya and dharma sūtras, to the Mahābhārata, to Manu, Yājñavalkya and others. In a narrower sense smṛti and dharmaśāstra are synonyms, as Manu says. The word smṛti occurs in Taittirīya Āraṇyaka (I. 2). Gautama (Dh. S. I. 2) and Vasiṣṭha (Dh. S. I. 4) speak of smṛti as one of the sources of Dharma. Āp. Dh. S (II. 6. 15. 25) employs the word smṛti and has in view Gautama's Dharma-sūtra according to Haradatta. In the Pūrvamīmāmsā-sūtra the word smṛti occurs (vide VI. 8. 23 and XII. 4. 42). In the Vedāntasūtras the word smṛti is employed in a wide sense, in one place as referring even to the Sāṅkhya system. In that work word is used, according to Śaṅkara, with reference to the Mahābhārata or the Manusmṛti (Vedāntasūtra II. 3. 47, III. 1. 14, IV. 2. 14).

Manu applies the word Smṛṭi also to works that are opposed to and beyond the pale of the Veda (on XII. 95). But the word is used in this work in a narrower sense viz., Smṛṭi means a work that is not opposed to the Veda or that does not treat the Veda as not authoritative and treats of varṇa, jāti, āśramas and cognate topics. The word Smṛṭi occurs in the Mahābhārata (Śāntiparava 85. 10). But the more frequent word is Dharmaśāstra, though Manu (II. 10) says 'Smṛṭi is Dharmaśāstra'. On Pāṇ. On Pāṇ. I. 2. 64 there is a vārtika 'Dharmaśāstraṁ ca tathā' (39 in Vol. I, p. 242 Kielhorn's ed.). Passages in the Mahābhāśya show that Patañjali had before him a large smṛṭi literature. Vide I. H. Q. Vol. II, pp. 67 ff; I. A. Vol. 14, pp. 326-27 (Kielhorn), I. H.

Q. Vol. XI, pp. 79-90; Dr. F.W. Thomas Presentation Volume pp. 128-133 on 'Mahābhārata verses and very ancient Dharmasūtras and other works' (by the present author). The Mahābhārata is spoken of as Dharmaśāstra, Arthaśāstra and Kāmaśāstra (in Ādi. 2. 383). The word Dharmaśāstreśu or Dharmaśāstrāṇi (in the plural) occurs frequetly in the great epic (vide Vanaparva 207. 83, 293. 34, 313. 5; Śānti. 24. 13, 297. 40, Anuśāna 90. 34). The extant Manusmṛti also (in III. 232) mentions "Dharmaśāstrāṇi." Dharmaśāstra is a much wider term than Dharmasūtra. The Dharmaśūtras are only a few while there the dozens of Dharmaśāstras, Vide p. 21 above for points of difference between Dharmasūtras and Dharmaśāstras.

Smṛtis mirrored the beliefs and practices of people and also influenced writers and ordinary people. For example, Dr. Sternbach in Journal of Bhāratīya-Vidyā, Vol. XI (1961 pp. 221-309), shows how the Pañcatantra stories are often based on or relate to separate judicial problems of civil and criminal law as well as procedure, although it does not solve any of the problems raised. The Raghuvaṁśa (I. 17) states that the subjects of Dilīpa did not swerve in the least from the beaten path laid. Kālidāsa says that Manu laid down that the Dharma of a king was a safeguard varṇas and āśramas (vide Manusmṛti VII. 35). The drama Mṛcchakaṭika (Act IX) shows that a Brāhmaṇa guilty of murder was not to be sentenced to death and the judge refers to the dictum of Manu (probably Manusmṛti VIII. 380) to that effect.

In ancient times the number of smrtis (i. e. works on dharmaśāstra) must have been very small. Gautama mentions by name no Smṛtikāra except Manu, though he speaks of dharmaśāstras (XI. 19). Baudhāyana names seven (besides himself) authors on dharma, viz. Aupajaṅghani, Kātya, Kāśyapa, Gautama, Prajāpati, Maudgalya and Hārīta. Vasiṣṭha names only five authors, Gautama, Prajāpati, Manu, Yama and Hārīta. Āpastamba mentions a large number, viz. ten, some of whom like Eka, Kunika and Puṣkarasādi are no more than mere names to us. Manu speaks of only six (besides himself) viz. Atri, the son of Utathya, Bhṛgu, Vasiṣṭha, Vaikhānasa (or rather Vikhanas) and Saunaka. But in all these works the writers are mentioned

only casually and there is no regular enumeration or list of writers on dharma in one place. Aparārka quotes (p. 7) a sūtra of Gautama (not found in the printed G. Dh. S.) in which sixteen authors of dharmaśātras including himself are enumerated. The same sūtra with slight variations is ascribed to Śańkha-likhita in the Vīramitrodaya (Paribhāṣā-prakāśa, p. 16). Yājñavalkya is probably and earliest writer who enumerated in one place (I. 4-5) twenty expounders of dharma (including himself and counting Śankha and Likhita as two distinct persons). It will be noticed that Yāj. omits Baudhāyana. Parāśara also gives a list of 19 expounders of dharma (excluding himself), but his list differs slightly from that of Yaj. Parasara omits Brhaspati, Yama and Vyāsa and adds Kāśyapa, Gārgya and Pracetas. The Tantra-vārtika (p. 125) of Kumārila speaks of eighteen dharmasamhitās. Viśvarūpa quotes a verse of Vrddha-Yājñavalkya, who adds ten names to the list of Yajñavalkya (vide note 262 above). The Caturvimsatimata is a work which professes to give the views of 24 sages on dharmaśāstra, viz. all those listed by Yāj. except Kātyāyana and Likhita) and six more, viz., Gārgya, Nārada, Baudhāyana, Vatsa, Viśvāmitra, Śankha (Sānkhyāyana?). Angiras as quoted in the Smrticandrikā (I. p. 1), Hemādri (Dānakhanda p. 528), the Sarasvatīvilāsa (p. 13) and other works mention Upasmṛtis. There is a smṛti called Sattrimśanmata quoted by the Mit., Aparārka and other works. Paithīnaśi as quoted in the Smrticandrikā, the Samskāramayūkha and other works enumerates 36 smṛtis. Aparārka says that the Bhaviṣyatpurāṇa speaks of 36 smrtis and his enumeration of them is slightly different from that of Paithīnasi. The Vrddhagautamasmṛti (Jivananda part II. pp. 498-499) gives a list of 57 dharmaśāstras. The Prayogapārijāta as quoted in the Vīramitrodaya enumerates 18 principal smrtis, 18 upasmrtis and 21 other smrtikaras. If all the smrtis cited in the later nibandhas such as the Nirnayasindhu, the Mayūkhas of Nīlakantha and the Vīramitrodaya be taken into account, the number of smrtis will be found to be about 100.

The smrtis thus relied upon are the products of different and widely separated ages. Some of them are entirely in prose or in mixed prose and verse, while the large majority are in verse. A few of them are very ancient and were composed centuries before the Christian era. Such are the dharmasūtras of Gautama, Āpastamba, Baudhāyana, and the Manusmṛti. Some were composed in the first centuries of the Christian era such as the smrtis of Yājñavalkya, Parāśara, Nārada. Most of the smṛtis other than the above fall between the period from 400 A. D. to 1000 A.D. The chronology of all these smrtis presents perplexing problems. Some of the metrical Smrtis are remodellings of older sūtras as in the case of Śankha. There are sometimes as many as two or three different smṛtis going under the same name, e.g. Śātātapa, Hārīta, Atri. Then the confusion is worse confounded by the fabrications of sectarian zeal, such as the Harītasmṛti which is full of Vaisnavite teachings. There are several works going under the names of well-known smrtikāras with the prefixes Vrddha, Brhat, Laghu. In many cases the works going under these names are different from the smrtis that are without these prefixes and this differentiation took place at a very early date in certain cases; for example, so early a writer as Viśvarūpa distinguishes between Yājñavalkya and Vrddha-Yājñavalkya, Gārgya and Vrddha-Gārgya. Similarly, Viśvarūpa quotes (on Yāj. I. 69) Vrddha-Manu and (on Yaj. I. 19) Vrddha-Vasistha, which latter probably was different from the Vasisthadharma-sūtra, as the latter does not contain the details given by Viśvarūpa. In some cases the works designated Vrddha or Brhat are larger and in all cases later than the works without those prefixes. For example, vide Parāśara and Bṛhat-Parāśara (Jivananda part II, pp. 53-309), Gautama and Vrddha-Gautama (Jivananda part II, pp. 497-638). Some of the works with the prefix Vrddha are versified compilations of prose works e. g. Mit. on Yāj. III. 267 quotes a verse from Vrddha-Vișnu which is merely the versified equivalent of Viṣṇu-dharmasūtra chap. 50. 6, 12-14. It appears that sometimes the same work is cited with the prefix Vrddha or Brhat, e.g. the Mit. on Yāj. II. 135 quotes a passage from Brhad-Viṣṇu which is the same as the Viṣṇu-dharmasūtra 17. 4-7.

As most of the writers quote from memory and had recourse to mss. and not to standard editions, even well-known verses are ascribed to different authors in different works. The

verses 'bhrātṛṇām-aprajāḥ' etc., which are quoted as Nārada's (Nārada 16. 25-26) in the Vyavahāramayūkha are attributed to Śaṅkha in the Madanapārijāta (p. 680). The three verses about bandhus are ascribed to Baudhāyana by Mādhava and to Vṛddhaśātātapa by the Madanapārijāta (p. 674).

It may be stated that Inscription from comparatively early times refer to Smrtis, particularly to the Smrti of Manu. The Valabhī grant of Dhruvasena of Valabhī year 207 (i. e. 525-26 A.D.) published in I.A. Vol. II, p. 205 qualifies the king as 'Manvādi-pranīta-vidhi vidhānā-dharmā.' The Palitana plates of Simhadeva in the year 255 of the Valabhī era (e. 574 A.D.) in E. I. Vol. XI, pp. 16-20 of the Sāmanta-Mahārāja-Simhāditya speaks of Varāhadāsa (the father of the ruling chief) as 'one whose intellect was purified by plunging into the waters of the several Smrtis composed by Manu and others. Similarly, in the Palitana plates of Dharasena II of (Gupta Samvat) 252 (i. e. 571 A. D.) in E. I. Vol. XI, pp. 80 at p. 82, we have the striking description of Guhasena (father of Dharasena as one in whose case the title 'raja' was significant because he pleased the hearts of his subjects by properly observing the path laid down by all Smrtis (sakala-smrti-pranīta-mārga-samyak-paripālana-prajāhrdaya-rañjanād-anvartha-rāja-śabdah). In the Pulibumra plates of the Eastern Cālukya king Jayasimha I (632-663 A.D.) occur the words 'Brhaspatiriva nayajño Manuriva vinayajñah, Yudhisthira iva dharmaparāyanah' (E. I. Vol. 15 at p. 256).

The nature and scope of Smrtis

The nature and scope of *Smṛṭi* literature could not be succinctly defined since works belonging to this class show divergent features. The literature has a long history dating back to several centuries.

The word 'Smṛti' has often been used in a wider and narrower sence. In its wider sense the term stands for all literature except 'śruti' or the Vedic literature. The narrower meaning confines confines its scope to 'Dharmaśāstra' and Manu has defined it as "dharmaśāstram tu vai smṛtiḥ". The scope of the

Smrti literature is well brought out by the passage of Manu. The Smrtis are found in both verse and prose forms, and some of these contain a combination of prose and verse. While the early Dharmaśāstras were in the from of aphorisms needing explanation, Smrti texts could be understood better. The scope of the Smrti texts is enumerated by a writer as follows: "with the rise of comprehensive Smrtis in the verse form, the Dharmaśāstra literature became available to a wider audience. It could then serve as a guide to right conduct for all those who wished to regulate their lives according to Dharma. It also provided the norms for regulating for relationships among different strata, persons belonging to different stages of life (āśramas) and sexes. It laid down rules the resolving various types of conflicts and disputes that might arise among persons and groups. The Smrtis, thus, were indispensable for the king who was expected not only to perform the police functions of protecting life and propertiy but to ensure that his subjects did not deviate from the path of their own duty."

According to another suthority Smṛti is a general term applied to orthodox non-Vedic works in contradiction to Śruti, so that the *Dharmaśāstras* fall within the purview of Smṛti. *Dharmasūtras* mean the Sūtras dealing with *Dharma*. Likewise *Dharmaśāstas* or Smṛtis mean the Śāstras dealing with *Dharma* and allied topics. From this it is clear that both have some similatiries. The main differences are the following.

Almost all the works belonging to the class of Dharmasūtras are composed in prose mixed with a few verses, whereas the Dharmaśāstras are composed mostly in verse. The Dharmasūtras do not proceed upon and orderly arrangement of topics while the metrical Smṛtis arrange the topics under distinct heads, as for instance the Yājñavalkyasmṛti is divided under three heads, viz., Ācāra, Vyavahāra and Prāyaścitta. Most of the Dharmasūtras are older than most of the Smṛtis.

Authority of Smrtis

By about 500 A.D. the Hindu society began to recognize Smrti texts as having equal authority to Śruti or Vedic injunction.

In some cases Smrtis gained more authority than Vedic laws since the former conformed more to the established usage in society. Smrti represented to regulation of man's conduct and its aim is thus practical. The Smrtis deal with the metaphysical basis of human relations and the Darsana treatises cite Smrtis as authorities.

The contents of Smṛtis are often incorporated in the epics and *Purāṇas*. Śivadharma, Viṣṇudharma and other topics are taken from Smṛtis and included in epics. In later times the term Smṛti was used in a loose sense and was applied to non-canonical religious literature. Śaṅkarācārya has often referred to Gītā and Mahābhārata as Smṛtis, The Viṣṇusahasranāma also was given a similar authority by the Advaita preceptor.

Smrtis are divided into five categories such as those dealing with worldly matters, connected with unworldly matters, relating to both, those based on reasoning or equality and those which merely recapitulate what has been stated by the elite. The Smrti philosophy conceives the supreme being as one who is eternal.

Duarmaśāstra literature includes the Dharmasūtras, the Smṛtis, the commentaries on them and Nibandhas. The term Smṛti is often translated as law literature. Here the term law also includes religions, customs and usages. The Smṛtis actually originated in close association with the literature on rituals. They are neither collection of rules, nor pure lecturers on law, but they deal with religious duties of men. They are the constituent parts of religious and Vedic literature and were considered to have absolute authority in prescribing the duties and rites of Brahmins in secular and rligious matters.

Smṛti literature

There are differences of opinion regarding the number of Smrtis. It varies from twenty to hundred or more according to different authorities. While some of them are available in full some are available only through quotations in various commentaries and digests. Yājñavalkya has given a list of twenty authors who have composed Smrti works as follows:

Manvatriviṣṇuhārītayājñavalkyośano'nigirāḥ /
Yamāpastamba samvarta kātyāyanabṛhaspatī //
Parāśaravyāsaśankhalikhitā dakṣagautamau /
Śatātapo vasiṣṭhaśca dharmaśāstraprayojakāḥ //

Aparārka the commentator and the author of Bhaviṣyapurāṇa refer to 36 Smṛtis. Śaṅkhalikhita mentions 29 works. Prayogapārijāta and Vaijayantī mention 59 works. Nirṇayasindhu holds that there are a hundred works of the kind. It can be concluded that there are more than a hundred works of the kind dealing with the topics of Dharmaśāstra, though all of them are not important.

Manusmṛti is the oldest of all the Smṛtis and its author Manu is said to be the son of Brahma. The writers who made Hindu law code after Manu considered him as authority and wrote their books on the same model. The work is supposed to have been written by about 7th century B.C., before the time of Alexander. Some consider that it was composed in the second or third century B.C. Manusmrti has 12 chapters and 2694 stanzas. Next in importance is the Yājñavalkyasmṛṭi having three chapters and 1023 verses. It was written between 100 B.C. and 300 B.C. The author has shown a more progressive outlook than his predecessor Manu is several matters. Parāśarasmṛti is one of the important works among the relatively older compositions. It is dated between first and sixth century A.D. It has 12 chapters and 592 verses. Prāyaścitta and rules of conduct form the main development of ancient Indian jurisprudence. The text is available in full. It is dated between 100 and 300 A.D. Bṛhaspatismṛti attributed to Brhaspati is available only in quotations in digests and commentaries. 711 stanzas are available from this work and from them we are able to get an idea of its nature. Kātyāyana the author of Kātyāyanasmṛti represents the high watermark of Smṛti rules about procedure. There are profuse quotations from it in commentaries on the basis of which scholars have reconstructed the text fairly well. Angirasmrti is a minor work having only two sections and 72 stanzas. Hārītasmṛti contains 7 chapters and 194 stanzas dealing wihe creation of the universe, the origin of the four castes, etc. *Dakṣasmṛṭi* as availabe at present has 7 chapters and 208 verses. *Vyāsasmṛṭi* has 4 chapters and 123 stanzas.

It may be seen that the Smrti literature flourished well upto the 10th century A,D., and a number of authorities contributed substantially to enrich this branch of literature which had some contemporary relevance since they dealt with the rules governing the society. Even at present they have a historical value to say the least.

Important Smrtis and their contents.

Manusmṛti

Comprising twelve chapters, the Manusmrti deals with the usual Smrti topics which can be divided into four classes, viz. Ācāra, Prāyaścitta, Vyavahāra and Rājadharma. The highlights of the contents under each head are as follows: (Ch. I) Creation of the world and various creatures—created beings are broadly classified as jarāyuja (born out of uterus), andaja (born out of eggs) and svedaja (arising out of sweat). The plant kingdom has also been mentioned. So also Manu-periods of time and various divisions of time, Duties of castes and the superiority of Brāhmaṇas; (Ch. II) Characteristics and proofs of dharma, Divisions of the land of India—Brahmāvarta, Āryāvarta, Madhyadeśa, etc; Saṃskāras, Vrātyas, rules regarding taking meals, control of senses, rules of salutation, exchange of courtesies, definition and importance of Ācārya, Upādhyāya, Guru, Ŗtvik, Adhyāpaka, Vrata (8 form), mutual relation of husband and wife, five yajñas, duties of householders, Śrāddha, Tarpaṇa; (Ch. IV) Means of livelihood, rules of conduct, condemnation of enjoyment of others' wives, efficacy of ācāra; (Ch. V) Causes of death, eatables, food and drink, āśauca, purification of various things, duties of women; (Ch. VI) Vānaprastha; (Ch. VII) Politics and statecraft (including the use of instruments of punishment, taxation, espionage, appointment of ministers, envoys, political expedients; etc.); (Ch. VIII) Administration of justice, eighteen titles of law, viz. Rṇādāna (non-repayment of debt); Niksepa (Deposit), Asvāmi-vikraya (sale by one who is not the owner), Sambhūyasamutthāna (partnership business), Dattasyānapākarma (non-delivery of what is promised), Vetanādāna (non-payment of wages), saṃvid-vyatikrama (breach of contract), Krītānuśaya (repentance for what is purchased), Svāmipāla-vivāda (dispute between the owner and keeper of cattle) Sīmāvivāda (boundary dispute), Daṇḍapāruṣya (too severe punishment), Vākpāruṣya (abuse), Steya (theft), Sāhasa (violence), Strī-saṃgrahaṇa (abduction of women), Strīpumdharma (duties of wife and husband), Vibhāga (partition), Dyūtasamāhvaya (gambling and animal-betting); (Ch. IX) Duties of women and men, inheritance and succession, Strīdhana, Gains of learning; (Ch. X) Duties of Brāhmaṇas and mixed castes, duties in emergency; (Ch. XI) Snātaka—Characteristics and duties, Sin and expiation; (Ch. XII) Results of good and bad deeds, Ātman—nature and knowledge of, Result of studying the Manusmrti.

Importance

Manu's work has been held in high esteem. Such remarks as manvartha-viparītā yā sā smṛtir na praśasyate, manurvai yat kincāha tad bheṣajam testify to the importance traditionally attached to this Smṛti since early times. In the enumeration of names of the writers on Dharmaśāstra, found in the Yājñavalkyasmṛti, Manu stands at the head of the list.

Under Ācāra, Manu deals mainly with the following matters. Varņāśrama-dharma, Creation of the world and Creatures, Nature of Dharma, Division of the land comprised in India, and Saṃskāras.

Under *Prāyaścitta*, Manu deals with the nature and causes of sin, modes of expiation of sins committed consciously and unconsciously. Darius (6th-5th Cent. B.C.) laws were framed according to Manu's work. Among the wandering Gypsies we find traces of professions prescribed by Manu for out-castes. The laws of Malaya appear to have been influenced by Manu. The Javanese literature on Jurisprudence reveals considerable influence of the *Manusmṛti*. The *Kutaramānava* is largely based on Manu. The Svarajambu is an adaptation or translation of a large

part of the eighth chapter of the *Manusmṛti*. Some works of Bali reveal the incluence of the *Manusmṛti*. A legal treatise if called *Phra Dharmaśāstra*. A statue of Manu was established in the Philippines; it shows the esteem in which Manu was held. Through the followers of Zoroaster the worship of Manu and the study of his Dharmaśāstra were introduced into West Asia and the Western countries. R. Lingat discusses (ABORI, XXX) the spread of Hindu law in Hīnayānist Indo-China and Bali (*S.K. Aiyangar Pres Vol.* pp. 445, 61). Manu was, perhaps, responsible for this influence to a great extent.

Since the Manusmṛti happens to be the first and foremost treatise of its kind later writers followed his arrangement of the subject matter sumptuously. Hence it is of great interest to have an idea of the arrangement of its contents in its twelve chapters.

CHAPTER I.

ON THE CREATION WITH A SUMMARY OF THE CONTENTS.

| | Verses. |
|--|---------|
| Introduction | 1—4 |
| Development of the Universe from the Divine Idea | 5—30 |
| Periods of divine exertion and quiescence | 31-59 |
| Divine and human chronology | . 6086 |
| Duties of the different classes briefly stated | 87—101 |
| Summary of the Contents of this work 19 | 02—119 |

CHAPTER II.

ON EDUCATION; OR ON THE SACERDOTAL CLASS, AND THE FIRST ORDER.

| | Verses. |
|---|---------|
| Introduction; self-love, the motive of all action | 1—5 |
| The four sources of law | . 625 |
| The Student; preparatory ceremonies, investiture, | |
| dress, diet and ablutions | 26—67 |

12 / Introduction to Parāśaramādhavīya

| Persons suitable for student life | —139 —174 |
|--|--|
| CHAPTER III. | |
| ON MARRIAGE OR THE SECOND ORDER. | |
| Prohibited degrees of relationship and disqualifications. Mixed marriages | 2—19 20—42 43—66 57—74 75—93 |
| CHAPTER IV. ON ECONOMICS: AND PRIVATE MORALS | |
| | Verses 1—36 37—91 2—127 8—170 |

CHAPTER V.

ON DIET, PURIFICATION AND WOMEN.

| Verses. |
|---|
| Food, allowed and forbidden 1—25 |
| Flesh meat,—when allowed |
| Pollution by deaths and births 57—84 |
| Purification of animated bodies |
| Purification of inanimate things |
| Precepts concerning women, in single and married |
| and in widowhood147—169 |
| CHAPTER VI. |
| ON DEVOTION, OR ON THE THIRD AND FOURTH ORDERS. |
| Verses. |
| The ascetic:—his dwelling, oblations, food and penance 1—32 |
| The Sannyasi; preparation for his state and his mode |
| of life |
| Relation of the four Brahmanical orders to each other . 86—97 |
| CHAPTER VII. |
| ON GOVERNMENT AND PUBLIC LAW OR ON THE MILITARY CLASS. |
| Verses. |
| The king;—his dignity and qualities 1—36 |
| His morals. State-officers and capital city |
| Principles of war; internal government and taxation 87—159 |
| Practice of war: armies, strategy, invasion, battle and |
| conquest |
| Daily duties of the Sovereign |
| |

CHAPTER VIII.

ON JUDICATURE; AND ON LAW, PRIVATE AND CRIMINAL

| | Verses. |
|---|---------|
| Titles of law and the constitution and order of a court | 1—26 |
| Wards; property, unclaimed, hidden or stolen | . 27—46 |
| Debts and their recovery | . 47—59 |
| Evidence and perjury | 60—123 |
| Punishments and calculation of fines 1 | 24—138 |
| Loans, interest and pledges | 39—178 |
| Deposits | 79196 |
| Sales and wages | 97-217 |
| Contractes, breaches of trust, and damages 2 | 18-244 |
| Disputes concerning land | 45-265 |
| Detaination | 266-278 |
| Assault and battery | 779-301 |
| THEIL | 302_344 |
| violence, adultery and criminal familiarity | 115 206 |
| Disputed observances, tolls, prices and servitude | 143120 |
| Frieds and sorvitude | 707-420 |

CHAPTER IX.

ON THE SAME; AND ON THE COMMERCIAL AND SERVILE CLASSES.

| Marriage and Issue Domestic duties and offense | Verses. |
|---|---------|
| Domestic duties and offen | 1—108 |
| Gambling and sundry other primary is all its | 109—220 |
| punishments | 221—293 |
| Summary of the duties of a king | 294—324 |
| valsya and Sudras | 325—336 |

CHAPTER X.

| ON THE MIXED CLASSES AND TIMES OF DI | STRESS. |
|--|-----------|
| | Verses. |
| The mixed classes and their social position | 1—61 |
| Directions for the recovery of the base-born classes | |
| Relaxation of the foregoing principles in times of | |
| distress | 74—131 |
| distices | |
| CHAPTER XI. | |
| ON PENANCE AND EXPIATION. | |
| | Verses. |
| Sacrifices and oblations | 1—54 |
| Classification of crimes | 55—71 |
| Penance for homicide, murder, taking of life and | |
| intemperance | 72—146 |
| For pollution of food | . 147—162 |
| For theft | |
| For lasciviousness | |
| For familiarity with out-castes | |
| Forms of penance and virtue of devotion | |
| Penance for secret sins | 248—266 |
| | |
| CHAPTER XII. | |
| ON TRANSMIGRATION AND FINAL BEATITUDE. | |
| | Verses. |
| Actions; their sources and results | 1—11 |
| The vital spirit | 1223 |
| The rational soul | 24_ 39 |
| Order of transmigration | 395 |
| Bodies to be assumed | 53—8′ |
| The way of final happiness | 83—9 |
| Dignity of the Védas and the Mánava Sastra with | |
| the mode of their interpretation | 9411 |
| Conclusion | 117 |

Sanskrit literature, epigraphy and Manu

Manu came to be regarded so authoritative that the *Manusmṛti* is found to have influenced several poets and playwrights. For example, the *Mṛcchakaṭika* (ix. 39) refers to it while stating that a Brāhmaṇa sinner was not to be put to death but banished. The *Raghuvaṇśa* of Kālidāsa mentions Manu (i. 17). Even philosophers did not escape the influence of Manu. For instance, Śabarasvāmin, commentator of *Jaimini-sūtra* (500 A.D. or earlier), mentions (on Pūrvamīmāṃsā 1.1.2) Manu. A passage, quoted by him, is virtually the same as Manu viii. 416.

Śaṅkarācārya on *Vedāntasūtra* (1.2.19) quotes the latter half of Manu 1.5, and on Vedāntasūtra 1.3.28 refers to Manu 1.21 with slight modifications. Manu's influence is discernible in inscription too. For example, an inscription (571 A.D.) of the Valabhi ruler, Dharasena, refers to Manu. Another Valabhi inscription of 535 A.D. also refers to him. Thus it is clear that the present work of Manu came into being long before the 7th century A.D.

The upper terminus is difficult to know. In this connexion, we have to turn to internal evidence. Compared with the Yājñavalkya-smṛṭi, the Manu-smṛṭi lays down the rules of legal procedure in an incomplete manner. For example, Manu does not mention documents as evidence; ordeals are not treated by Manu, definitions of legal terms are almost absent in Manu; these are frequent in Yājñavalkya. Manu does not bother with widow's rights while Yājñavalkya accords to her the first place among the successors of a sonless man. Hence, it may be concluded that Manu's work preceded that of Yājñavalkya who may be placed in the 3rd cent. A.D.

Manu mentions (X. 44) the tribes Yavana, Kamboja, Śaka, Palhava and Cīna. The Medas and Andhras are also mentioned (X. 48). From this it can be inferred that the *Manu-smṛti* cannot be much earlier than the 3rd cent. B.C.

Manu gives some discriminatory privileges to Brāhmaṇas. For example, Brāhmaṇas are forbidden (IV. 61) to live in a Śūdra's kingdom. He disapproves (VIII. 20.21) the appointment of a

Śūdra judge. Manu XII. 100 holds that one who knows the Vedas deserves the rank of the Commander-in-Chief, leadership in the Government, suzerainty over the entire world and the kingdom itself. Jayaswal thinks (*Manu and Yājñavalkya*, p. 32) that the Brāhmaṇas enjoyed the greatest privilege under the Śuṅgas, particularly Puṣyamitra.

Taking all evidences into consideration, Bühler concludes that the present *Manu-smṛti* was composed between the 2nd cent. B.C. and 2nd cent. A.D.

The Yājñavalkyasmṛti

It is to be noted that in the Yajñavalkyasmrti itself (III. 110) the author, whoever he may be, claims the authorship of the Āranvaka that he received from the Sun and the Yogaśāstra composed by him. This is simply put in to glorify the Yājñavalkyasmrti as the work of a great and ancient sage, philosopher and yogin. From the style and the doctrines of the smrti it is impossible to believe that it was the work of the same hand that gave to the world the Upanisad containing the boldest philosophical speculation couched in the simplest yet the most effective language. Even orthodox Indian opinion was not prepared to admit the unity of authorship in the case of the smrti and the Āranyaka. The Mitākṣarā says at the beginning that some pupil of Yāj. abridged the dharmaśāstra in the form of a dialogue. It will be shown later of that, though the sage who promulgated the Āraņyaka and the author of the smrti cannot be identical, yet the Yājñavalkya-smṛti is much more closely connected with the White Yajurveda and the literature particularly belonging to it than with any other Veda.

The Yājñavalkyasmṛti contains (in the Nirṇayasāgara ed. of 1892) 1010 verses, while the Trivandrum edition with the commentary of Viśvarūpa contains 1003 verses and Aparārka gives 1006 (Ānandāśrama edition). The difference in the number is mostly due to the fact that Viśvarūpa in the first section on ācāra omits five verses that occur in the Mitākṣarā. As regards one of them (the verse 'rathyākardama-toyāni' I. 197 according to the Mit.) Viśvarūpa notices it and says that some read it after

the verse "mukhajā vipruṣā" and that it adds nothing to what precedes. Aparārka explains that verse. In the second section on Vyavahāra Viśvarūpa reads verses which do not exist in the Mitākśarā not in Aparārka. On the other hand Viśvarūpa seems to doubt the authenticity of the well-known verse on rether fact that the sūtra of Śankha-Likhita cites Yājñavalkya among the promulgators of dharmaśāstras (vide note 137), while Yāj. himself includes Sankh-Likhita among the propounders of dharma (note 258), it may be plausibly said that Sankha-Likhita refer to an earlier Yajñavalkyasmrti than the extant one. Beyond this there is no evidence to extablish that there was an earlier version of the present smṛti. A comparison of the readings or Viśvarūpa and the Mit. with those in the Agni and Garuda purāņas has established that the text of the smrti no doubt underwent slight verbal changes between 800 and 1100 A. D. and that a few verses were added and also omitted during these centuries. But the text remained in main the same from 700 A. D. What the original smrti contained, whether it was in prose or verse or both and whether it dealt with only ācāra and prāyaścitta sections are questions on which conjectures may be advanced, but there are no substantial materials for arriving at even tolerably certain conclusions.

Yājñavalkya's work is more systematic than that of Manu. He divides the work into three sections and relegates all topics to their proper positins and avoids repetition. He treats of almost all subjects that we find in Manu, but his treatment is always concise and he makes very great and successful efforts at brevity. The result is that for the 2700 verses Manu, he requires only a little over a thousand. He often compresses two verses of Manu into one, e.g. Manu II. 243, 247, 248 are equal to Yāj. I, 49, (I.79); vide Manu IV. 7-8 and Yāj. I. 128 (contains almost same Manu and Yāj. convey the same meaning in one verse without compression.

The whole of the Yājñaalkya-smṛti is written in the classical Anuṣṭubh metre. Though the author's great aim has been to be concise, his verse, are hardly ever obscure. The style is flowing and direct.

It is said that the sages approached Yājñavalkya in Mithilā and requested him to impart to them the dharmas of the varnas, āśramas and others. The contents of the work may be briefly summarised as follows:-Kāṇḍa I: fourteen vidyās; twenty expounders of dharma, sources of dharma; constitution of a parisad, the samskāras from Garbhādhāna to marriage; upanayana, its time and other details; every-day duties of brahmacārin, persons fit to be taught, what things and actions a brahmacarin was to avoid, period of studenthood; marriage; qualifications of girl to be married, limits of sapinda relationship, intercaste marriages; the eight forms of marriage and the spiritual benefits therefrom, guardians for marriage, Ksetraja son; grounds of supercession of wife, duties of wife; principal and intermediate castes; duties of householder and keeping sacred domestic fire, the five great daily yajñas; honouring a guest, madhuparka, grounds of precedence, rule of the road, privileges and duties of the four varnas: the principles of conduct common to all; means of subsistence of a householder, and solemn Vedic sacrifices; duties of snātaka, days of cessation from study; ruls about prohibited and allowed food and drink; rules about flesh-eating; purifications of various materials, such as metal or wooden vessels; gifts, who is fittest to accept them, who should accept gifts, rewards of gifts, gift of cow, rewards of other gifts, highest gift is knowledge; śrāddha, proper time for it, proper persons to be invited at it, unfit persons, the number of Brāhmaņas to be invited; procedure of śrāddhas; various śrāddhas such as pārvana vrddhi, ekoddista; sapiņdīkaraņa; what flesh to be offered at śrāddha, reward of offering śrāddhas; propitiatory ceremonies as regards Vināyaka and the nine grahas; rājadharma, king's qualifications; ministers, purohita, royal edicts, king's duties of protection; administration of justice; taxation and expenditure; allotment of the day to various duties; constitution of mandala, the four expedients, the six gunas; fate and human effort; impartiality in punishment; units of measure and weights; grades of fine; Kāṇḍa II. members of the hall of justice, judge, definition of vyavahārapada, rules of procedure, plaint, reply, taking security, indicia of a false party or witness; conflict of dharmaśāstra and arthaśāstra; means of proof. documents, witnesses, possession; title and possession; gradation of courts; force, fraud, minority and other grounds of invalidity; finding of goods; treasure-trove; debts, rates of interest, debts of joint family; what debts of father son need not pay; devolution of debts; suretyship of three kinds; pledge; deposit; witnesses, their qualifications and disqualifications; administering oaths, punishment for perjury; documents; ordeals of balance, water, fire, poison and holy water; partition, time of it, wife's share on partition, partition after father's death, property not liable to partition, joint ownership of father and son; twelve kinds of sons; illegitimate son of śūdra; succession to a sonless man; re-union; exclusion; husband's power over wife's strīdhana; boundary disputes; dispute between master and herdsman; sale without ownership; invalidity of gift; rescission of sale; breach of contract of service; slavery by force; violation of conventions; non-payment of wages; gambling and prize-fighting; abuse, defamation and slander; assault, hurt etc.; sāhasa; theft; adultery; miscellaneous wrongs; review of judgment; Kāṇḍa III-cremation and burial; offering of water to various deceased persons; for whom no mourning was to be observed and no water to be offered; periods of mourning for various persons; rules for mourners; impurity on birth; instances of immediate purification on death or birth; means of purification, such as time, fire, ritual, mud etc.; rules of conduct and livelihood in distress; rules for forest hermit; rules for a yati; how the individual soul is clothed in a body; various stages of the foetus, number of bones in the body, the various organs such as liver, spleen etc.; the number of arteries and veins; reflection over ātman; use of music in the path of moksa; how the originally pure ātman is born among impure surroundings; how some sinners are born as various kinds of animals or inanimate things; how yogin attains immortality; three kinds of actions due to sattva, rajas and tamas; means of ātmajñāna; the two paths, one to immortality and the other to heaven; the various diseases form which sinners suffer; purpose of prāyaścittas; names of 21 hells; the five mortal sins and othr acts similar to them; upapātakas; prāyaścittas for brāhmaņa murder or for killing other persons; prāyaścittas for drinking wine, for other mortal and venial sins and for killing animals of various sorts; greater or lesser expiation according to time, place, age, ability; ostracizing the non-conformist sinner; secret expiations; ten *yamas* and *niyamas*; Sāntapana, Mahāsāntapana, Taptakṛcchra, Parāka, Cāndrāyaṇa and other expiations; rewards of reading this Smṛti.

It is necessary to say a few words about the verse of the Yoga-Yājñavalkya which has 12 chapter and a bout 496 verse plus ten additional verses, in all 506 only.

Briefly the contents of the twelve chapter are as follows: Chap. I (70 verses) - In an assembly of sages, in which Maitreyī (the best of maried women) and Gargi (the best among experts in knowledge of Brahman) were present, when Gargī prostrated herself on the ground and requested Yajñavalkya to impart to her the essence of Yoga, Yaj. agreed to impart to her the essence of Yoga together with is angas. He said that he would impart to her the knowledge of Yoga which Brahmā communicated to him and requested the assembly of sages to listen to the Yoga that would be described by him. He dealt with knowledge and appropriate actions, as follows: actions are the way of knowledge which is twofold viz. pravartaka (i. e. inducing men to act) and nivartaka (i.e. making men to cease from ordinary acts). He said there are four āśramas laid down by the Veda. Man owes debts to gods, ancestors and sages (rsis) and pays off the debts (respectively) by sacrifices, by having sons and by brahmacarya as regards sages); there are four āśramas, all four for a brāhmaṇa, three for a ksatriya, two for vaiśyas and one for śūdras; men in the four āśramas should perform the duties of those āśramas out of the four that may be applicable to their cases respectively; there are different angas of Yoga applicable to the persons in the community. Yoga has eight angas viz. Yama, Niyama, Āsana, Prāṇāyāma, Pratyāhāra, Dhāraṇā, Dhyāna and Samādhi. Yamas are ten viz. Ahimsā, truthfulness, asteya etc. and there are also the niyamas viz. tapas, santosa, āstikya, dāna, worship of god, listening to the fundamental principles of conduct, Hrī, Mati, Japa (vācika and mānasa) and vratas; (chap. 3) Āsana (bodily postures of eight sorts); Nādīs (14 chief ones such as Idā, Pingalā, Suṣumnā, etc.);

ten vāyus (such as Prāṇa, Apāna etc.) and their special functions); Nāḍīśuddhi (described in chap. V); Prāṇāyāma (description of), Reċaka, Pūraka, Kumbha, the mantra to be recited is to be Vedic, except for the śūdras and women; (ten ślokas at the end of chap. VI); seventh chap. deals with Pratyāhāra; this last and three more are called ābhyantara aṅgas of Yoga. Dhāraṇās are of five sorts (chap. VIII): control of Prāṇa-vāyu; chap. IX deals with dhyāna; chap. X deals with samādhi (Samādhiḥ samatāvasthā); chap. XI (Gārgī says that she had forgotten the Yoga with eight aṅgas); chap. XII-Yāj. teaches her briefly Yoga again when she said that she had forgotten the elaborate treatment that Yāj. indulged in and then Yāj. teaches her briefly the essence of Yoga (chap. XII).

Some of the recommendations of the Yoga-yājñavalkya may be stated here; such as actions enjoined by Vedic injuctions should be performed by Yogins till death.

The Parāśarasmṛti

The extant Parāśarasmṛti is divided into twelve chapters and containś according to the last verse but only 592 verses. It deals only with ācāra and prāyaścitta. Mādhava introduced his disquisition of vyavahāra, which forms about a fourth of his extensive gloss, in an indirect way by regarding vyavahāra as a part of the duties of Kṣatriyas on which the Parāśarasmṛti has something to say.

The introductory verses of the smrti say that sages went to Vyāsa requested him to instruct them in the dharmas and conduct beneficial to mankind in the kali age and that the great Vyāsa took them to his father Parāśara, son of Śakti, in the Badarikāśrama, who then propounded the dharmas of the four varṇas. The first chapter recites the smrtis the known (19 in all) and lays down that in the four ages of Kṛta, Tretā, Dvāpara, and Kali, the dharmas proclaimed by Manu, Gautama, Śańkha-Likhita and Parāśara were respectively to be the guiding ones. The following are briefly the contents of the Parāśarasmṛti:—

I. Introductory verse; Pārāśara imparts to the sages knowledge of dharma; the dharmas of the four yugas; differentiation of the four yugas from various points of view; six daily duties, viz. sandhyā, bath, japa, homa, Vedic study, worship of gods, Vaiśvadeva and honouring guests, eulogy of honouring guests, the proper means of livelihood for Kṣatriya, Vaiśya and Śūdra; II. duties of householder; agriculture; the five unconscious acts of injury to animal life; III. purification from impurity due to birth and death; IV. concerning suicide; punishment for wife deserting her husband though poor, foolish or diseased; definition and rules about Kunda, Golaka, Parivitti, and Parivitta; remarriage of women; reward for chaste widows; V. expiation for minor things (such as dog-bite); about a Brāhmaṇa who has consecrated fires dying on a journey or committing suicide; VI. Expiation for killing various beasts and birds, for killing Śūdras. artisans, women, Vaiśyas, Kṣatriyas, sinful Brāhmaṇas; eulogy of Brāhmaṇas; VII. purifications of various articles (such as vessels of wood, metal etc.); about a woman in her menses; VIII. Expiations for killing cows and oxen unwittingly in various ways; approaching a parisad for expiation, constitution of a parisad; praise of learned brāhmņas; IX. proper thickness of sticks for beating cows and bulls; expiations for using thicker sticks and injuries to them; X. other expiations such as Candrayana for intercourse with women with whom intercourse is forbidden; the expiation called Sāntapana; XI. expiation for partaking food from Cāṇḍālas etc.; rules as to whose food may be taken and whose not; purification of wells etc. when animals fall in them; XII. bath prescribed after evil dreams, vomitting, shaving etc.; expiations for drinking wine and nasty things through ignorance; five kinds of bath; when bath at night allowed; what things should always be kept in the house or seen; definition of the unit of ground called gocarma; expiations for the deadly sins of brahmahatyā, drinking liquor, theft of gold etc.

Parāśara contains several peculiar views. He speaks of only four sons (aurasa, kṣetraja, datta and kṛtrima) though he does not expressly negative a larger number (chap. 4 p. 14). He eulogises the practice of *Satī* (last two verses of chap. 4). The

well-known verse of Nārada (Strīpumsa-yoga 97) "naṣṭe mṛte etc". is read at the end as "patir-anyo na vidyate" (p. 15). There are a few verses in the Indravajrā metre (e. g. on pp. 11-12 and 36). The Parāśarasmṛti quotes the views of several writers on dharma. Manu is frequently cited in the words "Manur-abravīd". In the 7th chapter alone those words occur four times. None of them corresponds exactly with any verse of the Manusmṛti. Yet Manu V. 133 may be compared with the first two. Besides these, in the 9th chapter Manu's view is quoted that on killing and animal the guilty party should restore a similar one to the owner or its price. In the 10th he says that according to Manu uncooked food, milk or oil brought form a śūdra's house and used in cooking in a Brāhmaņa's house could be eaten by a Brāhmaņa. This is similar to Manu IV. 223. In the 12th chapter Parāśara cites the view of Manu that a Brāhmaṇa fed on food (cooked) from śūdras would become a vulture for twelve births, a pig for the and a dog for seven. There is nothing corresponding to this in Manu. In the 9th chap. Manu is spoken of as one who knows all śāstras. The first verse of the 6th chapter says that Manu deals at length with expiation for killing animals. This is probably a reference to Manu XI. 131-141. Numerous verses in the Parāśara-smṛti are word for word the same as those of the Manusmṛti. For examplr, Manu I. 85-86 occur in the first chapter of Parāśara, Manu V. 160 (about a widow remaining chaste) occurs with slight variations in the 4th; Manu XII. 114-115 (about parisad) occur in the 8th chap. (p. 29); manu XI. 212 (about the definition of Santapana) is the sme as Parāśara (10th chap. p. 40). Several verses are common to Baudhāyana and Parāśara, e.g. Baud. Dh. S. I. 1. 8, 11, 14 occur in the eighth chapter of Parāśara (pp. 29, 30). The verse "na nārikelair na ca śāṇabālair" occurring in Parāśara (9th chap. p. 35) is quoted as Vasistha'a by Haradatta on Gautama (22. 18). Parāśara is mentioned by name several times (chap. III. 2, p. 8, chap. VI. 1. p. 18 and p. 23, chap. VII. 1. p. 24, chap. X. 12. p. 38). Uśanas is cited on p. 49 (chap. 12), Prajāpati (in IV. 3. p. 13), Śankha (chap. 4, p. 15). Veda, Vedāngas, dharmaśāstras and smṛtis are spoken of on p. 23 (6th chap.). In the 11th chap. Parāśara refers to several Vedic mantras, most of which occur in the Rgveda, but two of them, "tejosi śukram" and "devasya tvā" are not found in the Rgveda, but in the Vāj. S. (22. 1 and 1, 24 respectively). Parāśara appears to have been a parctical man. he exhorts his readers to save thier bodies first in invasions, journeys, diseases, calamities and then care for dharma. He recommends the non-observance of rules of purity in times of difficulty and adherence to the strict rules of dharma when one is at ease.

The Mit., Aparārka, Smṛticandrikā, Hemādri and other later works quote Parāśara very frequently. Most of these are found in the extant Parāśarasmṛti. For example, vide pp. 1169, 1177, 1191 etc. of Aparārka, all of which are traced in Parāśara pp. 42, 43, 42 and 16 respectively. Viśvarūpa quotes Parāśara several times and these quotations can be verified; e.g. on Yaj. III. 16 the verse "anātham" ascribed to Parāśara is found in Parāśara chap III. p. 10; on Yāj. III. 257 ten verses are cited by Viśvarūpa from Parāśara which occur in Parāśara with considerable variations (Chap. VII. pp. 20-21): on Yāj. III. 262 the verse "gavām bandhana" is cited from Parāśara, which is the first verse of the 8th chapter. Therefore, it is quite clear that in the first half of the 9th century the Parāśarasmṛti that we have now was considered to be authoritative and the work of a ancient sage. It seems to have known a work of Manu, as seen above. Therefore, it must a assigned to some period between the first and the 5th century of the Christian era. In the same direction points the fact that the Garudapurāna (Chap. 107) seems to have known the introductory verses of Parāśara in a summary of its teachings. The Visnu-dharmottara which is frequently quoted by Aparārka and other later works cites verses that are borrowed form Parāśara.

Brhat Parāśara samhitā

There is an extensive work called Bṛhat-Parāśara-saṁhitā (published by Jivānanda, Part II, pp. 53-309). It is divided into 12 chapters and the last verse says that is contains 3300 verses and that Suvrata proclaimed the śāstra imparted by Parāśara. The introductory verses contain the same story as that in the Parāśara-Smṛṭi and many of the verses in the first chapter of the

two works (such as those about the 19 writers on dharma etc.) are almost the same in both1. The total of verses in the printed work comes to about 3000 and not 3300. It appears that the work is a recast of the Parāśarasmṛti made by Suvrata. The subjects of the twelve chapters are:-1. Intoductory, the proper sphere of Āryas; summary of contents; It. Disquisition on the 6 daily karmans, sandhyā, bath, japa, worship of gods, Vaiśvadeva and honouring guests; Gāyatrī; the dharmas of the Varnas; III. duties and manners of a householder; agriculture, honour to cows; IV. forms of marriage; duties of wives; Jātakarma and other rites; gifts; proper persons to receive gifts: V. concerning śrāddhas; VI. Impurity on bith and death; Prāyaścitta for various acts; VII. Cāndrāyaṇa and other penaces; VIII. gifts; IX. rites for propitiating Ganeśa and the planets, Rudra etc.; X Rājadharma; dharmas of forest hermit and yati; XI. the different varieties of Brahmacārin, householder, forest hermit and yati; XII. prāṇāyāma and other angas of yoga.

This Brhat-Parāśara contains a considerable number of verses mostly in the Indravajrā metre and a few in the Vasantatilakā (e.g. p. 134).

The Brhat-Parāśara appears to be a late work². It is a recast of the Parāśara-smṛti. It contains the Vināyakaśānti as elaborated by Yājñavalkya, since it speaks of only only one Vināyaka (9th chap. p. 247) and not of four as in M.Gr. S. On p. 249 it quotes Yāj. I. 285 (about the names of Vināyaka) with the readings found in the Mit. It speaks of $r\bar{a}sis$ (p. 244). It is not quoted by Viśvarūpa, the Mit. or Aparārka. It is mentioned in Bhattoji's comment on the Caturvimsatimata (p. 138) and by Nandapaņdita in the Dattakamīmāmsā, which quotes a verse (Bṛhat-Parāśara p. 153).

A Vrddha-Parāśara is quoted by Aparārka (on Yāj. III. 318) immeditately after Parāśara and as holding a different view. Mādhava also quotes a Vṛddha-Parāśara (Parāśara-Mādhavīya vol. I, part I, p. 230). This seems to be a different work from the

See Astādaśamṛti, Miharchand, Nag Publishers, Delhi, 1990. 1. 2.

Smṛtisandarbha (A collection of Dharmaśāstra), Nag Publishers, Delhi, 1985, Vol II. pp. 682-973. For its contents see Vol. VII, pp. 46-69

Parāśara-smṛti and the Bṛhat-Parāśara. Hemādri (Caturvarga° vol. III, part 2, p. 48) adn Bhaṭṭtoji in his gloss on Caturviṁśatimata (p. 48) quote a Jyotiḥ-Parāśara. The Smṛti-candrikā quotes a few verses from a work called Jyotiḥ-Parāśara in Śrāddhakāṇḍa.

The Nāradasnırti

There are two versions of Nārada on Vyavahāra, a smaller and a larger one. The smaller version was translated by Dr. Jolly in 1876 (Trübner & Co., London). The text of the longer version was published by the same scholar in the Bibliotheca Indica series (1885) and was translated by him in the Sacred Books of the East Series (vol. 33).

From verse 22 of the same title the printed text is the same as the smaller version. A verse quoted as Nārada's by Kṣīrasvāmin is not found in the larger version but is found in the smaller version. An ancient Ms. of Nārada from Nepal dated 1407 A.D. contains two additional chapters on theft and ordeals.

Nārada is not mentioned by Yājñavalkya in the list of ancient writers on dharma, nor does Parāśara mention him.

The printed Nārada contains three introductory chapters n the principles of Judicial procedure (vyavahāra-mātrkā) and on the judicial assemble (sabhā). Then the following titles of law are dealt with one after another:-rnādāna (recovery of debts). upanidhi (deposit, lending, bailment), sambhūya-samutthāna (partnership), dattapradanika (gifts and resumption thereof), abhyupetya-aśuśrūṣā (breach of contract of service), vetanasyaanapākarma (non-payment of wages), asvāmivikraya (sale without ownership), vikrīyā-sampradāna (non-delivery after sale), krītānuśaya (rescission of purchase), samayasyānapākarma (violation of conventions of corporations, guilds etc.): sīmābandha (settlement of boundaries); strīpumsayoga (marital relation); dāyabhāga (partition and inheritance); sāhasāh (offences in which force is the principal element), such as homicide, robbery, rape etc.; vākpārusya (defamation and abuse) and daņdapārusya (hurt of various kinds); prakirnaka (miscellaneous wrongs). The appendix deals with theft; a few remarks are made on the topic under the title of 'sāhasa'.

It is to be noticed that Nārada follows the Manusmṛti to a considerable extent in the nomenclature and the arrangement of the eighteen titles. Some of the titles are differently named by Nārada, e.g. he speaks of *upanidhi*, while Manu employs the word *nikṣepa*. Nārada seems to have included the 'svāmipālavivāda' of Manu in 'vetanasya-anapākarma.' He makes one title of *dyūta* and *samāhvaya*. Nārada includes strīsamgrahaṇa under sāhasa and adds three titles, viz. abhyupetya-aśuśrūṣā, vikrīyāsampradāna and prakīrṇaka.

The printed Narada contains 1028 verses (including 61 on theft in the appendix). About seven hundred of these verses occur in various nibandhas as quotations. Upto the 21st verse of the section 'abhyupetyāśuśrūṣā' the commentary of Asahāya furnishes a valuable check for the authenticity of the text. For the remaining portion, there are important data as to its authenticity, sequence and readings. Viśvarūpa, who belongs to the first half of the 9th century, quotes about fifty verses of Nārada (generally by name). The text that he had before him was essentially the same as that of the printed edition except in a very few cases. Out of the seven verses of Nārada on 'Nārada on 'samayasyaanapākarma' Viśvarūpa quotes five (on Yāj. II. 190 and 196) and expressly states that Nārada wound up his chapter on that topic with the verse 'dosavat karanam etc.' as the printed text does. On Yāj. II 226 Viśvarūpa distinctly says that the verse 'yameva hyativarteran' etc. is followed immediately by 'malā hyete manuşyeşu'. This is the the case with the printed text also (dyūtasamāhvaya, verses 13-14).

Brhaspati

Bṛhaspati as sūtra-writer on politics has ben dealt with above (section 26). In this section Bṛhaspati the jurist will be spoken of. The complete Smṛti of Bṛhaspati on law has not yet been discovered. It will be, when discovered, a very precious monument of ancient India, exhibiting the high-water mark of India acument in strictly legal principles and definitions. Dr. Führer collected together 84 verses ascribed to Bṛhaspati in the legal treatises of Aparārka and others with German translation

and notes (Leipzig, 1879) and Dr. Jolly collected about 711 verses of Bṛhaspati on law and translated them in the Sacred Books of the East (Vol. 33).

Yāj. (I. 4-5) enumerates Bṛhaspati among the writers on dharma, but he is probably referring to Bṛhaspati's work on politics. The com. on the Nītivākyāmṛta (p. 7) quotes the first verse of Bṛhaspati's Nītiśāstra.

We saw above how Brhaspati closely follows the extant Manusmrti how he pointedly refers to the text of Manu (notes 345-349) and therefore might by analogy be styled a vārtikakāra of Manu. In many places Brhaspati explains and illustrates the laconic treatment of Manu. Manu (8.153) speaks of four varieties of interest (Cakra, Kāla, Kārita, and Kāyika), but does not explain these terms. Brhaspati explains them clearly. Manu (8. 49) enumerates five modes of recovering a debt (dharma, vyavahāra, chala, ācarita, bala) but leaves them unexplained; Brhaspati devotes several verses to the explanatin of these terms (vide Kullūka on Manu 8. 49). Brhaspati gives elaborate rules regarding partnership. Brhaspati enumerates nine ordeals (of fire, water, poison, balance, kośa, taptamāṣa, taṇdulas, dharmādharma, phāla); while Manu barely alludes to two. Manu devotes only three verses to Samvidvyatikrama (8.219-221), but Brhaspati must have devoted at least a score of verses to this topic, as Aparārka alone quotes 17 verses of Brhaspati on this title.

The order in which the topics of law appeard in Bṛhaspati can be settled with tolerable certainty from the quotations in Aparārka, Vivādaratnākara, Vīramitrodaya and other works. It was as follows:—the four stages of a law-suit, proof (kriyā, numan of the three sorts and divine), witnesses (of 12 kinds), documents (ten kinds), bhuki (possession), ordeals (nine), 18 titles, ṛṇādāna, nikṣepa, asvāmivikraya, sambhūya-samutthāna, dattāpradānika, abhyupetyā-śuśrūṣā, vetanasya-anapākarma, svāmipālavivāda, samvid-vyatikarama, vikrīyā-sampradāna, sīmāvivāda, pāruṣya (of two kinds), sāhasa (of three kinds), strīsamgrahaṇa, strīpumdharma, vibhāga, dyūtasamāhvaya, prakīrṇaka (otherwise called 'nṛpāśraya vyavahāra', wrongs for which proceedings are set on foot by the king).

Brhaspasi was probably the first jurist to make a clear distinction between civil and criminal Justice. He divided the eighteen titles into two groups, those springing from wealth (14 titles) and those springing from injury to beings (4 titles). This distinction was probably dimly perceived by even Gautama, when he says that in disputes based on injury there is no hard and fast rule about witnesses (i.e. about their interest in the subject of dispute). Brhaspati, like Nārada, lays down the rule that a legal decision should not be arrived at merely on the basis of śāstra and that when a decision is devoid of reasoning, there is loss of dharma, for even a good man may be hold to be a bad one or what is good may be held to be sinful in a judicial proceeding, just as Māndavya was held to be a thief on a decision without thoughtful reasoning.

Kātyāyana

Nārada, Bṛhaspati and Kātyāyana form a triumvirate in the realm of the ancient Hindu Law and procedure. The work of Kātyāyana on Vyavahāra, like that of Bṛhaspati, has yet to be recovered.

Kātyāyana is enumerated as one of the expounders of dharma by Śankha-Likhita, Yājñavalkya (I. 4-5) and Parāśara. A Kātya is quoted as an autority in the Baudhāyana-dharmasūtra (I. 2. 47). A Śrautasūtra and Śrāddhakalpa of the white Yajurveda are ascribed to Kātyāyana.

Kātyāyana appears to have taken Nārada and Bṛhaspati as his models in the order and treatment of the subjects to be dealt with on vyavahāra. He closely follows both the writers in terminology and technique. On several points he presupposes Nārada and expounds and elucidates the latter's dicta. For example, Nārada (Intro. chap. I. 10-11) lays down that Vyavahāra has four pādas, each later one prevailing, viz. dharma, vyavahāra, caritra, rājaśāsana (note 361) and then Nārada very briefly in one verse explains these four terms; Kātyāyana, on the other hand, devotes at least nine verses to the elucidation of the rule as to each very little on the topic of strīdhana (dāyabhāga chap. verses 8-

9). He merely enumerates the six kinds of *strīdhana* and then lays down the rule of succession. Kātyāyana's treatment of *strīdhana* has attained classical rank. It appears that he was probably the first to carefully define the several kinds of *strīdhana* (such as adhyagni, adhyāvahanika, prītidatta, śulka, anvādheya, saudāyika), to lay down woman's power of disposal over the several varieties of strīdhana and to prescribe lines of devolution as to strīdhana. The verses on this topic occurring in the nibandhas number about thirty. The leading nibandhas contain only a few quotations from Bṛhaspati on strīdhana. Hence it may be surmised that Kātyāyana probably was the first Smṛti-writer to give elaborate rules on this topic.

It has been already shown how Kātyāyana often quotes the views of Bṛhaspati. A few more examples may be added here. According to Bṛhaspati, says Kātyāyana, when a man who stands surety with others on a joint liability goes abroad, his son would have to pay the whole debt, but if the man dies then the son would be liable for his father's share only. When cattle stray into fields, gardens, houses or cowpens, they may be, according to Bṛhaspati, caught hold of (by the ear etc.) or beaten. According to Bṛhaspati, a man of the kṣatriya, vaiśya or śūdra caste may employ one of his own caste to do the work of a dāsa (slave or serf), but even a Brāhmaṇa could never employ another Brāhmaṇa in the same way.

More than 21 nibandhas on Vyavahāra quote about 1100 verses of Kātyāyana on vyavahāra, Smṛticandrikā alone citing about 600 of them. In these verses Kātyāyana refers at least a score of times to the views of Bhṛgu.

Kullūka distinctly says that Kātyāyana simply explains the verse on Manu by referring to it as Bhṛgu's. On the other hand, there are several places where the views ascribed to Bhṛgu find no counterpart in the extant Manu. Bhṛgu seems to have been a predecessor of the author of the extant Manusmṛti since it mentions (III. 16) the view of Bhṛgu.

In the nibandhas several verses are ascribed to Kātyāyana along with Manu, Yājñavalkya and Bṛhaspati. For example, the well-known verse about the sixfold division of strīdhana

(adhyagnyadhyāvahanikam etc.) is ascribed by the Dāyabhāga to Manu and Kātyāyana. The half-verse "varṇānāmānulomyena dāsyam na pratilomataḥ" is the same in both Yājñavalkya (II. 183) and Kātyāyana.

Kātyāyana contains the same advanced views about law and rules of procedure as are found in Nārada and Brhaspati. He is even in advance of these two writers in certain matters, such as definitions in general and the elaboration of rules about strīdhana. He gives numerous definitions such as those of Vyavahāra, prādvivāka, stobhaka, dharmādhikaraņa, tīrtha and anuśista, samanta etc. He seems to have been the first to invent some new terms. For example, he defines paścātkāra as a judgment given in favour of the plaintiff after a hot contest between the plaintiff and the defendant, while the term jayapatra is restricted by him to the judgment given on admission by the defendant or a judgment dismissing the suit on verious grounds.He lays down a stringent rule that if a man abandons a gound of defence or attack and puts forward a less cogent one, he would not be allowed to put forward again the stronger ground after a decisive judgment of the court. This resembles the 4th explanation to section 11 of the Indian Civil Procedure Coad (1908) about res judicata. The verses about kārṣāpaṇa and dīnāra quoted above (note 368) from Nārada (pariśiśta verses 58-60) are ascribed to Kātyāyana by the Smrticandrikā.

The date of Kātyāyana can be settled only approximately. He is certainly much later than Manu and Yājñavalkya. As shown above he presupposes Nārada and regarded Bṛhaspati as a very leading authority on vyavahāra. Hence his upper limit is the 3rd or 4th century A.D.

Aṅgiras

Angiras is one of the primordial sages mentioned in the Manusmṛtī (I. 34-35) Viśvarūpa the commentator on Yājñavalkyasmṛti also has referred to him on several occasions wherein Angiras himself is mentioned with honour (bhagavān). Aparārka (pp. 22-23) quotes thirteen verses from Angiras on the constitution of pariṣad, wherein such terms as cāturvidya, vitarkī,

angavid, dharmapāṭhaka are explained and the last of which says that a parisad sitting in judgment over those who are guilty of mahāpātakas may consist of hundreds. The Mitākṣarā (on Yāj. I. 86) quotes several verses on the practice of satī and ascribes them to both Śankha and Angiras. Aparārka (pp. 109, 112) quotes four other verses on the seme practice, one of which is in the Indravajrā metre and another prohibits a brāhmaṇa wife from following that practice. Medhātithi (on Manu V. 157) quotes the view of Angiras on satī and disapproves of it. The Mitāksarā, Haradatta and others quote numerous verses of Angiras on asauca and prāyaścitta. Haradatta on Gautama (20. 1) quotes a verse of Angiras about the seven antyajas. Viśvarūpa (on Yāj. III. 237) quotes a sūtra of Sumantu in which Āngiras is cited as an authority. The Śuddhi-mayūkha quotes a verse of Angiras which relies upon Śātātapa. The Smrticandrikā quotes Angiras on the enumeration of Upasmrtis (vide note 312 above). The Smrticandrikā also contains a few prose quotations from Angiras; the same work cites a verse of Angiras holding the dharmaśāstra of Manu as the supreme guide.

The Angiras-smrti (Jivananda part I, pp. 554-560) in 72 verses is probably an abridgment. It lays down prāyaścittas for various occasions, such as taking food and drink from *antyajas*, for cruelly beating or causing various injuries to cows. It also lays down various rules for the wearing of the dark cloth (*nīlīvastra*) by women. It cites Angiras and Āpastamba by name. The penultimate verse condemns those who rob women of their wealth.

In the Ānandāśrama collection of smṛtis (published in 1905) there is an Aṅgiras-Smṛti in 168 verses. At the beginning it is said that, when asked by Bharadvāja and others, Aṅgiras declared the Smṛti dealing with rules of prāyaścitta. It names the following Smṛtikāras viz. Śaṅkhalikhita (in v. 15), Sumantu (in v. 26), Āpastamba (v. 76), Manu (v. 86), Aṅgiras (147 and 155). In 1953 Mr. A. N. Krishna Aiyangar published on Āṅgirasasmṛti at Adyaṛ. This is different from the preceding two works and contains over 1200 ślokas. Pandit Manoranjan Sastri (of Gauhati) claims that he has found the mss. of a different Aṅgirasasmṛti

compiled before 14th century A.D. (p. 100 of the Pragjyotisa Souvenir putlished by him at the time of the All-India Oriental Conference at Gauhati in January 1965). As the text is not yet available to scholars, and no reasons are given except the learned Pandit's opinion on reading the Kāmarūpa Ms., other scholars have to suspend their judgment. The Kalpataru (on Śuddhi p.18) states that Vasiṣtha and Angiras have certain passages in common.

Daksa

Dakṣa is one of the writers on *dharma* enumerated by Yāj. Viśvarūpa quotes verses of Dakṣa several times, viz. on Yāj. 1. 17 (on clods of earth for purifying the body), on Yāj. III. 30 (two verses on āśauca), on Yāj. III. 66 (about a parivrājaka), on Yāj. III. 191 (about padmāsana). The Mit. (on Yāj. I. 89) quotes a half verse of Dakṣa to the effect that a *dvija* should not remain unattached to an āśrama (i.e. without a wife in the context) even for a moment; on Yāj. III. 58 two verses about bhikṣus; on Yāj. III. 243 (one verse). Aparārka cites numerous verses of Dakṣa on ācāra, āśauca, śrāddha and similar topics. In one case (p. 368) he attributes a prose passage to Dakaṣ's verses most frequently quoted by writers on vyavahāra are those that lay down what nine things cannot be the subject of gift.

In Jivananda's collection there is Dakṣasmṛti (part II, pp. 383-402) in seven chapter and 220 verse (vide also Ānandāśrama collection pp. 72-84), M.N. Dutt's collection Vol. I. pp. 291-309. The principal subjects treated of are:—Four āśramas, two kinds of brahmacārins; the daily round of duties of dvijas; various subdivisions of actions, nine *karmans*, nine *vikarmans*, nine actions that should be concealed, nine acts that should be made public, nine things that should not be gifted; gifts; eulogy of a good Yoga and its six *aṅgas* viz. prāṇāyāma, dhyāna, pratyāhāra, dhāraṇā, tarka and samādhi; *maithuna* of eight kinds to be avoided by ascetics; duties of bhikṣu, dvaita, and advaita.

Dakṣasmṛti contains the name of Dakṣa himself and shows that he was a thorough-going Advaitin (as the note shows).

This smṛti is certainly a very old one. All the quotations from Dakṣa cited by Viśvarūpa occur in the printed Dakṣa (vide pp. 384, 395, 396, 397 which reads 'na pathyāśanād yogo'). Similarly all the quotations in the Mit. from Dakṣa are found in the Calcutta text. Aparārka contains over forty verses from the printed Dakṣa, though there are a few verses cited by him as Dakṣa's which are not found therein. The Smṛticandrikā quotes about ten verses of Dakṣa on women which are all found in the 4th chap. of the Calcutta text.

In the Govt. Mss. library at the B.O.R. Institute, Poona, there is a ms. of Dakṣa (No. 120 of 1895-1902), which contains 197 verses on the same topics as above, many of which are identical with the Calcutta text. The Bombay University has also a similar ms. Vide I.O. Cat. No. 1320 p, 385 for a similar ms. in 197 verses.

Pitāmaha

Pitāmaha is enumerated among writers on dharma in a verse of Vrddha-Yajñavalkya quoted by Viśvarūpa. The Smŕti of Pitāmaha (part I p. 10) is drawn upon mostly on Vyavahāra. Viśvarūpa cites (on Yāj. I. 17) a verse from him on śauca. The Mitākṣarā and Aparārka respectively quote about 45 and 75 verses from Pitāmaha only on Vyavahāra and specially on ordeals and the Kalpataru on Vyavahāra quotes about 90 verses on the same topics from Pitāmaha. Some verses are ascribed to both Pitāmaha and Nārada (as in Kalpataru Vy. pp. 238, 239) and in a few cases to Brhaspati and Pitāmaha (as in Kalpataru, Vy. p. 251). The Smṛticandrikā quotes about ten verses (of Pit) on āhnika, 130 on Vyavahāra and only a few on śrāddha. Pitāmaha regards the Vedas with the angas, Mīmāmsā, the Smṛtis, Purāṇa and Nyāya system as dharmaśāstras. Pitāmaha, like Bṛhaspati, enumerates nine kinds of ordeals, while Yaj. and Narada name only five, though the latter seems to have known two more, viz. tandula and taptamāṣa. The Smṛticandrikā quotes a dozen verses about 50 chalas on which a king took action without any complaint. Pitāmaha seems to have followed Vyāsa in defining documents called krayapatra, sthitipatra, samdhispatra, viśuddhipatra. The Smrticandrikā cites Pitāmaha for an enumeration of the 18 prakrtis viz., washerman, leather worker, etc. The same work states that according to Pitamaha the titles of law to be taken cognisance by the king himself were twenty-two. In the hall of justice, he says, there should be eight constituents viz., the scribe, the accountant, śāstra, the sādhyapāla, the assessors, gold, fire and water. Some of the other noteworthy dicta of Pitamaha are:-a suit should be first tried before the village (pancayat), than before the town (court of appeal), then before the king; between litigants of the same country, town, societies, cities and villages, the decision should be arrived at according to their own peculiar conventions and usages, but when there is a dispute between these and strangers, the decision must be according to the śāstra; possession in order to be recognised by the courts as decisive must have five characteristics, it must have title, long duration, it must be uninterrupted, it must not have been impeached and it must be before the eyes of the opponent; a private document under one's own hand is inferior to a janapada (a publicly written and attested) deed, the latter is inferior to to a royal edict, this last is inferior to possession continued for three generations.

Pitāmaha is later than Bṛhaspati, as he cites the latter's view that a litigation between members of the same village, society, town, guild, caravan or army must be decided according to their peculiar usages. Therefore, Pitāmaha must be assigned to some date between the 4th and 7th century A.D.

Pulastya

Pulastya's name is among the ten primordial sages mentioned in the Manusmrti I. 34-35.

Pulastya is one of the expounders of dharma enumerated by Vṛddha-Yājñavalkya. Viśvarūpa quotes a verse from him on śārīraśauca. The Mit, (on Yāj. I. 261) cites a verse from Pulastya that a Brāhmaṇa should principally use ascetic's food (i.e. vegetable food) is śrāddha, that kṣatriyas and vaiśyas should use meat śūdras madhu. The Mit. (Yāj. III. 253) quotes two verses of Pulastya who enumerates eleven intoxicating drinks together with surā as the twelfth. Aparārka quotes several verse from Pulastya

on samdhyā, śrāddha, āśauca, duties of yatis, prāyaścitta. Aparārka quotes two verses from Pulastya propounding the view that a combination of jñāna aznd karma is the correct view. The first of these verses is ascribed by him to Yoga-Yājñavalkya elsewhere (note 473). The Smṛticandrikā quotes about forty verses from Pulastya on āhnika and śrāddha. In one place it quotes Pulastya on the efficacy of bathing on Sunday, Tuesday, and Saturday. In another place it refers to the japa of Rāma, Paraśurāma, Nṛṣiṃha Trivikrama. Aparārka (on p. 1136) quotes eight verses from Pulastya that provide various religious rites or actions for dog-bite in the case of brāhmaṇa men and women. The Dānaratnākara of Caṇḍeśvara cites a prose text from Pulastya on the gift of deer-skin. The Pulastya-smṛti must have been composed between 4th and 7th] century A.D.

Paithīnasi

Paithīnasi, though not among the Smrtikāras enumerated in Yāj. I 4-5, is mentioned among the 36 Smrtis quoted by Aparārka (p. 7) from the Bhavişyapurāṇa and also in the quotation from Paithīnasi about the thirty-six names of the expounders of Dharmaśāstra in the Smṛticandrikā (p. 1). Another reason is that he appears to have dealt in his work with all three branches of Dharmaśāstra, viz., Ācāra, Vyavahāra and Prāyaścitta. Another important matter is that quotations in prose from him far outnumber quotations in verse in the comparatively early digests like the Mit., Aparārka, Kalpataru. Vrśvarūpa on Yāj. III. 262 cites a prose passage of Paithīnasi about the prāyaścitta for killing a cow. The Mit. quotes prose passage from Paithīnasi on Yāj. III. 17, 19, 253, 265 etc. Aparārka quotes several prose passages from Paithīnasi on pp. 58, 60, 105, 174, 189 (three Astakas in Pausa and the following two months), 239, 248. Two interesting prose passages on Vyavahāra also occur, one interesting prose passage on Vyavahāra also occur, one being that the wealth of a man dying sonless goes to his brother, in default of brother, to parents or to the senior one among his wives. On p. 1175 Aparārka quotes a long prose passage mentioning 18 persons at whose house on should not dine, nor sit for dinner in the same row with them and who are unfit to be invited at a śrāddha. An interesting passage cited by Aparārka about marriage is a follows: A man should choose a girl whose (father's) gotra is not the same as his. He should avoid girls who are within the fifth degree in descent from a common ancestor on the mother's side and 7th in descent from the father's side; or three on the mother's side and five on the father's side. This latter portion about three and five degrees has now been accepted by the Indian Parliament (excepting customs to the contrary) in the Hindu Marriage Act No. 25 of 1955, Section 3 (f).

Pracetas

Pracetas finds a place among the sages enumerated by Parāśara (though not in Yājñavalkya), in the list of 36 Smṛtikāras by Paiṭhīnāsi is Smṛticandrikā (p. 1). In both Mit. and Aparārka there are passages in prose and verse ascribed to Pracetas on daily duties, śrāddha, āśauca, prāyaścitta. The Mit. (on Yāj. III, 27) quotes a verse from Pracetas saying that wokmen, artisans, physicians, male and female slaves, kings, royal officers have not to observe periods of impurity (on death). This verse in cited as a Smṛti by Medhātithi on Manu V. 60 without ascribing it to Pracetas. So Medhātithi looked upon Pracetas as equally authoritative with Manu, Viṣṇu and others.

It appears from the quotations in the Mit., Aparārka and Smṛticandrikā that they had before them a large work of Pracetas containing sūtras and verses and that Pracetas did not deal with Vyavahāra.

The Mit. on Yāj. (III. 20, 263), Haradatta on Gautama (22.18) and Aparārka quote several verses of Bṛhat-Pracetas on āśauca and prāyaścitta and the Mit. on Yāj. III. 265 and Aparārka (on pp. 888, 897 and 1098) quote several verses of Vṛddha-Pracetas on the same topics. A few prose quotations from Pracetas are noted in the Smṛticandrika and by Haradatta (on Gautama 23.1).

Prajāpati

Prajāpati is cited as an authority by the Baudhāyana-

dharmasūtra. Vasiṣṭtha several times quotes Prājāpatya ślokas. It has been shown above that most of these verses are found in the Manusmṛti or have close correspondence with verses of Manu. So it is not unlikely that both the writers of dharmasūtras mean Manu by Prajāpati.

In the Ānanadāśrama collection there is a Smṛti of Prajāpati in 198 verses on the various details of śrāddha, such as the time, place the persons authorised to perform, proper food, Brāhmaṇas to be invited etc. The prevailing metre is Anuṣṭubh, but there are nine verses in the Indravajrā, Upajāti, Vasantatilakā (verse 137) and Sragdharā (verse 96). It speaks of Kalpaśāstra, Smṛtis, Dharmaśāstra, Purāṇas. It contains a verse referring to the Kanyā and Vṛścika (scorpion) signs of the Zodiac, which is almost the same as a verse of Kārṣṇājini.

The Mit. (on Yāj.) quotes verses of Prajāpati on āśauca and prāyaścitta. Aparārka cites verses of Prajāpati on purification of various substances, on śrāddha, witnesses, ordeals and āśauca. None of these is traced to the printed text of Prajapati. Apararka (p. 952) gives a long prose text of Prajapati on the four orders of parivrājakas, viz., kutīcaka, bahūdaka, hamsa, paramahamsa. Āparārka cites a verse of Laugāksi which refers to the view of Prajāpati that the son of a putrikā was to offer pindas to his mother by the gotra of his maternal grand-father. Apararka, Smrticandrikā, Parāśara-Mādhavīya and other works quote several verses of Prajāpati on vyavahāra. Witnesses are of two kinds, krta and akrta. In this he seems to have followed Nārada (rnādāna, verse 149). Prajāpati lays down the characteristics of valid reply (uttara) of the defendant and defines the four varieties of uttara. The Parāśara-Mādhavīya cites several verses or Prajāpati on ordeals. Prajāpati recognised the right of the sonless widow to succeed to her husband's wealth and enjoined on her the duty of offering śrāddha every month and year to her husband's manes and to honour his relatives.

Marīci

The name Marīci is very ancient. In Manusmṛti II. 34-35 Marīci is mentioned first among the ten Prajāpatis.

This sage is relied upon as an authority by the Mit., Aparārka, Smṛticandrikā on Āhnika, Āśauca, Śrāddha, Prāyaścitta and Vyavahāra. Aparārka quotes several verses on tarpaņa, one of which speaks of Sunday. Marīci disallows bathing in the rivers in the months of Śrāvaṇa and Bhādrapada. Marīci made a very near approach to the modern conceptions underlying the Transfer of Property Act. Completeness is not attained without writing in the transactions of sale, mortagage, partition and gift of immoveable property. If a buyer purchases a chattel before a row of merchants and to the knowledge of the king's officers and in broad daylight, he is free from blame and gets back his money (if the thing turns out to be another's property), while if the price (paid by a buyer for a chattle) cannot be recovered (from the vendor who sells without title) owing to the vendor's address being not known, the loss should be apportioned between the buyer and the original owner of the chattel. Marīci divides adhi into four varieties bhogya, gopya, pratyaya, ājñādhi.

Yama

The Vasiṣṭha-dharmasūtra (18. 13-15 and 19. 48) cites four ślokas of Yama and quotes (11. 20) one verse in which Yama is spoken of as an authority. All the ślokas except one are found in Manu. Vasiṣṭha quotes a śloka of Prajāpati wherein Yama's view is set forth. Yama is one of the sages enumerated in the Yājñavalkya. Govindarāja (on Manu 5. 16) and Aparārka quote a verse of Śańkha wherein Yama's view that the flesh of certain birds could be eaten is referred to. Aparārka (p. 1231) also cites a verse of Śańkha in which the view of Bhagavān Yama that one should save one's life in all ways (even by incurring sin) is relied upon.

In Jivananda's collection (part I. pp. 560-568) there is a Smṛti of Yama in seventy-eight verses on prāyaścitta and purification (śuddhi). In the Smṛti, Yama himself is cited in the third person (verse 65). One verse (33) refers to the view of Bhāsvati (son of the Sun, by which may be meant either Manu or Yama himself). Some of the verses are identical with those of Manu (e.g. verses 26, 28 are the same as Manu 11. 178 and 3. 19).

Verse 44 is in the Upajāti metre. In the Ānandāśrama collection there is Yamasmṛti In 99 verses on prāyaścitta, śrāddha and purification. Most of the topies of this smṛti are the same as those of the Calcutta text, but most of the verses are not identical. Lakṣmīdhara quotes on pp. 101, 102 five verses of Yama which set out the eight prakṛtis of the Sāṅkhya system and the 16 vikṛtis thereof, the 25th tattva viz., 'avyakta' and adds Puruṣottama or Viṣṇu as the 26th (pañcaviṁśakam-avyaktam ṣaḍviṁśaḥ puruṣottamaḥ l pañcaviṁśatitattvajño yāti Viṣṇoḥ paraṁ padam ll). In Śrāddhakāṇḍa Lakṣmīdhara quotes about 150 verses of Yama. Vyavahārakāṇḍa quotes about 47 verses of Yama.

Laugāksi

Laugākṣi is mentioned among the 36 expounders of Dharmaśāstra set out by Paiṭhīnasi (on p. 1 of Smṛ. Ch.) and Aṅgiras quoted on the same page includes Laugākṣi among Upasmṛtis.

The Mit. (on Yāj. III. 1-2, 260,) quotes verses of Laugākṣi and āśauca and prāyaścitta. Aparārka quotes nine prose passages on ācāra including Śrāddha and ten verses on the pages on Ācāra, Āśauca and the order of forest hermits and one very long prose passage on p. 1227 (covering half a page). On p. 542 Aparārka quotes a verse of Laugākṣi in which Prajāpati is mentioned as an authority. The Mit. on Yāj. II. 118-119 quotes the definitions of 'Yoga' and 'Kṣema' given by Laugākṣi and which are declared to be not liable to partition by coparceners (acc. to Manu IX. 219), even if they be acquired by detriment to the parental estate. Those definitions of Yoga and Kṣema are quoted by many works and writers on Vyavahāra such as the Smṛticandrikā.

Viśvāmitra

Viśvāmitra is one of the writers on Dharma enumerated by Vṛddha-Yājñavalkya as quoted by Viśvarūpa. Aparārka, the Smṛticandrikā the Kālaviveka of Jīmūtavāhana and other works quote verses of Viśvāmitra on almost all topics of Dharma except vyavahāra, such as on the five deadly sins, on śrāddhas, prāyaścitta etc. Viśvāmitra defines dharma as that which is esteemed by

Āryas (respectable people) who know the Vedas. Aparārka quotes 18 verses from Viśvāmitra or Prāyaścitta and the Smṛticandrikā also quotes several verses or his Kalpataru (on Brahmacāri), cites Yāj. I. 14 (garbhāṣṭame etc.) as occurring in Viśvāmitra also. Similarly Kalpataru (on Naiyatakāla p. 314) states that Yāj. I. 179 (prāṇātyaye etc.) also occurs in Viśvāmitra's Smṛti. His verses on the mahāpātakas are frequetly quoted. The Madras (Govt.) Mss. Cat. (p. 1985 No. 2717) notices a Smṛti of Viśvāmitra in verse in nine chapters.

Vyāsa

In Jivananda (Part II, pp. 321-342) and in the Anandaśrama collection Smrtis there is a Smrti ascribed to Vyāsa (pp. 357-371). The two texts are the same with a few variations. It is in four chapters and contains about 250 verses. Vyāsa is said to have declared the Smrti in Benares anarchy) then it is possession that counts and not mere writing (i.e. possession will be protected and not mere paper title without possession). He lays doesn that no interest was to be allowed if not stipulated for in certain cases, viz., on strīdhana (when used by the husband), on interest, on deposit (as long as it is not lost or deteriorated) and in surtyship. He enumerates ten wrongs (aparādhas) of which the king was to take cognisance suo motu without any private person's complaint, viz., restraint of the defendant (before judgment), obstruction of the public road, women conceiving in adultery, rich without any ostensible means, destruction of a meeting hall and of trees and crops, kidnapping of maidens, sinning Brāhmaṇas, champerty and maintenance, destruction of the roads where tolls are to be paid, the danger of robbers, rape, injury to cows and Brāhmaṇas. He prescribed that disputes were not to be investigated on the full moon and new moon day, and on the 14th and 8th tithis.

Samvaratasmṛti

In Jivananda's collection and in the Ānandāśrama collection there is a Smrti of Samvarta in 227 and 230 verses respectively. It purports to have been declared to Vāmadeva and other

sages by Samvarta, Its main contents are:—that is the religious country where the black deer roam about, rules of conduct for a Brahmacārin, prāyaścittas for various lapses on the part of a student, duties of householder, eulogy of liberality, duties of forest hermit and samnyāsin, prāyaścittas for various sins and actions. Samvarta is sometimes cited as an authority (verses 38, 123). He recommends the marriages of girls at the age of eight (verse 67) and condemns marriage with a maternal uncle's daughter (verse 157). In a few Mss. (e.g. I.O. Cat. No. 1367) the Samvartasmṛti comprised is different from the printed Samvarta. The printed Smṛti appears to be and epitome of a portion of the original Smṛti of Samvarta. The Mit. quotes a Bṛhat-Samvarta (on Yāj. III. 265, 288). A svalpa-Samvarta is quoted in Harinātha's Smṛtisāra.

Hārīta

The verse quotation from Hārīta on topics of Vyavahāra deserve some treatment. He defines Vyavahāra as that where-by the recovery of one's own wealth and the avoidance of (doing) the duties peculiar to another (caste or class) are effected in due course of law. He further says that that judicial proceeding is proper which is based on the dictates of Dharmaśāstra and Arthaśāstra, which is in conformity with the usages of respectable people and which is free from fraud. Hārīta calls upon the king to know the śāstras, the duties of the varnas and of the lowest castes. He, like Nārada, said that Vyavahāra had four aspects, each, succeeding one prevailing against the preceding one, viz., dharma, vyavahāra, cāritra, nṛpājñā. He attached the greatest importance to writing and said that a transaction consigned to writing is effective even after great lapse of time and that he who has writing in his hands is entitled to possession (probably in cases of mortgages and pledges). He lays dows very elaborate rules about the requisites and defects of plaints, about summoning the defendant, about the contents, faults and kinds of the defendant's reply, and about the burden of proof. He protects long possession of property even if it originated without title provided it had lasted for three generations. He says that the title

is the decisive factor as to various kinds of possession, viz., when possesssion is forcibly taken by soldiers and freebooters, when a thing is stolen or kept concealed, when is was delivered through affection and friendship or when it was lent on hire, or when it was handed over for wearing or safe custody or was borrowed through friendship. To illustrate the relation of title and possession he uses a very apt figure, viz., just as a branch cannot be seen expanding in the sky unless it is supported by the roots, so title is the root and possession is its offshoot. According to him sureties are of five kinds, abhaya (for keeping the peace), pratyaya (for confidence), dana (return of money or carrying out one's obligations), upasthāna (return of money lent on pledge) and darśana (for appearance). He prescribed an absolute tutelage for women as regards the giving away of the husband's wealth and allowed only maintenance to a young widow of improper conduct. But Harīta was humane in his treatment of ever erring wives. He does not allow a husband to cast adrift an adulterous wife and prescribes that she should be given food to keep body and soul together and bare clothes.

It appears from the above that Hārīta the jurist must have flourished nearly at the same time as Bṛhaspati and Kātyāyana, i.e. between 400 and 700 A.D.

Commentaries and Nibandhas (digests)

The literature on Dharmaśāstra falls into three well-marked but somewhat over-lapping periods. The first period is that of the ancient Dharmasūtras and of the Manusmṛti. It is a period dating from at least and 6th century B.C. to the beginnings of the Christian era. Next comes the period when most of the versified Smṛtis were composed and it ranges from the first centuries of the Christian era to about 800 A.D. The third period is that of the commentators and the writers of digests. This covers over a thousand years from about the 7th century to 1800 A.D. The first part of this last period was the golden era of famous commentators. Commentaries on Smṛti works continued to be written almost to the end of this period, e.g. Nandapaṇḍita wrote the commentary called Vaijayantī on the Viṣṇudharmasūtra in the 17th century.

Some of the major writers in commentaries and digests deserve mention. They are often mentioned of commentaries on major smṛti works. A few names many be noted here. Asahāya, Bhartṛyajña, visvasnpa Bhārnei, Śrīkara, medhatithi and other have enriched the field.

Printed collections

There are some collections of smrti texts available in print. The Aṣṭādaśasmrti riginally Published by Pandit Mihirecandra in the year 1891 in now reprinted by Nag Publishers, Delhi in 1990. There is a series of six volumes entitled the Smrtisandabha reprinted by Nag Publishers, Delhi in 1988.

The first book incorporates the texts of 18 smrtis with a blief Hindi explanation by the editor. The works included herein are:

Atrisamhitā, Viṣṇuprokta dharma, Hārītasmṛti, Auśanasasmṛti, Āṅgirasasmṛti, Samvartasmṛti, Laghu-yamasmṛti, Āpastamba-smṛti, Brhaspatismṛti, Kātyāyanasmṛti, Parāśarasmṛti, Vyāsasmṛti, Śamkhasmṛti, Likhitasmṛti, Dakṣasmṛti, Gautamasmṛti, Śātātapa-smṛti and Buddhasmṛti.

The second book styled Smrti sandarbha (in 6 vols) containts a total of fiftysix works.

They are:-Manusmṛti, Nāradya-manusmṛti, Atrismṛti, Atrisamhita, Prathamaviṣṇusmṛti, Viṣṇusmṛti, Samvatasmṛti, Dakṣasmṛti, Angirasasmṛti and Sātātapasmṛti. (All the ten forming the first volume).

Parāśarasmṛti, Bṛhat-Parāśarasmṛti, Laghuhāritasmṛti and Vrddhahārīta-smṛti. (All the four forming the second volume).

Yājñavalkyasmṛti, Kātyāyanasmṛti, Āpastambasmṛti, Laghu-śamkhaśmṛti, Śamkhasmṛti, Likhitasmṛti, Śamkhalikhitasmṛti, Vasisthasmṛti, Auśanasasamhita, Auśanasasmṛti, Brhaspatismṛti, Laghuvyāsasmṛti, (Veda) vyāsasmṛti. Devalasmṛti, Prajāpatismṛti, Laghvāśvalāyanasmṛti and Baudhāyanasmṛti (All the seventeen forming the third volume).

Gautamasmṛti, Vrdhagautamasmṛti, Yamasmṛti, Laghuyamasmṛti, Pulastyasmṛti, Budhasmṛti, Vasiṣthasmṛti (the second) Prthagyogiyājñavalkyasmṛti, Brahmokta-yājñavalkyasamhitā Kāsyapasmṛti and Vyāghrapādasmṛti. (All the thirteen forming the fourth volume).

Kapilasmṛti, Vādhūlasmṛti, Visvāmitrasmṛti, Lohitasmṛti, Nārāyaṇasmṛti, Sāṇḍilyasmṛti, Kaṇvasmṛti, Dālbhyasmṛti, Āngirasmṛti (the second which is divided into Pūrvāngiras and uttarāngiras) and Bhāradvājasmṛti (All the ten forming the fifth volume).

Mārkandeyasmṛti and Laugakshismṛti (the two major works forming the sixth volume).

The publisher has added a seventh volume in which the table of contents of all the fifty-six smrtis is given in addition to a comprehensive index of stanzas occurring in the collection.

Mahamahopadhyaya P.V. Kane in his five-volume. History of Dharmasāstra published from the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona (bound in six volume) has provided much information on the unpublished smṛtis¹. He has collected information firm the manuscripts libraries and their catalogues of manuscripts. This publication is a mine of information for all those interested in the study of the vast smṛti literature which provides information on ancient social, cultural and philosophical pursuit of Indian people in general.

Parāśara-mādhavīya

Extent of the printed text

Three printed versions are examined here to ascertain the number of stanzas in the text.

- (1) The text included in the publication 'Aṣṭādaśa-smṛti', edited by Mihircand and later enlarged and published by Nag Publishers, Delhi in the year 1990. The number of stanzas in the twelve chapters respectively are as follows:
- 65, 20, 55, 34, 24, 75, 44, 50, 60, 43, 55 and 77 totalling
- (2) The work included in the 'smṛti-sandarbha' vol II, Nag Publishers Delhi, 1988 contains the verses in the twelve chapters as follows.

^{1.} Reprinted, Poona, 1990

- 65, 17, 54, 28, 25, 71, 42, 49, 62, 42, 53 and 74 totaling 582 stanzas.
- (3) The third printed version with the commentary of Mādhava better known as Parāśaramādhavīya contains verses as follows in the twelve chapters.
- 67, 15, 47, 31, 25, 75, 38, 42, 61, 40, 55 and 81 totalling 577 stanzas.

This kind of variation poses a problem. The text in all the above editions contains the following stanza in the twelfth and final chapter.

एतत् पाराशरं शास्त्रं श्लोकानां शतपञ्चकम्। द्विनवन्या समायुक्तं धर्मशास्त्रस्य संग्रहः।।

The author himself has stated that the work contains 592 stanzas. Since there are slight differences in verses such as mixing up of the first half and second half of a stanza and so on it is not easy to find out the exact text.

The Mādhavīya commentary is supposed to be the earliest commentary on Paraśarasmṛti. It contains some discussion on the textual problem. In a prefatory stanza in his treatise he observes.

पराशरस्मृतिः पूर्वेर्नं व्याख्याता निबन्धृभिः। मयाऽतो माधवार्येण तद्व्याख्यायां प्रयत्यते।।

After establishing that the smrti is fit to be explained, Madhava states:

पराशरस्मृतावस्यां ग्रन्थक्लृप्तिर्विविच्चते। द्वे काण्डे, द्वादशाध्यायाः श्लोकाः अष्टोनषद्शतम्। आचारस्यादिमः काण्डः प्राचश्चित्तस्य चान्तिमः।।

It is stated that the text is fixed in that in contains two parts and twelve chapters in which the total number of stanzas is given as eight ślokas lesser than six hundred. The first part is dedicated to Ācāra while the second in for Prāyaścitta.

A third part is composed in the form of eplanation by Mādhava with the name of vyavahāra, an important aspect omitted by the smrti writer. He states his reasons as follows.

किं बहूक्यायभाचार्यः परलोकैकदृष्टिमान्। व्यवहारन्तु नावोचत् किमु सूचितवानममुम्।। राजधर्मप्रसङ्गेन 'क्षितिं धर्मेण पालयेत्।' इति बुवन् राजदृश्यं व्यवहारमसूचयत्।। साक्षादिदृष्टाप्तिहेतुत्वादाचारः पूर्वमीर्यते। आचारस्यान्यथात्वे तु प्रायश्चित्तगवेषणम्।। इहाचारे त्रयोऽध्यायाः प्रायश्चित्ते नवोदिताः।

In these stanzas Mādhava observe that the author of smṛti was interested more in the matters of the other world-life after death-rather than the present surroundings. He has only pointed out these aspects saying that one should rule over the earth following the rules prescribed for the king. But he does not elaborate as to what are these rules. Worldly informations are more important for a human being. Hence these customs all incorporated in the first three chapters of the smṛti. When these rules are enunciated it calls for expiatory rites. Hence the next nine chapters are devoted to explain in actual the expiations for various sins and lapses.

After briefly pointing out the two divisions of the text as Acārakāṇḍa consisting of three chapters and Prāyaścitta kāṇḍa consisting of the next nine chapters (four to twelve chapters) the author of the smrti proceeds further to indicate the salient features of these chapters as follows

First he enumerates the contents of the first three chapters.

आचारतश्चतुर्वर्णधर्मी साधारणापरौ। शिष्टाचाराह्निके तच्च धर्मी साधरणौ मतौ।। षट्कर्म-क्षितिरक्षाद्याः वर्णसाधारणाः स्मृताः। आचारे प्रथमाध्यायेएतेऽर्थाः परिकीर्तिताः।। कृष्यादिजीवनोपायो द्वितीयेऽध्याय ईरितः। चतुराश्रमधर्माश्च सूचिताः आश्रमोक्तितः। उक्तौ तृतीये आशौच-विस्तर-श्राद्ध-संग्रहौ अध्यायत्रयगा अर्थाः प्रोक्ताः आचारकाण्डगाः।। The first three chapters forming the Ācārakāṇḍa are to be respectively called:

- 1. धर्मीपदेशः तल्लक्षणं च The enumeration of virtues and their characteristics.
- 2. गृहस्थाश्रमधर्मवर्णनम् The descriptions of the duties of a Householder.
- 3. अशौचव्यवस्थावर्णनम् The descriptions of purification from pollution, sins etc.

The second part consisting of nine chapters (from four to twelve) deals with a variety of subjects enumerated as follows by Mādhava.

तुर्ये प्रकीर्ण पापस्य प्रायश्चिन्तं प्रपञ्चितम्। अबुवन् विवुबन् वापि नरो भवति किल्बिषी।। साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बध्यते वारुणौर्नरः। विवशः शतमाजातीस्तस्मात् साक्षी वदेदृतम्। राजादेः प्रत्यवायोऽस्तु व्यवहारे किमागतम्। व्यवहारो न राजादेरिधपत्यिधनोस्त सः। प्रत्यर्थिनोऽर्थिनो वाऽत्र प्रत्यवायो न हि स्मृतः। पराजयनिमित्तेन प्रायश्चिन्तं च न स्मृतम्। ऋणाद्यैर्नरकोक्तिर्या साऽप्याचारनिबन्धना। अस्तु वा नरकः शास्त्रविरूद्धव्यवहारिणः। परलो कप धानत्वमे वास्माभिनि वार्यते। कारीर्यादि शौतधर्मेऽदृष्टैकफलको यथा। लाभपू जाख्यातिमात्रफलाव्यवहृतिस्तथा। जेतुर्लाभादिकं तद्वत् पराजेतुश्च दण्डनम्। तावेव स्वर्गनरकौ विहितप्रतिषिद्धजौ। ननु राज्ञश्च सभ्यानां साक्षिणां चान्यथाकृतौ। प्रत्यवायाद् व्यवहृतिः परलोकप्रयोजना। अदण्डचान दण्डण्यन् राजा दण्ड्यांश्चेवाप्थदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं वापि गच्छति। सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम्। नोक्तं तथा रहस्यञ्च प्रायाश्चित्तञ्च वर्णितम्। नापि पर्णादि कृछ्राणि नोदितान्यत्र कानिचित्। नोक्तः कर्मविपाकश्च तत् सर्वमुपलक्षितम्। इत्थं नविभारध्यायैः प्राचिश्चित्तं प्रपञ्चितम्। कलिं प्रति प्रवृत्तत्वात् प्रायिश्चत्तं प्रपञ्चितम्।।

In these stanzas, the subject matter of the nine chapters following the first three is enumerated.

- 4. अनेकविधप्रकरणप्रायश्चित्तम्. The expiations for different kinds of omissions and commissions are enumerated in the fourth chapter.
- 5. प्रायश्चित्तवर्णनम्. The description of the nature of expiatory rites.
- 6. प्राणिहत्याप्रायश्चित्तवर्णनम्. The description of expiations for killing various animals, birds etc.
- 7. द्रव्यशुद्धिवर्णनम्. The description of the mode of purification of various objects and materials.
- 8. धर्माचरणवर्णनम्. The description of the code of conduct and expiations for various acts.
- 9. गोसेवोपदेशवर्णनम्. The description of behaviour towards animals like cow etc.
- 10. अगम्यागमनप्रायश्चित्तवर्णनम्. The expiations necessitated by illegal sexual acts which are applicable to all the four castes.
- 11. अभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तवर्णनम्. The expiations for consuming food items which are prohibited to people of different castes and stages of life.
- 12. पुनःसंस्कारादिप्रायश्चित्तवणनम्. The expiations for performing funeral rites at a later time after the usual time of death.

These are the brief descriptions of the twelve chapters of texts.

Paraśaramādhavīya has included these portions with his comments in the first two parts this work. In addition to these he has composed a third part especially devoted to the Vyavahārakānda.



PARĀŚARA-THE AUTHOR

The name Parāśara is an ancient one. In Rg. VII. 18.21 Parāśara is mentioned as a grandson of Vasiṣṭha 'Pra ye gṛhadamamadus-tvāyā Parāśaraḥ-Śatayātur-Vasiṣṭhaḥ'. The plural 'ye' in the verse requires that 'Śatayātuḥ' is an individual's designation (literally meaning either one who possessed hundred magic tricks or one against whom one hundred magic tricks were practised). In the Tai. Āraṇyaka (I. 1. 3. 37) we have a Vyāsa Pārāśarya. In the Vamśa that occurs in the Bṛhadāraṇyaka II. 6. 2 and IV. 6. 3 we have a Pārāśarya. The Nirukta gives an etymology of Pārāśara. Pāṇini attributes a bhikṣūtra to Pārāśarya. 'In the Śāntiparva (Chapters 290-298) there is a lengthy dialogue between Parāśara and king Janaka.

- 1. Genealogy: Descending in order from Viṣṇu-Brahmā-Vasiṣṭha, Śakti and Parāśara.
- 2. Birth: Śakti-son of Vasiṣṭha begot of his wife Adṛśyanti the son named Parāśara. Even at the time of his birth the was a scholar.

Kalmāṣapāda, a king of the Ikṣvāku dynasty reached the hermitage of Vasiṣṭha during a hunting expedition when Śakti, eldest of the hundred sons of Vasiṣṭha came walking towards him. False pride prevented either of them from giving way to the other. The king got angry and whipped Śakti. Śakti cursed the king and he was converted into a demon. This happened at a period when sages Vasiṣṭha and Viśvāmitra were at logger heads. Visvāmitra got admitted into the body of king Kalmāṣapāda a demon culled Kimkara, and the king set out to take revenge upon Śakti, the son of Vasiṣṭha. The king was further promised all

support by Visvāmitra. Kalmāṣapāda ate up all the hundred sons of Vasiṣṭha. Overcome with grief Vasiṣṭha attempted suicide many a time. But the spirit (Ātman) did not quit the body. Thus sunken in grief Vasiṣṭha lived in his hermitage with Adṛśyanti, wife of Śakti, One day Vasiṣṭha heard distinct sounds of the chanting of the Veda and Adṛśyanti told him that a child of his son, Śakti, was growing in her womb and that the Vedic sounds heard were the sounds produced by the son chanting the Vedic hymns. Vasiṣṭha was happy to hear that the dynasty will not become extinct and so gave up all ideas of suicide. Another day Kalmāṣapāda in the guise of the demon hurriedly came to devour Adṛśyanti and Vasiṣṭha gave him redemption from the curse. He was restored to his old state and form. Adṛśyanti duly gave birth to a son, and the child grew up to become Parāśara, father of Vyāsa.

3. Rākṣasayāga: Even before the birth of Parāśara, Kalmaṣapīda in his demoniacal form ate his father Śakti. Therefore Parāśara nurtured an obstinate hatred against the Rākṣasas and so he performed a yāga to kill all the Rākṣasas. Thousands of demons were burnt to death as this sacrifice and Vasiṣṭha, the approached Parāśara felt sorry for the innocent demons. He approached Parāśara and said— "son do not give way to such done? Death was in the destiny of your father. Every one has to austerities which one has attained by years of toil. Therefore abandon your anger and wind up the sacrifice".

Parāśara accepted the advice of his grandfather. Vasiṣṭha was pleased with his grandson and at that time sage Pulastya, the son of Brahmā arrived there. Then Vasiṣṭha and Pulastya jointly Thus Parāśara became the best of the guruparamparā—the traditional line of Preceptors

4. Birth of Vyāsa: Parāśara begot a son of a fisher woman named Satyavati and the boy became later the celebrated Vyāsa.

5. Other details: He got the name Parāśara because even the father of Parāśara was eaten by the demoniac form of

Kalmāṣapāda. Parāśara was among the several sages who united Bhīṣma lying on his bed of arrows.

6. Some stanzas:

- (1) व्यासं विसष्ठनप्तारं शक्तेःपौत्रमकल्मषम्।पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम्।।
- (2) पराशरोऽब्रवीत् व्यासं धर्मं वर्णाश्रमादिकम्। कल्पे कल्पे क्षयोत्पत्या क्षीयन्ते तु प्रजादयः। (इति गरुड़पुराणे)



MĀDHAVA-THE COMMENTATOR

Mādhavācārya is the birghtest star in the galaxy of dākṣiṇātya authors on dharmaśāstra. His fame stands only second to that of the great Śaṅkarācārya. He had a most versatile genius and either himself wrote or inspired his brother Sāyaṇa and others to write voluminous works and almost all branches of Sanskrit literature. As an erudite scholar, as a far-sighted statesman, as the bulwark of the Vijayanagara kingdom in the first days of its foundation, as a saṃnyāsin given to peaceful contemplation and renunciation in old age, he led such a varied and useful life that even to this day his is a name to conjure with viz., the Parāśara-mādhavīya, his commentary on the Parāśarasmṛti and the Kālanirṇaya.

A good deal about the family and personal history of Mādhavācārya can be gleaned from the above mentioned two works and other treatises of Mādhavācārya. From the Parāśaramādhavīya we¹ learn that he was the son of Māyaṇa and Śrīmatī, that Sāyaṇa and Bhoganātha were his younger brothers, that he sūtra-caraṇa and belonged to the Bhāradvāja-gotra. The intro-Sāyaṇa corroborate most of these particulars. A verse at the beginning of the Kālanirṇaya tells us that Vidyātīrtha, Bhāratītīrtha

श्रीमती जननी यस्य सुकीर्तिर्मायणः पिता। सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ॥ यस्य बौधायनं सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी। भारद्वाजं कुलं यस्य सर्वज्ञः स हि माघवः॥ Introverses 6 and 7 of पराशरमाधवीय

and Śrīkantha were his teachers. 1 The Parāśara-Mādhavīya highly eulogises² Mādhava, compares him to divine and semi-divine councillors like Angirasa of Indra and says that he was the hereditary teacher (kulaguru) and mantrin of king Bukkana, (or Bukka). The colophons to the several works of Sāyaṇa, the vounger brother of Mādhavācārya, show that these brothers were closely connected with four rulers of the Vijayanagar dynasty, viz. Bukka and his son Harihara, Kampa and his son Sangama. In the Yāiñatantra-sudhānidhi³ (ms. in the Bhau daji collection) Sāyana, the author of the bhāsyas on the Vedas, is said to be the kulaguru of Harihara, son or Sangama. In the Guruvamsa-kavya (Vānīvilāsa Press ed.) it is said that Vidyāranya was the pupil of Vidyātīrtha, that he composed Vedabhāṣyas and published them in the names of Sāyaṇa and Mādhava, that Harihara and Bukka were the most valiant of the five sons of Śangama (v. 48), that Vīra Rudra was the sovereign of Harihara and Bukka and was defeated by the suratrana i.e. sultan. The same work says that Vidyāraņya founded Vijayanagarī in śaka 1258, Vaiśākha śuddha 7 Sunday (i.e. 30th April 1335 A.D.) and crowned Harihara king⁴.

Burnell in his introduction to the Vamśabrāhmaṇa started the theory that Sāyaṇa and Mādhava were identical and put forward an esoteric meaning on the verse that states that Sāyaṇa and Bhoganātha were the younger brothers of Mādhava. But the

सोहं प्राप्य विवेकतीर्थपदवीमाम्नायतीर्थे परं मज्जन् सज्जनसङ्गतीर्थिनिपुणः सद्वृत्ततीर्थ श्रयन्। लब्धामाकलयन्प्रभावलहरीं श्रीभारतीतीर्थतो विद्यातीर्थमुपाश्रयन् हृदि भजे श्रीकण्ठमव्याहतम्।। 2nd verse of कालनिर्णय।

^{2.} इन्द्रस्याङ्गिरसो नलस्य सुमितः शैब्यस्य मेधातिथिधींम्यो धर्मसुतस्य वैन्यनृपतेः स्वौजा निमेगीतिमिः। प्रत्यद्विष्टिररुन्धतीसहचरो रामस्य पुण्यात्मनो यद्वत्तस्य विभोरभूत्कुलगुरुर्मन्त्री तथा माधवः। 4th verse of परा. मा.

तस्याभूदन्वयगुरुस्तत्त्वसिद्धान्तदेशिता। सर्वज्ञः सायणाचार्यो मायणार्यतनूद्भवः। उपेन्द्रस्येव यस्यासीदिन्द्रः सुमनसां प्रियः। महाक्रतूनामाहर्ता माधवार्यः सहोदरः।। अधीताः सकला वेदास्ते च दृष्टार्थगौरवाः। त्वत्प्रणीतेन तद्भाष्यप्रदीपेन प्रथीयसा।। Intro. verses 7, 8, 14.

नागेष्वर्केमित इह शक शालिवाहस्य याते धातर्यब्दे शुभसमुचिते मासि वैशाखनाम्नि। शुक्ले पक्षे सुगुणिपतृभे सूर्यवारे सुलग्ने सप्तम्यां श्रीविजयनगरीं निर्ममे निर्ममेन्द्रः॥ गुरुवंशकाव्य VI. 8.

facts as culled from the works of these two great men and the inscriptions of contemporary Vijayanagara kings are too strong for the hypothesis of Burnell and make it look absurd. The whole subject about the relationship of Mādhava, Sāyaṇa and Bhoganātha has been carefully examined by Rao Bahadur R. Narsimhachar in Ind. Ant. vol. 45 pp. 1-6 and 17ff. and the theory of Burnell has been theroughly refuted. Sāyaṇa and Bhoganātha were as real personages as Mādhavācārya himself. Mādhavācārya in his later years became a samnyāsin and was named Vidyāranya. To the items of evidence adduced by R. B. R. Narasimhachar for establishing the identity of Mādhava and Vidyāraņya (Ind. Ant. Vol. 45 p. 18) I may add one more. The Vīramitrodaya ascribes the commentary on Parāśara composed by Mādhava to Vidyāraņya¹. It has however to be noted that the Guruvamśakāvya (Vāṇīvilās Press ed.) says (V. 41-44) that Vidyāraņya was different from both Sayana and Madhava.

Sāyaṇa was not only a very learned man and author of several works (besides the Vedabhāṣyas) but he also fought several battles. He composed several works enumerated in the note below.

In the bhāṣya on Parāśara he names three gurus, Vidyātīrtha, Bhāratītīrtha and Śrīkanṭha. He, however, says in his Anubhūtiprakāśa that Vidyātīrtha was his principal guru.²

Vidyāranya was originally Mādhava. He is the author of the Jīvanmuktiviveka and Pañcadaśī. The introductory verses mentary on Parāśarasmṛti (called Parāśaramādhavīya) is claimed to be his by Mādhavāeārya (vide note 1170). Therefore Vidyāranya's words lead to the conclusion tha he is identical with

व्याख्यातं चेदं शङ्खवचनं विद्यारण्यश्रीचरणैः पराशरस्मृतिटीकायां पैतृकद्रव्यविभाग काले स्वधृतालङ्कारादिकमपि कन्या प्राप्नोतीत्याह शङ्ख इति। वीर० p. 582; vide p. 672 दायग्रहणप्रतिषेधत्वमेवास्याः श्रुतेर्नास्तोति।' This refers to the remarks in परा. मा.
 पणाम गणाव्याः १००

^{2.} प्रणम्य परमारत्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम्। वैयासिकन्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम्।। first verse of the वैयासिकन्यायमाला (Ānandāśrama ed.).

Mādhavācārya in a former stage of life (āśrama). Vide Rao Bahadur R. Narasimhachar's learned paper of 'Mādhavācārya and his younger brothers' in I.A. vol. 45 pp. 1-6 and 17-24.

Among the works of Mādhavācārya are the following: Parāśarasmṛtibhāṣya, Kālamādhava, Jīvanmuktiviveka, Pañcadaśī, Jaiminīya-nyāyamālāvistara, Vaiyāsika-nyāyamālāvistara. The Pañcadaśī has a commentary of Rāmakṛṣṇa (Nir. Press ed. of 1918). It is a famous work on the Advaita Vedanta. It is so called because it has 15 Prakaranas. It may also be noted that in the Nir. edition the work has 1501 verses. The longest Prakaranas are Tṛptidīpa with 298 verses and Citradīpa with 290. The shortest Prakarana is 'Mahāvākya-viveka' with only eight verses. The Jīvanmuktiviveka has extensive quotations from the Upanișads and the Bhagavadgītā. It also quotes the following works and authors viz. Ānandabodhācārya (p. 8). Āryāpañcāśīti (p. 48), Upadeśasāhasrī (p. 6), Gaudapādācārya (pp. 78, 108), Dakṣa p. 106 (two verses of which one is Dakṣasmṛti VII, 30), Patañjali (p. 39), Bhāgavata (p. 87), Manusmrti (pp. 106 and 108 quote respectively VII. 10-11 and VI. 53-54), Medhātithi (9 verses on p. 109 about Yati, probably from his Smrtiviveka not yet discovered), Yama (p. 108), Yogabhāṣya (pp. 64, 74), Yogasūtra (pp. 46, 67), Vākyavrtti (p. 30 two verses), Vedāntasūtra (p. 30, IV. 1. 19).

It appears that Mādhavācārya regarded Vidyātīrtha, his principal guru, as an incarnation of God Maheśvara.

Besides being a mantrin of the Vijayanagara kings, it appears that Mādhavācārya performed some great Vedic sacrifices, and made donations called 'Mahādānas'. In the Yajñatantrasudhānidhi he is described by Sāyaṇa as 'Mahākratūnām-āhartā' and to have weighed himself against precious metals (tulāpuruṣadāna).

The chronology of the kings of Vijayanagara has been a fruitful source of controversy. It is not necessary to go into that chronology in great detail here. It may be studied in such works as Sewell's 'Forgotten Empire' and in E.I. Vol. III. p. 36, E.I. vol. XIV p. 68, E.I. vol. XV p. 8. The following pedigree will be sufficient for the purpose of connecting Mādhava and his brothers with the kings of Vijayanagara. The earliest inscription is that of Harihara I dated śaka 1261 1339-40 A.D.) wherein Harihara

is said to be a Mahāmaṇḍaleśvara and is spoken of as 'Śrī-Vīra-Hariyappa-Vodeya'. The colophon of the Mādavīyā Dhātuvṛtti describes Mādhava as the great minister of Sangamarāja, the son of Kamparāja. The Bitragunta grant in śaka 1278 (1356 A.D.) by Sangama II at the request of his teacher Srīkanthanātha shows that Bhoganātha who composed the contents of the grant was a narmasaciva (gay or humorous companion) of Sangama II. We saw above that Śrīkantha was a teacher of Mādhavācārya and that Bhoganātha was the youngest brother of Mādhavācārya. Bhoganātha in order to be a poet and a naramasaciva of a reigning sovereign must have been a grown-up man in 1356 A.D. and so Mādhavācārya must have been quite an elderly person about that time. The Kalanirnaya tells us that in the cyclic year Isvara following immediately after śaka 1258 śrāvaņa was an intercalary month and that in the cyclic year Bhāva that preceded śaka 1258 (i.e. śake 1256) Phālguna was an intercalary month and then examines the intercalery months that occurred in the cyclic years up to Vikārī thereafter (i.e. up to śaka 1281). As the Kālanirņaya exmines the intercalary months from śaka 1256 (i.e. 1334. A.D.) to śaka 1281 (i.e. 1359 A.D.), it follows that it was either composed during these years or immediately after this period. The Parāśara-mādhavīya was composed before the Kālanirņaya. Rao Bahadur Narsimhachar states that in a copperplate grant dated 1386 A. D. it is said that Harihara (II) gave in the presence of Vidyāranya-śrīpāda certain donations to three scholars who were the promoters (pravartaka) of the commentaries on the four Vedas (Ind. Ant. vol. 45 p. 19). Another inscription speaks of Vidyāranya in 1378 A.D. This shows that Mādhavācārya had become a samnyāsin at least in 1377 A. D. Tradition says that Vidyāranya died in 1386 A. D. at the ripe old age of 90. Therefore we shall not be far wrong if we place the literary activity of Mādhava-Vidyāranya between 1330-1385 A.D. From the remarks about intercalary months it composed between 1335-1360 A.D. There was a tradition among pandits that it was Mādhavācārya who composed bhāṣyas on the Vedas and ascribed them to his brother Sāyaṇa. Kāśīnātha, in his Viţţhala-rimantra-

The Parāśara-mādhavīya has been published several times, the edition in the B.I. Series and in the Bombay Sanskrit series being the best known. In the following the Bombay edition has been used. This work is very extensive and occupies about 2300 printed pages in the Bomay edition. It is not a mere commentary on Parāśara's text, but is in the nature of a digest of civil and religious law. The original smṛti of Parāśara contains no verses on vyavahāra but Mādhavācārya hangs on the slender peg of a single verse of Parāśara1 calling upon the king to rule his subjects with righteousness, has treatise on vyavahāra that coverse a little over a fourth part of the whole commentary (above on Parāśara). The Parāśara-mādhavīya is a work of authority on modern Hindu Law in southern India². His style is lucid and he generally avoids lengthy and abstruse discussions. Besides numerous smrtikāras and purāņas he names the following authors and works-Aparārka, Devasvāmin, Purānasāra, Prapañcasāra, Medhātithi, Vivaranakāra (on the Vedāntasūtra), Viśvarūpācārya, Śambhu, Śivasvāmin, Smṛticandrikā. The Parāśara-mādhavīya was amongst his earliest works. He tells us that there was no commentary on Parāśara before him³. Raghunandana in Āhnikatattva (Vol. I. p. 382) expressly says 'iti Parāśarabhāṣye Mādhavācāryah'. The Parāśarabhāṣya is mentioned by Raghunandana in (Vol. I.) Tithi pp. 24, 63, Ahnika pp. 343, 359 also.

The Kālanirṇaya of Mādhavācārya has been published several times. In the following the B.I. edition has been used. He states that he wrote his work after he composed his commentary on the Parāśarasmṛti⁴. The work is divided into five *prakaraṇas*. The first (Upodghāta) deals with a scholastic disquisition on *kāla*

पराशरस्मृति 1. 58 is : क्षित्रयो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रचण्डवत्। विजित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्।।

 ² Mad. H. C. R. p. 206 at p. 217; 11 Moo. I. A. p. 487 at p. 508; I.L.R. 35 Mad. 152 at p. 156.

पराशरस्मृतिः पूर्वेर्न व्याख्याता निबन्द्धिः। मयातो माधवार्येण तद्व्याख्यायां प्रयत्यते।।
 9th Intro. verse.

^{4.} व्याख्याय माधवाचार्यो धर्मान्पाराशरानथ। तदनुष्ठानकालस्य निर्णयं वक्तुमुद्यतः।। 4th Intro. verse of कालनिर्णय।

(time) and its real nature; the 2nd (called vatsara) speaks of the vear, its various lengths according as it is candra, savana or saura, of the seasons and their number, of the months (candra, saura, savana and naksatra) of the intercalary months, and the religious acts allowed and forbidden in intercalary months, of the two paksas (fortnights); the third prakarana (pratipat-prakarana) deals with the meaning of the word tithi, duration of a tithi, the fifteen tithis of a paksa, two kinds of tithis, viz., śuddhā (i.e. not intermixed with another tithi on the same day) and viddhā (intermixed with another tithi on the same day), rules about the preference of the first tithi for particular religious rites and observances (for Gods and Manes) when intermixed with the preceding and following tithis, the fifteen muhūrtas of the day and of the night; the fourth (dvitīyāditithi-prakarana) extends the application of the rules about pratipad to the tithis from the second to the fifteenth and decides on what tithi (whether inermixed with the preceding or the following) certain vratas, such as Gaurīvrata on the third, Janmāstamī on the 8th, were to be performed; the fifth (prakīranaka i.e. miscellaneous) deals with rules about the determination of naksatras for various acts, the yogas and karanas and rules about samkrānti and eclipses and the actions proper for them.

Colophons of Parāśara-mādhavīya

Chapter I

प्रख्याता हि पराशरस्मृतिरिह स्मृत्यागमस्थापनं धर्मो वर्णचतुषृयी बहुमता साधारणाख्याभिधा। आद्यस्वाह्मिकाशिष्टनामविहितः षट्कर्मपूतोऽपरः पूर्वाध्यायनिरूपितं तदखिलं व्याख्यत् सुधीर्माधवः।।

इति श्रीराजाधिराज-परमेश्वर-वैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीर-बुक्कभूपालसाम्राज्य धुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः।

Chapter II

द्वितीयेत्वध्याये स्फुटमभिहितो जीवनकृते-रुपायःकृष्यादिः पुनरथ समस्ताश्रमगता। गरीयांसो धर्माः किमपि विवृताःस्वाश्रमपदात्तमेवं व्याकार्षीन्महिताधिषणो माधवविभः।।

इति श्रीमहाराजाधिराज परमेश्वर-वैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां माधवीयायां द्वितीयोऽध्यायः।।

Chapter III

यत्राशौचविधानजातमजहत्स्वार्थप्रयुक्या दृशा प्रोक्तंयत्र च संगृहीतवपुषां श्राद्धं समृद्ध्यै पदम्। अध्यायं तदबाह्यनिर्णयविदां तार्तीयमार्तिच्छिदं सोऽयं व्याकुरुते स्वतन्त्रमहिमा मन्त्रीश्वरो माधवः।।

इति श्रीमहाराजाधिराज परमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां माधवीयायां तृतीयोऽध्यायः समाप्तः।

समाप्तञ्चाचारकाण्डम्।।

Chapter IV

श्रुतिविषयितं प्रायश्चित्तं प्रकीर्णकेषु यन्मतं तन्नयविशेषयोर्भेदस्तल्लक्षणं परिवेदनम्। प्रथयति परे तुरीयाध्याये पराशरभाषिते विवृतिमकरोत् शक्त्या निर्णीयमानं माधवः।।

इति श्रीमहाराजाधिराज वैदिकमार्गप्रवर्तक-परमेश्वर श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां माधवीयायां चतुर्थोध्यायः।

Chapter V

प्रकटयति विभक्तं यः प्रकीर्णावशेषं समधिकपरिबर्हं संस्कृतिञ्चाहिताग्नेः। प्रकृतिगहनमे तन्पञ्चमाध्यायमे वं विशदमयमकार्षीत् व्याख्यया माधवार्यः॥

इति श्रीमहाराजाधिराज-वैदिकमार्गप्रवर्तक-परमेश्वर-श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः।।

Chapter VI

प्रकीर्णकरणाभिधे मिलनतावहाख्याधरे वदन्तमुपपातकेऽप्युचितसित्क्रयां निष्कृतिम्। रसान्नपरिशुद्धिमप्यकृत षष्ठमध्यायम-प्युदारिववृतिं वशी मधुरवाङ्मयो माधवः।।

इति श्रीमहाराजाधिराज-वैदिकमार्गप्रवर्तक-परमेश्वर श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः॥

Chapter VII

आख्याय सप्तमेऽस्मिन्नध्याये द्रव्यशुद्धिरवशिष्टा। सैषा माधवविभुना व्याख्यायि पराशरस्मृतौ विदुषा।।

इति श्रीमहाराजाधिराज-वैदिकमार्गप्रवर्तक-परमेश्वर-श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां माधवीयायां सप्तमोऽध्यायः।

Chapter VIII

गावः श्लाध्यास्त्रिलोक्यामिति निगमिगरस्तादृशीनां वधे यत् प्रायश्चित्तं प्रणीतं किमिष गणयतस्तच्च सामान्यगीतम्। भारद्वाजान्ववायः प्रथितसमुदयः स्वोदितैरेव सूक्तै-रध्यायस्याष्टमस्य व्यतनुतं विवृतिशाश्वती माधवार्यः।

इति श्रीमहाराजाधिराज-वैदिकमार्गप्रवर्तक-परमेश्वर श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां माधवीयायां अष्टमोऽध्यायः।

Chapter IX

अध्याये नवमे पराशरमुनिप्पोक्तौमहाग्रन्थके रोधोबन्धनताडनाद्यनुचितं यत्स्यात् गवांपीडनम्। कर्मेतस्य विशेषतः समुदिता सर्वोत्तरा निष्कृति-स्तद्व्याख्यामकरोत्कृतीशुभिधया भाग्याम्बुधिर्माधवः॥

इति श्रीमहाराजाधिराज-वैदिकमार्गप्रवर्तक-परमेश्वर श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां नवमोऽध्यायः।

Chapter X

गम्येतराभिगमने सित निष्कृतिर्या सा यत्र साधुहिजकारणभभ्यधायि। अध्यायमूर्जितमितर्दशमं स्वयुक्त्या व्याख्यत्पराशरकृताविह माधवार्यः।।

इति श्रीमहाराजाधिराज-वैदिकमार्गप्रवर्तक-परमेश्वर-श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां माधवीयायां दशमोऽध्यायः।

Chapter XI

अभोज्ये भोज्यत्वप्रमितिमभिसंकल्प्य मनसा प्रसीक्त स्वाच्छन्द्यादिह विदधतः संस्कृतिमतः। मतं प्रायश्चित्तं दधतिमममेकादशमसा-वकार्षीदध्यायं स्फुटविवरणं माधवस्धीः।।

इति श्रीमहाराजाधिराज-वैदिकमार्गप्रवर्तक-परमेश्वर-श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां माधवीयायां एकादशोऽध्यायः।

Chapter XII

अध्यायाचारकाण्डानिभिहिनसमयाचारभेदान् द्वितीये काण्डेऽध्यायाष्टकेऽपि क्रचिदनिभिहितान् निष्कृतीनां प्रभेदान्। अध्याये द्वादशेऽस्मिन्नकथयदनधः शिक्तसूनुर्मुनीद्र-स्तंशिष्टानुग्रहार्थं सुविवृतमकरोन्माधवाचार्यवर्यः। अध्यायेऽत्रावशिष्टं समुदितमुभयोः काण्डयोद्विदशे स्यात् प्रायिश्चत्तं यदस्मिन्ननुपदमगमत् पातकादौ रहस्ये। अन्यत् सौम्यादि कृछ्ं सुविहितफलदं कर्मणो यो विपाकः सर्वं भावोपलक्ष्यं स्मृतिहृदयमिदं व्याकृतं माधवेन।

इति श्रीमहाराजाधिर,जपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां माधवीयायां द्वदशोऽध्यायः।

समाप्तञ्चेदं प्रायश्चित्तकाण्डम्।



CONTENTS OF THE SMRTI

Chapter I

Instruction of Dharmas and their characteristics

While Vyāsa was sitting in meditation at the top of the Himālaya mountain surrounded by the trees of Devadāru the sages approached him and made the following request. Oh son of Satyavati please instruct us on the dharmas beneficial to mankind in the Kali age properly. Listening to their request the effulgent sage well-versed in Smrtis said as follows. In do not know the entire dharmas and hence for your benefit you may please approach my father. Then sages went to the hermitage of Badarika along with Vyāsa. The hermitage was a quiet and attractive one abounding in trees and flowers, resorted to by many bird and animals, located in the surrounding of a temple where yaksas, Gandharvas and siddhas were dancing merrily, there in the midst of some sages they saw Parasara the son of Śakti. Vyasa with folded hands saluted his father and praised him. Having been pleased Parāśara welcomed the guests led by Vyāsa who requested for the instruction of virtues of mankind. Parāśara told them that he has heard the rules of virtues and conduct from early sages (19 in all) such as Manu, Vasistha, Kāśyapa, Garga, Gautama, Uśanas, Atri, Viṣṇu, Samvarta, Dakṣa, Angiras, Śātātapa, Hārita, Yājñavalkya, Kātyāyana, Pracetas, Āpastamba, Śankha and Likhita and that he has not forgotten their views. In this age of the Kali following Kṛta, Tretā and Dvāpara there are certain duties assigned to the four varnas which Vyāṣa wanted Parāśara to give instruction on them.

Parāśara obliged and began to spell out these in the following manner.

At the deluge following each Kalpa Brahma, Viṣṇu and Mahesvara, the trinity no longer gives separate instructions. It is upto the sages to give instructions. Thus Manu, Gautama, Śankhalikhita and Parāśara became the guiding ones as regards virtues in the respective ages of Kṛta, Tretā, Dvāpara and Kali. In Kṛta it is dharma, in Tretā if is Jñāna, in Dvāpara it is Yajnā and in Kali it is dāna alone form the guiding principle. As already noted these were explained by Manu, Gautama, Sankhalikhita and Parāśara respectively

In Krtayuga me should leave back his region, in Tretā one should reject his village, in Dvāpara one should disregard his race or family while in Kali one should leave the sacrificing priest. In the age of Krta one attains sin by engaging in conversation, in Treta by mere sight, in Dvāpara by partaking in food and in Kali by one in actions. In Kṛta it is sudden, in Treta it takes ten days, in Dvāpara it takes a month while in Kali it takes an year. In Kṛta one gives alms going forward to the recipient, in Treta by inviting him, in Dvāpra to those who seeks it while in Kali to those attending on one by doing service. These four are respectively termed an Uttama, Madhyama, Adhama and worthless. In Kṛta one's life breath lingers on skeletons (or bones) in Treta in flesh, in Dvāpara in blood and in Kali it occupies in veins.

Dharma is won over by Adharma, Satya by Anṛta, kings by servants and men by women. In his age of Kali performances of Agnihotra comes to deterioration, worship of elders perishes and unmarried maiden give birth to children. In each age one should follow the virtue prescribed, respect the Brahmins and obey the advices of sages. Parāśara has also prescribed expiatory deeds for the lapses of men.

Parāśra proceeds to instruct the sages regarding the duties of the age. His views are beneficial to the mankind in general in the matter of virtues. For all the four castes it is applicable and hence one should not turn away from one's duties.

A Brahmin who is engaged in his six fold duties and worships gods and guests and consumes the food left over will not loose his stature. The six duties enjoined for each day are bath in the morning and evening, japa, perform worship to gods, performance of Vaiśvadeva sacrifice and honouring guests. Friend or foe, the guest coming at the of sacrifice will lead one to heaven. A guest who arrives after a long journey, tired and hungry at the time of sacrifice is the real guest but not one who is previously invited to be there; one should not question his race, caste, family, profession etc., since such a guest is really an embodiment of all divinity. Never consider a native as guest, but consider only an unsider who casually arrives. He should be received well by giving food and drink and an honorable seat after washing his feet A householder should generate pleasure in him by showing respect giving food, asking his well being and following his footsteps on departure. If a guest is to leave one dejected it will make one's manes unhappy. In such a situation a sacrifice using hundred potfuls of ghee or bundles of tinder will not be of any benefit if the guest leaves dejected.

One should sow the seed in a fertile land, wealth in a fit receptacle for such an investment will not perish. A pious, Brahmin, a fitting guest and one engaged in current study of Vedas are rarely found. During the Vaiśvadeva sacrifice a supplicant who arrives for alms should be sent out before resuming the sacrifice one who eats food without giving a share to a mendicant, Brahmacarin shall perform the expiatory rite called Cāndrāyaṇa. The water pouring into the hands of a mendicant after his food is equal to the sea while the food equals mount Meru. A mendicant could do away with the faults of a Vaiśvadeva sacrifice for the sacrifice could not tolerate wrong doings. A Brāhmin who refuses to give food to a guest well-versed in Vedas and eats himself acquires sin; seeds should be in a fertile field; wealth should be given to a worthy son so that both will become beneficial. A king should punish a village where Brahmins do not study Vedas and roam about for alms. A kṣatriya should take hold of weapons, win over the enemies and rule over the country properly and with virtues. Prosperity will not be hereditary always; one should attain it by one' bold deeds; one should collect flowers but not cut at the root of a tree. A garland maker should periodically pluck flowers instead if cutting its branches.

The duty of a vaisya consists of looking after cattle, agriculture and trade. A Śūdra shall selve on Brahmins besides the normal duties. They also sell merchandise including salt honey, oil, curd etc. A sūdra who indulges in eating fish, liquour and ravishes a pious lady will go to hell. He shall not drink the milk of a kapila and sleep with a Brahmin lady and study Vedas all of which will ensure his sojourn in a hell.

Explanation of Mādhava

Mādhava in his gloss on the first chapter of the Parāśara Smṛti has referred to a host of authorities.

He begins the commentary of the first chapter with nine introductory verses. The first is an invocation to Gajā nana the elephant faced god. There he gives some personal details in the following verses that he was the son of Mayana and Srīmati, that Sāyaṇa and Bhoganātha were his younger brothers, that he was a student of Black Yajurveda and of the Baudhāyana-sutra-carana and belonged to the Bharadvāja gotra Further he informs us that Vidyatirtha, Bharatitirtha and Śrīkantha were his teachers. In a eulogy he compares himself to divine and semi-divine councillors Angiras of Indra etc. In this connection he compares himself to preceptors like Sumati, Medhātihi Dhaumya, Swaujas, Gautami and others. He was the Kulaguru and Mantri of king Bukkana (Bukka) of the Vijayanagar dynasty. His proficiency in polity is marvellous. He compares himself to sakala purana pravartaka and wellversed in the smrti of Paraśara to which he is composing the first ever commentary. After establishing the fitness of the work to be commented upon, the embartks on the job.

He has included all these stanzas as the beginning of his treatise on Vyavahārakāṇḍa which he has composed as an original appendix to complete the work.

First he points out that there are apparent contradictions

between the tenets of Manu and those of Śakyas (Buddhists). The words of Manu form unquestionable authority while that of Śākyas are not so. They are subject to test. Some of them need to be rejected. Parāśara is equal to Manu in that he has a traditional background and that he belongs to line of great preceptors. This is the situation with Yājñavallaya also.

Then he proceeds to say that Paraśarasmṛti consists of two Kāṇdas, twelve chapter and 592 stanzas.

पराशरस्मृतावस्यां ग्रन्थकू प्तिर्विविच्यते। द्वे काण्डे, द्वादशाध्यायाः, श्लोकाः अष्टोनषट्शतम्। आचारस्यादिमः काण्डःप्रयाश्चित्तस्य चान्तिमः।।

Then he proceeds to state briefly the contents of the chapters. Stating the contents of the first three chapter, he observes:—

अध्यायत्रयगाः अर्थाःप्रोक्ताः आचारकाण्डगाः।

Thereafter the contents of other chapters too are noted here.

- 4. तुर्ये प्रकीर्णपापस्य प्रायश्चित्तं प्रपञ्चितम्।
- 5. प्रकीर्णशेषः संस्कारः आहिताग्नेश्च पञ्चमे।
- 6. पायाश्चित्तं षष्ठ उक्तं शुद्धिश्चान्ने रसेऽपि च।
- 7. अवशिष्टः द्रव्यशुद्धिः सप्तमाध्याय ईशित।
- 8. प्रायश्चित्तं गोवधे च सामान्येनाष्टमे स्मृतम्।
- 9. रोधनादिविशेषेण नवमे तदुदीरितम्।
- 10. अगम्यागमने प्रायाश्चित्तं दशम ईरितम्।
- 11. अभोज्यभोजनादौ तदेकादश उदीरितम्।
- 12. द्वादशः परिशेषःस्यात् काण्डयोरुभयोस्तयोः। इत्थं नवभिरध्यायैः प्रायश्चित्तं प्रपाञ्चितम।।

In the above lives the subject matter of the entire Parāśarasmṛti is pointed out before they are explained in detail. He states that there is no contradiction in the statements of Parāśara and other authors. In concluding his prefatory verses he observes that references to other works do not form the rejection of their ideas.

प्रवक्ष्यामि यथा पूर्वे निबन्धनकृतस्तथा। यद्यस्मिन् विषये प्रोक्तं तत्र तस्य प्रशस्तता। विवक्षिता, नेतरस्य निषेधीत्र विवक्ष्यते। तद्विवेकाय कुर्वेऽहं व्याख्यां पाराशरस्मृतेः।।

Thereafter he proceeds to explain the first two stanzas of the smrti. He quotes traditional views on benediction, fitness of readers etc. It is not possible here to quote all that he has observed by way of explanation. Hence here an indication alone is given. While some of the preceptors and their works are referred to by name others are indicated as "some one" etc.

Some of the statements may be noted here:

- 1. इदञ्च वाक्यं नित्यकर्म-विषयत्वेन विश्वरूपाचार्य उदाजहार।
- 2. तथा च मनुः।
- 3. तथा कूर्मपुराणेऽपि।
- ज्ञानादेव तु कैवल्यम् इति श्रुतिः।
- 5. मोक्षहेतुत्वं वायवीयसंहितायामभिहितम्।
- 6. तदुक्तं वार्तिककारेण।
- 7. अत एव याज्ञवलक्येनेदमुक्तम्।

Some of the authorities quoted by name in this chapter are:— Bṛhaspatī, Viṣṇu, Manu, Paiṭhīnasi, Baudhāyana, Yājñavalkya, Yama, Hārīta, Vasiṣṭha, Dakṣa, Nārada, Vyāsa, Prajāpatī, Katyāyana, Śātātapa, Devala, Samvarta, Gautama, Angiras, Bhāradvāja, Sankha, Likhita, Marici, Āpastamba, Pracetas, Bhṛgu, Kausika, Gobhila, Vyāghrapāt, Vrddha-Śankha, Atri, Kārṣṇājini, Yogiyājñavalkya, Gārgya, Pulastya, Kratu, Vrddha-Manu, Brahmā, Nārāyaṇa, Satyavrata, Nandikesvara, Gālava, Vrddha-gargya, Vrddha-vasiṣṭha.

Some of the works quoted here are:

Viṣṇupurāṇa, Ādityapurāṇa, Kūrmapurāṇa, Liṅgapurāṇa, Skandapurāṇa, Matyapurāṇa, Āraṇyaparva (of Mahābhārata), Brahmapurāṇa, Vrddha-Parāśara, Śaivāgama, Ātharvaṇa, Mārkaṇḍeyapurāṇa, Viṣṇudharmottara, Bharviṣyottara, Mahābhārata, Sivapurāṇa, Gāruḍapurāṇa, Svetāsvara, Brahmāṇḍpurāṇa, Purāṇasāra, Caturvimśatimata, Nṛsimhapurāṇa,

Vāmanapurāņa, Şaṭtrimśanmata, Varāhapurāṇa, Agnipurāṇa, Gṛhyapariśiṣṭa, Āśvamedhika (Mahābhārata), Bhaviṣyapurāṇa, Śāntiparva (Mahābhārata), Rāmāyaṇa, Ānuśusanika (Mahābhārata).

In the introductory portion a list of smṛtī writers is given (according to Parṭhīnasi):

स्मृतिनिर्णेतारो मन्वादयः प्रसिद्धाः। तत्र पैठीनसिः—
"तेषां मन्विङ्गरो व्यास-गौतमात्र्युशनो यमाः।
विस्विद्धसंवर्तशातातपपराशराः।
विष्णवापस्तम्बहारीताः शंखः कात्यायनो भृगुः।
प्रचेता नारदोयोगि बोधायनिपतामहाः।
सुमन्तुः काश्यपो बश्चः पैठीनोव्याघ्र एव च।
सत्यव्रतो भरद्वाजोगार्ग्यः कार्ष्णाजिनिस्तथा।
जाबलिर्जभदग्निश्च लोकाक्षिर्बह्यसम्भवः।
इति धर्मप्रणेतारः षट्त्रिंशद्श्रषयस्तथा।।

ननु किमियं परिसंख्या। मैवम्। तथासित वत्स-मरीचि-देवल-पारस्कर-पुलस्त्य-पुलह-क्रतु-ऋष्यश्रृङ्ग-शङ्खलिखित छागलेयात्रादीनां धर्मशास्त्रप्रणेतृत्वं न स्यात्।

आश्वमेधिके पर्वण्यपि तत्तन्मुनिप्रोक्तधर्मानुक्रमणात् धर्मशास्त्रकर्तारो-गम्यन्ते। "श्रुता मया मे मानवधर्माः" इत्थुपक्रम्य एवं पठचते।

औमा-माहेश्वराश्चेव निन्दधर्माश्च पावनाः। ब्रह्मणा कथिताश्चेव कौमाराश्च श्रुता मया। धूम्रायनकृताधर्माः कण्वावैश्वानरा अपि। भार्गवा याज्ञवल्क्याश्च मार्कण्डेयाश्च कौशिकाः। भरद्वाजकृता ये च बृहस्पतिकृताश्च चे। कुणेश्च कुणिवाहोश्च विश्वामित्रकृताश्च ये। सुमन्तुजैमिनिकृताः शाकुनेयास्तथैव च। पुलस्त्यपुलहोद्गीता पावकीयास्तथैव च। अगस्त्यगीतामौद्रल्याः शाण्डिल्याः सोलभायनाः। बालिखलचकृता ये च ये च सप्तिषिभः कृताः। वैयाघ्राव्यासगीताश्च विभाण्डककृताश्च ये।

तथा विदुरवाक्यानि भृगोरङ्गिरसस्तथा। वैशम्पायनगीताश्च ये चान्ये एवमादयः।

वेदविभागकारीव्यासः, तद्वेदशाखासम्प्रदायप्रवर्तकाः कठ-कौधुमादयः कल्पसूत्रकाराः बौधायनाश्वलायनापस्तम्बादयः, मीमांसासूत्रकृतो जैमिन्यादयश्च।

From the above list (which is not exhaustive) it may be known that Mādhava the commentator was proficient in ancient Vedic literature.

The first chapter consists only of 67 stanzas and in explaining them all the above mentioned writers are quoted again and again to define each concept. This is suggestive of the entire commentary.

Chapter II

Duties of householder; agriculture, acts of injury to animal life

Hereafter the duties of the four castes in the age of Kali are narrated and the relation to the householder in explained. This is according to the views of Parāśara. A Brahmin engaged in his six-fold duties should also look after agriculture. He should not put to use buffaloes which are thirsty, hungry and impotent bulls. The bulls should be healthy to carry out their function and bathed in the evening A Brahmin should perform worship of god, chanting of mantras, sacrificial rites and study Vedas with their ancillaries. He should also give food to three or four Snatakas. His agricultural acts should be in his own land and cultivate items like sesamum, paddy etc. He should not sell these items or sell tinder. The number of bulls to be used vary according to needs from two to eight and considering the time of the day like fore-noon and afternoon. Such a Brahmin will not go to hell but only to heaven. Usually an agriculturalist is likely to cause much sin. One who tie up animals, kills fishes, and hunt birds and one who refuses to give produces are sinful persons. For a householder there are five sins accumulated due to the use of utensils. Kitchen hearth, grind stone, broom, pestle and mortar, water-pot etc; will cause loss to animal life when they are put

in use by a householder. To avoid sin from these one should perform Vaiśvadeva sacrifice, offer oblations to manes, give alms, feed cattles everyday. An agriculturalist will not be affected by sin by cutting a tree, digging up earth ad destroying worms and other termites. One who does not give gift to a Brahmin is a thief or a murderer. One sixth of the produce shall be given to a king, twenty-one part of the whole may be gifted or offered to gods and one thirtieth to a Brahmin. A ksatriya doing agricultural acts shour please Brahmins and gods while a sūdra shall in addition please labourers engaged in artisan works and commercial activities. A Śūdra who do not serve Brahmins will not be performing his function. He will be shortlived and end up falling in hell. These are the general duties of all the four castes.

Explanation of Mādhava

Mādhava has given a detailed explanation of these topics quoting relevant authorities who have dealt with it in their trea-

In this second chapter where the duties of the four castes are enumerated Mādhava has referred to the following writers

Authors quoted here in are—Kātyāyana, Audumbara, Manu, Nārada, Hārīta. Yama, Yājñavalkya, Satyvrata, Viṣṇu, Samvarta, Jaimini, Devala, Vyāsa, Mārkandeya, Śankha, Lokakshi, Śaunaka, Vasistha, Rsyasrnga, Sangrahakāra, Bhrgu, Angiras, Gautama, Sumantu, Viśvāmitra, Kāsyapa, Sankha, Śātātapa, Devala, Baudhāyana, Āpastamba, Marīci, Paiṭhīnasi, Gobhila, Chāgaleya, Jābāla, Atri, Pitāmaha, Medhātithi, Dakṣa, and Kanva.

Works quoted to explain this section include :-

Mahābhārata, Āśvamedhika (Mahābhārata), Śaivapurāṇa, Kārmapurāņa, Skāndapurāņa, Visņudharmottara, Ādityapurāņa, Bhavişyapurāņa, Visņupurāņa, Vayupurāņa, Kūrmapurāņa, Atrisamhitā, Tāpanīyaśruti, Matsyapurāņa, Mārkaņdeya-purāņa, Umāmaheśvarasamvāda, Grhyapariśiṣṭa, Ādipurāna, Anuśāsanika (Mahābharata) Lingapurāņa, Brahamapurāņa, Nṛsimhapurāṇa. Vāmanapurāna, Kāpilamata, Pippalādatšākha, Padmapurāņa, Vyāsasmṛti, Kālikāpurāņa.

The second chapter contains only about twenty stanzas in explaining which all the above-mentioned authors and works are quoted several times.

Chapter III

Purification from impurity due so birth and death.

Hereafter Vyāsa embarks upon narrating the rules regarding pollution from birth and death. A Brahmin will get purified from birth and death after a period of three days for ksatriya the days of impurity will be twelve days, while a vaisya will have to pass fifteen days. A śūdra is purified only after the lapse of a month, according to Parāśara. A Brahmin is purified by performing the worship of gods. The period of impurity due to the birth for the respective castes are ten days for a Brahmin, twelve days for a king, fifteen days for a vaiśya and thirty days for a Śūdra.

A Brahmin performing Agnihotra is purified in a day, well-versed in Vedas in two days or a commoner in ten days. A Brahmin only in caste will have to undergo a pollution of ten days. Sheep, cow, buffalo, and Brahmin lady delivered get purified in ten days. So also a fresh water in a well dug up afresh. These rules apply to relative of people who get polluted due to birth and death. During the period no body shall eat food from a polluted householder who is not permitted to give gifts, receive gifts, perform sacrifice and undergo religious studies. The pollution applies to distant relatives also according to the distance from the original person affected by birth. The distances like tenth, fifth, sixth etc; will have to be affected by pollution and they have to get purified after the lapse of several days according to prescribed rules. A fourth, relative takes ten nights where as a fifth one has to pass six nights and so on.

In the matter of death also similar days of pollution have to be passed. On hearing the death the child or a relative abroad a simple bath is enough. If the news reaches with in three days, three nights are polluted. If it is after an year one has to take a dip in water along with his clothes. If the news of death is got after the lapse of more than an year no purification is needed. If the date of death of a Brahmin on a sojourn abroad is not known, obsequies may be performed either on the eighth of the dark fortnight or eleventh of the same half. A boy who dies before the teeth are grown or immediately after delivery no funeral in fire is needed. In the case of a mother having loss of child due to abortion, or the mother dies as the time of delivery there are special rules for the burial and period for pollution on such events. The period of growth of the child is also taken in to account for rites related to loss of life.

This kind of pollution due to death varies according people of different castes and profession like Brahmin etc., and artisan etc. There are prescriptions for their purifications. A householder, a husband, a son, a relative etc; have to pass different days observing pollution.

The touch or physical contact earth polluted persons may often cause impurity to objects and men. A Brahmin should be particularly careful no to get contact with polluted persons or cases like marriage, festivals and sacrifices objects will not be affected by impurity. An object gifted thus will be pure.

One who dies in a battle, or under siege will not cause impurity of more than a day. There are two categories of persons who surpass the heaven piercing the orb of the sun- a hermit engaged in trance and a soldier killed by enemies in battle. Abold solder facing en enemy and surrounded by them will not be censured. By his victory he reaps prosperity and divine ladies after death. When one fights an enemy while others flee for life in a brave one who is sure to get the favourable result of performing a sacrifice. A brave soldier injured in battle will be looked after by divine nymphs. Even Naga women will run after a soldier who caves life in battle to marry him. The blood oozing from one's forehead into his mouth in battle is just like one who drinks nectar. The soldier who loses life in battle is sure of reach such heavens that are attained by Brahmin performing hosts of sacrifices, undergoing hard penances or learns supreme wisdom. Brahmins who carry corpse of unattended people will ascend leaven. By consecrating a Brahmin in fire after his death one

gets purified by performing Yoga practices. In such cases a simple dip in water is needed for purification. By following a corpse to the burial ground a Brahmin will not be polluted even if the corpse in that of a kṣatriya. If the corpse is that of Sudra the Brahmin who follows it inadvertently need only spend three nights of pollution. By cosuming purified ghee he will get purified by crossing a river or an ocean. The Sudras returning from burial ground should take a bath to get purified. A Brahmin should avoid the dead body of a sūdra from touching it or consecrating it on a funeral pyre. It he happens to see such a scene he will get purified by just looking at the rays of the sun

Explanation by Mādhava

This chapter is explained by Mādhava by pointing out similarity of ideas found in other Smṛtis. He embarks upon a comparative study of the subject.

The main content of the third chapter is purification. It is noted that in the first two chapters the four stages of life are described along with the duties pertaining to them. Hence expiations necessitated by omissions and commissions are to be explained. The chapter consists of about 55 stanzas to explain which the following works and authors are quoted.

The works include:-

Kūrmapurāņa, Mārkaņdeyapurāņa Matsyapurāņa, Brahmapurāņa, Şattrimśanmata, Bhavisyottarapurāņa, Ādityapurāņa, Vāmanapurāņa, Ādipurāņa, Casurvimśatimata, Viṣṇupurāṇa, Viṣṇudharmottara, Brahmāṇdapurāṇa, Mahābhārata, Varāhapurāṇa, Vāyupurāṇa, Karmapradīpa.

The authors referred to include:

Manu, Dukṣa, Devela, Vasistha, Bṛhaspati, Śātātapa, Vrddha-pārāśara, Parṭhīnasi, Vasiṣṭha, Samvarta, Yājñavalkya, Baudhāyana, Vyāsa, Angiras, Sangrahakāra, Gautama, Āpastamba, Brahmagarbha, Kātyāyana, Vyāghra, Jaimini, Pracetas, Vyāghrapāda, Śankha, Marici, Yama, Smṛtyantara, Pulastya, Viṣṇu, Prajāpati, Hārīta, Atri, Uśanas, Pāraskara, Rṣyasṛnga, Gālava, Visvāmitra, Laugakshi, Pitāmaha, Śāṭyāyani, Kārṣṇājini, Sumantu, Gārgya, Prajāpati, Atri, Slokagautama, Chagaleya,

Nārada, Bharadvāja, Satyavrata, Kratu, Śambhu, Vaijāvāpa, Grhyapariśiṣṭa, Śaunaka, Nārāyaṇa, Vrddhaśātātapa, Laghuyamah, Jamadagni, Śāṅkhāyani.

Concluding the gloss on the chapter Mādhava states that he has dealt with the pollution due to death and funeral rites, with this the first part of the work called Ācārakāṇḍa comes to an end.

Chapter IV

Expiatory rites on a miscellaneous class of impurities

The following rules of expiation are provided in the cases of suicides due to excessive anxiety, anger, love or fear. The one who commits a suicide is to fall into a hell full of filth and blood for a period of sixty thousand years. Hence it is not possible to purify the sonl of such a person. Those who perform pucificatory rites to such persons will be affected by sin. The expiatory rites in such cases should include feeding of many Brahmins and gifting away of cows to them. The one who performs such rites should drink water, milk and ghee with a specified quantity over a specific period of time from three days to one years as needed. During the period of the year severe austerities are also prescribed. Candrayana totes are needed and one should abstain from approaching one's wife. She should not approach such a husband though she has got purified from menstrual period. Such a conduct will cause much sin and she is likely to become a widow after going through a period disease. Such a lady should avoid relatives. If she makes abortion it is much more sinful.

A son from another lady of husband do not deserve a are termed kuṇḍa and Golaka. If the husband is alive the son is band while the husband is alive is called Kuṇḍa but when he is (born of oneself, legitimate), kṣetraja (offspring of a wife by a

kinsman duly appointed to raise up an issue to the husband) and Krtrima (a grown up son adopted with out the consent of his natural parents). Ason given for adoption by his mother of father is called an adopted son known by the terms Dattaka. Parivitti and Parivetta are those women and men who gets married ahead of their elder brothers or sisters. Such people will go to hell. They have to undergo penance to get release from such consequences. Then there are people of stunted growth called Kubja and Vamana, blind, deaf and dumb to whom normal rules do not apply. With the permissions of the elder one can marry ahead of his turn. A lady could in case of contingencies like the absence of husband lost, departed for long or lunuch, fallen from status of community etc. If a wife performs or lead a life of celibacy after the death of her husband she is sure to earn much merit that will lead her to heaven. She who follows her husband in death will live in heaven for three crores of years and will at last redeem her husband to live with him for ever.

Explanation of Mādhava

Mādhava the commentator has made the topics a matter of detailed discussion quoting from relevant authorities.

This chapter contains only 31 stanzas and they deal with expiations conceived as the second part of the work begins with the details of the personal life of the author as given in the first part. The content is hinted at as follows.

श्रीपराशरेणाचारकाण्डरूपेणतीतेनाध्यायत्रयेण विधिनिषेधौ दर्शितौ। अथेदानी तदुल्लङ्घननिमित्तपातित्यपरिहारोपायप्रतिपादकं प्रायश्चित्तकाण्डमारभते।

As usual he has quoted a number of authors and works in the course of his detailed explanation.

The authors quoted include:

Angiras, Manu, Yājñavalkya, Vrddha-vasiṣṭha, Gautama, Śankha, Brhaspati, Baidhāyana, Jātukarṇi, Śātātapa, Prajāpati, Vasiṣṭha, Aparārka, Yama, Vyāghra, Kanva, Devala, Atri, Nārada, Kātyāyana, Markandeya, Vyāghra, Śaṅkha, Sumantu, Uśanas, Hārīta, Śankhalikhita, Paiṭhīnasi, Vyāghrapāda, Vyāsa.

The works quoted are:

Mahābhārata, Skandapurāņa, Brahmapurāņa, Viṣṇupurāṇa, Brahmāṇḍapurāṇa, Nāradīyapurāṇa, Caturvimsatimata, Ādipurāṇam.

The commentary of this portion comes to an end with the statement:

श्रुतिविषयितं प्रायच्छित्तं प्रकीर्णकेषु यन्मतम्। तन्नयाविशोषयोर्भे दस्तल्लक्षणां परिवेदनम्। प्रथयित परं तुरीयाध्याये पराशरभाषिते विकृतिमकरोत् शक्त्या निर्णीयमानं माधवः।

Chapter V

Descriptions of expiations of minor things

A Brahmin bitten by a dog, boar, jaekal should take a bath and chant the holy Gayatri mantra by taking a bath using water carried in the cavity of the horn of a cow, or dipping in the confluence of great rivers or in ocean a Brahmin bitten by a dog gets cured. He may further dip in water in which gold in submerged or by drining purified ghee. He shall fast for three nights and conclude the same by drinking ghee along with the water in which the kuśa grass is submerged. He shall also prostrate before other Brahmins. To cure the marks of dog bite on his limbs he shall wash it and wave fire brands on it. A Brahmin lady bitten by dog, Jackal or boar gets pure by cooling at the sight of moon and stars. In the dark fortnight when the moon is not visible she shall look at the region of the sky where the moon usually rises. In a village where the Brahmins are wicked one who is bitten by dog shall go around a cow and take a bath for purification. A Brahmin who has a natural death without getting killed by cattle, Candala or Śvapāka (a dog-eating tribe) shall be put to the fire without the use of mantras. If otherwise his conse has to perform Prajāpatya sacrifices. In certain cases the bone from the pyre is to be retrieved, bathed in milk and then consume to the fire. A pious Brahmin who keeps the sacred fire in his home it does on journey or on abroad, deserves a holy burning along with mantras. A kind of reburial by making a replica of the body using the branches of the Palāśa tree is warranted. This mode is called Punaḥ samskāra. There are specification of making a body using such leaves as to how much should form the various limbs in creating the same.

As in the natural body one should place articles used in a specific case as prescribed in obsequies. This is needed to assure natural course after the departure of his soul. Otherwise such souls will go to hell.

Explanation by Mādhava

Mādhava the commentator has explained the various items in defined quoting authorities.

The content of the section is inedicated as Prakīrņaka prāyascitta. The portion extends only to 25 stanzas.

The miscellaneous expiations are dealt with in first nine stanzas.

प्रकीर्णकप्रायश्चित्तं तावन्नविभः श्लोकैराह-

Manusmṛti is taken as the basis. The authors refered to are: Baudhāyana, Angisas, Yājñavalkya, Hārīta, Vasiṣṭha, Paithīnasi, Pulastya, Jātukarni, Śankha and Uśanas.

The works cited are: smrtyantara and the treatises of above mentioned writers. The section is concluded as:

प्रकटयित विभक्तं यः प्रकीर्णावशेषं समधिकपरिबर्हं संस्कृतिञ्चाहिताग्नेः। प्रकृतिगहनमेतत्पञ्चमाध्यायमेवं विशदमयमकार्षीत् व्याख्यया माधवार्यः।।

Chapter VI

Expiations for destroying animal life

Hereafter the expiations presented by Parāśara following the dictum of Manu are described by Vyāsa the narrater.

One gets purified by the expiation of a day fram the sin caused by killing a swan, water-borne, heron, flamingo, cock,

water-snake or Śarabha. By abstaining from the food for the night one gets purified after destroying white birds (kite) turtles, parrots, doves and cranes. By remaining under water during morning and evening resulting in the control of breath one gets released from the sin of killing herons, kapotas (doves) and tittiri birds. One should spend three days without food for the sin caused by the killing of vulture, peacock, cockroach, the blue Jay bird and owls. By fasting for some days without night food one gets relieved from the sin caused by killing cockroach, sparrow, cuckoo, the wag tail bird, a quail and red footed bird (like parrot). By worshipping Siva one is purified from the sin caused by killing of duck, partridge, little owl, sparrow and the Bhāradvāja bird (a sky lark). Sin caused by killing Bherunda bird, volture, herón, dove, sparrow could be expiated in a day's time. To expiate the sin for killing, boa-constrictor (a huge snake) and dundubha (poisonous snake). Brahmins should be fed milk cooked rice mixed with sesamum in addition to presenting them with an iron-rod. By killing Sallaki (porcupine) śaśaka (rabbit) godhā (alligator) fish and turtle and by eating the fruit of Vrntāka (egg plant) sin occurs and it could be expiated in a day by resorting to fasting. In the case of killing boar, jackal, ape and a hyena the expiation should consist of presenting a litre of oil to the Brahmin and fasting for three days without food. It will take seven nights to get purified from the sin of killing an elephant, gavaya, horse, buffalo and camel and one has to please Brahmins by gifts in such instances. The same is required for killing an ape, monkey, lion, leopard and tiger but the fasting is restricted to three nights. One who kills inadvertently the beasts like Ruru deer, fawn, boar will have to subsist on food not porduced by ploughing activities. Thus in the case of all four-legged animals one should expiate the sin by chanting mantras for the whole day.

He who kills an artisan, a mechanic or an woman has to perform to Prājāpatya sacrifices and give away eleven bulls. If one kills an innocent kṣatriya or vaiśya he has to perform severe penance and shall be required to give away twenty cows as gift. For killing a Vaisya, Sudra or Brahmin performing unworthy acts one has to perform a Cāndrāyaṇa sacrifice and pay a gift of

thirty cows. It a Brahmin kills a caṇḍāla he is required to perform the several penance of Prajāpatya be sides giving away a pair of cows. For doing the same offence a kṣatriya and vaisya has to perform half of the above expiation. If a Brahmin happens to kill a thief, or an outeaste he may expise the sin with fasting for a full day and practising Prāṇāyāma. If a Brahmin happens to engage himself in altercation with an outcaste nor caṇḍala, be will have to chant Gāyatri. Similar expution is need if he is sleeping with a caṇḍala. Even if he drink: water from a well dug by an outcaste the Brahmin should chant Gāyatri. If he is to drink water from the pot of an outcaste same expiation in needed. All the three upper castes should practise this kind of expiation for the pollution. For eating food of out aste then again several expiation is needed.

Words of sages are holy and capalle of purifying the polluted people. Eating together with the servants also is to be expiated. A leftoner food, or worm each food should not be eaten. The polluted vessels of copper are brass could be purified by smearing of ashes. A cloth shall be dipped in water and a mud vessel may be thrown out. For most of the expiations feeding of a Brahmin is necessary. Getting contact with outcaste for long needs such expiatory rites.

Worm occurring in the wound of a Brahmin should be washed out by the urine of a cow¹ Applying of curd, ghee etc, is also recommended.

A kṣatriya at fault is required to donate five gold coins and a vaisya shall fast for a day. A sūdra is purified if he gives away gifts. A Brahmin pleased by gifts could bless others. But if the blessing in due to avarice then there is no effect. One should not despise a Brahmin willingly, for then even fasting will not help him.

A Brahmin has in him the prowess of all divinities. His words will not go ineffective. Food touched by a dog of an outcaste should not be consumed. So also polluted by the touch of crow, bull and other beings. In certain cases of pollution water from a golden vessel may be sprinkled on them for purification. If the polluted object is insignificant it is better to throw it away.

Otherwise it may be purified by some means. Waving of fire brand is also recommended sometimes for purification. This is recommended in the case of the products from a cow that get polluted.

Explanation of Madhava

Mādhava has dealt with this section very seriously referring to numerous authorities in smrti literature.

The contents of the chapter is indicated at first.

प्रकीर्णकप्रायाश्चित्तप्रसङ्गागताहिताग्निसंस्कारः पश्चमाध्याये निरूपितः। अन्त्र षष्ठेऽध्याये प्रकृतमेव प्राधान्येन विवक्षुः प्रथमं प्रतिजानीते—

> अतः परं प्रवक्ष्यामि प्राणिहत्यासु निष्कृतिम्। पराशरेण पूर्वोक्तां मन्वर्थेऽपि च विस्तृताम्।।

This shows that Manusmrti is followed:

Parāśara who is referred to here is Vrddha-parāśara, explains the commentator. The section contains 75 stanzas.

Authors quoted are: Manu, Samvarta, Yājñavalkya, Angiras, Viṣṇu, Śankha, Jābali, Vyāsa, Yama, Devala, Vyāghra, Sātātapa, Harīta, Brahmagarbha, Laugakshi, Āpastamba, Baudhāyana, Brhaspatī, Jamadagni, etc.

Works quoted include, Caturvimśatimata, Kūrmapurāņa and Bhavisyapurāņa.

The section is concluded with the following statement:

प्रकीर्णकरणाभिधे मिलनतावहाख्याधरे वदन्तमुपपातकेऽप्युचितसित्क्रयां निष्कृतिम्। रसान्नपरिशुद्धिमप्यकृत षष्ठमध्यायम-प्युदारिववृतिं वशी मधुरवाङ्मयो माधवः।।

Chapter VII

Purification of various articles and an woman in menses

Hereafter I shall describe the modes of purification of the objects following the words of Parāśara (observes Vyāsa). Wooden

vessels may be rubbed, vessels used in sacrificial rites be washed by hand and ladles and other pots may be dipped in water. For sacrificial utensils hot water may be used while a brass vessel may be sprinkled with ashes. An woman in menses shall bathe in water a river for purification. If the water of a well, tank of lake is polluted sprinkling of Pañcagavya is needed.

Women of the age of eight is called Gauri; of the age of nine of Rohini of the age of ten is Kanyā and thereafter she is Rajāsvalā (attaining of puberty). Once she attains the age of twelve she should be married away lest her father, mother and brother will go to hell. If a Brahmin by ignorance or due to avarice marries a girl who had already attained puberty (menses) he should not sit along with others in a row for eating food. Such a Brahmin is called the husband of a servant girl. He should not be spoken to. A Brahmin having relation with a servant maid needs purification. He who touches a lady after the sunset or meets a Candala or a midwife needs purification such as presentation of gold, looking at the moon. A Brahmin lady touching a girl during her menstrual period shall abstain from taking food for three nights. If the girls is of another caste the expiation shall be more stringent. For this gift of article is a must. Until the menstrual flow is over one should not be considered as pure. During such a state she should not perform her duties in the house or kitchen; only after purification by both she becomes fit for household duties.

Brass vessels can be purified by ashes if not polluted by liquor in which case fire may be used for the purpose. They become polluted by the licking of dogs and cattles. Sometimes one has to put the vessels on the wicks of fire certain things like, ivory, jewel, bones, horns and golden vessels could be purified by washing in water. Rubbing metals on stones is also a mode of purification. Dusting, cleaning etc; by brooms is needed in certain cases like paddy. When the materials are in great quantity it is not possible to wash all of them. In such eases sprinkling of water on them is prescribed. Bamboos, barks of trees, silken garments, woollen garments etc; can be purified by suitable washing in water. In the case of pillows stuffed with cotton only

sprinkling is advised. These techniques can be applied to similar objects and articles. For instance tinder, grass, brooms etc; could not be dipped in water.

The touch of beings like cat, flies, termites etc; do pollute things. Then again one has to be satisfied with sprinkling with water to purify them. Mud on the road, canoes, roads, grass and baked bricks do not get polluted since sun rays and wind could purify them. Incessant flow of water, dust raised by wind, women, aged people and children are not affected by pollution. Vomiting, cleaning of teeth, false statements etc; cause pollution of a different nature. In such cases one should touch his right ear. In the right ear of the Brahmins dwell fire, water, Vedas, moon, sun, wind etc; and hence touching of the right ear is prescribed. Manu holds that holy ghats like Prabhasa and rivers like Ganges dwell there. In crossing over regions, when affected by disease, and in danger one has to look after oneself. One should protect oneself some how and perform his duties righteously. In extreme danger the priority should be to save oneself; pollution if any can be rectified later.

Explanation of Mādhava

The various topics under reference is discussed by Mādhava with reference to a wide number of authorities.

The contents of the chapter are indicated first.

अन्तरसयोः शुद्धिः षष्ठाध्याये वर्णिता, सप्तमाध्याये अवशिष्टानां द्रव्याणां शुद्धिं प्रतिजानीते। अथातो द्रव्यशुद्धिस्तु पराशरवचो यथा।

The chapter contains 38 stanzas. It is evident that the author has drawn upon a host of writers and their works.

The authors referred to by the commentator in support of explanation are:—Baudhayana, Manu, Yājñavalkya, Vasiṣṭha, Pracetas, Devala, Hārīta, Samvarta, Āpastamba, Viṣṇu, Yama, Bṛhaspati, Kāśyapa, Vrddha-vasiṣṭha, Vṛddha-viṣṇu, Mārkaṇḍeya, Atri, Śātātapa, Vyāsa, Angiras, Prajāpati, Uśanas, Śankha, Sumantu,

Works referred to include:—Caturvimśatimata, Ādipurāņa, Brahmāndapurāņa, Şaţtrimsanmata, Brahmapurāņa.

The chapter is concluded with the following comment:—

आख्याय सप्तमेऽस्मिन्नध्याये द्रव्यशुद्धिरवशिष्टा। सैषा माधवविभुना व्याख्यायि पराशरस्मृतौ विदुषा।।

Chapter VIII

Description of the mode of righteous performances

What is to be done when one happens to kill cows when he tries to tether them to the cow-pen? The sin committed unwittingly has to be expiated. One should approach and convey his sin to the Brahmins well-versed in Vedas and Vedangas.

Here after the problem those who seek the advise is dealt with. If the sin is clear one should not eat since it may cause further increase in his fault. Until the matter is finally determined it is not advisable to eat. Once you commit a sin one should not conceal it. Whether it is negligible or considerable, the matter should be reported to learned. They like a physician will suggest remedies to the sin. Once the expiation is over one will become pure in soul. Dipping in water without changing the cloth and remaining calm, a Ksatriya or Vaisya shall go to the assembly of justice. After informing his sin he shall remain quiet. A Brahmin only in name is ignorant of Gāyatri and other hymns. Such persons have no place in an assembly of justice. If an ignorant person prescribes expiatory deeds he becomes a sinner.

Three or four Vedic scholars proficient in virtues are more reliable than thousands of ignorant persons who have no idea of righteousness. They will be is search of principles to validate their decisions like water in a house evaporates by sun light and wind the sinful deeds get lost after reporting to the assembly like the evaporation of water in this instance the sin also disappears without affecting this sinner or the members of the assembly. Vedic scholars who heve performed Agnihotra sacrifices, even if they are small in number like three or four their presence inheres the credibility of the assembly. The same assembly is

applicable to sages of great penance, Brahmins who have performed sacrifices and celibates studying the Vedic lore. If such limited number of well-versed scholars are not present in assembly, the same is only a namesake. Presence of many persons who are namesakes do not enhance the value of the assembly.

Like an wooden elephant, like a deer possessed only of the skin an ignorant Brahmin is only a namesake of the caste. A Brahmin ignorant of mantras in like a village without people and a well without water and like offering oblation where there is no fire.

As a eunuch is helpless is pleasing a lady, like an earth which is not fertile, like useless gift to an unworthy person, a Brahmin ignorant of Vedas is of no purpose. A Brahmin lady looks attractive and accomplished by proper consecrations. Those Brahmins who order expiations without themselves following their customs will go to hell. On the other hand Brahmins studying Vedas and controlling their five sense organs are praised in all the three worlds. A learned Brahmin is like an all consuming fire as the fire seen in a funeral place. One may throw inauspicious things by the side of a Brahmin as one throws impure things in water. A Brahmin not knowing the Gāyatri mantra is lower than a Śūdra. Even a Brahmin given to bad habits is better than a Śūdra who has no control over his sense.

Brahmins ascending the chariot of virtue holding the sword of Veda pronounces the rules of righteousness. Such Brahmins should be present in assemblies though their number is limited to three of four.

For prescribing expiation the Brahmins should get the sanction from the king. A king should not surpass the restriction of the Brahmin lest they shall go to hell acquiring sins in hundreds. Expiations should be ordered in front of a temple after pronouncing them one should purify oneself by chanting the Vedas. One should keep a tuft and shave off the rest of the hair and take a bath at the three junctures of a day. He should live near by the cow pen and serve on the cows during summer, winter and rainy days. One should eat only after properly feeding the cattle with food and drink. One may even leave off one's

life to save a cow for it will absolve him of even the sin caused by killing a Brahmin (Brahmahatyā). In case of killing a cow one should under-go several expiatory rites like, day may be passed without food, one day with food once, one day at night all these without begging for it. Two days may be passed without food and drink if the sin is more serious. These days will be increased from three four and so on without food. Brahmins may be given gifts and they shall chant mantras. Giving food to a Brahmin is a means to purify oneself from the sin.

Explanation by Mādhava

The commentator as usual has explained the chapter quoting relevant rules based on which Parāsara has prescribed his rules.

सप्तमाध्याये द्रव्यशुद्धिः प्रतिपादिता। गोवधस्य प्रायश्चित्तं तत्रोपेक्षितम्। तदिदानीमध्यायद्वयेन विवक्षुः प्रतिजानीते।

Mādhava deals with the topic with detailed discussion quoting authors referred to here: Jabāli, Devala, Baudhāyana, Chagaleya, Angiras, Manu, Kauśika, Hārīta, Visvāmitra, Vṛddha-Pracetas, Viṣṇu, Yama, Vasiṣṭha, Vyāsa, Jātukarṇi, Vyāghra and Paithīnasi.

Works referred to include:-Caturvimsatimata, and other treatises on Smrti.

The section is concluded as follows:

गावःश्लाध्यस्त्रिलोक्यामिति निगमगिरस्तादृशीनां वधे यत् प्रायश्चित्तं प्रणीतं किमपि गणयतस्तच्च सामान्यगीतम्। भारद्वाजान्ववायः प्रथितसमुदयः स्वोदितैरेव सूक्तै-रध्यायस्याष्टमस्य व्यतनुत विवृतिं शाश्वतीं माधवार्यः॥

Chapter IX

Modes of treating the cattle

Tethering of the cows and restraining for the purpose of their protection may not be construed as harming them. A stick to guide them should be as slender as the thumb with a length equal to one's arm. It should be soft and of the Palāśa tree. If one is to strike them with a rod of greater length he needs punishment and shall undergo a particular vow called Govrata. There are instructions as to how to tether them, control them, strike them and so on since the cow is to be controlled in places like one's vicinity, house, fort, river, clean, pits, mouth of cave, and fire-places it is called prevention. When they are tied in similar places and situations it is called controlling. In such situations if a cow happens to die it is called govadha. Sometimes people are found hurting the cow under the situation like intoxication, loss of self control, loss of senses etc. On such occasions the cow may fall down. It may later get up, drink water and food and move forward after being struck down by the rod. If it is due to a previous disease the owner will be excused, otherwise he requires suitable punishment. Certain vows are prescribed according to the gravity of the crime. If a pregnant cow is hurt during the several stages of growth the performance of the vow varies in nature. One has to undergo physical changes like shaving of the head etc; besides giving gifts of utensils of various metals to recipients. If the hurting is serious the vows should also be serious as also the expiatory gifts.

If the cattle is hurt on the body anointment of oil will become necessary. Until the injury is healed one should look after it properly. For hurting the cow expiations become necessary. It depends on the mode causing the injury like throwing a stone, hitting with stick etc. Replicas of the cow made of costly materials will have to be gifted away in many cases of injuring a cow or killing it. Even for excessive milking one has to be punished. There are several ways of hurting a cow like making it carry heavy loads, causing it to walk through uneven grounds like hills and rocky region. In most cases some type of vow is prescribed. When a cow under restriction dies his home becomes a centre of guilt.

Cows for sacrificial purposes may be tied up with Kuśa grass and if they are dead having been tethered by rope there is no expiation. Only the chanting of mantras can be done in such cases. When the fire burns the cows to death care should be

taken so that cows do not fall into wells and lakes and branches of trees do not fall on them when they are cut. If cows happen to die falling into wells, ditches, lakes and rivers and anicuts there is no way for expiatory rites. If on the other hand they die in a ditch dug up in front of a house, on happen to die at night due to the bite of snake, attack by tiger, or loss of life by fire there could be no expiatory rites. So also is the case with when a village is under attack, lightning or excessive rain. Cattle perishing in battle or front of houses, forest conflagration and extinction, of village could not be expiated. Similar is the case with contagious diseases causing the life of cattle.

If people watch them die without coming toward to save them it is a sinful act. Such people should be taken to the court. There are means to find out the cases of death. Manu has prescribed the vow of Cāndrāyaṇa in many such cases. Brahmins could indicate remedial measures for such sins. In some cases the responsible persons many be asked to shave off their heads, but not in the case of children and women. They need not live in the cow pen and they should not be asked to graze the cattle in the forest regions or as the banks of rivers. Ladies need not wear leather garments, though they may undergo Cāndrāyaṇa vow along with their relatives in a house. He who conceals the murder of a cow is destined to go to hell. If he comes back from heaven in subsequent births he will be affected any leprosy or will become a eunuch for seven births. Hence one should reveal his sin and undergo expiatory rites.

Explanation by Mādhava

What has been succinctly stated by Parāśara is explained by Mādhava in detail quoting from relevant authorities. The commentator indicates the scope as follows:

अष्टमाध्याये गोवधस्य सामान्येन प्रायश्चित्तमुपवर्णितम्। अथ नवमाध्याये रोधादिनिमित्तविशेषानुपजीव्य प्रायश्चित्तविशेषा अभिधीयन्ते।

Parāśara deals with the subject in 61 stanzas referring to numerous authors and works. The authors mentioned in the commentary portions include:—Āpastamba, Śankha, Angiras, Manu,

Vyāsa, Viṣṇu, Samvarta, Paithīnasi.

Works mentioned include: Sattrimsanmata, and smrtis of the above-mentioned writers. The commentary is concluded with the following stanga:-

> अध्याये नवमे पराशारमुनिप्रोक्तस्मृतौ ग्रन्थके रोधो बन्धनताडनाद्यनुचितं यत् स्यात् गवां पीडनम्। कर्मैतस्य विशेषतः समुदिता सर्वोत्तरा निष्कृति-स्तद्व्याख्यामकरोत् कृती शुभिधया भाग्याम्बुधिर्माधवः।।

Chapter X

Expiation for illicit relations

For the members of all the four castes remedial measures form important item is the prescription. The most important item is the prescription of the Candrayana vow. In the dark fortnight one should consume one mouthful lesser than required till the end of the half and the same should be increased by one-mouthful for the next fourteen days of the bright fort-night. One mouthful is of the size of an egg of a chicken. Without the observation of the vow there is no way for purification. After the end of the vow one should feed the Brahmins or a special occasion and as remuneration shall give two cows and a pair of clothes. A Brahmin who had an illicit relation with on outcast lady shall undergo a fast for three nights and shave off his head keeping only the tuft. He should chant Gayatri and donate a pair of cows. The same rule is applicable to kṣatriyas and vaisyas who are to undergo in addition two Prājāpatyas. For Śūdra also such severe expiations are prescribed if he has sexual intercourse with an outcaste woman. If one violates a mother, sister or daughter the punishment is severe. In addition to performing Candrayana his testicles may be crushed or cut off. If such relation is due to ignorance in addition he will have to give away a pair of cows after the performance two Candrayana vows. (according to Parāśara). It one violates the wife of one's father and relatives of the mother, wife of one's teacher, daughter-in-law, wife of the brother, aunt, close relative of the same clan three Prājāpatya

vows are to be preferred and a gift of two vows to worthy persons also is prescribed.

If one indulges in with a low prostitute, buffalo, camel, monkey, bull and porcupine Prajāpatya vow is prescribed as an expiation. In the case of the person violating a cow, he shall spend three nights in expiation in addition to gifting a cow. In the cases of buffalo etc, a full day and night should be passed in repentance.

One shall protect the wife in situations like altercation, battle, famine, destruction of people, captivation and fear. If a lady happens to have relations with an outcaste she should report the matter to learned Brahmin at a later time seeking their advice. She shall remain in a well full of cow-dung and dirt submerged up to the neck and remain there for a night without food. Fasting of three nights is also required besides drinking a potion made of certain herbs likes Śankhapuṣpa mixed with Pañcagaya and gold. After the expiation is over Brahmins should be fed. This applies to the women of the four castes who indulge in illicit relations. If one is seized by force and gets violated sexually severe vow should be prescribed. If it happens only once the Prājāpatya alone is needed. A wife who consumes liquor is also liable for punishment. Her husband should undergo expiatory ceremonies. If after the death of her husband a lady is made pregnant by a paramour she may be banished from her native country as a sinful person. In the case of Brahmin lady banishment is not to be insisted upon. But she loses her other world also besides the present one. A lady in intoxication and punished for the crime may be taken back later and made to undergo expiations. Her husband also in required to undergo certain expiations. Such a Brahmin lady should be sent out of her caste by her relatives. If she goes to a house that house becomes polluted. Such a house of father, mother or paramour should be purified by sprinkling Pañcagavya. The objects of the house made of wood and metals may also be purified with ashes. Brahmins should be presented with gifts. All members may be purified using Pancagavya and the whole tamily should feed Brahmins. But the interior, wind, fire and holy things do not get polluted by

such a contact as also the vessels of sacrifice. Brahmins could always purify themselves by the chanting of mantras, performance of sacrifices, holy bath at the junctures of the days etc.

Explanation by Mādhava

Following Parāśara's view Vyāsa has narrated the rules of expiation in regard to illicit relations of all the three castes. The section contains 40 stanzas.

अथागम्यागमनरूपोपपातकस्य प्रायश्चित्तं दशमाध्यायेऽभिधीयते। तत्र प्रतिज्ञापूर्वकं सामान्यप्रायश्चित्तमाह।

The nature of Cāndrāyaṇa vow is given by Parāsara and it is explained in detail by Mādhava quoting authors such as—

Vasiṣṭha, Manu, Gautama, Śankha, Angiras, Śamvarta, Yājñavalkya, Vyāghra, Devala, Jātukarṇi, Kanva, Laugakshi, Prajāpati, Hārita, Jābāli, Upamanyu, Dīrghatamas, Nārada, Uśanas, Śātātapa, Rṣyaśrṅga, Prajāpati.

Works quoted include: Caturvimsatimata, Vișņusmṛti, Şaṭtrimśanmata, etc.

The commentary is concluded with the following stanza:

गम्येतराभिगमने सित निष्कृतिर्या सा यत्र साधुहितकारणमभ्यधायि अध्यायमूर्जितमितर्दशमं स्वयुक्त्या व्याख्यत्पराशरकृताविह माधवार्यः।

Chapter XI

Expiations for consuming prohibited items of food.

Unholy food, flesh of cow, food of an outcast etc., should be avoided by Brahmins and if eaten Cāndrāyaṇa vow is in order. Half of the expiation is applicable to Kṣatriyas and Vaisyas, but for śūdra an addition vow Prājāpatya is needed.

The food supplied by alūdra or a śūtaka if eaten by a Brahmin knowingly or unknowingly he has to purify himself by the rite called Brahmakūrca (a kind of penance) Food touched by serpent, ichneumon, or cat could be purified by sprinkling the

water in which sesamum is put. A Śūdra eating a prohibited food may drink Pañcagavya to purify himself. For Kşatriya and Vaisya, Prajāpatya is prescribed in such cases. If it is unwittingly a brahmin could expiate by a vow. Nectar, garlic, egg-plant (its fruit), red onion, common onion, asafoetida, mushroom, camelmilk, goat-milk, etc; if consumed even unknowingly a Brahman is to forego food for three nights, Similarly by eating a frog, or the flesh of a rat a Brahman has to fast for three days and after that he has to subsist for sometime on cooked barley. Ksatriyas or Vaisyas thus polluted have to feed Brahmins as an expiation. Sudra's food items like ghee, oil, milk, molasses etc., if cooked shall not be eaten by Brahmin and he should avoid the contact with a Sudra who eats flesh. But Sudra who is vegetarian and seeves on Brahmin is acceptable. It a Brahmin eats food polluted by the birth of a child or the death of a man he shall chant Gāvatrimantrā eight thousand times to get purified. If the pollution is from the communities of Sudra or Vaisya the Gāyatri is to be chanted five thousand times in addition to chanting Vāmadeva hymn. Materials obtained from the house of a Śūdra shall be cooked and eaten by a Brahmin in his own house. If in times of danger, a Brahmin eats the food of Śūdra repentance as well as expiation are in order. One born in a maiden of Śūdra has to be purified by special rites. This also applies to a boy from to a Kşatriya by a Śūdra maiden. Similar rules are applied in the case of Vaisya also.

Now there is the question of purification caused by the sin in consuming packed food items in cloth bags and vessels. Water, milk, ghee etc. are such items that need be purified if brought in bags by lower communities of people. Pancagavya, Brahmakūrca rite, urine of a cow, milk of goat etc; may be administered after purifying them by the chant of Puṇyāha mantras. Such purificatory hymns and be found in full in treaties like dharma-sūtras of Baudhāyana, Āśvalāyana etc. Details are suggested by Parāśara as to what is to be done in similar cases of pollution. The rites prescribed include Pañcayajña; Cāndrāyaṇa, A Brahmin should be careful not to drink polluted water from wells, lakes etc;

where there is the possibility of the pollution caused by dead animals. Other communities also should show similar care.

The rules relating to communities likes Brahmins vary from one yuga to another. Mixing of communities due to cross-marriages etc; is a problem facing humans by the lapse of time. Chanting of Gayātrimantra in thousands is prescribed as expiation in several cases of such situations.

Explanation of Mādhava

The commentator has to find rules from various smṛtis to explain the situations briefly stated by Parāśara.

Among the works quoted a work called Vrddha-Parāśara is found. He must be an earlier author.

वृद्धपराशरस्तु गोमूत्रादीनां परिणामान्तरमाह-गोमूत्रे माषकान्यष्टौ गोमयस्य तु षोडशा क्षीरस्य द्वादश प्रोक्ता दध्नस्तु दश कीर्तिताः। गोमूत्रवत् घृतस्याष्टौ तदर्थं तु कुशोदकम्।

This view differs from our author whose stanzas are commented upon by Mādhava.

The difference in the scope of both the authors are noted by Mādhava.

- (1) अतः कलियुगे सर्वेषां निन्द्यत्वादेतदेव युगमुद्दिश्य प्रवृत्तस्य पराशर-धर्मशास्त्रस्य-इत्यादि।
- (2) अत्र युगप्रयुक्तायाः प्रवृत्तेरपरिहार्यत्वान्न तन्निवृत्तये पराशरस्योद्यमः। In 55 stanzas the smrti has dealt with the consumption of prohibited food items and the expiations required.

एकादशाध्यायेत्वभोज्यभोजनस्य प्रायश्चित्तं प्राधान्येनोपवर्ण्यते।

The views of Manu and other authors are quoted and discussed. The authors quoted include:—Devala, Brhaspati, Samvarta, Śatātapa, Vṛddha-Parāśara, Hārita, Angiras. Yama, Uśanas, Śankha, Prajāpati, Vyāsa, Āpastamba, Sumantu, Likhita, Yājñavalkya, Jātukarni, Vṛddhaśātātapa, Cchāgala, Mārkandeya, Garga, Vasisṭḥa, Viṣṇu, Bharadvāja, Jābāli, Baudhāyana, and Visvāmitra.

Works quoted are: Caturvimśatimata, Smṛtyantara, Ṣaṭtrimsanmata, Kūrmapurāṇa.

Madhava observes:

अभोज्ये भोज्यत्वप्रमितिमभिसंकल्प्य मनसा प्रसांक्त स्वाच्छन्द्यादिह विद्धतः संस्कृतिमतः। मतं प्रायश्चित्तं दधतिमममेकादशमसा-वकार्षीदध्यायं स्फुटविवरणं माधवसुधीः।

Chapter XII

Expiations for a wide variety of sins are narrated in this final chapter

On seeing a bad dream, on vomitting in the course of shaving, on including in six and on inhaling the smoke from a funeral pyre one has to bathe oneself to get purified. All the three upper castes on consuming human urine and liquor inadvertently have to undergo re-investiture. But for a Brahmin a new hide of deer, girdle with kusa grass, the staff of Brahmacarin and begging for alms are not to be repeated. He need only wear a fresh sacred thread. For ladies and Śūdras Prajāpatya rite and Pancagavya are prescribed.

What is to be done in case of falling into water and fire? Two Prājāpatya rites and a donation of eleven fulls are needed in the case of all the three upper castes. A Brahmin who has roamed in a forest or a junction of road shall shave his head and perform three Prajāpatya rites.

There are five types of purification and by bath, viz. Āgneya, Vāruṇa, Brāhma, Vāyaya and Divya. The first consists of anointing of ashes all over the limbs. The second is dipping in water. Brāhma is purifications by chanting the Puṇyāhamantra. Vāyavya is plunging into the dust. In the Divya type hot water is poured all over the body. Dipping in the river Ganges is the ideal mode.

Seeing a Brahmin proceeding for bath gods and manes follow him out of thirst hoping to get a mouthful of water. But

when they see the cloth being pressed after the bath they become dejected. Hence only after offering water to manes one should dry the cloth. Standing in water he should take a mouthful to be purified. One should not wash the mouth standing in water, or vomit on the banks remaining in water.

After bath and drink one should enter the square after wearing the cloth. When he is to speak with others he should touch his right ear in a ceremonial way. It is said that divinities like, Brahma, Visnu, Rudra, Soma, Surya and Anila are occupying the right earlobe of Brahmin.

The bath in the morning when the rays of the sun are falling around is better. Bath during night is not auspicious since Rāhu may be present. All the deities are present invisibly in the moon. When these deities are present one may give away gifts. On the birth of a son gifting of items is auspicious.

The midmight—the second and third part of the night is called the long night. In the early morning one shall have his bath. On seeing an outcaste selling liquor on the highway or junction of the road and on touching him the Brahmin should plunge in water of

plunge in water along with his cloth for a dip.

Before collecting the bones from the burial place one should stop his wailing and perform his bath. Within the five days after death a Brahmin should suck water from the hollow of his palm. All such water is likened to the water of the Ganges. Water sanctified by the touch of the Kuśa grass is likened to somajuice prepared in a sacrifice. Brahmins who do not perform such religious acts are equals to Vṛṣalas-outcastes. Hence even if one could not emulates the study of the Vedas, one should have some knowledge of close relation with Sūdras in the matter food, drink, habits etc. will reduce the Brahmin to his state. Such a fallen Brahmin is destined to go to the hell called Raurava. It is not known his future birth. He may be born again an vulture for twelve births, as a hog for ten births, as a dog for seven births according to Manu. A Brahmin performing sacrifices for a Śūdra just for the consideration of financial benefits will go down in his status. Relation and respect for a Brahmin must be considered as a few ered as a fortune by the Śūdra.

One should protect oneself with wealth earned in a righteous way. Unlawful means should not be resorted to for earning a livelihood. A red-coloured cow tethered near the sacrificial ground, a performer of sacrifice, a king, a mendicant and a great ocean will purify one when seen by him. Hence one should try to visualise such thing. One should keep in one's house the sticks to produce fire, a black cat, sandal, jewel, ghee, sesamum, hide of a black deer and a sheep. When a hundred cows rest along with a bull roaming breely that place is holy. The hide of the cattle is holy. The presence of such things will absolve one from even the sin called Brahmahatyā-killing a Brahmin. Giving of gifts to a man of good family, who is poor, a student of Vedas etc., will be helpful to increase one's life-span. One who appropriates the land of another could not be absolved from the sin even by gifting a crore of cows, digging wells and lakes, performing sacrifices like Vajapeya.

According to sage Uśanas a girl in menstruation will not be pure till sixteen days of menses. There after she should bathe. If one goes near a Caṇḍāla, a girl in menses, a girl just delivered, one has to dip in waters along with his clothes. After the bath he should look at the blazing sun.

One should be faithful to one's wife. If one deviates from this rule one should report the matter to a Brahmin to seck his advice. One should not eat food from the house of a Brahmin given to evil deeds. On the other hand eating from the house of a noble man brings favourable results.

Practice of Praṇāyama, visit to holy ghats, pilgrimages to holy shrines, dipping in holy rivers, visiting the shores of ocean etc; are advisable.

Visiting the bridge at Rāmesvaram, built by Rama with the help of monkeys is enough to absolve one from the sin of Brahmahatyā. After seeing the Setu (bridge) one should bathe in the sea to purify oneself. Returning to his house he may lead a happy life along with his wife and children and feed Brahmins.

The killer of women, a Brahmin addicted to liquor etc; shall take a dip in the sea and perform the vow called Cāndrāyaṇa. For purification one who steals gold from the house of a Brah-

min should surrender oneself before the king for punishment. Then after getting proper punishment one becomes pure.

One becomes polluted by sitting along with an unworthy person, sharing food with him, engaging in conversation etc; will cause the transference of sin like a drop of oil spreading in waters. Performance of Cāndrāyaṇa, eating food prepared from barley, Tulāpuruṣadāna, following cattle etc; are some of the means to absolve from sin of all types.

This smrti of Parāsara consists of five hundred and ninety two verses in all. One who is desirous of heaven shall learn and practice this treatise on virtue.

Here ends the Pārāśarasamhitā.

Explanation of Mādhava

This section of miscellaneous prescriptions of atonement contains the ideas enshrined in a host of smrti texts. It is upto Mādhava to find out the source of most of them of offer his valuation comments.

The purpose of the twelfth and last chapter is pointed out by Mādhava in his opening words.

आचारकाण्डे त्रिभिरध्यायैर्यावन्त आचाराः प्रतिपादिताः, प्रायश्चित्तकाण्डे अष्टिभिरध्यायैर्यानि प्रायश्चित्तान्यभिहितानि तेभ्योऽतिरिक्तानां परिशिष्टानां केषाञ्चिदाचाराणां प्रायश्चित्तानाञ्च विधानायायं द्वादशाध्याय आरभ्यते।

The authors quoted include:—Bādarāyaṇa, Yama, Vrddha-Parāśara, Vyāsa, Śātātapa, Vaṣiṣtha, Nārada, Kātyāyana, Dakṣa, Yājñavallaya, Baudhāyana, Bṛhaspati, Devala, Paiṭhīnasi, Manu, Samvarta, Prajāpati, Garga, Hārīta, Kāśyapa, Angiras, Gautama, Sumantu, Dakṣa, Pulastya, Vyāghra, Sankha, Jātukarṇi, Jābāli, Vṛddha-hārīta, Śāṇḍilya, Kaṇva, Bhrgu, Āpastamba, Visvāmitra, Jamadagni, Kasyapa, Vṛddha-Baudhāyana.

Works cited are Kūrmapurāņa, Lingapurāņa Caturvimśatimata, Şaţtrimsanmata, Viṣṇudharmottara, Brahmapurāṇa, Viṣṇupurāṇa, Bhaviṣyottara, Padmapuraṇa, Skāndapurāṇa, Agnipurāṇa, Vāmanapurāṇa, Garuḍapurāṇa, Sivadharmottara, Vāyusamhitā, Nāradapurāṇa Mahābhārata, Nandipurāṇa, Varāhapurāṇa, Rgvidhāna, Upapurāna (of Parāśara).

Mādhava concludes his commentary stating that the first three chapters form the Ācārakāṇda, the next eight chapters deal with certain expiations and in the twelfth and last chapter certain varieties of expiations are narrated. All this is done by Śaktisūnu.

—The son of Śakti-Paraśara. He has composed the commentary for the benefit of the noble readers. In the last chapter the remaining items of expiations are also narrated by the author and Mādhava has explained that too to complete the work.

त्र्यध्यायाचारकाण्डानिभिहितसमयाचारभेदान् द्वितीये काण्डेऽध्यायाष्टकेऽपि क्वचिदनिभिहितान् निष्कृतीनां प्रभेदान्। अध्याये द्वादशेऽस्मिन्नकथयदनघः शक्तिसूनुर्मुनीन्द्र-स्तं शिष्टानुग्रहार्थं स्विवृतमकरोन्माधवाचार्यवर्यः।।

अध्यायेऽत्राविशष्टं समुदितमुभयोः काण्डयोर्द्वादशे स्यात् प्रायश्चित्तं यदस्मिन्ननुपदमगमत् पातकादौ रहस्ये। अन्यत् सौम्यादि कृछ्ं सुविहितफलदं कर्मणो यो विपाकः सर्वं भावोपलक्ष्यं स्मृतिहृदयमिदं व्याकृतं माधवेन।।

The commentary styled Parāśara-mādhavīya comes to an end with the above observations.



VYAVAHĀRAKĀŅDA

The composition of the Vyavahārakāṇḍa of the Parāśara-mādhavīya is the significant part of the commentary. He felt that what has been left out by Parāśara needs to be supplemented. As a capable minister of the Vijayanagara empire he was the right person to do this. Moreover he was the first author to prepare a commentary on the text of Parāśara.

Brief contents

Mādhava has embarked upon explaining the code of conduct of various authorities like the ruler etc. He begins this portion—the third part as follows:

व्याख्याते आचारप्रायश्चित्ते-

अथ व्यवहारः प्रस्तूयते

यद्यप्यृणादानादीनामष्टादशपदानां व्यवहाराणां मध्ये कमपि व्यवहारं पराशरो न व्युत्पादितवान्, तथाव्याचारकाण्डे चतुर्णां वर्णानां क्रमेणाचारान् ब्रुवन्-

''क्षत्रियस्तु प्रजाश्चेव क्षितिं धर्मेण पालयेत्''–

इत्यस्मिन् वचने क्षत्रियविशेषस्य राज्ञ आचारविशेषमवोचत्। तत्र क्षितिपालनं नाम, क्षित्याश्रितासु प्रजासु दुष्टानां निग्रहः शिष्टोपद्रवपरिहारश्च। एतदर्थमेव हि जगदीश्वरस्य रामकृष्णादि क्षत्रियावतारः॥ तच्च गीतासु भगवता विस्पष्टमभिहितम्

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। इति। यथा महतां रावणादीनां शिक्षायै रामाद्यवतारः, तथा क्षुद्राणां चौरादीनां शिक्षायैराजावतारः—इति द्रष्टव्यम्।

It is with there introductory remarks that Mādhava has proceeded to describe the codes of conduct in the matter of administering the people. As an experienced minister of king Vira Bukkana of Vijayanagara he has dealt with the portion in detail. In this respect he has equalled Kautalya the author of Arthaśāstra which was composed for the benefit of his king Candragupta when the had been established on the throne of the Maurya empire after destroying the Nandas.

The subject matter which he has arranged into various parts can be known from the headings given to the various sections of the treatise. Fist he explains the nature of Vyavahara quoting anthorities like Manu, Brhaspati, Yajñavalkya, Kātyāyana, Nārada, Hārita and others. By Vyavahāra he means the rules of administration applicable to the king. He explains his position as follows quoting the words of Kātyāyana—

वि नानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते। नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः॥ इति।

व्यवहार इत्यत्र विशब्दो नानार्थेत्येतस्मिन्नर्थे वर्तते। अवशब्दश्च सन्देहे वर्तते। तनेतानेवंविधानेकसन्देह-हारिणो व्यवहारादिगत रागद्वेषवशात् प्राप्तान् राजा सम्यग्विचारयेत्। तद्विचारश्च राज्ञो गुणधर्म-रूप आचाराः। अत एव आचारकाण्डे व्यवहाराणामन्नभविमिभप्रेत्य पराशरः पृथग् व्यवहारकाण्डमकृत्वा "क्षितिं धर्मेण पालयेत्" इति सूचनमात्रं व्यवहाराणां कृतवान्। तामेवात्र सूचितान् वयं स्मृत्यन्तराणि तन्निबन्धनानि अनुसृत्य यथाशक्ति निरूपयामः।

तत्र पूर्वोदाहृताभ्यां रूढियोगस्मृतिभ्यां व्यवहारस्वरूपं निरूपितम्।

- (1) From the above it may be understood that the first section of the extended part of the treatise is to be referred to as the nature and scope of the term Vyavahāra.
- (2) Thereafter he proceeds to explain the divisions of Vyavahāra under the section.

"अथ तद्भेदाः निरूप्यन्ते। तत्र सपणत्वापणत्वाभ्यां द्वैविध्यमाह नारदः।

सोत्तरोऽनुत्तरश्चेति स विज्ञेयो द्विलक्षणः। सोत्तरोऽभ्यधिको यत्र विलेखापूर्वकः पणः॥ इति।

अहं यदि पराजयेयं, तदा शास्त्रप्रतिपादितात् दण्डद्रव्यात् अधिकमेव द्रव्यं राज्ञे तुभ्यञ्च दास्यामीति पत्रं लिखित्वा यदिभभाषणं तदुत्तरम्। तेन सह वर्तते इति सोत्तरः। तद्रहितोऽनुत्तरः।

A litigation in which a written promise is given is the first and the second is without a written document. Thereafter he mentions that there are thirteen sub-divisions for vyavahāra. He quotes authorities like Yajñavalkya, Brhaspati, Kātyāyana, Manu and others.

- (3) The third section is with regard to the court of justice technically called Sabhā. It is here that the disputes are discussed and decided. The location of the hall is important and the authority of Brhaspati is quoted. The view of Kātyāyana is cited to establish the court of justice in which the king shall enter at the fixed time in the forenoon. The authorities quoted in the section (अथ सभा निरूप्यते) are Manu, Kātyāyana, Samvarta, Brhaspati, Bhrgu, Yajñavalkya, Nārada and the epic Mahābhārata. The topics discussed and defined include the suitable time, the holiday, the councillors, the foresters, the householder, the village-head, the villagers, the citizens, the merchants, the guilds, the suitors, the advocates, the witnesses, the judges, the accountants, the reporters etc; are discussed according to different authorities.
- (4) The fourth section is entitled vyavahāradarśanavidhi in which the procedures adopted by the court are discussed quoting authorities like Prajāpati, Nārada, Yama, Pitāmaha, Bhaviṣyapurāṇa, Bṛhaspati, Yājñavalkya, Gautama, Kātyāyana, Vyāsa, Samvarta, Hārita and others. The deliberation is of four kinds:

धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः। समाहितमितः पश्येत् व्यवहारमनुक्रमात्।। आगमः प्रथमः कार्यो व्यवहारपदन्ततः। विचारो निर्णयश्चेति दर्शनं स्याच्चतुर्विधम्।।

First is the statement of the disputant; second is the plac-

ing of the facts before the court; third is the examination of the problem on the basis of the evidence given in support and the fourth is the final decision based on solid evidence.

(5) The fifth section is termed as "अथासेधादिविधिः". The rules for taking into custody or arrest are discussed here. The authority for the arrest shall be the king. Mainly arrest is of four kinds as—

स्थानासे थः, कालकृतः प्रवासात् कर्मणस्तथा। चतुर्वि थः स्यादासे थस्तमासे थं न लङ्घयेत्। अस्मात् स्थानात् त्वया न चिलतव्यमिति स्थानासे थः। मदीयद्रव्यप्रदाने दिनमेतन्नोल्लङ्घनीयमिति कालासे थः। अदत्वा ग्रामान्तरं न गन्तव्यमिति प्रवासासे थः। अदत्वा न सन्ध्यावन्दनं कर्तव्यमिति कर्मासे थः।

The details are discussed quoting various authorities like Kātyāyana, Nārada, Bṛhaspati, Hārita, Marici and Vyāsa.

(6) The sixth section is called Darśanopakrama-starting of the legal proceeding before the court. He begins the section with a quotation from Manu to indicate the items.

> "धर्मासनमनुष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः।" प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्" इति

Thereafter he quotes several authorities to indicate the proceedings. Katyāyana, Bṛhaspati, Yajñavalkya, Uśanas, Pitāmaha, Nārada and others are quoted several times to show how to proceed with the deliberation.

(7) The seventh section in called Catuṣpātvyavahāra meaning the deliberation consisting of the four division. The divisions are Pṛatijnā, Uttara, Pramāna and Nirnaya.

प्रतिज्ञोत्तरं प्रमाणं निर्णयश्चेति चत्वारः पादाः।

The first of these four divisions namely Pratijña is defined as follows quoting Yājñavalkya:—

प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथाऽऽवेदितमर्थिना। समासतदद्धीहर्नामजात्यादिचिह्नितम्।।

Here the details of the defendant are to be provided along

with the matter of dispute. The views of Brhaspati, Kātyāyana and Nārada are cited. The whole section is devoted to the explanation of Pratijnāpada discussing the details.

(8) The eighth section deals with Uttarapāda which forms the retort of the defendant to the allegation of the disputant. After indicating its nature in brief quoting Yajñavalkya, the details are given citing Brhaspati.

तञ्च याज्ञवल्क्यःसंगृह्णाति— श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसन्निधौ।

तदेतद् बृहस्पतिर्विवृणोति-

यदा चैवंविधःपक्षःकिल्पतः पूर्ववादिना। दद्यात् तत्पक्षसम्बन्धप्रतिवादी तदोत्तरम्। विनिश्चिते पूर्वपक्षे ग्राह्याग्राह्यविशेषिते प्रतीतार्थे स्थिरीभूते लेखयेदुत्तरं ततः। इति

This is further explained citing the authorities like Prajāpati, Hārita, Kātyāyana, Nārada, Pitāmaha and others. Illustrations are also given in prose regarding certain disputes like the sales of cattle, transactions in gold, textiles, breach of promise involving father and son etc.

(9) The ninth section is Kriyāpāda wherein the matter at dispute is be to put down in a statement. Here the views of Yajñavalkya and Bṛhaspati are quoted first to indicate the idea.

अत्र याज्ञवल्क्यः-

'ततोऽर्थो लेखयेत् सद्यःप्रतिज्ञातार्थसाधनम्' इति

बृहस्पतिस्तु तद्विवृणोति-

पूर्ववादे विलिखितं यदक्षरमशेषतः। अर्थी तृतीयपादे तु क्रियया प्रतिपादयेत्।

To elucidate these views the authorities quoted include—Kātyāyana, Vyāsa, Nārada, Pitāmaha.

(10) The tenth section is devoted to Sākṣinirūpaṇam-the description of witness. Manu is quoted to define a witness as— समक्षदर्शनात् साक्षी श्रवणाच्चैव सिध्यति" इति। Viṣṇu states "समक्षदर्शनात् साक्षी श्रवणाद्वा इति।" Authorities to define the term witness are quoted from Vyāsa, Yajñavalkya, Bṛhaspati, Kātyāyana, Nārada, Vyāghra, Vasiṣṭha, Prajāpati, Pitāmaha, Marici, Hārita, and others. The subject in discussed in all its details.

(11) The nature of statement is discussed in this section. First the view of Brhaspati is stated as.

ऋणिसाक्षिलेखकानां हस्ताङ्कं लेख्यमुच्यते। राजलेख्यं स्थानकृतं स्वहस्तिलिखितं तथा।। लेख्यञ्च विविधं प्रोक्तं वित्तन्तद्वत् द्विधा पुनः।।

Vasistha comprehends only two as

लौकिकं राजकीयञ्च लेख्यं विद्याद्विलक्षणम्।।

Subdivisions of these are further discussed according various authorities like Yajñavalkya, Vyāsa, Kātyāyana. Brhaspati enumerates seven divisions while Vyāsa explains eight divisions.

पूर्वं लौकिकलिखितन्तु बृहस्पतिना सप्त विधत्वं दर्शितं, व्यासस्तु प्रकारान्तरेणाष्टविधत्वमाह।

These varieties are discussed in detail quoting Kātyāyana, Nārada, Pitāmaha, Marīci, Hārīta, Viṣṇu. The defects are also indicated.

(12) Next section called Bhuktiprakarana in which the attainment of the object is indicated. Brhaspati has succinctly stated it as—

एतद्विज्ञानमाख्यातं साक्षिणां लिखितस्य च। साम्प्रतं स्थावरप्राप्तेर्भुक्तेश्च विधिरुच्यते।।

The immovable property is of seven kinds according him are—

विद्यया क्रयबन्धेन शौर्यभार्यान्वयागतम्। सपिण्डस्याप्रजस्यांशं स्थावरं सप्तधोच्यते।।

The accruing of wealth is of six types according to Nārada लब्धं दानक्रियाप्राप्तं शौर्यंवैवाहिकं तथा। बान्धवादप्रजाज्जातं षड्विधस्तु धनागमः॥ The idea is discussed citing the authorities like. Hārīta, Kātyāyana, Bṛhaspati, Samvarta, Pitāmaha, Manu, Yajñavalkya, Prajāpati, Marīci, Vyāsa and others.

(13) Accrual of divine mode of judgement is discussed following Brhaspati. When there is no other way to ascertain a fact is forthcoming this mode is resorted to.

दिव्यमुद्दिशति बृहस्पतिः— धटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशश्चपञ्चमाः। षष्ठश्च तण्डुलः प्रोक्तः तप्तमस्सप्तमाषकः अष्टमं फालमित्युक्तं नवमं धर्मकं तथा दिव्यान्येतानि सर्वाणि निर्दिष्टानि स्वयम्भुवा।।

The view of Śankha is quoted to explain this as— तत्र दिव्यं नाम तुलाधारणं विषाशनं कोणोऽग्नि प्रवेशो लोहधारणमिष्टापूर्त-प्रदानमन्यांश्च शपथान् कारयेत्।

These are the modes employed to arrive at the truth of the dispute. The defendant is made to under go these according to his nature. One is made to make a vow placing one's hand over the head of his son, wife etc.

Only after ascertaining one's nature these modes of judgement are to be prescribed. The details of these are enumerated following the views of Śankha-likhita, Bṛhaspati, Yājñavalkya, Nārada, Pitāmaha, Kātyāyana, Viṣṇu and Manu.

One should consider the nature of men, their caste, ability etc; before prescribing these modes of judgements. Regarding caste Hārīta says—

राजन्येऽग्निं धटं विप्रे वैश्ये तोयं नियोजयेत्। निवषं ब्राह्मणे दद्यात् विषं वर्णान्तरे स्मृतम्। कोशतण्डुलधर्मस्तु धर्मसम्भवमेव च। पुत्रदारादिशपथान् सर्ववर्णे प्रयोजयेत्।।

(14) In the following section "dhaṭavidhi" —the mode of weighing culprit in a balance is enumerated. In this one is made to occupy the platform of the balance before and after the statement of crime or dispute. If there is notable difference is observed one is pronounced as guilty or otherwise Dhaṭa stands for

a pair of scales to weigh objects. The mode is also called Tulāropaņa. The weighing scales may be made with required specifications. Pitāmaha holds the view—

चतुर्हस्ता तुला कार्या पादौ कार्यौ तथाविधौ। अन्तरन्तु तयोर्हस्तौ नचेदध्यर्धमेव च। छित्वा तु याज्ञिकं वृक्षं हेतुवमन्त्रपूर्वकम्। प्रणम्य लोकपालेभ्यः तुला कार्या मनीषिभिः।।

Nārada states.

खादिरीं कारयेत् तत्र निर्व्नणां शुक्लवर्जिताम् शिंशपान्तदभावे तु सालं वा कोटरैर्विना।

He gives choice in the matter of wood for making the scales. Also the views of Vyāsa, Yājñavalkya, Viṣṇu are discussed. The scales are to be suspended from a cross pole at the top. Of the two scales a man is to be placed on the one while on the other mud or bricks may be placed. The procedure to purify the scales are also given by these authorities. The culprit is made to take a pledge before he is weighed. One is weighed twice and if a difference in weight is noticed then he is found to be guilty. Once is to be placed on the scale for a specific period.

तुलितो यदि वर्धेत विशुद्धः स्यात्र संशयः। समो वा हीयमानो वा न विशुद्धो भवेन्नरः।।

(15) The sixth section is called Agnividhi test by fire. Nine squares of a specific measures are to be made in an order one after the other. Each of them is invoked for the presence of divinity like Agni, Varuṇa, Vāyu, Yama, Indra, Kubera, Soma while the eighth is conceived as the seat of all divinities. The ninth square is for Marut. All these squares are to be plastered with cow dung soaked in water and kuśa grass is to be placed in all. One is made to walk through these in order upto the ninth in which he is to put the red-hot piece of iron, that he is to carry in him palm. The iron is made hot by a blacksmith and he is to place the same in the hands of the culprit holding it by tongs. Chanting certain specific hymns the man is to proceed slowly upto the ninth column where he is to put the heated iron carried

in his palm and secured by particular leaves and thread. At the end if his palm is found unhurt, he is to be pronounced as not guilty. The authorities quoted include Yajñavalkya, Nārada, Pitāmaha, Viṣṇu, and other smrtis. This rigorous test is applied to examine the guilt or otherwise.

(17) The next item is called Jalavidhi, plunging in water. Viṣṇu sates :

व्यवहाराभिशप्तोऽयं मानुषस्त्वयि मज्जति। तदेनं संशयात्तस्मात् धर्मतस्त्रातुमर्हसि।।

Pitāmaha says

तोय त्वं प्राणिनां प्राणः सृष्टेराद्यं तु निर्मितम्। शुद्धेस्त्वं कारणं प्रोक्तं द्रव्याणां देहिनो तथा अतस्त्वं दर्शयात्मानं शुभाशुभपरीक्षणे।।

Three arrows without iron-tips are sent towards the culprit who is asked to proceed to a certain distance by swimming underwater. It he escapes unhurt then he is pronounced as not guilty. Before the test is made the water is sanctified by hymns.

Authorities like Nārada, Pitāmaha, Yājñavalkya and Kātyāyana are quoted and discussed to explain the procedure.

(18) The item that follows is Viṣaviḍhi—administering of poison to test the guilt or innocence of a defendant. Prajāpati states that by poison is meant substances like Vatsanābha-a particular strong poison prepared from the root of a kind of aconite said to resemble the nipple of a cow. This is to be administered with reference to the time and location. Poison like Kālakūṭa should not be put to use in this connection. If poison is consumed in the prescribed manner to test the guilt of a culprit he will come out alive if he is innocent. If will have no dangerous effect on an innocent person. It is to be administered along with the mantra prescribed by Pitāmaha.

त्वं विष ब्रह्मणा सृष्टं परीक्षार्थं दुरात्मनाम्। पापेषु दर्शयात्मानं शुद्धानाममृतम्भव।। मृत्युमूर्ते विष, त्वं हि ब्रह्मणा परिनिर्मितम्। त्रायस्वैनं नरं पापात्सत्येनास्यामृतम्भव।। Authorities like Nārada, Yājñavalkya, also prescribe this mode of examination of the guilt or innocence.

(19) Kośavidhi is an examination of truth in which the culprit is made to drink three handful of a potion prepared according to specifications. Various authorities suggest this method. Pitāmaha says.

प्राङ्मुखं कारिणं कृत्वा पाययेत् प्रसृतित्रयम्। पूर्वोक्तेन विधानेन पीतमार्द्रपटञ्च तम्।।

This examination could be before a temple of goddess Durgā. If the culprit is guilty he will die within a short period. The authorities prescribing this test include Nārada, Viṣṇu and Brhaspati. He is found innocent if he shows no effect on him in seven day's time.

सप्ताहाद् वा द्विसप्ताहाद् यस्य किञ्चित् न जायते। पुत्रदारधनानां वा स शुद्धः स्यान्न संशयः।।

(20) Taṇḍulavidhi is yet another mode of examination of truth. It is prescribed for the guilt of theft only according to Pitāmaha.

तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणचोदितम्। चौर्ये तु तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चयः।।

After keeping the grain of rice in an earthen pot before the sun and later keeping it by night mixed with water the same is given to the culprit in the morning in the presence of advocates and judges. If he vomits it without bad effects he is innocent; otherwise he will vomit blood also besides feeling dryness of throat. Pitāmaha is the main authority who present it.

प्रभाते कारिणो देयाः निःकृत्वा प्राङ्मुखं तथा। प्राड्विवाकसमाहूतस्तण्डुलान् भक्षयेच्छुचिः।। शुद्धिः स्यात् शुष्किनिष्ठीवे विपरीते च दोषभाक्। शोणितं दृश्यते यस्य हनुस्तालु च शीर्यते। गात्रं च कम्पते यस्य तस्याशुद्धिं विनिर्दिशेत्।।

(21) Taptamāṣavidhi is prescribed by Pitāmaha as follows:

तप्तमाषस्य वक्ष्यामि विधिमुद्धरणे शुभम्। कारयेदायसं पात्रं ताम्रं वा षोडशाङ्गुलम्। चतुरङ्गुलखातन्तु मृण्मयं वाऽथ मण्डलम्।

Maşa stands for a gold coin of a specific value. One is made to pick up the gold coin from the vessel filled with ghee or oil which is boiled. If the hand is unhurt the defendant is pronounced guiltless. The vessel to hold the oil could be made of brass or copper with a specific cavity to hold the ghee so that it could burn the palm.

प्रवेशनं च तस्याथ परीक्षेयुः परीक्षाकाः। यस्य विस्पोटका न स्युः शुद्धोऽसावन्यथाऽशुचिः।

(22) Phālavidhi consists of making a culprit to rick a redhot flat piece of iron having eight inches in length. A single lick is only needed and if his tongue is burnt he is pronounced guilty, otherwise set free. This is prescribed by Brhaspati in his treatise.

> आयसं द्वादशपलघटितं फालमुच्यते। अष्टाङ्गुलं भवेदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तृतम्।। अग्निवर्णन्तु तच्चोरो जिह्नया लेलिहेत्सकृत्। न दग्धश्चेछुचिर्भूयात् अन्यथा तु स हीयते।।

- (23) Procedure to discuss virtue and guilt. This is discussed mainly with reference to the prescription of Pitāmaha. The statement of virtue or guilt may be written down on a leaf made silver, brass or iron or on the leaf of Bhūrja tree. White flower and non-white flowers may be placed on them respectively before they are kept concealed under the flower after sanctifying them with hymns. A defendant is asked to pick up one or other con cealed under flowers. If he happens to take up the white one he is said to be innocent.
- (24) The quarter designed as Nirnayapada the fourth is taken for treatment after discussing the other three namely Pūrvapakṣa, Uttarapada and Kriyāpada.

Nirnaya—the decision is defined as

प्रमाणसमतायान्तु राजाज्ञा निर्णयः स्मृतः। शास्त्रमस्याविरोधेन चतुर्थः परिकीर्तितः।। Here the views of Brhaspati, Sangrahakāra, Vyāsa, Kātyāyana, Nārada, Manu, Yājñavalkya, Gautama, Śankha, Hārīta, Yama and others are discussed considering the importance of the subject. The judgement can be of several ways like fine, corporal punishment, punishment by death, banishment, excommunication, restriction of entry in certain places. Here the status and caste of the culprit is taken into account. Generally the judgement against a Brahmin is lenient and he is spared the death. The judgement will always be in tune with the seriousness of the guilt. Inflicting of marks with burnt iron on the body is one of the several modes.

(25) After discussing the ways of judgement the eighteen stages termed as Aṣṭādaśapada (see Manusmrti. VIII. 4-7)

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
सम्भूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च।।
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयौ विवादः स्वामिपालयोः।।
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च।।
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारास्थिताविह।।

The first is debt as loans for consumption; the second deposits, and loans for use; the third sale without ownership, the fourth concerns among partners, the fifth subtraction of what has been given; the sixth, non payment of wages or hire, the seventh, non performance of agreements, the eight rescission in sale and purchase, the ninth disputes between master and servant, the tenth contents on boundaries, the eleventh and twelfth assault and slander, the thirteenth, larceny, the fourteenth, robbery and other violence, the fifteenth adultery, the sixteenth altercation between man and wife and their several duties, the seventeenth, the law of inheritance, the eighteenth gaming with dice and with living creatures. These are the eighteen titles of law settled as the ground work of all judicial procedure in the world. Brhaspati is quoted an follows.

पदानां सहितत्वेष व्यवहाराः प्रकीर्तिताः।

विवादकरणान्यस्य यदानि श्रृणुताधुना।। ऋणादानप्रदानानि द्यूताह्वानादिकानि च। क्रमशः सम्प्रवक्ष्यामि क्रियाभेदांश्च तत्त्वतः।।

First the procedure forming the basis of disputes were discussed. Hereafter the eighteen titles of law beginning with the debt and consumption and ending with the gaming of dice are being discussed.

Debt is subdivided into seven classes, quoting Nārada. Thereafter the interest on loan is discussed which according Brhaspati is of five or six kinds. The rate of interest according to Manu also is mentioned. Thereafter the views of Vyāsa, Yajñavalkya, Viṣṇu, Nārada, Kātyāyana, Samvarta, Vasistha are discussed from various aspects.

(26) The next topic discussed is Ādhi meaning a beneficial pledge for lending the money. This is received for a specified period or an unspecified duration.

अधिक्रियत इत्याधिः स विज्ञेयो द्विलक्षणः। कृतकालोपनेयश्च यावद्देयोद्यतस्तथा।।

One is to be kept as pledge the other is kept and enjoyed at the sametime. Authorities of Brhaspati, Nārada, Bhāradvāya, Hārita, Vyāsa, Yajñavalkya, Viṣṇu Vasiṣṭha, Kātyāyana, Manu and Prajāpati are cited in a detailed discussion of the subject.

(27) Ādhimocana—release of the pledge forms the next topic. The object pledged should be returned immediately after receiving the value.

धनं मूलीकृतं दत्वा यदाऽऽधिं प्रार्थयेदृर्णा। तदैव तस्य मोक्तव्यस्म्वन्यथा दोषभाग्धनी।।

Here again the authors cited in discussions include Brhaspati, Yājñavalkya, Vyāsa. The importance of mutual consent is stressed in concluding the topic.

यदि प्रकर्षितं तत्स्यात्तदा धनभाग्धनी। ऋणी न लभते बन्धं परस्परमतं विना।।

(28) The topic that follows is reputed to Pratibhū—the surety for the transaction is of four kinds according to Brhaspati.

दर्शने प्रत्यये दाने ऋणे द्रव्यार्पणे तथा चतुः प्रकारः प्रतिभूः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः। आहैको दर्शयामीति साधुरित्यपरोऽब्रवीत् दाताहमेतद्रविणमर्पयामीति चापरः।।

The last one promises to pay of the debt if necessary while standing as a surety.

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेत् दर्शनायेह मानवः। अदर्शयन् स तं तत्र प्रयछेत् स्वधनादृणम्।।

Manu is of the view that the surety may pay off the debt in case the debtor vanishes.

In discussing this topic authorities of Nārada, Kātyāyana, Vyāsa, Yājñavalkya, Pitāmaha, are quoted. Yajñavalkya warns that wealth should not be lent to women, servant's children, for it will not be returned.

न स्त्रीभ्यो दासबालेभ्य प्रयछेच्च क्रचिद्धनम्। दत्तन्न लभते तत्तु तेभ्यो दत्तं तु यद्धनम्।।

(29) Principles of lending wealth is discussed in the section Arthagrahanadharma. The principles apply to king and other equally. A king shall acquire wealth in a righteous way. But he should not do any thing wrong says Yājñavalkya.

प्रछन्नं बाधयन्नर्थं न वाच्यो नृपतेर्भवेत्। बाध्यमानो नृपं गछेत् दण्डचो दाप्यश्च तद्धनम्।।

Brhaspati has spelt out the righteous means which is already enunciated by Manu as—

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च। प्रयुक्तं बाधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च।।

In this connection the views of Kātyāyana, Nārada, Bhāradvaja, Bhṛgu are extensively quoted and discussed.

(30) The second of the eighteen titles called Niksepa is taken up for discussion. First the definition by Nārada is cited.

स्वं द्रव्यं यत्र विस्त्रम्भान्निक्षिपत्यविशङ्कितः। निक्षेपो नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः।।

114 / Introduction to Parāśaramādhavīya

The deposits on loans made in good faith is discussed here. Upanidhi—an object deposited after sealing the same properly whereas Nyāsa ia a pledge. Their nature is defined by Bṛhaspati as follows.

अनाख्यातं व्यवहितमसङ्ख्यातमदर्शितम्। मुद्राङ्कितञ्च यद्दत्तन्तदौपनिधिकं स्मृतम्। राजचौरादिकभयाद् दायादानाच्य वञ्चनात्। ख्याप्यतेऽन्यस्य यद्रव्यं न्यासः स परिकीर्तितः।।

The various subdivisions of the subject is discussed with reference to authorities like Manu, Kātyāyana, Yājñavalkya, Vyāsa and others. The consequences of the breach of trust, defalcations, deceit, misuse etc; are discussed prescribing necessary punishment for such offences.

(31) The next item is Asvāmivikraya—the sale without ownership and Nārada is quoted to define the idea.

निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य वा। विक्रीयेतासमक्षं यत्स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रय।।

Brhaspati defines it as-

निक्षेपान्वाहितन्यासहतयाचितबन्धकम्। उपांशु येन विक्रीतमस्वामी सोऽभिधीयते।।

Further the views of Kātyāyana, Nārada, Yājñavalkya, Manu, Āgama, Vyāsa, Marīci are used in discussing the various aspects.

(32) The next item under discussion is the title called Sambhūya samutthānam the concerns among the partners. Its nature is defined by Nārada as.

विणक्प्रभृतयो यत्र क्रयं सम्भूय कुर्वते। तत्सम्भूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम्।।

The dealings should be done as follows according to Brhaspati.

कुलीनदक्षानलसैः प्राज्ञैः नाणकवेदिभिः। आयव्ययज्ञैः शुचिभिः शूरैः कुर्यात्सह क्रियाम्।। Other authorities involved in this discussion are Yājñavalkya, Vyāsa, Kātyāyana, Manu, etc; Sharing of the proceedings, methods to be adopted, etc; are also discussed here. For instance when a guil of artisans are involved it is said.

हेमकारादयो यत्र शिल्पं सम्भूय कुर्वते। कर्मानुरूपं निर्वेशं लभेरंस्ते यथांऽशतः॥

(33) The title called Dattapradanica—the subtraction of what has been given is now taken up for discussion. It is defined by Narada as—

दत्वा द्रव्यमसम्यग् यः पुनरादातुमिच्छति। दत्ताप्रदानिकं नाम तद्विवादपदं स्मृतम्।। अदेयमथ देयं च दत्तं चादत्तमेव च। व्यवहारेषु विज्ञेयो दानमार्गश्चतुर्विधः।।

What is called अदेय is subdivided by Brhaspati into eight. Each of these is defined by him. The views of Manu, Nārada, Yājñavalkya, Prajāpati and others are elicited for discussion. Taking back what is properly given due to avarice and presentation of things which should not be given away are punishable by fine.

(34) The next title is Vetanasyānapākarma—non-payment of wages or hire, the nature of which is given by Nārada as:

भृत्यानां वेतनस्योक्तो दानादानविधिक्रमः। वेतनस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम्।। भृत्याय वेतनं दद्यात् कर्मस्वामी यथाक्रमम्। आदौ मध्येऽवसाने च कर्मणो या द्विनिश्चितम्॥

Yājñavalkya, Brhaspati, Manu, Vrddhamanu, Kātyāyana and Matsya purana are quoted in the discussion of the topic. Even the case of the harlot who fails to turn up after receing money is mentioned.

(35) After this the title called—Abhyupetya-āśu-srūṣā-non-performana of agreements is discussed. Nārada defines this:—

अभ्युपेत्य तु शुश्रूषां यस्तां न प्रतिपद्यते। अशुश्रूषाऽम्युपेत्यैतद् विवादपदमुच्यते।।

There are five kinds of agents or performance of duties such as servants, students, traditional labourers, cook etc. The

views of Manu, Bṛhaspati, Preceptors, Kātyāyana, and others are quoted and discussed. The punishment for refusing to do the job are prescribed according to the gravity of the offence or lapse. Breach of promise is not tolerated. Indulgence in adultery is a crime. The servants are of three types—noble, middle and lower class. A Brahmin should not be made a servant by other class of people. In case it is done, he is to be punished. According to another classification there are fifteen types of servants.

(36) Next is the discussion on Samvidvyatikrama—also called by Nārada as Samayasyānapākarma. This is called rescission of sale and purchase. Breach of promise is involved in it. Nārada states.

पाषण्डनैगमादीनां स्थितिः समय उच्यते। समयस्यानपाकर्म तद् विवादपदं स्मृतम्।।

समयस्यानपाकर्म अव्यतिक्रमः समयपरिपालनम्' तद्व्यतिक्रमणं विवादपदं भवति।

Brhaspati says of follows.

वेदविद्याविदो विप्रान् क्षोत्रियांश्चाग्निहोत्रिणः। आहृत्य स्थापयेत्तत्र तेषां वृत्तिं प्रकल्पयेत्।।

Farure to do so forms the basis for dispute. The king is bound by this rule. This is explained by other perceptors like Kātyāyana, Yājñavalkya, Manu, who prescribes banishment as punishment.

यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्। विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद् विप्रवासयेत्।।

(37) Krītānuśaya is the dispute between master and servants, the nature of which is defined by Nārada as—

क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं क्रेता न बहुमन्यते। क्रीतानुशय इत्येतद् विवादपदमुच्यते। क्रेता पण्यं परीक्षेत प्राक्स्वयं गुणदोषतः। परीक्षाभिमतं क्रीतं विक्रेतुर्नभवेत्पुनः।।

It is upto the purchaser to examine the object before effecting the purchase. Once it is sold the merchant is not at fault.

It is not to be rejected by the purchaser. The views of Vyāsa, Brhaspati, Kātyāyana. Yājñavalkya, Manu are in agreement.

सदोषमपि तत् क्रीतं विक्रेतुर्नभवेत् पुनः।

(38) The next topic is Vikriyāsampradānam—refusal to part with the goods sold by the merchant. The merchandise is both movable and immovable. Nārada says—

विक्रीयपण्यं मूल्येन क्रेतुर्यन्नप्रदीयते। विक्रीयासम्प्रदानन्तत् विवादपदमुच्यते। लोकेऽस्मिन् द्विविधं द्रव्यं स्थावरं जङ्गमं तथा। क्रयविक्रयधर्मे षु सर्वं तत्पण्यमुच्यते।।

If the object perishes before handing over to the purchaser the former is responsible.

> दैवराजोपघातेन पण्यदोष उपागते। हानिर्विक्रेतुरेवासौ याचितस्याप्रयच्छतः।।

This is the view of Yājñvalkya. Kātyāyana agrees to this Vyāsa and Manu have dealt with it. This is the state of sale and purchase.

(39) The next title is called Svāmipālavivāda—the dispute between the owner and purchaser. Manu maintains this.

पशुषु स्वामिनाञ्चेव पालानाञ्च व्यतिक्रमे। उपहन्येत वा पण्यं दह्येतापह्रियेत वा। विक्रेतुरेव सोऽनर्थो विक्रीयासंप्रयच्छतः।।

As long as the property sold is not handed over to the purchaser the harm occurring to the same affects the seller. The latter also is made responsible for not taking the article soon after the purchase. He who shows a good article and later sells a damaged one, is punishable. Double the cost is liable to be paid.

निर्दोषं दर्शियत्वा तु सदोषं यः प्रयछित। मूल्यं तद् द्विगुणं दाप्यो विनयं तावदेव च।।

Hence the seller also should be made responsible for beach of promise and bad selling. Problems facing the purchase of cattle are discussed by certain writers. Authorities of Yājñavalkya,

Manu, Nārada, Vyāsa, Kātyāyana, Brhaspati are quoted in this connection.

(38) Sīmāvivādanirņaya—dispute on boundanis is an important moot point. The boundary is of four kinds like that of the Janapada, Grāma, Grha and Kṣetra. Five kinds of problem arise.

ध्वजिनी मित्स्यनी चैव नैधानी भयवर्जिता। राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता।।

Abounding in trees, full of water, ups and downs, undisputed region and belonging to the king are the varities. The views of Manu, Vyāsa, Brhaspati, Nārada, Yājñavalkya, Kātyāyana are discussed. Possession of a plot for a definite period is considered. Land owners, farmers, villagers and other people are involved in this affair.

(39) Dandapārusya—physical assault is a cause for litigation. Their nature is mentioned by Nārada as follows—

परगात्रेष्विभद्रोहो हस्तपादायुधादिभिः। मर्मादिभिश्चोपघातो दण्डपारुष्यमुच्यते।।

Three kinds are noted as-

तस्यापि दृष्टं त्रैविध्यं हीनमध्योत्तमक्रमात्।।

Five kinds of remedial measures are also enunciated. Kātyāyana, Yājñavalkya, Manu, Bṛhaspati have discussed the problem and have prescribed various types of punishments. Financial compensations are also prescribed in certain cases in addition to corporal punishments of the culprits.

(40) Vākpāruṣya—the slanderous use of words in punishable. There are several mthods. Nārada briefly states.

देशजातिकुलादीनामाक्रोशन्यङ्कसंयुतम्। यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते।।

Brhaspati classifies it as first, middle and lower types. These involve various classes calling one by his native place, by relations and censure etc, are various modes, noted by Brhaspati. Both the parties are sometimes involved in this litigation. Hence both are punishable as occasion demands. Kātyāyana, Manu, Yājñavalkya, have prescribed modes of punishment as regards slanderous statements.

(41) Steya—the larcery is a point of dispute. If it is accompanied by free it is called Sāhyara but simple cobbery is called steya where force is not involved. Taking away one's wealth while one is a sleep, under intoxication etc; forms simple robbery. Authorities, like Vyāsa, Vṛddhamanu have dealt with the topic describing various modes and punishments. Receiving of stolen property invites punishment as also abetting the crime. Sometimes the punishment ranges from simple fine, restriction upto corporal punishment according to the gravity of the offence.

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणाञ्ज विशेषतः। रत्नानाञ्चेव मुख्यानां हरणे वधमर्हति।।

(42) Sāhasa stands for violence involved in stealing. Nārada defines it as—

सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद्बलदर्पितै:। तत्साहसमिति प्रोक्तं सहाबलमिहोच्यते।।

It is of tour kinds according to Brhaspati as-

मनुष्यमारणञ्जौर्यंपरदाराभिमर्शनम्। पारुष्यमुभयञ्जैव साहसं तु चतुर्विधम्।।

That which in volves the death of human beings, robbery by force, rape of women and slander involving assault etc; are different types.

The commentator Mādhava justifies its separate treatment by pointing out that it is due to the haughtiness of men.

तत्कथं पृथगस्य व्यवहारपदाताः; सत्यम्। तथापि बलदर्पावष्टम्भोपाधित-स्तेभ्यो भिद्यते इति दण्डातिरेकार्थं पृथगभिधानम्। मनुष्यमारणरूपास्य साहसस्य तेभ्योऽतिरेकास्तदर्थं वा पृथगभिधानम्।

It can of three types depending upon the nature of offence and hence the punishment also differs.

तस्य दण्डः क्रियापेक्षः प्रथमस्य शतावरः।
मध्यमस्य तु शास्त्रज्ञैर्दृष्टः पञ्चशतावरः।
उत्तमे साहसे दण्डः सहस्त्रावर इष्यते।
वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने।
तदङ्गछेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे।।

Nārada, Yājñavalkya, Brhaspati, Kātyāyana, Vyāsa, Manu and others have presented punishments. It may vary as fine, restriction, rigorous labour, inflicting burning marks on forehead, making one to sit on heated iron-plates and the like.

(43) Strīsangrahaṇa includes adultery, violation of chastity of other women etc. Touching women on certain parts of the body without permission is also considered as violation. There are numerous forms of violation all of which invite stringent punishment. Brhaspati defines.

पापमूलं सङ्ग्रहणं त्रिप्रकारं निबोधत। बलोपाधिकृते द्वे तु तृतीयमनुरागजम्।।

Forceful seizing and violation of freedom due to lust are sinful. Yajñavalkya, Manu, Nārada, Gautama, Vasiṣṭha, Hārīta, Devala, Baudhāyana and Yama are quoted in discussing various details. Carpal punishment should be resorted to only in extreme cases.

(44) Dāyabhāga—the division of rule called the law of inheritance is an important topic dealt with by many writers on smṛti. The general nature is defined by Nārada as—

विभागेऽर्थस्य पित्र्यस्य पुत्रैर्यत्र प्रकलप्यते। दायभाग इति प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधै:।।

The time for the division of inheritance is said to be the time of death of the parents.

ऊर्ध्यं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः सह।

भजेरन् पैतृकं ऋक्थं अनीशास्ते हि जीवतोः। ऊर्ध्वं पितुरिति पितृधन-विभागकालः। मातुरूर्ध्वमिति मातृधनविभागकालः।

It is said after the demise of father and mother their wealth can be divided among inheritors. If the mother is alive after the demise of the father, his wealth can be divided; so also in the case of the other partner. This is made clear as follows:

> पितृद्रव्यविभागस्य जीवन्त्यामपि माति। अस्वतन्त्रतयाऽस्वाम्यं यस्मान्मातुः पतिं विना। मातृद्रव्यविभागोऽपि तथा पितिर जीवित। सत्स्वपत्येषु यस्मान्न स्त्रीधनस्य पतिः पतिः।।

Devala, Manu, Nārada, Sangrahakāra, Gautama, Yājñavalkya, Prajāpati, Brhaspati, Kātyāyana, Vyāsa, Śaṅkha, Viṣṇu, Vrddhamanu, Baudhāyana, Laugakshi, Uśanas and others are quited. The last mentioned two writers are quoted only rarely by Mādhava. He states:

तदुक्तं लौगाक्षिणा-

क्षेमं पूर्तं यागमिष्टमित्याहुस्तत्वदर्शिनः। अविभाज्ये च ते प्रोक्ते शयनासनमेव च।।

Here certain items are pointed not as indivisible among inheritors.

यत्तु उशनसा क्षेत्रस्याप्यविभाज्यत्वमुक्तम्-अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्त्रकुलादिष। वाप्यं क्षेत्रं च पत्रञ्च कृतान्नमुदकं स्त्रियः।

The importance of the topic is well-brought ant by the numerous authorities quoted.

(45) The next topic is Dyūtasamāhvaya-invitation for playing chess. In this gaming with dice and with living creatures are involved. Their difference in noted by Manu as follows.

अप्राणिभिर्यित्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते। प्राणिभिः क्रियते यत्तु स विज्ञेयः समाह्वयः।।

The term 'aprāṇi' signifies dice and similar object. Here no life whereas in the other division fight with cocks, dogs etc., are resorted to. Nārada has explained this:

अक्षबन्धशलाकाद्यैर्देवनं जिह्यकारितम्। पणक्रीडा वयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वयम्।।

This is explained as अक्षाः पाशकाः, बन्धश्चर्मयष्टिका। शलाका दन्तदिमध्यो दीर्घचतुरश्रः। आद्यशब्देन कपर्दिकादयो गृह्यन्ते। तैः पणपूर्वकं यद्देवनं क्रीडनं क्रियते तद्द्यूतं, वयोभिः पक्षिभिः कुक्कुटादिभिः कृकलासउन्मत्तमेषादि-भिश्च प्राणिभिर्या पणपूर्विका क्रीडा क्रियते सा समाह्वय इत्यर्थः।

Brhaspati has defined Samāhvaya as

परिगृहीताश्चान्योन्यं पक्षिमेषवृषादयः। प्रहरन्ते कृतपणास्तं वदन्ति समाह्वयम्।। In this section the views of Nārada, Yājñavalkya, Kātyāyana,

Visnu and Manu are extensively quoted and explained.

(46) After explaining the eighteen titles called Vyavahārapada, Mādhava in his Vyavahārakānda appended to his commentary on Parāśarasmṛti embarks upon explaining another Vyavahārapada called Prakīṛṇaka following the tradition of Bṛhaspati.

अथ बृहस्पतिना निरूपितं प्रकीर्णकाख्ये विवादपदमिधीयते। There are some miscellaneous items. Nārada states.

प्रकीर्णकेषु विज्ञेया व्यवहारा नृपाश्रयाः। राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत्कर्मकरणं तथा।।

Items not usually found are discussed here. Disputes between father and son, changes or lapses in expiatory rites lapses in remuneration, lapses in regard to the duties of people in different stages of life, faults due to mixing of castes and their functions—all these are explained under the head of Prakīrṇaka—miscellaneous.

Writing over and above what is needed and omitting of items calls for punishment according to Yajñavalkya.

न्यूनं वाऽभ्यधिकं वापि लिखेद्यो राजशासनम्। पारदारिकचोरं वा मुञ्जतो दण्ड उत्तमः।।

Vyāsa also warms the scribe to be careful. Kātyāyana, Manu, Nārada Yama are other writers. The section is concluded with the following statement:

इति महाराजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकथवीरबुक्कभूपालसाम्राज्य-धुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृतिव्याख्यायां व्यवहारमाधवः समाप्तः। समाप्तं चेदं व्यवहारकाण्डम्। समाप्ता चेयं पराशरस्मृतिव्याख्या।





श्रीगरोशाय नमः।

पराश्ररमाधवः।

(माधवाचार्यकत थाखा-सचिता पराग्ररसंचिता।)

प्रथमे।ऽध्यायः ।

चाचार-काग्छम्।

(टीकाकारापसमिष्का।)

वागीशाद्याः सुमनसः धर्वार्थानासुपक्रमे ।
यं नता क्षतक्रत्याः खुसं नमामि गजाननम् ॥१॥
सा उदं प्राप्य विवेक-तीर्थ-पदवीमास्नाय-तीर्थं परं
मज्जन्, सज्जन-तीर्थ-सङ्ग-निपुणः स्वृत्त-तीर्थं श्रयन् ।
स्वभामाक्षयम् प्रभाव-सहरीं श्रीभारती-तीर्थताविद्या-तीर्थसुपाश्रयम् इदि भजे श्रीकण्डमव्याद्दतम् ॥२॥
सत्येक-द्रत-पासको दिगुणधीस्त्यर्थी चतुर्व्वेदिता
पञ्चस्कत्थ-कृती षड्न्वय-दृदः अप्राङ्ग-सर्व्वेसदः ।
श्रष्ट-व्यक्ति-कसा-धरेा नव-निधः पुष्यद्दश-प्रत्ययः ।

1 .

^{*} सञ्जनसङ्गतीर्घनिषुणः,—इति कालमाधवीये पाठः

[†] चळ्यितिञ्चताधरी,—इति से। ॰ दि॰ पुक्तको पाठः। चळ्यक्तकता-धरी,—इति से। ॰ प्रलको पाठः।

[‡] पुष्पद्शप्रत्ययः, इति से । दि । पुन्तके पाठः।

सार्ने क्याय-धुरस्थरे विजयते श्रीवृक्षण-स्मा-पितः (१) ॥ १॥ द्रश्चाङ्गरे मे गनस्य सुमितः श्रेयस्य मेधातियि-धें म्योधर्म-सुतस्य विष्य-मृपतेः स्वीजा, निमेगें तिमः । प्रत्यग्दृष्टिर्दस्थती-सद्द्वरोराम् स्य पुष्तात्मना-यदत्तस्य विभारस्यत् सुल-गुहर्मन्त्री तथा माधवः ॥ ४॥

^{*} विजयतां,—इति मु॰ पाठः † वैन्य,—इति मु॰ पाठः।

⁽१) व्यर्थी जिवर्गाची (जिवर्गेख धर्मार्चकामाः)। चतुर्वेदिसा खामि जि-क्यादिविद्याचतुष्ट्यवेदिता । यथाच् कामन्दकः ' 'क्यान्विद्यिकों त्रयीं वासीं दाउनीतिस पार्थिवः। तिस्विसत्क्रियापेते स्थन्तये दिन-यान्वितः"— इति । पञ्चलान्धाः मन्त्रस्य पञ्चाष्ट्रानि (सञ्चायादीनि) तेष क्वती कुग्रजः। तदुक्तं कामन्दकीये। "सद्दायाः साधनीपाया विभा-गोदेशकालयाः। विपत्तेच प्रतीकारः सिद्धिः प्रवाक्तमित्रते —इति वसां गुणानां सन्धादीनामन्वयेन दृष्ः। तथा वामरः। सन्धिनी विग्रच्हें यानमासनं हैधमा श्रयः। 'वड्गुणाः"-इति । सम अप्नानि यस्यां, तादशी सर्वेसचा यस्य स तथातः। "साम्यभावस्य इत्काय-राष्ट्रदुर्भवनानि च। सप्ताङ्गानि"—इत्यमरः। खदाभिर्थेक्तिर्थेक्तां सां कलानां (অন্তানামন্তা भिर्भुं ग्राने चतुः घरुयः कला भवन्ति) तासां ध रः । ष्यथवा। यञ्यते धनयेति यक्तिर्बुडिः। चयौ या यक्तिक जाबुद्धाया बुर्डिगुगा इति यावत्। तासां धरः। तदाच कामन्दकः। "शुत्र्युषा श्रवणचैव यच्यां धारमन्तथा। ऊष्टाऽपोक्षेऽर्थविचानं तत्त्वचानस् धीगुणाः"—इति । नवानां प्रभावादीनां निधिः । पुष्यन्ता दश्रप्रव्ययाः सम्पद्भेतवः भ्रास्त्रादये। यस्य स तथा। तथा च कामन्दकः। "भ्रास्त्रं प्रजा प्रतिदीच्यं प्रागक्थं धारियणुता। उत्साक्षावाग्मिता दार्ष्य-मापत्क्षेत्रसिष्याता। प्रभावः युचिता मैत्रीवाराः सर्वं कतत्त्वता। कुलं ग्रीलं दमखेतिगुणाः सम्भक्तिचेतवः"—इति । सम्पद्धेतृतयात्ते म्बेतेषु परस्रोकोक्तानां नवानां 'नवं'-प्रब्देन, पूर्वस्रोकोक्तानां प्रास्त्र दानां दशानान्तु 'प्रत्यय'-प्रब्देन निर्देशः स्रत हेति मन्तव्यम्।

प्रजा-मूल-मही विवेक-सिल्लीः सिका, बलीपिष्ठकाः मन्त्रीः पद्मविता, विश्वाल-विट्या सन्ध्यादिभिः षड्गुणैः । श्रत्या केरिकता, यशः-सुरिभता, सिद्धा समुद्यः पत्मा संप्राप्ता भिव भाति नीति-खितका सर्व्यात्तरं माधवम् ॥५॥ म्त्रीमती जननी यस्य सुकीर्त्तिकायणः पिता । सायणेभोगनाथस्य मनेतुद्धिः सहादरौ ॥६॥ यस्य वैधायनं सुत्रं श्वाखा यस्य च याजुषी । भारद्वाजं कुलं यस्य सर्वेद्यः सिह माधवः ॥७॥ स माधवः सकल-पुराण-संहिता-प्रवर्त्तकः, स्वति-सुषमाण पराश्वरः । पराश्वर-स्वति-जगदीहिताप्तये पराश्वर-स्वति-विद्वता प्रवर्त्तते ॥६॥ मयादि माधवः श्वर्ति व्याख्याता निवन्धृभिः । मयादि माधवः स्वर्ते साधवार्येण तद्वाख्यायां प्रयत्यवे ॥६॥

^{*} बबापंत्रिका,—इति सा॰ द्वि॰ पुक्तको याठः। बबापित्रिका,—इति मु॰ पुक्तको पाठः। † ऽमन्नः—इति सा॰ पुक्तकयाः स॰ पुक्तको च पाठः।

[!] श्रीमती यस्य जननी—इति मु॰ पुक्तके पाठः। स्वं तत्र, स्तक् स्रोकात् पूर्वे 'यस्य बौधायनं '—इत्यादि स्रोको वर्त्तते।

अने। बुद्धिः, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[∥] बौधायनं,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[¶] सुखमा, — इति देा॰ पुस्तकदये, स॰ पुस्तके च पाठः।

^{**} तद्याख्येयं प्रवर्ष्यते,—इति मु॰ पुत्तको पाठः।

नन्, नेयं स्वितिर्याख्यानमर्दति, तत्-प्रामाण्डस्य (१) दुर्निस्त्पतात्। यन्तु,—वेद-प्रामाण्ड-कारणं जैमिनिना स्वितम्,—"तत् प्रमाणं वादरायणस्यानपेचलात्" (मी॰१,१,५स्र॰)—दित । न तत् पेरिषेयेषु (१) मूलंप्रमाण-सापेचेषु ग्रन्थेषु योजयितं ग्रक्यते (१) । तर्द्यस्य मूल-प्रमाणसुपजीव्य प्रामाण्यम्। तन्न, मूलस्य दुर्लभलात् । न तावत् प्रत्यनं मूलम् । विर्मस्थातीन्द्रियलात् (१) । नाप्यनुमानम्, (१) तस्य प्रत्यचसपेचलात् (१) । नापि पुरुषान्तर-वाक्यम्। (१) विप्रसम्भकस्य पुंसे। १ यथा-दृष्टार्थ-वादिलाभावात्।

^{*} ग्रश्चेषु,—इति सेा॰ प्र॰ पुक्तके नास्ति।

[†] दुर्भणलात्,—इति मु॰ पुस्तकपाठः।

[‡] तस्यातीन्त्रियुत्वात्,—इति मु॰ पुस्तकपाठः।

[🛇] यथार्थद्यार्थ,—इति से । स॰ पुन्तवपाठः।

⁽१) तदिति सृहतेः परामर्शः।

⁽२) पौरुषेयतं मूलप्रमाणसापेचाते हेतुगर्भविषोषणम्। पुंवचसां मूल-प्रमाणसापेचाणामेव प्रामाण्याभ्युपगमादिति भावः।

⁽३) जैमिन्युत्तस्य प्रामः खार्रेते।रन्यानपे चलस्य तत्राभावादित्यभिष्रायः ।

⁽⁸⁾ सुखादिवदात्मगुणलाविशेषेपि चयोग्यत्वादतीन्त्रियत्वं धर्मास्य । धर्मे प्रत्यद्वं न मूलिमित्येतचः—''सत्सम्पयागे पुरुषस्येन्त्रियाणां नृद्धि-जन्म तत्प्रयद्यमनिमित्तं विद्यामाने।पलम्भनत्वात्''(१,१,८)—इति मीमांसास्त्रचादे। चक्कम् ।

⁽५) स्रच 'मूलम्'—इत्यनुषञ्जनीयम्। एवं परच।

⁽६) चनुमानस्य याह्यादिप्रयच्चसापेचलादित्यर्थः । तच, "चय तत्पूर्वेक-मनुमानम्"—(१,५,५) — इति न्यायसूचादे। यत्तं बज्जव ।

⁽७) पुरुषान्तराणां च्हि विप्रलम्भकाविप्रलम्भकभेदेन दैविध्यं। दिविधा-नामि तेषां वाक्यं न मूलिमिति क्रमेण प्रतिपादयति विप्रलम्भक्येति। प्रतारकस्त्रेत्वर्थः।

त्रविप्रसम्भकस्यापि संग्रय-विपर्य्यय-सम्भवात्^(९) । नापि चेादना^(ए) तस्या ऋनुपल्छे: । ^(१)ने। खलु * सर्थ्यमाणानां श्रीचाद्यात्राणां मूजभूतां काञ्चिचोदनां प्रत्यचतउपजभामहे । (४)नायनुमातुं शक्यते, श्राक्यादि-प्रणीत-चैत्य-वन्दनादि-स्रितिव्यतिप्रसङ्गात्^(५) ।

श्रयोच्येत,†—'मन्वादि-स्रतीनां प्राक्यादि-स्रतीनां पास्ति महदैषम्यम् । प्रत्यच-वेदेनैव माचात्रान्यादि-स्तृतीनां प्रामाखाङ्गीका-

^{ं *} न खलु,—इति मु॰ पुक्तकपाठः।
† खघोच्यते,—इति मु॰ पुक्तकपाठः।

[🗓] प्राक्यादिग्रञ्यानां,— इति सु॰ पुस्तकपाठः।

⁽१) संग्रय एकस्मिन् धिमीणि विखद्रनागाधमीप्रकारकमनवधारणात्मकं चानम्, 'स्थागुर्व्वा पुरुषो वा'—इत्याद्याकारकम्। विपर्यया विपरीत-चानं, खतदति तत्प्रकारकि खयात्मकि मिति यावत्। यथा स्थागी पुरुष इति पुरुषे स्थागुरिति चैवमादि निस्वयः। सम्भवसानयाः करणापाठवादिदेशवमूककविश्रेषदर्शनाभावादिभ्य इति यथाययमृद्धः नीयम्।

[&]quot;चीदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तम् वचनमाज्ञः"—(१,१,२)—इति भीमां-(₹) साभाष्यम्। तच वाकां वैदिक्षमेव, पौरुषेयस्य मूलप्रमाखान्तरसा-पेच्चलादिति भावः।

^(₹) उत्तमेव विद्योति ना बिल्वित्यादिना।

मामृत् प्रवाद्या चेष्ट्रमा मूलं, चनुमेया तु खादिवाप्रक्य निराकरोति (8) 'नाप्यनुमातुं ग्रकाते'—इति । चादना,—इति चनुषच्यते ।

शाको भौद्धाचार्यः। चैत्यं नुद्धप्रतिमा। चादिपदात् जैमाचार्यादिप्र-गीताईदायुपासनादिस्रतिपरियदः। खतिप्रसङ्गादिति स्रुतेखोदना-नुमापकले तासामि सुरतितया तत्रापि चीदनानुमानप्रसङ्गादिव्यर्थः। तथाच वेदवाह्मस्रतिष व्यभिचारात् न स्रात्या चेरिनानुमानसम्भव इति तात्पर्थम्।

रात्। "यदै किं च मनुरवदत्तद्भेषजम्"—इति द्याखायते। मलेवं धाष्णादि-स्रत्यनुगासकं किञ्चिदैदिकं वचाऽिस्त । श्रतानाक्षातिप्रसङ्गः? —इति । तस्त, 'यदै किं च,'—इत्यस्यार्थवादलेन स्वार्थे तात्पर्या-भावात्^(९) । "मानवी ष्टचा धार्य सुर्यात्"—इति विधामात्

⁽१) कार्य्यताबेाधकप्रत्ययासम्भिचाच्दतं वाक्यमर्थवादः। च्ययमभिसन्धिः। प्रथमतारुद्धयवद्वारादेव सर्वेष्रव्दानां प्रक्तियद्यः व्याकर्यादीनां यवद्दाराधीनग्रितायद्दमूखकत्वात्। यवद्दारस गवानयनादिरूपः 'गामानय'-इत्यादिकाय्येतावाचिप्रत्ययसमभित्याच्चतवाक्यसाध्यः 'गौ-रिक्त'—इत्यादितेात्यवद्वारासम्भवात्। तथाच प्रवर्त्तकवास्यरव युत्पत्तिग्रहेख उपस्थितलात् कार्यालान्वयवेषां प्रत्येकपदानां हेतुलं युत्पत्सरवधारयति । तसादर्थवादस्थले न प्राव्दवेष्धः, किन्तु पदा-र्थानामुपस्थित्वनन्तरं खसंसर्गाग्रञ्चमात्रम्। प्रवाजनन्वर्थवादानां विधिक्तुति-निषेधनिन्दाभ्यां प्रवक्ति-निवन्ती एव। तथान्ति, वळवित्त-व्ययायामसाध्ये यागादौ पुरुषं प्रवर्त्तियतुमपारयन्ती विधिप्रसिहर-वसीदति, सा च स्तुत्वा उत्तभ्यते, इति प्रवस्तिषां क्राब्द्रां भावनायां चक्रलं सुत्वर्थवादानाम् । तदुक्तम् । "बिङोऽभिधा सेव च श्रब्दभावना भाष्या च तस्यां पुरुषप्रवित्तः। संबन्धवाधः कर्यां तदीयं प्रराचना चाक्रतयापयुच्यते"— इति। एवं निरुक्तिपाणिकायां भावना-यामक्रत्वं निन्दार्घनादानां बेाध्यम्। स्तुतिनिन्दे स, 'धस्य पर्योभयी जुड्डभवित न स पापस्नामं प्रकाति"—इति, "तस्य यदश्र्यसीर्थत तंत्रजतमभवत्"—इति चैवमादिवदसताप्यर्धेन दृश्वेते,—इति न खार्चे तात्पर्यमर्थवादानाम्, - इति मीमांसकसिद्धान्तः । स्पष्टच्चेतत् यूर्वभीमांसादावर्थवादाधिकरेखादी । यथा चादाहतार्थवाद्याः (दरापर्यमधीत्यादि तसा यदशु हतायोः) खर्ची न वस्तुतः सन्ती, तथा मीमांसादर्भनस्य चतुर्घाध्यायहृतीयपादस्य दितीयस्यस्य, एवं तस्यैन प्रथमाध्याय-दितीयपाद दश्रमस्त्रत्रस्य श्रावरभाष्ये यथाक्रमं स्पष्टम।

तिहिधिसावकानेन, 'यदै किं च'-इत्यादेः पिठतलान्। तस्य विधे-रयमर्थः ;—इष्टि-विक्रितिक्षे चामारौद्रे चरावितदेशतः प्राप्तास् सामिधेनीषु मध्ये प्रचेष्ठयौ धाया संज्ञकौ यौ दौ मन्त्रौ, तौ मानसौ कर्मयौ,—इति। तन्न,मानव-वचनमुक्तार्थवादेन श्रस्थते । स्रतोन स्रति-प्रामाण्यं वेदेनेक्षम्—इति श्राक्यादि-स्रतिवदप्रमाणभूताएव मन्वादि-स्रतयः। तथाचोक्षम्,—

"प्रायेणानृत-वादिलात् पुंषां भ्राम्यादि-सभावात्। चोदनाऽनुपस्बेश्च श्रद्धामाचात् प्रमाणता"^(९)॥ इति। ^(९)त्रस्तु वा, कथंचित् मनु-स्हते: प्रामाण्यम्,[‡] तथापि, प्रकृतायाः

^{*} तस्य च,-इति मु॰ पुस्तकपाठः।

[†] तत्र मानवत्वमुक्तेनार्थवादेन प्रश्रस्थते,--इति मु॰ पुस्तकपाठः ।

[🕽] दुर्निरूपं प्रमाण्यं,—इति मु॰ पुस्तकपाठः।

⁽१) 'पुंसाम्'—इति मध्यपितं मध्यमित्वायात पूर्व्वापरयारम्बेति। 'श्रद्धामात्रात्'—इत्यनेन, खप्रमाणभूतार्व स्तृतयः, श्रद्धा-जड्सीव तु परं तत्र प्रामाण्याभिमानः,—इत्युक्तम्।

⁽२) यद्यपि कार्य्यता बेधकपदान्तर्भावेनेव पदानामस्य बेधि हेतुलं पूर्व्यम-वधृतं, तथाप्य चेवादेश्योपि श्राव्यमते रत्पादात् तस्यास्वानुभवसिद्ध-त्वेनापलपितुम श्रव्यात्वादुत्तरकालं तदु पेच्यते, पूर्व्या प्रश्चितस्य पर्यार्थ-त्वानियमात्। तदुक्तम् "कार्य्यतस्य स्वयं प्राव्यात्वे प्राव्या प्रश्चीतापि हेतुता। पदानामर्थवादेश्यः पस्याद्वे बोधादु पेच्यते"—इति। विधिक्षावकत्व-मप्यर्थवादानां स्वसति वाधके स्वर्थेद्वारेव, न तु स्वर्थेपरित्यागेन। स्वन्यया, "यद्य दुःखेन सम्भद्यं न च यक्तमनन्तरम्। स्वभिकाषेप-नीतं यत् तत् सुखं सः पदास्पदम्"—इत्याद्यर्थवादेश्यः स्वर्गादिकमिष् न सिद्धोत्। तिददमुक्तम्। "स्वर्थेद्वारेव तात्पर्यं तस्य स्वर्गदिकत् विधी"—इति। तिममं न्यायसिद्धान्तं वस्यमायमुत्तरमीमांसासि-द्वानां स्वभाव मनिमं निधायाद्य स्वक्तं विति।

पराश्वरस्रतेः किमायातम्?। निष्ठ मनारिव पराश्वरस्य मिस्मानं कचिदेदः प्रख्यापयिति^(१)। तस्रात्, तदीय-स्रतेर्दुर्निक्रपं प्रामाएः म्*।

श्रवेश्यते । प्रामाण्यस्य खतस्वात् श्रप्रामाण्ये कारणाभावाश्व स्टतयः प्रमाणम् (१) । यन्तु,—श्रप्रामाण्य-साधकमनृत-वादिलाहि हेतुचयमुपन्यस्तम् । तदसिद्धम्, (१) श्रा-जन्म-सिद्धेषु मनु-पराधरादिषु श्रनृत-वदन - श्रान्योरत्यन्तानाधिद्धत्तलेन हेलोः (४) स्वरूपासिद्धेः । नवा श्राजन्म-सिद्धौ विवदितव्यम्, पराधरादि-सद्भाव-वेशिना-सेव १ (६) मन्त्रार्थवादे तिहास-पुराणानां (१) तदीय-सिद्धि-वेशिकलात् ।

^{*} तदीयसृतेः प्रामाण्यं दुर्निरूपमिति,—इति मु॰ पुक्तकपाठः ।

[†] वादन,—इति मु॰ पुस्तकपाठः।

[🗜] न चाजन्मसिद्धावेव,—इति सु॰ पुक्तकपाठः ।

[🖇] सङ्कावावनेधिकानामेव,—इति मु॰ पुक्तकपाठः।

⁽१) यथा मनार्भिद्यमानं वेदः प्रख्यापयति, तथा पराश्ररस्य न,—इति यितरेके दरान्तः।

⁽२) धियां तत्त्वपद्मपातस्वाभाखात् प्रामाख्यस्य सतस्तम्। यत्रदेमुक्तम्,—
"निषपद्रवभूतार्थसभावस्य विपर्ययेः। न वाधा यत्नवत्वेषि बुद्धेस्तत्
पद्मपाततः"—इति। सत्यपि धियां तत्त्वपद्मपातस्वाभाव्ये शक्तिरजतादिबुद्धीनां यदपामाख्यं तद्दोषादेव, स्वृतिषु च स नास्तीति भावः।

⁽३) 'तदसिंडम'—इतिसामान्याभावे विशेषाभावकूटस्य हेतुलमाङ छा-जन्मेति।

⁽८) खन्दतवदनभान्त्योरप्रामाख्यसाधकयारित्यर्थः।

⁽५) पराग्ररादिसङ्कानं बार्धियतुं शीलं येघामिति गिन्।

⁽६) "तचोदकेषु मन्ताखा" (२,१,६२) इति जैमिनिस्त्रम् । खिभिधा-मख चेदकेषु मन्तसंज्ञा इति तदर्थः । ''प्रायिकिमदं लज्ज्ञ्यम्, खनिभधायका खिप केचित् मन्ता इत्युचन्ते"— इति शावरभाष्यम्। ''खिभियुक्तानां मन्त्रोऽयिमिति समाख्यानं मन्त्रलज्ज्ञ्यम"—(२,१, ७८०) इति न्यायमालाविक्तरे । खर्यवादलज्ज्यां पूर्वमुक्तम् । इति-

मन्ताद्यप्रामाण्ये च पराग्रराद्यसङ्गावेनाश्रयासिद्धः केन वार्यते *(१) । मानान्तराविरुद्धानामननुवादिनां (१) मन्त्रादीनां चार्थे प्रामाण्डसुत्त-रमीमांसायां देवताधिकरणे (१,३,८ श्र०) व्यवस्थापितम् । ऋर्य-वादाधिकरणे तु (मी०१,२,१ श्र०) स्वार्थे प्रामाण्डिनराकरणं विरुद्धानुवादयोः मावकाश्रम् । श्रतः,—'यद्दे किं च'—दत्यर्थवादस्थ विधिस्वावकस्य स्वार्थेपि तात्पर्थमस्ति,—दति, न श्राक्यादि—स्थिति—

- (१) अयमाश्यः। पराश्रे ाऽन्दतवादी पुरुषत्वात् इत्यादिरीत्या पराश्रयम्बन्धानेन तस्यान्दतवादित्वं प्रसाध्य, पराश्ररस्वतिरप्रमाखं पुरुष-वाक्यत्वात् मिष्यावाक्यत्वादा इत्यादिरीत्या प्रस्तुतायाः स्वतेरप्रामाखं भवता सिषाधियिषितम्। तत्र च, पराश्ररादीनां प्रमाखान्तराग्रे पर-तया मन्तार्थवादादिभ्ययव तत्सिद्धिवाचा। तथाच मन्त्रादीनां प्रामाखे तदीयसिद्धेरिय तत्रवावग्रमात् कालात्ययापदिस्रो हेतुः, मन्त्रादेरप्रमाखे च पराश्ररादेरेवासिद्धत्वादाश्रयासिद्धः,—इत्युभयतः पाश्रा रच्नः।
- (२) प्रत्यच्चित्रद्वार्थवादिनां 'प्रावायाः ज्ञवन्ते"—इति, "वनस्यतय सन्नमासत"—इति चैवमादीनां चर्यवादानां खार्ये प्रामाखं नास्तीति
 सर्व्यसम्मतं । एतच मीमांसाप्रधमाध्याये चात्मतन्त्वविवेतादीः च
 स्यष्टं। प्रमाणान्तरसिद्धार्थे ख वदनमनुवादः । सीमांसक्तनये तस्य
 प्रामाखं नास्ति, चनधिगतार्थविषयकत्वस्य तन्मते प्रमाणच्याष्ठकत्वादिति बेाधं।

^{*} कोन वा वार्येत, इति मु॰ पुक्तकपाठः।

[†] मानान्तराविरुद्धानां मन्वादिस्मृतीनां,—इति मु॰ पुस्तकपाठः।

हासः प्रावत्तम्। प्राणम्, "सर्गस्य प्रतिसर्गस्य वंश्रीमन्वन्तराणि च। वंशानुचरितस्वेव प्राणं पञ्चलद्यणम्"—इत्युक्तलद्यणको प्राणः। ब्राह्मणभागस्यार्थवादे भारतादोनाभितिहासे, उपप्राणानां प्राणे-ऽन्तभावः। विधेः प्राण्णरादिसद्भाववेशधकत्वासम्भवात् तस्य नाने।-पादानमिति च्रियम्।

वत्,—इति युक्तम्*(१)। एतदेवाभिप्रेख(१) चतुर्व्विषतिमते शाक्यादि-वाक्यानामनादरणीयत्वमुक्तम् ,—

> " श्रहं चार्व्याकवाक्यानि वैद्धादि-पठितानि तु। विप्रसम्भक-वाक्यानि तानि सर्व्वाणि वर्क्वयेत्" (२)।

द्दित । न च, परागर-महिचोऽश्रोतत्वम्, "महोवाच व्यामः पारा-व्यवः"—दितश्रुतौ पंरागर-पुचलमुपजीव्य व्यामख स्तुतत्वात् । यदा वर्ष्यं मम्प्रतिपन्नमहिचोवेदव्यामखापि स्तुतये परागर-पुचलमुपजी-व्यते, तदा किमु तक्तव्यमचिन्त्यमहिमा परागरः,—द्दित । किञ्च वाजमनेवि-गाखायां वंग्रत्राह्मणे वेद-मम्प्रदाय-प्रवर्त्तक-गुरू-ग्रिव्य-परम्परायां परागरस्य पुच-पौचौ श्रूयेतेः ;— १ "घृतकौशिकः

[🍍] न प्राक्यादिप्रतिबन्धिर्युक्ता,—इति मु॰ पुक्तकपाठः ।

[🕇] सात्र चार्व्वाक,—इति मु॰ पुक्तकपाठः।

[‡] पुत्रपौत्राः श्रूयन्ते,—्इति मु॰ पुत्तकपाठः ।

६ 'ष्टतकोश्रिकात् घतकोश्रिकः'— इति से १०४० पुक्तके पाठः । कुश्चिकाय निर्धतकोश्रिकात् घतकोश्चिकः,— इत्यादि मु॰ पुक्तकपाठः ।

⁽१) शाक्यादिस्रितिवत् पराश्ररादिस्रितये। प्यप्रमाग्रमिति युक्तं नेत्यर्थः।

⁽२) मन्वादिसद्भावनेशधकार्थवादसत्त्वात् तदीयस्तृतीनां प्रामाण्यं, ग्राका-दिसद्भावनेशधकार्थवादाद्यभावाच तदीयस्तृतीनामप्रामाण्यमिखेतद-भिष्रेत्वेत्वर्थः।

⁽इ) जैनानां तीर्धञ्जरोऽर्हज्ञामा। चार्व्वाकत्तु तीकायितकापरनामधेया-नाक्तिकः। "ध्वज्जनिक्जनादिजन्यं सुखमेव परमपुरुवार्धः"—इत्यादि एणग्जनरमग्रीयवाक्यप्रयोक्षाृत्वात् चार्व्वाकत्यं तस्य। बुद्धाः बौद्ध-धर्मोपदेखा। खादिप्रब्दात् खन्येपि वेदवाच्याः कापाकिकादया-सन्त्राक्ते।

पाराधर्यायणात्, पाराधर्यायणः पाराधर्यात्, पाराधर्योजात्तक-र्ष्णात्"-इति । तस्रात्, पराधराऽपि मनु-समानएव ।

एव न्यायाविष्रष्ठाचि-याञ्चवस्कादिषु योजनीयः, तस्तदिषय-श्रुतीनासुपलभात्। "स्वयो वा दन्द्रं प्रत्यचमपथ्यन्त" "विष्रष्ठः प्रत्य-चमपथ्यत्" "श्रुचिरददादौर्न्वाय प्रजां पुच-कामाय" "श्रूथइ याञ्चव-स्कास दे भार्ये वस्त्रवतुः"—दत्याद्याः श्रुतयः। न चैतं सति मन्वा-दि-स्तृतौ कुताऽनादरः,—द्गति ष्रद्धनीयम, (१) मन्वादि-स्तृते भेधाति-ष्यादिभिर्वाखातलात्।

(१)या च मूलभूत-चेादना-ऽनुपलिश्चरपन्यस्ता, साऽयसिद्धा।
"पश्च वा एते मरायद्वाः सतित प्रतायन्ते सतित संतिष्ठन्ते;—देवयद्वाः
पिष्ट-यद्वोभृत-यद्वोमनुष्ययद्वोष्ठस्त्र-यद्वाः"—इत्यादीनां सार्त्तधर्मामूलभूत-चेादनानासुपलम्भात्। 'सतित' सततिमत्यर्थः । यत्रापि
गौचादौ चोदना नेापलभ्यते‡-तचापि सा सम्भाव्यते (६)। तथाचेामं
भद्वाचार्यैः,—

- * एव एव,—इति सु॰ पुन्तकपाठः।
- † सततं निव्यमित्वर्थः इति सु॰ पृत्तकपाठः।
- ‡ चेदना इति सेा॰ स॰ पुक्तकयोनीक्ति।
- (१) मन्वादिस्रताविति जात्यभिषायमेकवचनम् । (स्वं परच ।) मन्वादि-स्रतिमवात्वाय पराश्ररस्रतिरेव कुतेत्वात्वायते इत्याशक्षार्थः ।
 - (२) खप्रामाण्यसाधिकायामूलभूतचे दिनानुपलक्षेरीप खरूपासिद्धिं प्रति-पादियतुमाच याचेति ।
- (३) सम्भाव्यते चनुमीयते। सार्त्तानां पश्चमद्वायद्वानां मूलभूतचेदिवायाः साद्यादुपलम्भात् चनुपलव्यचेदिनानामिष सार्त्तानां श्रीचादीनां मलभूतचोदना प्रक्या चनुमार्तु। यएव द्वि मन्वादयः पश्चमद्वायद्या-

"वैदिकैः सर्यमाणलात् परिग्रच-समलतः" । सभाय-वेद-मूललात् स्रतीनां मानताचिता"^(९) ।

इति । मनुनाऽयेतदेवेान्तम्,—

"श्रुतिं पश्चन्ति सुनयः सार्राना च तथा स्रुतिम् । तस्मात् प्रमाणसभयं प्रमाणैः प्रापितं सुवि । योऽवमन्येत ते त्यभे देत-श्वास्ताश्रयात् (१) दिजः १ । स साधुभिर्व्वद्विःकार्यानास्तिकावेदनिन्दकः" ।

दति। श्रानुशायनिकेऽपि,—

"धर्में जिज्ञासमानानां प्रमाखं परमं[॥] श्रुतिः ।

- * तत्परिग्रच्दार्ष्यतः, इति सु॰ पुक्तकपाठः। † प्रमितं—इति सु॰ पुक्तकपाठः। ‡ ते मुक्ते,—इति सु॰ म॰ पाठः।
- ्र नरः,—इति सु॰ युक्तकपाठः।
- ॥ प्रथमं इति सु॰ पुस्तकपाठः।

दीनां स्वर्तारत्वयव श्रीचादीनामिष। तदेतत् मीमांसाप्रथम-त्वतीय-प्रथमाधिकरणे स्पष्टं। परन्तु विस्वरणात् वेदानां शाखिष्क्वेदादाः सा चादना नास्मदादिभिरापकभाते। स्तद्धि त्व, न्याय कुसुमा-श्चनौ श्रन्दमिणप्रभ्वतिषु च यथायथं सुयक्तम्।

- (१) वैदिकेः स्पर्धमाणालात्, इति सस्भाव्यवेदमूषतायां हितुः। तथाच जिमिनसूत्रम्। "चिप वा कर्त्तृ सामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्" (मी॰१,३,२) इति। परिग्रचः शिटपरिग्रचः। स च वैदिके स्मार्त्ते च पदार्थं समानः। खयमि सस्भाव्यवेदमूषतायां हेतुः। स्मृतयः प्रमाणं शिटपरिग्रच्चोतत्वाद्देदवित्यनुमानसम्भवात्। सम्भाव्यवेद-मुष्तात् चनुमीयमानवेदमूष्त्राताः।
- (२) ऐतु गास्त्रं कुतंर्की पदेशकचार्ट्वाकदर्शमादि।

दिनीयं धर्माणास्त्रन्तु तिर्नायं लेकि-संग्रहः" (१) । इति । तस्तात् व्याख्यातुं योग्या पराणर-स्पृतिरिति मिद्धम् । (१) पराणर-स्पृतावस्यां ग्रन्थ-क्कितिच्यते । दे काण्डे, दादणाध्यायाः, स्नोकाः ऋष्टेःनषट्णतम् । श्राचारस्यादिमः काण्डः प्रायश्चित्तस्य चान्तिमः । इष्ट-प्राप्तिरनिष्टस्य निष्टत्तिश्चानयोः क्रमात् (१) । एते सर्वे पुष्य-लोका भवन्तीति श्रुतिर्जगाः ;— विदितादाश्रमाचारादिष्टाप्तिं पारलोकिकीम् । प्रसक्तो नरकाऽनिष्टे निषद्धाचरणेन यः (४) । तिन्वदृत्तिः स्पुटा ग्रास्ते प्रायश्चित्ताभिधायिनी । पर-लोक-प्रधानस्य (५) धर्मस्येषा दयीं गितः,—

- ै दिस्राप्तिः पारकोकिकी,—इति सु॰ पुक्तकपाठः । † स्फुटं—इति सु॰ पुक्तकपाठः ।
- (१) धक्षेणास्त्रं धक्षेपिदेणप्रधानमन्वादिसंहिता। तत्र हि धक्षेपिदेणस्व प्रधानं, काचित्कमितिस्ताखानन्वानुषङ्गिनं। पुराखे तु तहैपरीत्यं। स्रोतन तत् धक्षेणास्त्रं। स्पस्त्रेचेतत् श्राद्धविनेकटीकादे।। तुणब्दात् पुराणसंग्रहः। तेतिकसंग्रहेतिकत्यवद्यारः। दौर्वेत्यसामीषां यथा-
 - त्तरं च्रेयमित्रच्यत्र वित्तरः।
- (२) पराश्ररसृतेर्थाख्येयत्वं प्रतिपाद्य तस्याः कार्यावभागादिकं वत्तुमुप-क्रमते पराश्ररेति ।
- (३) कारा दयस्येतत् दयं क्रमात् प्रयाजनिमवर्थः।
- (8) निषिद्धाचरयोन यानरकः प्रस्तत इत्यन्वयः। नरकस्य विद्रेषणं 'व्यनिष्ठः'—इति।
- (५) व्यवचारन्तु न परते। कप्रधान इत्यनुपरमेव व्यत्तीभविष्यति।

प्रायश्चित्तं तथाऽऽचारः, श्रोत-धर्मे तथेचवात्। श्रोत-धर्मे।ऽग्निहाचादिराचारस्वदनुष्ठितिः। श्रयथाविध्यनुष्ठाने प्रायश्चित्तं श्रुतौ श्रुतम्। कन्य-सूत्र-कृतः श्रोते ग्रायश्चित्तमनुष्ठितिम्। श्रस्यचयनुभे एव, व्यवहारनु^(१) नाषुवन्। तददेवायमाचार्यः पर-खेकि-प्रसाधनम्। सात्तं धर्मे विवनुः सन् काष्डदय^(१)मवाचत। (१)ननु चोदनयागम्ये व्यवहारेऽपि धर्मता,— श्रस्तीति चेदनुष्ठातुर्स्वाके १ऽस्मिन्नुपयुच्यते।

- * सूचे,--इति सु॰ प्रसक्तपाठः।
- † प्रधानकम्,--इति सु॰ पुक्तकपाठः।
- ‡ न, तत्र चेादनागम्ये, इति सु॰ पुक्तकपाठः।
- 🖇 चेदस्तु सा तु ले। के, इति सु॰ पुस्तकापाठः।
- (१) "विनानार्षेऽवसन्देष्टेष्टरणं द्वार उच्यते। नाना-सन्देष्ट्रहरणात् श्रव-द्वार इति स्मृतः"—इत्याद्यक्तो भाषोत्तरिक्रयानिर्णयाच्या चतुष्यात् व्यवद्वारः।
- (२) खाचारकार्यं प्रायस्वित्तकारहस्र।
- (३) शक्षां निवित । चोदनयाम्ये इति हेतुमभिविश्वेषयां । "चोदमासक्य-योऽधीधन्मः" (मी०१,१,२) जैमिनिस्च चात् चोदनामयार्थस्येव धर्म्भ-त्वावमतेर्थवहारस्यापि तथात्वात् तदस्य नादार्यस्य न्यूनत्विमिति पूर्वपचार्थः । उत्तरमाद्य अनुष्ठातुरिति । तथाच पारकी सिक्षप्रक्षकः धर्मस्याच विविच्यतत्वात् यवहारस्य चेहिकप्रकालत्वात्तरकी सैनेपि म न्यूनत्विमित भावः । ऐहिकमिप प्रकं यवहारानुष्ठातुर्व्वादिनः प्रति-वादिनस्य म तु यवहारद्वयूराच्य इति बेथ्यं।

(१)कारीर्थादिश्रीतधर्में दृष्टेक "फलकायया।

साभ-पूजा-स्वाति-माच-फला व्यवहृतिस्तथा।

जेतुर्साभादिकं तदत् पराजेतुस दण्डनम्।

तावेव स्वर्ग-नरकौ विहितप्रतिषिद्धज्ञौ।

(१)नन्, राज्यस सभ्यानां साचिणां चान्ययाकृतौ।

प्रत्यवायाद्यवहृतिः परलोकप्रयोजना।

(१)"श्रदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांस्ववायदण्डयन्।

श्रयग्रोमहदाप्रोति नरकं वार्ऽपिं गस्कृति"।

"सभा वा न प्रवेष्ट्यां वक्तवं वा समझसम्।

^{*} रुख्येक्,—इति सु॰ पुस्तकपाठः ।

[†] नरकहोत, — इति मु॰ म॰ पाठः। नरकं चापि, — इति सु॰ पुरुक्तकपाठः।

[‡] सभां वा न प्रवेख्यं—इति सु॰ म॰ पाठः।

⁽१) कारीरी यागवित्रेषः । स चे जिनमाचपालकः खवग्रहेण शुख्यतां ग्रम्या-गां खद्या सञ्जीवनस्थेव तत्पालत्यात् । खतरव यावत्यमुखिते खिट भवति, तावतेव तत्समापनममुश्रिष्यते ।

⁽२) यवहारस्थे दिसमा प्रमासक समसिद्ध मित्या प्रश्वते निव्वति । स्वच च, बुद्धि पूर्वका न्याया सर्वाप्य राष्ट्रः सभ्याना स्व प्रत्यवायः । तर्कवाक्या नुसारे वार्षे विक्रितं तु व नुने द्विष्या यव स्वारद्धि नां देखि न भवतीति बेध्यं । स्वतस्व गौतमेन, "न्याया भ्यपगमे तर्के द्विष्या संग्रह्म यथास्थानं गमयेत्"—इत्यभिधाय, "तस्मात् राजार्थ्याविनिन्देता"—इत्यपसं स्वतम् ।

⁽३) खन्यचा छतौ राष्ट्रः सभ्यानां सान्तियाच प्रत्यवाये मानवीयं वाक्य चयमुदाहरति 'खदख्यान्' इत्यादिना ।

श्रमुवन् विमुवन् (१) वापि नरोभवित किल्लिषी"।
"साच्छेऽनृतं वदन् पाग्नैर्वध्यते वास्पीर्नरः।
विवयः ग्रतमाजातीस्तसात् साची वदेवृतम्" (१)।
विवयः ग्रतमाजातीस्तसात् साची वदेवृतम्" (१)।
व्यवहारेः प्रत्यवाधोऽस्तु व्यवहारे किमागतम्?।
व्यवहारेः प्रत्यवाधोऽस्तु व्यवहारे किमागतम्?।
श्रत्यर्थिनाऽर्थिना वाऽत्र प्रत्यवाधोन हि स्पृतः।
प्रत्यर्थिनाऽर्थिना वाऽत्र प्रत्यवाधोन हि स्पृतः।
प्राजय-निमित्तेन प्राथिञ्चत्तं च न स्पृतम्।
स्वणादीनरकाकिया साऽप्याचार-निवन्धना(४)।
(१) श्रस्तु वा नरकः ग्रास्त-विस्द्ध-व्यवहारिणः।
पर-लोक-प्रधानलसेवासासिर्विवार्थते।

* भ्रतवर्षाणि,—इति सु॰ पुक्तकपाठः।
† साच्यं वदेदतं—इति म॰ म॰ पाठः।

⁽१) विद्युवन् विरुद्धं द्युवन्।

⁽२) जातिर्जन्म। तथाच विवशः सन् श्रतजन्मानि यावत् वाख्यौः पाशै-बध्यते इत्यन्ययः। ऋतं सत्यं।

⁽३) व्याप्रद्वां परिचरति 'राजादेः'-- इति।

⁽४) स्त्राचारनिबन्धना लेाकथवद्धारमूला। तथाच नरकेािक्तिनिन्दा-मात्रमिति भावः।

⁽५) नन् "ऋणानाञ्चानपिक्षया"— इति मन्ना उपपातकमध्ये पाठात् प्रस्थवायस्य गम्यते। अपिच चतुष्पादात्मकत्यवद्वारे निर्णयस्य राजा- चनुष्ठेयत्वात् तदन्यचाकर्यो तेषां प्रत्यवायः स्यादेव। तथा चे भियधापि व्यवद्वारस्य परके विषय्याचनकत्वमद्यातिमत्याश्ययवानाच्च च्यक्त विति। परके किति, तथाचायमाचार्यः परके विकायधानमेव धर्ममुपदिदेश, व्यवद्वारस्तु न तादश इति न तदकथनात् न्यूनत्वश्चिति भावः।

एतक्षोक-प्रधाने। यः पर-स्रोकोपसर्जनः ।

स धर्मी व्यवद्वारः स्यादाचारस्त विपर्ययात् (१) ।

प्राधान्येऽप्यस्य स्रोकस्य स्यादेवान्वाय-मूलता ।

गान्धर्व्वासुपवेदेषु तादृग्रेषु तदीचणात् (१) ।

(१) जगाद वाकान्द्रावेदात् सामभ्ये।गीतिसेव च ।

यजुर्व्वदादिभनयान् रसानार्थ्व्यणादिष् (१) ।

किं बह्नत्याऽयमाचार्यः पर्-स्रोक्तेक-दृष्टिसान् ।

स्यवद्वारन्तु नावाचत् किन्तु स्वचितवानसुम् (१) ।

राज-धर्म-प्रसङ्गेन, (१) 'चितिं धर्मेण पालयेत्' ।

दित बुवन् राज-दृश्यं व्यवद्वारमस्वच्यत् ।

(६) साचादिष्टाप्ति-हेतुलादाचारः पूर्व्वमीर्थते ।

विपर्थये,— इति सु॰ पुक्तकपाठः ।

[†] षादम्खवेदात्, — सु॰ पुस्तकपाठः।

[‡] सामान्याचर्वेगाद्रपि,—इति सु॰ पुस्तकपाठः।

[🖇] पूर्व्वमिष्यते,—इति सु॰ पुस्तकपाठः।

⁽१) रतस्तिकोपसर्जनः परलेकप्रधानेत्धर्म खाचार इत्वर्धः।

⁽२) ताह मेषु रतक्षीकप्रधानेषु । तदी चायात् खामायमू कालदर्भनात् ।

⁽३) गान्धर्वेषिवेदस्यामायमूलले तमधिक्तत्य पठितं वाक्यमुदास्टिति जया-हिति। स्वभिनयान् ''भवेदभिनधोऽवस्यानुकारः''—- इत्युक्तलच्च्यानवस्था-नुकारान्। रसान् प्रदुष्तारादीन्। रुतस्वतुष्ठयमेव खलु विधया गान्धर्वस्य।

⁽८) उपसंहरति किंब इस्तियति। खमुं व्यव हारं।

⁽५) राजधर्मप्रसङ्गेन,—इतिच्छेदः। रतच 'स्चितवान्' इति पूर्वेका-न्वितं।सूचनप्रकारमेवाच चितिमित्यादिमा।

⁽६) इरानीमाचारकाग्छ-प्रायस्थितकाग्छयाः पौर्व्यापर्यमुपवादियतुमास्य साम्बादिति।

श्राचारखान्यथाले तु प्रायिश्वत्त-गवेषणम् ।
दशकारे चयोऽध्यायाः प्रायिश्वत्ते नवेादिताः ।
श्राचारतखतुर्वर्ण-धर्मी साधारणापरौ(१) ।
श्रिष्ठाचारान्दिने तत्र धर्मी साधारणो मतौ ।
सदकर्म-चितिरचाद्याः वर्णासाधारणाः स्वताः(१) ।
श्राचारे प्रथमाध्याये एतेऽधाः परिकीर्त्तिताः ।
स्वतादिर्जीवने।पायोदितीयेऽध्यायद्देरीतः ।
सतुरात्रमधर्मास्य स्विताः श्राश्रमे।कितः ।
सतुरात्रमधर्मास्य स्विताः श्राश्रमे।कितः ।
सत्राय-चयगाः श्रधाः प्रोक्ताः श्राचर-काण्ड-गाः ।
सुर्यं(४) प्रकीर्ण-पापस्य प्रायिश्वत्तं प्रपश्चितम् ।

अवतारखतुर्व्वर्णधर्मी साधारणे-तरी,—इति सु॰ पुक्तकपाठः।

[†] प्रिक्टाचारान्वितक्तच धन्मः साधारयः स्नृतः,—इति सु॰ पुक्तकापाठः।

¹ खादितः,—इति सु॰ पुक्तकपाठः।

त यतेर्थाः प्रकीित्ताः, — इति सु॰ पुस्तकपाठः ।

⁽१) साधारणस्य स्वपरस्य (स्वसाधारणस्य), साधारणापरौ । तथाम, धाचारकाण्डे चतुर्धां वर्षानां साधारणाऽसाधारणस्वेति दिविध एव धर्मा उक्त इत्यर्थः ।

⁽२) वर्णानामसाधारणा वर्णासाधारणाः। तत्र, षट्कर्माणा (सन्धास्ता-नादीनि) त्रास्त्रणस्यासाधारणोधर्माः, स्त्रितिरस्ता स्वित्रयस्य। यवं वैद्यमुद्यारिप स्रेयं।

⁽२) आश्रीचं—इति षष्ठिष्वश्रम्दात् भावप्रत्ययानात् उभयपदयद्धासाध्। उत्तरपदमात्रद्धाः तु चश्रीचिमत्यपि। यवं रीत्या चाश्रीचं, चादि-पदयद्धाः चात्रचमित्यपि श्रेयं।

^{(8) &}quot;यदनुक्तं तत् प्रकीर्धम्"—इति स्नृत्युक्तज्ञासं पापं प्रकीर्धम्। तत्र स्रतिमातकारान्यतम्येन विशेषतेऽनुक्तिनिति वेश्यम्।

प्रसङ्गात् पुच-भेदादि प्रोक्तञ्च परिवेदनम्(१) ।
प्रक्रीर्ण-ग्रेषः, संस्कारः श्राहिताग्रेश्च पश्चमे ।
(१) मसाव हे च सङ्गीर्णे तथा चैवेगपपातके ।
प्रायश्चित्तं षष्ठजकं ग्रुद्धिश्चाचे रचेऽपिच ।
श्रायश्चित्तं गावधे चां सामान्येनाष्टमे स्वतम् ।
प्रायश्चित्तं गावधे चां सामान्येनाष्टमे स्वतम् ।
श्रायश्चित्तं गावधे चां सामान्येनाष्टमे स्वतम् ।
श्राम्या-गमने प्रायश्चित्तं दश्चमईरितम् ।
श्राम्या-गमने प्रायश्चित्तं दश्चमईरितम् ।
श्राम्या-भाजनादौ तदेकादश्चदीरितम् ।
दादशः परिश्वेषः स्वात् काण्डयोद्दमयोद्वयोः ।
स्वादन्येषामनुक्तानासुपस्चस्वण्मीस्वताम् ।
श्रनुपातकसुख्येषु प्रायश्चित्तं कचित् कचित् ।

^{*} सङ्गीर्यकरयो चेापपातके,—इति सु॰ पुस्तकपाठः।

[†] गोवधस्य, — इति सु॰ पुक्तकपाठः।

[‡] सचान्येषामिति सु॰ पुस्तकपाठः।

युक्तेषु,—इति स॰ सा॰ पुक्तकवाः पाठः।

⁽१) परिवेदनं त्वेछे खक्त विवाष्टे खक्तापिष्टाचे च क्रिक्स तदुभय-क्रयम्। तच "च्येष्ठे खिनिर्व्विष्ठे क्रयीयान् निर्व्विग्रम् परिवेत्ता भवति'न इत्यादि स्मृतिषूक्तम्।

⁽२) ''क्षिमिकी टवयो इत्यामद्यो नुगतभो जनम्। प्रतिधः कुसुमक्तियमधे र्थेष् मक्षाव इम्''— इत्युक्त जन्म पापं मद्याव इप्रव्दार्थः। सङ्गीषं सङ्गदी-कर्णम्। तदपि,—''खराश्वीष्ट्रवराष्ट्रा खामजाविक वधक्त घा। सङ्ग-रीकरणं श्वेयं भी नाष्ट्रिम द्विवंद्यं घ''— इत्युक्त जन्म खाम्। उपपातक प्रतिधादिप्रभूततमभेदं मन्वा द्यक्तम्।

नेक्नं, तथा रहस्रञ्च प्रायश्चित्तञ्च वर्णितम्। नापि पर्णादि कक्राणि ने।दितान्यत्र कानिचित्। नेाक्तः कर्मविपाकश्च तत् सर्वमुपलचितम् । द्रत्यं नवभिरधायैः प्रायस्वित्तं प्रपञ्चितम । किं प्रति प्रवत्तवात् प्रायिश्वतं प्रपश्चितम् । कलौ हि पापवाज्ञत्यं दृश्यते सार्य्यतेऽपि च। नराः प्रायोऽन्यसामर्थास्त्रेषामनुजिघृत्तया । समकाचयदाचारं प्रायश्चित्तं व्रतानि च । "तेषां निन्दा न कर्त्तेया युगरूपाचि ते दिजाः"। दखुक्रमादावन्ते च, प्रयुक्तेषाः क्रपानुता । वेदैकदेशाध्यमं कृष्या विप्रादि-जीवनम्। द्रत्यादिवचमाऽऽचारे मङ्कोचाभामते स्फ्टम् । प्राजापत्यं गा-वधे खात्, ब्रह्म-न्ने सेतु-दर्शनम्। इति मुख्यव्रतलेकोः सङ्कोचोऽचापि गम्यते । स्रत्यन्तरानुसारेण विषयस्य व्यवस्थितिः । कस्पनीयेतिरेद् ब्रुष्टि सार्वे द्यां सन्यसे कथम् १ (१) !

^{*} प्रायिक्तिभिवारभ्य छक्राणीव्यन्तं सुन्नितातिरिक्त पुक्तकेषु गान्ति।

[†] प्रायिष्ट्तत्रतानि च,—इति स॰ पुक्तकपाठः।

[‡] प्रायुङ्क्तेषा,—इति सु॰ पुस्तकेपाठः ।

प्रन्यसेथकम्,—इति मु॰ पुक्तकेपाठः ।

⁽१) गोवधे प्राजापत्यं ब्रह्मवधे सेतुदर्शनस्य न मुक्यव्रतं येन सङ्गीचःसिध्येत् किन्तु "यथा वया यथा कालं यथा प्रायास्त्र ब्राह्मग्री। प्रायस्त्रित्तं

यावत्यः सृतयस्तामां मर्व्वामामनुमारतः । मानन्याचेदसादादेस्तत्र ग्रिनिविद्यते (१) । स्वेन दृष्टास्तु यावत्यस्तामामित्यप्यपुक्तिमत् । काचित् नदाचिदन्यामां दर्भनादत्यवस्थिते: (१) । (१) श्रान्यिका मानुषी बुद्धिस्तावन्त्रयविष्ठिते * । श्रतप्य निबन्धेषु दृश्यते नेकवाक्यता । इन्तेवं खण्डने ग्रास्तं भवेद्दन्त-जलाञ्चलि ! ।

प्रवक्तव्यं ब्राह्मणेर्धमीपाठकेः। तस्मात् क्रप्रमथाप्यद्वं पादं वापि विश्वान्तः। व्यात्वा बलावलं कालं प्रायिश्चनं प्रकल्पवेत्"—इयोवमादि-स्मृयन्तरदर्भनात् गोवधादौ चैमासिकादिवतिधायकस्तृयन्तरदर्भनाच यथामधमण्रक्तादिविषयतया तद्यवस्थापनीयमिळा ग्रङ्कते स्रयः न्तरेति। प्रकारमुप इसित सार्वे च्यामिति। सार्वे चं विना स्रयः न्तरेति। प्रकारमुप इसित सार्वे च्यामिति। सार्वे चं विना स्रयः न्तराणां सामस्येन चातुमण्रकातात् सर्वे चस्रयः यन्तरानुसारेण विषय- यवस्थायाः कर्त्तुमण्रकातादियिभिष्रायः।

- (१) यावत्यः स्रातयः साकत्येन तासां सर्व्वासां दर्प्यनादिषयव्यवस्था, स्तेन यावत्या दरास्तासामनुसारादा । खाद्ये यावत्य इति । तत्र यावत्यः स्रातयस्तासां सर्व्वासां दर्पने, खस्मदादेः प्रतिनीस्तीत्यर्थः ।
- (२) दितीये लाइ खेनेति। न युक्तिमत् अयुक्तिमत्। तत्र हेतुः क्वचि-दिति। क्वचित् देशे कदाचित् काले अन्यासां पूर्व्वदछाधिकानां स्मृतीनामित्यर्थः। तथा च पूर्व्वं कियतीः स्मृतीर्दद्वा या विषयश्यवस्था कल्पिता, उत्तरकालमन्यासां स्मृतीनां दर्शने तस्या विपर्ययः स्यात्।
- (३) मनुष्याणामल्पनुद्धिलाद्पि यथायथं विषयव्यवस्था प्रका नेत्प्रेद्धितुं -मित्याच्च चिल्पकेति ।

^{*} किल्पिका मानुषीबुद्धिः साचन व्यवतिस्रते,— इपि मु॰ पुक्तके पाठः।

न खण्डये—वारयेतु पण्डितमान्यतां तव^(१)।

ग्रहणु निर्णयमच लं खतः प्रामाण्य-वादिनः।

प्रतीतेऽर्थेऽिखलं ग्रास्तं प्रमाणं बाधया विना^(१)।

न पराग्रर-वाक्यस्य बाधः स्मृत्यन्तरे क्वचित्।

प्रतान्तरे।पदेग्रञ्च न बाधोऽस्थानिवारणात्^(१)।

प्रियङ्गु-के।द्रव-ब्रीस्-गोधूमादीन्यनेकग्रः।

प्राधनानि ययैकस्थास्तृत्रेर्दृष्टान्यबाधया।

(४)यथा च स्वर्ग एकस्मिन् विश्वजिष्वाग्निसे।

श्रिग्रियोमस्य दर्भाद्या हेतवे।बस्तः श्रुताः*।

यथा वा ब्रह्मले।कस्य द्र्याद्या हेतवे।बस्तः प्राप्ति-हेतवः।

खपास्तये। विकल्यन्ते ग्राण्डिस्थ-दर्शादयः(५)।

^{*} स्रुताः, - इति स॰ से। प्रस्तकयाः पाठः।

⁽१) पूर्वपची प्रङ्कते हन्तेति। दत्तजलाञ्जलीति विषयव्यवस्थाया स्वभावे परस्परविरोधेन सर्वेषामेव प्रास्त्राणामप्रामाण्यापत्तेरिति भावः। सिद्धान्ती समाधत्ते न खण्डये इति।

⁽२) प्रामाण्यस्य स्वतन्त्वात् ,त्रासिवाधके प्रतीतेऽर्धे प्रामाण्यं निरावाधं कारणान्तरापेचाविरद्वादित्यर्थः।

⁽३) स्मृत्यन्तरेषु व्रतान्तरे।पदेशात्र पराश्ररोत्तवतस्य बाधः, व्रतान्तरे।पदे-श्रस्य व्रतान्तरवाधकत्वासम्भवात्। स्मृत्यन्तरेव्वपि पराश्ररोत्तवतादे-र्निवारणाभावाच।

⁽४) प्रिय गुप्रभ्रतीनां त्रितियोषेषु हेतुत्वात् कथं तत्र विकल्प इत्याप्रङ्माह्य यथा चेति।

⁽५) दृष्टान्तान्तरमा इयथा वेति। शाखिल्योपास्तिः, ''सर्व्वं खिल्वदं ब्रह्म' — हृत्युपक्रम्य, "सक्रतुं कुर्व्वोत मने। मयः प्राणग्रहीरे भारूपः''—

तथैवैकस्य पापस्य निष्टन्ती बस्वः स्रातः।

प्रतभेदा विकल्पानां श्रद्धाजाद्यन्तु ते दृथा*(१)।

ननु क पञ्चगव्यादिः कुच वा मरणान्तिकम्!।

तथेः सम-विकल्पानं वदतस्तेऽति साहमम्! (१)।

क विश्वजित् काग्निहाचं स्वगं साधयते।स्वयोः —

विकल्पं वदतस्ते वा कुतानैवाति साहसम् (२)।

कम्मांधिकात् फलाधिकामिति न्याय-समाश्रयात्।

साहसं परिहर्त्तव्यमित्येतद्भयोः समम्(४)।

* व्रतभेदा विकल्पन्तां श्रद्धातः सन्तु ते तथा,—इति से। स॰ पुस्तकये। पाठः।

ह्यादिना क्वान्दोणादौ विचिता। इयमेव शाखिल्य विद्येषाखायते। दचरोपास्तिस्तु,—''खण यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दचरं पुराहरीकं वेग्ना'—इयादिना क्वान्दोग्यरवाभिक्तिता दच्चरविद्या चाख्यायते। खादिशब्दात् वैश्वानरविद्यादयः।

- (१) तथा च गोवधादौ पराधरे तां प्राजापत्यादिनं स्रुत्यन्तरे तां प्राय-स्थितान्तरश्च दयमपि मुख्यमेव इत्यनये व्यिक्त स्परवेत्ययं सिद्धान्त-निष्कर्षः।
- (२) पूर्वेपची प्रद्वाते निविति । स्रयमर्थः । क्वचिदेनेन सुनिना प्रद्वायादि लघुप्रायिखत्तसुर्ताः, तत्रेव पापे स्रपरेण सुनिना प्राणान्तिकसुर्ताः । तदनयार्गुरुलघुप्रायिखत्तयाः समविकल्पत्वमसम्भवदुक्तिकमितिभावः ।
- (३) सिद्धान्तीसमाधत्ते क्वविश्वजिदिति । तथाच विश्वजिदिशक्तिचयारिष लघुगुरुकम्भागोः खर्गसाधकयार्व्विकल्पो न स्थात् । स च लयापीध्यते इति भावः ।
- (८) पूर्वेपच्छ। विश्वजिदादौ विकल्पमुपपादयितुमाच कर्मेगधिक्यादिति । खयमभिसन्धिः । बघुगुरुप्रयत्नसाध्यानां विकल्पस्यते गुरूपायस्थाननु-

न्यायात्रये तसादुक्त-व्यवस्था दिव्यते कुतः ?।
इति चेदव्यवस्थाका त्याऽतादेषि ते वचः (१)।
देश-भेदात् काल-भेदात् पुं-भेदादन्यथाऽन्यथा।
पर्य्यवस्थिति शास्त्रार्थं इति पूर्व्वमवादिषम्।
श्रतीनास्थार्थवादांशं विधि-वाक्येषु यद्यथा।
प्रतीतं तत्त्रथाग्रास्यं बाधं वाचिनकं विना।
स्मृति-व्याख्यादृभिः सर्वेर्व्वचनानां व्यवस्थितिम्।

हानसच्यामप्रामाण्यमापद्येत। कः खल्ननुन्मत्तो सघूपायसाध्यं परस्थित्यपाद्यिषु गुंक्पायमवसन्ते। तस्मात् सत्यपि समपस्ते गुरूपायमवसन्ते। तस्मात् सत्यपि समपस्ते गुरूपायमवसन्ते। तावतेव द्योः सान्याद्विकल्पोपपत्तेः। इतर्या त्वेकस्येव नियमताऽनृष्ठानं स्यात्। प्रसाधिक्यकल्पने तु नैवं एकच क्षेत्राधिक्यवत् प्रसस्याप्याधिक्यात्। खन्यच क्षेत्रन्यूनत्वेऽप्यवान्तरप्रसाधिक्याभावात्। खतर्यवाक्तं। "यच स्यात् हाक्कभूष्टक्वं श्रेय-साऽपि मणीिष्यः। भूयक्वं ब्रुवते तच हाक्कात् श्रेया ह्यवाप्यते"—इति। तथा, प्रधानपत्रस्य सर्गमाचस्याभयचाविश्रेषेऽपि उक्तरीत्या गुरुपयत्नसाध्योपायस्य प्रसाधिक्यच्चेतृत्वकल्पनया विश्वजिद्धिक्चिचया-र्विकल्पो नानुपपद्म इति पूर्वपच्चितुरिभप्रायः। खपच्चेपि तदविधि-रहिन्याच्यास्य सिद्धान्ती इत्येतदिति।

(१) नन् यदि न्यायात्र्रयणं तवाष्यभिष्रेतं तिर्धं स्पृत्यन्तरानुसारेण विषय-व्यवस्थेवास्तदुक्ता किमिति नाष्ट्रीक्रियते इत्याप्रयेन पूर्व्यपत्ती प्रश्नते न्यायेति। सिद्धान्ती समाधत्ती इति चेदिति। त्वयेति च्छेदः।

^{*} त्यसद्वाया व्यवस्था,—इति सु॰ पुक्तने पाठः ।

[†] हेियतं वचः,—इति सु॰ पुस्तको पाठः।

[‡] विपर्याद्यति --- इति से। स॰ पुक्तकयाः पाठः।

[.] 🦠 खतायेऽस्थार्थं वादांग्राः,—इति सा॰ स॰ पुन्तकयाः पाठः ।

मुवाणिर्मन्दमतयो युत्पाद्यन्ते हि केदलम् । प्रान्यथाऽन्यस्य पापस्य कृते दादम-वार्षिके । नस्यात्रिष्टित्तस्वत्-प्रोक्ता व्यवस्था तादृशी यतः (१) । प्रथाऽन्यं महता नश्चेत्राच्येनान्यत्, तदा वद । ददमक्यं महचेदिमिति ते किं नियायकम् । प्रानायास-महायासी यद्यन्यत्व-महत्त्वयोः — *हेतुर्महावतास्ति भवेयुः कषकादयः ! (१) । सिंह-व्याघादि-मूचादी प्रयास-बद्धलताः । पञ्च-गव्यात् प्रश्नस्त्वं व्रताङ्गलञ्च ते भवेत् ! । दति कर्त्तव्य-बाङ्ख्यं महलञ्चेत्, तदाऽस्यता ।
‡जलाग्यादि-प्रवेशस्य प्रसच्येत व्रतान्तरात् (४) ।

^{*} हेतू महावता,—इति सु॰ पुक्तने पाठः।
† प्रयासे बद्धनः श्रुतः,—इति सु॰ पुक्तने पाठः।

[†] तर्ह्यासा बद्धका श्रुतः,— शत सुण पुरत्तका पाठः । † तर्ह्यासादि,— इति मुण्युक्तको पाठः ।

^{1 1 () 4 () 4 () 1 () 1}

⁽१) ननु यदि स्मृत्यन्तरानुसारेण स्मृत्यन्तरवचनानां विषयव्यवस्था न प्रा-माणिकी, तर्ष्ट् कथं सर्वेरेव प्राचीननिवद्धभिक्तयाविधा व्यवस्था-छतेत्वाशङ्घ तेषामाश्रयं प्रकाशयित स्मृतीति। तथा चापातता विरुद्ध-यचनदर्शनात् मन्दबुद्धये। मामुद्धोरन् इति तत्प्रबाधाय तैम्तादशी व्यवस्था छता, येन केनचिदनुष्ठितेनैव पालनिष्यत्तिसम्भवेन वक्तुद्धातेर-भावादिति भावः।

⁽२) द्वादम वार्षिके क्रते चल्पस्य पापस्य निर्वत्तिर्ने स्थात्। मद्वापापनाम्म एव तज्जेतृताया व्यवस्थितलादित्यर्थः।

⁽३) तेषामायासाधिकादिति भावः।

⁽⁸⁾ व्यान्यादिप्रवेशस्य व्रतान्तराद्व्यता प्रसव्यते व्रतान्तरापेद्यया तचेतिः कत्तेव्यताया च्यव्यत्वादिति भावः।

तस्राच्छा क्लेण यस्थाका प्रशंसा, तन्महावतम् (१)।
(१) श्रस्त वा बैध-दुःखस्य वद्धस्तान्महावतम्।
(१) यस्याऽस्य-नाभामहता महन्नाभस्तयाऽस्यतः—
किं न स्थात्? विस्कृतिङ्गेन दृष्ण-राभिर्षः दृद्धते ।
(४) विस्कृतिङ्गे वर्द्धमाना दृह्यवे न तु प्रतम्—
वर्द्धते, ऽत्रोमहन्नाभा निःभेशा न भवेद् यदि।
तर्द्धकदेश-नाभाऽस्त तच्हेषस्त्रपभुज्यताम्।
श्रमूर्नस्यापि पापस्य सन्ति भागा यथाचितम् ।।
श्रमूर्नस्यापि पापस्य सन्ति भागा यथाचितम् ।।

- * बजवत्त्वात्—इति पाठान्तरम्।
- † ह्याराधिर्विदस्त्रते,— इति सु॰ पुक्तके पाठः।
- ‡ यथोदितम्,—इति स॰ सेा॰ पुस्तकयोः पाठः।
- (१) उपसंहरति तसादिति । तथाच पद्मग्रव्यादेरिप गुरुपापनाप्रकतया विधानमुखेन प्रश्नंसायाः भ्रास्त्रेगोक्तत्वात् तदिप मञ्चावतमेवेति तात्पर्यम् ।
- (२) वैधक्षेत्राधिकां महाव्रतत्वेहेतुरते। न क्षयकादिव्यतिप्रसङ्ग इत्येतदभ्यु-पगच्छति चक्तवेति।
- (३) खभ्यपेत्यापि विषयव्यवस्यां दूषयति यथेति । तथापीत्यादिः । विस्तु-सिङ्गोऽपिक्याः । तथाच निर्व्वासनैषा विषयव्यवस्थेति भावः ।
- (१) पूर्वपची प्रञ्जाते विस्कृषिण इति । विस्कृषिण स्कृणाराणि न दस्ति किन्तु सरव वर्डमाने महानिप्रभूता दहति, न वर्ते तु नैवं वर्डते, तस्तात् नाष्पेन वर्तेन महापापस्य नाम्म इत्यर्थः । सिद्धान्ती दूषयित खत इति । चास्तात् कार्यात् चाष्पेन वर्तेन महतः पापस्य निःश्रेष्ठ नाम्मा मास्तु रकदेशनाम्म स्यादित्यर्थः । •
- (॥) तज्जैकस्य पापस्य तेन तेनांचीन तत्तत् दुखं जन्यते इत्यभिमानः।

तथा महाव्रतस्थापि भागेनास्प-विनायने ।

व्रत-ग्रेष-विपाकेन सार्य्यते बद्धलं सुखम् ।

(१) त्राताऽल्पं वा महदापि व्रतं पाप-निवर्त्तकम् ।

सर्ज्वाणं पण्डितानां च वाक्यमेवं सभद्धसम् ।

(१) न महाव्रत-वेयर्थं पापस्थाग्रेषनायाने ।

श्रव्प-नाग्रोर्द्धवभाविन्यां सुखाप्तो ‡ चापयोगतः ।

एवच्चैकस्य पापस्य व्रतेष्ठ्रक्षेत्रस्ययं पुमान् ।

प्रवर्त्ततेऽतिविश्रकां यसान् कस्मिस्विदिष्क्रया (१) ।

श्रन्यथा नास्य विश्रको ॥विषयस्य यवस्थितिम्
श्रजानता जानताऽपि वचनान्तर-प्रद्वया ।

सक्मावितेषु सर्वेषु विष्ठेषे महित व्रते ।

- वा। पातकादिषु सर्वेषु पापकेष प्रयत्नतः"— इत्यादि विश्वामित्रादि विश्वामित्रादि विश्वामित्रादि
- (२) चाल्पवतेन मद्यापापनाग्रे मद्यावतं वार्षं स्थादित्याशङ्ग्वनिराकरोति नेति। (३) रवस्र सर्ववतानां सर्व्यपापनाशकत्वे च। प्रवत्त्यतीति पाठे खार्षे शिच्।
- (३) रिवंशस्ववताना सव्वपापनाभ्रमत्व च। प्रवत्तयतात पाठ खाद्य शास्त्र (३) निर्धारणे सप्तमीयम् ।

^{*} चताल्यत्वमद्दलेपि वर्तं पापातिसर्ज्ञनम्, - इति स॰ से। पुत्त-कयाः पाठः।

[†] सन्तिगामखिलानाञ्च,—इति मु॰ पुक्तको पाठः।

[‡] पापनाचार्ज्ञभाविन्यां सुखादौ, इति स॰ से। पुस्तक्याः पाठः।

[🖇] प्रवर्त्तयति विश्रम्भात्, — इति स॰ से।॰ पुस्तकयाः पाठः।

^{||} विषयस्याव्यवस्थितेः, इति स॰ से।॰ पुक्तकयेाः पाठः।
¶ प्रकोष्ठ, इति सु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) द्यव्यं महदा भवतु सर्वमेव व्रतं सक्वपापनाग्रकं इत्येतत् समर्चू-ग्राम्धीगां वाक्यं। तथाचाच ''क्रक्क् चान्द्रायगादीनि शुद्धाभ्यदय-कारगां' इत्याद्यभिधाय, ''रते व्यक्ताः समक्ता वा प्रत्येकमेकग्रे।ऽपि

प्रवर्त्तमानः पृरुषः श्रेयः प्राप्तात्यसंग्रयम् ।
कलीं पराग्ररोक्तानां व्रतानामेव सुख्यता ।
तैरस्पैरिप तत्पापं निःग्रेषं वि-निवर्त्तते ।
एतदेव विविज्ञला प्रतियन्ने (१)विग्रेषतः ।
पराग्ररेण यत् प्रोक्तं प्रायिश्वत्तमितीदृग्यम् ।
सुन्यन्तर-प्रणीतानां खल्पानां मस्तामि ।
व्रतानासुपयोगः स्थात् कस्त्री, (१)पूर्व्वोक्तनीतितः ।
सुनिनेकेन यत् प्रोक्तं तदन्योन निषेधति ।
प्रत्युतादास्ररेत् तस्मात् पूर्व्वोक्तं मर्व्वसम्मतम् ।
(१)स्नेवं सित, मीमांसा निष्पाता ते प्रसन्यते ।
ग्रास्तान्तर-प्रणीतानां गुणानामप्यस्त्वतेः ।
ग्रहणु मीमांसकर्मन्य! सुनि-वाक्येषु किं बलात् ।
स्त्याद्यातिविरेष्धन्तु पाण्डित्यं व्यञ्यतां तव ! ।

^{*} तैरन्थेरिप,—इति स॰ से । पुस्तकयाः पाठः । † पूर्व्वोत्तरीतितः,—इति स॰ पुस्तके पाठः ।

[‡] उतपादापि विरोधन्ते पाखिद्धयं व्यज्यतां त्वया,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) प्रतिज्ञ प्रतिज्ञातवान्।

⁽२) पूर्वीक्तनीतितः पूर्वीक्तन्यायात् । मद्दाव्यतानुष्ठाने सुखादिश्रेयःप्राप्ति-रिति पूर्वीक्तो न्यायः । समुचयेने।भयानुष्ठाने अर्थता व्रतस्य मद्दला दिति भावः। अथवा स्वद्येकस्य पापस्येत्यादिपूर्वीक्तन्यायाऽच द्रस्यः ।

⁽३) पूर्वपची ग्रञ्जते इन्तेति । र्यं सित पेन केनचित् वतेन यस्य कस्य-चित् पापस्य च्रयेसित । मीमांसा निष्क्षलेत्यत्र च्हेतुरूत्तराद्धं । पूर्वेत्ति-रमीमांसयार्गुगोपसंदारस्य सिद्धान्तितलात् स्रत्रच तद्यवस्थापनात् मीमांसा व्यर्थेतिभावः ।

(१) व्रतान्तरे। तिभावेण * न विशेष: प्रसच्यते ।
ससुचये विकन्पे वा का द्दानिस्त्रच ते भवेत् ।
स्वानं दानं जपे। द्देशम दति नैभित्तिका यथा ।
खपरागे मसुचया स्तथा व्रत-ससुचयः (१) ।
(१) एकेन नाभिते पापे दितीयं चेत् निरर्थकम् ।
न, तपे। रूपतस्तस्य म् स्वर्ग-देतुल-सभावात् ।
(१) चान्द्रायणादावस्ते वं १ तपस्त्ते न तदीरणात् ।
भिवा-ब्रह्मकपालादी स्थात् कथं नष्टपामनः ।
(१ एवं तद्दीदृशे स्थाने विकन्पोऽस्तु निजेच्छ्या ।

- (१) मुन्यन्तरवाको व्रतान्तराभिधानादेव विरोध हत्याश्रङ्घात्त, व्रतेति ।
 - २) संसुचये द्रष्टान्तमाच सानेत्यादिना । उपरागे। प्रचणम्।
 - (३) पूर्वपची समुचयपचामाचिपति एकेनेति । व्रतेनेति प्रोषः । सिद्धान्ती समाधत्ते नेति । तस्य वृतस्य । स्पष्ट मन्यत् । न तयारुभयान्तस्येति पाठे, उभयार्वतयार्मध्ये तस्य दितीयवृतस्य खर्गहेतुत्वसम्भवात् न निर्धायत्वं तस्येत्वर्थः ।
- (४) पूर्विपचीशङ्कते चान्त्रायणादाविति। चान्त्रायणादौ तपम्बस्य समरणात् चन्त्रवेशकावीश्यादि प्रवश्यवणात् च तादृशस्थवे दितीयस्य स्वर्गहेतुल मस्त, भिचादौ तपस्वानभिधानात् प्रविश्वेषश्यवणात् च अथं तस्य स्वर्गहेतुचकः स्वर्गमिति पूर्वेपचार्यः।
- (५) सिद्धान्ती समाधत्ते एवं तहींति। तथाच यत्र स्वर्गादि हेतुलं शास्ता-दवगम्यते, तत्र नानासुन्यृक्षवतानां ससुचयः एकेन पापनाशेऽप्यपरेषां स्वर्गहेतुलसम्भवात्। यत्र तु स्वर्गसाधनत्वं शास्त्राद्वावगम्यते तत्र

^{*} व्रतान्तरोत्ति मात्रीप,—इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।
† सानभिषारभ्य समुचय इत्यन्तं स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

1 न तयारभयोक्तस्य,—इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

[🖇] सृद्धतिस्त्रेव तदी च्लात्, — इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः।

न्यूनाधिकल-मन्देष्ठे दत्तमेवोत्तरं पुरा ।

(१) सर्व्वधाऽपि लया प्रोक्तां निर्मू जां बुद्धि-कित्पताम् ।
कामाकामादि-भेदेन नाङ्गीकुर्यो व्यवस्थितिम् ।
वचनेस्वेत कामादि-व्यवस्था, सभ्यते यदि ।
सुखेनाभ्युपंगच्छामा वाक्येक-प्ररणावयम् ।

(१) "कपिला यदि सर्व्वद्याः कणादोनित का प्रमा" ।
दित न्यायः प्रसञ्चेत बुद्धिमाच-व्यवस्थितौ ।
मीमांसकलमेतत् स्थादाक्यानुसर्थेन यत्—

(१) व्यवस्थापनमन्यन्तु पाण्डित्य-स्थापनं परम् ।

"दयं विग्रद्धिहिदिता(१) प्रमाणाकामतोदिष्मम्" ।

नानावतानामिन्छाविकल्परवेति सिद्धान्त निम्कर्षः। ननु न्यूनाधि-कानां वतानां कथिमच्छाविकल्पः "तुल्यनकविरोधे विकल्पः"—इति गौतमविरोधादित्याशङ्कान्द्र न्यूनाधिकत्वेति। दत्तमुत्तरमिति 'तस्मात् शास्त्रेय यस्मेक्षा प्रसंशा तन्मद्यावतम्'—इत्यादि ग्रस्मेनेत्यर्थः।

- (१) उपसंघरति सर्व्वथापीति । निर्मुललेक्तुः बुद्धिकस्थितामिति ।
- (२) बृद्धिमात्र व्यवस्थाय सिकेन कि चित् (वेषय व्यवस्था बुद्धा कि स्थिता तद की च ति दिपरीता, तत्र कस्था व्यवस्थायाः प्रामाण्ये स्थात्, द्वयाः प्रामाण्ये च संवाव्यवस्था, तस्मात् बृद्धिमात्राद्धावस्था न यक्का प्रविव ब्रेट्धित का विवाध येन ब्राह्मतत्त्विवेके न्याया चार्योक्कां न्याय सुदा हरित कि पिल इति। ''उभा च यदि सर्व्यचौ व्याख्याभेदस्तु कि क्काः"— इत्यत्तराद्धें। परन्तु सुदितातमिविवेक ग्रञ्चे कि पिल पदस्थाने जिमिनिपदं, सर्व्यच परस्थाने वेद च पर्द, क्याद पदस्थाने कि पिल पदस्थ द प्रयते।
- (३) व्यवस्थापनमितिच्छेदः। वाक्यानुसारे ग्रा यत् व्यवस्थापनं तदेव मीमां-सकत्वमित्यर्थः।
- (४) प्रमाप्य मार्यिला।

^{*} तथा, -- इति सु॰ पुस्तके पाठः।

दत्यकाम-कृते पापे नाभा निःभेष उच्यते।
न त काम-कृते ग्रुद्धेरिकि चित्करते। च्यते (१)।
स्नृत्यन्तरेषु तच्कुद्धेः (१) सामान्येनाभिधानतः।
विभेषादर्भनं यावत् तावत् सामान्य-दर्भनम्।
(१)मानसेवान्यया ते स्थात् सर्वज्ञलेऽधिकारिता।
ग्रुणेपसंद्वतिस्वैवं यथादर्भनमिष्यताम् (१)।
त्रदृष्टानुपसंदारेणाकि चित्करतेव ते ।
यथा च दृश्यते वाक्यं भक्ति-स्वैवास्य यावती ।
तावत् कार्यं नद्वपेचा युक्ता वेगुण्य-भद्भया।
प्रायस्वित्ते तथाऽऽचारे यानि स्नृत्यन्तराण्डस्—
दृष्टवांस्तान्यदाद्ध्य संद्वित्ये गुणांस्ततः।
पिषयस्य व्यवस्यां च मन्द-व्यत्पत्ति-सिद्धये—

^{*} गुगोपसं इति सेव, - इति स॰ सेव पुस्तकयेः पाठः।

[†] चादछानुपसंद्वारे न किचित् करतावते, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[!] यत् यावत् दृश्यते वाक्यं प्रक्तिस्वाचास्य यावती,—इति स॰ सा॰ पुन्तकयोः पाठः।

⁽१) तथा चाकामक्रतपापं निःश्रेषाद्मश्यति, कामक्रतन्तु निःश्रेषं न नश्यति चंश्रतम्तु नश्यत्वेन, इत्येव इयं विश्वद्धिरित्यादेक्तात्पर्यं न तु काम क्रतपापस्य तदिशुद्धा सर्व्ययेवानाश्च इति ।

⁽२) अस्त्र द्वादशवार्षिनं कुर्यादियेवं सामान्यरूपेगोत्यर्थः ।

⁽३) मानमेव,—इतिच्छेदः। खन्यथा सर्व्वेविश्रेषदर्शनेन सामान्यस्य प्रामा-ण्यमित्रभ्युपग्रमे।

⁽⁸⁾ यथा दश्यते तथा गुगानुससंख्यानुष्ठानं कर्त्त्यं। खद्यश्यकागुगानामनुपसंदारे तु न देखः। गुगोऽङ्गम्। गुगोपसंद्यारख पूर्वभीमांसायां
दितीय-चतुर्थ-दितीये, शारीरके हतीय-हतीय-दितीये चाधिकर्यो
विचारितकाचैव सहवाः।

प्रवच्छामि, यथा पूर्वे निबन्धन-क्रतस्तथा । (१)यत् यस्मिन् विषये प्रोक्तं तच तस्य प्रश्चस्तता— विवचिता, नेतरस्य निषधोऽच विवच्छाते । (१)तिद्ववेताय कुर्वेऽचं व्याख्यां पाराश्चर-स्मृते: । (टीकाकारोपक्रमणिका समाप्ता)

(१)प्रारिप्तित-प्रतिपत्तये श्रोतुर्बुद्धि-ममाधानाय (४) संबन्धाधि-कारि-विषय-प्रयोजनक्ष्पमनुबन्ध-चतुष्ट्यमादौ श्लोक-द्वयेने।पनिब-भ्राति,—

! श्रयाते। हिम-शैलाग्रे देवदारु-वनालये। व्यासमेकाग्रमासीनमप्टच्छन्नृषयः पुरा॥१॥ मानुषाणां हिनं धर्मा वर्त्तमाने कली। युगे। शीचाचारं यथावच वद सत्यवती-सुत!॥२॥

‡ सदाभिव-स्रतं वन्दे विदारित-विपद्भयम्। सुदे जगन्नयाभाद-कारणं वार्णाननम्।

इत्यर्थं स्नोकः खयात इत्यादिस्नोकात् पूर्वं से। मू॰ पुस्तके वर्त्तते ।

निबन्धनञ्चत स्ततः, — इति सु॰ पुस्तके पाठः ।

[ं] प्रारिश्वितस्त्रे श्रीह बुद्धिमनः समाधानाय, - इति सु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) खसिद्धान्तमुपसंचरति यदिति।

⁽२) तद्दिवसाय कुत्र कस्य प्रशक्तत्विमित्येतद्दिवेकाय।

⁽३) उपाद्वाताग्रतं विचारं समाप्य ग्रत्थं व्याचिव्यास्रभूमिकामारचयित प्रारिश्विति।

⁽⁸⁾ खनुवध्यते इति खुत्पत्था खनुबन्धपदं सम्बन्धादिचतुष्कपरं। प्रयोजनः मन्तरेय न बाकः प्रवर्त्तते, एव विषये। पि प्रवन्ती प्रयोजकः। तदु-भयाखितः सम्बन्धः। एवमधिकार्यभावे कस्य प्रवन्तिः स्थात्। खत-ज्ञचतुष्कं प्रास्त्रादी वक्तयं। एतच मीमांसा-प्रधम-प्रधम-प्रथमसूच-वार्तिके स्पष्टं।

दति। श्रथकद श्रानन्तर्यार्थः, श्रनन्तरमप्टक् न्—द्रह्मचेतुं योग्यलात्। (१) श्रारकार्यतायाम्, श्रामध्यते श्रप्टक् न्—द्रह्मनन्ययः स्थात्।
प्रश्नार्थनेऽपि सएव देषः। प्रकारते श्रप्टक् न्—द्रित पुनक्तिस् ।
कात्र्वंगर्थतायां, कृत्समप्टक् न्—दित सह्ययन्यये, संबन्धान स्वितः
स्थात्। श्रानन्तर्य्थर्थतायान्तु, तत् प्रतियोगिनः पूर्व-वन्तस् उत्तर्रकालीन-प्रश्नस्य च हेतु-हेतुमङ्कावः स्वितिभवति (१)।

नन, "इदयसाग्रेऽनद्यत्य जिज्ञाया श्रय वत्तमः"-इत्यत्र सत्य-पानन्तर्थे हेतु-हेतुमङ्गावानास्ति-इति चेन्। नायं देशः, तचापेचि-तस्तानुष्ठान-क्रक्ष-मात्रस्थाभिधानात्^(१)। प्रकृते तु, ^(४)सामग्री-तत्-कार्ययोर्थः क्रम-विश्रेषः, सएव परिग्रह्मते, सुख्यतात्। विसम्ब-यभिचारयोरभावेन दि* सुख्यत्वम्। न खलु सत्यां सामग्र्यामस्था-श्रिभिनिर्वर्त्ते कार्ये विसम्बते स्वभिचरति वा। एतच्न,—"श्रयाते।

^{*} चि,—इति मु॰ पुक्तको नान्ति । † खस्या खांभिनिर्व्वर्ष्यं,—इति मु॰ पुक्तको नान्ति ।

⁽१) "मजुलानन्तरारसमप्रजनत्र्सिंखधा खण" — इति केषोक्तेखण्यस्य-र्थेषु खारस्भाद्यर्थानामसम्भवं प्रकृते प्रतिपादयति खारस्भार्थताया-मित्रपदिना।

⁽२) खानन्तयों चि पूर्वापररूपप्रतिवागिदयनिरूपं। तसेच पूर्वस्य हेतुत्वं उत्तरस्य च हेतुमत्त्वं गम्यते, हेताः पूर्ववर्त्तित्वनियमादित्यभि-प्रायः।

⁽१) पद्यारवदानत्रयं विचितं रतच युगपत् कर्तुमप्रकामिति क्रमोऽवश्यम-पेचितः। तदपेचितक्रममात्रं 'इदयख' हत्यादिक्याः सुखोच्यते।

⁽०) कामग्री मारवक्यायः।

ब्रह्म-जिज्ञासा" (गा०२,२,२ स०) द्रत्यच विवरण-कारेण प्रप-चितम् । सामगी च प्रश्नस्य, प्रष्टय-विषयं सामान्यज्ञानम् (१) । श्रत्यन्तमज्ञाते विशेषेण ज्ञाते वा प्रश्नादर्शनात् । धर्म-विषयन्तु सामान्यज्ञानं—"धर्मेण पापमपनुदति" "धर्मे चरेत्" — इत्यादि — वेद-वाक्याध्ययनादुपञायते । (१)तसादध्ययनानन्तर्यमयश्रद्धार्थः । श्रयवा । 'वर्त्तमाने कत्नौ'—इति विशेषणात् पुगान्तर-धर्मश्चानान-स्वर्यमस्तु (१) ।

मनु, यन्यारको मङ्गकाचरणस्य त्रिष्टाचार-प्राप्ततात् माङ्गस्यम् १^{८)} स्थ-प्रन्देन कुतानाभिधीयते ?। ^{(१} स्टदङ्गादि-ध्वनिवदय-प्रन्द-स्रवण-माचेण माङ्गस्य सिद्धेरिति ब्रूमः । त्रतएवे।क्रम् ,—

"ॐकारसाय-मञ्दस दावेतौ ब्रह्मणासुखात्^ग।

[🕈] तिदिशेषेग,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] धम्मंचर,—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

[‡] विशेषग-प्रयोगात्,—इति से। स॰ पुस्तकयाः पाठा।

[§] मङ्गलम्,—इति खेा॰ स॰ पुक्तकयाः पाठः।

[॥] मान्नस्य,--इति से। सं. पुस्तकया नीस्ति ।

श अञ्चाकः पुरा,—इति ग्रञ्चासंग्रहे पाठः ।

⁽१) सावधारयोऽयं निर्देशः। तेन प्रख्यविषयसामान्यज्ञानं ति वश्वित्रो - वज्ञानाभावस्य प्रश्रहेतुरिति सभ्यते। एतसानुपदभेव स्पष्टम्।

⁽२) यसाहिदाध्ययनात् धर्माविषयं सामान्यज्ञानं ज्ञायते, तसाहिदाध्यय-नाननार्थमणप्रव्दार्थं इत्यर्थः।

⁽३) खर्ण्यन्दार्थः,---इत्यनुस्र्यमायीन संबन्धः।

⁽३) मनुनमेव मानुन्यं। खार्चे तद्भितः।

⁽१) कुतानाभिधीयते,—इत्यनेनानभिधानहेता, एक्टलासमेवाह स्टर्फ्या-दीति।

कण्डं भित्ता विनिर्धातौ तेन माङ्गलिकावुभा"। इति। एवन्तर्सि, ॐकारोऽच प्रयुच्चतामिति चेत्। न, तस्य सुति-विषयलान् । श्वतएवाचार्यैः प्रपञ्च-सारेऽभिद्यितम्।

"श्रस्थ^(१)तु वेदादिलात् धर्म-मनूनां^(१) प्रयुज्यते ह्यादौ"ं- इति । ततः स्वत्यादाव्यग्रन्द्णव महर्षिभः प्रयुज्यते । श्रधिकारि-पर्या-स्रोचनेनापि? ॐकारायग्रन्द्योरुक्-विषय-व्यवस्था सिध्यति। जैवर्णिक-माचाधिकारा हि श्रुतिः प्रसिद्धां^(६)। ॐकारस्र तथाविधः^(४), । 'साविचों प्रणवं यजुर्लस्त्रों ॥स्त्री-ग्रुद्रयोर्नेस्क्र न्ति"(६) इति श्रुतेः। श्रथ-

^{*} तस्मात्, — इति सु॰ पुस्तने पाठः ।

[†] श्रुतिमाचविषयत्वात्, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[्]रं अस्य तु वेदादिलं सर्वमनुष्यागामप्रयुज्यत्वात्,—इति से। स॰ पुराक्षयाः पाठः।

[🖇] ष्यधिकारिपर्याक्षे।चनया च,—इति सु॰ पुस्तके पाठः ।

[∥] स्त्रीत्र्यमाखां, - इति मु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) खस्य ॐकारस्य । तत्प्रस्तावे कथनात् ।

⁽२) ममुक्रमनाः। स च वैदिक रवार्थात्।

⁽२) चैविर्धिकं ब्राह्मणच्चियवैष्यास्त्रयावर्णाः । खार्धे ति द्वतः । प्रसिद्धेय-नेन तचकृत्वपेचा नास्तीति स्त्रचनात् न कृत्वक्षयनेन न्यूनतेतिवे।ध्यं ।

⁽१) तथाविधः चैवर्णिकमाचाधिकारः।

⁽४) सावित्री गायत्रो। प्रस्तवः ॐकारः। यजः गानपादविच्छेदरस्ति प्रस्ति प्रस्ति प्रस्ति प्रस्ति प्रमुख जैमिनिस्त्र । "भ्रेषे यजःग्रब्दः" (२, १, २० इति। ऋक् सामिभिन्ने मक्त्र जाते यजःग्रब्द इति तद्र्यः। क्ष्योः स्रोवीजं। खत्र यजुर्भस्यमधिकदेश्यार्थं उपलक्ष्यं वा, "ख्योग्रदेश नाधीयेताम्"—इति स्रवा वेदमात्राध्ययनस्व ख्योग्रद्र- योरनिधकारादितिमन्तदम्।

श्रन्दस्य पार्षेषग्रन्थानाञ्च सर्व-वर्ण-विषयलात् (१) सएव तेषु योग्यः ।

श्रतः ग्रब्दोहेलर्थः । यसादेक-ग्राखाध्यायिनानाग्रेष-धर्म-ज्ञानं, यसाच युगान्तर-धर्मावगत्या न कलि-धर्मावगितः, तसात्,— इति हेतुईष्ट्यः ।

त्रशेष-धर्म-मूलभ्रतानां विश्वतीर्णानन्त-वेद-वाकानां योगि-दृष्टींव ग्राह्मलात् तस्यास दृष्टेर्यागावस्थायां *(२) समावात् तदवस्था-योग्यं देश-विशेषं पद-द्रथेन निर्दिश्चति,—'हिम-शेलाये देवदाह-वनालये'—इति । तत्र, 'हिम-शेलाये'—दत्यनेन सर्व-प्राणि-दुर्ग-मलेन^(२) विविक्ततामार । तथाच, कैवन्धे।पनिषदि श्रूयते,—

"विवित्त-देशे च सुखासनस्यः"

इति । चुरेकायामपि श्रूयते,—

"नि:शब्दं देशमाखाय तत्रामनसुपात्रित:" ।

दित । 'देवदार-वनालये'—दत्यनेन मने। जुकूलतामाह । श्रतएव श्रेताश्वतराणां मन्त्रीपनिषदि श्रुतम्,—

* युक्तावस्थायां,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।
† तत्रासनमथास्थितः,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

⁽१) पौरुषेयग्रत्थानां सर्व्ववर्णविषयत्वञ्च, "चतुर्णामि वर्णानां यानि प्रो-त्तानि श्रेयसे। धर्म्मशास्त्राणि हाचेन्द्र! पृद्रण् तानि चपे।त्तम!" इत्यादि भविष्यपुराणवचनादिश्योमसमासतत्त्वादौ स्त्रतम्।

⁽२) ''यागिश्चत्तवित्तवाधः'' (१, २स्र) इति यागसूत्रम्। स्पास्टीऽत्त-रार्षः। तांत्पर्यार्थेस्वयता य्रश्यक्षतेव सूत्रविष्यते।

⁽१) विविद्यातां विजनतां।

"भमे ग्रुची गर्कर-विक्र-बालुका— विवर्क्ति वाऽष जलाश्रयादिभिः(१)। मने । जुकूले न च चतुः पीड़ने गुहा-निवाताश्रयणे, प्रयोजयेत्"।

इति । चतुःपीड्नेामश्रकापेते।देशः ।

मनु ''यनैकाग्रता तनाविशेषात्''(१)(शा०४,१,७स०) दत्यसिन्
श्रिकिरणे (शा०४,१,६ श्र०) योगाभ्यासस्य दिग्देश-काल-निय-मावारितः(१)। (४)वाडम्। श्रदृष्ट-हेतु-वैध-नियमाभावेऽपि१ दृष्ट-चिन्नैकाय्यस्य हेतुर्नियमान निवार्यते।

'एकायम्'—दत्यनेन पश्चविधास चित्त-भ्रमिषु (५) श्रतीन्त्रिय-वस्तु-दर्भन-योग्या चतुर्थी भ्रमिर्निर्दिश्यते । तथादि, पतश्चलि-प्रेमानां योग-सूत्राणां व्याख्याने ॥वैयासिक-भाष्ये भ्रमि-पञ्चकं

भ प्रार्कारा, इति मृ॰ पुम्तके पाठः।

[†] ग्रब्दजालाश्रयादितिः, — इति मृ॰ पुन्तको पाठः।

[‡] न ये जियेत् – इति स॰ से । पुस्तक्याः पाठः।

[§] खत्र, 'वध',— इति मु॰ पुस्तके नास्ति।

[∥] वैयासक, – इति मृ॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) प्रकंराः चुद्रपाषागाः। जलाश्रयवर्जनं प्रीतनिरुत्वर्थे।

⁽२) यनैव दिश्रि देशे काले वा मनस एकाग्रता भवति, तनैव उपासीत, इष्टाया एकाग्रतायाः सर्व्वनाविशेषात् इति सूनार्थः।

⁽३) तथाच कयं हिमग्रेलाये,—इत्यादिना ये।गोपयागिदेशविगेषनिर्देश इति खाखातिमिति पूर्वपत्तार्थः।

⁽१) पूर्व्वपच्चमभ्युपगम्य परिष्टरति वाज्भिति।

⁽५) चित्तन्यभूमयाऽवस्याविशेषाः

प्रदर्शितम् । "चित्रं मूढं विचित्रमेकागं निरुद्धमिति चित्त-स्वमयः" (यो ॰ १,१ भा ॰)—द्गति । (१)तच, प्रतिचणं कर्म्य वायुना नानावि-धेषु भेगय-वस्तुषु व्यग्तया प्रेर्यमाणं चित्तं चित्रम्(१) । निद्रा-तन्द्रादि-युक्तं मूढ़म्(१) । क्वाचित्क-समाधि-युक्तं(४) चित्रादिश्वष्टं विचित्रम् । (५)यम-नियमाद्यष्टाङ्गाभ्यास-पाटवादेकस्मिन् विषये स्ति-प्रवाहरूपेण प्रतिष्ठितमेकाग्रम् । (१)श्रव्यक्तिकं संस्कार-वेषं निरुद्धम् । तच, चित्रमूढयोर्यागानुपयोगः प्रसिद्धः(९) । (८)"विकि-

- (भ्) "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याद्वारधारणाध्यानसमाधयाऽखावद्वानि" (२, २६स्र) इति ये।गस्त्र ने क्षान्यखावद्वानि । यमादय क्षत्र व क्षेयाः । खत्र, समाधिः सिवक्लकोऽद्वं निर्व्विकल्प क्स्मेति वेदान्तसारादयः । ये।गाद्वः समाधेर्वच्यां ये।गस्त्र ने क्षित्रक्षेतः । खत्रिस्वत्तस्य विषयाकारः परिणामः । प्रवाद्वीऽविक्केदः । सेयमेकायावस्था पूर्वे-निर्दिश चतुर्थीभूमिरिति कन्तर्थं ।
- (६) यद्यपि चित्तं चिगुणं परिणामसभावास्य गुणानापरिणम्य स्वामप्य-वित्रस्ते इत्यद्यतिक चित्तासम्भवः, तथापि निरुद्धावस्थायां निरोध-परिणामातिरिक्त परिणामाभावात् निरुद्धं चित्तमस्त्रिक्षते। स्पर्स्मेतत् पातञ्जले स्तीयपादे।
- (७) चिप्तमूढ्येः सव्यपि परस्परापेच्यया वित्तिनिरोधे पारस्पर्येगापि निन्त्रेयसक्तेतुत्वाभावात् प्रत्युत तदुपद्यातकत्वावतयार्थे।गीपयागः।
- (८) विचित्रे चेतसीत्वादिकं यागभाष्यं (१.१स्) विचित्रेपात्वंश्रते। विकलस्य

[‡] कादाचित् क,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) उदाइतं भाष्यांशं याखातुलारभते तचेति ।

⁽र) 'चिप पेरखे'— इति धातुपाठादितिभावः।

⁽३) 'मुच वैचिच्चे'—इति धातु पाठादितिभावः।

⁽⁸⁾ विचिन्नं हि चित्तं कदाचित् समाधीयते, चिन्नन्तु न कदाचित्, खतरव विचिन्नस्य न्तिप्तादिशिष्टता ।

त्रेऽपि चेतिम, विचेपे।पमर्ज्ञनीस्तः समाधिर्न योगपचे वर्त्तते"*।

(१)विपचत्रगान्तर्गतनेन दहनान्तर्गत-वीजवदिकञ्चित्करतात्। (१)"यस्वेकाये चेतिम सङ्गतमर्थं प्रद्योतयित, चिणोति च क्षेणान्, कर्मबन्धनानि स्थयित, निरोधमिभमुखं करे।ति, स संप्रज्ञाते। योगः,—
दत्याखायते"। तत्र संयमविशेषात् नानाविध-योगेश्वर्यमाविभे-

* विचेपापसर्जनः समाधि में यागः,-इति मु॰ पुस्तके पाठः।

पठित विचित्रेर्पिति । समाधिर्द्धिनिरोधः । 'न यागपद्येवर्त्तते' --

इत्यत्र हेतुगर्भविषोषणं विचेपापसर्ज्जनीभूत इति । (१) विचेपायसर्ज्जनीभृतः,—इत्यनेने।टुङ्कितं हेतुमाह विषद्मवर्णेति ।

(२) पुनर्राप योगभाष्यं (१, १स्) पठित यस्त्वेकार्ये इति। य इति समाधेः प्रास्त्राः। भन्नं सन्त्रं। सन्तिन्तिर्पात्रास्त्राहेतः स्वारे प्रारम्भान

परामर्भः। भूतं सत्यं। खनेनारेापितार्थयवच्छेदः खारे।पितस्यासत्य-

लात्। सत् श्रोभनम्। खनेन निदावत्तेर्थवच्छेदः। बिदावित्तिर्ष्टि खावलम्बने सत्ये तमसि भवत्येकाया, किन्तु तदबलम्बनं तमान श्रोभनं

क्कोग्रहेतुत्वात्। द्योतनं तत्वज्ञानं, प्रश्रब्देनं तस्य सान्चात् कारतामाद्य। श्रास्त्रानुमान-प्रभव-परोत्त्व-तत्त्वज्ञानस्यापरोत्त्विम्याज्ञाननिवर्त्तकभा-वात्, दिङ्गोद्यादौ तथाऽदर्शनात्। तत्त्वज्ञानेन मिय्याज्ञानरूपा-

वात्, दिक्षाहादा तथाऽदशनात्। तत्त्वज्ञानन मिथ्याचानरूपान विद्याविनाशे सुतरां तन्मृलानामिष्मातादीनामिपनाश — हत्याह चि-योति च क्रोशान् इति। क्रोशा च्यविद्यास्मितादयः। तथा च पातञ्चल-

स्त्रम्। "खिविद्याऽस्मिताराग्रदेषाभिनिवेशाः स्रोशाः" (१, स्त)। इति । यषां विवर्णां तत्रेवद्रख्यं। कर्माण्येव बन्धानानि स्रूथयित-स्वकार्थादवसादयित । कर्मापदेन धर्माधर्मयोः परिस्रष्टः कार्योकार-

योपचारात्। निरोधममंप्रज्ञातं निर्वीजसमाधि। न तत्र कि खित्यं-प्रज्ञायते इत्यसंप्रज्ञातः। तदानीं चित्तस्य संस्कार प्रेषत्वात् तथातं। संप्रज्ञातेतु सवीजसमाधी ध्येयं ध्यानस् ज्ञायते। स्पष्टमेतत्स्वं पात-क्षते समाधिपादे। विति (१)। धारणा-धानसमाधि-त्रयमेकिबषयं संयमः, - इत्युच्यते (१)। प्रान्दार्य-प्रत्ययेध्वन्योन्य-विभक्तेषु यः संयमः, तेनाभेष-प्रब्दादि-सा-चात्कारे सति पच्छादिभाषाज्ञायन्ते,--- इति पतञ्जलिने कम् (१)।

- (१) तत्र एकाग्रेचेतसि, संयमितशेषात् ये।गशास्त्रोत्तेषु तेषु तिष्ठयेषु संयमात् नानाविधयागेत्र्यर्थपादुभीवे।भवत्।त्यर्थः। एतत् सर्वमिष पातञ्जले विभृतिपादे स्पष्टम्।
- (२) अत्र यथाक्रमं ये।गस्त्र नागि। "देशवन्धस्तिस्य धारणा" (३,१स्र)। यत्र देशे ध्ययं चिन्तनीयं तत्र देशविशेषे द्ध्यपुण्डरीकादौ चित्तस्य स्थापनं धारणेति स्त्र नार्थः। "तत्र प्रण्ययेकतानताध्यानम्" (३,२स्र)। तस्मिन् देशे ध्येयगोचरप्रण्ययप्रवाहीध्यानमिति सूनार्थः। "तदेवार्ध-मात्र निभासं सरूप श्रून्यमिवसमाधिः" (३,३स्र०) ध्यानमेव ध्येयमा-त्र निभासंसमाधिः। यदा तदेवध्यानं ध्येयाकारेणेव सान्तिणिनिभासते नतु प्रण्याकारेण, तदाध्यानमेव समाधिक्ष्यते इत्यर्थः। मात्र प्रज्यव्दः विवरणं सरूपश्रूष्मिवेति। संध्यानं। तदानीं ध्यानस्यापि सत्वात् इव्यञ्दः। (से। द्र्यं देशविशेषे समाधियांगाक्रं।) "स्यभक्त ससंयमः" (३,३स्र०)। धारणाध्यानसमाधित्रयं मेकविषयञ्चेत् संयम् इत्युष्यते इति स्त्र नार्थः।
- (३) "शब्दार्धप्रवागामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सबंभूतरतस्तानम्" (३, १७स०) इति पातञ्जलस्त्रम्। शब्द-तदर्धतद्दगोचरप्रवागां वस्तुतः प्रविभक्तानामिष इतरचेतरस्याध्यासात् सञ्चराभवति, तत्प्रविभाग-विषयक-संयमात् सान्तात्कारपर्यान्तात् सर्वप्राण्णिगां शब्दचानं यागिनः सम्पद्यते इति स्त्रचार्थः। तत्र, गौरितिशब्दो गौरिवर्धां गौरितिप्रवाय इति सञ्चरस्यादाद्वरम्। प्रविभागस्वभीषां श्वेतते इति श्वेत इति चैवमादिरीत्या शब्दभेदेषि श्वेतगुणारूपाधाभेदात् श्वेताकारप्रवायाभेदाच शब्दादर्धप्रवायोभिष्वा। रवमेकस्मिनेव श्वेतगुणे, तदाकार-नाना-प्रवायाद्यादर्ध-प्रवाययो। परस्पर भेदः।
 तथा सस्वावस्थाभः परिणम्यभाणाः शब्दार्धप्रवाया न तुत्वकासाः,
 नापि तुत्वरिशाः। शब्दोद्धाकाभे, प्रवायावुद्धो, स्वर्थस्तु श्वेतगुणादिः
 प्रासादादावित्यभीषां प्रविभागः। स्पर्यमेतत् पातञ्चले विभूतिपादि।

(१)तेनैव न्यांयेनानेकविध-वेद-प्राखा-ज्ञानमभिप्रेत्य 'एकायम्'---इत्युक्तम् ।

एकाग्रतामाधीनस्य मन्वानः "श्राधीनम्'—इत्यादः। तथा प्र स्थाप-सूचम्। "श्राधीनः गंभवात्" (शा०४,श्र०१पा०,०स्र०) इति। (१)श्रयानस्थाकसादेव निद्राभिभवात्, उत्यितस्य देच-धाणोपित-स्थापारात्,(१) गच्छतोधावतोवा विचेप-वाङ्यात्, परिशेषेणाधीन-स्थैवैकाग्रता-सक्षवात् श्राधीने योगमभ्यस्यन्तृपाधीतेत्यर्थः।

श्रम्बय-विकिरेकाम्यां प्रश्नस्थावगत्युपायतामभिष्रेत्य, 'श्रप्तक्रम्,— इत्युक्तम् ।

"तिदिद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया"। इत्यन्वयः। "नापृष्टः कस्यचिद्त्रृयात्"-इति व्यतिरेकः।

'ऋषि' शब्दे।ऽतीन्द्रियार्थ-दर्शनमाच्छे (४)। श्वास्थमान-धर्मा-मुष्ठाने त्तरकालिकम्हिष्त्वम्। (५) यथा भाविन्या अंश्वया 'कटं कुरु'—

^{*} ऐकाग्राङ्गतामासनस्य मत्वा,—इति मृ॰ पुस्तके पाठः।

⁽१) यथीत्तसंयमात् स्रनेकिविधभाषाज्ञानवत् स्रनेकिविधवेदशाखाज्ञानमि संभवतीत्विभित्रायः।

⁽२) वाससूचं वाचरे प्रवानस्वेति।

⁽३) तथाविध-वापार-वाएतस्य मनसान धोयगाचर-वापार-सम्भवः,— इति भावः।

⁽४) ऋषेर्भत्यर्थलात् गत्यर्थानाञ्च ज्ञानार्थलात् । तथाच ग्रञ्जोचकाभावात् प्रसिद्धेच चतीन्द्रियार्थदिर्भानां ऋषित्विमिति भावः।

⁽५) तथाच, भाविनि भूतवदुपचारः — इति भावः। तत्र द्रष्टान्तो यथेति। संज्ञिनमन्तरेण संज्ञाया च्यसम्भवात् उत्पत्तेशत्तरकालमेव संज्ञाप्रदक्तिः संज्ञ्या व्यवहारन्तु प्राग्राप्युत्यत्ते रिति यथेत्यर्थः।

द्विति व्यवहारः, तद्वत्। श्रन्यथा, श्रतीन्द्रियाधं पष्यतां तेषामवृशुत्तु-तया प्रश्नोन मंगच्छेत । श्रय वा, स्वयमवृश्वत्तूनामि मन्द-बुद्धानुग्र-हाधं श्राचार-शिवाधं वा (१ प्रश्नोऽस्त ।

श्रष्टक्न्-दत्यनेनैवातीतकालले सिद्धे^(२) 'पुरा' ग्रब्हं प्रयुद्धानः सर्वेखिप करुपेखीदृशी धर्मशास्त-प्रवृत्तिरामीदिति स्वचयि । तच विश्वासातिग्रयोत्पादने कारणम् । श्रन्यान् सुनीनुपेच्य व्याससेव पृच्छतास्वीणाम्,—वैदिक-धर्मे वेदवासः प्रवीणः,—दत्याग्रयः ।

तदेवं चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य मुनि-प्रश्नेन माचात् मंबन्धः, पिष्टिक्षितेत्वादन-दारेण श्रध्ययनेन मंबन्धः,—इति मंबन्ध-दय-मिस्मन् स्नोके प्रतिपादितम्। श्रधिकार्यादि-चयन्तु (१) दितीय-स्नोके प्रतिपादते ॥

ननु, "ब्राह्मणेवृहस्पतिसवेन यजेत" "राजा राष्ट्रस्येन यजेत" वैंखोवैद्यस्तोसेन यजेत,"—इत्यधिकारि-विभेषोयथा श्रूयते,
न तथा पराधरेक्षधर्माः ईदृष्णेरनुष्ठेयाः ,—इति किञ्चित् वचनमस्ति,
तत् कथं निर्णयः,—इत्यतश्राह 'मानुषाणाम्'—इति । श्र्रब्धंचीनानां

[🍍] धर्मे शास्त्रे,— इति स॰ से। ॰ पुस्तकयाः पाठः।

[†] ग्रन्थस्य, – इति स॰ से। ॰ पुत्तनयानीस्ति।

पराश्ररोत्तिमिदमीदशेरनुष्ठेयम्, — इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः प ठः।

⁽१) चासादृष्टान्तेन मन्दनुद्धयापि धर्मा प्रच्यन्ति, ततन्तेभ्यः सन्तोधमीम्पदे-च्यन्ति, ते च तदाचरयोन पालभाजाभवेयरिति मन्दनुद्धनुग्रमः। धर्मानुभुत्स्नां तिज्ञासायः कर्त्तव्यवमाचारः।

⁽२) ष्यप्टक्न् - इति लङौऽतीतकः लस्व विधानादितिभावः।

⁽३) च्यधिकारि-विषय प्रयाजनरूपम्।

पश्वादीनामसामर्थात् (१) उत्तमानां देवादीनां धर्मानुष्ठाने प्रधाय-नाभावाच मनुष्याएव परिशिय्यन्ते । विशेषानिर्णये तु, सर्वेषां मनुष्याणामधिकारोऽस्तु ।

ननु, नचनेष्ठादे। देवानामधिकारः श्रूयते,—"श्रक्तिका श्रकाम-

पराधरमाधवः।

यतः श्रन्नादे। देवानां स्थामिति, स एतमग्रये छत्तिकान्यः पुरी-डाग्रमष्टाकपासं निरवपत्"—इति । मैनम् । मनुष्यस्वैव कस्यचित् यजमानस्य भाविनीं संज्ञामाश्रित्य प्रथमान्तेनाग्निग्रब्देन व्यवहा-रात्^(१) । श्रन्यया युगपदग्नि-दय-स्रष्टि-प्रसङ्गात्^(१) *। ननु, यन्य देवताऽधिकारः । तथादि श्रूयते ।

"वृष्ट्यतिरकामयत, श्रन्मे देवादधीरन् गच्छेयं पुरोधामिति, स एतं चतुर्व्वियतिराचमपय्यत्, तमाद्दरत् तेनायजत, ततोवे तसी देवाः स्दर्भन्? श्र-च्छत् पुरोधाम्"—दति। श्रन्॥ विश्वासम्। से सियण

[🍍] संवृष्टिप्रसङ्गात्, – इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[†] देवडेगुग्य,—इति मु॰ पुक्तको पाठः।

[‡] श्रद्धां देवानाम्, - इति स॰ सा॰ पुलक्षयाः पाठः।

[§] तसी श्रदेवा खदधत,—इति मु॰ पुत्तको पाठः।

[॥] श्रद्धाम,—इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

[¶] में मयि,—इति स॰ सा॰ पुस्तकया नीस्ति।

⁽१) मन्त्रपाठद्रखात्याताचसामर्थादित्यर्थः।

⁽२) किसमन्थोनचित्रेष्ठि सत्ता खिपलं लब्धवान्। तस्य चाित्रस्वताभी-त्तरकालभाविन्या खिससंज्ञ्या पूर्वेमेव खवश्वारीऽपिर्व्वा खकास्यत इति, भाविनिभूतवदुपचार इति न्यायादिति भावः।

⁽१) खमुद्दिम्य खस्य व्यागासम्भवात् स्काऽिमस्यका, खपरश्च व्यागास्मिवात् स्वाजाद्दिम्य

पुरोधाम्, पौरोहित्यम्। चतुर्व्विंग्रतिराचम्, एतन्नामक-सचयागमित्यर्थः। इत्यादौ फलस्रवणात् कर्मानुष्ठाने कथं प्रयोजनाभावः, —
इति चेत् । मैवम्। सचापि भावि-मंज्ञायाएवादरणीयवात्।
स्रत्यया, वृहस्पतेः कञ्चित् कालं विश्वमनीयल-पौरोहित्ययोग्भावप्रसङ्गात्। तच् स्रुत्यन्तरविद्यम्। "वृहस्पतिर्व्व देवानां पुरोहित स्रामीत्"—दिति स्रुत्या पौरोहित्य-पुरःसरःसरएव वृहस्पति-मङ्गावः
प्रकास्थते। स्रथवा। खोपयोगाभावेऽपि मनुष्यान् प्रवर्त्तयितं देवः
कर्माण्यन्ष्ठितवन्तः।

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे। जनः"।

इति न्यायात् । श्रम्तु वा खोपयोगोऽपि, जगन्निर्वाहेऽधिकतानां देवादीनां तद्धेतोः तपश्चरणीयलात् (१) । "वसन्ते न्नाह्मणेऽग्निमाद-धात, योग्ने राजन्यश्चादधीत ग्ररिद वैश्वश्चादधीत"—इति विद्यित-स्वाधानस्य देवेस्ववैवर्णिकेस्वसभवः (१)—इति चेत् । न, रथकारव-

^{* &#}x27;इत्यादी' - इत्यादि 'इति चेत्'—इत्यन्तं स॰ सेा॰ पुक्तकया नास्ति।

[†] सम्भवः,—इति स॰ से।॰ पुस्तकयाः पाठः।

¹ देवेष्वपि चैवर्षिकेष्विवासम्भवः,—इति सु॰ पुम्तके पाठः।

⁽१) देवाचि जगित्रकी हेऽधिकताः धर्मास्य च तज्जेतृत्वं खता देवानां कर्मी-पयागः। महाभागत्वाद्वानां विनापि कर्मा जगित्रकी हः स्यादिति न प्राक्षनीयं, स्नुप्तकारणं विना कार्योत् पत्ते देवानामप्यभावात्, भावे वा तस्य कारणत्वमेव न भवेत् यभिचारात्। महाभागत्वस्यापि कर्म-साध्यताच ।

⁽२) 'खनैवर्षिकेषु'--इति हेतु-गर्भ-विद्येषणम्। ब्राष्ट्राणत्वादि-पुरस्का-

दुपपत्तः (१) । श्रय मन्यसे, — 'श्रस्ति रयकारस्य समन्त्रकाधान-विधा-यकं वचनम्, — 'स्टम्हणां ला देवानां व्रत्यते व्रतेनादधामीति रयकारस्य," — इति श्रुतेः, न लेवं देवानां विधिरस्ति, — इति । एव-न्तर्षि निषादस्थपति-न्याथाऽस्तु । यथा निषादस्य प्रभाराधान-विध्य-श्रवणेऽपि यागेऽभ्युपगतः, तथा देवानामभ्युपेयताम् । "एतया निषाद-स्थपतिं याजयेत्" — इत्यस्ति निषाद-विषयं वचनम्, — इति चेत् । किं लया विस्तृतानि देव-विषयाणि पूर्वेदास्त्त-वचनानि ? । (१)तेषामर्थवादलेपि मानान्तराविराधात् श्रननुवादात् स्वार्थेऽपि तात्पर्ये किं नस्यात् । श्रयोत्थेत, — स्तृतीनां धर्मश्रास्त्रलात् तासु धर्म-मीमांसा श्रनु-

यर्ज्ञा, तसाञ्च न कसायर्थवादस्य वाचार्थे प्रामाणमभ्युपगतम् — इति । तदेतद्वनं स्त्रति भक्तस्य मीमांयकंमन्यस्य चानर्थायैव स्त्रात् । 'सुषिक-भिया ख-ग्रहं दम्धम्',—इति न्यायावतारात् ।

† स्ट्रित-निब्बा इकम्मन्यस्य, --इति मु॰ पुक्तके पाठः।

रेण वसन्तादिव्याधान-विधानात् देवानाच ब्राह्मणत्वाद्यभावात् छा-धाने तेषामधिकारान सम्भवतीत्वाप्रद्भार्थः । तथाच, कयं देवाना-माधान-साध्यापि-सम्पाद्य-याग्रेव्यधिकारः,—इत्याप्रयः । (१) रचकारः,—"माहिष्येण करण्याच रचकार उदाक्षतः"—इत्युक्त-प्र-

- (१) रचकारः,—"मान्तिष्येग करण्यात्र रचकार उदाञ्चतः"— इत्युक्त-ग्र-ज्वीर्य-जातिविग्रेषः। तस्य यचा चैवर्यिकसिन्नस्याप्याघानेऽधिकारः तथा देवानामपि स्यादित्यर्थः।
- २) नन् तेषामर्थवादलात् खार्चे प्रामाख्यं नास्तीत्याप्रद्याद तेषामिति ।
- (३) विवदानुवादयारेवार्थवादयाः सार्थे तात्पर्याभावाश्युपत्रमाविविभावः।

^{&#}x27;सुषिक-भिया ख-ग्टहं दम्धम्',—इति न्यायावतारात्।
* खन्न, 'चननुवादाच'—इति पाठा भिवतुं युक्तः।

कस्यचिदर्थवादस्य खार्चे प्रामाणं भविष्यति,—इति भयेन श्रर्थवा-देक-प्रसिद्धानां सार्नुणां मन्दरीनां मीमांसा-मान "-क्रताजैमिनेश्व खद्भावस्थेव [†] परित्यक्तव्यलात् । श्रश्येषेति हासली प-प्रसङ्गात् (९) । तसात् प्रमाणमेव भ्रतार्थवादः(१) । तथाच सति, "तं मनुराधत्त", "तं पूषाऽऽधत्त", "तं लष्टाऽऽधत्त" "तं धाताऽऽधत्त",— इत्यर्थवाद-वश्रादाधानमपि देवानां किं नस्रात्। ब्राह्मणाद्यभावे तु 🖡 काअं वस्नादि-काल-विशेष-नियमे।मासृत्; किमायातमाधानस्य? । किञ्च, श्रन्तरेणापि श्राधानं लौकिकेऽग्रा यागः कचिद्पलभ्यते। "श्रवकीर्ण-पग्रुः य तदंदाधानस्याप्राप्तकाललात्" (मी० श्र०१ पा॰ २ सः ॰) दति जैमिनिस्चात्। ''यो ब्रह्मचारी स्तियसुपे-थात् स गर्दभं पग्रुमालभेत"-इत्यवकीर्षिपग्रु:। यथा उपन-थन-हेामेाली किकाग्नी, तथा श्रमी पश्यः,—इति सूचार्थः। एतावता प्रयाचेन देवानां कर्माधिकारे माधिते किं तव फलिय्यति? तथा मीमांगायां है किं कियते ?। श्रभिनिवेश: केवलं शिखते,

[🍍] मीमांसा सप्र (मीमांसाग्रास्त्र ?) इति स॰ सेा॰ पुस्तकयाः पाठः। † सद्भावस्टैवं,-इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

[‡] खत्र, 'ब्राह्मग्रत्वाद्यभावे तु'—इति पाठे। भवितुं युक्तः।

[§] तव वा भीमांसायां,─रित स॰ सा॰ मुक्तवयाः पाठः।

⁽१) तेषामर्थवादैकाम्यत्वादितिभावः। विरुद्धानुवादिभिन्नोऽर्घवादोभूतार्घवादः। तथा चे तस्। "विरेष्धे (২)

गुणवारः स्यादनुवादोऽवधारणे। भूतार्थवादस्तद्धानावर्धवादस्त्रिधा मतः"—इति।

फलं तु जगित्रकी हः, — दित पूर्क सेवेकिस्। अग्रेषाश्च पुराणाद्यः एवं यति अनुग्रहीताभवन्ति । मनुष्यबह्वानां खर्गाय कर्माणि माभ्रवन्, जगित्रकी हाय तु भविष्यन्ति । तपमेव तिन्नकी हः, — दिति चेत् । न, "दान-याग-हेम-मेनि-ध्याना दि-ध्यति किस्य तप-वेषि नुपल्लामात् । अत्र व वत्य-सङ्क्योऽपि परमेश्वरः राम-क्षणाद्य-वतारेषु लोकिक-वेदिक-कर्म-नटनेनेव जगित्र वहत् । देवाश्वपि तथा नटन्तु, — दिति चेत् । एवमपि नटनीय-कर्माधिकारोभवता-ऽभ्युपगम्यताम् । एवं तर्हि, 'मनुष्याणाम्'— दिति कथ सुक्तम्, — दिति चेत् । पैक्षेय-ग्रन्थापेच्या दिता वदामः । न खलु खंप्रभात-विखल-वेदानां देवानां धर्म-ज्ञानाय पौक्षेय-ग्रन्थापेचा श्रस्ति । मनुष्याणान्तु अन्तयाविधलात् अस्यपेचा । ।

नन्, पशूनामपि धर्मे श्रधिकारः श्रूयते ;—'गावा वाएतत् सनमासताश्रद्धाः सतीः ग्रद्धानि नेजायन्ता,—इति कामेन, तासां दश मासा निषणाश्रासन्, श्रय, ग्रद्धाण्यजायन्त, ताउदतिष्ठन्नरात्-स्न इति, कामिताः संवत्सरमाष्ट्रीदितष्ठन्नरात् सा"—इति श्रुंत्या तिरस्यां गवां सनानुष्ठाव्वाभिधानात्। श्ररात्सा इति, कामितार्थ-सिद्धं प्राप्ताः,—इत्यर्थः। नायं देषः। श्रस्याः श्रुतेरर्थवादवात्।

^{*} अन, 'खान'-इति खधिनं स॰ से। पक्तकयाः।

[†] वचन।पेद्यया,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] खयं प्रमात,--इति स॰ सा॰ पुन्तकयाः पाठः।

अध्ययन्तमपेचा,—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

[॥] खथ यासां नाजायन्त, तातृ—इति स॰ सेा॰ पुस्तक्षेयाः पाठः ।

"यएवं विद्यात्, स संवत्मरसुपर्यान्त" कित वृद्धिकासस्य सर्वं विधातुं प्रथमतः,—"गा-सत्रं वै संवत्मरः" कित प्रशंसा कता, तां सम्भावियतुं 'गावावा' कित्यादि पठितम्। न चैतस्यार्थवादस्य, "यद्दै किञ्च मनुरवदत् तद्भेषजम्" कित्यादिवत् स्वार्थेऽपि तात्पर्यं वर्णयतुं श्रव्यम्। प्रत्यकेण श्रुत्यन्तरेण च विरुद्धन्वात् (१)। तिरश्चां हि मन्त्रोचार्णे कम्भानुष्ठाने च मामर्थाभावः प्रत्यच-सिद्धः।श्रुत्यन्तरेच,— "श्रयेतरेषां पश्चनां श्रश्मनाया-पिपासे वा श्रभिज्ञानं वदन्ति, न विद्यः श्रस्तनम्" कित्रातं पश्चन्ति, न विदुः श्रस्तनम्" कित्यातं पश्चन्ति, न विदुः श्रस्तनम्" कित्रातं पश्चन्ति, न विदुः श्रस्तनम्" कित्रातं पश्चन्ति, न विद्यः श्रस्तिवादस्य स्वार्थे तात्पर्य्यम्, गो-श्रव्येन गवा-भिमानि-देवतानां विविच्तितवात्। श्रत्यव भगवान् वादरायणः सर्वेषां स्वर्दि-वस्त्रनां श्रुतिमूल्वेनाभिमानि-देवताः प्रतिपादयामास । सर्व्या, मनुष्यमाचाधिकारकं स्विगास्त्रम्।

'हितम्'— दति, श्रनेन प्रब्देत प्रयोजनं निर्दिग्यते । श्रभिमत-फल-माधनलं हि धर्माख हितलम्। तच फलं देधा;— ऐहिकमासु-श्रिकञ्च,^(२)— दति। श्रष्टकादि-साधं^(२) पुष्ठादिकमैहिकम्। श्रासुश्रिकं

^{*} स य एवं विदान् संवत्सरसुपयन्ति,— इति स॰ से। ॰ पुन्तकयाः पाठः । † न विज्ञातं,— इति स॰ से। ॰ पुन्तकयाः पाठः ।

⁽१) विरुद्धानुवादरूपस्यार्धवादस्य न खार्धे प्रामाख्यभिति पृर्वेतत्तमः समर्तेत्रम्।

⁽२) च्यमुप्रान्-परताको भवमामुध्रिकं पारताकिकामित्यर्थः।

⁽२) ''खरका राचिदेवता पुरिकर्म'' (३ प्र०१, का०१, रस्०) हित श्रीभिषद्भवादरुकायाः पुरिसाधन्त्रयं वेष्यं।

देधा,—म्रम्थुरयोनिःश्रेयसञ्च^(१) । तचाम्युरयस्य साजात् साधनं धर्माः * ^(१) । निश्रेयसस्य तु तत्त्व-ज्ञानात्पादन-दारेण । तथा च स्मर्यते,—

"धर्मात् सुखञ्च ज्ञानञ्च ज्ञानासोचोऽधिगम्यते"।

इति । त्रव केचिदाङः—"नित्य-कर्मणां फलमेव नास्तिः त्रकरणे

प्रत्यवायाङ्गीतेः केवलमनुष्ठीयते ; तत्र, कुतोऽभ्युदय-हेतुलं निश्चेयसहेतुलञ्च,"—इति । त्रपरे † पुनराङः,—"त्रभावाङ्गावात्पत्तेरदर्भनात्

(१) त्रकरणे प्रत्यवायोन युक्तिसदः, नापि, तत्र प्रमाणमस्ति । नमु,

उपनयनाध्ययनादि-विहितानामकरणे प्रत्यवायः सार्यते,—

"त्रतज्ञिः पतन्येते यथाकासममंक्षताः । साविची-पतितात्रात्याभवन्यार्थ-विगर्धिताः" । "योऽनधीत्य दिचावेदमन्यच सुरुते त्रमम् ।

साचात् साधनत्वं, — इति सु॰ पुक्तको पाठः।
 पुनरन्थणाङः,—इति स॰ सेा॰ पुक्तकयोः पाठः।

⁽१) चाभ्यदयः खर्गादिः। निःग्रेषं श्रेयानिःश्रेयसं मुक्तिः। तत्र हि सर्वे श्रेयः समाप्यते, न किस्विदविश्रियते।

⁽२) यतच विचितिवायाजन्यमदृष्टं धमीः, — इति न्यायादिमतावषामनेनाभिचितं। यत्रेदसुत्तं। "विचितिविययासाध्योधमीः पुंचागुणोमतः"— इति । विचित्रकर्माणानेव धर्माविमिति मीमांसानये तु
चापूर्वदारिव तस्याभ्यदयसाधनत्वं मन्तयं। तत्र मीमांसा-प्रथमदितोयाधिकरणे प्रावरभाष्यादी स्पष्टम्।

⁽१) खभावस्य सर्वेदा सर्वेत्र सीलभ्येन सर्वेदा सर्वेत्र सर्वेत्यित्तप्रस-क्रात्। कार्यकार गयाः सारूप्यनियमाचेति भावः। स्पष्टिमदं न्यायग्रारीरकादी प्रायः सर्वेत्र।

स जीवजेव शुद्धलमाश्च गच्छति साम्वयः"। "श्रकुर्व्यन् विश्वितं कर्षं निन्दितञ्च समाचरन्। श्रनियद्दाचेन्द्रियाणां नरः पतनस्ट्छति"(१)।

रति । मैत्रम् । एतानि वचनानि नित्य-कर्माननुष्ठायिनः श्रासय-निमिन्तं पूर्व-मिश्चतं दुरितं यत्, तत्-सद्भावं स्वचिन्तः । एतस्य तैत्तिरीयोपनिषद्धास्थाने भाष्य-कार-वार्त्तिक-काराभ्यां (१) प्रतिपादि-तम्"। (१) यदि श्रकरणं प्रत्यवायस्थे त्यादकं यदि वा स्वचकम्, स्वभयसाऽपि नित्य-कर्मानुष्ठानेन प्रत्यवायस्य प्रागभाव-परिपासनं प्रश्लंसाभावेत्यादनञ्च सम्बद्यते । दुरित-प्रध्वंसिलञ्च, विसव्ध्यमनु-ष्ठीयमानेषु, "सूर्यक्ष" "श्रापः पुनन्तु" "श्रग्निञ्च",—इति मन्त्रेषु (४)

⁽१) खरा क्षोत्तरा प्रथमाई मानवीयं, दितीयाईन्त याच्चवक्त्रीयम्। मान्वियस्थेत्तराई यथा,—"प्रसजंखेन्द्रियार्थेषु प्रायस्वित्तीयते नरः"— इति। याच्चवक्त्रीयस्य पूर्वाई यथा,—"विच्चितस्यानुष्ठानात् नि-न्दितस्य च सेवनात्"—इति। सम्भावयामः—क्षेत्तद्वयमेव यत्र्य-क्षारेयोद्धृतं वेखनप्रमादादिना तु पूर्वक्षेत्रवस्थेत्तराई उत्तरक्षेत्तस्य पूर्वाईस खादर्भपुक्तवेषु अस्मिति।

⁽२) यत्र यत्रे वाख्ययप्रशानुसारिभः परीर्पत्रेशवाखायते खपदार्घस्य वर्णते, तद्गाष्यम्। यत्र तु उन्नानुन्न-दुरन्न-चिन्ता नियते तदार्त्तिकम्।

⁽३) रवं मतद्वयसुपन्यस्य उभयमतेऽपि नित्यक्षमीयां सफ्कलमा यदीति। स्वर्षां प्रत्यवायस्थोत्पादक्षमिति पद्ये नित्यक्षमीकरणात् प्रत्यवायाः-नेत्पद्यते स्वपि तु प्रत्यवायप्रागभावस्वावतिस्रते इति प्रत्यवायस्य प्रागभावपरिपाक्षनं भवति । इदस्वानृत्पत्स्यमानस्यापि प्रागभावाः-स्तीति वैग्रेषिकादिमतावक्षमनेनाभिस्तिम् । नित्यकर्मयोऽकर्यां पूर्वसित्रतस्य प्रत्यवायस्य स्वक्षमितिपद्ये तु नित्यकर्मकरणात् पूर्व-सस्तिः प्रत्यवायः प्रस्वंसते इति विवेकः।

⁽⁸⁾ यतमन्त्रचयं यथाक्रमं प्रातम्बध्याक्र सायाक्रकाजीनसन्धोपासनीयाच-मने विनियुक्तम् ।

विस्तष्टमवभावते । (१) "एवस्च यति, उपभोग्य-फल-रहितानां नित्य-कर्मणां त्रम्युद्य-फल-छेतुलं दूरापेतम्"—इति । त्रत्रोच्यते । त्रस्त प्रत्यवाय-विरोधिलम् । नैतावता फलाभावः (१) । मन्त्रलिक्षेन त्रुति-स्वति-वाक्याभ्यास्च तत्तत्-फल्लावगमात् । "मिय वर्षेविकमे । त्रित्रम् । कान्देग्य-वाक्यं च, त्रात्रम-त्रयस्थ लेक-छेतुतां, चतुर्थात्रमस्य मेवि-छेतुतां (१) दर्भयति । "त्रयोधर्य-स्तन्यः,—यज्ञोऽध्ययनं दानम्—इति, प्रथमस्पप्य, दितीयो ब्रह्मवार्याचार्यकुलवासी, त्रतीयोऽत्यन्तमात्माचर्यकुलेऽवसाद-यन्, अर्थपते पुष्य-लेका भवन्ति, ब्रह्म-संस्थोऽस्वतलमेति" इति । एतस्य वाक्यस्य त्रात्रम-परलम्,—"परामभं जैमिनिः" (भा० इत्र॰ ४पा० ९ प्रस०) इत्यादिभित्यं स-स्त्रनेः प्रतिपादितम् । स्वति-वाक्यं चैतत्,—"तद्यया,—त्रासे फलार्थं निर्मिते कायागम्यद्रत्यनूद्यते, एवं धर्मे चर्यमाणमर्था त्रनूद्यन्ते । त्रित्रम् चर्यमाणमर्था त्रनूद्यन्ते । द्रित्य वाक्यं चर्यमाणमर्था त्रनूद्यन्ते । द्रित । (१) द्रदस्य वाक्यं नित्यकर्म-विषयलेन वार्त्तिके विश्वक्पाचार्यं उदाजहारः,—

^{*} माज,—इति स॰ से।॰ पुक्तकयानीक्ति। † खनुत्पद्यते,—इति स॰ से।॰ पुक्तकयेाः पाठः।

⁽१) 'खत्र केचिदाङः'—इवादिने। पकान्तं पूर्वपचमुपसंहरति रवछेति। मतद्येपि समाने। ऽयमाच्येप इवानुसन्धेयम्।

⁽२) खत्र फलपदं उपभाग्यफलपरम्।

⁽३) चलारः खल्वात्रमिणः ब्रह्मचारि-ग्रह्म वानप्रस्य-भिन्तु-स्रह्माः।तेषां पूर्वे चयः पुर्व्यक्षेत्रभागिने। भवन्ति, चतुर्यस्तु मेन्द्रमात्रोतीति वेष्यम्।

⁽४) चाचार्यकु ने चत्वन्त्मातानमवसादयन् हतीयाधर्माकान्धा भवतीत्वर्धः।

⁽५) षात्रानुपूर्वस्थवदेवर्षः—उत्पत्तिः, इति मन्तयम्।

⁽६) उदाहरतस्तिवाक्यस्य निव्यक्तमिविषयत्वे प्रमाणं नास्तीत्वाश्रक्ताः , इदश्च वाक्यमिति ।

(१) "त्राम्ने फलार्थ-इत्यादि द्यापस्तम्ब-स्तिर्व्वचः । फलवन्वं समाच्छे नित्यानामपि कर्मणाम्" । इति । तथा च मनुः,—

"वेदोदितं खकं कर्मं नित्यं कुर्यादतिम्त्रतः। तद्धि कुर्वन् यथाशिक प्राप्तोति परमां गतिम्"। इति । कूर्मपुराणेऽपि,—

यथाग्रिक चरेत्कर्म निन्दितानि विवर्क्तयेत् ।
विधूय माद-कलिलं लक्षा योगमनुक्तमम् ।

ग्रहस्थासुच्यते वन्धात् नाच कार्या विचारणा"।

इति । ननु, श्रस्तेवमभ्युदय-देतुलं, निःश्रेयम-देतुलन्तु न सभावति, प्रमाणाभावात् । प्रत्युत श्रुति-स्रातिभ्यां तित्रिषिध्यते ।

"न कर्मणा न प्रजया धनेन"—

द्गति श्रुतिः ।

"ज्ञानादेव तु कैवस्यम्"।

द्दित स्रितः । मैवम् । परमाता-प्रकरणे निःश्रेयम-हेतु-वेदनेच्छा-साधनलेन यज्ञादीनां विधानात्, "तभेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविद्षन्तः; यज्ञेन दानेन"—दित श्रुतेः। निषेधस्तु साचान्नः-श्रेयस-साधनलं गोचरियस्यति । तस्मात्,—न सुक्तानां श्रग्याधा-मादि-कर्मापेचा श्रस्ति । वेदनेत्यन्ते सा विद्यते । एतच उभ-यम्,—"श्रतएव चाग्नीन्थनाद्यनपेचा" (शा०३श्र०४पा०२५स०) "सर्व्यापेचा च यज्ञादिश्रुतेः" (शा०३श्र०४पा०२६स०)

⁽१) तदात्तिकं पठित चाम्ने इति।

द्रत्याभ्यामधिकरणाभ्यां निर्णीतम् । तया च, कर्मणां परम्परया माचहेतुलं वायवीयमंहितायामभिहितम्,—

> "कमातिश्रयमासाद्य पश्रोः *पाप-परिचयः^(१) । एवं प्रचीण-पापस्य वद्यभिर्जनाभिः क्रमात् । भवेदिषय-वैराग्यं वैराग्याद्भाव-श्रोधनम् । भाव-श्रुद्धुपपत्रस्य श्रिव-ज्ञान-समन्वयः । ज्ञान-ध्यान-नियुक्तस्यां पुरेशयोगः प्रवर्त्तते । योगेन तु परा भिक्तः प्रसादस्तदनन्तरम् । प्रसादानुष्यिते जन्तुर्सृकः श्रिव-समे। भवेत्" ।

इति । ननु, "प्रत्यवाय-परिचाराय, पुष्य-लेकि-प्राप्तये, ब्रह्म-वेद-नाय च, प्रतिदिनं ं नित्य-कर्मणिक्ति-प्रयोगः प्राप्तः" । तन्न, खादिरवत् मञ्जत् प्रयुक्तस्यैव वचन-संयोग-भेदेन फलभेदे।पपक्तेः । "खादिरोष्ट्रपोभवति"—इति क्रलर्थं वचनम् । "खादिरं हे वीर्थ-

^{*} पाग्र,—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

[†] ज्ञान-ध्यानाभियुक्तस्य, -- इति स॰ सेा॰ पुस्तकयाः पाठः।

[‡] प्रतिपादितं,—इति स॰ सा॰ ५ स्तक्याः पाठः।

[§] खादिरं,--इति सु॰ पुक्तके नास्ति।

⁽१) पश्चोजीवाः। पापमधर्मः। पाश्चिति पाठे मन-कर्म्म माया-रेधशिक्त-न्न व्यास्तुर्विधः पाश्चोवाद्ययः। एतम् श्वेवदर्शने प्रसिद्धम्। ये।गः चित्तदारेगात्मेश्वसंवद्ध इति पाश्चपतदर्शनोक्कोवोध्यः। प्रसादः श्वेव-दर्शनोक्तः श्विक्य प्रसन्नताविश्वेषः। ये।गप्रसादौ यथाक्रमं चित्त-यक्तिनिरोध-परवैराग्यापरनामधेयज्ञानप्रसादन्व्यो पातञ्जनोक्को वा दर्ख्या।

⁽२) प्रयोगीऽनुष्ठानम् । योगसिद्धधिकरणसिद्धान्तवत् खन्नापि प्रयोग-भेदादेव फक्तभेदेग्युक्त इत्यभिमानः।

कामस यूपं कुर्व्वीत"-इति वचनं पुरुषार्थम्। तदेतत् वचन-दयम् एकस्वैव खादिरस्य प्रयोजन-दैविष्ये हेतु:। "एकस्य त्रभयने संयोग-पृथक्लम्"—(मी०४ऋ०४पा०३९स०)—इति जैमिनि-स्वात्। एवमवापि पूर्वेदाह्यत-वचन-वच-वजात् प्रयोजन-वैवि-ध्येऽपि सक्टदेव प्रयोगः । तच, "विहितलाचाश्रम-कर्कापि" (ग्रा॰ ३ % १ ४ पा ॰ ३ २ स्न ॰)— दत्यिसिन्निधिकरणे निर्णीतम् । नित्यसापि फलवन्ते नित्य-काम्ययोर्भेदाभावः,—इति ग्रङ्कनीयम्, करणे फल-साम्येऽपि श्रकरणे प्रत्यवाय-तदभावाभ्यां तद्वेदात्। न खलु, त्रायुष्कामेष्टि-वृष्टिकामेश्वाद्यकरणे * कञ्चित् प्रत्यवायः श्रूयते । एषएव नित्य-न्यायोनैमित्तिकेष्ववगन्तयः "स्कन्ने "भिन्ने जुन्हाति"—दत्यादि त्रनियत-भेदनादि-कार्य्यविशेषणे पोतं नैमित्तिकम्। 'नित्यवत् काम्यखापि विदितन्वेन ^(१)ग्रह्माद्व-देतुलात् मेाच-साधनलम्'—इति चेत्। न, राग-प्राधान्यात्^(१)। ग्रुद्धिस्त खपसर्ज्ञनलेन राग-विषय-भागं सम्पाद्योपचीयते। गीतायां भगवता सुसुचोरर्ष्कुनस्य फलासिकार्निषद्धाः;(र)---

चायुष्काम-रहिकामेत्यादि पाठः मु॰ पुक्तके ।

⁽१) श्रुद्धिः पापच्चयः।

⁽२) रागोऽत्र नेच्हामार्च, मुमुत्ताया खिष तथाखात्। किन्तु विधय-गो-खराभिलाघः। "सुखानुष्रयी रागः" (२ पा० ७ सू०) इति याग-सूत्रात्। "मुखाझागः" (६ ख० २ खा० २० सू०) इति वैग्रेषिक-सूत्राच। रागन्तु बन्धहेतुरेव, न मेत्त्वहेतुः। "रागस्य बन्धनसमा-ज्ञानात्"—इति गौतमसूत्रात्।

⁽३) प्रवासिक्ति रागरवेति वेध्यम्।

"योगसः कुर कर्षाणि सङ्गं त्यक्षा धनश्चय!। । । सिद्यमिद्योः समेश्वता, समनं योगज्यते। कर्षाणेवाधिकारके मा फलेषु कदाचन। मा कर्ष फल-हेतः———"।

क्त्यादिना । नित्य-कर्माणि तु वृद्धि-ग्रुद्धिरेव प्रधानम्; फलमुप-मर्ज्जनम्^(१) । त्रतएव, भुज्यमानेनापि फलेन तदनित्यल-मातिशयल-दोष-दर्शन-रूपाविवेकान प्रतिवध्यते^(१) । तदुकं वार्त्तिककारेण,—

"नित्येषु प्रदुद्धेः प्राधान्यात् भागौऽप्यप्रतिवन्धकः।

ओगं अङ्गुरमीचन्ते वृद्धि-ग्रुह्यमुरोधतः"।

इति । नित्यं च कर्म दिविधम्; संस्कारकं विविदिषा-जनकञ्च ।
विदितत्व-माच-वृद्धा क्रियमाणं संस्कारकम्। तथा च सार्थते ।
"यस्यैते श्रष्टाचतारिंग्रत् संस्काराः" स ब्रह्मणः सायुष्टं सलोकतां
गच्छति" इति । ईश्वरापण-वृद्धा क्रियमाणं विविदिषा-जनकम्।
तख्, अगवतेरितम,—

^{*} यस्ति चलारिंग्रत्संस्कारा चष्टावात्मगुगाः ब्राह्मगाः,—इत्यादिपाठः मु॰ पुक्तके।

⁽१) पालपदमत्र पापच्तयातिरिक्तानुषित्रिक्षणवपरं। तस्योपसर्जनत्वादेवा-नुषित्रकालं।

⁽२) चिति खत्य पालस्य सत्ते सति कार्य्यतादनुमितम्। "तद्ययेष कर्म-चिते लोकः चीयते, स्वमेवामुच पुर्व्याचिते लोकः चीयते"— इति श्रुतिसिक्षयः। साति प्रयत्वं तारतम्यवत्त्वम्। परसम्पदुत्कर्षे ष्टि चीनसम्पदं पुरुषं दुःखाकरोति इति तस्य विवेके प्रयोगः।

⁽३) चन्द्राचलारिंग्रत्संस्कारासु गौतमादिभिवकाः।

"यत् करेावि यदत्रामि यच्नुहोवि ददामि यत्। यत् तपस्यमि कीन्नेय! तत् कुरुस्य मदर्पणम्"।

इति गीतायामिति । तच, मंस्कारेण चित्तस्य वेदन-योग्यता-माचं सम्पद्यते,* विविदिषा तु प्रष्टत्तिमुत्पाद्य श्रवस्यं वेदनं सम्पाद्यति । तसात्, सुसुचोरीश्वरापंणं प्रश्वसम् । तदेवं दितशब्देन धर्म-स्वाभिमतसाधनत्वाभिधानात् 'श्रभीष्ट-सिद्धिः, प्रयोजनम्'—इत्युक्तं भवति^(१) ।

'धर्म,—ग्रब्देन विषयोनिर्दिश्यते । त्रभ्युदय-निःश्रेयसे साधन-लेन धारयति,—इति धर्मः । स च, लचण-प्रमाणाभ्यां चोदना-स्वचे (१) व्यवखापितः । नमु, "चोदनाऽवगम्यस्य न स्वतिविषयलम्, धर्म्भानन्य-लभ्यस्थैव विषयतावगमात् । श्रय, मन्यसे!—चोदना-गम्योऽपि, श्रर्थवाद-परिहारेण, ग्राखान्तर-गत-विश्वेषोपमंद्वारेण च, षमुष्ठान-क्रम-सैक्यीय संग्रह्मते,'—इति । तस्न, कस्प-स्रन्वेषु (१)

^{*. &#}x27;विविदिवा जनकम्'— इत्यारभ्य, 'सम्पद्यते'— इत्यन्तं मु॰ पुक्तके नाक्ति।

⁽१) 'चितमित्यनेन प्रब्देन प्रयोजनं निर्दिग्यते'—इति यत् पूर्वेमुपन्नान्तं, तस्यैवायमुपसंचारः संख्तः। चता न पौनरक्त्यं।

⁽२) चिद्रना जन्न वो उर्धे धिमाः', (१ च० १ पा० २ सू०) इत्यसिन् भी-मांसासूचे इत्यर्थः । तचतत् सिद्धम्, — श्रेयस्तरत्वं जन्न वां, चोदना प्रमाचम्, — इति । तच, तचेव भाष्यादौ विस्तरते । तवान्तव्यम्।

⁽३) ष्यस्यस्त्रां च नानाग्राखागतिषद्गादिक स्पितानि प्रत्यच्चवेदमूष-षानि स्रोतधन्मानुष्ठानक्रमप्रतिपादकानि। तानि च, षाद्यायन-वौधायनादिभिः प्रकीतानि, तत्तनामा प्रसिद्धानि, स्रोतस्त्र्वापर-नामधेयानि वक्कनि।

तथा मंग्रहीतलात् । त्रतेन धर्मास विषयलम्"—दत्याग्रङ्घारः, 'भौचाचारम्'—दति । त्रयं भावः । दिविधाधर्मः ; त्रौतः सार्त्तश्च । तच, * त्राधानादि-पूर्व्वकाऽधीत-प्रत्यच-वेद-मूलोदर्श-पार्णमासादिः त्रौतः, त्रनुमित-पराच-भाखा-मूलः ग्रोचाचमनादिः सार्त्तः । तप श्राधानादेः कल्प-स्रवेषु मंग्रहेऽपि भौचादेरसंग्रहात् विषयलम्,—द्दति।

ननु स्वत्यन्तरेष्विप श्रीचादिरुकः,—इत्यतन्नाह,—'वर्त्तमाने काला युगे'—इति । काला युगे वर्त्तमाने सति, याजनाध्यापनादीनां जीवनाय श्रमणूर्त्तः, मानुषाणां जीवनाय, श्रम्युदयाय, निःश्रेयसाय च, हितः, स्करोयोधर्यः,—ब्राह्मण-कार्त्वकः क्रम्यादः, सोऽच प्राधा-न्येन प्रतिपाद्यते, इति श्रनन्य-लभ्यलात् विषयलम्,—इत्यर्थः ।

'यथावत्'—इतिपदेन कार्त्झाभिधायिना महोषं निवारयति । नलन्यया कथनम् निवार्यते, सार्हणां भान्ति-विप्रसम्भाद्यप्रमकः है^(९)। श्रतएव 'मत्यवती-सृत!'—इति मम्बोधनम्। यदा, योषिदपि मती माता, मत्य-वादिनी, तदा किसु वक्तयं वेदासार्यस्तत्-पुत्रः सत्य-वादी,—इति । 'स'कारेण सु-ग्रस्तं ससुस्विनाति ।

खान्याधानादि,—इति स॰ सेा॰ पुक्तकयोः पाठः ।

[†] जीवनाभ्युदयाय,--इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] कार्त्व्हामभिद्धानः—इति स॰ सा॰ पुत्तकयाः पाठः।

सिक्तृंगामभान्यविप्रलम्भाभ्यां तदप्रसक्तेः,—इति स॰ देश॰ पुस्तकयोः
 पाठः ।

[|] याचिदपि सत्यवती, - इति सु॰ पुस्तके पाठः।

⁽१) ध्नमादिभिरेव मिष्णाकथनं सम्भवतीतिभावः। इदमत्रावधेयम्। सार्चुणां सर्वेवां धान्यप्रसित्ताः प्रमाणविश्रेषाभावादसङ्गतेव प्रति-

श्वन, प्रोक्तानाम् * श्रधिकारि-प्रयोजन-विषयाणां परस्परस्वन-त्थोविस्पष्टः । तच, प्रयोजनाधिकारिणोर्थ्यमानार्थितम्; श्रधिका-रिभिः प्रयोजनसर्थाते । प्रयोजन-विषययोश्व जन्य-जनकथावः; ज्ञाते धर्मे तदनुष्ठानेनाभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धेः (१) । श्रधिकारि-विषययो÷ श्रोपकार्थ्यापकारकथावः; विषयः प्रयोजनसृत्पाद्य श्रधिकारिणं प्रत्यु-पकरोति । विषय-यन्ययोश्व प्रतिपाद्य-प्रतिपादकथावः । तदेव-समुद्ध-चतुष्टयस्य सुल्भनात् समान्दित-मनस्कैः श्रोत्वभिरस्मिन् सन्धे प्रवर्त्तनीयम्,—इति श्लोक-दयस्य तात्पर्यार्थः ॥

ननु, पराधर-सृत्यवतारे व्यामं प्रति-प्रश्लोव्यधिकरणः,—इत्या-धङ्ग स्नोक-द्रयेन परिहरति,—

तत् श्रुत्वा ऋषि-वाक्यन्तु स-शिष्योऽग्चर्क-सिन्नभः । प्रत्युवाच महातेजाः श्रुति-स्मृति-विशारदः ॥३॥ न चाहं सर्व्व-तत्त्व-ज्ञः क्यं धमा वदाम्यहम्। श्रस्मत्-पितेव प्रष्टव्यः—इति व्यासः सुतेऽब्रवीत् ॥४॥

पूर्वेतितानाम्, इति सु॰ पुस्तन पाठः ।

[†] समिद्धाधार्यसिद्धिभः—हति सु॰ मू॰ पुक्तके पाठः।

[‡] स्रतावदत्,—इति सु॰ मू॰, स॰ सा॰ पुस्तकेषु पाठः।

भाति। प्रख्नत, मीमांसायाः प्रथमेऽध्याये स्त्रतिपादे विरोधाधिकर्णे भाष्यकारादिभिः सर्म्लूंगामि भान्तिः समर्थिता दृश्यते। स्तर्यत् "विरोधे त्यनपेन्तं स्यादसति स्मृनुमानम्" (भी॰ १ स्व० ३ पा॰ ३ स्त०) इति भगवतार्जमिनेः सूचम्, "श्रुति स्तृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरी-यसं" ह्यादि जावाणादिवचनस् संगच्छते इति।

⁽१) धमीस्याभ्युदयक्षेतुलं साचात्, निःश्रेयसहेतुलन् चित्तश्रुद्धिदारा वेदनेत्यादनेनेति सार्तव्यम्।

इति । सुमन्तु-वेश्वमायन-जैमिनि-पैलेः चतुर्वेद-प्रवर्त्तकैः; पुराणप्रवर्त्तक-स्त-पिहतैः, शिय्यैः यह वर्त्तते,—इति सिश्यः। यया श्रिश्रक्वांलाभिरुपेतः, यथा सर्व्यारिक्षिभः, एवमसौ खममान-विद्यैः शिय्यैहपेतः । श्रतएव महातेजस्त्वम् । तेजः-श्रव्देनात्र ब्रह्म-वर्षमं (१) विवचितम्, इतरेण तेजसा प्रयोजनाभावात् । तासेव विवचां "श्रुति-विश्रारदः"—इत्यनेन स्पष्टयति । श्रुति-स्प्रत्योः क्रमेणान्यर्क-दृष्टान्तौ
योजनीयौ । श्रिशः मिन्तिष्टमेव दहन्निष, श्रहिन राजौ चाविश्रेषेण
दहितः, एवमधीयमान-प्रत्यच श्रुतिषु कतिपयाएव धर्माः ।श्रायमानाभवन्ति । युक्तावस्थायामयुक्तावस्थायाञ्चाविश्रेषेण् श्रायन्ते । एवं
युक्तावस्थायामेव सार्यमानाश्रपि, विप्रक्तिष्टश्च श्रिखलं भासश्रित । एवं
युक्तावस्थायामेव सार्यमानाश्रपि, विप्रकीर्णानेक-श्राखा-निष्ट-धर्माः
सर्वेऽिष सार्यक्ते । श्रथ वा,—तपमा श्रत्यन्त-परिश्रद्धोऽयम्,—
इत्यस्तिन्त्रये, श्रिश-दृष्टान्तः । "श्रिशः ग्रुचि-त्रत-तमः" इति श्रुतेः ।
वज्ञ-विषयाभियिक्ति-चराले, श्रकी-दृष्टान्तः ॥

ननु, एवं सित, 'न चाहं सर्ज-तत्त्व-श्वः'—इति वचनं व्याहतम्, न, तस्य पित्र-प्रशंसा-इपार्ध-वादलात्। "श्वपश्रवावाश्वन्ये गो-

^{*} श्रुतिस्तृतिविद्यारदः,—इनि स॰ सेा॰ पुस्तकयेाः पाठः।

[†] जायमाना, — इति सु॰ पुस्तने पाठः।

[‡] युक्तावस्थायाच विशेषेग,—इति स॰ चेा॰ पुत्तकयाः पाठः।

[🗴] नायन्ते,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[॥] श्रुचित्रततमः, --इति स॰ से।॰ पुत्तकयोः पाठः।

⁽१) ब्रद्धावर्षसं वेदाध्ययनतदर्धज्ञानप्रकर्वकृतं तेजः।

श्रविभ्यः"— हित वचनं घणा गवाश्व-प्रशंशार्थं, न लजादीनां पद्मुलं निषेधितः प्रत्यच-विरोधात्, श्रग्नीषोभीयादि-पद्मु विरोधाच, एव-मिदं व्याय-वचनं न व्यायस्य यर्व्यञ्चलं निषेधितः, किन्तु पितरं प्रशंसित। यद्दा,—गुरु-विषये विनयः कर्त्तव्यः,—हत्याद्याचार-श्रिचा-र्धामदसुक्तम्। श्रथ वा,—'नचाहम्'—हित वदते।व्यायस्यायमाश्रयः;—संप्रति किन्धिभीः एच्छ्यन्ते, 'न तावदद्यं स्वतः किन्धिभी-तन्तं जानामि, श्रस्मत्-पितुरेव तच प्रावीप्यातः; श्रतप्व, "किन्ता पाराश्रर—स्तिः"—हित वच्यते, यदि, पित्य-प्रसादात् मम तदिभञ्चानम्, निर्देशं, स्थव पिता प्रष्टव्यः; न हि, मून-वक्तरि स्थमाने, प्रणा-दिका(१) युच्चते,—हित ।

पालनात् 'पिता'। पालकतं च श्रव, कलि-धर्मीपदेशेन,— इति प्रसादानुसारेण द्रष्टव्यम्। श्रनयैव विवचया जनक-तातादि! श्रव्दानुपेद्य पित्र-श्रव्दं प्रयुक्षे। 'एवंकारेण, श्रन्ये सार्तारोव्याव-र्त्यंन्ते?। यद्यपि, मन्वादयः कलि-धर्माभिद्याः, तथापि, पराशर-स्थास्मिन् विषये तपाविशेष-वलादमाधारणः कश्चिद्विश्ययोद्रष्ट्यः। श्रया, काख-माधन्दिन काठक-केश्युम-तैत्तिरीयादि-श्राखासु कखा-दीनामसाधारणत्मम्, (१) तद्वद्वावगन्तव्यम्।

^{*} चन, 'तन'— इति खिधकं स॰ से।॰ पुक्तकयेाः।

[†] मदभिष्रामं,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] गुर्वादि,—इति स॰ पुक्तके पाठः।

[🖇] नेव्यावर्त्त्य नो,— इति मु॰ पुक्तके पाठः।

⁽९) प्रवाडिका-परम्परा।

⁽२) वैश्रमायने कि सर्वां श्राखामधीतवान्, कठः पुनरेकां, स तत्र ज्ञत-

यथाविधि-गुरूपसत्त्या विद्या-प्राप्तिः,—इत्यभिष्रेत्य, खपसिनं दर्भयति,—

ततस्ते ऋषयः सव धर्मा-तत्त्वार्थ-कांक्षिणः। ऋषिं व्यासं पुरस्क्रत्य गत्वा* वदरिकाश्रमम्॥५॥

इति । मर्वम वम्तुनि सामान्येन ज्ञाते विश्वेषणज्ञाते ज्ञाना-काङ्का भवति । धर्म-श्रन्थोऽत्र सामान्यमभिधन्ते, तत्त्वार्थ-श्रन्थो विश्वेषम् । तत्र, सामान्यम्—श्रधीत-वेदेन श्रुत-व्याकरणेन सवण-प्रमाण-कुश्वेन (१) पुरुषेण ज्ञायते । वेदोहि धर्म-सामान्यं निरूप-यति;—"धर्मीविश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा"—इति । (१)श्राखान्तराध्यायि-

[#] ग्रताः,—इति स॰ से।॰ सु॰ मू॰ पुक्तकेषु। जग्मुः,—से।॰ मू॰ पुक्तके पाठः।

वज्ज-परिश्रमे। जन्मातिश्रयो(न्येभ्योविश्रिष्यते। रतिवन्धनैव कठादिः संज्ञाविश्रेषाः श्राखाविश्रेषाणाम्। तथा च जैमिनिस्चम्। "खाखा- प्रवचनात्" (मी॰ १ च०, १ पा॰ ३ स्रः) इति। प्रक्षष्टं वचनं प्रवचनम्। तत्कृता कठादिसमाख्या वेदशाखानामिति स्चार्यः।

⁽१) समानासमानजातीयेभ्यो व्यवच्छेदलम् यत्, तत् लच्चणम्। प्रमिति-साधनं प्रमाणम्।

⁽२) ननु यस्यां प्राखायामियं श्रुतिनीत्ति तच्छाखाध्यायिनां क्यं सामान्यतो

मस् याकरण-वसात् तदिभिज्ञानम्। म्रभुद्य-निःश्रेयसे धार-यति,—इति युत्पत्तेर्द्शितलात्। (१) बीणादिक-प्रक्रियायामकुम्रस-येत् स्वणेन जानाति । श्रर्थने स्ति चोदना-गम्योधसः,—इति स्वणम्। तम्, श्रर्थ-म्रस्ट्रेन स्प्रेनाद्यभिचाराणाम् न्यन्यानां निष्टित्तः। "स्रोनेनाभिचरन् यवेत"—इति श्रुत्युक्तस्यः स्रोन-नामक-याग-फस्सस्य मनु-वधस्य "न दिस्यात् सर्वास्तानि" इति निषेध-विषयलेन श्रमर्थलात् तद्वेतोः स्रोनस्यायनर्थलम् स्रोनस्य सर्पतानिधेश विषयलात् विधेयलमयविद्द्वम्(१)। न च, निषेध-विषयलेनाग्री-पोमीय-वधस्यापि श्रर्थमस्ट्रेन व्यावर्त्यलाद्याप्तिः,—इति मङ्गनीयम्। तम्, विशेष-विधिना सामान्य-निष्धस्य श्रपोद्यत्तात्।। चोदना-

^{*} जानातु,—इति स॰ सेा॰ पुस्तकयाः पाठः ।

[†] ग्रोगाभिचरवादीनाम्,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] इति स्रुतेबक्कस्य,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[§] सर्वेभूतानि,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[∥] खगोपितलात्,—इति स॰ सेा॰ प्रत्तकयाः पाठः।

धर्मज्ञानित्याप्रज्ञाच प्राखान्तराध्यायिन इति । कर्त्तरि वस्तीयम् । कर्द्धत्वसाभिज्ञानिक्रयापेच्यया दस्ययम् ।

⁽१) दर्शितायायुत्पत्तेरौगादिकप्रक्रियासाध्यत्वात् तत्रायुत्पद्मस्य सामा-न्येन धर्मात्रे उपायमात्र स्रोगादिकेति ।

⁽२) तथा च ख्रेनादेः खरूपते। विधेयत्वं वास्तवमेव। प्रसद्धारा त्वनर्थत्वमौपचारिकमेवेति भावः। तदुक्तम् (मी॰ स्नो॰ वा॰ १ ख॰ १ पा॰
२ स्त०)। "श्रेनादीनां विधेयत्वादिखस्यापि च साधनात्। उपचारादनर्थत्वं प्रसद्धरेण वर्ण्यते"—इति। सर्व्वमेतत् चोदनासूचवात्तिंके
विसारता विचारितम्।

शब्देन प्रत्यचादेवी हितः। 'घटं कुष्'—इति सौकिक-विधावति-व्याप्तिः(१)—इति चेत्। म, चोदना-शब्दस्य वेद-विषये प्रसिद्धलात्, पद्मभादाविव श्ववयवार्थस्य प्रहन्यनिमित्तलात्(१)। जक्ष-सन्नणाभि-धानेनैव 'धर्मी चोदना प्रमाणम्'—इत्यर्थादभिहितं भवति^(१)। एवं सन्नणादिभिः सामान्येन श्वातेऽपि ऋषीणां तिद्विश्चेष-श्वाने भवत्ये-वाकाञ्चा।

तत्र, विशेष-प्रश्न-कुशस्त्रात् धासस्य पुरस्कारः (४)। कलि-कलाष-विमेश्चन-ऐतुलात् श्रवय्य-फल-ऐतुर्लाच वदरिकाश्रम-निवासः (५)। तद्कां कूर्य-पुराणे,—

> "वद्यांश्रममासाद्य सुच्छेत किल-कल्मवात्। तत्र नारायणोदेवानरेणास्ते सनातनः। श्रव्यं तत्र दत्तं स्थाष्ट्रण्यं वाऽपि तथाविधम्। महादेव-प्रियं तीर्थं पावनं तदिशेषतः। तारयेष पितृन् सन्नाम् दत्त्वा श्राद्धं विशेषतः"।

इति ॥ ५ ॥

⁽१) तस्यापि क्रियाप्रवर्त्तकवाकात्वेन चोदनात्वाविशेषादित्वभिमानः।

⁽२) तथाच चोदनाश्रन्दः पञ्जादिश्रन्दवत् ये।गरूढ़ः, इति न ये।गार्श्वमाचं तच प्रवृत्तिनिमित्तं येन लोकिकविधावितयाप्तिः स्यात् । किन्तु प्रसिद्धा वैदिकविधिवाक्यमाचे तस्य प्रवृत्तिरितिभावः ।

⁽३) ''चोदनालचार्यो उर्धोधर्माः''—(मी० १च०, १ पा०, २ स्०) इति सूर्यं प्रकथता जैमिनिनेतिश्रेषः।

⁽८) प्रस्तारीऽयतः करणम्।

⁽५) पराधरस्थेति भ्रेषः। पराधरं प्रस्नुस्वीकां तत्र ग्रम्नेन तस्य तिवा-सत्य प्रतीतेः।

पराषरस्य तपोमिश्मानं प्रस्थापियतुमात्रमं विधिनिष्टि,— नाना-पुष्प-स्ता-ऽऽकीर्षि पस्त-पुष्पेरसङ्कृतम्। नदी-प्रस्ववणोपेतं पुष्य-तीर्थीपशोभितम्॥ ६॥ स्ग-पिस-निनादाद्यं देवताऽऽयतनादृतम्।। यस-गन्धर्व-सिद्येश्वं (१)नृत्त-गीतेरसङ्कृतम्॥॥७॥

इति । श्रत्युन्तरेन तपमा फलिमिरैवाविर्भवति । तथा मित, यादृशं फलसुत्वरमुपलभ्यते, तादृशस्य तपमजन्तर्षे निस्तेतयः; इर च, तेषु तेषु श्वतुषु ममायमानानां पृष्पाणां नानाविधानां । निरन्तरं मङ्गीर्णत्वसुपलभ्यते, तते दिवार्षन खचणं तपः पक्तम्,—इति गम्यते । एवं फल-रुन्दोत्कर्षात् श्वाहार-नियतेः (१) परिपाका-

^{*} नानारुच्चसमाकोर्थेम्,—इति सु० मू० से१० मू० पुक्तकयेाः पाठः।

[†] स्रापिचागाच्यस,—इति सु० मू॰ पुन्तके पाठः।

[‡] देवतायतनास्पदं,— इति सा॰ मृ॰ पुन्तके पाठः।

यचित्रदिसिद्धेख,-- इति से । मू॰ पुक्तके पाठः ।

[॥] द्वयगीतेरलङ्गतम्,—इति स॰ सा॰ पुत्तकयाः, न्दत्तगीतसमाकुतं, —इति मु॰ मू॰, सेा॰ मू॰ पुत्तकयाः पाठः।

[¶] ऋतुषु,—इति स॰ सेा॰ पुस्तकयानीस्ति ।

^{##} मानाविधामां पुष्पाखाम् ,—इति स॰ सा॰ पुत्तकयाः पाठः।

⁽१) ''च्यं पदार्थाभिनयान्दत्तं ताललयात्रितम्'',—इति चन्द्रिका।

⁽२) नियतिर्नियमः । चिभिनाविनयमने खल्वभिनवनीयसौकर्यं पतञ्जलिना प्रायः सिद्धिपनतया कथितम् । यथा, चन्त्रेयसिद्धी सत्यां रत्नानामु-पस्थानम् । तच यत्तं पातञ्जन-साधन-पादादौ । तुल्यन्यायतया प्रक्ष-तेषि चाचार्यात्कवं चाचार-नियमस्य पनतया कल्यते,—इति भावः । एवं पर्त्रापि ।

निश्चीयते । घर्म-कालेऽपि श्रविक्तिने नदी-प्रवाहेण स्नान-निध-ति-पाकावगमः । पुखतीर्धं * विष्णु-गङ्गादि । पुख-तीर्ध-ग्रोभया प श्रात्रमस्येतस्य तपेऽतिग्रय-जनकले हेतुरूपन्यस्तः॥

स्मादीनामन्योन्य-वैर-त्यागेन निर्भयाणां विस्तः योगिनादः, तेना हिंसाऽनुष्ठान-सिद्धिर्दार्थता । तथाच योग-श्रास्ते पतञ्जलिः, यम-नियमादीनां क्रमेण सिद्धि-लिङ्गानि^(१) स्त्रचयन् श्रहिंसा-सिद्धिं स्त्रचयामासः;—"तत्सिन्धो वैर-त्यागः"—(२पा० ३ ५स्०)^(२) इति।

पूर्वे महर्षयोऽच नपश्चरनः एकैंकं देवालयं निर्मिमिरे! तैः सर्वेरावृत्ततम् श्रस्थाश्रमस्य तपाऽतिश्रय- हेतुतायां, सर्व-सम्प्रतिप- त्तेर्लिङ्गम् (१)।श्रयवा,—चन्द्र-स्वर्थादयोदेवाः पूर्विसिन् जन्मिन मनुष्याः सन्तेऽचैव नानाविधेष्वायतनेषु तपस्त्र्या देवलं लेभिरे,—इति विव- चया देव-नामाङ्कितेरायतनेरावृतम्,—इत्युक्तम् । यन्तादयः १ पूर्व- जन्मानुष्ठित-तपः-फलं देव-योजिलमनुभवन्ते।ऽण्यचागत्य एतदीय-

^{*} उषातीर्थं,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] विष्णुगयादि, - इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः।

[.] ‡ निर्म्भितवन्तः,—इति स॰ सा॰ नुक्तकयाः पाठः।

[🖇] पच्चादयः, — इति स॰ से।॰ पुक्तकयोः पाठः। एवं परच।

⁽१) यमनियमादयस्व, ''यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रायाद्वार धारणा ध्यान-समाधयाऽछावङ्गानि'' (२ पा॰, २६ सू॰) इति यागसूत्रोत्ताः। एषां विवर्णं तत्रेव द्रस्थम्।

⁽२) तस्य स्वित्तं प्रतिष्ठस्य सिव्धानात् प्राश्वितन-वैराणामप्यन्ति-नकुला-दीनां वैरत्यागी भवतीत्वर्थः।

⁽३) यदि हि स्वस्यात्रमस्य तपे। तिश्य-हेतुतायां कस्यचिद्विप्रतिपत्तिः स्यात्, तदा सर्वेषास्वीयां तत्र तपश्चर्यां देवालद-निकीयश्च ने।पपद्यते, — इति भावः।

इति॥

तपेरितिश्रयं दृष्ट्वा इयन्ते नृत्यन्ति गायन्ति च। श्रनेन देवैरिप श्रयंत्रीयतम् श्राश्रमस्य पद्शितम्। युक्तं चैतत्, देव-जन्मनेरिष्युत्त-मस्य^(१) फलस्यात्र मन्यादियतुं श्रकातात्। श्रयवा,—यज्ञादयोसुनु-चतः सन्तेरित्रागत्य "से।ज-माधनत्वेन नृत्त-गीताभ्यां । द्रिश्वरं भजन्ते। श्रतएव याजवहक्येनेदसुक्तम्—

> "वीणा-वादन-तत्त्वज्ञः श्रुति-जाति-विधार्दः । ताल-ज्ञञ्चाप्रयासेन मेाच-मार्गं निगच्छति" (१) ॥

गुरूपयत्तावनुष्ठेयं प्रकार-विशेषं दर्शयति,—
तस्मिनृषि-सभा-मध्ये म्यक्ति-पुनं पराश्ररम्।
सुखासीनं महातेजाः भीन-मुख्य-गणाद्यतम्॥८॥
कताज्जलि-पुटाभूत्वा व्यासस्तु ऋषिभिः सह॥।
प्रदक्षिणाभिवादैश्र स्तुतिभिः समपूजयत्॥ ८॥

^{*} मेः च, -- इति सु॰ पृक्तको नास्ति ।

[†] न्द्रत्यगीताभ्यां,—इति स॰ सा॰ पुस्तक्याः पाठः।

[‡] प्रितितु, – इति सु॰ मू॰ पुस्तके पाठः ।

र्भ महात्मानं, — इति सु॰ मू॰ पुक्तको, महातेजामुनिमुख्य,— इति सेा॰ मू॰ पुक्तको पाठः।

[॥] व्यासस्य ऋषयस्तथा,—इति से। मू॰ पुन्तके पाठः।

[¶] पर्य्यपूज्यत्, इति सा॰ मू॰ पुक्तको पाठः

⁽१) मे। चरूनम्येवर्थः।

⁽२) श्रुतिनीम खरावयवः ग्रब्दविशेषः। जातयः षड्जाद्याः खरभेदाः सप्त श्रद्धाः, सङ्कीर्णास्त्रेकादग्र। मिलित्वा त्वछादग्र भवन्ति। तालः कालिकायामानं गीतप्रमाणमिति यावत्।

इति । 'तिसान्', - इति श्राश्रमे किः । वच्छमाण-धर्माणामश्रेषमुनि-मम्मतलं दर्शियतुम्, 'च्छिष-सभा'—इत्युक्तम् । च्छिष्विपि विश्रेषेण स्प्रति-कारिणां गोच-प्रवर्त्तकानां (१) च, श्रेषि-याञ्चवस्त्रादीनां
सम्पत्तिं विविचला श्राइ, 'मुनि-मुख्य'—इति । न केवलं तपाबलेन
पराश्वरस्य महिमा, किन्तु विशिष्ट-जन्मनाि , -- इत्याइ, शक्ति-पुत्रम्, -इति । श्रयञ्च महिमा, 'पराश्वर'—श्रञ्द-निर्व्चन-पर्याले चनया
विस्पष्टमवगम्यते । तच्च निर्व्चनं महिंद्वहृद्वम्, --

"पराक्षताः ग्रराः यसात् राचमानां बधार्थिनाम्। श्रातः पराग्ररेगाम ऋषिरुत्तेमनीषिभः। परस्य कामदेवस्य ग्रराः मंमोद्दनादयः (९)। न विद्यन्ते यतस्तेन ऋषिरुत्तः पराग्ररः। परेषु पाप-चित्तेषु नादत्ते के।प-खचणम्। ग्ररं, यसात् ततः प्रेष्ते ऋषिरेष पराग्ररः। परं मातुर्निजायायदुदरं तदयं यतः। स्चमुचार्यं निर्भद्य निर्गात् स पराग्ररः'। दिनस्यां परिश्वं निर्मद्य निर्मित्व निर्गात् स पराग्ररः'। दिन्ते। 'सुख'-ग्रन्थेनेकाय्यं च विवचितम्;—चित्तस्याग्रेष-विचेप-

* ऋिवरेव,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) गेराचं वंशपरम्पराप्रसिद्धमादिपुरुषत्राद्धाणखरूपम्। तच काश्य-पादि प्रसिद्धमेव।

⁽२) सम्मोद्दनादयस्र, - ''सम्मोद्दनीन्मादनी च ग्रीवग्रस्तापनस्तथा। सम्भ-नस्रेतिकामस्य पञ्च वाणाः प्रकीर्त्तिताः"— इत्यनेनेक्ताः।

परिहारे के काय्यं यथा भवति, तथापविष्टमित्यर्थः । ऐकाय्य-श्रासीन-महातेजः-पदानि पूर्वं व्याखातानि ॥

'श्रञ्जिल'-परेन भत्त्वितिशयोद्योत्वते । परया भत्त्वा गुरूपदि-ष्टार्थ-तत्त्वमाविभवति । तथाच, श्वेताश्वतर-शाखायां श्रूयते,—

"यस देवे परा भिक्तर्यया देवे तथा गुरी।

तस्वैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महाक्षानः"।

इति । श्रन्तरेण गुरुभित्तसुपदिष्टोऽप्यर्थेनिष्मलोभवति । तदपि कचित् श्रूयते,—

> "श्रधापिता ये गुरून्" माद्रियन्ते विप्रावाचा मनसा कर्माणा वा । यथैव ते न गुरूभिभीजनीयाः † तथैव तान् न भुनिक श्रुतं तत्"।

दित । यथा गुरुमनाद्रियमाणाः शिष्याः न गुरुणा पालनीणाः^(१)
तथा तत् श्रुतमपि तान् । शिष्यान् ख-फल-दानेन न पालयित,—
दत्यर्थः । देववद्गरोः पूजनीयलात् तिसान् प्रदिचिणादयोयुज्यन्ते ।
तिर्हे, श्रावाद्दनासन-खागतादयोऽप्युपचाराः प्राप्यन्ते,—द्दित चेत्,
प्राप्यन्तां नाम, प्रदिचिणादीनासुपलचणलात् । श्रुप्यवा,—दूरादागत्य

^{*} गुर्त,--इति स॰ से।॰ पुक्तकयाः पाठः।

[†] गुराभाजनीयाः, - इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

[‡] तत् श्रुतमधीतान्, — इति सु॰ पुक्तको पाठः।

⁽१) 'भुजपालनाभ्यवद्यार'-इति धातुपाठादयमर्थे। लभ्यते।

गुर-दर्शनं कुर्व्नतासु चिताः प्रदित्तिणादयएव,—इति सावक्ते।उप निर्दिष्यन्ते ॥

जकोषमत्त्रेयशादिधितं द्यातियतं, गुराः परितोष-पूर्वकं क्रपा-विशेषमाद्शेयति,—

ततः * सन्तुष्ट-हृदयः । पर्श्यर-महामुनिः ।
श्वाह सुस्वागतं ब्रूहीत्यासीनामुनि-पुक्रवः ॥१०॥
इति । गुर-धन्तेषस्य श्रेयोहेतुलमन्य-यतिरेकाभ्यां पुराणधारेऽभिहितम्,—

"गुरावतु छेऽतु छाः खुः सर्वे देवाः दिजात्तमाः!।
तु छे तु ष्टायतस्तसात् सर्वे-देवमयोगुरुः।
श्रेयोऽर्थी यदिः, गुर्वाज्ञां मनसाऽपि न सङ्घयेत्।
गुर्वाज्ञा-पालके।यसात् ज्ञान-सम्पत्तिमश्रुते"।

इति। श्रादर-पूर्वनेण खागत-प्रश्नेन क्रपानिभेषोदर्भितः। श्राद-राष्टां सु-भन्दस्य दिक्तिः (१)। श्रथना,—सु-भन्देनेनेन श्रागमने । स्नोतिनं सीख्यसुक्तम्, दितीयेन यथाविश्वपसत्ति-लचणं श्रास्तीयं सीष्ठवसुच्यते। च्हविष्वागतेषु पराभरेणाभ्युत्थातव्यम् १ इति भक्कां

खय,— इति स॰, से।॰, सु॰ मू॰ प्रक्तिषु पाठः ।

[†] सन्तुष्ट-मनसा, — इति सु॰ मू॰ पुक्तको पाठः।

[‡] खागमने,--- इति सु॰ पुन्तके नास्ति।

[🖇] पराश्ररेणाप्युत्यातचम् ,—इति मु॰ पुक्तके पाठः ।

⁽१) सागतशब्देपि सुशब्दस्य प्रविख्लात् यस्य दिविति विध्यम्।

वारयति 'त्राधीनः'—इति । तच हेतुलेन पराधरोमहामुनि-मुनि-पुजन-धन्द-दयेन विधियते । महामुनि-मुनिपुजन-धन्दे क्रमेण वयसा विद्यया च ज्येष्ठलमाहतुः । उभयविध-ज्येष्ठगात् न अनेना-भुत्यातव्यम् ॥

त्रासीनेन यथा खागतं पृष्टम्, एवमागतेनायविक्यतस्य कुणलं प्रष्ट्यम्। त्रतः प्रथमं तत् पृष्ट्यां गुरूणां खकीये कुणलेऽभिदिते सित पश्चात् वुसुत्सितार्थं पृच्छति,—हत्याह,—

कुश्रलं सम्यगित्युक्ता व्यासः पृच्छत्यनन्तरम् ।

रति । जक्का, गुरु-मुखात् कुग्रलं श्रुत्वा च,—रत्यधाहृत्ये योज-नीयम्॥

बुभुत्सितार्थे प्रश्न-प्रकारं दर्भयति,—

यदि जानासि भिक्तां मे॥ स्नेहादा भक्त-वत्सल ॥११॥ धर्मी कथय मे तात! अनुयास्चोस्चहं तव॥।

पराग्ररः ग्रब्ददयेन,—इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः ।

[†] ततः प्रथमं तत्त्वविदा,—इति मु॰ पृत्तको पाठः।

[‡] खासः सुखागतं ये च ऋषयन्तृ समन्ततः। कुग्रलं सम्यगित्युक्ता व्या-सेाऽएच्छ्त्ततः परम्,—इति सेा० मू० पुन्तके पाठः। मृ० मू० पुन्तके तु, पूर्वार्डमेवमेव। उत्तरार्डे तु,—कुग्रलं कुग्रले युक्ता व्यासः एच्छ्-खतः परम्,—इति विशेषः।

[🖇] **इत्यारुत्या,—इति स॰ से।॰ पुन्त**कयोः पाठः ।

में भित्तं─इति सेा० मू०, मु० पुक्तकयेाः पाठः ।

ण ह्यन्याह्योप्यहं तव,—इति मृ॰ पुक्तको, अनुग्राह्योजनस्तव,—इति से।॰ मृ॰ पुक्तको पाठः।

दित । प्रियः प्रियः पुत्रोवा रहस्रोपदेशमईति, नेतरः । सेाऽयमर्थः क्रन्दोगैर्मधु-विद्यायामाम्नायते । "दृदं वाव च्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रबूयात् प्रणाय्याय^(१) वाऽन्तेवासिने नान्यसी कसीचन"— दित । श्रते।ऽत्र, व्यासस्य पुत्रलं श्रिय्यलं च श्रस्ति,—दत्यभिप्रत्य पच-द्योपन्यासः । यदि लिङ्गिर्मदीये मानसे भित्त-विशेषोऽनुमीयते, तदा तव भक्त-वत्सललात् श्रिय्य-बुद्धा मामनुग्रहाण्, श्रननुमानेऽपि पुत्र-खेदात् श्रनुगाह्योऽदम् । सर्व्यथाऽप्युपदेष्ट्यएव धर्मः ॥

ननु, सन्ति बद्दवेधिमाः मन्तादिभिः प्रोक्ताः, तत्र कोधर्मीः भवता वुभुत्सितः? दत्याश्रङ्घा, वुभुत्सितं परिशेषयितुं बुद्धान् धर्मानुपन्यस्वति,—

श्रुतामे मानवाधर्मावाशिष्ठाः काश्यपास्तथा॥१२॥ गार्गेयागातमीयाश्च तथा चाश्रनसाः श्रुताः । श्रवेर्व्विष्णेश्च संवर्त्तात् दक्षादङ्गिरसस्तथा । १३॥

^{*} प्रायाच्यायसेऽन्तेवासिने वाऽन्यम्मे,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[†] गार्भेय-गैतिमाथास्व,-इति मु॰ पुस्तके पाठः।

^{‡ &#}x27;श्रुताः' इत्यन, स्रुताः—इति स॰ से।॰ पुक्तकयोः पाठः। इदं स्थी-कार्डमेवान्यन्नान्यचा पठितम्। तथान्ति,—गार्गेया गातमान्त्रेव तथा, नाम्रनसाः स्रुताः,—इति मृ॰ मू॰ पुक्तके, गार्गेय-गीतमाधम्माः तथा गोपालकस्य न,—इति से।॰ मू॰ पुक्तके पाठः।

[§] खत्रेर्विक्षोख सांवर्तादात्ता चाङ्गिरसत्तथा,—इति मृ॰ मृ॰ पुत्तके, खत्रेर्विक्षोख संवर्ताद्वाङ्गिरस एव च,—इति से।॰ मृ॰ पुत्तके-पाठः।

⁽१) प्रयाज्याय सम्मताय।

श्रातातपाच हारीतात् याज्ञवल्कात्तयैव च*। श्रापस्तम्ब-छता धर्माः श्रङ्खस्य लिखितस्य च॥१४॥ कात्यायन-छतास्रैव तथा प्राचेतसान्मुनेः।

दित । 'से श्रुताः' सया श्रुताः,—दत्यर्थः । संबन्ध-सामान्य-वाचिन्याः पश्र्याः ! कर्त्तृ-कृति-लचणे विशेषे पर्यवसानात् । 'श्रुत्रेः'—दत्यादीनां पञ्चस्यन्तानां 'श्रुताः'—दत्यनेनानुषकेन संबन्धः । श्रापखन्बेन कृताः प्रोक्ताः,—दति यावत् । श्रङ्खास्य लिखितस्य च संबन्धिने।धर्माः (१) । ताभ्यां प्रोक्तलं तत्मंबन्धिलस् । प्रचेताएव प्राचेतसः । वायस-राच-सादावित्र खार्थे तद्धितः (१) । श्रस्तु वा, प्रचेतसः पुत्रः कञ्चित् धर्मा-श्रास्त्वकारः ।

ननु, मानवादयः (२) सार्त्त-धर्माः श्रुताश्चेत् , तर्हि मा नाम ते व्युत्रस्थन्तं श्रीतास्त्रग्निहा वादयोवुभुत्रियन्ते १ दत्यात्रश्चा इ.—

^{*} प्रातातपास हारीता याज्ञवल्काम्बतास ये, - इति मु॰ मू॰ पुस्तके, प्रातातपस्य हरितः याज्ञवल्काम्बतास्तया, - इति से।॰ मू॰ पुस्तके पाठः।

[†] प्राचितसञ्जतास्व ये,—इति सु॰ मू॰ पुक्तके पाठः। स्वापक्तम्ब,— इत्यादि, कात्यायन, इत्यादि स्नोकार्डदयं विपर्थस्य पठितं सु॰ मू॰ पुक्तके, से।॰ मृ॰ पुक्तके च।

[‡] संवद्धसामान्यवाचिन्या षष्ठ्या,—इति मु॰ पुक्तने पाठः।

[🖇] वृभुत्यन्ते,—इति मु॰ पुस्तके पाठः ।

⁽१) श्रुताः,—इत्यनुषक्तीनान्वयादय्यः।

⁽२) वयः (पच्ची) एव, वायसः, रच्च एव राच्चसः,—इति खार्चे तिद्धतः।

⁽३) मने।रिमे मानवाः (प्रोक्तात्वं तत्सम्बन्धः) ते खादयायेषां स्मार्त्तधम्भागां ते तथाक्ताः।

श्रुताह्येते भवत्-प्रेरिताः श्रुत्यर्थामे न विस्मृताः ॥१५॥ श्रुस्मिन् मन्वन्तरे धर्माः क्षत-चेतादिके युगे ।

इति। ये प्रत्यच-श्रुतीनामर्थाः श्रिष्ठिचाद्योधर्माः, एते मया श्रुताः। तदेतत् तवापि प्रिष्ठ्रम्,—इति द्यातनार्थे। हि-भ्रन्दः। तव हेतः; 'भवत्-प्रोक्ताः'—इति। व्यामः पराभ्ररादधीतवान्,—इति पौराणिकाः। श्रुतानामपि विस्तिश्चित्, पुनरपि स्मरणभपेन्द्येतं,— स्त्याभञ्च 'न विस्ताः'—इत्युक्तम्। प्राथेणाग्निहाचादीनां कला दुर्णभलमभिप्रेत्य 'इत-चेतादिके' दत्युक्तम्। श्रादि-भ्रव्देन द्वापरं ग्रुद्धते। 'श्रुस्मिन् मन्यन्तरे'—इति निर्देशः प्रदर्भनार्थः। नतु, भन्य-न्तराख्यतीतान्यनागतानि वा व्यविक्ष्यन्ते। तद्यवन्त्रदे प्रयोजना-भावात्। न हि, नानाविधेषु मन्यन्तरेषु धर्मे भिद्यमानं किचिदुप-स्त्रामहे। श्रुस्मिन् मन्यन्तरे क्रतादिकेषु युगेषु प्रायेण सन्धाविन्तानुष्ठानाः प्रत्यव-श्रुत्यर्थाः ये धर्माः, तेऽपि मानवादि-स्नान्तं-धर्मवत् श्रुतलान्न वृभुत्सिताः॥

इदानीं परिषिष्टं वुभुत्मितं प्रच्छति,—

सर्व्वे धर्माः क्षते जाताः सर्व्वे नष्टाः कलौ युगे ॥ १६ ॥ चातुर्व्वर्ण्य-समाचारं किच्चित् साधारणं वद ।

इति । सर्व-मन्दोदेश-कालावस्थादि-भेदेन धर्माणां वज्जविधलमा षष्टे । एतच महाभारते श्रानुशायनिके पर्वणि उमा-महेश्वर-संवादे प्रपञ्चितम्,—

^{*} श्रीतार्थास्ते,-इति स॰, सा॰, सु॰ मू॰ पुत्तकं बु पाठः।

[ं] श्रवणमपेच्येत,—इति समीचीनः पाठः।

"धर्माः वज्जविधाः" लोके श्रुति-भेद-मुखेद्भवाः^(१)। देश-धर्माश्च दृश्यन्ते कुल-धर्मास्त्रधैव च । जाति-धर्माः वयो-धर्माः गुण-धर्माश्च श्रोभने ! । शरीर-काल-धर्माश्च श्रापद्धमास्त्रधैव च^(१)। एतद्धमंख नानालं क्रियते लेकि-वासिभः"।

द्दति। ते च सर्चे धर्माः प्राणिभिः कत-युगे यथावदनुष्ठिताभवन्ति, युग-सामर्थेन धर्मास्य चतुष्यदे।ऽपि ऋपरिचयात् । चेतादिषु क्रमेण चीयमाणाधर्माः कलि-युगावसाने सर्व्वात्मना विनष्टाभवन्ति । तदेतत् सर्वे पुराण-सारे विस्तरेण प्रदर्शितम्,—

"कृते चतुष्पात् सकले।याजापाधि-विवर्ज्जितः १।

[🍍] चतुर्व्विधाः, — इति स॰ सा॰ पुक्तकयेाः पाठः ।

[†] खपरिच्तयः,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[🗓] प्राणकारेण,—इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः।

[🞙] निर्वाजापाधिवर्ज्जितः,—इति स॰ सा॰ पुन्तकयाः पाठः।

⁽१) मुखग्रब्दोऽत्र खादार्थः। श्रृतिभेदमुखेभ्य उद्भवायेषां ते तथाक्ताः।

⁽२) देश्रधमाः प्राचादिभिरन्छीयमानाहीलाकादयः। कुलधमाः, "वा शिष्ठाः पश्चचूडाः स्वृः"—इत्यादयः। जातिधमाः ब्राह्मणादीनां याजनादयः। वये।धमाः खरुवर्षस्योपनयनमित्वेवमादयः। गुण-धमाः खभिषिक्तस्य प्रजापालनमित्वादयः। यज्ञेदमुक्तम्, "यागु-योन प्रवर्त्तेत गुणधमाः स उच्यते। यथा मृद्धीभिषिक्तम्य प्रजानां परिपालनम्"—इति। श्ररीरधमाः कृष्णकेश्रस्याधानं प्रलितिश्रर्रः सावन-ग्रमनमित्वादयः। कालधमाः संक्रान्त्यादौ दानादयः। स्वाप द्वमाः खापदि सर्व्वामनन्तरादित्वादयः।

हषः (१) प्रतिष्ठिते। धर्मी मनुष्येष्वभवत् * पुरा ।
धर्मीः पाद-विद्यीनस्त चिभिरंभीः प्रतिष्ठितः—
चेतायां, दापरेऽर्द्धेन व्यामिश्रोधर्माद्यते ।
चि-पाद-दीनस्तिय्ये तु मत्ता-माचेण तिष्ठते" ।
दिति । तियः कलिः । तथा व्हस्पतिरिप् !—
"क्षतेऽभ्रत् सकले। धर्मास्त्रेतायां चिपदः १ स्थितः ।
पादः प्रविष्टोऽधर्मस्य मत्सर-देष-सम्भवः (२) ।
धर्माधर्मी समी भ्रता दिपादी दापरे स्थिता ।
तिय्येऽधर्मस्तिभः पादैः ॥ धर्माः पादेन संस्थितः" ।
दिति । तथा स्तुन-पुराणे कस्ति धर्मा-नामं प्रस्तत्य तद्धेतुन्वेन पुरुष-

"श्राद्ये कृते तु योधर्मः स चेतायां प्रवर्त्तते । दापरे व्याकुलीस्तः प्रणयति कली युगे । तिथ्ये मायामस्याञ्च वधञ्चैव तपस्तिनाम्—

.दोषउपन्यस्तः,—

मनुखेळवसत्,—इति स॰ सेा॰ पुक्तक्षयाः पाठः ।

[†] दापरे लर्ज तथा धर्मीऽवितिष्ठते, - इति स॰ सेा॰ पुस्तकयेाः पाठः।

[‡] टहस्पतिनापि, - इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[§] त्रिपदि, - इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[॥] तिछ्ये धर्माः स्थितिः पादैः,—इति सु० पुस्तके पाठः।

⁽१) व्यः व्यक्पी।

⁽२) मत्सरद्वेषसम्भवे। धर्मम्य पादः धर्मस्य चीणपादस्थाने प्रविष्ठ इत्यर्थः।

साधयन्ति नरास्तत्र तममा व्याकुलेन्द्रियाः"। इति । विष्णु-पुराणेऽपि,—

"वर्णात्रमाचारवती प्रवक्तिन कली नृणाम् । न माम-यजुर्च्यवर्ग-विनिष्पादन-हेतुका'' । इति । त्रादित्य-पुराणेऽपि—

"यसु कार्त्त-युगे धर्म्कीन कर्त्तवः कसौ युगे । पाप-प्रसक्तास्तु यतः कसौ नार्य्वीनगस्तया" ।

दिति । श्रतः कलौ प्राणिनी प्रयाम-साध्ये धर्मी प्रवत्यसक्षवात् सुकरे।धर्मीऽत्र वुभुत्सितः । स च दिविधः चतुर्णां वर्णानां साधा-रणोऽसाधारणञ्च । तत्र, साधारणोवहस्यतिना निरूपितः,—

''दया चमाऽनस्रया च ग्रीचानायास-मङ्गलस्(१)।

श्रकार्पणासृहते च सर्व-साधारणाइ.मे"!।

इति । तथा विष्णुनाऽपि,—

"चमा सत्यं दमः ग्रौचं दानमिन्त्रिय-संथमः। श्रिहिंसा गुरू-ग्रुश्रृषा तीर्थानुसरणं दया।

[#] युगे,—इति स॰ खेा॰ पुस्तकयाः पाठः ।

[†] न सामऋग्यजर्व्बर्भविनिष्पादनहेतुकौ,-इति स॰से।॰ पुक्तकयेाः पाठः।

[‡] सर्वेसाधारणोविधिः,— इति स॰ सेा॰ पुक्तकयोः पाठः ।

⁽१) दयादिलच्यानि रहस्पितिनेव दिश्तिन। परन्त प्रसिद्धसात्तान्य-पेच्य केवलमनायास—मङ्गलये। लेच्यामुच्यते । 'श्रिश्रं पीद्यते येन सुत्रभेनापि कर्म्भणा। अत्यन्तं तन्न कुर्व्वीत चनायासः स उच्यते । प्रश्नताचरणं नित्यमप्रशक्तिववर्जनं। एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तम्धिभिक्त-चदिश्रिभिः"—इति ।

श्राता-पलमखेशिलं (१) देवतानाञ्च पूजनस् । श्रनभ्यस्या च तथा धर्मः सामान्यउच्यते"। श्रमाधारणेऽपि वहस्यतिना सार्य्यते !—

> 'खाधायोऽधापनञ्चापि यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चापि षद कम्माण्यजन्मनः। दच्चाऽध्ययन-दाने च प्रजानां परिपालनम्। प्रस्तास्त्रश्चारणं^(२) सेवा कर्माणि चवियस्य तु। खाध्यायोयजनं दानं पप्रदुनां पालनं तथा। कुमीद-कषि-वाणिज्यं^(२) वैभ्य-कर्माणि सप्त वै। श्चीचं ब्राह्मण-श्रुष्ट्रष्ट्र सत्यमक्रोधएवच। श्रुद्ध-कर्म्म तथा सन्त्रोनस्कारे।ऽस्य चोदितः''।

इति। गीताखपि भगवानार,—

''ब्राह्मण-चित्रय-विशां इद्धारणाञ्च परम्तपः। । कर्माणि प्रविभक्तानि एवधान-प्रभवेगुणैः ।

[†] देवब्रास्मणपूजनम्,—इति सु॰ वि॰ स॰ पाठः।

[‡] खसाधारणांच टहस्पतिना सार्थन्ते,—इति सु॰ युक्तके पाठः।

[🖇] ग्रभास्त्र,— इति सु॰ पुक्तको पाठः ।

⁽१) खात्मपत्ममात्मरिवलम्।

⁽२) येन ग्रहीतेन परोह्न्यते, तत् प्रस्त्रम्। येन च मुक्तेन, तदस्त्रम्।

⁽३) कुसीदं रुद्धिजीविका।

श्रमेदमसपः श्रीचं चान्तिरार्ज्ञवमेव च । श्वानं विश्वानमास्तिकां ब्राह्मं कर्षं स्वभावजम् । श्रीयां तेजाप्टितिद्यां युद्धे चाष्यपत्तायनम् । दानमीश्वरभावस्य चाचं कर्षा स्वभावजम् । स्वानगी-रच-वाणिज्यं वैग्धं कर्षां स्वभावजम् । परिचर्थात्मकं कर्षा श्रद्धस्थापि स्वभावजम् ।

दित । एवं दैविश्वे सित साधारणोऽस्मिन् स्नोके ! एच्छाते । 'किञ्चित्' —दिति किया-विश्वेषणम् । तथा सित, किमः सङ्गोचवाचिलात् मंचे – पेणेत्यर्थः सम्पद्यते । (१) युक्तञ्चेतत्, श्रमाधारण-धर्म-प्रश्ने "विस्तरात्" दिति वच्चमाणलात् (१) दिति ॥ श्रमाधारणं धर्मे एच्छति,—

चतुर्णामिप वर्णानां कर्त्तव्यं धर्मा-के।विदैः॥१७॥ ब्रुह्मि धर्मा-स्वरूप-ज्ञ! स्रक्षां स्यूलच्च विस्तरात्ऽ।

इति । धर्म-खरूपे वादि-विप्रतिपत्तेः तदीय-विवेकस्य दुःशक-

अञ्चलम्म,—इति स॰ सा॰ पुन्तकयाः, इ॰ गीतासु च पाठः।

[†] वैग्यकर्म,—इति स॰ से।॰ पुक्तकयोः, इ॰ गीतासु च पाठः।

[†] कजौ, — इति मु॰ पुक्तके पाउः।

[.] ∮ स्नोकाऽयं मु॰ मू॰ पुक्तको नाक्ति।

⁽१) खत्र स्नोके साधारणधर्मप्रत्र इत्येतदुपपादयति युक्तस्वेतदिति।

⁽२) तथा च, साधारयाधर्म्यस्य संच्येपेया क्यनं चसाधारयास्य तु विक्तरेण,
— इति प्रसुराग्रयः।

लात् च तत्र प्रावीणं विविचला 'धर्म-खरूप-ज्ञ!' इति मंत्राध्यते । (१)तार्किकास्तावत् त्रात्म-गुणा धर्माधस्मी,—इत्याद्यः ।

"विह्ति-कियया साध्योधर्मः पुंचागुणामतः । प्रतिषिद्ध-क्रिया-साध्यः स गुणाऽधर्माउच्यते !" । इति । सीमांसकास्तु, "चोदना-लचणाऽर्थाधर्मः" (मी०१ प्र०१

पा०२सः०) इत्यसःचयन्। तच, भाद्यामन्यन्ते,—

"द्रय-क्रिया-गुणादीनां धर्मातं स्थापिययते । तेषामैन्द्रियकलेऽपि न ताद्रूप्येण धर्माता । श्रेय:-माधनता द्वीषां नित्यं वेदात् प्रतीयते । ताद्रूप्येण च धर्मातं तसान्नेन्द्रिय-गोचरः" ।

दित । प्राभाकराम्तु, कार्य-नियोगापूर्व-शब्दैर्चमानं धालर्य-माधं स्वर्गादि-फल-साधनमाता-गुणं धर्ममाजः । (१)दुर्विवेच्यलञ्च । सहा-भारते धृष्टदुक्षेने।क्रम्॥—

> "श्रधर्मी। धर्मादति च व्यवमायोन श्रकाते। कर्त्तुमस्मदिधेर्त्रह्मन्! श्रतोन् व्यवसाम्यदम्"।

^{*} दुःश्रक्तवात्,--इति स॰ सेा॰ पुन्तकयेाः पाठः।

[†] पुंचेाधर्मोगुर्णामतः, - इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] प्राणोऽधर्माउच्यते,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[🐧] दुर्व्विवेचत्वञ्च,—इति स॰ से।॰ पुन्तकायेाः पाठः।

[॥] स्रत्र, दे। गापर्विगा,—इत्यधिनं स॰ से। ॰ पुक्तकये। ।

[¶] ततान,—इति मृ॰ पुस्तके पाठः।

⁽१) धर्मे वादिविप्रतिपत्तिं दर्भयति तार्किका इति ।

⁽२) धर्मविवेकस्य दुःश्वलनाइ दुर्विवेचलच्चेति।

इति । ईदृष्णसापि धर्मस्य स्त्रह्णमयासुन्ते।जानातीत्यस्ति तच प्रातीण्डम् । धर्म-स्वह्णयञ्च विश्वामित्रश्राह,—

> "यसार्याः कियमाणन्तु ग्रंसन्यागमवेदिनः" । सधर्मीयं विगर्डनो तमधर्मे प्रचचते । ई.दृशस्य हि धर्मस्य खद्धपं वाकुलेग्न तु ! जानातीत्यस्ति तत्रापि प्रावीष्यं धर्म-ग्रास्तिनाम्" है ।

दृति । मनुरपि,—

"विदङ्किः खेतितः सङ्किर्नित्यमदेष-रागिभिः। इदयेनाथ्यनुज्ञातोयोधर्मस्तं निवेधित"(१)।

इति । नन्वेवं धर्म-खरूपमनिरूपितमेव स्थात् । तथारि, विश्वामित्र-मनु-वाक्याभ्यां तावत् यामान्याकारः प्रतीयते, नतु द्रव्य-गुणादि-

^{*} प्रंसन्यागमवेदिभिः,—इति तिधितत्त्वे प्राठः। "खागमवेदिभिः क्रिय-मागमिति संवन्धः,"—इति व्याखातश्च तत्र।

[†] विगर्चन्ति,—इति तिधितन्ते पाठः।

[‡] रतदनन्तरं 'इति'श्रब्दे। मुिष्ठतपुक्तके प्रामादिक इति लच्छते । उत्तर-स्नोकस्यापि विश्वामित्रीयत्वं वक्तव्यं अन्यथा खसङ्गतेः । विश्वामित्र वाक्ययार्भध्ये च 'इति'श्रब्दे। न सङ्गच्छते ।

[🖇] फ्लाकाऽयं स॰ सा॰ पुक्तकयाना क्ति।

[॥] धर्माऽनिरूपितस्व स्थात्, -- इति मु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) विद्विद्विरित्यस्य वेदविद्विरित्यर्थः। वेदविद्विः सेवितः,—इत्यनेन वेद-प्रमाणकत्ममुत्तं। द्वदयेनाभ्यनुज्ञातद्वत्यनेन श्रेयःसाधनत्वमुत्तं। तत्र दि द्वदयमभिमुखीभवति। तथा च, वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनेधिर्मा द्वतां भवति।

क्रपे।विशेषाकारः, वादिनस्त्वच विप्रतिपन्नाः,—दति भवतैवेशक्तम्। एतदेवाभिषेत्य महाभारते राज-धर्मे सर्थते,—

"न कलाषीन किपलान खणान च लेहितः।
प्रणीयान् तुर-धारायाः, कोधमां वकुमईति"।
दिति। नेष दोषः। उक-अक्ययोरधमी-व्यावक्तस्याकार-विश्वेषस्य स्तुटं
प्रतीयमानलात्। वादि-विपतिपक्तेश्व समाधातुं श्रक्यलात्। स्वर्गादिसाधनस्य श्रास्त्रेकसमधिगस्यस्यातिश्रयस्य धमांनेन सर्व-सम्प्रतिपक्तेः।
स चातिश्रयोदिविधः द्रव्यादि-निष्ठः, श्रात्म-विष्ठः । तचात्म-निष्ठस्थातिश्रयस्य साचात् फल-साधनलात्, फल-निष्यक्ति-पर्यन्तं चिर-

--- इति तार्किक-प्रभाकरावाहतुः । उक्तस्थापूर्वस्य फलोत्पत्ति-दशा-लमभिष्रेत्य तत्-साधनस्रताद्र्याद्यतिशयो धर्मः,-- इत्याद्धभादाः ।

ति दव तथा श्रात्मगुणे। उपूर्व-श्रन्द-वाच्ये।धर्मः,—

ब्रह्मवादिनामधेतदविरुद्धम्, ''धवहारे भट्ट-नयः'' (१) द्रत्यभ्युपग-मात्। एवं धर्म-खरूपे निरूपिते सति, श्रवाकुलंलेन तद्शिश्चतं

सकावति ।

कालसुपस्थानाच

चतुर्णां वर्णानां मध्ये धर्मा-केविदेरसाधारण-धर्माभिष्ठीः कर्मखं विखराद्शृहि। स च कर्त्तव्योधर्मीदिविधः,—खूलः स्ट्रास्थ । मन्द-

^{*} भवति,—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

⁽१) यद्यपि खदैतवादिनां नास्येव ब्रह्मातिरिक्तं किश्वित्, तथापि तेशं मतेऽपि परमार्थदमाथामेव तथात्वं। व्यवसारदश्रावास्तु भाट्टमतं तरमुखियते, — इति भावः।

मितिभरिष सुखेन बुध्यमानः शौचाचमन-सम्ध्या-वन्दनादिः स्यूल-धर्मः। श्रास्त-पारङ्गतैः पण्डितेरेव बाद्धुं योग्यः; इतरेषामधर्मात-भ्रान्ति-विषयोद्दीपदी-विवाहादिः द्वस्त्रोधर्मः। तथा च महाभारते,— द्रपदः एकस्याः योषिताः वद्ध-पतिलं लेक-वेद-विरुद्धं मन्त्रानः श्रधिचिन्नेपं । तच, लेक-विरोधः स्पुटएव तिर्यस्त्रपि, एकस्यां गवि द्रषभ-दय-युद्ध-दर्शनात्। वेदेऽप्येवं श्रूयते। "एकस्य बह्यो षायाभवन्ति, नैकस्यावहवः स्थः! पतयः"—इति। "यदेकस्मिन् पूपे दे रशने परिव्ययति, तसादेकादे जाये विन्दते, यन्नैकागुं १ रशनां द्रयोर्थ्ययाः परिव्ययति तसान्नैका दे। पती विन्दते"— इति च। तच, द्रुपद-भ्रान्ति-निद्यन्त्ये युधिष्ठिरश्राह,—

"लोक-वेद-विरुद्धोऽयं धर्कीधर्मस्तां वर ! ॥।

स्रुचोधर्मीमहाराज! मास्य विद्य गतिं वयम्''।

दति । धर्मावञ्च बज्ज-पतिलख तचैव बज्जधा प्रपश्चितम् । एवं धर्म-व्याधोपाख्याने,—विद्याऽभ्यासाद्गरीयसी मातापित्न-प्रदुश्रूषा, विना-ऽव्यभ्यासं तच्छुश्रूषयैव तस्य ज्ञानेत्विक्तः,—दति प्रतिपाद्य स्नुक्तां धर्मास्य निगमितम्,—

कन्ग्रायाः,—इति स॰ सा॰ पुक्तभयाः पाठः ।

[†] खाचचचे,--इति सु॰ पृक्तके पाठः।

[‡] खुः, - इति स॰ सा॰ पुस्तकयानीस्ति।

यद्गैनां,—इति स॰ से।॰ पुक्तनयाः पाठः।

[॥] धर्म्भवतां वर, इति सु॰ पुक्तको पाठः।

⁽१) एकसादीपयाः पद्माः पार्खवैर्व्ववादमधि चिप्तवानित्वर्थः ।

"वडधा दृश्वते धर्मः स्रुचाएव दिजात्तम !"
दित । दत्यं स्यूल-सृच्चयोः सद्भावात् युक्तस्तद्भय-विषयः प्रश्नः॥
उक्त-प्रश्नस्य वच्यमाणोत्तरस्य च श्रमाङ्कर्यायोत्तरमवतारयित,—

खास-वाकावसाने तु मुनि-मुखः पराश्ररः॥१८॥ धर्मास्य निर्णयं प्राह्व स्रक्षां स्यूलच्च विस्तरात्।

दति । 'मुनि-मुख्य'—दित विशेषणेन सुद्धा-निर्णय-कौशलं दिर्शतम्। नन्, ''कखायं स्रोकः?, न तावत् व्यासखः, प्रश्न-रूपलाभावात्, नापि पराश्ररखः, उत्तर-रूपतायाः श्रभावात्। 'नन्,
श्रयाख्पिमदमुच्यते, श्राद्य-स्रोकेऽपि समानमिदं चोद्यम्'। एवन्तर्षिः
देदृशेषु सर्वेषु परिदारोऽन्वेष्ट्यः"। उच्यते,—पराश्ररएव भाविशिव्य-बुद्धि-समाधानाय खकीय-दत्तान्त-श्लापकान् देदृश्र-स्रोकान्
निर्मसे,—दिति द्रष्ट्यम्। भारतादेश व्यास-द्यान्त-स्रोकानां व्यासेनैव निर्मितलेन सर्व्य-संप्रतिपत्तेः (१)॥

वच्छमाण-धर्म-रइख-ग्रइणाय त्रप्रमत्तलं विधत्ते,---

⁽१) 'खाचार्याणामियं भ्रेली,—यत् खाभिपायमिष परेषिरश्मिव वर्णयन्ति'—इति न्यायाऽच स्मर्त्तव्यः। खनयेव रीत्या,—''कम्माण्डिष जैमिनिः फलार्थत्वात्'' (मी॰ इ ख॰ १ पा॰ 8 स॰) इति जैमिनेः, "तदुपर्याप वादरायणः सम्भवात्" (भा॰ १ ख॰ ३ पा॰ २६ स॰) इति वादरायणस्य च सूचसुपपद्यते। यदि तु पराभरोक्तोधर्मः केनचित् तिच्छ्येण पद्यादुपनिवद्धः,—इति समाधीयते, तदा न काचिदक्तुच्यतिः। पराभरोक्तधर्मप्रतिपादकतया तु यत्र्यस्यास्य परा-भरीयत्वस्याप्युपपत्तेरिति ध्येयन्।

ऋणु पुच! प्रवस्थामि ऋखन्तु मुनयस्तथा ॥ १८ ॥

इति । तत्र, सुनि-मम्बोधनेनैव पुत्रस्य मम्बोधने सिद्धेऽपि सम्प्र-दाय-प्रवक्तकलेन विशेषतस्तत्-सम्बोधनम् ॥

धर्मे श्रद्धातिशयाय धर्मस्य प्रवाह-रूपेण श्रमादिनां वकुं स्हित-श्राम्तस्य कर्तृणां च सृष्टि-मंदारी मंचिषाह,—

कंल्पे कल्पे स्रयोत्पत्ती* ब्रह्म-विष्णु-मस्त्रेत्रराः। श्रुति-स्मृति-सदाचार-निर्णेतारश्च सर्व्वदा । २०॥

दिति । कल्यते जगदिमान् काले, -दिति सृष्णादिमारभ्य प्रलयो-पक्रम-पर्यन्तोजगदिविच्छिन्नः कालः कल्यः । म च दिविधः, --महाकल्येऽवान्तर-कल्यश्च । (१) मूल-प्रकृतेर्यः सर्गः, तमारभ्य चतु-मृंखायुः-परिमितामहाकल्यः, चतुर्मुखस्य दिनमाचमवान्तर-कल्यः । तदुक्तं कूर्म्यपुराणे, --

^{*} चये।त्यत्त्वा,—इति सु॰ पुक्तके, चये वत्ते,— इति से।॰ मू॰ पुक्तके।
पाठः।

[†] सर्व्या'—इति सु॰ पुक्तके पाठः। चतुर्घचरणे, 'न च्रायन्ते कदाचन' इति से। मू॰ पुक्तके पाठः। 'श्रुतिः स्कृतिः सदाचारानिर्वेतयास्य सर्वदा,—इति सु॰ मू॰ पुक्तके उत्तरार्द्धपाठः।

[‡] जगदवच्छित्रः,— इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः ।

⁽१) मूलप्रकृतिः समस्तजगदुपादानं कारणद्रयम्। तश्च साम्यावस्योप-षित्ततं सत्त्वादिगुणवयम्। सत्त्व-रजस्तमसाश्च जगदुपादानतया द्रथलं बेध्यम्। तेषु नुगल्ययपदेशः पुरुषे।पक्षर्णलादिना भाक्तः, रतत् सर्वे साख्यदर्शने यक्तम्।

"ब्राह्ममेकमदः कन्पस्तावती राचिर्चाते ।

चतुर्धुग-सहस्रक्तत् कन्यमाद्धर्भनीषिणः"।

इति । से। उयमवान्तरः कन्यः । महाकन्यस्त ब्राह्मेण मानेन (१) श्रत-संवत्मर-परिमितः, - इति पुराणादिषु प्रसिद्धम् । 'कन्ये कन्ये', --इति वीप्यया दिविधानामपि कन्यानामसंख्यलं विविचतम् । तथा च निङ्ग-पुराणे, --

"एवं कल्पास्तु संख्याताः * ब्रह्मणोऽत्यक्त-जन्मनः । कोटि-कोटि-सहस्राणि कल्पानां सुनि-सत्तमाः !" । इति । तत्र, दयोर्दयोः कल्पयोर्मध्ये चयोभवति । स च चयस्रतु-र्व्विधः ; – नित्योनैमित्तिकः प्राकृतिकश्रात्यन्तिकश्चेति । तदुकं सूर्यन

पुराणे,—

"नित्योनैमित्तिकसैव प्राह्मतात्यनिकौ तथा। चतुर्धाऽयं पुराणेषु प्राच्यते प्रतिमञ्चरः (१)। योऽयं मंदृश्यते नित्यं लोके भूत-चयस्ति । नित्यः मंकीर्त्यते नित्या मुनिभिः प्रतिमञ्चरः। ब्राह्मोनैमित्तिकोनाम कल्पान्ते योभविष्यति।

^{*} यवं कल्यास्वसंख्याताः,—इति पाठीः भवितुं युक्तः।

[🕇] षात्र, नित्यः स कीर्त्यते,—इति पाठाभवितुं युताः ।

⁽१) ब्रह्मायोमानस,—"दैविकानां युगानान्तु सम्बं परिसंख्याया। ब्राह्म-मेकमम्बर्जीयं तावती रामिरेव च"—इति मन्वायुक्तम्।

⁽२) प्रतिसञ्चरः प्रजयः।

(१) महदादि-विशेषानं यदा संयाति संचयम्।
प्राक्तः प्रतिसर्गीऽयं प्रोच्यते काल-चिन्तकैः।
श्वानादात्यन्तिकः प्रोक्तोयोगिनः परमात्मनि ''
हित । तत्र, प्राक्तः प्रलयः स्कन्द-पुगणे स्नत-संहितायामेवं निष्कपितः,—

"विश्वतै: षष्टिभिः कर्ल्यक्रिह्मणोवर्षमीरितम् । वर्षाणां यत् श्वतं तस्य तत्परार्द्धमि हे च्यते । ब्रह्मणोऽन्ते मुनि-श्रेष्ठाः ! मायायां लीयते जगत् । तथा विष्णुश्च रुद्रश्च प्रकृते। विलयं गते। ।

- (१) प्राक्तप्रवयमाच्च मद्दादीति। मच्दादिविशेषान्तमिति मच्दच्चद्वारपञ्चतनानेकादशेन्त्रियपञ्चमचाभूतानीव्यर्थः। तच मच्चत्तं प्रक्षतेः
 प्रथमः परिणामः, तत् बृद्धितत्त्वभिव्यपुच्यते। तचेकादशेन्त्रियाणि
 पञ्चमचाभूतानि च,—इति घोडशकोग्रणीविशेषद्रव्यच्यते। व्यच्द्वारः
 पञ्चतन्माचाणि च इति षड्विशेषाः। तचाच्द्वारस्थाविशेषस्य विशेषा
 रकादशेन्त्रियाणि,तन्माचलच् णानाञ्चाविशेषाणां विशेषाः पञ्चमचाभूतानीतिविवेकः। मच्चत्त्वन्तु न विशेषोनाप्यविशेषः किन्तु लिङ्गमाचमित्याख्यायते। प्रकृतिच्यालिङ्गमित्युच्यते। रतत् सर्व्वं पातञ्चले
 सांख्ये च यक्तम्। च्यच मच्दादीनां सर्व्वेषां प्रकृती लयात् प्राकृते।ऽयं
 प्रवयः। प्रतिसर्गः प्रवयः।
- (२) ज्ञानात् सत्त्वपुरवान्यता-साचात्कारात् ये। गिनायः परमात्मनि लयः साऽयमात्यन्तिकः। न तस्य पुनरावित्तरित्तं, "न स पुनरावित्ते"— इति श्रुतेः। प्रकृतिजीनस्य त्वित्ति पुनरावित्तः ऋते विवेक्तस्थातेरिति सांख्ये पातञ्चले च यक्तम्। तस्मात् प्रकृतिजयस्य नास्त्यात्यन्तिकः प्रजयत्विमिति वेष्यम्।

ब्रह्मणय तथा विष्णोत्तथा रुद्रस्य सुव्रताः ! "।

मूर्त्तयो विविधास्तेषु कारणेषु खयं थयुः ।

माया च प्रखये काले परस्मिन् परमेश्वरे ।

सत्य-वेषध-सुखानन्ते ब्रह्म-रुद्रादि-संज्ञिते"।

दति । तथा कूर्मे ब्रह्म-विष्णादि-खयानन्तरं पञ्च-भूतादि-खयः ।

पयते,—

(१) मंखितेष्वय देवेषु ब्रह्म-विष्णु-पिनािकषु ।
गुणैरभेषैः पृथिवी विस्तयं याति वारिषु ।
तदारि-तन्तं सगुणं ग्रसते इच्य-वाइनः ।
तेजस्त गुण-संयुक्तं वाचा संयाति संचयम् ।
श्राकाभे सगुणोवायुः प्रस्तयं याति विश्व-स्थत् ।
स्वतादा च तयाऽऽकाभोलीयते गुण-संयुतः ।
दन्द्रियाणि तु सर्वाणि तेजसे यान्ति संचयम् ।
वैकारिकस्तेजस्य स्वतादिश्चेति सत्तमाः ! ।
विविधोऽयमस्द्वारोमस्ति प्रस्तयं ब्रजेत् ।
सहान्तमेशिः सद्दितं प्रकृतिर्थसते दिजाः !" ।

सत्रत! इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] प्रलयानन्तरं,—इति स॰ सेा॰ पुस्तकयेाः पाठः।

[‡] पश्चभूतादिप्रलयः, - इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

⁽१) संस्था मर्ग प्रजय इति यावत्।

TT

इति । एवं विष्णु-पुराणादिषु प्राञ्चत-प्रसयोद्रष्ट्यः । एवसेव प्रखयमभिष्रेत्य भगवान् वादगयणः स्वचामासः;—"विपर्ययेण तु क्रमे। उत्तउपपद्यते च" (भा०२ श्रवः २ ए। ० १ ४ छ ०) इति। श्रतोऽस्मात् छष्टि-क्रमात् विपर्ययेण प्रलय-क्रमाऽभ्युपगन्तयः । सृष्टि-कमस्य तत्रत्येषु पूर्व-सत्रेषु विचारितवात् 'त्रतः' शब्देन परामर्शः । खपपद्यते च्चयं वि गरीत-क्रमः, खपादान-कारण-भृतायां स्टश्चविस्थ-तायां कार्यस घटस विसीयमानतात्। यदि सृष्टि-क्रमए ३ प्रसये-ऽपाद्रियेत[†] तर्द्धवस्थिते घटे म्हिदनाशः प्राप्तुयात्। न लेवं क्वित् ष्टुष्टम्। तसादुपपन्नोविपरीत-कमः। तथा मति, सृष्टी परमातमा-देरसाई हानास्य कमस्य वच्यमाएलात् प्रस्तये ति दपर्ययेण श्रसाई-षादिः परमात्मानाः कमे।युकः। प्राक्त-प्रचये प्रकत्यनः कमे।वक्तयः, —इति चेत्। वाढम्। उच्यते एवासी,(१) परमात्मनः प्रकृति-लात्। तथा च, वङ्घ्वोपनिषदि परमात्मनोजगत्-प्रकृतित्वं श्रूयते,— "श्रात्मा वाद्दमेकणवायश्रामीत्रान्यत् किञ्चनमिषत्, स १ घतः; खेाकाञ्च स्जा इति, स इमान् लेाकानस्जत''—इति।

प्राक्ततलयाद्रस्थाः, —इति सु॰ पुक्तके पाठः ।

[†] प्रवायस्यादियेत,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] परमात्माद्येतदे हान्तस्य,—इति सु॰ पुक्तने पाठः।

⁽६) खसौ प्रक्रयन्तः कमः उचात्रवासाभिध्यियः। ननु परमात्मान्तः-क्रमरव पूर्वमुक्तः न प्रक्रयन्तः क्रमः इत्याप्रद्धाः परमात्मगद्भि। तथा च परमात्मनः प्रकृतित्वात् परमात्मान्तः क्रमरव प्रक्रवन्तः क्रमद्रति भावः।

ननु, 'श्वेताश्वतरे।पनिषदि मायायाः'^(१) प्रकृतित्वं परमात्मन-स्वियन्तृतं श्रूयते,—

"मायान्तु प्रकृति विद्यान्तायिनन्तु महेश्वरम्" । इति'। नायं देषः। मायायाः परमाता-प्रकित्वेन प्रक्रिमते।ऽप्यातानः प्रकृतित्वावस्थभावात्। दहन-प्रकि-युक्ते श्रग्नी दाहकल् व्यवहार-दर्भनात्। श्राता-प्रकित्वञ्च मायायास्त्रस्थामेवे।पनिषदि श्रुतम्,—

> "ते धान-योगानुगतात्रप्रयन् देवाता-प्रक्तिं ख-गुणैनिगृढाम्"।

इति । वादरायणञ्च प्रथमाध्यायखोपान्याधिकरणे^(२) माया-विशिष्टख ब्रह्मणः प्रष्ठतिलं निमित्तञ्च,—इत्युभयविध-कारणलसुपपादयामास । कुलालवत् चेतनलात् निमित्तवं, घटे स्टद्दव कार्थे [†] तखानुगमात्

^{*} दाइक, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[†] खकार्य,-इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

⁽१) माया तु चिगुणातिमका सदसञ्चामनिर्व्वाचा विश्व द्व-सक्त प्रधाना भावरूपा। यचेदमुक्तम्। "चिटानन्दमय-ब्रह्म-प्रतिविम्ब-समन्विता। तमारजः-सक्त-गुणा प्रकृतिर्विविधा च सा। सक्त-श्रद्धविश्व द्विश्व मायाऽविद्ये च ते मते"—इति।

⁽२) "प्रकृतिस प्रतिचा-द्यान्तानुपरेधात्" (प्रा॰ १च० ४पा॰ २३ स्र॰) द्रव्यस्मिन् स्विधनर्यो । प्रकृतिस उपादानकार्यास ब्रह्मान्युपमन्तयं निमित्त-कार्यास्व। एक-विद्यानेन सर्व्व-विद्यान-प्रतिचायाः स्टइ्घटादि-द्यान्तस्य च चनुपरेधोपपत्तरिति स्वार्यः । कार्यो हि विद्याते कार्यं विद्यातं भवति कार्यातिरिक्तस्य वक्तुसतः कार्यस्य। भाषात्। विवर्त्त-वादान्युपमनेन कार्यस्य कार्यानितरेकात्। एतस्य तप्रेव वस्त्यम्।

प्रकृतित्वम्, श्रमुग्यते हि जगित माया-विश्विष्टं ब्रह्म । तत्र, यिन्द्रदानन्दलं ब्रह्मणे जिल्ले विकारितन्तु मायायाः । तदुभयमि जगित्ये विकासि हैं 'घटे।ऽस्ति'—इति यद्रूपलं, 'घटे।भाति'—इति चिद्रूपलं, 'घटः प्रियः'—इत्यानन्दरूपलम् । 'घट उत्पद्यते, विनय्यति च'—इति विकारित्वम् । श्रयमे वार्यः उत्तर-तापनी ये श्रूयते,—"यिद्दान्नद्दूपमिदं पर्वे पत् यदिति चितीत्यं पर्वे प्रकाशते च ।" इत्यादि । तदेवमे । प्रविद्यो पत्रित्ति चितीत्यं पर्वे प्रकाशते च । श्रूयति । तदेवमे । प्रविद्यो प्रविद्यान्य प्रवित्ति चितीत्यं पर्वे प्रकाशते च । तदेवमे । प्रविद्यो प्रविद्यान्य प्रवित्ति चित्रीत्यं पर्वे प्रकाशते च । तदेवमे । विश्वित्या विविच्यतः—इति मन्ति सम्मा । विश्वित्यादि—मत-विद्यस्तु स्वयोऽसाभिनाच प्रपञ्चाते । विश्वित्यादि—मत-विद्यस्तु स्वयोऽसाभिनाच प्रपञ्चाते । विश्वित्याद्य-क्य-तर्क-भूलतेन बुद्धिमिद्धः स्वयमे वे । दितं । स्वयमे वे । दितं ।

श्रथ^{††} श्रुत्यनुषारेणेत्यित्तरिभधीयते । मन्ति हि स्टिष्टि-प्रति-पादिकाः बह्यः श्रुतयः । तत्र, "श्रात्मावाददमेकएवाग्रश्रामीत्"— दत्यादि वक्षृत्रोपनिषदाकां पूर्वमुदाह्यतम् । "मत्यं श्रानमनन्तं

खवगम्यते,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] इत्याद्यानन्दरूपत्वं—इति मु॰ पुस्तको पाठः।

[‡] सद्घीदं सर्वें सदिति चिदिदं सर्वें काश्रते काश्रने च,—इति सु• पुस्तके पाठः।

[🖇] स्मृत्यमुकारित्वात् ,—इति सु॰ पुक्तने पाठः ।

[∥] ब्रह्माद्यप्रेघ,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[🎙] इत्यवगन्तथम्—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

^{**} वैशेषिकादिमतप्रसिद्धस्तु प्रस्रयोगसाभिः प्रपश्चाते, — इति स॰ से। पुस्तकयेाः पाठः।

H संप्रति,—इति स॰ सा॰ पुक्तकया पाठः।

ब्रह्म''—इत्युपक्रम्य, ''तसादाएतसादात्मनत्राकाशः सम्भूतः''— इत्यादिकं तैत्तिरीयक-वाक्यम् । 'सदेव से ाम्येदमग्रप्तासीत्''—इत्युप-क्रम्य, ''तदैचत; बद्ध स्थां प्रजायेचेति, तत्तेजेाऽस्रजत''—इति स्झन्देगि-वाक्यम् ।

"यथा सुदीप्तात् पावका दिस्सु लिङ्गाः सद्दस्यः प्रभवन्ते सद्धपाः । तथाऽचरादिविधाः से स्य ! भावा * प्रजायन्ते तच चैवापि यन्ति"॥

दत्यथर्कं वाक्यम्। "तद्देदं निर्ह्ययाष्ठतमाधीत् तन्नाम-रूपाम्या-मेव व्याक्रियत"—वाजमनेय-वाक्यम्। नमु, नैतेषु वाक्येषु सृष्टि-र्य्यवस्थापयितुं प्रकाते, विप्रतिपत्तेर्व्यञ्जलतात्। श्रम, ब्रह्म-सद्-श्रम्या-ऽव्याक्रत-प्रव्देवाच्यानि वस्त्रनि कारणतया श्रूपन्ते। न च, एकस्य जगतीविष्णचणानि बङ्गन्युपादानानि दुक्तानिशे। नैष देषः। श्रात्मादि-प्रान्देरेकस्वेव वस्तुने। अधियमानतात्। श्रात्म-ब्रह्म-प्रव्दयोस्तावदे-कार्थः स्पष्टम्। ब्रह्म वाक्यभेषे "तसादाएतसादात्मनश्राकामः सम्भूतः"—दत्युक्ततात्। सद्-श्रात्म-मञ्च्दयोश्विकार्थतम् युक्तम्। श्रात्म-प्रवस्य स्वरूप-वाचित्वात्, सत्तायाश्वीपनिषदेः सर्व-स्वरूपताम्युप-गमात्, श्रमुभूयते च सत्तायाः सर्व-स्वरूपत्वं, नर-विषाणादीनामपि

तथाऽच्चरात् प्रभवन्ते चि भावाः—इति मृ० पुक्तके पाठः।

[†] खन 'वेद' इत्यधिकं वर्त्तते स॰ सेा॰ पुत्तकयोः।

[‡] तदेवं - इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[§] युक्तानि,—इति मृ पुक्तके नास्ति।

द्वान-जनकलाकारेण सत्-खरूपलात्। श्रवर-श्रव्यः,—'श्रश्रुतः'— दित वा, 'न चरति'—दित वा, परमात्मानमाचष्टे। श्रव्याक्षतश्रव्दा-ऽपि, तिसान् योजियतुं श्रकाते; 'वि साष्टम् श्रा समन्तात् क्षतम्' —दित व्युत्पत्त्या, जगतः प्रतीति-योग्य-स्यूलल-दश्रा व्याक्षतम्, 'न व्याक्षतम्'—दिति, श्रव्याक्षतश्रव्यः स्वच्यल-दश्रामाद्यः। एकस्थैव वस्तुनः । स्यूल-स्वच्या-दश्रे जगद्-श्रवर-शब्दाभ्यामुच्येते। विवर्त्त-वादिभिर-खण्डैकरमस्य ब्रह्मणोजगद्रूपेण प्रतिभासान्युपगमात् (१)। तसात्। श्रव्याक्षतब्रह्मादीनां पञ्चानां श्रव्यानाम् (१) एकएवार्थः।

ननु, कचित् शून्यस्य^(२) जगत्-कारणलं श्रूयते ;—"श्रयदाद्दमय श्रामीत्, ततोवे सदजायत"—दति । मैवम् । तच, सर्-श्रमत्-श्रव्यास्यां व्याद्यताव्याक्षतयारिभधानात् । श्रुत्यन्तरे, "कथमसतः

^{*} स्त्यां दशामास,—इति स॰ सेा॰ पुस्तकयेाः पाठः।

[†] रक्स्येव च,-इति स॰ से।॰ पुस्तकयाः पाठः।

⁽१) विवर्त्तवादे खन्यस्यान्यरूपेण प्रतिभासमात्रं मायिकम्। न तु वस्तुने। ऽन्यथाभावः। यथा रच्ज्रदेव सर्पाकारेण प्रतीयते, न तु रच्चाखन्य-धालं भवति, यवं ब्रच्चीव जगदाकारेण प्रतीयते न तु ब्रच्चाणेऽन्यथा. भावेशभवति। तथा चाक्तम्। "स-तत्त्वते। तथ्या प्रथा विवर्त्तर्यदी-रितः"—इति। तथाच, ब्रच्चाणः स्पूष्णरूपलं प्रातिभासिकं स्त्यारूपः स्वन्त् तात्त्विक्तिति विवेकः। परिणामवादे तु स्पूष्णरूपसमनायास-ग्रम्थिति तन्नीक्तम्। खारम्भवादस्तु विभेषिकाद्यनुमतः पृष्णव्युद्धात्-प्रेच्चामात्रमण-इति मूषप्रमाणाभावादुपेच्चित इति मन्तव्यम्।

⁽२) खर्याद्यत-ब्रद्धा-सत्-ख्रेन्तर-खात्म-प्रब्दानामित्यर्थः।

⁽३) श्रृन्यमभावः।

सक्चायत "—इति शून्यस्य कारणता-प्रतिषेधात् । ननुं प्रतीय-मान-जगदाकार-रहितं शून्यादिप विलचणं चेत् ब्रह्म, तर्हि, तत् की हुशं बुद्धावारे।पियतस्यम् इति चेत्। इदानीं प्रष्टुं, स्वाहशमनू-दितं, तादृशमेव है तदिति बुद्धं समाधत्स्व (१)। दृष्टान्तं चेत् प्रस्क्रिम, न वयं वक्षुं शक्रुमः । तत्-समस्य वस्त्वन्तरस्थाभावात्। तथा च श्रुतिः,—

> "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते । न तन्-समञ्चाभ्यधिकञ्च दृश्यते"।

द्ति। यदि, शिष्य-कृत्पादनाय दृष्टान्ताभा से। उपेचितः॥ (१), तर्हि, श्रद्धैताकारे सुषुप्तिर्निदर्शनम्, पुरुषार्थ-खरूपत्वे चण विषयानन्दो-निदर्शनीयः। "त्रानन्दोन्नह्योति व्यजानात्"—दिति ** "विज्ञानमानन्दं अञ्चा"—दत्यादि श्रुतेः। श्रश्येष-श्रद्धा निवन्त्यपेचा चेत्, अञ्चा-मीमांषां पठ,—दत्यासमितिविद्यरेण।

^{*} सञ्जायेत,--इति स॰ प्रत्ने पाठः।

[†] ननु,-इति सु॰ पुक्तको नास्ति।

[‡] बुद्धादावारापयितयम् ,— इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[.] ९ ताद्वग्रम्ब्दं—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

[॥] हष्टान्ताभ्यासार्पेच्चितः,—इति सु॰ पुत्तके पाठः।

^{¶ &#}x27;च'- इति सु॰ पुक्तके नास्ति।

^{## &#}x27;इति' ग्रब्दः स^० से। ॰ पुक्तकयानी क्ति।

⁽१) तथा च जगदाकाररितं श्रून्यादिप विषाद्यां ब्रह्म,—इयोव बुद्धा-वारापितव्यमित्यर्थः।

⁽२) दृष्टान्तवदाभासते,—इति दृष्टान्ताभासः, न तु प्रमार्थदृष्टान्त इत्यर्थः।

यावन्तं कालमभियक्त-जगदाकारोपेतं ब्रह्म पूर्श्वमाधीत्, तावन्त मेव कालमनभियक्तद्रशायामवस्त्राय^(१) पञ्चादभियक्ते। प्रयतते। ननु, मद्दाप्रलये, कालावा तदियत्ता वा कथं घटते? ^(१)। उच्यते। कं प्रत्येतचे। यम्?^(१) न तावत् ब्रह्म-वादिनं प्रति, 'तन्त्रते वियदाद्यमन्त-भेद-जगत्-प्रतीतिं * कन्त्रयन्त्रामायायाः कञ्चिन्मद्दाप्रलयः एतावत्-काल-परिमितम्नाधीत्,—इत्येवं विध-प्रतीति-मात्र-कन्त्रमे को-भारः?^(१)। ^(६)परमाणु-वादेऽप्यस्त्वेव नित्यः कालः। ^(१)प्रधान-वादे

- (8) तथा च रतन्मते स्टिप्यलयी दावेव माया-कस्पिताविति भावः।
- (प्) न्याय-वैशेषिकमते परिचारमाच परमागुवादे इति। यतन्मते प्रजय-कालस्येयत्ताव्यवचारीध्वंसेने।पपादनीयः,—इत्याकरे व्यक्तम्।
- (६) सांख्यमते परिचारमाष्ट्र प्रधानवादे इति। प्रधानं प्रक्ततिः। पष्य-विंग्रति तत्त्वानि तु प्रक्रतिमच्दचञ्जारपञ्चतन्मात्र एकादग्रेम्बिय-पष्य मच्चाभूत-पुरुषक्षपायि सांख्ये प्रसिद्धानि। एतन्मते, प्रक्रयेऽपि प्रधानस्य सदग्रपरियामप्रवाचसत्त्वात् नानुपपत्तिक्तदियत्ताया इति ध्येयम्। इदमज्ञावधेयम्। सांख्यीये सिद्धान्ते न काक्षानाम पदार्थोऽक्ति, किन्तु यैक्पाधिभिरेकस्य काकस्य भूतभविष्यदादित्यवचारभेदं वैग्रीवि कादयामन्यन्ते, तरवापाधयाभूतादित्यवचारं प्रयाजयन्तीति छत-मत्र काक्षेन, इति सांख्यतत्त्वकौ मुद्यामभिच्चितम्। एतच काक्ष-माधवीयग्रश्चे ग्रश्चक्ताप्युरीक्तत्त्।

^{· *} भेदभिन्नं जगत् प्रतीतं—इति स॰ सा॰ पुस्तक्याः पाठः ।

⁽१) खनभियक्षदभा मञ्चाप्रजवः।

⁽२) बाचस्य क्रियारूपलात् मद्दाप्रकये च क्रियाया खसम्भवादिति भावः। तदियत्तापि च्रागादिकच्या क्रियासाध्येव। प्रश्लोयं 'क्रियेव काकः'— इति मतानसारेग्रोति वाध्यम्।

⁽३) क्रियातिरिक्तः पदार्थान्तरं कालः, — इति मतमाश्रित्व प्रथमं तावत् वेदान्तमते परिचारमाच न तावदिति ।

पञ्च-विंग्रति-तन्नेभोविहिर्भूतस्य कालतन्तसाभावात् प्रधानमेव काल-ग्रन्थेन व्यविद्यताम्। त्रतः प्रलय-कालावसाने परमेश्वरः स्रष्टिं कामयते। तथात्त, त्रुतयः,—'कामलद्ये समवर्त्तताधि'' ''चाऽकामयत बद्ध सां प्रजायेय''—इति, ''तदैत्तत बद्ध सां प्रजायेय इति'' ''च ईत्तां चक्रे''—इत्यादि। ननु, कामोनाम मने।- स्टिन्त-विष्ठेषः, ''कामः सङ्कल्पोविचिकित्सा-श्रद्धा-ऽश्रद्धा-धृतिरधृतिः श्रीधीर्भिरित्येतत् सम्बं मनएव,'—इति श्रुतेः। मनस्र भौतिकम्, ''श्रव्यमयं हि साम्य! मनः''—इति श्रुतेः। नया सति, भ्रतेत्पत्तः पूर्व्यमविद्यमाने मनि कुतः कामः?। उच्यते। न तावत् सर्ग-समये चाद्यमिदसुदेति, तस्मनसाभौतिकलाभावात्, नित्यायाः ईश्व-रेक्शयाः मनेऽनपेचलाच। सिस्चालन्तु सर्गेपहितलाकारेण नित्येच्हायामणुपपद्यते। श्रीपनिषदे मते तु जीवेच्हायाः भौतिक-मनः-कार्यलेऽपि, ईश्वरेच्हायाः माया-परिणाम-क्ष्पलात् मनेऽपेचाऽस्ति। श्रक्तरेणपि देवेन्द्रयास्त्रभेष-व्यवहार-शिकर-चिन्या परमेश्वरस्य श्रुतिव्यगम्यते,—

"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्-चमसाम्यधिकस्य दृग्धते । पराऽस्य प्रक्रिकिविधेव श्रूयते साभाविकी ज्ञान-वस-किया प" ॥ इति ।

^{* &}quot;तथा च" — इत्यारभ्य, "मनु" — इत्यन्तः पाठः स॰ से। ॰ पुत्तकये। मिलि।

"श्रपाणि-पादोष्ठवनेग्यद्यीता प्रयायच्तुः स प्रद्योत्यकर्णः"।

दित च । एवस सित, 'त्रमङ्गस्य कथमुत्पादकलम्, उत्पत्समानानि वा वियदादीनि योग्य-सामग्रीमन्तरेण कथमुत्पद्येरन्"—
दत्यादीनि चेाद्यान्यनवकामानि । त्रमन्त-म्रक्त्येव त्रम्णेष-चेाद्यानां
दत्तोत्तरलात् । तस्मात्, यथाश्रुति निःमङ्गः सृष्टिरभ्येपेतव्या ।
श्रुतिस्वैवमान्द,—"तस्माद्वाएतस्मादात्मनः त्र्याकामः सम्भूतः, त्र्याकामाद्वायुः, वायोरग्निः, त्रग्रेरापः, त्रद्भाः पृथिवी, पृथिव्यामोषधयः,
चैषिभिथेऽत्रम्, त्रन्नात् पुरुषः"—दित । तवः, पुरुष-मन्देन भिरःपाष्णादि-युकोदेशेऽभिधीयते । स च देशे ब्रह्मादिः स्वम्बान्तोवष्ठप्रकारः । तव, ब्रह्मदृष्ट्य निरितमय-पृष्य-पृद्ध-फल-क्पलात् इतरस्वस्त-देश-कारणलेनादिलम् । तथाच श्रुति-स्तिती,8—

"हिरष्ट-गर्भः समवर्त्तताचे

स्रतस जातः पतिरेकत्रासीत्" । इति श्रुतिः 🗀

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबस्दव ।

विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता"।

इति च।

"स वे गरीरी प्रथमः स वे पुरुषज्ञाते। श्रादि-कर्त्ता स स्वतानां ब्रह्माऽये समवर्त्तत"।

क्ष्मतिः,—इति सु॰ पुस्तके वाद्यः । । स्रुतिः,—इति सु॰ पुस्तके वाद्यि ।

"एकएव थिवः याचात् सृष्टि-स्थित्यन्त-सिद्धये । ब्रह्म-विष्णु-धिवाखाभिः कलनाभिर्व्विष्टमाते" । इति । तदेवं ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः तसिन् ॥ महाकल्पावयाने चीयन्ते, पुन^{ना}स्तत्-कल्पादावृत्पद्यन्ते,—इति सिद्धम् ।

श्रवरार्थस्त, चय-सहिता उत्पत्तिः चयोत्पत्तिः * तदोएसचिता अवन्ति,—इति । एवं तत्तदवान्तर-कस्पानामवसाने प्रारक्षे च

^{*} विषाु-महेश्वरयारप्यादिकत्त्वम् , - इति सु॰ पुन्तके पाठः।

[†] ब्रच्या विष्णूरुद इति,— इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] खययोष्ट = इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः।

[¸] ु खथा इ, — इति स॰ खेा ॰ पुस्तक याः पाठः।

[॥] खिसन्, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

ण क्लत्र मेचाकल्पादादित्य।दि स॰ पुक्तके **घा** उः।

^{**} द्वयात्यत्तः-इति सु॰ पुक्तके गक्ति।

श्रुत्वादीनां निर्णेतारः चयोत्पित्तभ्यामुपलच्छन्ते। तत्र, श्रुति-निर्णे-तारः,—वेद-विभाग-कारी व्यामः, तदेद-श्राखा-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तकाः कठ-कौथुमादयः, कष्प-छन्न-काराः वाधायनायलायनापस्तम्बादयः, मीमांगा छन्न-छतोजेमिन्यादयञ्च। स्मृति-निर्णेतारामन्वादयः प्रिषि-द्धाः। तत्र, पैठीनिषः,—

> "तेषां मन्ति राव्यास-गीतमा युग्न नायमाः । विष्युः दच-संवर्त्त-ग्रातातप-पराग्रराः । विष्युपसम्ब-हारीताः ग्रंखः कात्यायने स्थाः । प्रचेतानारदीयोगि^(१) वेष्धायन-पितामहाः । सुमन्तुः कम्प्रपात्रभुः पेटीने व्याप्यप्रच । सत्य-व्रते। भरदाचे। गार्थः कार्ण्याचिनस्याः । जावास्ति मदिग्रस्य से। स्टिनिया हिन्द्रस्थाः । दिति धर्मा-प्रणेतारः षट् विश्वह षयस्त्याः ।

ननु, किमियं परिषंखा? (१)। मैवम्। तथा पति, वत्य-मरीचि-

^{*} वसिष्ठ,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] व्यासरव च,-इति स॰ से।॰ पुक्तवयाः पाठः।

[‡] क्रार्क्याजिनस्तथा,— इति सु॰ पुन्तके पाठः।

[§] लागाच्चि,-इति स॰ सेा॰ पुस्तकयाः पाठः।

⁽१) श्रेग्री याच्चवल्कः। अयञ्च, क्वित् येग्रीश्वरः—इति, क्वित् याच्च-वल्कः-इति, क्विच येग्नियाच्चवल्कः,-इति च निर्दिग्यते। याच्च-वल्क्यीयात् धर्म्मशास्त्रात् एथक् येग्नियाच्चवल्क्यीयं धर्मशास्त्रमणः स्माभिक्षपणव्यम्।

⁽२) परिसंखा परितः संख्यानम्। एतावन्तरव धर्मप्रेशितारानसन्धे इत्यर्था किनेमा गर्मना इति प्रश्नार्थः। तथा चेत्तम्। ''खन्यार्थश्रृय-

देवल-पारस्कर-पुनस्य पुनद-कतु च्यायह क्ष-प्राह्य-सिखित छागले-याचेयादीनां धर्मा-प्रास्त-प्रणेत्वनं न स्थात्। श्राश्वमेधिके पर्वण्यपि तत्तन्मुनि-प्रोक्त-धर्मानुक्रमणात् धर्माणास्त-कर्त्तारे।गम्यन्ते (१)। 'श्रुता से मानवाधर्माः'—दत्युपक्रम्य एवं पद्यते,—

"श्रीमा-महेश्वराश्चित्र निन्द-धर्माश्च पावनाः ।
बह्मणा कथिताश्चित्र कौमाराश्च श्रुतामया ।
धूमायन-कृताधर्माः कखा विश्वानराश्चिष ।
भागवायाज्ञत्रक्याश्च मार्कण्डेयाश्च कौष्निकाः ।
भरदाज-कृताये च टहस्पति-कृताश्च ये ।
सुमन्तु-जैमिनि-कृताः श्वाकुनेयास्तरीत च ।
पुनस्य-पुनहोद्गीताः पावकीया स्त्रिय च ।
श्रुगस्य-गीतामाद्गस्याः श्वाण्डिस्याः सेन्निभायनाः । ।

मृखस्य—इति मु॰ पुक्तको नास्ति।

[†] ब्रांतु, -इति सु॰ पृक्तके नास्ति।

[‡] विलिखित,—इति मु॰ प्रत्ते पाठः।

६ उनामच्चेत्रास्वेन,-इति स॰ सेा॰ पुन्तक्रयाः पाठः।

[∥] काव्या,—इति स॰ सेा॰ पुम्तकयेाः पाउः।

[¶] कुणिताहेख, — इति स० सा० पुन्तकयाः पाठः।

^{*} पावणीया, - इति सु॰ पुस्तके पाठः ।

[†] व्यास्त्यगीताः साधन्याः प्राख्डिल्याः प्रालिभाञ्चनाः, — इति स॰ सा॰ प्रस्तकयोः पाठः ।

माण च यान्यार्थप्रतिविधिका। परिसंख्या तु सा च्रेया यथा प्रोच्चित-भाजनम्"—इति।

⁽१) वत्सादय इति भ्रोधः।

वालखिन्य-क्रताये च चे च मप्तर्षिभः क्रताः । वैयाघाव्यास-गीनाञ्च विभण्डकः क्रताञ्च ये । तथा विदुर-वाक्यानि स्रगोरङ्गिरमस्तथा । वैग्रम्यायन-गीताञ्च ये चान्ये एवमादयः" ।

दित । 'सदाचारः',—हे।लाको दृष्टसभ-यज्ञाक्की नैवुका दिः । १९ । तस्य निर्णेतारस्तन्तत्-सुल-यद्धाः । 'च'कारः जकानुक्त-ससुस्यार्थः । जकाः । मन्त्रस्तु,—धर्मः । मन्त्रस्तु,—धर्मः । तस्यापि, पूर्व-कन्पान्ते चीणस्योत्तर-कन्पादौ स्वृष्टिभंवति । तथा च, वाजसनेय-ब्राह्मणे सृष्टि-प्रकर्णः, प्रजापितर्मनुस्यादि-पिपीलिकान्त-प्राणिनां चतुर्व्वणाभिमानि-देवतानाञ्च सृष्टिमान्नाय, श्रत्युगमपि चिव्यादिकं नियन्तुं समर्थस्य धर्मास्य सृष्टिरान्नायते । 'स नैव स्थान तत् श्रेयोक्त्पमत्यस्त्रत्त धर्मं तदेतत् चवस्य चवं यद्भाः तस्यात् परं नास्ति" दित । श्रस्थायमर्थः ;—स प्रजापित-मन्त्रादि-क्त्प-धारी अगत्-स्रष्टा परमेश्वरः प्रजाः स्वृष्टाऽपि तिव्यामकाभावात् कत-कृत्यना-कृषे विभवं नैव प्राप्तवान, ततोविचार्थं नियामकलेन श्रेष्टं धर्ममतियन्नेनास्त्रत्,—दित । श्रहा ! महदिदं धर्मस्य सामर्थां ; स्तृ चिवादिक्योमार्णे समर्थे।ऽपि धर्माद्भीतः कर-प्रदानाद्यनुप-

वितग्रहक,—इति स॰ सा॰ पृक्तअयाः पाठः।

[†] समाचारा लेको टबभयचादि नैर्ऋादि,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[🛨] खत्र, प्रजापति-मन्ष्यादि,--- इति पाठी भवितुं युक्तः ।

[💲] धर्म्माधीनः -- इति स॰ सेा॰ युक्तकयाः पाठः।

⁽९) श्वेषात्रा वसन्तेत्सविविशेषः प्राच्यः त्रियते, उद्दुषभयद्धः उदीच्यः, ष्याञ्जीनेवुकादयादाच्चिणायैः। स्पष्टमिदं मीमांसा-प्रथम-द्वतीयाष्ट-माधिकरणे भाष्यादौ।

योगिनं याचकं विपादिकं न मारयित । प्रत्युत, तसी धनं ददाति, भटायातिग्रूगः धनुः-खडणिद-धारिणोलन-सखाकाः एकेन निरा-युधेन रग्नेन खामिना श्रधिचिष्यमाणा रिखायमानाः सन्तोऽिप खामि-द्रोद्दादिभ्यति । तते।धर्माद्युत्छष्टं न किञ्चित्रयामकम-स्तीति । 'प्रलय-काले धर्मखापि संदारे भाविस्प्रदेधंम्बं।धर्म-कार्याया श्रमस्भवः', (१) दित चेत्, न, पूर्व-कल्पानुष्टान-सञ्चितस्य फल-वीअस्था-पूर्वस्य संदारानङ्गीकारात् । द्रव्य-गुण-क्रिया-रूपएव दि धर्मः संद्रियते पुनरूत्पद्यते च सर्वदा (१) दित । श्रनेन, स्रष्टि-संदार-प्रवा- दस्यानादितामनन्तताञ्च दर्शयित ।

^{*} ताड़यति,—इति सु॰ पुन्तने पाठः।

[†] खकीयनेकेन, - इति स॰ से।॰ पुस्तकयेाः पाठः।

[‡] रुप्नेन, -इति सु॰ पुस्तने नास्ति।

[§] विच्चिप्यमाणा,—इति सु॰ प्रक्तके पाठः।

⁽१) धमाधर्मी विना जगदैचित्रासम्भवात् स्टेः धर्माधर्मिकार्यत्विति वेष्यम्।

⁽१) तथाचापूर्व्वरूपे धम्माधर्मी प्रचयेपि तिस्तः,—इति न विचित्र-रूष्ट्यनुपपत्तिरिति भावः। तदानीं धम्माधम्मयोः सत्त्वश्च कार्यदर्शना-दनुमातत्र्यम्।

⁽३) द्रशं से मादि, गुगाः ''चरणा पिक्राच्या गवैन द्वायन्या से मं क्रिंगा-ति''— इत्या द्युताः चारुण्यादिन च्याः, क्रिया चिमित्ते विका। धर्मेः त्वद्याभीषां न खरूपतः किन्तु श्रेयःसाधनतारूपेणेति मीमांसास्रोतः वार्त्तिकादौ खत्तम्।

⁽४) यद्यपि प्रवाह्यावन्त्रतात् प्रवाह्यिक्षीनाञ्च सादित्वात् प्रवाह्या-नादित्वासम्भवः, तथापि, प्रवाह्यिक्षीनां मध्ये खन्यतमया यक्ष्या विना खनादिकाल्यानव्यानमेव कार्यानादित्वभिति सिद्धान्तः। रत्स

यदर्थं सृष्टि-मंहारी संचिष्योक्ती, तत् प्रवाह-नित्यलमिदानी-माह,—

न कश्चिद्देर-कर्ताच वेदं स्मृत्वा* चतुर्मुखः। तथैव धर्मान् † स्मर्गति मनुः कल्पान्तरेऽन्तरे । ११॥

दति । स्रित-निर्णेहणां मन्वादीनां स्रित-कर्नृत्व-दर्भनात् तथैव श्रुति-निर्णेहणामपि वेद-कर्नृत्वमाश्रद्धाः निराचष्टे 'न कश्चित्'-दित । न तावत् व्याचावेद-कर्नाः, तस्य विभाग-मात्र-कारित्वात् । नापि चतुर्भुखः, देश्वरेण चतुर्भुखाय वेद-प्रदानात्। नापि जगदीश्वरः, तस्य सिद्ध-वेदाभियञ्चकत्वात् । तद्कां मत्य-पुराणे,—

> "त्रस्य वेदस्य सर्वज्ञः कन्पादी परमेश्वरः। स्यञ्जकः केवसं विप्राः! नैव कर्ता न संग्रयः। ब्रह्माणं सुनयः! पूर्वें स्टष्ट्वा तसी महेश्वरः। दत्तवानखिलान् वेदान् विप्राः! श्रात्मनि॥ संस्थितान्॥।

शारीरकटीकायां रत्नप्रभाथामन्यच च खत्तम्। रष्ठरव न्यायः प्रवा-इस्यानन्तत्वेषि याजनीयः।

^{*} वेदं श्रुत्वा,—इति सु॰ पुक्तको, वेदं स्मर्त्ता, - इति सु॰ मू॰ पुक्तको, वेदकर्त्ता,—इति सेा॰ मू॰ पुक्तको पाठः।

[†] तदेव धर्मा, - इति से । मूर्णपुक्त के पाठः ।

[‡] मल्पान्तरान्तरे, इति मु॰ मृ॰, सेा॰ मू॰ पुन्तकयाः पाठः।

[🖇] धर्माख,—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

[∥] विप्रयात्मनि, – इति सं∘ पुक्तके पाठः।

[¶] सुस्थितान्,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

ब्रह्मणा चोदिते।विष्णुर्कास-रूपी दिजानमाः !। हिताय सर्व-स्रतानां वेद-भेदान् करे।ति सः"।

हति । कठादीनानु तन्-कर्दलं दूरापास्तम् । उपपत्तयसु वेदापारुषेयलाधिकरणे दृष्ट्याः । ननु, 'श्रास्त्र-योनिलाधिकरणे प्रमुख्याः सर्वेद्यलाधिकरणे दृष्ट्याः । ननु, 'श्रास्त्र-योनिलाधिकरणे प्रमुख्याः सर्वेद्यल-सर्व्यक्षित्रल-दाक्याय वेद-कर्दलं यासेन सुनितम् । (१) ननु, तेनैव देवताधिकरणे वेद-नित्यलमपि, ''श्रत्य च नित्य-सम्' (शा०९श्र० ३पा०२८स्र०) हति सुनेण प्रदर्शितम् । (१) एवं तर्दि, विरोधः परिहर्त्तयः । उच्यते । वर्णानां पदार्थ-तत्-मंत्रन्थानां वाक्यानाञ्चानित्यलं वैश्रेषिक-काणादादयोवर्णयन्ति । तान् प्रति-

इतरेघान्तु,—इति मु॰ पुस्तको पाठः।

[†] दूरापेतम्, -- इति स॰ से । पुस्तकयेः पाठः।

⁽१) ''वेदां खेके सिक्क में पुरुषाख्याः'' (मी॰ १ष्प॰ १पा॰ २७ सू॰) इत्य-सिद्ध धिकर से इत्यर्थः।

⁽२) शारीरक-प्रथम-प्रथम-दितीयाधिकरण-प्रथमवर्णके।

⁽३) सिद्धान्तयति निम्वति ।

⁽१) शारीरक-प्रथम-हतीयाद्यमाधिकर्यो।

⁽६) पूर्व्वापरविरोधसुद्भावयति एवन्तर्चीति।

⁽६) प्रन्दानित्यत्वस्य नैपेषिक दितीयाध्याय दितीया क्रिके, म्याय-दितीया क्रिके च वर्षितम्। प्रष्टानामनित्यत्वे च तत्सम्बन्धस्य प्रम्टसमृहात्मक साम्यस्य च सतरामनित्यत्वम्, तदिप चात्मतत्त्ववि- प्रम्टसमृहात्मक साम्यस्य च सतरामनित्यत्वम्, तदिप चात्मतत्त्ववि- प्रके न्याय कुसुमाञ्जले च स्पष्टम्। पदार्थानां घटादीनामनित्यत्वच्च स्का वर्षितम्। चाच, विप्रिष्ठिक कार्याद्यः,—इति पाठी लेखक- प्रमादक्वत इति प्रतिभाति, क्रियादस्येव वैप्रेषिक दर्शनक त्तात्। किन्तु

मीमांसकाः प्रथम-पादे^(१) कालाकाश्रादीनामिव वर्णानां नित्यलं वर्णयामासः, "व्यवहारे भट्टनयः", — इत्यभ्युपगमं स्वचित् देवताधि-करणे तदेव व्यावहारिकं नित्यलं स्वचितम् ^(२)। श्रतः कालिदामादि-धम्येष्विव^(२) वेदेष्वर्थाववोध-पूर्व्विकायाः पद-विशेषावापादापाभ्यां ^(४) प्रवत्तायाः वाक्य-रचनायाः श्रभावादपारुषेयलं युक्तम् । ब्रह्म-विव-र्णलं नियदादेरिव वेदस्याप्यस्ति, - इति मत्ता श्रास्त-थोनिलाधिकरणे वेद-कर्ललं ब्रह्मणेदिर्शितम् । श्रत्यव भट्टपादाः सत्यपि पुरुष-संवन्धे स्वातन्त्रं निवारयामासुः, —

"यन्नतः प्रतिषेधा नः पुरुषाणां खतन्त्रता"। इति । तस्मात्, "खतन्त्रः कर्त्ता" (पा०१ स्र०४ पा०५४ स्र०) इत्यनेन खचणेन खचितः कर्त्ता न कोऽपि वेदस्मास्ति^(५)।

इत्यभ्युपग्रतिं—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

सर्वेत्र दर्शनात्त्रधेव रिद्यतः,—इति विध्यम् । वेशेषिकायः काणादः, — इति कथिषत् सङ्गमितव्यम् ।

⁽१) मीमांसा-प्रथमाध्याय-प्रथमपादे।

⁽२) व्याव हारिकं वेदान्तमते, भट्टमते तु पारमार्थिक मेवेतिमन्तव्यम्।

⁽३) कालिदासादिग्रस्थे यथा वृद्धिपूर्विकापवित्तर्ने तथा वेदे, इति खितिरेके दछान्तः।

⁽अ) खावापः पदान्तरानयनं उदापः पूर्व्वपदापनयः। पदपरिवृत्तिरिति फिलितार्थः।

⁽५) तथाच निःश्वासवदनायासेन वेदाः ब्रह्मणः सम्भृताः, — इति ब्रह्मशो वेदकर्त्वृत्वव्यवद्वारः खातन्त्रालदायान्तु पारमार्थिकं कर्त्तृत्वं नास्तीति सिद्धान्तार्थः।

'च'कारः तु-शब्दार्थं वर्त्तमानावैलचलमाह ; सन्ति हि वहवश्वतुर्मुख-मनु-प्रस्तवः स्ट्रित-कर्त्तारः, वेद-कर्त्ता न काऽपीति वैलचएसम्। 'वेदं स्ट्रला * दत्यच वाको प्रनुषङ्ग-न्यायेन दितीयार्द्ध-गतं
पदचयमन्वेतव्यम् । श्रनुषङ्ग-न्यायश्च,—(१)दितीयाध्यय-प्रथम-पाद
वर्णितः । तथाहि,—ज्योतिष्टोम-प्रक्रियायाम् जप्रदासुपहासेषु १
चयोमन्ताः श्रूयन्ते,—"यातेऽग्रेऽयाश्रया रजाश्रया हराश्रया तनु र्वर्षिष्ठा
गङ्करेष्ठा, उग्रं वची श्रपावधीत् ॥ त्येषं वची श्रपावधीत् खाहा"
दित । तच, 'श्रयाश्रया' 'रजाश्रया' 'हराश्रया'—इति पद-भेदान्यन्तःभेदः(१) । तच, प्रथम-मन्त्रस्य, तन्त्र्ित्यादि-वाक्य-श्रेषापेचाऽस्ति,
चरम-मन्तः, 'यातेऽग्रे'—दत्यसुंवाक्यादिमपे तते. अध्य-मन्त्रस्वाद्यन्तावपेचते । तचैवं अध्यः,—किमपेचितार्थ-परिपूर्णाय खोकिकः
कियानपि पद-मन्दर्भीऽधाहरणीयः, किं वा श्रूयमाणं पदजातम-

वदं श्राता, इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] खत्र 'पुराणानाभ्'—इत्यधिकः पाठः सु॰ पुक्तके।

[‡] च्योतिष्टोमिक्रियायाम्, – इति मु॰ पुन्तको पाठः।

[§] उपसदहामेषु,—इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः।

[॥] इत्यमेव विस्निः पाठः सर्वेच । एवं परच ।

मिं मीं मांसाभाष्ये तु 'याते (प्रेश्वाणं या तनुर्व्विष्ठा'— ह्यादि खाचानं मन्तं विविता, पञ्चात्, 'रजाणया' 'इराण्या'— इति प्रतीन दयं विवितम्।

⁽१) मीमांसायाः,--इत्यादि।

⁽ए) यातेऽमेऽयाग्रया तन्वीर्घछा,—इत्यादिरेक्तामन्तः, यातेऽमे रजाग्रया तनुर्वेषिष्ठा,—इत्यादिर्दितीयः, यातेऽमे रजाग्रया तनुर्वेषिष्ठा,— इत्यादिस्तृतीयः, इति विवेकः।

नुषञ्चनीयम्? इति । वाक्यादेः(१) प्रथम-मन्त्रेणैव संबन्धात् वाक्य-ग्रेषस्य चरम-मन्त्रेऐव मंबन्धात् जीकिकाध्याद्वारः,—इति पूर्वः पजः। वैदिकाकाञ्चायाः सति सक्षवे वैदिक-प्रब्दैरेव पूरणीयलात् श्रन्य-मन्त्र-संवन्धानामपि पदानां बुद्धिस्थलेनाध्याचार्योभ्यः पदेभ्यः प्रत्या-यन्नवाच, श्रनुषङ्गएव कर्त्तवोनाध्याद्वारः,—इति विद्धान्तः । एवञ्च सति, प्रक्षतेऽपि 'कल्पान्तरे धर्मान् सारति'—इति पदचयं पूर्वार्द्धै-ऽनुषञ्जनीयम् । ^(१)चतुर्मुखलिसांसिसान् महाकन्ये परमेश्वरेण दत्तं वेदं स्रता, तच विप्रकीर्णान् वर्णाश्रम-धर्मान् सङ्गलया स्रति-ग्रन्थ-क्षेपेण उपनिवधाति। तथा च, पितामस्-वचनानि तच तच निवन्धन-कारैदरा द्वियन्ते । चतुर्मुखस्य स्थित-शास्त्र-कर्ततं मनुनाऽणुक्तम,--

"इदं प्रास्तनु क्रलाऽघौ मामेव खयमादितः।

विधिवद्गादयामास मरीच्यादीन हं सुनीन्"।

दति। यथा चतुर्मुखः, तरीव च खायभुवामनुः तिसान् तिसान्नवा-न्तर-कर्षे वेदोक्तधर्मान् राष्ट्राति । मनु-राइणेन, श्रवि-याश्चवस्का-विष्णादयः उपलच्यन्ते । तदेवं प्रतिमहाकच्यं येन येन चतुर्मुखेन, प्रत्यवान्तर-कल्पञ्च तेसिमंन्वादिभिः स्टित-प्रणयनात्, धर्मादेः प्रवाद-निखलं सिद्धम् । एतदेवाभिप्रेत्याश्वमेधिके पर्व्वणि पद्यते,—

> "युगेव्वावर्त्तमानेषु धर्मीाऽप्यावर्त्तते पुनः। धर्मीव्यावर्त्तमानेषु लोकाऽष्यावर्त्तते पुनः"।

* खच 'तेन तेन', - इति पाठीभवितुं युक्तः।

वाकारा य चादिभागस्तरोवर्थः।

⁽१) एतत् पदचयस्य पूर्वीर्झे चनुषक्ते सति, या वाक्यार्थः सम्पद्यते, **(?**) तमाइ चतुर्मेख इत्यादिना।

द्ति। युग-भेदेन धर्म-वैस्त्वाण्यमभ्युपेत्य, 'धर्मान्'--द्रति वज-

तदेव वैलचणं प्रतिजानीते,—

श्वन्ये क्वत-युगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे*। श्वन्ये कलि-युगे न्वृणां युग-रूपानुसारतः॥ २२॥

रान्यतम्। श्रन्यथा, धर्म-प्रमाण चेदनानामि युग-भेदेन भेदापन्नः (१) । न हि, दयं चेदना क्रतेऽध्येतथा, दयनु चेतायाम्,—
द्राद्यादि व्यवखापकं किञ्चिद्रित्ता। प्रकारान्यत्ने त्नस्ति दृष्टान्तः। एकखाणि ग्र- होत्रस्य मायं-प्रातः-काल-भेदेन श्रनुष्टान-प्रकार-भेदश्रवणात्। "च्यतं त्ना सत्येन परिषञ्चामि"—द्रित सायं परिषञ्चित, सत्यं त्नेन परिषञ्चामीति प्रातः"—द्रित । नणु, तत्रार्थवादेन मन्त्रः प्रकार-भेदेन उपपादितः है; "श्रिग्चर्का च्यतम्, श्रसावा-

दति। श्रव, श्रत्य-श्रब्दोन धर्मस्य खरूपान्यत्माचष्टे, किन्तु प्रका-

^{*} परे,—इति सु॰ मू॰ पुक्तको पाठः। ऽवरे,—इति सेा॰ मू॰ पुक्तको पाठः।

[†] धर्मप्रधान,-इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

[‡] रक्साधिहामख,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[🖇] मन्त्रप्रकारभेद उपपादितः—इति स॰ सा॰ पुरतक्याः पाठः ।

⁽१) धम्मप्रमाण,—इति हेतुगर्भविष्रेषणम्। चेादनागम्यार्थस्थेवधम्मत्वात् धम्मस्य स्ट्रणतेऽन्यत्वे चेादनाभेदस्यार्थसिद्धतादितिभावः।

दित्यः सत्यम्, श्रियमेव तदादित्येन सायं परिषञ्चति, श्रियनादित्यं प्रातः सह"—इति । एवन्तर्हि, श्रवापि, 'युग-रूपानुसारतः' - इत्य-नेन प्रकारभेदः उपपद्यते । युगानां खरूपमनुष्टात् - पुरुष-प्रक्ति-तार-तम्योपेतम्, तदनुसारेणानुष्ठान-वेषम्यं सम्भवति । ''यया प्रकुयात्, तथा कुर्यात्''—इति नित्य-कर्मसु निर्णितलात् । तथासि, षष्ठा-ध्याये त्तीय-पादे विचारितम् । ''यावच्जीवमग्निशेत्रं जुड्यात्''— इति श्रूयते । तत्र, संप्रदः; किं सर्वाङ्गोपमंद्यारेणाधिकारः, उत, यदा यावन्ति प्रक्रोत्यपुषंद्रमुं, तदा ताविद्वरङ्गे रूपेतं प्रधानं कुर्वन्न-धिक्रियते? इति । सर्वाङ्गोपेतस्य प्रधानस्य फल-सधनलात् श्रङ्ग-वेकस्ये फलानुद्यात् सर्वेषपसंदारः,—इति पूर्वः पद्यः । (१)श्रश्र सि जीवनमग्निद्यात् सर्वेषपसंदारः,—इति पूर्वः पद्यः । (१)श्रश्र सि जीवनमग्निद्यात् सर्वेषपसंदारः,—इति पूर्वः पद्यः । (१)श्रश्र सि जीवनमग्निद्यात् सर्वेषपसंदारः,—इति पूर्वः पद्यः । ति स्व निमित्तत्रमवस्यभावि, श्रन्यथा निमित्तलासम्भवात्, तते। द्राक्याङ्ग-परित्यागेन प्रधानं कर्त्त्वस्य, तावतैव शास्त्र-वश्रात् फल-सिद्धः,—इति । वैषधायनस्य स्वरति,—

''यथाकथि श्रित्यानि श्रत्यवस्थाऽनुरूपतः'। येन केनापि कार्य्याणि, नैव नित्यानि ले।पयेत्। इति। पुरुष-श्रिति-तार्तम्य-स्तमनुष्ठान-वैषस्यमिति विवत्तया 'नृणाम्'—इत्युक्तम्॥

^{*} बेाधायनस्त,—इति सु॰ पुस्तने पाठः।

[†] भ्राम्यवन्त्वनुरूपतः,—इति स॰ से।॰ पुस्तकयोः पाठः। भ्राम्यवस्तृनि-रूपितः,—इति तुतन्त्वकारधृतः।

⁽१) सिद्धान्तमाइ खत्र हीति।

श्रय, प्रतिज्ञातं वैलक्षयं षद्भिः स्रोकैरपन्यस्यति । तच, चतुर्षु युगेषु प्राधान्येनानुष्ठातुं सुकरान् परम-पुरुषार्थ-हेतून् धर्मान् विभजते,—

तपः परं कत-युगे चेतायां ज्ञानमुख्यते*। द्वापरे यज्ञमेवाहुः † दानमेव‡ कलौ युगे ॥ २३॥

इति । 'तपः' क्रच्क्र-चान्द्रायणादि-रूपेण श्रमन-वर्ज्जनम् । "तपा-नानमनात् परम्"—इति श्रुतेः । यद्यपि, दानस्यापि तपस्त्वं श्रूयते ;— "एतत् खनु वाव तपदत्याद्धः यः स्वं ददाति"—इति, तथापि, नाच तद्विचितम्, दानस्य पृथगुक्तत्वात् । ननु, व्यासेन त्रोऽन्यथा स्मर्थते,—

"तपः खधर्म-वर्त्तालं ग्रीचं मङ्कर-वर्ज्जनम्"। इति। नायं देषः। कच्छादेरपि ख-धर्म-विग्रेषलात्। "तप धन्ताप"—इत्यसाद्धाताहत्पन्नख तपः शब्दस्य देह-ग्रोषणे विनिर्मुख्या। भ्रतएव, स्कान्देऽभिहितम्,—

> "वेदोक्तेन प्रकारेण तथा चान्हायणादिभिः। ग्ररीर-भोषणं यत्, तत् तपद्रत्युच्यते वृधैः"।

^{*} ज्ञानमुत्तमम्,—इति से। मृ पृत्तको पाठः।

[†] यज्ञमित्याज्ञः,—इति सु॰ पुक्तके, यज्ञमित्यू चुः,—इति सु॰ मू॰ युक्तके पाठः।

[‡] दानमेकम्—इति सु॰ मू॰ पुक्तके घाठः।

इति । यनु तनैवानम्,—

"के। इसी माचः, कथं, केन मंग्रारं प्रतिपन्नवान्। दत्याले। चनमर्थज्ञास्तपः शंमन्ति पण्डिताः"।

इति । सेाऽन्यएव तपः-प्रन्यः, "तप त्रालोचने"—हत्यसाद्वाते।
स्वदुत्पत्तेः । तत् * तपेाऽन ज्ञान-प्रन्येन मंग्रहीतम्। परं प्रन्यः
प्राधान्येनानुष्ठेयतामाद । तर्दि, नेतादिषु तपेानाद्वियेत, स्रते च
ज्ञान-यज्ञ-दानानि नाद्वियेरन्,—इति चेन्, न, इतर-व्यावन्ति-रूपायाः परिमंख्यायाः श्रनाविविज्ञतलात् । न खलु, इदानीं कश्चिदनुष्ठान-विधिः वक्तुमुपक्रान्तः, येन विधि-विश्रेषः प्रङ्मोत^(१) । भविष्यति
तु "षट्-कर्माभिरतः"—इत्यादिना तद्पक्रमः । युग-सामर्थं केवलसन्न निरूपते । यथा, 'वसन्ते पृष्प-प्राचुर्यं ग्रीश्रे सन्ताप-वाज्ञत्व्यम्'
—हत्यादि च्रतु-सामर्थम्, तथा क्रतादि-सामर्थेन तपन्नादिप्राचुर्यं विविज्ञतम् । श्रतएव, 'युगे युगे तु सामर्थम्'—इति वच्यति ।
सामर्थ-ज्ञान-प्रयोजनञ्चाभिधास्यते,—

'तेषां निन्दा न कर्त्तव्या युग-रूपाद्दि ते दिजाः'।

^{*} तच.—इति मु॰ प्रतके पाठः।

⁽१) विधित्याभावे तिहिमेष्ट्पायाः परिसंख्यायाः कुतः म्रक्केति भावः।
तथान्ति,—अज्ञात-ज्ञापनं, प्रवत्यक्ष प्रमिति-जनकं, खिभिधा-नामकपदार्थान्तर-बेधकपद-घितं वा वाक्यं विधिः। स च चिविधः
विधिनियमपरिसंख्याभेदात्। यचेदमुक्तम्। "विधिर्यन्तमप्राप्तो
नियमः पाचिकं सित। तच चान्यच च प्राप्तो परिसंख्येति गीयते"
— इति।

इति । एतत्सामर्थं * वृहस्पतिरपि दर्भयति,—

"तपेधर्मः कत-युगे ज्ञानं चेता-युगे स्पृतम्। दापरे चाध्वरः प्रीकृतिस्थे(१) दानं दया दमः"'।

दति॥

धर्मान् विभज्य तद्दत् प्रमाणानि विभज्यंते ।—

क्तते तु‡ मानवाधर्मास्त्रेतायां गौतमाः सृताः। द्वापरे शङ्ख-िखिताः कलौ पाराशराः सृताःऽ॥२४॥

इति । ^(२)मानवादि-ग्रन्थोक -धर्माणां प्रचुर-प्रवृत्था ग्रन्थ-प्रामाण्ड-प्राचुर्थ्यमर्थ-सिद्धम् ॥

धर्मावदधर्मास्यापि वक्तुमिष्टलात् (३) श्रधर्मा-प्रापकं स्थान-विशेषं हैयतया विभज्यते,—

त्यजेहेशं कृत-युगे चेतायां ग्राममुत्मृजेत् । द्वापरे कुलमेकन्तु कर्त्तारन्तु॥ कलौ युगे ॥ २५ ॥

```
* एतत् सामर्थां, इति स॰ सा॰ पुस्तकयानीस्ति ।
```

[†] विभजते,—इति स॰ से।॰ पुन्तकयेाः पाठः।

[‡] मानवेश्यमाः,—इत्येकवचनान्तपाठः सु॰ यू॰ पुन्तके रवं परच।

[🐧] पाराश्ररसृतः,—इति सेा० मू० पुस्तके पाठः।

[॥] कत्तारञ्च, - इति सु॰ मू॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) तिष्यः क्तिः।

⁽२) नन कते तु मानवाधम्मा इत्यादिना मानवादिधम्माणां कतादिषु प्राचुर्थमुत्तं तत्वचमयं प्रमाणविभागः इत्याणङ्क्याच्च मानवादीति।

⁽३) धर्म्भायचा उपाद्यतया वन्मिस्टः, तचा अधर्म्भाऽपि हैयतयेति भावः।

द्गति। पिततः प्राधान्येन यिसन्—एकेन राज्ञा परिपाल्यमाने ग्राम-समूहात्मिन देशे निवसेत्, सदेशः सर्वेऽिप कते सामर्थात् । श्रध-स्मीपादकः। एवं ग्रामे योज्यम्। कुल-त्यागोनाम,—पिततस्य कुले विवाह-भोजनाद्यप्रदन्तेः। कर्त्व-त्यागः सभाषणादि-वर्ज्ञनम्।। त्याज्य-देशवत् निमित्तान्यपि त्याज्यानि विभजते,—

क्रते सम्भाषणादेवः चेतायां स्पर्शनेन च । द्वापरे त्वन्नमादाय॥ कलौ पतित कर्म्यणा॥ २६॥

इति । इतादिष्यित्र कलौ पतित-मस्भाषणादिना न खयं पतित, किन्तृ वधादिना कर्मणा पतिते। भवति (१)॥

अद्यपुरुष-तिरस्कारादौ तदीय-शाप-परिपाक-हेतुं कालं वि-अजते,---

^{*} प्रतितः पुमान् यस्मिन् येन केन राज्ञा परिपालिते,—इति भु॰ पुक्तको पाठः।

[†] क्रतसामधीत्, — इति सु॰ पृन्तको पाठः।

[‡] सम्भाषणात् पापं, -- इति सु॰ मू॰ पुक्तके पाठः।

[े] स्पर्शनात्तया, — इति से । मू॰ पुस्तके पाठः । चेतायाञ्चेव दर्शनात्, — इति सु॰ मू॰ पुस्तके पाठः ।

[॥] द्वापरे त्वर्थमादाय,—इति तत्त्वकारधृतः पाठः।

⁽१) कर्त्तारन्तु ककौ युगे, — इत्यनेन कर्त्तृ संसर्गस्य निधिद्धत्वात तत्कर्त्ता कर्षाविष पापी भवति, न तु पतिताभवति। पतनन्तु खयं छतेन बधा दिकर्म्यावेति भावः।

कते तत्र्याणकः श्रापस्त्रेतायां दश्मिर्दिनैः। दापरे चैक-मासेन कलौ संवत्सरेण तु ॥ २०॥

धर्मीख तारतम्यापादकानि निमित्तानि विभजते,---

श्रभिगम्य क्रते दानं चेतास्वाह्नय दीयते। दापरे याचमानायः सेवया दीयते कली। १८॥

इति । यच प्रतिग्रहीता वर्त्तते, तच दाता खयं गला गुरुमिव तमभिगम्य^(९) क्रते दानं करेाति । चेतायां प्रतिग्रहीतारमाह्रय तसी दीयते । 'चेतासु'—इति वड्ड-वचनं क्रत-दापरादिषु जातावेक-वचनमिति प्रदर्शनार्थम् ^(९) । दापरे खयमागत्य याचमानाय प्रति-ग्रहीचे दीयते । कलौ न याच्ञा-माचेण, किन्तु सेवया । यहस्य-तिर्पि श्रमुं विभागमाइ,—

^{*} तात्कालिकः,—इति सेा० स० पुक्तकयाः पाठः । इते तु तत्च्या-च्छापः,—इति सु० मू० पुक्तके पाठः ।

[†] दापरे मासमाचेख,—इति सु॰ स॰ पुक्तके पाठः।

[‡] संवत्सरेण तत्, -- इति से। मू पुन्तके पाठः।

[🖔] याचमानस्य,—इति से। मू० पृस्तने पाठः।

⁽१) चिभिगम्य विषयादिभिराराध्य।

⁽२) क्यतादीनां प्रस्तेषं बद्धनामिष भेदस्याविविच्यतत्वादेववचनम्। स्विनिव्यत्तिनेदा स्विष्टिविच्यत्वायते। यचेदमुक्तम्। "स्वर्धिक-याकारित्या भित्राद्ध दि स्वक्तयः। तार्यव स्वक्तयस्यक्तभेदाजाति-रुदाद्धता" इति। अक्षसर्थतावस्थेदकवत्वसंबन्धेनेकत्वस्याद्धः,— इत्यपि वदन्ति।

"क्रते प्रदीयते गला चेताखानीयते ग्रहे । दापरे च प्रार्थयनः कलावन्गमान्विते" ।

इति ॥

निमित्त-कृतं तारतम्यं दर्भयति,—

श्रभिगम्योत्तमं दानमाह्नयैव तु* मध्यमम् । श्रथमं याचमानाय+सेवा-दानन्तु निष्कत्तम् ‡ ॥२८॥

इति । जनमलाद्यवान्तर-विश्रेषः पुराण-मारे फल-दारेणेापपा-दितः,—

> "गला यत् दीयते दानं तदनन्त-फलं स्रतम् । महस्र-गुणमाह्रय याचितन्तु तदर्ह्वम् । श्रभगम्य तु यद्दानं यदा दानमयाचितम्॥ । विद्यते सागरस्यान्तस्यान्तोनैव विद्यते"।

दति ।

कलि-धर्माणामसिन् ग्रन्थे प्राधान्येन वच्यमाणलात् कलि-सामर्थे विशेषनः प्रपञ्चयति,—

^{*} भारतचैव,—इति सु॰ मू॰ सा॰ मू॰ पुन्तकयाः पाठः।

[†] खधमं याच्यमानं स्यात्,—इति मु॰ भू॰ पुक्तको, कनिष्ठं याचमानं स्थात्,—इति से।॰ मू॰ पुक्तको पाठः।

[‡] सेवया निष्पत्तं भवेत्,—इति से। मू॰ पुक्तके पाठः।

९ श्रिमाभ्यन्तु,—इति स॰ सा॰ पुन्तकयाः पाठः ।

[॥] दानेष्वयाचितम्, — इति सु॰ पत्तने पाठः।

*जिताधर्मोत्त्वधर्मेण सत्यश्चैवान्दतेन च । जिताखारेस्तु । राजानः स्त्रीभिख पुरुषाः कली । ३०॥ सीदन्ति चामिहाचाणि गुरु-पूजा प्रणस्यति । कुमार्थश्च प्रस्रयन्ते तिसान् कलि-युगे सदा॥॥ ३१॥

दति । श्रधर्माख जयो्नाम, पाद-चयोपेतलम् (१) । एकेन पादेन वर्त्तमानलम् धर्माख पराजयः । तदाइ यहस्पतिः,—

"तियोऽधर्मस्तिभः पार्देधर्मः पादेन संस्थितः" । इति । सत्यानृतयोधर्माधर्म-रूपनेऽपि पृथगुपादानं धर्माधर्मावुदा-इत्य प्रदर्भनार्थम् । यावत् यावत् कलिर्व्विवर्द्धते, तावत्तावदधर्मा-विवर्द्धते,—इति विवचया चारासुदाहरण-बाज्ञन्यम्^(२)। तदुक्तं विष्णुपुराणे,—

> "यदा यदा मतां हानिर्वेद-मार्गानुमारिणाम् । तदा तदा कलेर्वृद्धिरनुमेया विचन्णैः ।

^{*} जित इत्यादि स्नाक्षात् पूर्वम्,—'क्तते चास्थिगताः प्रात्याः' इत्यादि वच्यमात्यः स्नाकः पठाते म्लपुक्तकदये।

[†] जितः सत्येत्वतेन च,—इति सु॰ मू॰ पुक्तके पाठः।

[‡] चौरैक्तु,—इति स॰ से।॰ पुक्तकयोः, भ्रत्येक्तु,—इति सु॰ मू॰ पुक्तके पाठः।

[§] जिताः,—इति सु॰ सू॰, सा॰ स॰ पुस्तकयोः पाठः ।

[॥] खिसान् कित्युगे तथा, - इति से । मू॰ पुस्तके पाठः ।

⁽१) पादखतुर्थांगः।

⁽२) तथाच, इदमपि उदाइरणप्रदर्शनार्थमेवेतिभावः।

न प्रीतिर्वेद-वादेषु पाषण्डेषु दया-रशः । तदा तदा कालेर्व्युद्धिरनुमेया दिनात्तमै:''।

इति ॥

यदुक्तम्,—'तपः परं कत-युगे'—इत्यादि, तम, हेतुमाइ,— †क्षते त्वस्थि-गताः प्राणास्त्रेतायां मांसमात्रिताः !। द्वापरे रुधिरञ्चैव कली त्वन्नादिषु स्थिताः॥॥३२॥ द्रति । 'प्राण' शब्दोवायु-विशेषं चत्ति-पञ्चके। पेतं द्वदयादि-स्थान-निवासिनमाच्छे । प्राण-खरूपञ्च मैत्रेय-ग्राखायां विस्पष्टं श्रूयते । "प्रजापतिर्ञ्चाएके। उपेऽतिष्ठत्, स नारमतैकः, स श्रात्मानमभिष्यायन् वक्वीः प्रजात्रस्जत, तात्रस्रोवाप्रबुद्धात्रप्राणाः स्वाणुरिव सन्तिष्टमाना श्रपथात्, स नारमत, सेाऽमन्यत; एतासां प्रतिवेशधनायाभ्यन्तरं विशानि,—इति, स

्षमान खदाने। व्यान:,—द्रति, श्रय यो उसमूर्ड्ड मुल्कामयति एषवाव प्राणः, श्रथ योऽयमवाञ्चं संक्रामित एषवाव सेाऽपानेाऽथ योऽयं

एकानाश्वकात्, पञ्चधाऽऽत्यानं प्रविभन्योच्यते; यः प्राणोऽपानः

वायुमिवात्मानं कलाऽभ्यन्तरं प्राविशत्, स

^{*} दया रतिः, - इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः।

[†] अयं स्नातः, 'जिताधर्मोत्त्रधर्मीय'— इत्यादि स्नातात् पूर्वं पठाते मू॰ पुक्तवदये।

[‡] मांससंहिताः,—इति सु॰ मू॰ पुक्तके पाठः।

[🖇] द्वापरे रुधिरं यावत् ,—इति मु॰ मू॰ पुस्तके, दापरे त्वयाताः प्राक्षाः,— इति सा॰ मू॰ पुक्तके पाठः।

[॥] क्षावद्यादिष्ठं स्थिताः, -- इति सु॰ मू॰ पुक्तको, क्षा रक्षाताः स्राताः, - इति से। अ पश्तके पाठः।

स्वविष्ठमन-धातुमपाने स्वापयित श्रणिष्ठञ्चाङ्गे समं नयित एषवाव समाने।ऽय ये।ऽयं पीताश्रितमुद्गिरित निगरित एषवाव सखराने।ऽय ये नैताः शिरा श्रमुखाप्ताएषवाव स खानः,—इति । श्रमोव पाषाणविद्यर्थः। वाक्-चनुरादीनीन्द्रियाण्विप प्राणाधीन-खापार-लात् प्राण-श्रब्देन व्यवद्वियने। श्रतएव क्रन्दोगाश्रामनिनः;— "न वै वाचान चनूषि न श्रोचाणि न मनांसीत्याचनते प्राणद्य्येवाचनते"—इति । तसात् —इन्द्रिय-वायु-समुदाय-रूपं लिङ्ग-शरीरं ले।कान्तर-गमन-चमं(१) प्राण-श्रब्देन विविन्तिम्। तस्त श्रस्थि-मांसादि-मये स्यूल-शरीरे कर्म-रज्जुभिर्विवध्यते। तच वन्धनं तत्तद्युगसामधीदस्थादिषु व्यवितष्ठते। तथा च, क्रच्क्र-चान्द्रायणदिषु श्रनाद्याद्दार-परित्यागात् । मांसाद्युपचयेऽष्यस्थां सहसाऽनुपचयात् प्राणानामव्याकुलतेति कत-युगे तपः सुकरम्। वैतादिषु मांसाद्युपचयेण प्राणानां त्याकुललात् तपोदुष्करम्।

^{*} सिरा,—इति सु॰ पुक्तने पाठः।

[†] क्रक्कचान्द्रयणाद्यर्थमाचारपरित्यागात्,—इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

⁽१) व्यापमस्यात्मनः लेकान्तरग्रमनादिलच्या क्रिया न सम्भवति, तस्मात् लिङ्गणरीरलेकान्तरग्रमनादिनेव तस्य लेकान्तरग्रमनादिनव्यपदेशः। उक्तस्र, "पश्चप्रायमनानुद्धिदणेन्द्रियसमन्वितम्। खपदीछतभूतेतस्यं स्त्याङ्गं भेगमाधनम्"—इति। प्ररीरं तावत् चिविधं लिङ्गणरीरापरपर्यायंस्याणरीरमेकम्। स्थूलपरीरमपर परिदृश्यमानम्। खन्यच नारयणरीरमिवद्यारूपमित्येकेषां दर्णनम्, खिधछानणरीरं स्थूलभूतानान्तरभेदस्याभूतमयमित्यन्येषाम्। इष्ट्य प्रथभेक्तप्ररीरद्दयस्योपयाग्रहति मन्तव्यम्।

चद्यपि, प्राणानां मांसाद्याश्रयेण ज्ञानादिषूपकार-विशेषोदुर्जभः, तचापि, तपसेाऽसमावं वक्तुं तद्वर्णनम् ()। श्रतएव, कूर्मपूराणे, युगान्तराभिप्रायेण तपाऽन्तरं वर्णितम्,—

> "श्रहिंसा सत्य-वचनमानृश्रंस्यं दमोघृणा^(१)। एतत्तपोविद्धीरान श्ररीरस्य श्रीषणम्"।

द्रति ॥ ददानीं युग-सामर्थ्य-वर्णनस्य प्रयोजनमारः,—

युगे युगे च ये धर्मास्तच तच च* ये दिजाः। तेषां निन्दा न कर्त्तव्या युग-रूपा हि ते दिजाः॥३३॥

इति । 'युग-रूपाः' युगानुरूपाः, काल-पर-तन्त्राः,--इति यावत्। तदुक्तमारुष्य-पर्वणि,--

> "स्रमिर्नद्यानगास्त्रते । सिद्धादेवर्षयस्तया । कार्ज समनुवर्त्तन्ते तथा भावायुगे युगे ।

^{*} तेषु तेषु च, -- इति से। मृ एस्तने पाठः।

[†] नगाः ग्रेलाः, - इति स॰ से । पुक्तवयाः पाठः।

⁽१) यथा क्रतयुगधर्मे तपिस प्राणानामिस्यातत्वमुपयुज्यते, तथा जेतादि-युगधर्मेषु ज्ञानादिषु तेषां मांसादिगतत्वं नेपयुज्यते इत्याण्यक्षार्थः। ज्ञानादिव्यनुपयागेषि तपस्रादीनामसम्भवे तदुपयागोऽस्येवेतिनास-ज्ञातिरिति सिद्धान्तार्थः।

⁽२) षारुशंखमनेषुर्थम्, दमइन्त्रियनिग्रचः। धवा दया ।

कालं कालं समाधाद्य नराणां नर-पुङ्गवाः ! ।
वल-वर्ण-प्रभावा हि प्रभवन्युद्भवन्ति च' ।
इति ॥ नन्वेवं कलौ पापिनामनिन्यलात् क्रत्वं धर्माधर्मा-व्यवस्थापक-शास्त्रं विञ्जवेत । तथा हि ;—'जितोधर्मी ह्यधर्मीण'—इति
यदुक्तम्, तच, ''धर्मी चर''—इति श्रूयमाणोविधिः पीद्येत ;

"नास्ति सत्यात् परेधिर्भीनानृतात् पातकं परम्। स्थितिर्हि सत्ये धर्मस्य तस्मात् मत्यं न लेपियेत्"। इति राज-धर्मेपूकम्, तच्च, श्रनृतस्थानिन्यत्वे वाध्येत;

"श्रदण्डान् दण्डयन् राजा दण्डांश्वेवाणदण्डयन् । श्रयशामहदाप्नोति नरकञ्चेव गच्छति"। इति वचनं चोरम्यानिन्ह्याले वाध्येत:

''स्वीभिर्भर्जुर्व्चर! कार्यमेष धर्मः परः स्वियाः"। इति याज्ञवल्काकिः;

"भक्तारं लङ्गधेद् या तु जाति-स्त्री-गुण-दर्पिता। तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने वज्जसंस्थितः।"। दित सनूक्तिः ;

> "परित्याच्या तथा भार्था भर्त्तृत्वेचन-सिंहानी। तत्र देखीन चासीति त्यं हि वेत्य यथातथम्। सर्व-स्वण-युक्तापि या तु भर्त्तुर्थतिक्रमम्।

^{*} वलवर्षाधभावा हि, -इति स॰ सेा॰ पुस्तकयेाः पाठः।
† भर्तृवचः,--इति स॰ सेा॰ पुन्तकयेाः पाठः।
† संहितः,--इति सु॰ पुन्तके पाठः।

करे। ति सा परित्या ज्येत्येष धर्मः समातनः"।
दित ब्रह्मपुराणे सहवीणासुनिः; तदिदसुनि-नयं स्त्री-जितसः "
श्रिनिन्दायां वाधितं स्थात्; श्रिक्कद्र-काण्डे श्रिम्रिक्षेत्र-प्रायिश्वनं
वद्धधा श्रुतस्; श्राश्वसेधिके पर्ल्ण चैत्राणुक्तस्,—

''हातयं विधिवद्राजन्! ऊर्द्धामिच्हिना ये गतिम्। श्रा-जन्म-सनमेतत् खादग्रिहानं युधिष्ठिर! न त्याज्यं चणमणेतद्गदीतयं दिजातिभिः । यद्दैतखां पृथियां दि किञ्चिद्कति चराचरम्। तत् सर्वमग्रिहोनस्य क्रते स्षष्टं खयभुवा। नाववुध्यन्ति ये चैतन्तराम्त तमसाऽऽहताः। ते यान्ति नरकं घारं रौरवं नाम विश्रुतम्"। दिति; तदेतत् ॥ श्रुति-दयमग्रिहानावसादस्यानिन्दायां बाध्येत;

"गुरानिधाचरणं गुरारिष्ट-विवृक्तनम् । "गुरारिनष्टाचरणं गुरारिष्ट-विवृक्तनम् । गुरास्य सेवाऽकरणं ज्ञानानुत्पत्ति-कारणम् । त्राचार्य्य-निन्दा-स्रवणं तद्वाधस्य च दर्शनम् (१)।

विवादस तथा तेन ज्ञानानुत्पत्ति-कारणम्"।

^{*} स्त्रीविजयस्य, - इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[†] अत्र, ग्रहीतवाम्, - इत्यमुद्धः पाठः सर्वे व्येव पुस्तकेष् ।

दिजादिभिः, - इति सु॰ पुक्तके पाठः।

९ यचैतन्यं,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

[॥] तदेतत् — इति सु॰ पुक्तके मास्ति।

⁽९) बाधा बन्धमादि दुःखम्।

दित स्कान्द-पुराण-अवन्मृ, एतच गुरू-पूजा-प्रणाशस्य श्विन्दायां वाध्येत ;

"प्राप्ते तु दादशे[†] वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति । मासि मासि रजस्तयाः पिता पिवति शोणितम्" । इति यम-वचनम्,

"पितुर्यहे तु या कन्या रजः प्रयत्यमंक्तता। भूण-हत्या पितुस्तस्याः सा कन्या दृषली स्मृता"। इति वचनम्, निदुभयं कुमारी-प्रसवस्यानिन्दायां वाध्येत। ततः कथमनिन्दा? इत्यत श्राह,—

युगे युगे तु सामर्थ्धं भ्रेषं मुनि-वि-भाषितम्॥। पराशरेण चाप्युक्तं प्रायिखत्तं विधीयते॥ ३४॥

द्गति । 'श्रेषम्' श्रविश्वष्टं तत्तदयुग-षामर्थः सुनिभिर्न्येर्विश्वेषेण भाषितम् । तथा चार्ण्य-पर्वणि प्यते,—

> "कृतं नाम युगं श्रेष्ठं यत्र धर्माः सनातनः। कृतमेव न कर्त्तव्यं तिसान् काले युगोत्तमे।

गुरुश्रञ्जूषा प्रसागस्य, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[†] प्राप्ते दादश्मे,--इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

[ा] वचनम्,—इति मु॰ पुक्तके नास्ति।

[🐧] युगसामर्थाविषेषु,—इति सा॰ मू॰ पुक्तके पाठः।

[॥] मुनिभिभाषितम् ,-इति सु॰ मू॰ पुन्तके पाठः।

ग प्रधीयते, — इति सु॰ मू॰ पुन्तके पाठः

न तत्र धर्माः चीदन्ति न जीर्यन्ते च वे प्रजाः। ततः इतयुगं नाम कालेन ग्णतां गतम्। क्रते युगे चतुष्यादश्चातुर्वर्ण्यञ्च प्रायतम् । एतत् कृतयुगं नाम चैगुण्य-परिवर्क्जितम् । पादेन यसतेऽधर्मीरक्ततां याति चाचातः । ज्ञान-प्रवत्तास्य नराः किया-धर्म-परायणाः । तते।यज्ञाः प्रवर्त्तने धर्माः विविधाः कियाः । ख-धर्म-खाः क्रियावन्ते। जनास्त्रेता-युगेऽभवन्। विष्णुः पीतलमायाति चतुर्द्धा वेदएवच । षत्यस्य भूरि विभंगः षत्ये कञ्चिदवस्थितः । मत्यात् प्रच्यवमानानां व्याधयोवहवाऽभवन् । कामार्श्वापद्रवाश्चेव तथा दैवत-कारिताः। काम कामाः हार्य-कामायज्ञां सन्विन्त चापरे। एवं दापरमामाद्य प्रजाः चीयन्यधर्मतः । पादेनैनेन कौन्तेय! धर्माः कलि-युगे स्थितः। वेदाचाराः प्रशास्यन्ते धर्मायज्ञ-क्रियास्त्रया । त्राध्योव्याधयसन्त्री-देषाः क्रोधादयस्रव्या^(१)" ।

इति । तन्नेव,—

^{*} इदं श्लोकार्द्धं मु॰ पुक्तके नान्ति । † सत्येनास्येव विभ्नंप्रोसत्ये कस्विदवस्थितः,— इति मु॰ पुक्तके पाठः ।

⁽१) श्वाधिमानसी व्यथा। व्याधिः प्रसिद्धयन। तन्त्री निद्राप्रमीषये।रिति-केषाः।

"ब्राह्मणाः चिचावैग्याः मंगिरन्ते परम्परम् । ग्रुद्ध-तुन्याभविष्यन्ति तपः-मत्य-विविक्तिताः । स्वभावात् क्रूर-वर्षाण्यान्योन्यम् श्रविष्यक्तिताः । भवितारान्याः मर्वे मंग्राप्ते युग-मंथये" ।

दत्यादि । ब्रह्म-पुराणेऽपि,—

"दीर्घ-कालं ब्रह्म-चर्यं धारणञ्च कमण्डलेः। गोचानात्र-मिण्डानु[‡] विवारेगो-वधस्तथा। नराय-मेधी मदाञ्च काली वर्ष्यं दिजातिभिः"।

न्नतुरपि,—

"देवराच सुते।त्यित्तिर्दक्ता कन्या न दीयते। न यज्ञे गो-वधः कार्यः कसौ न च कमण्डलुः''। इति । पुराणेऽपि,—

''जहायाः पुनस्दाहं ज्येष्ठांग्रं गो-वधन्तथा।
सनी पञ्च न कुर्त्वीत आह-जायां कमण्डलुम्''।
सित । तथा, श्रन्येऽपि धर्मज्ञ-समय-प्रमाणकाः १ सन्ति,—
''विधवायां प्रजात्यत्ती देरवस्य नियोजनम्।
वालिका-ऽचत्योत्योश्च वरेणान्येन मंद्धतिः।

कन्यानामसवर्थानां विवादश्य दिजातिभिः।

[#] संगिरन्तः,—इति मु॰ पुन्तने पाठः।

[†] च्यभिशक्षिताः,—इति स॰ से। प्रस्तकयेाः पाठः ।

[‡] सिंपग्डान्वा,---इति यत्र्यान्तरे पाठः।

[§] धम्म चप्रमागकाः- - इति स॰ चा॰ पुन्तकयाः पाठः।

(१) त्राततायि-दिनाय्याणां धर्म-युद्धेन हिंसनम्। दिजसाध्वौ तु निर्याणं गोधितस्यापि संग्रहः(१)। सन-दीचा च सर्वेषां कमण्डलु-विधारणम्। महाप्रस्थान-गमनं गो-संज्ञप्तिश्च गा-सवे(१)। सौन्नामणामपि सुरा-ग्रहणस्य च संग्रहः(४)। स्त्रिश्चिन-इवन्याञ्च लेहालीढ़ा-परिग्रहः । वान-प्रस्थात्रमस्थापि प्रवेशोविधि-चोदितः। वन-स्थाय्याय-सापेचमध-सङ्गोचनन्तथा(६)।

- * दिजसाधी तु नैा-यातुः,—इति निर्णयसिन्धी पाठः।
- † जी ज़िले च्चा परियदः, इति सु॰ पुक्तके पाठः।
- (१) चाततायिनचा,—''अभिदागरदचीन मास्त्रपाणिर्धनापचः। चीच-दारापचारी च बड़ेते चाततायिनः"—इति स्रुत्युक्ताः।
- (२) दिजानां समुदयाचा, समुदयाचायां छतायां प्रायस्वित्तश्चापि संग्रहेत व्यवद्वारः।
- (३) ग्रीसंच्छिगीषधः। ग्रीसवीयागिवधेषः।
- (8) सुरायस्यां सुरायसः। (यसः पात्रविश्वेषः)। तद्यस्यासः, "सुरायस् यक्षाति"—इत्यादिना सौत्रामन्यां विस्तिः। सुरायस्यस्य तत्कर्त्तः संयसः इति वाऽर्थः।
- (५) खिपिके इयते यया, सा खिपिके प्रचनी वैनक्षतस्म । तस्या खिपिके प्रचन्या इताविधिक प्राधनार्थं के इनं की द्वाराख तस्याः परिग्रचः।
- (६) वत्तमिष्ठीपादि, खाधायावेदाधायमम्। तत्सापेक्तमश्रीपश्रासः, —"रकाषात्यधाते विभोयाधिवेदसमन्तिः"—इत्सादिमा विश्वितः।

प्रायश्चित्त-विधानञ्च विप्राणां मरणान्तिकम् । संगर्ग-देखः स्तेनार्द्यर्मद्वापातक-निष्कृतिः (१) । वरातिथि-पित्वभ्यञ्च पप्रूपाकरण-क्रिया (१) । दत्तीरसेतरेषान्तु पुत्रत्नेन परिग्रहः । सवर्णान्याङ्गना-दृष्टी * मंमर्गः भोधितरिपि । श्रयोनी मंग्रहे दत्ती परित्यागोगुरु-स्तियाः (१) । श्रयोनी मंग्रहे दत्ती परित्यागोगुरु-स्तियाः (१) । श्रामिनं चैव विप्राणां (५) सेम-विक्रयणं तथा । षद्भक्तानश्रनेनान्न-हरणं हीन-कर्मणः (६) ।

- (१) संसर्भदेषिक्तेयान्यमद्दापातकनिष्कृतिः,—इति निर्णयसिन्धौ पठितं व्याख्यातश्च; संसर्भदेषिक्तेयेतरमद्दापातकत्रये ब्रह्मद्दव्या-सरापान-गुरुतत्यममन्हपे ज्ञानकृते या निष्कृतिर्मरग्रहपेति।
- (२) उपाकरणमभिमन्त्रणपृत्वेक इननं तच ग्रह्योक्ते मधुपर्का ख्वक मिय वराति थये विश्वितम्। पित्रभ्य खास्त्रकादी निदिह्तिम्।
- (३) खयोनौ शिष्यादौ। ''चतससु परित्याच्याः शिष्यगा''— इत्यादिना तत्परित्यागोविद्यतः।
- (४) श्रसिश्चयनं मरणाचतुर्थाचादौ विच्तिम्। खङ्गस्पर्भस्य तदुत्तरं . विच्तिः।
- (५) शामित्रं यागे विह्तिम् शमितुः ऋतिरिवशेषस्य कमी ।
- (﴿) चन्नाभावात् षड्भत्तमनत्रतः "वुभुत्तितस्त्राहं स्थित्वा धान्यमहाह्य-शाद्धरेत्"—इत्यादिना चन्नहर्या विह्नितम्।

^{*} सवर्षानां तथा दृखी,-इति मु॰ पुक्तने पाठः।

[†] खये। नौ संग्रहे। वित्ते, - इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] सामित्रं,- इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

शुद्रेषु दास-गोपास-कुलिमचाई-सीरिणाम् । भोज्यान्नता, ग्रहस्थस्य-तीर्थ-सेवाऽति दूरतः । शिष्यस्य गुरु-दारेषु गुरुवदृत्तिरीरिता*(१) । श्रापदृत्तिर्दिजाय्याणामस्त्वनिकता तथा(१) । प्रजार्थन्तु दिजाय्याणां प्रजाऽरिण-परिग्रहः(१) । श्राह्मणानां प्रवासितं सुखाग्नि-धमन-किया(४) । श्राह्मणानां प्रवासितं सुखाग्नि-धमन-किया(४) । श्राह्मणानां प्रवासितं सुखाग्नि-धमन-किया(४) । श्राह्मणानां प्रवासितं सुखाग्नि-धमन-किया(४) ।

- (१) नैस्विनन्द्याचारियोग्नरो परेते गुरुदारेषु गुरुवद्विर्मन्वादिभिः क-चिता।
- (२) चापि सर्वतः प्रतियन्ते। निक्ता । चाय-क्तिकता रकदिनमाचिन्विन्दे। चितधनत्वम् । खोभवं खक्तनं तदस्य पुरुषस्याक्ति,—इति मत्वर्थीयहकः । पद्यात् नज समासः । चायक्ति-कत्वद्य ब्राह्मणस्य "चायक्तिन्तरव वा"—इति मन्वादिभिर्व्विन्दितम् ।
- (३) जातकर्मा होमे सनातिजीवनार्घमरियादियः कस्यासिन्हाखाया-सुतः।
- (8) दारेखिं निचित्य सामिकानां प्रवासः कर्म्मप्रदीपादी विच्तिः "निः-चित्यामिं खदारेषु परिकष्य दिजं तथा प्रवसेत् कार्यवान् विप्रः"— इत्यादिना । तस्यैवाच "ब्राच्चग्यानां प्रवासित्वम्"—इत्यनेन परामर्प्यः। मुखाप्रिथमनम्ब, "मुखेनेके धमन्यामिम्"—इत्यनेन विच्तिम्।
- (५) वनात्नारादिदुक्कीसंग्रहस्त, "वनात् प्रमण्य भुक्ता चत्" इत्यादि-ना विद्याः।

गुरुवद्क्तिश्रीजता,—इति निर्श्वयसिन्धी पाठः ।

[†] यतेच सर्ववर्णेषु,-इति निर्णयसिन्धी पाठः।

नवादने दमाहञ्च दिचणा गुरु-चोदिता^(१)।

ब्राह्मणादिषु प्रुद्धस्य पचनादि-कियापि च।

स्ग्विम-पतनादौञ्च दद्वादि-मरणन्तथा^(१)।

गो-लिप्त-मिष्ठे पयिष भिष्टेराचमन-किया।

पितापुच-विरोधेषु साचिणां दण्ड-कल्पनम्।

यच-सायं-ग्रहत्वञ्च स्विभिस्तत्व-तत्-परै:†^(१)।

एतानि लोक-गुष्ट्यथं^(४) कलेरादै। महात्मिः।

निवित्तितानि कमीणि श्ववस्था-पूर्व्वकं वृधेः।

समयञ्चापि^(६) साधूनां प्रमाणं वेदवञ्चवेत्।

इति । (१)तद्क्रमापस्तम्बेनापि,—"धर्मज्ञ-समयः प्रमाणं वेदाश्व"— इति । एवमन्यद्णुदाहार्थम् । यथा, सुनिभिस्तत्तत्-युग-सामर्थः विधि-निषेधाभ्यां विश्रेषेण भावितम्, तथा, विहितातिक्रम-निषि-द्वाचरणयोः प्रायश्चित्तमपि चिरन्तनेन पराश्ररेणोक्तम्। पद्यन्ते हि द्वरु-पराश्वरस्य वचनानि,—

[•] यतेः सायं ग्रहस्थलं, - इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[†] तत्त्वदर्शिभः,—इति निर्णयसिन्धौ पाठः।

⁽१) नवादने दशाह्य,—"दशाहेनेव सुध्येत भूमिष्ठश्च नवादकम्"— इत्यादिनात्तम्। "गुरवे वरं दत्त्वा"— इत्याद्यता दिल्या।

⁽२) रतच,—''रुद्धः ग्रीचसृते र्नुप्तः प्रत्याख्यातिभवक्तियः। खातानं धातयेरानुं'—हत्यादिना विहितम्। सगुरुवदिशः।

⁽१) "थनसायंग्रहोमुनिः"-इत्यनेन विचितं यनसायंग्रहतम्।

⁽१) गुप्तिः रचा।

⁽धू) समयः सम्बत् प्रतिचा इति यावत्।

⁽⁴⁾ साधूनां समयस्य प्रमायत्ममापत्तम्नेनाप्युत्तम् इत्वर्धः।

"जरायु-जाय-जाश्चेव जीवाः संस्तेद-जाश्च ये। श्रवधाः सर्वण्वेते बुधेः समनुवर्णितम्। निश्चयार्थं विबुद्धानां प्रायश्चित्तं विधीयते। श्रवस्थि-मतमेकन्तु यदि प्राणिर्व्वयोजयेत्। जपेग्येकादमादध्यात् प्राणायामांस्तु षोड्मां। चि-स्नानमुदके कला तस्मात् पापात् प्रमुच्यते। श्रिस्मदधेतु दिगुणं प्रायश्चित्तं विधीयते। श्रवेन विधिना वाऽपि स्थावरेषु नसंभयः। कायेन पद्धां हम्नाभ्यामपराधादिमुच्यते। चतुर्गुणं कर्मा-कृते दिगुणं वाक-प्रदृषिते । कृत्या तु मानसं पापं तथैवेक-गुणं स्टतन्"।

दित। 'च'कारा याज्ञवल्का-मन्नादि-समुचयार्थः। प्रसिद्धा हि तदीय-ग्रन्थेषु प्रायश्चित्ताध्यायाः। पराग्रर-ग्रहणन्तु कलि-युगाभि-प्रायम्। सर्वेद्येव कल्पेषु पराग्रर-स्रतेः कलि-युग-धर्म-पच-पाति-लात् प्रायश्चितेष्यपि कलि-युग-विषयेषु पराग्ररः प्राधान्येनाद्रर-णीयः। श्रतः, पराग्रर-मन्नादि-प्रोक्तं प्रायश्चित्तं तत्तत्-पाप-परिद्या-राय विदत्-परिषदा विधीयते। एतदुक्तं भवति,—नाना-सुनिभि-सत्तद्-युग-सामर्थस्य प्रायश्चित्तस्य प्रपश्चिलात् तदुभयं पर्याक्षीत्था

^{*} चनस्थिमल्पमेकतु,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

t दादण, - इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः ।

[‡] श्वस्थिवन्धेषु,—इति सु॰ पुस्तको पाठः।

[∮] वाक्यदू विते,—इति स॰ से ा॰ पुक्तकयाः पाठः ।

निन्दाऽनिन्द्येः * व्यवस्था कन्पनीया। यः पुरुषोयुग-धामर्थमनु-स्रत्यं विहितानुष्टानं प्रतिषिद्ध-वर्ज्ञनं प्रमाद-क्रत-पापस्य प्रायसि-त्तस्य कर्त्तुं बकोऽपि न कुर्यात्, तदिषयाणि,—

"भूण-इत्या पितुम्तस्य मा कन्या रुषसी स्प्रता"। इत्यादि-निन्दा-वचनानिः त्रशक-विषयं 'तेषां निन्दा न कर्मया'— इत्यादि वचनम्। त्रतएव श्वैवागसेश पद्यते,—

"त्रत्यन्त-रेगि-युक्तेऽङ्गे राज-चैगि-भयादिषु ।

गुर्चित्र-देव-क्रत्येषु नित्य-हानी न पाप-भाक्"। दति। तस्मात् न काऽपि धर्माधर्म-प्रास्तस्य विञ्जवः—दति॥

ननु, जन-प्रकारेण युग-सागर्थकाशेषस्थानेक-ग्रन्थ-परिचयम-नारेण दुर्वेष्यतात् कयं मन्द-प्रज्ञानामकन्पायुषां युग-सामर्थानु-सारिणसातुर्व्वर्ष्य-समाचारस्य निर्णयः ? दत्यतन्त्रास,—

^{*} निन्दानिन्द्रयोः,—इति स॰ से।॰ पुक्तकयोः पाठः।

[†] युगसामर्थमनुस्रुत्व,—इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः।

[🛊] इत्यमेव सर्व्वत्र पाठः । य्रयान्तरे तु "पितुक्तस्याः"—इति पाठः ।

भौरागमे, —इति स॰ भा॰ पुस्तवयाः पाठः ।

[॥] धर्मभाष्त्रस्य, - इति म॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः।

पूर्वप्रधायाम्,—(१) 'नन्वेवं काको पापिनामनिन्दात्वात्'—इत्या-दिना सन्दर्भेण भूमिकायां यः पूर्वपच्च उपन्नान्तः, तस्य सिद्धान्त-मिदानीमाच यतदुक्तं भवतीत्वादिना ।

श्रहमदीव तत् सर्व्व* मनुसृत्य ब्रवीमि वः। चातुर्व्वर्ण्य-समाचारं श्रखन्तु मुनि-पुङ्गवाः! †॥३५॥

दित । श्रनुस्तत्यं सर्वस्य मंकलयाभिधानात् मन्दानामणेतत् सुर-दम् । 'श्रस्ति'—द्गति काल-विलम्ब-निषेधात् श्रन्यायुषामयत्र ग्रन्थे निर्णयः सुलभः । चलारे।वर्णाद्यातुर्व्वर्ण्धम्, तस्य समाचारे।धर्मः । श्राचार-श्रव्दः श्रील-पर्यायः लौकिकं वन्तमाच्छे (१) । समीचीनः श्रिष्टाभिमतश्राचारे।यस्य धर्मस्य कारणलेन वन्तते, से।ऽयं यजन-याजनादि-कर्म-लचणोधर्मः समाचारः । श्रतएव, श्राचार-धर्मयो देत-हेतुमद्रूपेण भेदं वन्यति ; 'श्राचारे।धर्म-पालकः '—द्गति । श्रुतिस्य धर्माचारौ भेदेन व्यपदिश्रति ;—"यथाकारौ यथाऽऽचारौ तथा भवति"—द्गति । श्रुत्यन्तरे च कर्म-वन्त्योभेंदश्राद्यायते ;— "श्रथ, यदि ते कर्म-विचिकित्सा वा वन्त-विचिकित्सा वा स्वात्" दित । यद्यपि,—

'ग्र्णु पुत्र ! प्रवच्छामि ग्र्णुलन्तु मुनि-पुङ्गवाः !'। इत्यप्रमत्तत्वं पूर्व्वमेव विह्तिम्, तथापि युगं सामर्थ्य-प्रपञ्चनेन

^{*} तद्धकी,—इति स॰ से।॰ सु॰ मू॰ पुस्तनेषु पाठः। तत्धकी, इति से।॰ मू॰ युक्तने पाठः।

[†] ऋषिपुक्तवाः, -- इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः।

[🛊] ऋनुसर्वस्य,—इति स॰ सेा॰ पुस्तकयाः पाठः।

⁽१) वसं चरित्रम्। सौकिकपदेन, ''वस्रास्यता देवपित्रभक्तता''—इत्यादि द्वारातास्युक्तग्रास्त्रीयग्रीकश्चवस्थेदः।

व्यवहितलात् नदेव पुनः स्नार्थाते । श्रथ वा, पूर्वेकां युग-सामर्थ-श्रवण-विषयम्, ददन्तु धर्म-श्रवण-विषयम्, दत्यपुनस्किः॥

वच्छमाण-धर्म-जातस्य परम-पुरुषार्थ-हेतुतां कैसुतिक-न्या-येन^(१) श्रभिधातुं यन्य-पाठ-तदर्थ-ज्ञाने^(१) प्रशंसति,—

पराशर-मतं पुर्खं पविचं पाप-नाशनम्। चिन्तितं ब्राह्मणार्थाय धर्मो संस्थापनाय च ॥ ३६॥

दिति । पराष्ठरेण प्रेाकं ग्रन्थ-जातं 'पराष्ठर-मतं', तच पाठ-माचण पुण्य-प्रदम् । पुण्यच्च दिविधम् ,—दृष्ट-प्रापकमनिष्ट-निवर्त्तकञ्च । तदुभयं 'पविच-पापनाष्ठन'-श्रञ्दाभ्यां विवच्यते । तदेव ग्रन्थ-जातं 'चिन्तितम्' श्रर्थतेविचारितं सत् पूर्ञ्वत् पुण्य-प्रदं भवति । श्रर्थ-विचारस्य प्रयोजनं देधा,—स्वानुष्ठानं परोपदेशस्य । तदुभयं 'ब्राह्मण'—दृत्यादि-पद-द्येने।च्यते । ब्राह्मणस्यार्थात्राह्मण्यनिम्तंं रे स्वधर्मानुष्ठानमिति यावत् । 'धर्मा-संस्थापनम्' परेषां धर्मी।पदेशे-

^{*} इदन्तु श्रवणं धर्माविषयम्, - इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[†] धर्माज्ञानस्य,-इति स॰ सा॰ पुत्तनयाः पाठः।

[‡] पराश्रयों मतं,—इति से । मू॰ पुक्तके, पाराश्ररमतं,—इति सु॰ मू॰ पुक्तके पाठः।

^{ज्ञास्त्रवार्थात्रास्त्रवानिमित्तं,—इति मृ॰ पुक्तके पाठः ।}

⁽१) क्रेमुतिकन्यायस्त्र,—''समवायस्व यत्रैषां तत्रान्ये बस्कोमकाः। नूनं सर्व्ये चार्यं यान्ति किमुतेकं नदीरजः"—इति इन्दोगपरिग्रिस्टवा-क्यादुन्नेयः।

⁽२) दितीयादिवचनान्तं पदमिदम्।

मानुष्ठापनम् । यदा, ग्रन्थ-पाठ-तदर्थ-ज्ञानयोरपीष्ट्रश्चोमहिमा, तदा किसु वक्तव्यम् : श्रनुष्ठानं पुरुषार्थ-हेतु:.—इति (१)। युक्रञ्चेतत्, पराधरस्य पुलस्य-विशष्ठ-प्रमाद-लक्ष-वरेण सर्ध-श्चास्त-इदयाभिज्ञ-स्वात् । तथा च, विष्णु-पुराणम्,—

"वैरे महित मद्शक्यात् गुरारखाश्रिता समा।

तया, तसात् समस्तानि भवान् शास्त्राणि वेत्यति!।

सन्तर्न समुच्छेदः शिधेनाऽपि यतः हतः।

तया, तसाक्षहाभागः ददास्यन्यमहं वरम्।

पुराण-संहिता-कर्त्ता भवान् वत्यः भविष्यति।

देवता-पारमार्थञ्च यथावदेत्यते भवान्।

प्रदन्ते च निष्टरे च कर्माण्यस्त-मसा॥ मितिः।

मत्-प्रमादादसन्दिग्धा तत्र वत्यः भविष्यतिः।

इत्याचार-काण्ड प्रथमाध्याये श्रासारावतारः समाप्तः॥।।॥॥

(॥ यन्थानुक्रमणिका समाप्ता॥)

^{*} खत्र, 'व्राच्यग्रेत्यादिपदयारर्घः' इत्यधिकः पाठः स॰सा॰ पुक्तकयाः।

[†] इदयाभिज्ञत्वम् , इति मु॰ पुन्तके पाठः।

क्षत्र, 'इति'—इत्यधिकः पाठः मु॰ पृत्तके । स चासक्षतः, परवचना-नामपि विष्णुपराणीयत्वन मध्ये 'इति' प्रब्दस्यायुक्तत्वात् ।

[🖔] समच्चेदः,—इति सु॰ पुराके पाठः।

[॥] कर्माण त्यमला,—इति स॰ दोा॰ पृष्तकयाः पाठः।

⁽१) तदनेन केंमुतिकन्यायः प्रकृतं समर्थितः,—इति मन्तव्यम्।

⁽२) कामनापूर्व्यकं ब्रियमागं कार्च कर्म श्रीर्घटित्रहेतुतात् ध्रष्टमं, व्रस्नानाभ्यासपूर्व्यकं ब्रियसागं निष्काम कर्म संसारिन्दित्ताधन-त्यात् निरुत्तस्वतं। तद्क्षं सन्नाः "इन्ह चासुत्र वा काम्यं प्रस्तं कर्म कोर्मतः। निर्वास उपन्यक्तिः निरुत्तम्पदिग्यते"—इति।

मधायारानिक्षाते। यत् पृष्टम्,— 'चातुर्व्वर्ण-समाचारं किञ्चित् शधारणं वद'। इति, तचीत्तरमाइ,--

चतुर्णामपि वर्णानामाचाराधर्म-पालकः। श्राचार-भ्रष्ट-देहानां भवेहर्मः पराङ्मखः॥ ३०॥

द्दि । श्राचारस्यान्वय-स्वितिरेकास्यामेचिकासुयिक-श्रेयोचेतुलस्, श्रा-चार-सचणञ्च, श्रानुशासनिके पर्वस्थिभिचितम्,—

> "त्राचाराह्मभते ह्यायु राचाराह्मभते त्रियम्। त्राचारात् कीर्त्तमान्नाति पुरुषः प्रेत्य^(१) चेष्ठ च। दुराचाराहि पुरुषानेष्ठायुर्विन्दते महत्। यसिनां चास्य भतानि तथा परिभवन्ति च। तसात् कुर्यादिष्ठाचारं यदीच्छेद्ं भतिमात्मनः। त्राप पाप-प्ररीरस्य त्राचारोष्ठन्यस्वक्त्यम्। त्राचार-स्वच्योधर्मः सन्तस्राचार-स्वच्याः। साधृनास्त्र यथायन्तमेतदाचार-स्वच्यत्"।

^{*} चायु, - इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[†] न सन्ति,--इति स॰ पुस्तके पाठः।

[†] यदिच्छेत्, इति सु॰ स॰ पुक्तकयोः पाठः।

⁽१) प्रेत्य परकाको।

इति । द्वारीताऽपि ससर्ति,—

''साधवः चीण-देषाः स्युः सच्छन्दः साधु-वाचकः ।

तेषामाचरणं यत्तु मदाचारः मजचाते ॥

इति । मनुरणाइ—

"तस्मिन्[†] देशे यत्राचारः पारम्पर्य-क्रमागतः ।

वर्षानां सान्तरालानां स सदाचार उच्चते"(१)।

दिति[‡] । सन्तः ग्रिष्टाः । तेषां खरूपमाद भगवान् वेाधायनः १ ।

"शिष्टा: खलु विगत-मत्सराः निरदद्धाराः कुर्मा-धान्याः^(२) त्रले।-

सुपाः दमा-दर्प-स्रोभ-मार-क्रोध-विवर्ष्णिताः"—इति । श्रार्ष्ण-

पर्वणि,—

"त्रवुधन्ते। उनस्रयन्ते। निरष्टद्वार्-मस्पराः ।

ष्ट्रजवः ग्रम-सम्पन्नाः श्रिष्टाचाराभवन्ति ते ।

^{*} इतेाऽपि,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] यस्मिन्, -इति सु॰ पुस्तने पाठः।

[‡] मनुरप्यात्र- -- इत्वादि, 'इति'--- इत्यन्तः पाठीमास्ति सः से। ॰ पुत्त-कयाः।

[§] बौधायनः,—इति स॰ सेा॰ पुक्तकयोः पाठः। एवं सर्व्वत्र।

⁽१) तिस्मिन् देशे ब्रह्मावर्त्तदेशे। इदं हि पूर्व्वसुक्तम,—"सरस्वती-द्व-स्वोर्देवनद्यीर्यदन्तरम्। तं देव-निर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचल्तते"— इति। पारम्पर्यक्रमागता नित्वदानीन्तनः। स्वन्तराजाः सङ्गीर्थाः।

⁽२) 'वर्षनिर्व्याचेत्रियान्यादिधमः कुम्भीधान्यः, — इति कुल्ल्क्स्यन्यः। 'कुम्भो उद्भिना, वाष्यासिनधान्यादिनिषयः कुम्भीधान्यनः'— इति नेधातिषः।

नैतिद्य-रुद्धाः रुद्धचयोरः त्रन्तायशिखनः ।
गुरु-रुद्ध श्रुषवोदान्ताः शिष्टाचाराभवन्ति ते" ।
दित । श्रव, शिष्टानामिभमतोदया-दाचिष्य-विनयाद्यन्तिरिट्सविशेषश्राचारः,—दृत्युकं भवति । स्श्राचारः श्रोतं स्मार्त्तश्च धर्मं
पाखयति । धर्म-विघातिनां नैर्घृष्ट-क्रोधादीनामभावात् । श्रवति
लाचारे विरोधि-सङ्कावात् धर्माप्व न प्रवर्त्तते, कयश्चित् परस्तोऽपि परावर्त्तते । से।ऽयं धर्म-पाखकश्राचारश्चतुषां वर्षानां साधारणः । ननु, 'किञ्चित् साधारणं वद,'—दृति धर्मः पृष्टः प्रत्युत्तरनवाचार-विषयम्,—दृति न सङ्गच्छते,—दृति चेत् । न, निमित्तनैमित्तिकयोराचार-धर्मयोरभेदस्थ विविचितलात् ॥

ददानीं ब्राह्मणस्यामाधारणं धमीं दर्भयति,—

षट्-कर्माभिरतानित्यं देवता-ऽतिथि पूजकः। इत-श्रेषन्तु भुज्जानाः ब्राह्मणानावसीदति॥ ३८॥

इति । यजन-याजनाध्यमाध्यापन-दान-प्रतिग्रहाः षट् कर्याणि । तदाह मनुः,—

> "त्रध्यापनं चाध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहस्यापि षट् कर्माण्यय-जन्मनः" ।

^{*} श्रीतं सार्त्तेष,-इति स॰ से।॰ पुत्तक्योर्गत्ति।

[†] तत् कथि चित्, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] सञ्जीयात्,—इति सेा॰ मू॰ पुस्तके पाठः।

इति। त्रवाधापनं कृषी-पुराणे प्रपिश्चतम्,—

"एवमाचार-मम्पन्नमात्मवन्तमदास्थितम् ।

वेदमधापयेद्धर्म-पुराणाङ्गानि नित्यग्नः ।

मंत्रसरोषिते शिष्ये गुरुष्ठांगमनिर्दिग्रन् ।

ग्रमते दृष्कृतं तस्य शिष्यस्य वसते।ग्रदः ।

त्राचार्य-पुत्रः ग्रुप्रमुष्ठींगदेशिधार्मिकः ग्रुचिः ।

त्राप्तः ग्रमोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्यादम् धर्मतः (१) ।

श्वाप्तः श्रमोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्यादम् धर्मतः (१) ।

श्वाप्तः प्रवोऽष्य विधवत् षड्ध्याप्यादिन्नोत्तमन्नैः" ।

इति । विष्णुरप्यादः,—"नापरीचितं यात्रयेत् नाध्यापयेत् ने।पनयेत्"—

इति । विष्णुरप्यादः,—"नापरीचितं यात्रयेत् नाध्यापयेत् ने।पनयेत्"—

इति । विष्णुरप्यादः,—"नापरीचितं यात्रयेत् नाध्यापयेत् ने।पनयेत्"—

विद्या ६ वे ब्राह्मणमाजगाम गेापाय मां वेवधिस्तेऽष्ठमस्मि । श्रस्रयकायानृजवे ष्रठाय न मां ब्रूयावीर्यवनी तथा स्थाम्" ॥

इति । श्रधापने नियममाइ यमः,—

"सततं प्रातरत्याय दन्त-धावन-पूर्वकम् । खाला छला च प्रियोग्यः कुर्यादधापनं नरः" ।

इति । सन्विष,—

श्रधेयमाणन् गुर्हानित्यकालमतन्तितः। श्रधीय्य भा दति त्रुयादिरामाऽस्त्रिति वा रसेत्।

⁽१) सः जातिः। तरते जाचार्यपुत्रादया दग्र ष्रध्याप्याः।

दति। श्रधेयमाणः शियः, तं प्रति वेदमुचारिययम् प्रतिदिनमधा-पन-प्रारक्षे श्रतिन्ततः,—"श्रधीच्व भोः"—दित त्रुवन्नारमेत, समाप्ते। "विरामाऽस्तु"—दित त्रूवनुपरमेतः देश्वर-प्रीतये । एतत् सर्वमिन-प्रत्य श्रुतिराद्य,—"श्रष्टवर्षे ब्राह्मणसुपनयीत तमधापयीत"—दित ।

श्रव प्रभाकरे। मन्यते, —'खपनयीत'—इति नयतेरात्मनेपदस्य श्राचार्य-करणे पाणिनिना स्वचितलात् (१) खपनयनाध्यापनये। स्वान-क्तिभावलेनेक-कर्दकलात् (१)श्राचार्यल-कामाऽध्यापनेऽधिकारी। श्रत-एव मनुना स्मर्थते, !—

"जपनीय तु यः ग्रियं वेदमध्यापयेद्धिजः।

स-कल्पं स-रहस्यञ्च तमाचार्यं प्रवत्तते"॥

इति । एवं चाध्यापन-विधा मुख्यिते मत्यध्ययनस्य पृथितिधिनं कल्प-नीयोभविष्यति ; विदितस्याध्यापनस्याध्ययनमन्तरेणानुपपन्तेरध्ययन-स्थार्थ-सिद्धवात्^(२) । नन्, नाध्यन-विधा कल्पना-देखिऽस्ति,

^{*} अध्येष्यमागाः शिष्यं प्रति,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[†] देखरशतये,---रति नास्ति ग्रा॰ पुस्तको ।

[‡] उपनयीत, — इत्यादि, सार्थते, — इत्यन्तः पाठः स॰ श्वा॰ पुक्तकयार्भेद्यः।

⁽१) ''सम्माननोत्सर्जनाचार्यंकरण-ज्ञान-स्टित-विगणन-व्ययेषु नियः" (१ ख० १पा० ३६ स्र०) इति पाणिनिस्त्रमम्।

⁽२) "चयुवधें ब्राह्मणम्पनीयत तमध्यापयीत"—इति श्रवा तयीरेक-कर्षकत्मनगम्यते । तद्म तयीरङ्गाङ्गिभानमन्तरेण नौपपद्यते । चङ्गाङ्गिभानस्य द्यभाने इच्छ्या किस्तित् कुर्यात् किस्ति किस्तिरिति नैकपर्वकत्वनियमः स्थात् । तथाचीपनयनमङ्गं स्वध्यापन चाङ्गीति वद्यभागमनुवचनात् यक्तम् ।

⁽१) तथाय, व्यर्थापच्या माणवनस्याध्ययनं सभ्यते, इति भावः।

क्रुप्तस्वैव विधेः सत्त्वात् "'खाधायोऽधेतयः''द्दति सुतेः। मैवम्, ऋधि-कार्यश्रवणेनास्य विधेरनुष्ठापकलायोगात् । श्रयोच्येत, — विश्वजिञ्चायेन राचिसच-न्यायेन वाऽधिकारी परिकस्प्रतां ;—"विश्वजिता यजेत" इत्यच 'एतत्कामः'— † इति (१)नियोज्य-विश्वेषणस्यात्रवणादनुष्ठाना प्राप्ती खर्गस्य सर्वेरियमाणलात्^(१) सएव^(१)तदिश्चेषणलेन परिक-स्पितः, एवमच स्वर्गकामामाणवको^{‡(४)} नियोच्योऽस्तु । राचिसचे,— "प्रतितिष्ठन्ति इ वै यएताराचीरूपयन्ति" इत्यर्थ-वाद-श्रुनायाः प्रति-

^{*} मन्यनादीयः स्थात्,--- हति मु॰ पुस्तको पाठः।

[†] तत्कामः,— इति मु॰ पुक्तको पाठः।

[‡] मानवना, -इति स॰ सा॰ पुक्तकयार्दन्यमध्यः पाठः। एवं परच।

^{*} प्रतितिष्ठन्ती इ वा रते य रता राचो रूपयन्ति,— इति सु॰ प्र**स्ते से** पाठः । रापयन्ति,-इत्यन रापयनन्ति,-इत्यन्यन पाठः ।

⁽१) नियुच्योऽधिकारी। कामनावानेव हि काम्ये खिधिक्रियते इत्यतः तिद-प्रेषणीभूतायाः पालकामनायाः परिकल्पना खावग्यकी।

⁽२) सर्वेरिष्यमायालं पालान्तरमपरिकालय खर्गस्य परिकालपनायां विनि-गमकम्। तथाच जैमिनिस्चम्। "स खर्गः खात् सर्वान् प्रय-विभिन्नलात्" (मी॰ ४चा॰ २पा॰ १५ स्त्॰) इति । स इति विधेय प्राधान्यविवक्तया पुंसा निर्देशः। ख्रीतियोज्यविश्रेषणं स्यात् सर्वान् पुरुषान् प्रति व्यविश्रेषात्। "सर्व्वे चि प्रवाः खर्गकामाः। कुतरत् ? मीति हिं खर्गः। सर्वेख मीतिं मार्थयते "-इति मावर-भाष्यम्।

⁽३) यद्यपि 'कांम्यं कामान्वितेन च'--इत्यादि सारवात् खर्मकामनैव नियोज्यविषयां, तथापि खर्मकामनायानियोज्यविष्रयेषणले खर्गाऽपि तिंदश्रेषणतया भासते, इत्यभिप्रायेण 'सर्व' इत्युक्तम्।

⁽३) माखवकोऽनधीतवेदीवटुः। 'खन्डचोमाखनको च्रेयः'-इति स्मरखात्।

तदेतदुरु-मतमन्ये वादिने। न चमन्ते ; श्रनित्येनाध्यापनेन नित्य-

^{*} ष्रत्यन्तमञ्जुतत्वात्,—इति स॰ सा॰ पुस्तकयोः पाठः।

[†] इत्यर्थनादक्तुतिरिति,—स॰ सा॰ पुक्तभयाः पाठः।

[‡] मन्यवादिना,-इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः।

⁽१) खन, ''पानमाने योनिर्देशाद ख़ती ह्यनमानं खात्'' (मी॰ ४ ख॰ १ पा॰ १ प्रः) इति जैमिनिस्चम्। राचिसचादी खर्यवाद-निर्दिष्टमेव पानं खात्, पानस्यात्यन्तम ख़ती हि खर्मस्यानुमानित्या-चेय खाचार्य्यामन्यते इति स्चार्यः।

⁽२) तथाच, न पयः कुल्यादेरध्ययनपत्तत्वल्यनसम्भव इति राजिसच-न्यायस्यानवनागः। स्वर्गनामनाया स्वसम्भावात् विश्वजिद्वरायस्याप्य-नवनागः।

⁽३) तथाच खथापनविधिनैवाथायनस्य लाभेन "खाथायोऽधोतयः"— इति श्रूयमाणवाकां विधित्वासम्भवाजित्यानुवादरवेति गुरूणां सि-द्धान्तः। रतच जैमिनीयन्यायमालाविक्तरे स्पष्टम्।

खाध्ययनस्य प्रधोनुमशकातात्, श्रनित्यं चाधापमं जीवन-कामस्य^(१) तत्राधिकारात् । तदाह सन्:,---

> "षणान्तु^(१) कर्भणामस्य चीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने चैव विग्रद्धाच प्रतिग्रहः"॥

द्रित । अध्ययनन्तु नित्यम्, श्रवत्णे प्रत्यवायस्य मनुना स्तत्वात्; "योऽनधीत्य दिजावेदानन्यच" कुरुते श्रमम् ।

भ जीवन्नेव ग्रूट्लमाग्र गच्छति सान्वयः" ॥

दिति। स्रतः ख-विधि-प्रयुक्त सेवाध्ययम्। न चान्यान्याश्रयः, स्रध्यनात् प्रागेव सन्धा-वन्दनादाविव पित्रादि-सुखेन विध्ययावगमात्,
पित्रादिभिर्नियमितलादेव माणवकस्य न स्रप्रवृद्धल-देषोऽस्ति ।
यद्यपि, तैत्तिरीय-भाषायाम्,—"खाध्यायोऽध्येतयः" दति वाक्यस्य
पञ्च-मद्दायज्ञ-प्रकरणे पिततलाद् ब्रह्मयद्य-विधि-रूपताः , तथाप्यभेषस्मृतिषपनयन-पूर्व्वकस्याध्ययनस्य प्रपञ्चामानलान्मूल-सृत-श्रुतिरनुमातथारे । विवरणकारस्तु,—'स्रध्यापयीत'—द्रत्यत्र णिजर्यस्य जीवनार्थलेन रागतः प्राप्तलात्, प्रकृतस्याध्ययनस्य विधेयतामिभिप्रत्य, "स्रष्टवर्षे विद्यान्न स्ति । स्ति व्यान्न स्ति वाक्यं विपरिणमय्य प्रप-

^{*} वेदमन्यन,—इति ग्रह्यान्तरे पाठः ।

[†] पित्रादिनियमितत्वात् एवं माणवकस्य नाप्रबुद्धत्वे देवि।ऽपि,—इति
पु॰ पुक्तके पाठः।

[🕽] ब्रह्मयद्मविधिरयम्,—इति मृ॰ पुन्तके पाठः।

श्रुतिरर्घानुगन्तवा,—इति सं थे। पुन्तकयोः पाठः ।

[¶] विपरीतान्गोपपादयामास, इति स॰ सा॰ पुस्तक्योः पाठः।

⁽१) जीवनं जीविका दिति यावत्।

⁽२) षसां यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहरूपायाम्।

पादयामास^(१)। सर्व्यायस्ति नित्यः खाध्यायाध्यमस्य विधिः—
"खाध्यायोऽध्येतव्य" इत्येवमात्मकः श्रीतः। तथा स्वतिरिष,—
"तपोविभेषेविविधेर्वतेस्य विधि-चोदितैः।
वेदः कत्कोऽधिगन्तवः स-रहस्योदिजन्मना"^(१)॥
इति। *श्रधिगतिरर्थ-विचार-पर्यन्तमध्ययनम्। तथा च कूर्यपुराणे, श्रध्ययन-तदर्थ-विचारयोरभावे प्रत्यवायः स्वर्थते,—
"योऽन्यच कुर्ते यक्षमनधीत्य श्रुतिं दिजः।
स वे मूहोन सम्भाव्योवेदवाद्योदिजातिभिः॥
वेदस्य पाठ-माचेण मन्तुष्टावै भवेद्दिजः।
पाठ-माचावमायी तु पद्धे गौरिव मिदित॥
थोऽधीत्य विधिवदेदं वेदार्थं न विचारयेत्।
स सान्वयः ग्रुद्ध-समः पाचतां न प्रपद्यते"॥
इति। श्रध्ययनस्थितिकर्त्तव्यतामाद याज्ञदस्यः,—

इति । श्रध्यनस्वातकत्त्रयतामास याज्ञदस्यः,—

"ग्रह्मैवाणुपामीत स्वाध्वायार्थं समाहितः ।

श्राह्मतस्वाणधीयीत सन्धं चासी निवेदयेत् ॥

हितं चास्वाचरेन्नित्यं मने।वाक्काय-कर्मभिः" ।

^{*} खधिग्रामि,—इति स॰ पुक्तके पाठः !

⁽१) खधापयीत—इत्यच किज्ञेषाऽध्ययनप्रयोजकत्वं, तद्याधापनपर्यवसितं। खधापनस्य जीविकार्थत्वन्तु 'घसान्तु कम्मेगामस्य'—इति पूर्वेक्ति-मनुवचनात् स्वक्तम्। तथाच तस्य जीवनानुकूपस्यापारतया रागतः प्राप्तत्वात् न विधेयत्वं। किन्तु स्वप्राप्तस्याध्यनस्थेव। तथाच, 'खस्यवेषे ब्राह्मणमुपनयीत'—इत्यादिवाकां 'स्रस्टवेषे व्राह्मणस्य स्वर्भेत्' इत्या-दिविपरिकामेणोपपादनीयमिति विवरणकारस्थात्रयः।

⁽२) रच्छसपनिषत।

द्दति । विष्णु-पुराणेऽपि,-

"उभे सन्धे रविं भूप! तथैवाग्निं समाहितः।

जपित छेत्, तथा कुर्या दुरे। रप्यभिवादनम् ॥

स्थिते तिष्ठेद्वजेत् याते नीचैरासीत चासने ।

शियोगुरार्नर-श्रेष्ठ ! प्रतिकूलं न सञ्चरेत्॥

तेनैवाकः पठेदेदं नान्य-चित्तः पुरः-स्थितः ।

त्रनुज्ञातस्य भिचान्नमन्त्रीयात् गुरुणा ततः॥

गौचाचारवता तच कार्यं गुरुष्रुषणं गुराः।

व्रतानि^(१) चरता ग्राह्योवेदश्व कत-वृद्धिना''॥ इति । कीर्मेऽपि.—

"श्राह्नते। इध्ययनं कुर्यादीचमाणा गुरार्मुखम्।

नित्यसुद्भृत-पाणिः स्थात् साध्वाचारः सुसंयतः"॥

ख-कुल-परम्पराऽऽगतायाः भाखायाः पाठोऽभ्य**यमम्**।

तदाइ विशिष्टः,—

"पारम्पर्थागतीयेषां वेदः स-परित्रं हणः (^{२)}।

तच्छाखं कर्म कुर्वीत तच्छाखाऽध्ययनं तथा"॥

इति । ख-ग्राखा-परित्यागं मएव निषेधित,—

"यः ख-गाखां परित्यच्य पारकामधिगच्छति ।

य ग्रुद्रवद्दिः कार्यः सर्व-कर्मसु साधुभिः॥

भासिते,—इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः।

(१) त्रतानि तत्तद्देशागाध्यवने विचितानि गोभिलाद्यक्षानि ।

(२) सपरिवंचयः चक्रीपाक्रेतिचासादिसचितः।

खीया ग्राखोज्ञिता येन ब्रह्म तेनेाज्ञितं परम्। ब्रह्महैव स विज्ञेयः सद्भिर्नित्यं विगर्हितः" ॥ इति । ख-गाखाऽध्ययन-पूर्व्वकन्वन्य-ग्राखाऽध्ययनं तेनैवाङ्गीष्ठतम्,— "श्रधीत्य गाखामात्मीयां परगाखां ततः पठेत्"। इति । वेदवद्भर्म-प्रास्त्रमधीयीत । तदाइ टइस्पति:,— "एवं दण्डादिकेर्युकं संख्वत्य तनयं पिता। वेदमधापयेत् पञ्चात् प्रास्तं मन्वादिके तथा ॥ ब्राह्मणोवेद-मूलः साच्छुति-सत्योः समः स्रतः । मदाचारस्य च तथा घ्रीयमेतित्रिकं मदा ॥ श्रधीत्यचतुरे।वेदान् साङ्गोपाङ्ग-पद-क्रमान्^(९) । स्रति-हीनाः न ग्रोभन्ने चन्द्र-हीनेव सर्व्वरी"॥ इति । श्रन, श्रध्ययनेन पञ्चधा वेदाभ्यामः उपसन्तिः । तथाच दचः,— "बेद-स्वीकरणं पूर्वे विचारोऽभ्यसनं जपः। । तहानं चैव प्रियम्योवेदाभ्याचाचि पञ्चधा"॥

^{*} विचारिध्ययनं, — इति मृ॰ पुक्तको पाठः।
† तपः — इति स॰ सा॰ पृक्तकयोः पाठः।

⁽१) खक्रानि,—"शिचाकल्पोयाकरणं निरुक्तं न्योतिष्ठासितः। इन्दसां विचितिस्वेव धक्रोक्रवेद रुखते"—रुखक्तानि। उपाक्रानि पृष्पसूचा-दीनि। पदीग्रस्थविशेषः यत्र ऋचां पदानि एथक् प्रकान्ते। क्रमोऽपि ग्रस्थविशेषः यत्र प्रकार्ति। प्रस्ति ।

इति । इारीताऽपि,-

"मन्त्रार्थ-ज्ञोजपन् जुङ्गन्त्रयेवाध्यायन् दिजः । स्वर्ग-लेकिमवाप्नोति नरकन्तु विपर्यये" ॥ इति । गुरु-सुखादेवाध्येतयं नतु लिखित-पाठः कर्न्तयः । तदाइ नारदः,—

> "पुस्तक-प्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरू-प्रत्निधी। भाजते न सभा-सधी जार-गर्भरव स्त्रियाः"॥

इति । श्रध्यमे वर्जनीयानाइ मनुः,—

"नाविस्पष्टमधीचीत न शूट्र-जन-सिन्धो । न निशाऽन्ते परिश्रान्तो" ब्रह्माधीत्य पुनः खपेत्"॥ इति । नारदोऽपि,—

"इस्त-दीनग्तु योऽधीते खर-वर्ण-विवर्क्तितः^(९) । ऋग्यजुः-सासभिद्देग्धोवियोनिमधिगच्छति"॥

इति। यासे। पि ---

"श्रनधायेवधीनं यदाच श्रूहस्य मिनधी। प्रतिग्रह-निमित्तं च नरकाय तदुच्यते"।

॥ इत्यश्रयनाध्यापनयोः प्रकर्णे ॥

[🗱] प्रतिश्वान्ते (, — इति मृष्युक्तके पाठः।

⁽१) वैदिकानां दिविधा चध्ययनप्रणाली वर्त्तते, इस्तखरकार्छखरभेदात्। तदुभयविधखररिहतमध्ययनमत्र निन्द्यते,—इति मन्तव्यम्।

श्रथानध्यायाः। तैच दिविधाः ; नित्यानैभित्तिकाश्र । तच नित्यानाइ हारीतः,—

"प्रतिपत्सु चतुर्द्यामष्टम्यां पर्वणोर्दयोः । स्रोऽनध्यायोऽद्य प्रवर्थां नाधीयोत कदाचन"॥ इति । नैमित्तिकानाइ याज्ञवल्काः,—

> "श्व-क्रोष्टु-गर्द्धभोसूक-साम-वाणार्त्त-निखने(९)। श्रमेध्य-ग्रव-ग्रुद्धान्य-ग्रागान-पतितान्तिके॥

देशेऽभ्रुचावातानि च विद्युत्-स्तनित-संमने ।

भुक्ताऽऽर्र्रपाणिरम्भोन्तरर्द्धराचेऽतिमार्कते ॥

पांग्र-वर्षे दिशां दाक्षे मन्ध्या-नीक्षर-भीतिषु । धावत: पृति-गन्धे च शिष्टे च ग्टक्सागते ॥

खरेाष्ट्र-यान-इख्यय-नैा-टचेरिण-रोहणे(२) ।

खराष्ट्र-यान-इस्त्यय्न-ना-तृज्ञारण-राइण(२) । सप्त-चिंग्रदनध्यायानेतांस्तात्कास्त्रिकाम् विद्:"॥

इति । श्रन्ये लनधायास्तव तच सार्यन्ते । तथाच नारदः.--

"श्रयने विषुवे चैव ग्रयने वेाधने इरे:।

श्रनधायसु कर्त्तवोभनादिषु युगादिषु"॥

^{*} पांखपवर्षे दिग्दाहे,--इति मु॰ पुस्तके पाठः।

⁽१) सामनिखने ऋग्यज्ञघोरनध्यायोबोद्धयः। "सामध्वनाखग्यज्ञघी ना-धीयीत कदाचन"—इत्यक्तेः।

⁽२) देशियं वासुकासदभूमिः।

द्रति । मन्वादयोमत्य-पुराणेऽभिद्यिताः,—

"श्रश्रयुक्-ग्रुक्क-नवमी कार्त्तिके दादणी तथा। हतीया चैच-मामस्य तथा भाद्र-पदस्य च॥ फास्मुनस्य लमावास्या पेषस्थैकादणी तथा । श्रावादस्यापि दणमी माधमामस्य मत्रमी ॥ श्रावणस्याष्टमी हत्या श्रावादस्यापि पूर्णिमारे। कार्त्तिकी फास्मुनी चैची खेडी पश्चदण्यी सिता। मत्यक्तराद्यस्थेते दल्लस्याचय-कारकाः॥"॥

द्रति। युगादयोविष्णु-पुराणे वर्णिताः, १ —

"वैशाख-मासस्य च या * * हतीया नवस्यसे। कार्त्तिक- ग्राह्म-पचे। नभस्य मासस्य च हत्यापचे † † चयोदशी पञ्चदशी च माघे"॥

व्रमीपुराणे,—

द्वीयाचैवमाघस्य — इति स॰ सेा॰ पुक्तक्योः पाठः।

^{. †} खयं पाठोग्रयारारेषु बज्जषु दछत्वादाद्दतः। 'पुष्यस्वैकादशी तथा'— इतित्वादर्भपुक्तुकेषु पाठः।

[‡] तथा माघस सप्तमी,—इति ग्रज्ञान्तरे पाठः।

९ तथाऽऽवाद्वस्य पूर्त्रिमा,—इति यत्थान्तरे पाठः।

[॥] मन्यन्तराद्यक्वेताद्त्तस्याच्यकारिकाः, -- इति ग्रज्यान्तरप्टतः पादः ।

ण वर्णिताः,—इति नास्ति सः सेा॰ पुस्तकयोः।

^{**} सिता,—इति यज्ञान्तरीयः पाठः।

^{††} तमिखपची,—इति पाठौ यत्रामारधतः।

"उपाकर्मणि चोत्मर्गे^(१) चिराचं चपणं स्रतम्। श्रष्टकासु लहोराचम्हलन्तासुच राचिषु॥ मार्गश्रीर्षे तथा पैषि माघ-मासे तथैवच।

तिस्रोऽष्टकाः समाख्याताः कृष्ण-पचे तु स्वरिभः"॥
इति । गैतिमेऽपि,—"कार्त्तकी-फाल्युन्याषाड़ी-पौर्णमासी* तिस्रोऽष्टकाः चिराचम्",—इति । उक्त-पौर्णमासीरारभ्य चिराचम् । तथा
तिस्रोऽष्टकाः सप्तम्यादयः, तास्विप चिराचमनभ्ययनिमत्यर्थः । पैठीगिसः,—"कृष्णे भवाः तिस्रोऽष्टकाः, मार्गग्रीर्ष-प्रस्तयः इत्येके"—

इति । श्रापस्तवस्तु, उपानकारभ्य मासं प्रदोषेऽनध्यायमारः,— "श्रावर्ष्यां पार्णमास्यामधायसुपाकत्य मासं प्रदोषे नाधीयीत"—

र्ति । प्रदोष-प्रब्देनाच पूर्व-राचिः विविचिता । चयोदस्यादि-प्रदोषेखापे नाधीयीत । तथाच श्रादित्य पुराणम्,—

"मेधा-कामस्त्रयोदध्यां सप्तम्याश्च विशेषतः । चतुर्थाञ्च प्रदोषेषु न सारेत्र च कीर्त्तयेत्"॥ इति । चतुर्थादि-तिथि-दैविध्ये प्रजापतिः.—

> "षष्ठी च दादग्री चैव मर्द्धराचोन-माड़िका[‡]। प्रदोषे नलधीयीत हतीया नव-नाड़िका"॥

^{*} वैार्यमासीति, - इति पाठः मु॰ पृक्तने।

[†] बादिय, इति नास्ति स॰ से। पुस्तक्यीः।

[‡] बर्ज्जरान्योमनाडिकाः,—इति मृ॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) उपनार्मीत्सर्गे। ग्रह्माचृक्तकमिविश्वेषे। षाध्ययगारमासमास्योः कर्त्तवो। परमेते। ग्रहस्यादिभिरिप मन्नाव्यामवामयातताचं प्रत्नव्यं वर्त्तव्यावित्यन्तव्यं विकारः।

इति । याज्ञवस्काऽपि,—

"यहं प्रेतेश्वनधायः शियार्तिग्-गृह्-वस्षुषु । खपानकाणि चोत्मर्गे ख-ग्राखे श्रोचिये तथा"॥ सन्धा-गर्जित-निर्धात-भू-कंपोस्का-निपातने (१) । समाण वेदं द्यु-निग्रमार् एकमधीत्य च॥ पञ्चद्रस्थां चतुर्द्रस्थामष्टम्यां राज्ज-स्रतके । ऋतु-सन्धिषु सुक्ता च श्राद्धिकं प्रतिग्रद्या च॥ पश्च-मण्डूक-नकुल-श्राह्म-मार्फ्जार-सूषिकै: । क्रतेऽन्तरे लहे। रात्रं ग्रक्त-पाते तथा च्क्रये"॥

इति । मन्रपि, --

"वैरिक्पञ्जते यामे सभूमे वाऽग्नि-कारिते। श्राकालिकमनध्यायं विद्यासर्व्याद्भृते (१) तथा"॥

^{*} ख-प्राखाम्नोचिये स्टते,—इति मृ॰ पुक्तके पाठः । † मृषकः, इत्यादर्प्रपुक्तकेषु पाठः।

⁽१) किंघोते विश्व विश्व सम्, "यदान्तरी स्रोति वलवान् मार्कता मत्ता स्तः। पतत्यधः स निर्घाता जायते वायसम्भवः"। "दृष्ट् च्छिखा प्रस्ताया रक्तनीलिशिखोज्यला। पौर्यी प्रमाखेन उल्कानानावि-धास्त्रता" इत्यक्तलच्छो।

⁽२) "प्रकृतिविषद्धमङ्गतमापदः प्राक् प्रवेषधाय देवाः स्वजन्ति" हित-वचनात्, "स्वतिलेशभादसत्याद्धा नास्तिक्याद्वाऽष्यधम्मेतः । नरापचा-रावियतमुपसर्गः प्रवत्ते । तताऽपचारावियतमपवर्ज्जन्ति देवताः । ताः स्वजन्यङ्गतांन्तांन्तु दिखनाभसभूमिजान् । तस्व चिविधातिको उत्पाताः देवनिर्मिताः । विचरन्ति विनाशाय स्वैः सम्भावयन्ति-

इति । कूर्म-पुराणे,—

"स्रेमातकस्य कायायां मास्मलेर्मधुकस्य च। कदाचिदपि नाध्येयं केविदार-कपित्ययोः"॥

द्ति । उक्तानामयनथानामपवादमार मन्:,-

"वेदोपकरणे चैव खाध्याये चैव नित्यके ।

ं नानुरोधोऽस्यनध्याये हे।म-मन्तेषु चैवहि"॥

इति । वेदोपकर्णान्यङ्गानि । नित्य-स्वाध्यायोत्रद्ध-यज्ञाः । श्रोन-काऽपि,—

> "नित्ये जपे च काम्ये च क्रांता पारायणेऽपि च। नानध्यायोऽस्ति वेदानां, ग्रहणे ग्राहणे स्टतः" ।

इति । कूर्फ-पुराणेऽपि,—

"श्रनध्यायस्त नाङ्गेषु नेतिहास पुराणयोः । न धर्मा-शास्त्रेखन्येषु पर्व्वखेतानि वर्ज्ञयेत्"॥

इति ।

॥०॥ इत्यनध्यायप्रकरणं ॥०॥

पूर्वमध्यमाधापने सेतिकर्त्त्रयते । तिरूपिते, श्रय यजन-याजने निरूपयामः ।

^{. *} नैत्यिने,—इत्यन्यच पाठः।

[†] तथा,--इति स॰ सेा॰ पन्तकयोः पाठः।

[‡] इतिकर्त्तव्यलेन,—इति मु॰ पत्तके पाठः।

च"-इत्युक्तेश्व चापज्जानाय देवकर्भुक्तेभ्रम्यादीनां स्वभावप्रश्वतः ।

तत्र, यजनस्य सृष्टिं प्रयोजनं चाह भगवान्,—

"सह-यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरावाच प्रजा-पितः ।

प्रमेन प्रसिवयध्वमेष वाऽस्तिष्ट-काम-धुक् ॥

देवान् भावयतानेन ते देवाभावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवास्त्रय ॥

दृष्टान् भोगान् हि वादेवादास्त्रन्ते यज्ञ-भाविताः ।

तैर्दत्तानप्रदायेभ्योयोभुद्गे स्तेनएव सः" ॥

दृति । तस्त्र च यजनस्य सात्रिक-राजस-तामस-भेदेन विविधं
सण्याहः—

"श्र-फलाकां विभिर्वज्ञो विधि-दृष्टी यद्द्र यह । यह यमे वेति मनः समाधाय स सान्तिकः॥ श्रमिस्काय तु फलं दक्मार्थमपि चैव यत्। दच्यते भरत-श्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ विधि-दीनमसृष्टान्नं शम्त्र-दीनमद्विणम्। श्रद्धा-विरद्धितं यज्ञं तामस परिचलते"॥

द्रति । श्रायमेधिके पर्वणि दिजादि-सृष्टे * र्यज्ञार्थत-प्रतिपाद्नेन यज्ञ: प्रश्रखते, †—

> "यजनार्थं दिजाः स्टास्तारकादिवि देवताः । गावायज्ञार्थसुत्पन्नादित्तणार्थं तथैवच ॥ सुवर्णं रजतं चैव पाची कुमार्थमेवच ।

चित्रातिक्कं,—इति स॰ चेा॰ पुक्तकयोः पाठः ।

[†] प्रस्थते, -इति स॰ सा॰ प्रस्तेषु पाठः।

[🗓] पाचं,---इति मु॰ पुस्तके पाठः।

द्धार्थमथ यूपार्थं ब्रह्मा चक्के वनस्रतिम् ॥ ग्राम्यारक्षाश्व पश्चवे। (१) जायन्ते यञ्चकारकात्" । दृति । हारीते। ऽपि, श्वन्नय-व्यतिरेकाभ्यां यञ्च-महिमानं दर्भयति,— "यञ्चेन लेकाविमस्राविभान्ति.

> यज्ञेन देवाः श्रम्हतत्वमाप्तुवन् । यज्ञेन पापैर्वज्ञभिर्विमुकः, प्राप्नोति लेकानमरस्य विष्णोः॥

नास्ययञ्जस्य लेकि वे नायज्ञीविन्दते ग्राथम्।

श्वनिष्ट-यञ्चोऽपूतात्मा अध्यति क्वन-पर्णवत्"॥

द्रति । यज्ञ-विशेषास्त्रग्नि-हेाचादयः । तथाच श्रूयते, — "प्रजापित-र्यज्ञानस्जताग्नि-होचं चाग्नि-ष्टोमञ्च पार्णमाधीं चोक्ष्यं चामा-वास्यां चातिराचं च"—दिति । श्रिग्न-होचादीनां संक्रतेरग्निभः साध्यतात्तत्-संस्कारकसाधानमादावनुष्ठेयम् । तच प्रजापितः,—

> "सर्व्यक्वाधिकारी स्थादाहिताग्नर्धिने मितः!। त्राद्धान्त्रिर्धने। ऽष्यग्नोन् नित्यं पापभयात्॥ दिजः॥

^{*} नप्र्यति, इति स॰ से।॰ पुस्तक्योः पाठः ।

[†] अव्यते,—इति मृष् पुक्तके पाठः।

[!] सर्वसंस्थाधिकारः स्थादाण्टिताग्नेधनेसति,—इति मु॰ युक्तके पाठः ।
॥ पापच्यात्,—इति स॰ से।॰ पुक्तकयोः पाठः ।

⁽९) "ग्राम्यारण्यास्वतुर्दश् । गौरविरजाऽश्रोऽश्वतरागर्दभामनुखास्वेति सप्त ग्राम्याः पश्चवः । महिष-वानर-श्वन्त-सरीस्वप-वव-एषत-स्वास्वेति सप्तारण्याःपश्चवः"—इति पैठिनसिवस्वनमत्र सार्वेखम् ।

दित । श्रकरणे प्रत्यवायः कूर्ष-पुर्णे दिर्घतः,*—

"नास्तिक्याद्यवाऽऽलखाद्योऽग्रीलाधातुमिक्कति ।

यजेत वा न यज्ञेन स याति नरकान् वह्रन् ॥

तस्मात्मर्व-प्रयत्नेन ब्राह्मणोद्यि तिशेषतः ।

श्राधायाग्रीन् विद्यद्वातमा यजेत परमेश्वरम्"॥

इति। श्रुतिस्र, कालादि-विधिष्टमाधानं विधत्ते,—"वसन्ते ब्राह्मणो-ऽग्निमादधीत; वसन्तोवे ब्राह्मणस्यर्तुः, खएवेनस्टतावाधाय ब्रह्मवर्षमी भवति, ग्रीमो राजन्यश्रादधीत; ग्रीमोवे राजन्यस्यर्तुः, खएवेनस्टता-वाधाय इन्द्रियवान् भवति, भरदि वैद्यश्रादधीत; भरदे वैद्यस्यर्तुः, खएवेनस्टतावाधाय पश्चमान् भवति",—इति । श्राश्रमेधिकेऽपि,‡—

> "वसनी ब्राह्मणस स्वादाधेयोऽग्निनराधिप! वसनोब्राह्मणः प्रोक्तोवेद-योनिः सज्यते॥ श्रम्याधानं१ त येनाथ वसनो क्रियते नृप!। तस्य श्रोक्रह्मबद्धिस ब्राह्मणस्य विवर्द्धते॥ चित्रयस्वाग्निराधेयो यीग्ने श्रेष्ठः स वै॥ नृप!। येनाधानन्तु वै यीग्ने क्रियते तस्य वर्द्धते॥ श्रीः प्रजाः प्रावस्त्रेव विन्नस्त्वेव वसं यग्नः।

दर्शितः,—इति नास्ति स॰ से।॰ पुक्तकयोः।

[†] इन्द्रियाबी,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] आस्त्रमेधिकोपर्वस्ति,—इति मृ॰ पुन्तको पाठः।

५ सन्ध्राधेयं,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[॥] श्रेष्ठस्य वै, -- इति स॰ सा॰ पुस्तकयोः पाठः।

ग्ररत्-काले तु वैश्वस्थायाधानीयोज्जताग्रनः ॥ ग्ररहात्रः विद्यं वैश्वोवैश्व-योनिः सज्ज्यते। ग्ररद्याधानसेवं वै क्रियते येन पाण्डव॥ तस्य श्रीः वै प्रजाऽऽयुष्यं प्रावे।ऽर्यय वर्द्धते''।

द्दति । श्राधान-पूर्वकास यज्ञाः, दर्शादयः । तथाच विश्वष्टः,—'श्रवस्यं ब्राह्मणोऽग्रीनादधीत, दर्श-पूर्णमासाययणेष्टि-चातुर्मास्थैः पग्रुसेमिस्य? यजेत''—दति । हारीतोऽपि.—

"पाक-यज्ञान् यजेकितां इविर्यज्ञांस्त नित्यग्नः।
सौम्यांस्त विधिपूर्वेण यदच्चेत् धर्ममव्ययम्॥"॥
दिति। ते च गोतमेन दिशिताः,—"त्रष्टका पार्व्वण-त्राद्धं त्रावण्यायद्यायणी चैत्र्याण्युजीति सप्त पाक-यज्ञ-संख्याः, त्रान्याधेयमग्निहीचं
दर्श-पूर्णमासावाग्यणं चातुमासं निद्धद्र-पग्नु-वन्धः सौनामणीति सप्त इविर्यज्ञसंख्याः, त्रश्रिष्टोमात्यग्निष्टोमजक्ष्यः घोड्गी वाजपेयोऽतिराचे।प्तोर्थामः दति सप्त से।म-संख्याः" दति । त्रपरांस्तु
सद्यज्ञ-कत्वन् देवले।दिशितवान्,—"त्रश्वमेध-राजस्वय-पौण्डरीक-

^{*} प्रारहाचेघ,-इति स॰ सेा॰ पुक्तकयोः पाठः।

[†] प्रस्त्राचि,--इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[🌣] तस्यैव श्रीः प्रजायुख,—इति मु॰ पुस्तको पाठः।

[∮] सोमांख,—इति स॰ सा॰ पुक्तकयोः पाठः।

[॥] ब्रह्मचाययम,-इति स॰ सा॰ पुस्तकयोः पाठः।

ण गौतमेन,— इति स॰ सा॰ पुक्तकयोः पाठः। एवं सर्वेत्र।

गोसवादयोमहायज्ञा:-क्रतवः *" दति । एते सर्वे यज्ञाः यथायोगं नित्य-नैमित्तिक-काम्य भेदेन चिविधाः :—

"नित्यं नैमित्तिकं काम्यं चिविधं कर्म पौरूषम्"। इति मदालसेकिः। तच, यज्ञानां नित्यत्वं श्राधर्वणशाखायां श्रूयते,— "मन्तेषु कर्माणि कवयोयान्यपश्चंस्तानि चेतायां वद्दधा सन्ततानि, तान्याचरथः नियतम्"—इति । राजसनेथि शाखायामपि,—

"कुर्वनेवेह कर्माणि जिजीविषेक्तं समाः"।

द्दित । "एतदे जरामयंमग्नि होतं जरमा वाह्येवासानुम्यते म्हणुना च"—दित च । विधि-वाक्येषु च जीवनायुपवन्थस्य नित्यल-लचकं । तथा॥ "यावक्यीवमग्नि होतं—जुड्डयात्" "यावक्यीवं दर्श-पौर्णमा-माथां यजेत"—दित । श्रकरणे प्रत्यवासस्य नित्यल-गमकः । तथा-चार्थको श्रूयते,—"यस्यानग्नि होत्तमदर्श-पौर्णमासमनाग्रयणमांतिधिवर्णि श्रूयते,—"यस्यानग्नि होत्तमदर्श-पौर्णमासमनाग्रयणमांतिधिवर्णि वर्जितं बाद्धतमवैश्वदेव मिविधना इतमासप्तमांस्तस्य लेकान् दिन्वस्थि" दित । तथाच श्रुत्यन्तरम्,—"यस्य पिता पितामहोबा से मं न पिवेत्, स बात्यः"—दित । जीवन-कामना-व्यतिरिक्त-ग्रह-दाहा-स्वित्यत-निमित्तसुपजीव्य प्रवत्तं नैमित्तिकम्। तथाच श्रुतिः,—

^{*} मद्दायज्ञकतवः, - इति स॰ सा॰ पुक्तकयोः पाठः।

[†] कुथुंमग्राखायां,—इति स॰ सा॰ ग्रा॰ पुक्तकेषु पाठः।

[‡] तान्याज्ञरूष,—इति मु॰ पुस्तके पाठः ।

[§] राजसनेय,—रति मु॰ पुस्तने पाठः।

[🎙] सत्र, निव्यत्वलक्तकः,—इति पाठो भवितुं युक्तः।

[॥] खन, यथा,—इति पाठो भवितुं युक्तः।

[🏶] चाज्जतवैश्वदेव,—इति मु॰ पुक्तके पाठः ।

"यस्य ग्रहं दहत्यग्रये चामवते पुरेखाश्रमष्टाकपालं निर्व्यपेत्"— इति । कामनया प्रवृत्तं काम्यम् । तद्यथा "वाययं श्वेतमालभेत श्वतिकामः, वायुर्वे चेपिष्ठा देवता"—इत्याद्याः काम्यपश्रवः ; "ऐन्द्रा-ग्रमेकादश-कपालं निर्वपेत् प्रजा-कामः" इत्याद्याः काम्येष्टयः" (१) तत्र, काम्यानां कामितार्थ-सिद्धिः फलम् । नित्य-नैमित्तिकयोख् त्यथाविध्यनुष्टितयोरिन्द्रलेकि-प्रापकलमाध्यक्षे श्रूयते,—

> "काली कराली च मने जित्रा च सुले हिता याच सुधूम - वर्णा । स्मुलिङ्गिनी विश्वरूची च देवी लेलायमाना दित सप्त जिक्काः॥ एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाड्यतये ह्यायन्। तं नयन्येताः सूर्यस्य रक्षाया — यत्र देवानां पतिरेकाऽधिवासः।॥ एह्येष्य रिक्षिभियंजमानं वहन्ति । प्रियाञ्च वाचमिभवदन्योर्चयन्त्य— एषवः पुष्यः सुक्रते। ब्रह्मुले कः"॥

^{*} चापि,--इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[†] लेलीयनाना,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[🗜] देवानामितरेकोऽधिवासः, — इति स॰ सा॰ पा॰ पुक्तकेषु पाठः।

⁽१) इष्टिपन्वोभेदस,—''इष्टिल चरवा यागः पत्र ल पत्र नास्मृतः। स्त क्षेषः कतुः प्रोक्तो स्रोमोन्यत् पूजनं स्मृतम्''—इत्युक्तदिशाऽयसेयः।

द्दति। त्रानुशासनिकेऽपि,—

"सु-ग्रुद्धैर्यजमानैश्च च्हिनिभञ्च तथाविधेः।
ग्रुद्धैर्द्रयोपकरणे^(१)र्यष्टयमिति निश्चयः॥
तथा क्रतेषु यज्ञेषु देवानां तोषणं भवेत्।
तुष्टेषु देव-संघेषु यज्ञी यज्ञ-पत्नं सभेत्॥
देवाः सन्तोषितायञ्चेकीकान् सम्बर्द्धन्युत।
उभयोकीकथार्देवि, भूतिर्यज्ञीः प्रदृश्यते॥
तस्राद्यज्ञाद्दिवं थान्ति श्रमरैः सह मादते।
नास्ति यज्ञ-समं दानं नास्ति यज्ञ-समीविधिः॥
सर्व्य-धर्मा-समुद्देशोदेवि, यज्ञे समाहितः"।

दिति।यदि कयश्चित्रित्य-कर्षाणि लुण्येरन्, तदा तत्वमाधानमाह प्रजापतिः,—

"दर्भश्च पूर्णमासञ्च लुखाऽधाभयमेव वा।
एकसिन् कच्छ्-पादेन दयोरर्द्धेन भेष्यनम्॥
इविर्यज्ञेष्वभक्तस्य लुप्तमयेकमादितः।
प्राजापत्येन इद्धोत पाक-मंखासु चैव हि॥
सन्ध्योपासन-हाना तु नित्य-स्नानं विलोण च ।
हामं नैमित्तिकं, इद्धोद् गायश्यष्ट-सहस्व-कृत्॥

^{*} नित्यस्तानं तु सोप्य च, इति स॰ सेा॰ पुरतकयाः, साप्य वा,— इति ग्रा॰ पुरतके पाठः।

⁽१) युद्ध द्यम्, — श्रुत-श्रीर्य-तपः-कन्या-श्रिष्य-यान्यान्वयागतम् । धनं सप्तिषधं युद्धं मुनिभिः समुदाष्ट्रतम्" — द्रगुत्तलच्यां खाभाविक्रम क्रतसंख्रारादिकच्चागतुकम् ।

यमाऽन्ते याम-यज्ञानां हाना चान्द्रायणञ्चरेत्। श्रक्तलाऽन्यतमं यज्ञं यज्ञानामधिकारतः॥ उपवायेन ग्रुद्धोत पाक-षंस्थासु चैत्रहि"।

इति । कात्यायने।ऽपि,—

"पिल-यज्ञात्यये चैव वैश्वदेवात्ययेऽपि च । श्रनिष्ट्वा नव-यज्ञेन नवान्न-प्राग्नने तथा॥ भोजने पतितान्नस्य चर्र्वेश्वानरोभवेत्"।

द्दति। विद्यित-द्विणा-पर्याप्त-द्रयाभावेऽपि* नित्यं न लेापयेत्। तदाइ वैाधायनः,—

"यस नित्यानि सुप्तानि तथैवागन्तुकानि(१) च।
स-पथ-स्थोऽपि न स्वगं स गच्छेत् पतिताहि सः॥
तसात् कन्दैः फलैर्मूसैर्मधुनाऽथ रसेन वा।

नित्यं नित्यानि कुर्वीत नच नित्यानि ले।पयेत्"॥ ननु, सम्पूर्ण-द्रय-सम्पत्तावेव से।स-यागः कार्यः। तदा

मनु:,—

इति ।

"यस्य चैवार्षिकं वित्तं पर्याप्तं सृत्य-रुत्तये । श्रिधकं वाऽपि विद्येत स सामं पातुमईति"॥

इति। याज्ञवस्कोऽपि,—

''त्रैवार्षिकाधिकान्नोयः महि सामं पिवेद्विजः"।

^{*} प्रवासामेपि, -- इति स॰ से। । प्राः पुक्तकेषु पाठः।

⁽१) म्हदाश्वाद्यनियतिमित्तम्पजीस्य विश्वितं यत् नैमित्तिन्नं, तदेवाचा गन्तुकतया निर्दिष्टमिति बौध्यम्।

इति । चैवार्षिकामालाभे साम-यागादवाचीनादशादयएव कार्याः। एतदपि मएवार,—

"प्राक्षोमिकीः क्रियाः कुर्याद्यस्यानं वार्षिकं भवेत्"। दित । श्रन्य-धनस्य यज्ञोमनुना निविध्यते,— "पुष्णान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानोजितेन्द्रियः । नवस्य-दिविणेयेज्ञेयेजेताच कयञ्चन ॥ दिन्द्रियाणि यग्नः स्वर्गमायुः कीर्त्तिं प्रजाः प्रग्रुन् । इन्यस्य-दिविणेयज्ञस्तसान्नास्य-धनोयजेत्" ॥ दित । मन्य-पुराणेपि,—

> "श्रन्नद्दीना" दहेद्राष्ट्रं मन्त्र-द्दीनस्तयर्त्विजः । श्रात्मानं दत्तिणा-द्दीनानास्ति यज्ञ-समारिपुः"॥

इति। एवस यह्येतानि वचनानि 'कन्देर्मू छैं:' इत्यादिवचनेन विद्यह्योरिनिति चेत्। मैवम्, एतेषां वचनानां काम्य-याग-विषयतात्।
'सम्पूर्णानुष्ठान-मक्तौ सत्यासेव काम्यं कर्त्त्रयम्'—इति षष्ठाध्याये^(१) मीमांसितम्। तथादि—''ऐन्द्राम्रसेकाद्य-कपालं निविषेत् प्रजा-कामः''—
इत्यन, किं यथाप्रकि प्रयोगेणाप्यधिकारः, जत सवागेप्यसंदरेण ?—
इति संग्रयः। नित्येषु यथाप्रकि प्रयोगस्य पूर्वाधिकरणे निर्णीतनात् काम्येष्यपि तथा,—इति प्राप्ते श्रूमः। नित्यानामसमर्थेनाप्यपरित्याज्यतात् तथ यथाप्रकि प्रयोगः। श्रपरित्यच्यानि दि
नित्यानि, जीवनादि-निमित्त-व्योन तत्प्रयत्तेः। नैमित्तिकं

^{*} षर्थचीना,—इति ग्रह्मान्तरप्तः पाठः ।

⁽१) मीमांसा-वटाध्याय-इतीयपाद-दिताधिकरसे।

प्रत्यप्रवर्त्तकले निमित्तलमेव शियेत । कामना तु न निमित्तं ; येना-वस्यमिष्टिं प्रवर्त्तयेत् । श्रता न काम्यस्यापित्याच्यलम्। तथा स्रति, फल-सिद्धार्थमेव काम्यस्यानुष्ठेयलात्, फलस्य च क्रास्त्रांगोपकत-प्रधानमन्तरेणानिष्यन्तेः, यदा क्रास्त्रांगानुष्ठान-श्रक्तिस्तदेव काम्य-मनुष्ठेयम्,—दति सिद्धान्तः॥

॥०॥इति यजन-प्रकर्णम् ॥०॥

द्रत्यं यजनं निरूपितं, याजने तु विधिः श्रूयते,—''द्रव्यमर्जयन् ब्राह्मणः प्रतिग्टलीयादा जयेदध्यापयेदा"। नवायं नित्य-विधिः, श्रकरणे प्रत्यवायादि-नित्य-लचणाभावात्। श्रपि तु काम्य-विधिः, द्रव्यार्जन-कामस्य तनाधिकारात्। तनापि, नापर्व-विधिः(१) जीव-नेपायत्नेन याजनस्य प्राप्तलात्। तद्भेतुलञ्च मार्कण्डेय-पुराण दर्शितम,—

''याजनाध्यापने गुद्धे तथा गुद्धः* प्रतिग्रहः 🕦

एषा सम्यक् समाख्याता चितर्यं तस्य जीविका"॥ इति । काणि परिषञ्चा, नित्य-प्राप्तेरभावात् । तस्मात् पचे प्राप्त-व्यक्तियम-विधिरयम् । स्वायं नियमः पुरुषार्थएव, वतु क्रलर्थः,

^{*} पुत्र,-- इति स॰ सा॰ शा॰ प्रत्नेष्।

[†] खंच, 'चितयी'—इति पाठो भवितुं युक्तः।

[‡] तस्नात्,—इति नान्ति स॰ से।॰ ग्रा॰ पुत्तकेषु।

⁽१) ध्वपूर्वेख पूर्वेमप्राप्तस्य विधिरपूर्वेविधिः खत्यन्ताप्राप्तप्रापकोविधिरिति यावत्। तत्रेदमुक्तम्, — ''विधिरत्यन्तमप्राप्ती मियमः पाचिको सति। सत्र चान्यत्र च प्राप्ती परिसंस्थेति गीयते''— इति।

द्रवार्जन-विधानस्य पुरुषार्थलेन खिपा-स्रेचे (१) विचारितलात्।
तथाहि,—द्रस्वप्राप्तिः, क्रलर्था वा पुरुषार्था वा?—दित संग्रयः।
तच पूर्वः पवः, क्रलर्थेयं, तथा सित नियमस्मार्थवन्तात्। ब्राञ्चणस्य याजनादिना, चिचस्य जयादिना, विश्वस्य क्रस्यादिना,—इति नियमः। सच पुरुषार्थ-पचेऽनर्थकः स्मात्, उपायान्तरेणार्जि स्थापि द्रवस्य जुत्प्रतिघातादि-पुरुषार्थ-सम्पादकलात्। कतुस्त नान्यया सिद्धति। श्रतस्य नियमे।ऽर्थवान्,—दित प्राप्ते ब्रूमः। द्रस्यं हि सम्पादितं सत् पुरुषं प्रीणयति। श्रतस्य पुरुषार्थलं प्रत्यनं दृष्टम्! क्रवर्थता त नियमान्यथाऽनुपपत्त्या कल्प्यते। क्रृप्तञ्च कल्प्यादलीयः। सित च पुरुषार्थले, क्रते।रिप भोजनादिवत् पुरुष-कार्थतया तदर्थताऽपर्थात् सम्पद्यते। नियमस्त, पुरुषार्थेऽपर्जन—विधा किञ्चिददृष्टं जनश्वस्थिति । क्रलर्थेविदेवादिने।जीवनले।पेन-

^{*} तथापि, इति स॰ सा॰ प्रा॰ पुक्तकेषु पाठः।

[ं] चित्रयस्य जयादिना,—इति नास्ति स॰ पुक्तके।

[‡] इंड्यं,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[§] कालर्थ,—इति सु॰ पत्तको पाठः।

⁽१) "यसिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्ताऽर्धनचाराऽविभक्षस्वात् (भी॰ श्य॰ १पा॰ २स्र॰)" इत्येतसिन् स्त्री भाष्यकारस्य दित्रीयवर्णके,— इति बोध्यम्।

⁽२) तथाच याजनादिनाऽर्क्जने किचिददृष्टं कल्यते, तिव्रयमस्यार्थवाचाय । इतर्या खक्षम्येनापि प्रकारेण द्रयार्क्जनसम्भवात् याजनादिनियमी-वचनग्रतेनाप्यग्रकाः कर्तुमिति बोध्यम्।

केतुरपि न सिधेत्^(१)। तसात्, पुरुषार्थायाजनादिः,—इति सिद्धम्। च्हितिसिर्विना याजियताऽन्योन केाऽप्यस्ति,—इति चेत् । नैवम्,श्राप ं सम्ब-सूत्रे षोड़ग्रानाम्हलिजां वरणमभिधाय याजयितुः सप्त-दशस्य ष्ट्रयावरणाभिधानात्। "सद्खं सप्त-द्रशं कौषितिकनः समामनन्ति, स कर्मणासुपद्रष्टा भवति''—इति । श्रतएव विशिष्ठ*वंश्रीत्पन्नस्य महारू नामकस्य मर्हें: प्रश्न-वाको देव-भागस्य स्झव-नाम कान् ब्राह्मणान् प्रति याजकलं। तैत्तिरीयक-ब्राह्मणे श्रूयते,— ''वाभिष्ठोद सत्य-द्यो देवभागं पप्रच्छत् सृज्जयान् बद्ध-याजिने।यजेंंंथे'' इति । तथा कौषितिक-ब्राह्मणे, चित्र-नामकं प्रति श्वेत-केतायाज कलमान्नातम्,—"चित्रेष्ठ वै गार्ग्यायणिर्यचमाणत्रारुणि वन्ने, स द पुत्रं श्वेत-केतुं प्रजिञ्चाय याजयति ""इति। तस्माद्, स्विम्म्योऽन्य:-सदस्रोयाजयिता। ऋत्विजावा याजयितारः मन्तु, मर्वथाऽप्यसि ब्राह्मणानां जीवन-हेतुर्याजनम्। तमितिकर्त्तव्यता-रूपेण क्रण्णा-जिन-वासमारन्यतरेणापवीतित्वं तैत्तिरीयके विधीयने,—"तस्राद्य-श्वीपवीत्येवाधीयीत याजयेचजेत् वा यज्ञस्य प्रस्ताया श्रजिनं

^{*} वसिष्ठ,-इति दन्त्यमध्यः पाठः मु॰ पुन्तके प्रायः सर्व्यम ।

[†] सात्यद्व्य,—इति स॰ सा॰ प्रा॰ पुत्तकेषु पाठः। एवं परत्र।

[‡] याजकात्वं इति नास्ति मृ॰ पुस्तके।

[§] बड्डयाजिनेायायजा इति,—इति मु॰ पुन्तके पाठः।

[¶] प्रतिग्रय याज्ञयेति, इति पाठः मु॰ पुस्तके।

⁽१) क्रत्वर्धमिर्ज्जितस्य दश्यस्य तदन्यत्र भोजनादी विनियोगस्य कर्तुमस स्थवादिति भावः।

वामात्रा दिस्णत उपवीय"—इति । मन्तेषु स्वथादिषु ज्ञानञ्च श्वाजनांगतेन कृन्दोग-ब्राह्मणे समाद्यायने,—"थोइ वा श्वविदिन तार्षेय-कृन्दो दैवत-ब्राह्मणेन याजयित वा श्रधापयित वा, खाणुं वर्क्कितां गर्ने वा पद्यते प्र वामीयते पाणीयान् भवित यातया- मान्यस्य कृन्दांसि भविन्त, श्रथ यो मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्, सर्वमायुरेति श्रेयान् भवित श्रयातयामान्यस्य स्कृन्दांसि भविन्तः, तसादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्"—इति ।

ननु क्कचित् याजनस्य क्कचित् प्रतिग्रहस्य च निन्दितलात्? तद मुष्टानवतः स्वाध्याय-गायश्चोर्जपन्नाम्वायते,—"रिस्थतद्व वा एष-मेव रिस्थते योयाजयित प्रति वा ग्रह्णाति, याजियला प्रति-ग्रह्मा हाऽनन्नम् चिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत, चिराचं वा साविचीं गायचीमन्वातिरेचयित"—इति । तथाऽन्यचापि,—"दुहोह वा एष कृन्दांपि योयाजयित, स येन यज्ञ-क्रतुना याजयेत्, सोऽरक्षं परेत्य ग्रुचौ देशे स्वाधायमेवैनमधीयन्नामीत; तस्था-नम्ननं दीचा, स्थानसुपसदः, न्नासनस्य सुत्था, वाग्जुहः, मन उपस्रत्, धितर्भुवा, प्राणोह्नवः, सामाध्वर्युः, सवाएष यज्ञः प्राण-इतिणोऽनन्न-दिचणः सम्दद्धतरः"॥ इति चेत्। नायं देशिः, न्नयाञ्च-

^{*} मन्त्रऋथादिज्ञामञ्च,—इति स॰ सेा॰ प्रा॰ पुक्तकंषु पाठः।

[†] स्थार्मुं वा गक्ति,--इति भा॰ स॰ पुस्तकयोः पाठः।

[🗓] ख्रथ, इत्यादि, भवन्ति, — इत्यन्तः पाठः स॰ से।॰ ग्रा॰ पुस्तकेनु नास्ति।

[§] सचित् याजनं निन्दिखा, - इति पाठः स० पा० प्रस्तकयोः।

[॥] तस्यानशनम् --- इत्यादि, 'सम्बद्धतरः'--- इत्यन्तः पाठीनान्ति स॰ सी॰ शा॰ पृत्तनेषु ।

याजन-विषयलात् । जीवितास्ययमापत्रस्य प्राण-रवार्थमयाज्ययाजनमपि सभावते । तथा, वाजसनेय-ब्राह्मणम्,—"प्राणस्य वै
सम्नाट्वामायायाज्यं याजयित श्रप्रतिग्राह्मस्य वा प्रतिग्रह्माति "दिति ।
तव, प्रायश्चित्तं कृन्दोगाः श्रामनित्त,—"श्रयाज्य-याजने दिण्णांस्थ्ना मामं चतुर्थ-काले भुद्धानः (१) तन्मन्त्रान् गायेत्"—इति । तथा
समन्तुरिप सारति,—"ग्रुद्ध-याजकः ग्रुद्ध-द्रय-परिस्थागात् पूते।भवति । श्रमिश्वान्पतित-पानर्भव-भूणस्-पुंश्वस्य-ऽग्रुचि-वस्त-कार्ः
तैस्तिक-चान्निक-ध्वजि-स्वर्ण-कार्-वर्म-कार्-पङ्कते वर्धिक-गणगणिक-मानिक-धाध-निषाद-रजक-चक्-चर्म-काराः श्रभोज्यासाश्रप्रतिग्राह्माश्रयाज्याश्च" । तथाच विषष्ठः,—दिच्छा-स्यागास पूते।भवतीति विद्यायते॥"—इति । तथा बौधायने।ऽपि,—"ब्रह्मप्रतिग्राह्मस्थ प्रतिग्रह्म श्रयाज्यं वा याजियत्वा नाद्यात्, तस्य चान्न-

^{*} खप्रतिग्रह्म प्रतिग्रहाति, - इति ग्रा॰ स॰ पुन्तकयोः पाठः।

[†] सर्व्वद्रयपरित्यागात्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[🗓] ग्रस्त्रकार,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[🛭] सुवर्णे लेखेक वढक, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[¶] वुराढचर्म्मकारां, - इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[॥] दिचागात् पापाच, -- इति स॰ सो ॰ प्रा॰ पुक्तकेषु पाठः।

⁽१) भोजनस्य कालजयमितवास्य चतुर्यंकाले भुञ्जानः। पूर्व्वदिने उपोध्य परिदने दिवा अभुक्ता राजा भुञ्जान इति यावत्। तथाचोक्तम्। ''मुनिभिर्द्विरणनं प्रोक्तं विष्राणां मर्ववासिनां नित्यम्। अस्ति च तथा तमस्तिन्यां सार्द्वप्रस्थामान्तः''—इति।

मिश्रित्वा तरत्समन्दीयं जपेत्*"—इति। †श्रयाज्य-याजक सर्वणं देवलेन दर्शितम्,—

> "यः ग्रुद्धान् पतितां श्वापि याजयेदर्ध-कारणात्। याजितावा पुनस्ताभ्यां त्राह्मणे। याज्य-याजकः"॥ इति। ॥०॥ इति याजनप्रकरणम्॥०॥

तदेवं याजनं निरूपितम्। श्रथ दान-प्रतिग्रहो निरूपेते।
तत्र, दान-विषया श्रुतिः,—"दानमिति धर्वाणि भूतानि प्रशंसन्ति,
दानात्रातिदुष्करं तस्माद्दाने रमन्ते"—इति। तथा वाक्यान्तरमिष्,—"दानं यज्ञानां वरूथं दिचणा लेको दातारं धर्व-भूतान्युपजीवन्ति, दानेनारातीरपानुदन्त, दानेन दिषन्ते। स्मित्राभवन्ति, दाने धर्वं
प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं परमं वदन्ति,"—इति। श्रादित्य-पुराणेऽपि,—

"न दानादिधिकं किञ्चित् दृष्यते अवन-चये।
दानेन प्रायते खर्गः श्रीदानेनैव सम्यते ॥
दानेन प्रचून् जयित व्याधिदानेन नम्यति ।
दानेन सम्यते विद्या दानेन युवती-जनः॥
धर्मार्थ-काम-माजाणां माधनं परमं स्प्रतम्" । दति ।
एवं श्रुति-स्प्रतिभ्यां प्रभंमा-पूर्वका दान-विधिरस्त्रीतः। याञ्चवस्क्यस्तः साजादानं व्यथन्त,—

^{*} नास्याद्रमवाद्रमण्रित्वा पतेत्,—इति सु॰ पुस्तक पाठः । .

[†] खत्र, 'तथा'-इत्यधिकः पाठः स॰ सी॰ ग्रा॰ प्रत्तकेष ।

[ौ] याच्चवक्कोऽपि,—इति स॰ सा॰ ग्रा॰ पुक्ततेषु पाठः।

"दातवं प्रत्यद्धं पाचे निमित्तेषु" (१) विशेषतः ।

याचितेनापि दातवं श्रद्धा-पूर्वन्तु शक्तितः ॥

गो-भ्र-तिल-हिरण्यादि पाचे दातव्यमर्चितम् ।

नापाचे विदुषा किश्चिदात्मनः श्रेयद्व्यता" ॥ इति ।

तयोरन्यतरः खरूप-विधिरितरस्तु गुण-विधिः । मनुरपि,—

"दानं धर्मं निषेवेत नित्य-नैमित्त-धंश्चकम् ।

परितुष्टेन भावेन पाचमाषाद्य शक्तितः"॥ इति ।

वक्षि-पुराणे च वित्त-वैयर्थोक्ति-पुरःसरं दानं विहितम्,—

"यस्य वित्तं न दानाय ने।पभागाय देहिनाम्।

नापि कीर्त्ये न धर्माय तस्य वित्तं निर्यक्तम् ॥

तस्यादित्तं समाषाद्य देवादा पारुषाद्य ।

द्यात् सम्यग्-दिजातिभ्यः कीर्त्तनानि न कार्येत्''॥ इति । विष्णुधर्मीत्तरे दानाभावे बाधमास,—

> "सीदते दिज-सुख्याय थोऽर्थिने म् प्रयक्कति । सामर्थी सति दुर्बुद्धिनेरकाथोपपद्यते"॥ दति ।

मिमित्तेतु,—इति सु॰ पुक्तके पाठः ।

[†] दातखमिषंते,—इति सु॰ पुक्तके पाठः। "खर्षितमिष्ठिताय दद्यात्" ---इति वचनान्तरदर्शनादुभयमिष सङ्गच्छते।

[‡] दामधमा, — इति स॰ ग्रा॰ पुक्तकयोः पाठः।

[🐧] खिमपुरागोपि, - इति सु॰ पुस्तको पाठः।

⁽१) पाचम्,—"विद्यायुक्तोधनीश्रीणः प्रश्नान्तः स्वान्तोदान्तः सत्यवादी-क्रतच्यः। स्वतित्यानागोष्टिता गोश्रादण्यो दाता यञ्चा ब्राष्ट्राव्यः पाच-माजः"—वयुक्तणस्वयम्। निमित्तं संक्रास्यादि।

बहा-पुराणेऽचि,--

"मदाचाराः कुलीनाञ्च रूपवन्तः प्रियम्बदाः । बक्त-श्रुताञ्च धर्माज्ञायाचमानाः परान् ग्रहान् ॥ दृश्यन्ते दुःखिनः सर्वे प्राणिनः सर्वदा सुने । श्रदत्त-दानाः जायन्ते पर-भाग्योपजीविनः''॥ इति ।

व्याचाऽपि,—

"श्रवर-दयमभ्यसं नास्ति नास्तीति यत् पुरा । तदिदं देहि देहीति विपरीतसुपस्थितम्" ॥ इति । स्कान्देऽपि,—

> "देहीत्येवं ब्रुवन्नर्थों जनं बोधयतीव सः । यदिदं कष्टमर्थिलं प्रागदान-फलं हि तत्॥ एकेन तिष्ठताऽधस्तादन्येने।परि तिष्ठता । दात्न-याचकयोर्भेदः कराभ्यामेव स्वचितः॥ दीयमानन्तु योमोहात् गो-विप्राग्नि-सुरेषु च । निवारयति पापात्मा तिर्यग्योनिं ब्रजेत्तु सः"॥ हति।

बातातपाऽपि,—

"मा ददखेति योत्रूयात् गर्यग्नी ब्राह्मणेषु च।
तिर्यग्-योनि-ग्नतं गला चाण्डालेष्वपि जायते"॥ इति ।
दानस्य स्वरूपं तत्रेतिकर्त्तव्यताञ्च देवले।दर्भयति,—
"त्रर्यानामुदिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम्।

^{*} तथितिकत्तंयतास्त, - इति स॰ से।॰ ग्रा॰ पुस्तकेषु पाठः।

दानमित्यभिनिर्द्देष्टं वाखानं तस्य वन्त्यते ॥ दे हेतु: षड्धिष्ठानं षड्ङ्गं षड्विपाक-युक् । चतु:-प्रकारं चि-विधं चि-नादं दानसुच्यते ॥ नान्यतं वा बद्धतं वा दानसाभ्यद्यावस्म्। श्रद्धा भिक्तिस दानानां टिद्धि-श्रेयस्करे*हि ते ॥ धर्ममर्थञ्च कामञ्च बीड़ा-इर्ष-भयानि च। श्रिधष्ठानानि[©]दानानां षड़ेतानि प्रचचते ॥ पाचेभ्यादीयते नित्यमनपेच्य प्रयोजनम्। केवलं धर्म-बुद्धा[†] यत् धर्म-दानं तदुष्यते ॥ प्रधाजनसुपेच्छीव प्रसङ्गात् यत्प्रदीयते । तदर्थ-दानमिखाइरै हिकं फल-हेतुकम्॥ स्ती-पान-म्हगयाऽचाणां प्रमङ्गाद् यत् प्रदीयते । श्रनर्देषु च रागेण काम-दानं तदुच्यते । संसदि ब्रीड्या स्तर्या चार्घिभ्योयत् प्रयाचितम्॥ प्रदीयते च यहानं ब्रीड़ा-दानमिति स्रतम्॥ दृष्ट्वा प्रियाणि श्रुला वा दर्वाद् यद्यत् प्रयस्कृति । इर्ष-दानमिति प्राइर्दानं धर्म-विचिन्तकाः! ॥ म्राकोमनार्थं सिंगानां रे प्रतीकाराय यञ्जवेत्।

^{*} रुद्धिचायकरे,-इति स॰ सा॰ पुस्तकयोः पष्ठः।

[†] त्यागनुद्धाः,—इति स॰ से १० पुक्तकयोः पाठः।

[‡] वडक्मीचिन्तनाः,—इति स॰ सा॰ प्राः पुन्तनेषु पाठः।

^{जाकोशानर्थिश्वंसानां—इति स॰ सा॰ पुलक्षयौः पाठः ।}

दीयते वाऽपकर्त्वभ्धा * भय-दानं तदुच्यते ॥ दाता प्रतिग्रहीता च श्रद्धा देयञ्च धर्मा-युक् । देग-कालौ च दानामङ्गान्येतानि षष्ट्रिदुः ॥ श्र-पाप-रागो धर्मात्मा दित्मृरव्यसन: (१) इड्रचि: । श्रनिन्द्य-जीव-कर्मा च षड्भिदीता प्रशस्ते ॥ चि-ग्रुक्तः ग्रुक्त-रुत्तिश्चः घृणासुः मंयतेन्द्रियः । विसुक्तोयोनि-देषिभ्धात्राह्मणः पात्रसुच्यते" ॥ इति । चिग्रक्त दति, चिभिर्मातापिचाचार्यैः प्रिचितलेन प्रदुद्धः। "शौचं ग्रुद्धिर्महाप्रीतिरर्धिनीदर्शने तथा। मित्-इतिञ्चानस्रया च दाने त्रद्धेत्यृदाह्यता॥ त्राचाराबाधमक्रेशं ख-यत्नेनार्कितं धनम्। खर्चं वा विपृत्तं वाऽपि देयमित्यभिधीयते ॥ यद्य दुर्जभं द्रव्यं यिसान् कालेऽपि वा पुनः। दानाची देश-काली ती खातां श्रेष्टी नचान्यथा ॥ श्रवस्था-देश-कालानां पाच-दाचीस्र सम्पदा ।

पानकर्छभ्यो,—इति स॰ सा॰ पुक्तकयोः पाठः।

[†] दित्यरव्याजतः,—इति सु॰ पक्तके पाठः।

[‡] क्रग्रहितस्त्र,—इति स॰ सा॰ ग्रा॰ पक्तकेषु पाठः।

⁽१) यसनं कामजकीपजदेषिविश्रेषः। तदुक्तम्। "म्यायाऽच्होदिवा-स्तप्तः परीवादः" स्त्रियोमदः। तौर्य्याचिकं वधान्या च कामजादशका-गणः। पेश्वन्यं साइसं द्रोच द्रिष्याऽस्याऽर्घदृषणम्। वाग्दग्डजन्यः पारुष्यं कोधजाऽपि गणोऽस्वनः"—इति।

दीनं वापि भवेष्क्रेष्ठं श्रेष्ठं वाऽणन्यथा भवेत्॥
दुष्पालं निष्पालं दीनं तुन्नं विपालतः॥
वाद्यिक-युगुद्दिष्टं षड़ेतानि विपालतः॥
नास्तिक-स्तेन-दिन्नेभ्यः जाराय पितताय च ।
पिग्र्न-भूण-दन्नुभ्यां ग्रदत्तं दुष्पालं भवेत्॥
मद्दयपालं दानं श्रद्धया परिवर्ष्णितम् ।
पर-वाधा-करं दानं कृतमणूनतां विजेत्॥
यथाक्तमपि यद्दानं वित्तेन कसुषेण तु ।
तन्तु संकन्ध-देषिण दानं तुन्ध-पालं भवेत्रे॥
यक्ताङ्गेः सकन्नेः षड्मिदीनं स्वादिपुन्ते।
प्रकाङ्गेः सकन्नेः षड्मिदीनं स्वादिपुन्ते।
प्रकाङ्गेः सकन्नेः पड्मिदीनं स्वादिपुन्ते।
प्रवाजिक्तं विज्ञादत्तं दानमन्यतां॥ विजेत्॥
भवमाजिक्तं काम्यं निमित्तिकमिति क्रमात्।
देविको विश्वानमार्गे।ऽयं चतुर्द्वा वर्ण्यते बुधैः॥
(१) प्रपाऽदाम-तड़ागादि सर्थ-काम-पालं भवम्णां।

भ्रूबाचन्तुभ्यः,—इति स॰ पुष्तके पाठः ।

[†] स्त्रोतमप्रमतां,-इति सु॰ पुस्तको पाठः।

[‡] चेंदु तं—इति स॰ से । पुस्तकयोः पाठः।

[∮] सभेत,— इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[∥] मच्चयतां,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

१ यवमाजिसनं, - इति सु प्रस्ते पाठः।

^{**} दिखाष,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

ᆉ सर्व्ववामपाषप्रदम्,—इति सु॰ पुक्तवे पाठः।

⁽१) चनुक्रोग्रीदया।

⁽२) प्रपा पानीयशाला । खाराम उपवनम् । तङ्गिशमखाश्रवविधे ।।

तदाजिखकिमित्याच्चरीयते यद्दिनेदिने । श्रपत्यविजयेश्वर्य * स्त्री-वासार्थं यदिखते । इच्छाषंज्ञन्तु यहानं काम्यमित्यभिधीयते । काखापेचं क्रियापेचमर्थापेचमिति स्पृतम् (१)॥ विधा नैमित्तिकं प्रोत्रं स-होमं हे।म-विर्ज्ञितम्। नवात्तमानि † चलारि मध्यमानि विधानतः॥ त्रधमानि तु भेषाणि चिविधलमिदं विदुः। श्रन्न-विद्या-वधू-वस्त्र-गो-भ्र-हक्याश्व-हस्तिनाम् ॥ दानायुत्तमदानानि उत्तम-द्रव्य-दानतः। विद्यादाच्छादनं वासः परिभोगौषधानि च॥ दानानि मध्यसानीति मध्यम-द्रव्य-दानतः। उपानत्-प्रेथ-यानानि क्य-पात्रासनानि च॥ दीप-काष्ठ-फलादीनि चरमं बज्ज-वार्षिकम् । बज्जलादर्थ-जातानां सङ्खा शेषेषु नेव्यते ॥ श्रधमीत्यविष्ठानि सर्वदानान्यते। विद्ः 🗓 । इष्टं दत्तमधीतं वा प्रणयत्यनुकीर्त्तनात्॥ स्नाघाऽनुषोचनाभ्यां वा भग्न-तेजो १ विपद्यते ।

अपत्यारिजयैश्वर्यं,—इति पाठः स॰ से। ॰ ग्रा॰ पुक्तकेषु।

[†] तत्रोत्तमानि,--इति स॰ सा॰ पुत्तकयाः पाठः।

[‡] ष्यत्र, 'इति'—इत्याधिकः पाठः सु॰ पुक्तके।

अमितेजा,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

⁽९) काकापेचं यथा खावाछ।दिनिमित्तर्व दानम्। क्रियापेचं यथा त्रा-द्वादौ वन्दादिभ्योदानम्। खर्थापेचं यथा पुत्रजन्मादौ दानम्, "रक्षां गां दश्रगुर्देखात्"— इत्याद्यक्षां वा।

तसादाता-कृतं पृष्धं न दथा परिकीर्त्तयेत्"॥ इति । निख-नैमित्तिक-काम्य-विमलाखाञ्च चलारे।दान-भेदाः पुराख-सारे दर्शिताः । सालिकादि-भेदान् भगवानाइ,-"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे च काले पाचे च तहानं सान्तिकं सरतम्॥ यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलसुद्दिग्य वा पुनः। दीयते च परिक्तिष्टं तद्रामशुदाद्धतम्॥ श्र-देश-काले यहानमपाचेभ्यस दीयते । श्रयत्वतमवज्ञातं * तत्तामयसुदाद्धतम्''॥ इति । तच पास्तविशेषोविष्णुधर्मीन्तरे दर्शितः,— "तामसानां फसं शुङ्को तिर्थिको मानवः सदा। वर्ण-सङ्कर-भावेन(१) वार्ड्सके यदि वा पुनः॥ वाखे वा दाय-भावेन नाच कार्या विचारणा। श्रते। उन्यया तु मानुकी राजसानां फसं भवेत्॥ सालिकानां फर्ल सुक्के देवले नात्र संग्रयः"। इति। तत्र दान-पाचमाच याज्ञवस्काः,—

"न विद्यया नेवलया तपसा वाऽपि पाचता। यच हत्त्तसिमे चोभे तिङ्क पाचं प्रचलते"॥ इति । धने।ऽपि,—

''विद्या-युक्तोधर्य-श्रीसः प्रशानाः

^{*} खसंख्रुतमित्रातं,-इति सु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) विजातीययार्व्यक्षयाः संप्रयोगात् योजायते सायं वर्षक्षप्रयः।

चान्तोदामाः सत्य-वादी छत-श्वः। खाध्यायवान् धतिमान्* गोशर्ण्यो-दाता यञ्चा ब्राह्मणः पाचमाञ्चः"॥ दति।

विश्वष्टः,-

"किञ्चिदेदमयं पात्रं किञ्चित् पात्रं तपे। मयम्। पात्राणामपि तत्पात्रं भूद्रान्नं यख नोदरे"॥ इति । बृहस्पति:,—

"त्रागमिखति यत् पाचं तत् पाचं तार्विखति"। इति । विष्णुधर्वोत्तरे,—

"पतनात् चायत्ते यसात् तसात् पाचं प्रकीर्त्तितम्" । इति । स्कन्द-पुराणे पाच-विशेषोविहितः,—

> "प्रथमन्त ग्रोई।नं दश्चाक्ष्रिष्ठमनुक्तमात्। ततोऽन्येषाञ्च विप्राणां दश्चात् पाचानुश्चारतः॥ ग्रेरोरभावे तत्पुचं तङ्कार्यां तत्-सुतं तथा। पौचं प्रपाचं दौद्दिनमन्यं वा तत्-सुस्नोङ्कवम्॥ तद्दानातिक्रमे दानं प्रत्युताधोगतिपदम्"। इति।

चंमाऽपि,—

"धममबाह्यणे दानं दिगुणं बाह्यण-ब्रुवे^(१)।

^{* &#}x27;इतिमान्,'—इखन,स्रुतिमान्,—इति सु पृक्तके, 'खाध्यायवान्हति-मान्'—इखन, रुक्तिग्लाने गोहिता,—इति जीमूतवाद्यनप्टतः पाठः । † तत्स्तान्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः ।

⁽१) ब्राह्मणमात्मानं व्रवीति नपुनर्वाषास्यक्तीयः साऽयं ब्राह्मसङ्ग्रदः। तथा भोक्तम्। "अन्यकर्मपरिश्वको ब्राह्मिक्येविवर्षितः। व्रवीति ब्राह्मस

प्राधीते श्रतसाइस्तमननं वेद-पार-गे"॥ इति ।
प्राधीतः प्रारव्धाध्ययमद्द्यर्थः । सम्बर्त्तः, *—
"उत्पत्ति-प्रस्तयो चैव स्तृतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स भवेदेद-पारगः"(१) ॥ इति ॥
"शूद्रे सम-गुणं दानं वैश्ये तद्-दिगुणं स्तृतम्।
चित्रये चिगुणं प्राञ्चः षड्गुणं ब्राह्मणे स्तृतम्"॥ इति ।
शूद्रादीनां पाचल-प्रतिपादनमञ्जदानादिविषयं "छतान्नमितरेभः"

-इति गौतम-वचनात्।

व्यास:,---

"मातापिचोश्च यह्तं भाव-खर्र-स्तासु च। जायाऽत्यानेषु यह्तं सेऽिमन्दः खर्ग-संक्रमः है॥ पितः व्यत-गुणं दानं सदसं मातुरुच्यते। श्रमनं दुष्टितुर्दानं सेदियें दत्तमचयम्"॥ इति। भवियोत्तरे,—

"न नेवसं ब्राह्मणानां दानं सर्वेच प्रस्तते ।

सारं सर्वेये। ब्राम्यम्बनः"—इति। "ग्रभाधानादिसंस्कारेयुक्तस्य नियत-वृतः। नाध्यापयति नाधीते सर्वये। ब्रास्त्रमम्बन्नः"—इत्युक्तसन्त्रमा वा।

(९) विद्या तत्त्वज्ञानम्। चिवद्या मिय्याज्ञानं कर्म्मकवापा वा, तषात्रे-चीपासनाया विद्यापरेन संग्रहे।मन्तयः।

^{*} संवर्त्तः,-- हति गास्ति सु॰ पुस्तके।

^{† &#}x27;इति' ग्रब्दोऽत्र नास्ति सु॰ पुरूको।

[‡] खन्नदानविषयं,—इति मु॰ मुक्तके पाठः।

[🖇] खत्र 'इति' ग्रब्दोऽधिकोऽस्ति सु॰ पुक्तको।

भगिनी-भागिनेयानां मातुसानां पितुःखसुः । दिरहाणाञ्च बन्धूनां दानं कोटि-गुणं भवेत्"॥ इति । श्वातातपाऽपि,—

"वित्रष्टमधीयानमितिकामिति योदिजम्। भोजने चैत्र दाने च दहत्यासप्तमं कुलम्"॥ इति । महाभारते,—

"इतखा इत-दाराश्च[†] ये विप्राः देश-विश्ववे । त्रर्थार्थमभिगच्छन्ति तेभ्योदानं महाफलस्' ॥ इति । त्रपात्रमाह मन्ः,—

> "न वार्थिप् प्रयच्छे नु वैड़ाल-व्रतिके दिने। न वक-व्रतिके पापे नावेद-विदि धर्म-वित्॥ चिक्षणेतेषु दत्तं चि विधिनाऽण्यर्जितं धनम्। दातुर्भवत्यन्थाय परचादातुरेवच ॥ यः कार्णं पुरक्तित्य व्रत-चर्यां निषेवते। पापं व्रतेन संकाद्य वैड़ालं नाम तद्वतम्॥ श्रधोदृष्टिनेकितिकः खार्थ-संधान-तत्परः। श्रठोमिण्याविनीतस्य वक-व्रत-चरोदिजः" ॥ इति।

ज्ञातातपाऽपि,॥—

पित्रखसुः,—इति सु॰ प्रस्तवे पाठः।

[†] पिटमाटदारास, - इसि स॰ से। प्रा॰ पुक्तकेषु पाठः।

¹ नचाएवपि,—इति स॰ सेा॰ मुक्तकयोः पाँठः। नचाएव पि, - इति सु॰ मुक्तको पाठः।

[§] वकटत्तिकरोदिजः,—इति सु॰ पुक्तके पाठः ।

[॥] मास्तीदं स॰ सेा॰ ग्रा॰ पुस्तकेषु ।

"नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठञ्च वार्द्धुषो (१) । यच बाणिज्यके दत्तं न च तत् प्रेत्य नो इइ"॥ इति । देवलकञ्च स्कान्दे दर्भितः,—

> "देवार्चन-रतोविप्रोवित्तार्थी वत्सर-चयम् । स वै देवलकानाम इय-कव्येषु गर्हतः"॥ इति ।

ट्रहमनुः,—

"पात्र-भ्रते। पि यो विप्रः प्रतिग्रह्म प्रतिग्रहम्। श्रमस् विनियं जीत तसी देयं न किञ्चन ॥ सञ्चयं कुरुते यञ्च प्रतिग्रह्म समन्ततः । धर्मार्थं नोपयुद्धे स* न तं तस्करमर्चयेत्" ॥ दृति ।

विष्णुधर्मी त्तरे,-

"पर-स्थाने रुथा दानमशेषं परिकीर्त्तितम् । श्रारुहे पतिते [†] चैव श्रन्यथाप्तैर्धनेश्च [‡] यत्^(२) ॥

^{*} नेापयुञ्जीत, - इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[†] खारू पृपतिते, - इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] खन्यथासेधनेख, - इति स॰ सा॰ पुस्तकयोः पाठः।

⁽१) वार्डुषे। रुद्धियाचिष ।

⁽२) परस्थाने परभूमी। भूखामिनीऽन्ज्यातु म देखः। "नामनुज्ञातभूमिर्षः यज्ञस्य प्रकामभूते"— रयुक्तेः। खारू प्रे पितते इति खवकीर्यानेष्ठिकत्रद्धाचारिविषयम्। ''खारू ज़िनेष्ठिकं धम्मं यन्तु प्रख्यते
पुनः। प्रायस्तिनं न पर्यामि येन मुद्धोत् स खात्मद्या"— इति, "खारू प्रतितं विप्रं मग्छनाच विनिःसृतम्। उद्धदं स्निद्दस्य स्पृष्टाः चान्त्रायणं चरेत्'-- इति चैनमादिन चनेक्तस्यात्यन्तं निन्दितलात्। "विद्यस्त्रभयथापि स्मृतेराचाराच'' (३ ख० ४ पा० ४ ३ सू०) इति ग्रारीरकस्त चमप्यच स्मर्त्यम्। खन्यथाप्तिरिति, खन्यथा शास्त्रीयापायं
विना खाप्तेरिक्तितेरित्यर्थः। खन्यथाप्तिरिति तु युक्तः पाठः।

व्यर्थमहास्य दानं पितते तस्करे तथा।
गुरोञ्चाप्रीति-जनके क्षतन्ने ग्राम-याजके ॥
वेद-विक्रयके चैव यस चोपपितर्श्वे ।
स्त्रीभिर्जितेषु यद्दनं व्यास-ग्राचे तथैवच॥
ब्रह्म-बन्धो च यद्दनं यद्दनं व्यस्तीपती।
परिचारेषु यद्दनं वृथादानानि षोड्म"॥ दति।

महाभारते,—

"पङ्गन्धविधरामूकायाधिनोपहतास्य ये। भर्त्वयास्ते महाराज, न तु देयः प्रतिग्रहः"॥ इति । पाने।पेचणमपाच-दानञ्च मनुर्निषेधित,—

"श्रनर्हते यद्दाति न ददाति यद्हते" । श्रहीनहीपरिज्ञानाद्दानाद् धर्माच हीयते" ॥ इति । अवियोत्तरे देय-खद्धपं निरूपितम् ,—

"यद्यहिष्टं विशिष्टञ्च न्याय-प्राप्तञ्च यद्भवेत्। तत्तद् गुणवते देयमित्येतद्दान-खचणम्"॥ इति । श्रिशेषस्य देयल-प्राप्तौ विशेषमाद याज्ञवल्काः,—

"ख-कुटुम्बाविरोधेन देयं दार-सुतादृते । नाम्बये^(१) सति सर्व्वखं यद्यान्यसी प्रतिश्रुतम्" ॥ इति । वृद्दस्यतिरपि,—

^{*} खनई यो यह्हाति नदहाति यदई यो,—इति स॰ से। पुक्तकयोः पाठः।

⁽१) चन्ययः सन्तातिः।

"^(९)कुटुम्ब-भक्त-वसनाद् देयं पदितिरिच्यते"। इति । ज्ञिव-धर्षी,—

"तसाम्त्रभागं वित्तस्य जीवनाय प्रकल्पयेत्। भाग-इयन्तु धर्मार्थमनित्यं जीवनं यतः"॥ इति ।
कुटुम्बाविरोधेन देयमित्युक्तं, तस्यापवादमाइ व्यासः,—
"कुटुम्बं पीड्यिवाऽपि ब्राह्मणाय महात्मने ।
दातयं भिचवे चान्नमात्मनोश्वतिमिक्कता"॥ इति ।
देय-विशेषेण फल-विशेषमाह मनुः,—

"वारि-द्खृतिमात्रोति सुखमचयमत्र-दः। तिख-प्रदः प्रजामिष्टां दीप-दश्चनुरूत्तमम्॥ भूमि-दोभूमिमात्रोति दीर्घमायुर्ष्रिष्य-दः। यह-दोऽग्याणि वेग्यानि रूप्य-दोरूप सुत्तमम्॥ वासेदश्चन्द्र-सालोक्यमश्च-सालोक्यमश्च-दः। श्वनसुद्-दः त्रियं तृष्टां गो-दो त्रश्वस्य पिष्टपम् ॥ यान-श्रया-प्रदोभार्यामेखर्यमभय-प्रदः। धान्य-दः श्वाश्चतं सौख्यं त्रह्म-दो त्रश्च श्वाश्चतम्॥ सर्वेषामेव दानामां त्रह्म-दो त्रश्च श्वाश्चतम्॥

^{*} रूप्य,-इति सु॰ पुक्तको पाठः।

[†] जुटां,-इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] पिंखवम्, — इति पाठान्तरम्।

⁽१) बुदुम्बस्ट्रेगावस्यभरकीया भव्यन्ते। ते च, "माता पिता गुरुनैता धनादीनाः समास्रिताः। चन्यागतेऽतिथिचैन पित्यनर्ग उदास्तः" —हति मन्नेशक्षाः।

अक्योत्तरे पाप-विशेष देय-विशेषोदर्शितः,—

"तथा द्रय-विधेषांस दद्यात् पाच-विधेषतः । मार्फानामन्न-दानस्य गो-दानस्य सुटुम्बिने ॥

तथा^(१)प्रतिष्ठा-दीनानां चेच-दानं विश्वियते।

सुवर्षं याजकामाञ्च[†] विद्यां चैवोर्क्स-रेतसाम् ॥ कन्यां चैवानपत्यानां ददतां गतिबन्तमा'' । इति ।

स्कान्देऽपि,—

"त्रामाख यामं हवितख पाम-मन्नं चुधार्मख मरेगनरेन्द्र ।

दशादिमानेन सुराङ्गनाभिः

घंद्रयमामं चिदिवं मयमि" ॥

चन्निराः,—

"देवतानां गुक्षाञ्च मातापित्रोक्षयेवच ।

पुर्णं^(१) देथं प्रयत्नेन नापुर्णं चोहितं[‡] कचित्^{गं}॥ इति। विष्णु-धर्मोत्तरे,—

"यस्त्रीपयोगि यद्धं देयं तसीव तद्भवेत्"। इति। द्यान-निमित्ताम्याद द्वातातपः,—

- गोदानं यञ्चने तथा,—इति सु॰ पृक्तके पाठः।
 - † याचकानास,—इति सु॰ पुराकी पाँठः।
 - ‡ चार्चितं,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।
- (१) प्रतिष्ठा चास्पदम्।
- (२) पुर्खं न्याया चित्रम्।

"श्रयगादी खदा देखं द्रष्यमिष्टं खरे हु धन्। धड़भीति-सुखे खेव विमोचे चन्द्र-सूर्ययोः ॥ संकान्ती यानि दत्तानि द्रय-कयानि दाष्टश्विः । तानि नित्यं ददात्यकः पुमर्क्जनानिजनानि" ॥ इति । खद्ध-विभिष्ठोऽयनादीन्दर्भयित,—

> "स्वग-कर्कट-संक्रामी है ह्रदग्-दिख्यायने। विषुवे च तुजा-मेषौ तयोर्भध्ये ततोऽपराः (१) ॥ स्वन-दिख्यक-कुम्भेषु सिंहे चैव घदा रिवः। एति दिष्णु-पदं नाम विषुवादिधकं फक्षम्॥ कन्यायां मिथुने मीने धनुष्यपि रवेर्गतिः। वङ्गीति-सुखाः प्रोक्ताः वङ्गीति-गृषाः फक्षैः"॥ दति।

विष्णु-धर्बी सरे,-

"वैषाखी कार्मिकी काची पूर्णिमा स महाकता। पौर्णमामीषु सर्वास मामर्च-यहितास च। दत्तानामिह दानानां फर्लं दय-गुणं भवेत्' दति।

मनु:,—

"सञ्च-गुणितं दामं भवेद्दत्तं युगादिषु । कर्मा आद्वादिकञ्चैव तथा मन्वन्तरादिषु"॥ इति ।

थाभवन्यः,—

⁽१) विष्ये,—इति प्रधमादिवचनानां पदम्। तयारयन-विष्यंयार्मध्ये, तताऽयनविष्यंतो, ऽपराः खन्याः संकान्तय इत्यर्थः। उत्तरस्रोकयाः स्वस्मेतत्।

"श्रतमिन्दु-चये दानं सइसस्तु दिन-चये। विषुवे श्रत-साइसं व्यतिपातेम्बनन्तकम्" ॥ इति । भारदाजः *,—

"व्यतिपाते वैधतौ । च^(१) दत्तमचय-सङ्गवेत्" इति । विष्णुः,—

> "दिन-चयो दिन-क्किद्रं पुच-जनादि चापरम्। श्रादित्यादि-यहाणाञ्च नचनैः सह सङ्गमः!॥ विज्ञेयः पुष्य-काले।ऽयं ज्यातिर्विद्धिर्विचार्यं च। तच दानादिकं कुर्यादातानः पुष्य-रुद्धये"॥ इति।

दिन-चय-खचणसुत्रं विश्विन,—

"एकस्मिन् सावने लिक्क तिथीनां चितयं यदा।

तदा दिन-चयः प्रोतः ग्रत-साइसिकं फलम्"॥

दिन-स्क्रिद्रस्य खचणं च्योतिःशास्त्रेऽभिहितम्,—

"तिष्युर्च-तिथि-यागर्च-केदादिः प्रशिपर्वणः 🛭 ।

```
* भरदाजः,—इति सु॰ पुक्तके पोदः।
```

्र तिष्यद्वे तिथियागचें च्हेदादीराभिपर्व्याः, — इति स॰ सो॰ भा॰ मुक्तकेषु पाठः।

[†] वैष्टते,—इति सु॰ पुक्तने पाठः।

[‡] दिनच्चये दिनच्छित्रे पुत्रजन्मादिनेषु च । चादित्यादियहासाच मच्चत्रेः सह सङ्गमे,—इति मु॰ पुत्तने पाठः ।

⁽१) व्यतिपातवेष्टता सप्तविंग्रतियागान्तर्गत यागविग्रेष्टी। "स्रवणाश्विधः निष्ठान्दैनगर्भते । यद्यमा रविवारेण व्यतिपातः स उच्चते"— इत्युक्ती वा व्यतिपाति।याद्यः ।

सदृशौ दिवेस-क्ट्रिट्र-समाख्याः प्राप्त भागवः ॥
केदादि-कालः कथितिसिथि-कृत्ये घटी-दयम् ।
नाग-विक्त-समापेतां तक्केदल-फर्लेर्युतम् ॥
प्रतीः षोड़श्रभः युक्तं नाडिका-दितयं युतौः।
केदादि-समयः प्रोक्तो दानेऽनन्त-फल-प्रदः"॥
दानस्य निषद्ध-कालमाहतः श्रह्ण-लिखितौ,—

"श्राहारं मैथुनं निद्रां सन्ध्या-कालेषु वर्क्जयेत्। कर्म चाध्यापनच्चैव तथा दान-प्रतिग्रही"॥ इति । स्कन्द-पुराणे,—

"रात्री दानं न कर्त्तवां कदाचिदिष केनचित् । इरिन्त राचसा यसात्तसाद्दातुर्भयावष्टम् । विश्वेषतोनिश्चीये तु न शुभं कर्यः श्रमणे ॥ श्रतोविवर्जयेत् प्राष्ट्रीदानादिषु महानिश्चाम्" । दति ।

तच प्रतिप्रस्वमाइ देवलः,—

"राज्ज-दर्भन-संक्रान्ति-याचाऽऽदी प्रस्तेषु च^{ना}। दानं नैमित्तिकं श्वेयं राचाविप तिद्यते"॥ इति। श्रव संक्रान्ति-प्रब्दोमकर-कर्कट-विषयः, स्वश्यन्तरे संक्रान्तिषु

^{*} तिचिल्ले घटीइयम्, -- इति नास्ति मु॰ पुस्तके ।

[†] भटनादिसङ्गमोपेतं, -- इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] युगे, — इति सु॰ पुष्तके पाठः।

^{§ &#}x27;इति' ग्रब्दो गास्ति स॰ से।॰ पुस्तकयोः।

ण विवाहात्वयरिद्धवृ,—इत्वन्यच पाठः । खत्वयामरयं, रुद्धिः पुष जनादिः,—इति तत्रार्थः ।

राचि-दानादि-निषेधं प्रक्रम्य "सुक्का मकर-कर्कटौ"—इतिपर्युदाषात्। मन्य-पुराणे दानस्य प्रयस्ता देशविशेषा निर्द्दिष्टाः,— "प्रयागादिषु तीर्षेषु पुष्णेस्वायतनेषु च।

दला चाचयमाप्नोति * नदी पुण्य-वनेषु च"॥ इति। तथा यासेनापि,—

> "गङ्गा-दारे प्रयागे च श्वितमुक्ते च पुष्करे। मकरे चादृहाचे च गङ्गा-सागर-सङ्गमे॥ कुरू-चेत्रे गया-तीर्थे तथाचामर-कण्टके। एवमादिषु तीर्थेषु दत्तमचयतामियात्"॥ ॥०॥ इति दानप्रकरणम्॥०॥

तदेवं चेतिकर्त्तवं दान-प्रकरणं निक्षितम्, श्रथ प्रतिग्रही-निक्ष्यते । तत्र श्रौतोविधिः पूर्वमुदाह्नतः ;—"द्रव्यमर्जयन् ब्राह्मणः प्रतिग्रह्मीयात्",—दति । तत्र, याजने थेयं चर्चा पूर्वमनुकाना, चैयं प्रतिग्रहेऽपि यथासभवमनुषन्धातव्या ।

ननु प्रतिग्रहा मनुना निन्दितः,—

"प्रतियद्दः प्रत्यवरः य तु विषयः गर्हितः"॥ हिति । मैवम्, श्रखानिन्दाया श्रमत्-प्रतिग्रद्द^ण विषयलात्। तचीपरितने वचने साष्टीकृतम्,—

[#] दत्त्वाचाच्चयमाप्रोति,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] नदी,—इत्यत्र, तदा,—इति स॰ सा॰ गुक्तकयोः पाठः।

[!] तच याजने पूर्वमनुकान्तायं, - इति मु॰ पुत्तके पाठः।

[§] सन्धातथाः, — इति मृ॰ पुश्तके पाठः।

ण खसाधुप्रतियन्त,—हति मु॰ पुक्तके पाठः।

"प्रतियक्षे गर्धितः स्थात् ग्रूट्राइय्यन्यजनामः" । इति । यः प्रतियक्षे नीचात् क्रियते, स गर्धित इत्यर्थः । सन्प्रतियहस्त तेनैवाभ्यनुज्ञातः,

"नाध्यापनात् याजनादाऽगर्षितादा प्रतिग्रहात् । दोषो भवति विप्राणां व्यखनार्क-समा हि ते[†]"॥ इति । श्रगर्षितादिति केदःः । श्रगर्षित-प्रतिग्रहाद्पप्रतिग्रहः श्रेयान् १ तथाच बाजनक्षः,—

"प्रतिग्रह-धमर्थै।ऽपि गादने थः प्रतिग्रहम्।

थे लोका दाल-ग्रीलामां स तानाप्तीति पुष्कलान्"॥ इति॥। मनु यमः प्रतिग्रहं प्रशंसति,—

"प्रतिप्रहाध्यापन-याजनानां प्रतियद्धं श्रेष्ठतमं वदन्ति । प्रतियद्धात्^{ता} प्रदुद्धाति जय्य-होमै-र्थाञ्यन्तु पापं न पुनन्ति^०* वेदाः" ॥इति । मनुस्त तद्विपर्ययमादः,—

''जप-हामैरपैत्येनो याजनाध्यापनै: कृतम्।

[🕸] प्रतियन्त्त् क्रियते स्त्रादप्यसम्मनः,—इति स॰ पुक्तके पाठः।

[†] क्वलनार्भसमोच्सिः, — इति स॰ पुक्तके पाठः।

[‡] सत्यतियहत्तु तेनेवाभ्यनुद्यातः,—विश्वद्धाः प्रतियह इति,— हत्वे-तावन् पाठा मु॰ पुत्तते ।

९ चगर्हितादपि प्रतियहादप्रतियहरूव स्वेयान,—इति मु॰ पुरुते पाठः।

^{॥ &#}x27;इति' ग्रब्दोनास्ति स॰ पुस्तके।

ण प्रतिग्रहः, — हति स॰ से। पुक्तकयाः पाठः।

[🕶] पुनन्तु,— इति सु॰ पुस्तके पाँठः।

प्रतिगर-निमित्तं तु त्यागेन तपमैवच" ॥ इति ।

नायं देाषः, दिजातिभ्यः प्रतियष्टः प्रश्वसः श्रूद्धात् प्रतियष्टो निन्दितः "- इतिव्यवस्थायाः सुवचलात् । ननु सत्प्रतिग्रहेऽपि कियानपि प्रत्यवायः प्रतीयते, "प्रतिग्रहात् प्रदुधित"—दत्युकैः । वाढ़ं, श्रस्येव वेद-पारगलादि-सामर्थ-रहितस्य प्रतिग्रहे प्रत्यवायः † ! एतदेवा-भिप्रेत्यं स्कान्दे वेद-पारगस्य प्रत्यवायो निवारितः,—

> "षड़क्न-वेद-विद्विप्रो थिद कुर्यात् प्रतिग्रहम्॥ न स पापेन लिप्येत पद्म-पत्रमिवासासा"॥ इति ।

एषएव न्यायो याजनाध्यापनथार्ये।जनीयः। **त्र्याञ्च-याजन**-**अतकाध्यापन-दुष्टप्रतिग्रहेस्वेनोबा**ङ्खं, खिसात्रीषद्धिकार-वैकस्पेन प्रवर्क्तमामस्य स्वस्यः प्रत्यवायः, सुख्याधिकारिणे। विश्वित-याजनादि-प्रख्तो न किञ्चिद्धेनः,--इति विवेकः। सद्सत्-प्रतिग्रहौ विवेचयित धाराः,---

"दिजातिभ्योधनं लिप्रेत् प्रमसेभ्या दिजोत्तमः। श्रिपवा जाति-मात्रेभ्या नतु श्रूद्रात् कथञ्चन"॥ इति । सतामसभावे सत्यसतोपि प्रयतियह खतु व्यांग्रतिमते अथनु जातः, —

"भीदं सेत्रं प्रतिस्टकीयाद् ब्राह्मणेभ्यसतो मृपात्।

[#] प्रतियहे देाषः, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[†] दोषः,—इति सु॰ पुक्तको पाँठः।

[‡] इत्विभिप्रेत्व,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[§] वेदाङ्ग पारगोविघो,—इति स॰ सा॰ पुस्तकयोः पाठः ।

[॥] वैवच्यमति,—इति स॰ से।॰ पुक्तकयाः पाठः।

प सदा भ,—इति सु॰ पुरुषे पाठः।

ततस्तु वैग्य-भूद्रेभ्यः मङ्खास्य वचनं यथा"॥ इति । भूद्र-प्रतिग्रेष्ठे विभेषमाद्याङ्गिराः,—

"यत्तु राश्रीकृतं धान्यं खले चेत्रे तथा भवेत्*।
शूद्रादिप यद्दीतव्यमित्याङ्गिरम-भाषणम्"॥ इति।
तत्त्रेव विश्रेषाम्तरमाष्ठ्र व्यामः,—

"कुटुम्बार्धे तु सत्-श्रूद्रात् प्रतिग्राह्ममयाचितम् । क्रांबर्धमात्मने चैत्र न दि याचेत कर्षिचित्"॥ इति। मनुरपि,—

"न यज्ञार्थं । धनं जूदात् विप्रोः भिनेत धर्मवित् । यजमाने।ऽपि भिन्निता चाषडानः प्रेत्य जायते"॥ इति । स्मत्-प्रतिगदोचितोऽवस्था-विज्ञेषः स्कन्द-पुराणे दर्जितः,—
"दुर्भिने दारूणे प्राप्ते कुटुम्बे मीदित चुधा ।
स्मतः प्रतिग्रह्णीयात् प्रतिग्रहमतिन्तितः"॥ इति ।
याज्ञवस्कोऽपि,—

"म्रापद्गतः संप्रग्टह्नन् भुद्धाने।वाण यतस्ततः।
न सिप्येतैनसा विप्रो ज्वलनार्क-सम-प्रभः"॥ इति।
मन्रपि,—

इति चोत्रेचवा भवेत्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] यागार्थं,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] दिजो,--इति सं॰ पृस्तके पाठः।

[🛇] चाहासः,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

[¶] भुञ्जानोषि,—इति स॰ सेा॰ पुस्तक्ये ल्याठः।

"रुद्धौ च मानापितरौ माध्वी भार्था सुनः शिग्रः। श्रय्यकार्थ-श्रतं कला भर्नथा मनुरत्रशैत्॥ जीवितात्यपमापन्ने। योऽन्नमित्त यतस्तः। श्राकाशमिव पद्धेन न स पापेन लिप्यते"॥ इति। शाक्र-पुराणे प्रतिग्राह्मस्य द्रव्यस्थेयना दर्शिता,— "यावता पश्च-यज्ञानां कर्तु निर्वेष्ठणं भवेत्*। तावदेव हि गरहीयात् सुरुम्बस्थात्मनस्त्रथा"॥ इति। व्यासोऽपि.—

"प्रतिग्रह-रूचिर्नस्थात् [‡] यात्रार्थन्तु^{२(९)} ममाचरेत् । स्थित्यर्थाद्धिकं ग्रह्णन् ब्राह्मणायायधोगतिम् ॥ ^(९)वित्ति-सङ्कोचमित्रच्छेत्रेहेत धन विम्हरम् । धन-लाभे प्रवत्तस्तु ब्राह्मण्यादेव हीयते"॥ इति । श्रनापदि राज-प्रतिग्रहं निन्दिति याज्ञवल्क्यः,—

"न राज्ञः प्रतिग्रङ्घीयात् लुब्धम्येष्कास्त्र-वर्त्तिनः । प्रतिग्रहे स्त्रनि-चित्र-ध्वजि-वेष्या-नराधिषाः (२) ।

[#] करणं नियतं भवेत्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः ।
† तावद्ग्राद्धं सदैव स्थात्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः ।
‡ प्रतिग्रहायारुचिः स्थात्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः ।
\$ यज्ञार्थन्तु,—इति स॰ सा॰ पुक्तकयोः पाठः ।

⁽१) याचा जीवनापायः।

⁽२) वृत्तिजीवनं ।

⁽२) सनी प्राणिघातकः। चन्नी तैलिकः। ध्वनी मद्यविकेताः

```
१वा॰ वा॰ वा॰।]
                      पराध्रहमाधवः।
```

दुष्टा दग्राणं पूर्वात् पूर्वादेते यथोत्तरम्"। इति । संदर्भः,-

"राज-प्रतिग्रहोघोरोमध्वाखादो विषोपमः। पुच-मांसं वरं ओम्बं नतु राज-प्रतिग्रहम्" ॥ इति ।

"मर-देशे निरुदके ब्रह्म-रचस्वमागतः।

खान्हे,-

राज-प्रतिप्रसात्पृष्टः पुनर्जना न विन्दति ॥ ब्राह्मायं यः परित्यच्य द्रव्य-सोभेन मोश्वितः। विषयामिष-लुअसु^(९) कुर्याद्राज-प्रतिग्रहम् ॥

रौरवे नरके घोरे नस्थैव पतनं ध्रुवस्। वृचा दवाग्निना दम्धाः प्रराष्ट्रन्ति धनागमे ॥

राज-प्रतिग्रहाद्यधा न प्ररेडिन्स कर्डिचित्"। इति । विष्णु-धर्की सरे,-

"द्य-स्नि-समस्को दय-चिक्र-समे।ध्वजी।

द्ग-ध्वजि-समा वेखा द्ग-वेखा-समानृप:॥

दम सना-सहसाणि योवाह्यति सीनिकः(९)।

तेन तुःखः स्रते। राजा घे। रस्तसात् प्रतिग्रहः "। इति । श्रधार्मिक-राज-विषयेयं निन्दा। तथा च तनैव विशेषितम्,—

- * खद्याद्शरायां,—इति सु॰ पुक्त के पाठः । † गरकेरौरवेघोरे,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।
- (१) विषयरूपं यदाभिषं बीभ्यवस्तु, तत्र मुख्यः। (१) स्मा प्राखिवधस्त्रामं। तत्र नियक्तः पुरुषः सीनिकः।

"येषां न विषये विप्राः यद्वीर्यश्च-पतिं हरिम् ।

यजन्ते अभुजां तेषामेतत् स्रने।दितं फलम् ।

येषां पाषण्ड-मङ्कीणं राष्ट्रं न ब्राह्मणोत्कटम् ॥

एते स्ना-महस्ताणां दशानां भागिने।नृपाः।

येषां न यश्च-पुरुषः कारणं पुरुषोत्तमः ॥

ते तु पाप-ममाचाराः स्ना-पापोपभागिनः" ।

प्रदृष्टान्तु राशः प्रतियहो न निन्दितः। श्रतण्व सन्दोग-शासायां

स्वीन-शासादीत्महासुनीन् राज-प्रतियहे प्रवर्त्तयितुमश्चपति-नाम-

हेन राज्ञा दोषाभाव उपन्यसः,—

"न में स्तेनोजन-पदे न कदर्थों न मद्यपः।

नामाद्दिताग्नि नीविदान्न स्तिरी स्तिरिणी^(१) तथा" थे॥ इति।

याज्ञवस्त्र-वचनेपि राज-प्रतिग्रह-निन्दायां "सुश्रस्तो स्क्रास्त्र-वर्त्तिनः"—इति विभेषणाद्दुष्ट-राज-प्रतिग्रहो न निन्दितः,—इति

गम्यते । तथा नारदेाऽपि,—

()

^{*} भूष्टतां,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।
† ब्राह्मग्रास्पदम्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।
‡ स्त्र नापापान्तिसृताः,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।
§ कुतः,—इति स॰ से।॰ पुक्तकयोः पाठः।

९ राजप्रतिग्रहनिन्दाविग्रेषिता,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

कद्यः, -- ''खातानं धर्मात्यस्य पुत्रदारां स्व पीड्यन्। योक्ताभात् सिस्रिनेत्यर्थान् स कद्यं इति स्मृतः" इत्युक्तकच्याः। सिरी खच्छन्द-यवस्रारी। सिरिणी, — ''सिरिणी या पतिं सिता कामते। उन्यं समा-श्रयेत्"— इत्युक्तकच्या।

"श्रेयान् प्रतियद्दो राज्ञां मान्येषां ब्राह्मणाहृते । ब्राह्मणस्वेत राजा च दावणेतौ धत-त्रतौ ॥ नैतयोरन्तरं किञ्चित् प्रजा-धर्माभिरचणे" । प्रजीनामग्रजीनाञ्च यन्त्रिवेशो । यथाभ्रमाम् ॥ समुद्रे समतां यान्ति तदद्राञ्चां (१) धनागमः ।

यथाऽग्री मंस्थितश्चैव ग्रुद्धिमायाति काञ्चनम्॥

एवं धनागमाः सर्वे ग्रुद्धिमायान्ति राजनि"। इति । दुष्ट-प्रतिग्रहवत् म् सत्प्रतिग्रहस्थापि श्रीपदिषयता कुते। कस्थते,—इति चेत् । न,ण ब्रह्माण्ड-पुराणे सत्प्रतिग्रहस्थानापस्

विहितलात्। "श्रनापद्यपि धर्मीण याञ्चतः शिखतस्त्रचा।

ग्टइन् प्रतिग्रहं विष्रो न धर्मात् परिचीयते ॥

ग्रह्मीयाद् ब्राह्मणादेव नित्यमाचार्-वर्त्तनः।

श्रद्धया विमलं दत्तं तथा धर्मात्र हीयते"—इति । केषु चिदसु-विशेषेषु श्रयाचितेषु न प्रतिग्रह-दोषः,—इत

* प्रजाधर्म्माभिरच्त्रणम्,—इति सु॰ पुद्धको पाठः ।

भरद्वाजः,---

† सन्निपातो,—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

‡ दुष्पृतियद्ववत्,—इति स॰ से।॰ ग्रा॰ पुत्तवेशु पाठः।

अपि प्रब्दोनास्ति मु॰ पुस्तके।

¶ तज्ञ,—इति स॰ चेा॰ पुक्तकयोः पाठः।

(१) राजामिति ग्रैविकी ब्रस्टी।

"त्रयाचितेषपन्नेषु नास्ति देषः प्रतिग्रहे । श्रम्हतं तिहिदु * देवास्तस्मात्तन्नेव निर्णुदेत्"॥ इति । मजदाराभिप्रेतान् वस्तु-विशेषान्तिर्दिश्वति याज्ञवस्क्यः,— "कुश्राः श्राकं पया मत्या गन्धाः पुष्पं दिध चितिः । मांगं श्रयाऽऽसनं धानाः † प्रत्याख्येयं न वारि च॥ श्रयाचिताहृतं याह्यमपि दुष्कृत-कर्मणः ।

श्रनात्र कुलटा-वण्ड-पतितेभ्यस्त्रथा दिषः"॥ इति ।

नुर्पि,— "श्रयां कुशान् ग्टहान् गन्धानपः पुष्पं मणिं दिधि ।

> मत्यान् धानाः पथामां धं धानं चैव न निर्णुदेत् ॥ एधोदनं मूल-फलं श्रत्रमभ्युचतञ्च चत् ।

> श्रमतः प्रतिग्रहीयानाधु चाभय-दिचणाम्"—इति ।

तग्रहानधिकारिणं सएवाहः,—

"हिर्णं भूमिमयं गामनं वामस्तिनान् घृतम्।

श्रविद्वान् प्रतिग्टह्वाने। भस्तीभवति काष्टवत्''—इति । ज्ञवल्क्योऽपि,—

"विद्या-तपोभ्यां हीनेन नतु ग्राह्यः प्रतिग्रहः।

ग्रह्मन् प्रदातारमधा नयत्यात्मानमेव च"॥ इति ।

विदुषस्त न कोऽपि प्रतिग्रहोदोषावह इति वाजसनेथि-ब्राह्मणे

^{*} तं विदु,—इति मु॰ पुस्तके पाठः । † धान्यं,—इति मु॰ पुस्तके पाठः ।

गायनी-विद्यायां श्रूयते,—''यदि हवा श्रायेवं विद्वान् दिजः" प्रतिम्ध्यया पकं पदं प्रतिमन्धाय दमां स्तीन् लेकिन् पूर्णान् प्रतिग्रहीयात् योऽस्था एतस्प्रथमं पदमाप्त्रयादय यावनीयन्त्र- योविद्याय तावत् प्रतिग्रहीयात् योऽस्था एतद्वितीयं पदमाप्त्रयादय यावदिदं प्राणियुस्तावत् प्रतिग्रहीयात् योऽस्था एतत् वतीयं पदमाप्त्रयादयास्था एतदेव तुरीयं दर्भितं पदं परे।रजे। एतत् वतीयं पदमाप्त्रयादयास्था एतदेव तुरीयं दर्भितं पदं परे।रजे। यह तपित नेव केन जाणं सुत एतावत् प्रग्रहीयात् ।

॥०॥ इति प्रतिग्रहप्रकरणम् ॥०॥

एवं निरूपितानामधापनादीनां प्रतिग्रहान्तानां ग्रव्हान्तराधिकरण-न्यायेन (मी॰ २ प्र॰ २ पा॰ २ प्र॰) कर्म-भेदमिभिप्रेश्य
'घट्कर्माभिरतः'—इत्युक्तम्। स च न्याय ईत्यं प्रवर्त्तते। यज्ञति
ददाति जुहोतीत्युदाहरणम्। तच संग्रयः, किं सर्व्व-धात्वर्धानुरक्तिकाः
भावना(१) जत प्रतिधात्वर्धं नाना । तच, भावना-वाचकस्यास्थातस्यैकताद्विन्नानामपि धात्वर्थानासुपर्धजनतेन प्रधान-भेदकतासमावाचिकतेव भावनेति पूर्वपचः। धात्वर्थानुरुच्चनमन्तरेण केवलास्थातेन
भावनाया प्रप्रतीतेः जत्यन्ति-शिष्ट-धात्वर्थनैकेनानुरक्ते त्रास्थातार्थं

खिप किञ्च,—इति स॰ से।॰ पुक्तकयेाः पाठः ।

[†] महैव,-इति स॰ से।॰ ग्रा॰ पुस्तकेष पाठः।

[‡] ष्यथास्या इत्यारभ्य प्रायक्षीयात्, — इत्यतः पाठोनास्ति • स ॰ से। ॰ प्रा॰ पुक्तमेषु ।

[§] भिन्ना,—इति मृ॰ पुक्तके पाठः ।

⁽१) भावना खाखातार्थः। स च प्रथलो व्यापारा वा।

धात्वर्थांतराणामननुप्रवेषात् प्रतिधात्वर्धं भावना-भेदः,—इति िष-द्धान्तः। एवं चाध्यापनादिभिः षड्भिधात्वर्धः षोढ़ा भावना भिद्यते,— इति भवन्येतानि षट् कर्षाणि । तेषु 'ग्रभिरतिः' श्रद्धा-पूर्वकमनु-ष्टानम् । श्रश्रद्धानुनाऽनुष्टितमण्फलं स्थात् । तदान्द भगवान्,—

"श्रश्रद्धया इतं दत्तं तपस्ततं कृतञ्च यत्।

श्रमदित्युच्यते पार्थ, न च तत् प्रेत्य ने। इन् ॥ इति।

'नित्यम्'— दत्युत्तरचान्वित न पूर्व्वच, श्रध्यापनादीनां चयाणामनित्यन्तात्। देवता च श्रतिथिश्च देवतातिथी, तथाः प्रतिदिनं
पूजकोभवेत्। देवता-खरूपञ्च वाजसनेथि-ब्राह्मणे, श्राकल्य-याश्चवल्क्य-संवादे विचार्य निर्णीतम्। तच, श्राकल्यः प्रष्टा, याज्ञवल्क्योवका,
देवता-विल्तार-सञ्चेपा खरूपञ्च प्रव्योऽर्थः। तच चैषा श्रुतिः।
"श्रथ हैनं विद्रश्चः श्राकल्यः पप्रव्यः; कति देवता याज्ञवल्क्योति।
स हैतयेव निविदा प्रतिपेदे; यावन्तो बैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते,
चयश्च चीच ग्रता चयश्च चीच सहस्रेति। श्रोमिति होवाच; कत्येव देवा
याज्ञवल्क्येति, चयन्तिं श्रोमिति होवाच; कत्येव देवा
याज्ञवल्क्येति, प्रशिमिति होवाच; कत्येव देवा
याज्ञवल्क्येति, प्रशिमिति होवाच; कत्येव देवा
वाज्ञवल्क्येति, चयह्ति। श्रोमिति होवाच; कत्येव देवा
वाज्ञवल्क्येति, चयह्ति। श्रोमिति होवाच; कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति,
दाविति। श्रोमिति होवाच; कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यः इति।
श्रोमिति होवाच; कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यः इति।

विकारसंचीपी च,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

होताच ; महिमानएवैषामेते चयस चिंत्रत्येव देवा इति । कतमे ते चयक्तिंगदित्यष्टीवसव एकादगर्द्रा दादगादित्या स्तएक-चिंगदिन्द्रश्चैव प्रजापितस चयत्रिंगा इति। कतमे ते वसव इति. श्रीयस पृथिवीच वायुशान्तरीवं चादित्यस सीस चन्द्रमास नवचाणि चैते वसव एतेषु हीदं भन्नें वसु निहितसेते हीदं भन्नें वासयन्त तसादभव इति। कतमे ते रहा इति, दम वै पुरुषे प्राणा त्रात्मैकादमस्ते चदाऽसा-च्छरीरादुक्तामन्यथरादयन्ति । यसाद्रोदयन्ति । तसाद्रुद्रा दति । कतमत्रादित्या इति,दाद्य एव मासाः १ संवत्सरखैतत्रादित्याएते हीदं षर्वमाददानायन्ति तद्यदिदं पर्वमाददानायान्ति॥ तसादादित्या इति । कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति, सनियव्यु परेवेन्द्रे यश्चः प्रजापतिरिति । कतमस्तनयिनुरित्यशनिरिति । कतमायज्ञद्रति,पश्रव इति। कतमे षड़ित्यग्रिश्र प्रथिवी प वायुश्चान्तरीचं चादित्यश्च चै। सैते षड़ेते * हीदं सर्वे षड़िति । कतमे ते † चया देवा इति इसे एव चयोलोका एषु चीमे सर्वे देवा इति। कतमी ती दी देवा-वित्यन्नं चैव प्राणस्थित। कतमाध्यद्भं इति योयं पवत इति

^{*} भयस्त्रिंश्रत्येव,-शति स॰ सा॰ पुरूक्योः पाठः।

[†] ते यदसाष्ट्रीरान्मवी उत्कामन्ति,—इत्यादि पाठः मु॰ पुत्तवे।

[!] यद्रोदयन्ति, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

ऽ द्वादद्यमासाः,—इति स॰ सेा॰ पुक्तकयोः पाठः ।

[॥] तद्यदिदं सर्वभाददानायान्ति,—इति नास्ति सु॰ पुसाबे।

[&]quot; १ स्तमयहा,—इति सुर्वे पुक्तके पाठः। एव परत्र।

^{**} बिक्सिते,—इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाटः।

^{††} ते इति गास्ति सु • पुरुषे।

थदाङ र्यदयमेक एव पवते स कथमध्यर्द्ध इति। यदसिन्निदं सर्वेमधात्तेनाध्यई दति। कतम एकादेव दति, प्राण दति स बही-स्याचचते"—इति । श्रस्थाः श्रुतेरयमर्थः । उपायनार्र्शाणां देवानां मञ्जादि-विकारे पृष्टः [†] माकख्येन याज्ञवस्क्योविजीषु-कथायां^(१)प्रवत्त-सात् पर-बुद्धि-व्यामोद्दाय निविदा प्रत्युत्तरं प्रतिपेदे । निविच्छब्दो वैश्वदेव-नामके^(२) श्रस्त-विश्वेषेऽविख्यितानां ! सङ्घा-वाचिनां पदानां ससुदायमाच्छे,-इति वैदिक-प्रसिद्धिः। तते। यावन्ते। देवा वैश्व-देवस्य निविद्युच्यन्ते, तावन्त उपास्थाः,—दत्युक्तं भवति । तानि च पदानि, जयस जीचेत्यादीनि?। मत-चयं महस्र-चयं षट्कञ्च देव-विस्तारः। कत्येवेत्येवकारेण तच तच देवान्तर-प्रद्वा युदखते। यएव देवाः पूर्वे विस्तृताः, तएव संचेषेण कियन्त इति तत्र तत्र ॥ प्रश्नार्थः। कर्तीति सङ्घा-प्रश्नः, करमे त इति खरूप-विशेष-प्रश्नः। तच श्रत-यच्चमञ्चा^न ये देवा उक्ता की मर्जे प्रधानभ्रता न भवन्ति, किनार्डि, प्राधान्येन इतिर्भुजां त्रयस्तिंग्रहेवानां योग-महिमा खीरुतै च्छिक ** विग्रहाएव, ततो न तेवां खद्धप-विश्वेषः पृथक् निरूपणीयः इति !! ।

[#] यदयमेकार ह,-- इति मु॰ पुन्तके पाठः।

[†] संख्याविसारेग कतीति एको, — इति स॰ श्रेर पुस्तकयाः पाठः।

[‡] स्थितानां,—इति मु॰ पुक्तको पाठः।

[§] श्रवस्य शिप्रदिखेवमादीनि,—इति मृ॰ पुस्तके पाठः।

[॥] तत्रत्यः — इति मु॰ पुक्तवो पाठः।

ण ग्रतंस इस्त संख्या, — इति स॰ स्वा॰ पृन्तकयाः पाठः।
** स्वीकृत भातिक, इति स॰ सा॰ ग्रा॰ पृन्तकेषु पाठः।

^{†† &#}x27;इति' ग्रब्दो नास्ति स॰ सा॰ प्स्तकयाः।

⁽१) विजिगीषु कथा जल्पः वितर्छान्तु। तिस्रः किल कथा भवन्ति बादे। जस्पो वितरहा च। सर्व्वमिदं न्याये प्रथमदितीये स्पष्टम।

चप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तिः शस्त्रम्। **(**₹)

षयक्तिंग्रहेतेषु श्रुतावखादयः पुराण-प्रसिद्धेभ्या वखादिभ्योऽत्ये^(१), तेषु श्रद्ध-प्रदित्तिर्थे।गिकी^(१)। प्राणा वाह्येन्द्रियाणि, श्रात्माऽन्तःकरणम्। धन्द्रप्रजापित-प्रन्दौ लवणया खनिथित्नु-यद्ययोवित्तेते, लचितलचणया स्वर्णि-पश्चाः^(१)। श्रद्ध-प्राणीः भोग्य-भाक्षाभमानिनौ^{†(४)}। श्रध्यर्द्ध-प्रन्दी खळ्या सङ्घावाची,योगेन तु सम्दृद्धं वायुं विक्ति। वायुः स्वात्मां(१), "वायुर्वे गौतम, स्वम्"-इति श्रुतेः। श्रन्ते प्राणप्रन्दः परमात्मवाचकः। तदेव स्वष्टियतुं स ब्रह्मोत्युक्तम्। तत्-प्रन्दः परोच-

खारं प्राची,—इति सु॰ पुक्तके पाठः ।

[†] भोः क्राभिमानिना, - इति स॰ से । प्राः पुक्तने घुपाठः ।

⁽१) वलादीत्यादिशब्दात् बदादित्यपरिग्रसः। खन्यत्यसाचत्यवलादीनां, खन्नगदीनां तथात्वाभिधानात् स्पष्टम्। पुराणप्रसिद्धास्ववलादयानाग्राग्नगदिरूपाः। तेषां खरूपमादित्यपुराणे प्रोक्तम्,—"प्रसन्नवदनाः
सीन्यावरदाः शक्तिपाणयः। पद्मासनस्यादिभुजावसवीस्टीप्रकीर्त्तिताः।
करे चिश्विनिवामे दिल्ला चाल्यमालिनः। स्कादशप्रवर्त्तव्या सदास्थलेग्दुमीलयः। पद्मासनस्यादिभुजाः पद्मग्रभाष्ट्रकाल्तयः। करादिः
खान्यपर्यन्तं नालपञ्चाधारिषः॥ इन्द्राद्यादादशादित्यास्तेजामग्रक्षसध्यणाः"—इति।

⁽२) रतेषु हीदंसर्थं वसुनिहितं — इत्यादि श्रुखुत्तयागप्रयोज्येत्रर्थः ।

⁽३) प्रथमिन्द्रशब्दस्य तत्संबिनिस्तनिया — मेवे बद्या, तता भेवे-बद्यितस्त्रेद्धस्य मेधसंबिन्धश्रनी बद्या इति बद्यित्वस्यायम्। बस्तुतस्तु यत्र श्रव्यार्थस्य परस्परासंबन्धेनबद्या, तत्रैव बद्यितबद्य-योचिते। प्रकृतेचेन्द्रशब्दस्य तत्संबिन्धसंबिन्धिन स्वश्रनी बद्यासेति बद्यितबद्या। स्वं प्रजापितश्रब्देपि दस्त्रस्य ।

⁽⁸⁾ खन्नग्रब्दोभाग्याभिमानिनीं देवतामाचर्छ, प्रायग्रब्दच भाक्ताभिमानि-नीमिति विवेतः।

⁽५) स्थाता हिरकार्भः।

वाची, श्रष्टत-ब्रह्म-विचारं पृष्षं प्रति ब्रह्मणः श्रास्त्रैक-समधिगस-लात् परे। चम्,—द्रति । तच, प्राण-श्रब्द-वाच्यः परमात्रविका-सुख्योदेवः। तत्-खरूपञ्च श्वेताश्वतरा विस्पष्टमामनन्ति,—

''एकेादेव: सर्व-भृतेषु गूड़:

सर्द्वापी सर्वभ्रतान्तरात्मा ।

कर्माध्यचः सर्वेभ्रताधिवासः

याचीचेता[‡] केवलोनिर्गुण्यु" ॥ इति ।

एतमेव देवं शास्त्र-कुश्रलास्तैःसीः शब्द-विशेषविज्ञधा व्यवदरिना। तथा च मन्त्र-वर्णः्ं े—

"सुवर्णं विप्राः कवयोवचे।भि—

रेकं मन्तं बड़धा कल्पयन्ति"—इति ।

तेष प्रव्द-विश्वेषा विसाष्टमन्यसिमान्त्रे सूयन्ते,—

'इन्द्रमित्रं वरूणमग्निमाज्ञ

रथोदियः स सुपर्णागस्तान्।

एकं सदिप्रावद्धधावद-

न्यग्निं यमं मातरिश्वानमाजः"—इति।

नन्, दन्द्र-मित्र-वर्षादयः ग्रब्दा भित्रदेव-वाविना नलेकं देवमभिद्धति, श्रन्यया वार्षण्यागे ऐन्द्रीमन्तः प्रयुच्धेत। नायं देावः, एकलेऽपि देवस्य मून्ति-भेदेन मन्त्र-व्यवस्थापपत्तेः।

^{*} वेत्ता,—इति स॰ सेा॰ पुस्तकयाः पाठः।

[†] सन्तः — इति सु ॰ पुक्तके पाठः।

[‡] वदवयारेषु,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

यथा, ग्रैवागमेषु ग्रिवस्थैकलेऽपि प्रतिमा-भेदेन दिखणामूर्त्ति-चिन्ता मणि-मृत्युञ्जयादचेामन्त्रामूर्त्ति-विशेषेषु व्यवस्थिताः ; वैष्णवागसेषु गोपाल-वामनादयामन्त्राः, तथा वेदेऽपि [†] किं न खात्। ननु, द्रवा-देवते यागस्य खरूपं, खरूप-भेदाच कर्मा-भेदः प्रतिपादितः,—"तन्ने पयि दधानयति सा वैश्वदेवामिचा, वाजिभ्यो वाजिनम्"--दत्यच ; यथाऽऽभिन्ता-वाजिनयोर्द्रव्ययोर्भेदस्तथा वि-श्रेषां देवानां वाजिभ्योदेवेभ्यो भेदेाऽभ्युपगन्तव्यः,—इति । वाढं, त्रभ्यपगम्यते ह्येकस्थैव वासवस्य देवस्य कर्मानुष्ठान-द्रशायामौपा-धिकोभेदः। श्रतएव, वाजमनेयि-ब्राह्मणे दृष्टि-प्रकरणे कमीनुष्ठात्व? प्रसिद्धं देव-भेदमनूद्य तदपवादेन । वास्तवं देवैकलमवधारितम्,— "तद्यदिदमाज्ञरसुं यजेतासुं यजेतेत्येकं देवसेत्रखैव सा विस्वृष्टिरेष उ ह्येव^न सर्वे देवा:,-- इति । न चैकसाहेवात् फल-भेदोदुः सम्पादः,-इति ग्रङ्कनीयम्, उपास्ति-प्रकार-भेदेन तदुपपत्तेः। "तं यथा यथोपासते, तदेव भवति"-इति श्रुते:। यथैकाऽपि राजा व्यच-चामरादि-चेवा-प्रकार-भेदेन फल-भेदे हेतु सदत्। ननु, देवः फलं ददातीत्येतन्त्रीमां भक्ते । तथा हि नवमाध्याये विचारितम्,— किं यागेनाराधिताया देवतायाः फलं, उतापूर्व-दारकं यागस्य

^{*} प्रतिमाप्रासादभेदेग-इति मृ॰ पुक्तके पाठः ।

[†] देवेपि,-इति स॰ सा॰ पृक्तकयाः पाठः।

^{‡ &#}x27;इति' ग्रब्दो नास्ति सु॰ पुस्तने।

[§] कम्मानुष्ठान,—इति मु॰ पुक्तके पाठः ।

[॥] तदनुवादेन,--- इति स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः ।

श रवद्योग,—इति सु॰ पुक्तको पाठः ।

फल-साधन ति संधयः । तत्र * भङ्गुरस्य यागस्य कालान्तर-भावि-फलं प्रति साधनलायोगादवद्यं दारं (१) किञ्चित् कन्यनीयम् । देवता-प्रसाद्य श्रुति-युक्तिभ्यसद्वारं स्थात् । "त्वष्ठपविनिधन्दः प्रजया पद्मुभिर्स्वपंथित" – द्वति श्रुतिः । युक्तिरप्युच्यते, —िक्तियया प्राप्नुमिष्ट-तमलात् । कर्म्म कारकं प्रधानं, तेन कर्म्मणा व्याप्तलात् सम्प्रदानं तते।ऽपि प्रधानं, दन्द्रादि-देवताः १ च सम्प्रदानलेन प्रधान्यात् पूजामर्चन्ति, यागस्य पूजाक्रपलादितयेभें जिनिमव । देवताया श्रृष्टं स्थात् । तसाद्राजादिवदेवः फलं ददातीति पूर्वः पचः । श्रृत्रोच्यते । यागदेवतयोधीऽयमङ्गाङ्गिभाव उपन्यस्तः, स तु ग्रन्दाकाङ्गानुसारेण विपर्यति । तथा हि, यजेतेत्यास्थातेन(१) भावनाऽभिधीयते । सा च, किं केन कथिकित भाव्य-करणेतिकर्त्तव्यता-लचणमंग्र-चयं क्रमेणाकाङ्गिति । तच, यागस्य समान-पदोपनीतलेऽप्ययोग्यलाच भाव्यता स्थात् । तस्य च स्वर्गस्य साधनाकाङ्गाद्यां यागः करण-

चात्र,—इति स॰ सा० ग्रा॰ पुक्तकेषु पाठः ।

[†] दारं स्थात्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] कर्त्तुः क्रियया चाप्तुमिखतमलात्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

स॰ से।॰ प्रा॰ पुक्तकेषु एकवचन(न्तःपाठः । एवं परच ।

[॥] यागस्य पूजारूपत्वादितियभ्योभोजनिमव,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[¶] वाक्वायुपनीतस्थापि,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

⁽१) दारं क्लकालस्थायी व्यापारः।

⁽२) भाषना च भावियतुर्खापारः प्रयक्षी वा ।

त्वेनान्वेति । तच कर्णं साध-खक्ष्यतात् ख-निष्पादकं सिद्धं †
द्रव्यदेवतिमितिकर्त्तव्यतेन ‡ ग्रह्माति,—इति १ । तते । यागोऽङ्गी,
देवता च तदङ्गम् । एवच्च सित, नातिथिवद्देवता यागेनाराध्यते ।
यातु श्रुतिः,—"त्रप्रवेनम्"—इति, नाषौ खार्थे तात्पर्यवती,
प्रत्यचादि-विरोधात् (१) । न दि. काचिदिग्द-वती देवता द्रविभुक्षा
त्वप्ता फलं प्रयच्क्वतीति प्रत्यचेणोपसम्यते, प्रत्युत तद्यावः प्रत्यचेष्य
योग्यानुपस्त्या वा (१) प्रमीयते । किं च, श्रश्वमेधे "गां दंद्रास्यां मण्डूकान् दन्तेः ॥" दत्याद्यवयवानां दंद्रादि-द्रव्याणां दिवषां भोकृत्वेन गो मण्डूकादय-स्त्रिर्थञ्चोऽपि देवता-विश्वेषाः श्रूयन्ते ।
न च तेषां फल-प्रदाद्यलं स्मायते । "श्रोषधीभ्यः खादा,
वनस्पतिभ्यः खाद्दा, मूलेभ्यः खाद्दा"—इत्यादावचेतनानामोषधिवनस्पतिन्तद्वयवानां देवतालं श्रूयते । तच, खुतेदिवभीकृतं, क्षत

साध्यरूपलात्,—इति स॰ स्रो॰ पुस्तक्योः पाठः ।

[†] सिद्धं,-इति नास्ति भु॰ पुस्तके।

[‡] प्रयं देवतामितिकर्त्त्वालेन, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

^{) &#}x27;इति' भ्रब्दो नास्ति मु॰ पुस्तको ।

सैंगां दं छाभ्यां मख्रूकान् जंभ्ये िसः, ─र्रात सु॰ पुक्तके पाठः ।
 स्रोतां दं छाभ्यां मख्रूकान् जंभ्ये िसः, ─र्रात सु॰ पुक्तके पाठः ।

ण सैगामखूकादय,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

^{** &#}x27;खपि' प्रब्दी नांक्ति स॰ से । प्रा॰ पुक्तकेषु ।

^{††} पालदाह्रत्यं,--इति स॰ सेा॰ पुक्तकयाः पाठः।

⁽१) प्रत्य दानुनम्भवाधितेऽर्थे श्रुतेः प्रामाण्याभावादितिभावः । स्पर्किनद-मात्मतत्त्विवेते ।

⁽२) प्रत्यचेयेति न्यायमते । प्रत्यचेयोवाभावाग्रद्धते योग्यानुषिससु तच सङ्कारिमाचमिति तत्सिद्धान्तात् । योग्यानुषच्धेरित मीमांसकमते । तच्मते भावग्राधिकाया खनुपषच्धेः प्रमायान्तरत्वात् ।

स्तरां ति ति , क्षतस्तमां फल-दानम्। तसादियदादिमतां देवाना म-भावान देवता-प्रसादा यागस्य फल-दारम्। किन्तु, श्रूयमाण-फालसाधनलान्यथानुपपत्ति-क स्प्रामपूर्वे तद्वारम् । श्रभ्यपगते स्वपि देवेळपूर्वखेव फल-दारलमवद्यं वक्तव्यं, मन्त्रार्थवादेतिचाम-पुरा-णेषु देवानामपि तपञ्चरण-क्रतनुष्ठान-ब्रह्मास्त्रादि-मन्त्र-प्रयोगेभ्यः समीचित-पिद्यनुकी र्त्तनात् । तसात्र देवः फल-प्रदः - इति सिद्धम्। (१) श्रौपनिषदास्वीश्वरस्य फल-दाव्वं मन्यन्ते। तथा हि, तदीये शा ह्वे (१) हतीयाधाये विचारितम्। किंधर्मः फलं ददातिः त्राहोस्विदीश्वरः,— इति संग्रयः। तच, मीमांसकोक्त-न्यायेन धर्माः फल-प्रदः,--इति पूर्वः पचः। सिद्धान्तस्त, किं धर्मीऽन्यानधिष्ठितएव फल-प्रदः, किं वा, केनचिचेतनेनाधिष्ठित: ? नादाः, श्रचेतनस्य तार्तन्यानभिज्ञस्य यथोचित-फल-दाव्वायोगात्। दितीये तु, येनाधिष्ठितः, सएव फल-दाताऽसु । न चैतं धर्मास वैयर्धमिति ग्रङ्गनीयं,वैषम्य-नैर्घृष्य-परिचाराय धर्मापेचणात्। ऋषति तु धर्मी, कां खिदुत्तमं सुखं, कां सिनाध्यमं, कां सिद्धमं, प्रापयनी युरः, कयं विषमा न भवेत्। कर्यं वा विविधं है दुःखं प्रापयित्रघृषान भवेत्। धर्माधर्मानुसारेण तत्-प्रापणे गुर-पिल-राजादीनामित न वैषम्य-नैघृणि प्राप्तृत:।

^{*} देवादीना,...इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[ा] पालं ददातु,--इति सु॰ पुक्तको पाठः।

[‡] चित्रं,—इति स॰ पुक्तको पाठः।

⁽१) चौपिनषदावेदान्तिनः।

⁽२) शारीरके।

म हि दुष्ट-धिवां शिष्ट-परिपासमञ्च कुर्व्वतां गुर्व्वादीनां वैषय-नै पृं खे विद्येते (१)। यदुक्तं, --गो॰ मण्डुकादीनां तिरश्चामोषिध-वनस्वादीनाञ्च स्थावराणां फल-प्रदलमयुक्तम्, --इति । तत् तयेवास्त, ईश्वरस्य फल-दाव्वे कः प्रत्यूदः । यदिप "व्रप्रवेनिमन्दः प्रजया पश्चभिस्पर्यति" -- इति, तचापीन्द्र-देवतायामवस्थिते। उन्तर्यामी फल-प्रदलेन विव-चितः । "श्वन्तः-प्रविष्टः श्वास्ता जमानाम्" -- इति श्रुतेः । तसादी-श्वरस्य प्रसाद्यव पल-दारम् । न च जैिशनेय-वैद्यासिकयोर्मतयोः परस्परं विरोधः, विवचा-विश्वेषेण तस्त्रमाधानात् । यथा, देवदत्त-स्वैव पक्रुतेऽपि सम्यगभिज्वलनं विवचित्वा 'काष्टानि पचन्ति' - इति व्यवद्यारः, तथा परमेश्वरस्वैव फल-प्रद्वेऽपि तारतम्यापाद-निमित्त-तथा प्राधान्यं विवचित्वा धर्मः फल-प्रद्वेजगदीश्वरएकएव सर्वेष पूजनीयो देवः, --इत्यलमितप्रसङ्गेन ।

॥ ॰ ॥ इति देवता-खरूप-निरूपण-प्रकरणम् ॥ ॰ ॥

श्रतिथेर्जन खयमेव वच्यति । जभयोः पूजन-प्रकारसुपरितम-क्कांके निक्रपयामः । 'देवताऽतिथि- पूजको नावधीदति'—इत्युक्तेरपूजा-यामवसीदति,—इत्यवगम्यते । तथाच कूर्याप्रापे,—

^{*} सैगामख्रुकादीनां,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] ईश्वरप्रसाद एव,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) तथाचे स्त्रम्। ''नामने ताङ्ने मातुनी कार्यया प्रयाद्भेते । तददेव महे प्रस्य नियन्तुर्गु बदे वियोः''—इति ।

"योमेहिद्धवाऽऽलखादक्रला देवताऽर्चनम्। भुद्गे, य याति नरकं सकरेष्टिह जायते॥ श्रक्तला देव-पूजाञ्च महायज्ञान् दिजात्तमः। अञ्जीत चेत्समूढात्मा तिर्यग्योनिं स गच्छति^(१)"—इति। मार्केण्डेयः,—

"श्रितिथिर्यस्य भग्नाभा ग्रहात् प्रतिनिवर्चते । स तस्य दुष्कृतं दत्ता पुष्यमादाय गच्छति"॥ देवसोऽपि,—

> "श्वितिथिर्यदेसमधेत्य यस प्रतिनिवर्त्तते । श्वसत्वतो निराणय स सदोहिन्त तत्कुलम्"—इति ।

पूजायान्तु न केवलमवसादाभावः * किन्त्वभ्युदयोऽप्यस्ति। तथा च विष्णुधर्मीात्तरे,—

"येऽर्चयन्ति बदा विष्णुं ग्रङ्ख-चक्र-गदा-धरम्। सर्ज-पाप-विनिमुक्ता ब्रह्माणं प्रविश्वन्ति ते"—इति । कूर्मपुराणे—

"वेदाभाषे। उन्न इं शक्ता महायज्ञ-क्रियास्त्रया^(२)।

^{*} न कोवलं पापाभावः,—इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः।

⁽१) 'स' ग्रब्दस्य दिरुपादानात् 'स मूज़ात्मा'—इति, 'स तियोग्योनिं गच्छति'—इति च वाकादयमत्र मन्त्रयम्।

⁽२) 'स्थापनं ब्रह्मयद्य'— हत्युक्तेरध्यापनमेव महायद्यान्तर्गतं वैदाश्या-सन्त ततः एचक्। अथवा, वेदाश्यासस्य महायद्यान्तर्गतत्विपि एचगु-पन्यासे गोत्ववन्यायात्। ततस्य महायद्यपदं वेदाश्यासेतर-महायद्य-परमिति श्लिष्यते।

नाश्रयम्य। १६ पापानि देवानासर्घनं तथा"—१ति । सनुरपि—

> "श्वतिधिं पूजयेद्यस्त श्रान्तं चाद्ष्यमागतम्"। सष्टवं गो-भ्रतं तेन दत्तं स्थादिति मे स्रतिः"—इति॥

विष्णुरपि-

"खाध्यायेनाग्निहोत्रेण यञ्जेन तपसा तथा । नावाप्नोति ग्रही खेाकान् यथा लतिथि-पूजनात्"—इति ।

वैश्वदेवाद्यर्थमोदनं पाचित्वा तेन होसे क्षते यति योऽविश्वष्ट-श्रीदनः स 'इत-श्रेषः'। तसेव भुद्धीत, न तु ख-ओजनार्थं पाचयेत्। यदाह भगवान्,—

"यज्ञ-शिष्टाशिनः सन्तोसुन्यन्ते सर्व-किन्विषै:।

भुञ्जते ते लघं पापा ये पचन्यात्म-कारणात्"-इति । 'अत-श्रेषम्'--इत्यच ज्ञत-श्रब्दो महाभारते याखातः,--

"वैश्वदेवादयो होमाञ्चतमिलुक्यते बुधैः"--इति।

तस्य ग्रेषोक्तनमेषः । य च क्तनग्रेष-ग्रन्दो देवर्षि मनुष्यादि-पूजोपयुक्ताविष्रष्ठसुपलचयति । तदाच्च मनुः,—

"देवानृषीन् मनुखांख पितृन् यह्यास देवताः।

पूजियता ततः पञ्चाद्ग्रहस्यः श्रेषसुग्भवेत् ।

श्रघं स केवलं भुक्के यः पचत्यात्म-कारणात्।

यज्ञिष्ठाभनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते"—इति।

श्रान्तं वा दुख्मानसम्,— इति स॰ देा॰ ग्रा॰ पुक्तकेषु पाठः ।

'ब्राह्मणानावसीदित'—इत्यच विविचतस्य ब्राह्मणस्य सचणं महाभारते दर्शितम्,—

"सत्यं दानं तपः शीचमानृशंखं दमेष्ट्रणा। दृश्यन्ते यत्र विप्रेन्द्र, स ब्राह्मण द्दित स्प्रतः ॥ जितेन्द्रियो धर्म-परः खाध्याय-निरतः ग्रुचिः । काम-क्रोधो वश्रो यस्य तं देवा आह्मणं विदुः ॥ यस्य चात्म-समोलोको धर्मश्रस्य मनस्विनः । स्वयं धर्मण चरति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ योऽध्यापयेदधीते वा याजयेदा यजेत वा । दद्यादाऽपि ययाश्रिक तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ चमा दया च विद्यानं सत्यं चैव दमः श्रमः । श्रधात्मनिरतिर्द्यानं मेतद्राह्मण-सचणम्"—दित ॥

तथाच, श्रनादिताग्रितायामपि उन्नस्चण-स्विताबाह्यणामाव-सीदतीति वाक्यार्थः पर्यवसिता अवितः ।

'चतुणांमिप वर्णानाम्, — दति, 'षट्कर्माभिरतः' — दति वचन-द्वयेन साधारणासाधारण-धर्मी मंचिष्णापदर्भितौ । यद्यप्यथ्यापनादि-चयमेद विप्रस्थामाधारणं नाध्ययनादि-चयं तस्य वर्ण-चय-साधारण-लात्, तथापि षट्कर्माभिरतलं पिप्रस्थैवेति न के।ऽपि विरोधः ॥

^{*} सर्वधर्मीय चरितं, - इति स॰ से। पुक्तकयाः पाठः।

[†] ष्यथ्यात्मनिरतं ज्ञान,—इति स॰ से। पुत्तकयाः पाठः।

^{‡ &#}x27;तथाच'—इत्यादिः, 'भवति'—इत्यन्तः पाठी गास्ति स॰ श्वा॰ पुस्तक्षयाः।

श्रयान साधारणाध्ययनादिप्रसङ्गेन बुद्धिसं साधारणमाजिन सञ्जिपार,—

सन्ध्या द्वानं जपोद्देशमो देवतानाच्य पूजनम् ॥३८॥ च्यातिष्यं वैश्वदेवच्च । षट् कस्मीणि दिने दिने ॥

दित । 'सन्धासानम्'—दत्यच यवागू-पाक-न्यायेन सानस्य प्राथम्यं व्याखेयम् । स च न्यायः पञ्चमाध्याये प्रथमपादे प्रतिपादितः । 'खवाग्वाऽग्निहाचं जुहाति? यवागूं पचितः'-दित श्रूयते । तच । संग्रयः; किमग्निहाच-यवागूपाकयोग्दिनयतः क्रमः, उत नियतः, यदा नियतः, तदाण पाठेन नियम्यते उतार्थेन । तच विध्योग्नुहानमाच-पर्थवसा-नात् क्रमस्य नियामकामावात्* श्रानियतः,—दत्येकः पूर्वः पचः । पूर्वाधिकरणेषु ''श्रध्यर्थं ग्रेहपतिं दीचियता ब्रह्माणं दीचयति''—दत्यवाः पाठसः । नियामकत्याभ्यपगमादचापि तस्यभवाद्यापाठक-

[🤻] तप्त,—इति स॰ से।॰ पुन्तकया, पाठः ।

[†] सम्यासानं जपासामः खाध्यायादेवतार्धनम्। वैश्वदेवातिययस हित पादत्रये पाटः सु॰ मू॰ पुस्तके ।

ţ प्राथम्यमाख्येयम्,—इति सु॰ पुस्तके पाठः ।

[§] ष्यिक्रीचं जुद्दे।ति,—इति सु॰ पुक्तके पाठध।

[॥] तत्र, — इति नास्ति सु॰ पुस्तके ।

ण तथापि, — हति स॰ खा॰ गुन्तकयाः पाठः।

^{**} नियामकालाभावात्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

^{††} तत्र,—हति सु॰ पुत्तको पाठः।

[#] पाठकमस्य,--इति सु॰ पुन्तवी पाठः।

मिनयमः *, — दत्यपरः पूर्वपचः † । 'यत्राग्वा' — इति त्तीयाशुत्या^(१) होम-माधनतावगमादमित च द्रयो होमानिष्यचेर्रथाद् यवागू - पाकः पूर्वभावी, — इति सिद्धान्तः । एवमचापि‡ स्नानस्य ग्रुद्धि - हेतुला - 'च्हुद्धस्वैव सन्ध्या - बन्दनाधिकारिलात् स्नानं पूर्वभावि, — इति द्रष्टयम् (१) । तच १, स्नानं तत्पूर्व - भाविनां ब्रह्मसु चर्चे त्यान - हित- चिन्तनादीनां सर्वेषासु पलचणम् । तत्र याद्यवल्क्यः, —

"ब्राह्ये मुहर्त्ते खत्याय चिन्तयेदात्मने चितम्। धर्मार्थकामान् खेकाले यथायक्ति न चापयेत्"—इति। सनुरपि,—

> "ब्राह्म्ये मुद्धने बुध्येत धर्मार्थानन् चिन्तयेत्। काय-क्षेशांस्य तन्मूलान् वेद-तत्वार्थमेव च"—इति।

^{*} यथापाठं क्रमनियमः,—इति पाठी भवितुं युक्तः।

[†] पूर्व्वः पच्चः,—इति सु॰ पुन्तको पाठः ।

[‡] ख़तरवमचापि,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[🖇] तच,--इति सु॰ पृक्तके पाठः।

⁽१) तथा चे तिम्। "श्रुति दितीया चमता च लिर्ज वाकां पदान्येव तु संइतानि। सा प्रक्रिया या कर्याभित्यपेचा स्थानं क्रमायागवसं समास्था"—इति। दितीयापदं कारकविभक्ष्यपाच्यां सर्व्वासामेव कारकविभक्तीनां प्रक्रत्यर्थान्वितसार्थे बे धने उन्यानपेच्यतस्य तुस्य-त्वात्—इति वाचस्पतिमिश्राः। उदाइरणान्येषां मीमांसा-त्वीये दख्यानि।

⁽२) तथा चार्धक्रमादनुष्ठानिमितिभावः । क्रमस्व घेड्निधः, "श्रवर्धपठन-स्थानसुख्यपावर्त्तिकाः क्रमाः"— इत्युक्तेः । उदास्वरणानि चेषां मीभा-सापन्तमाध्याये द्रस्थानि ।

वेदतत्त्वार्थः एरमात्मा । तथा च कूर्म्यपुराणे*,—

"ब्राह्म्ये सुह्नर्त्ते जत्याय धर्ममर्थञ्च चिन्तयेत्।

काथ-क्षेत्रं तदुद्भृतं ध्यायीत मनसेश्वरम्"—इति ।

विष्णुपुराणेऽपि,—

''ब्राह्म्ये मुद्धर्त्ते खत्याय सानसे मितमात्रृप । विवृद्धा चिन्तयेद्धर्यमधं चास्याविरे।धिनम् । श्रपौड्या तथाः काममुभये।रिप चिन्तयेत् । परित्यजेदर्थ-कामौ धर्म-पौड़ा-करौ नृप ॥ धर्ममणसुखोदर्वं ले।क-विदिष्टमेव च"—इति ।

सर्योदयात् प्रागर्द्धप्रहरे दो सुह्न त्तीं, तवाद्या ब्राह्म्योदितीया रौद्रः। तव ब्राह्म्ये चिन्तनीयार्थविश्रेषं दर्शयति विष्णुः,—

> "जत्यायोत्याय बोद्धयं किमद्य सुक्षतं क्षतम्। दत्तं वा दापितं वाऽपि ‡ वाक् श्वत्या चापि भाषिता ॥ जत्यायोत्याय बोद्धयं मद्दभयसुपस्थितम्। भरण-व्याधि-श्रोकानां किमद्य निपतिव्यति"—इति।

'धायीत मनसेश्वरम्' इति यदुकं, तच प्रकार-विग्रेषी बामनपुराखे,

^{*} मनुर्राप,— इत्यारभ्य क्रूमीपुरायो इत्यन्ताग्रत्थः स॰ से।॰ पुस्तक-वार्भकः।

[†] मधंचास्य विरेधिनं,—इति मु॰ पुक्तके पाठः। मधमप्यविरेधि नम्,—इति स॰ पुक्तके।

[‡] दत्तं वापि इतं वापि,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

⁽१) ब्राह्मी मृहर्त्ते विवध्य उत्थाय धर्मां यथाक्तलच्यमर्थेष मानके चिन्तयेदिति संबन्धः।

"ब्रह्मा सुरारिस्तिपुरान्त-कारी" भानुः शशी स्टमिन्सते।बुधस्य। गुरुस्य शुक्रः सहजानुजेन कुर्व्वन्तु सर्वे सस सुप्रभातस्"-दत्यादि।

॥०॥ इति ब्राह्म्ये सुहर्त्ते त्रात्म-हित-चिन्तन-प्रकरणम् ॥०॥ हित-चिन्तनानन्तरं श्रीचियादिकमवलेशकयेत् न तु पापिष्ठा-दिकम् । तदाइ कात्यायनः,—

> "श्रोचियं ग्रुभगाङ्गां च श्राग्रमग्रिचितं तथा। प्रातहत्थाय यः पग्छेदापद्भ्यः स प्रमुच्चते ॥ पापिष्ठं दुर्भगं मद्यं १ नग्रमुत्कत्त-नासिकम्। प्रातहत्थाय यः पश्चेत्तत्कलेहपलचणम्"—इति।

तितामूच-पुरीषे कुर्थात्। तदाहाङ्गिराः,—

"जत्याय पश्चिमे राचे तत श्राचम्य चोदकम।
श्वनार्द्वाय दणैर्भूमिं शिरः प्रावत्य वासमा॥
वाचं नियम्य यत्नेन निष्ठीवोच्छाम-वर्ज्जितः॥।
कुर्यानूच-पुरीषे तु शुचौ देशे समाहितः"—इति।

तच, त्रण-नियमान् विश्वनिष्ट,—

विषुरान्तकोऽधिः – इति सु॰ पुक्तके पाठः ।

[†] पापिष्ठम्,--इति स॰ खा॰ पुक्तकयाः पाठः।

[‡] गाल्तीदं सु॰ पुल्तके

[🦠] बार्न्स,--इति स॰ खा॰ पुस्तकयाः पाठः।

[॥] स्विनोच्क्वासवर्जितः,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

"भिरः प्रावृत्य कुर्वीत महान्यूच-विधर्ज्ञनम्। श्रयज्ञियैरनाद्रैश्च ढणैः सञ्काद्य मेदिनीम्'-द्रति। तव, कालभेदेन दिङ्नियममाद्य याज्ञवस्त्यः,—

"दिवा-सन्धासु कर्णस्थ-ब्रह्मस्य उदस्मुखः । कुर्यानूत्र-पुरीषे तु रात्रौ चेद्दचिणासुखः"—दित । कर्णस्य दचिणः,—

"पवित्रं दिचिखे कर्णे क्रवा विष्मूचसुत्स्जेत्"—

दित स्वानि पवित्रस्य दिचण-कर्ण-स्वाभिधानात् यद्यो-पवीतस्यापि तदेव स्थानं न्यायम्। श्रिक्षरास्तु विकस्पेन स्थानान्तरमार,—

"क्षवा यज्ञीपवीतं तु पृष्ठतः कण्ड-सम्बितम्।

विष्मूचनु ग्रही कुर्यात् यदा कर्षे समाहित:"—इति ।
नन, कर्षे निधानमेकवस्त-विषयम् । तथा च साङ्क्षायन:,—
"यद्येकवस्त्रोयश्चीपवीतं कर्षे कत्वा मूत्र-पुरीषोत्सर्भं कुर्यात्"—इति ।
ननु, जक्रोदिङ्नियमा नं व्यवतिष्ठते, श्वन्यैरन्यथां सार्णात्।
तन यम:,—

"प्रत्यङ्मुखस्त पूर्व्वाक्केऽपराक्के प्राङ्मुखस्त्र या!। खदङ्मुखस्त सभ्याक्के निष्यायां दिच्यामुखः"—इति। श्रव केचिदिकस्पमाश्रित्य व्यवस्थापयन्ति। तद्युकं, सामान्य-

14

^{*} दिख्यकर्षास्थानाभिधानात्,—इति स॰ देशः पुक्तकयोः पाठः।

[†] खन्यैरन्यथास्य,—इति स॰ सा॰ पुस्तकथाः पाठः।

[🛊] प्रास्तुखिखातः,—इति शु • पु काके पाठः।

विशेष-शान्त्रयोविकस्पायोगात्। सामान्यशास्त्रं हि याज्ञवस्त्य-वर्षनं दिवसे क्रत्त्रेऽणुदङ्मुखल-विधानात्" यम-वचनन्तु विशेषशास्त्रम्, खदङ्मुखलस्य मध्याद्य-विषयलेनाच सङ्कोच-प्रतीतेः। माऽस्त तर्षि विकस्पः, यम-वचनाक्ता तु चवस्या भविष्यतीति चेत्। तदपि । म युक्तं, प्राक्प्रत्यङ्मुखल-निराकरणायैव हे देवलेन सदैवेति विशे- वितलात्॥।

"मदैवोदङ्मुखः प्रातः शायाचे दत्तिणामुखः"—इति । श्रव, प्रात:-सायाच-श्रव्दे। दिवा-राचि-विषया । तथा च मनुः,—

"मूचोचार-धमुतार्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।

दिविषाभिमुखो राचौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा"-इति ।

एवनार्षं यमे। प्राक्षि प्राक्षित्र हुन्यु खन्योः का गतिः ? सूर्याः भिसुख्य-निषेध-परा यमे। किरिति बूमः । तदुकं महाभारते,—

"प्रत्यादित्यं प्रत्यनचं प्रतिगां च प्रतिद्विजम्।

सेशमा ये च पथिषु ते भवन्ति गतायुषः"- र्रात । थदपि देवलेने।क्रम्.--

"विण्मूचमाचरेत्रित्यं मन्धासु परिवर्क्षयेत्"—इति । तस्त्रिस्द्वेतर-विषयम् । "न वेगं धारयेत् ने।पस्द्धः कियां सुर्यात्"—इति सारधात् । यदपि मनुने।क्रम्,—

^{*} दिवसे सत्स्रेप्यदस्मुख इति वचनात्,—इति स॰ से।॰ पुक्तकये।ः याठः।

[†] यमवचनात्त,--र्रात स॰ सा॰ पुक्तकयाः पाठः ।

[‡] स्तद्यि,—इति सु॰ पुक्तके पाउः ।

[§] निवारसायेष,—प्रति स॰ सेा॰ पुत्तकायाः वातः।

^{॥ &#}x27;इति' ग्रन्दोऽचाधिकः स॰ पुक्तके ।

"क्षायायामस्थकारे वा राचावद्दनि वा दिजः। ययासुख-सुखः खुर्यात् प्राण-बाधा अयेषु च"- दति। तदपि नी हारास्थकारादि-जनित-दिङ्मो दन-विषयम्। देश-नि-

थमे। विष्णुपुराणेऽभिह्तः,—
"नैर्च्यामिषु-विचेपमतीत्याभ्यधिकं भुवः।

सएत वर्ज-देशानाइ,—

दूरादावसयान्यूचं पुरीषञ्च समाचरेत्"—इति ॥

न्त्रापन्तानीऽपि,—"दूरादावमचान्यूच-पुरीषे कुर्याद्विणान्दिश्रमपरां वां[†]" इति । अनुरपि,—

> "दूरादावसथासूत्रं दूरात् पादावयेचनम्। । खिक्छात्रनिषेकञ्च दूरादेव समाचरेत्"—इति ॥

"न मूत्रं पणि सुर्वीत न असानि न को-व्रजे । न फास-कृष्टे न जलेंेेेे न चित्यां न च पर्वते ॥

न जीर्फ-देवायंतरे न वस्त्रीने कदाचन।

न ससतेषु गर्नेषु । न मक्कन्नाणवस्थितः ॥

न नदी-तीरमासाद्य न च पर्वत-महाके।

वाध,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[🕇] ख,—इति स॰ से।॰ पुस्तकयोः पाठः।

[!] पारावनेजनम्,—इति मृ॰ पुक्तके पाठः।

इसक्कर म न जले,—इति मु॰ पुक्तके पाठः ।

[॥] न चैत्वेषु न गर्नेषु,— इति-मु॰ पुक्तको पाठः।

ग न गच्छद्वाधिरोचितः,— इति मु॰ पुक्तको पाठः।

वाय्वीम-विमानादित्यमपः प्रस्मन् तथैव व ॥
न कदाचन कुर्वीत विषमूचस्य विसर्क्तनम्"—इति॥
यमोऽपि,—

तुषाङ्गार-कपालानि देवताऽऽयतनानि च।
राजमार्ग-ग्रागानानि चेचाणि च खलानि च॥
उपरुद्धो न सेवेत काया-वृचं चतुष्ययम् ।
उदकं चोदकांतञ्च पत्यानञ्च विसर्क्ययेत्॥
वर्षयेत् वृच-मूलानि चैत्य-श्वभ्न-हिलानि च"-इति॥

इारीत:,-

"त्राहारन्तु रहः कुर्यात् विहारश्चेव सर्वदाः ।
गुप्ताभ्यां बद्धयुषेतः स्थात् १ प्रकाशे हीयते त्रिया"—रिति।
श्रापस्तम्बोऽपि,—"न च से।पानत्को॥ मूत्र-पुरीषे कुर्यात्"—रिति।
धनाऽपि,—

"प्रत्यादित्यं म सेहेत न पश्चेदात्मनः श्रष्ठत् । दृष्ट्वा स्वय्यं निरीचेत गामधिं ब्राह्मणं तथा"—इति॥ ततो लेाष्टादिमा परिस्टष्ट-गुद-सेइनोणस्टहीतश्चित्रश्चोत्तिष्ठेत्।

तथा च भरदाजः,**-

- तथैवगाः,—इति न् पुक्तके षाठः।
- † चतुष्पचे,--इनि मुं॰ युक्तके पाठः।
- ‡ सर्वेषा,—इति स॰ सेा॰ पुत्तकयाः पाठः।
- ९ षाच्यीयुक्तः स्थात् ,— इति मु॰ पुक्तके पाठः ।
- | बेापानत्, -- इति मु॰ पुस्तके पाठः।
- ¶ परिम्ह से इने।, इति मु॰ पुक्तके पाठः।
- 🖛 भारदाजः,—इति मु• पुक्तके पाठः।

```
१वा॰,खा॰का॰।]
                      पराज्ञरमाधवः।
```

"त्रथावक्षय* विष्मूचं लेाष्ट-काष्ठ-व्रणादिना । उदस्तवासा^(१) उत्तिष्ठेत् दुः विधत-मेदनः"—इति । ॥०॥ इति विष्मूचोात्मर्जन प्रकरणम् ॥०॥ 🗸

त्रय ग्रोच-प्रकपणम्[‡]।

तत्रे याज्ञवल्काः,—

"यद्यीत-शिश्रयोत्याय स्टब्लिरम्युद्धृतैर्जनेः । गन्ध-लेप-चय-करं श्रीचं कुर्यादतन्द्रतः"—दित ॥ देवलाऽपि,-

> "श्रा शौरानोत्युनेच्छित्रं प्रसावाचारयारपि। गुदं इसं च निर्ह्यानादक्षीभि र्ड्डइंड:"—इति॥

दचोऽपि,-

"तीर्थे ग्रोचं न कुर्वीत कुर्वीतोड्ड्त-वारिणा"-इति। प्रभ्युद्धरणासक्षवे विश्वेषमाच विश्वामित्रः॥—

"रवि^(१)मात्राक्तवात्तीर्घे^त कुर्याक्तीतमनुद्गृते । पश्चात्तच्कोधयेत्तीर्थमन्यया द्वाइइचिभवेत्"-इति ॥

यथाप्रक्षय, - इति मु॰ पुस्तके, खयापद्यय,--इति स॰ पुस्तके पाठः।

† विष्मूत्र विसर्जन,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

‡ खय ग्रीचिविधः,—इति स॰ से । पुक्तकयाः पाठः।

🖇 ष्याच,—इति मु॰ पुक्तको पाठः ।

|| विश्वामित्र इति गास्ति मु॰ पुस्तके।

୩ रित्रमात्राच्चलं त्यक्षा,—इति स॰ पुत्तके, रित्रमात्रं वर्षं त्यक्षा,— इत्यन्यम पाठः।

(१) उदस्तवासाः काटिदेशादुत्श्विप्तवस्तः।

(२) प्रक्रेष्ठि विस्तृतकरे इस्तो, मुख्या तु बद्धया । स रक्षिः स्थात् ,—इत्वमरः ।

शौर-याग्यां स्तिकामाइ यम:,—

"श्वाहरेकृत्तिकां विष्रः कूलात् ससिकतां तथा"-इति। तज्ञेव विशेषमाद मरीचिः,—

"विषे गास्ता तु मृच्छीचे रक्ता चने विधीयते। शरिद्र-वर्णा वैद्ये तु ग्रुद्धे रूप्णां विनिर्दियेत्"॥ जक्त-विभेषासम्भवे या काचिद्याद्या। तदाइ मनुः,—

"यसिन्देशे तु यत्तीयं याच यत्रैव स्टितका।

सैव तच प्रश्नसा स्थात्तया श्रीचं विधीयते"-इति॥ विष्णुपुराणे वर्च्यास्टिशिषादर्शिताः,—

> "वस्त्रीक-मूषिकात्खातां म्टरमन्तर्जनां तथा। श्रीचावशिष्टां गेशच नादद्यास्त्रेप-सम्भवाम्॥

श्वनः प्राण्ववपत्राञ्च इखेात्खातां म कर्दमात् । श्रम्ता । श्रम्ता

त्रतएव यमः,— "वापी-क्रूप-तड़ागेषु नाइरेदाह्यतासदम्।

श्राइरेक्जलमधात् तु परते।मणि-बन्धनात्"—इति॥ देवले।ऽपि काञ्चित्रिविद्धान्तदेशदर्शयति,—

> 'श्रङ्गार-तुष जीटास्थि-ग्रर्करा-वासुकान्विताम्। वस्त्रीकापरि ताथान्तः कुद्धा-फास-ग्रागानजाम्॥ यामवाद्यान्तरासस्यां बासुकां पांग्रुकृपिणीम्।

वथा,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

⁺ बोहोत्खावां म बर्दमां—इति मु॰ पृक्तके पाठः।

श्राह्मतामन्यशौचार्यमाद्दीत न म्हिन्ताम्"-इति ॥ इस-नियममाह देवसः,—

"धर्मविद्विणं इस्तमधःश्रीचे न योजयेत्।

तथा च वामध्स्तेन नाओक्द्धें न शोधयेत्"—इति॥ ब्रह्माण्डपुराणे दिङ्नियमोऽभिद्दितः,—

''जङ्गृष्योदकमादाय म्हित्तकां चैव वाग्यतः।

जदङमुखो दिवा कुर्याद्राची देहिचणामुखः"-इति ॥

म्हत्सञ्चामाच प्रातातपः,

"एका लिक्ने करे सब्ये तिस्तो हे इस्तयोईयोः। मूच-शोचं समास्थातं शक्तति चिगुणं भवेत्"—इति ॥ मनुरपि,—

"एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्रयैकच करे द्या।

अथोः सप्त दातवास्टदः शुद्धिमभीयाता[†]॥

एतच्होचं ग्टरखस्य दिगुणं ब्रह्मचारिणः।

वानप्रखास चिगुणं यतीनां तु चतुर्गुणम्''-इति।

वौधायने।ऽपि,—

"पाञ्चापाने सदो योज्या वाम-पादे तथा करे।

तिस सिसः क्रमाद्योच्याः सम्यक् भीचं चिकीर्षता ।"—इति

वसिष्ठोऽपि,—

पूरीघे दिगुणं भवेत्,— इति मु॰ प् स्तके पाठः।

[†] श्रद्धिमवाप्रयात् ,—इति स॰ से । पुत्तवयाः पाठः ।

[‡] चिकीर्षतः,—इति मु॰ पस्तके पाठः।

"पञ्चापाने दशैकस्मिन्नुभयोः सप्त म्हिन्नेकाः । जभयोः पादयोः सप्त सिङ्गे दे परिकीर्न्गिते ॥ म्रादित्यपुराणे,*—

"एकस्मिन् विंग्रतिर्श्ये दयोर्ज्ञेयां सतुर्देग्र"—इति । विंग्रत्यादिकः मह्मचारि-विषयं, "दिगुणं ब्रह्मचारिणः"— दत्युक्तलात् । श्रादित्यपुराणे,—

> "स्तीमूद्रयोरर्द्धमानं प्रोक्तं भौचं मनीषिभिः। दिवाभौषस्य निम्मद्धं पिष पादं विधीयते॥

श्रार्तः कुर्याद् ययाप्रिक प्रकः कुर्याद्ययोदितम्"—इति॥ बौधायनोऽपि,—

"देशं कालं तथाऽऽत्मानं द्रव्यं द्रव्य-प्रयोजनम् । उपपत्तिमवस्थाञ्च ज्ञात्वा श्रीचं प्रकल्पयेत्?"—इति ॥ यद्भपराश्वरः,—

"उपविष्टस्त विष्मूचं कर्त्यस्त न विन्दति। स्र सुर्यादर्द्धशौचन्तु खस्य श्रीचस्य सर्वदा"-इति॥ श्रानुशासनिके श्रीचेतिकर्त्तयता दर्शिता,—

"शौचं कुर्याच्छनैधीरावृद्धिपूर्वमसङ्करम्।

^{*} मास्येतत् मु॰ पुक्तके।

[†] दयादया,—इति मृ॰ पुक्तके पाठः।

[‡] विंशत्यधिकं — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

९ समाचरेत्, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[🎚] न,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

विषुषञ्च यथा न खुर्यथाचोहं न मंस्पृग्रेत*॥ बुद्धिपूर्वे प्रयक्षेन यथा नैनः स्पृग्रेत् दिजाः"—इति । द्वोऽपि,—

"षड्न्या नख-प्रद्धी तु देयाः ग्रीचेषुना स्टदः। न ग्रीचं वर्ष-धाराभिराचरेनु कदाचन"—इति॥ मरीचिरपि,—

"तिस्भिः शोधयेत् पादी शोध्या गुल्फो तथेत च । एको लामणिवन्धाच[†] लेप-गन्धापकर्षणे[‡]"—इति । यथा-विधि कते-शौचे गन्धसेन्नापगच्छति, तदाह् अनुः,— "यावन्नापैत्यमेध्यान्नो गन्धोलेपस्य तत्-कृतः । तावन्यदारि देयं स्थात् सर्वासु द्रवा-ग्राह्मिषु"—इति । समसुष्यभावे तु देवल त्राष्ट्र,—

"थावत्तु ग्रुद्धं मन्येत तावक्कीतं विधीयते । प्रमाणं शौच-मङ्खायां॥ न विशेषपदिश्यते"—इति । पितामहोऽपि,—

''न यावदुपनीयन्ते^ग दिजाः ग्रूट्रास्तथाऽङ्गनाः ।

^{*} न च स्परीत् ,—इति मृ॰ प् स्तको पाठः ।

[†] इस्ते। हैं। मिवन्धाच ,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] त्रीपगन्धापकर्षणम्,—इति स॰ सा॰ पुन्तकयाः पाठः।

तत्र,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[॥] ग्रीचसंस्थाया,—इति सु॰ पुन्तके पाठः ।

१ न तावसुपनीयनो,—इति सं॰ खाे॰ प्रा॰ वुन्तकेषु पाठः।

गन्ध-लेप-चय-करं श्रीचनेषां विधीयते''—इति ।
श्रव स्त्री-श्रूद्र-ग्रहणम् श्रक्तते द्वाहाभिप्रायं, श्रद्धपनीत-दिश-बाह्यर्थात्^(१) । स्त्यि सालमाइ श्रातातपः,—

''त्रार्ट्रामलकमात्रास्त ग्रामा दन्दु-व्रते स्थिताः । तथैवाज्जतयः सर्वाः ग्रौचे देयाश्च म्हित्तकाः''-दति । यन्तु दचाङ्गिरोभ्यां परिमाणान्तरसुक्तम्,-

"श्रर्झ-प्रस्तिमाचा तु प्रथमा मृत्तिका स्वता। दितीया च त्रतीया च तदर्डीन प्रकीर्त्तिता॥ प्रथमा प्रस्तिर्ज्ञेया दितीया तु तदर्डिका। त्रतीया मृत्तिका ज्ञेया विभाग-कर-पूरणी "-दित। तच, सर्वेच न्यूनपरिमाणेन गन्धाद्यचये सत्यधिकपरिमाणं

द्रष्टयम्। सत्यपि गन्ध-चये प्रास्ते।क्रथङ्का पूरणीया यथाइ द्राः,—

"न्यूनाधिकं न कर्त्तवं श्रीचं श्रुद्धिश्मभी सता। प्रायश्चित्तेन पूर्वेत विद्यितातिकमे क्रते"— इति।

एवसुक्रशौच-करणेऽपि यस भाव-ग्रुद्धिनीसि, न तस्य ग्रुद्धि-रित्याद व्याचपाद:,—

ग्रीचमेवं—इति यु० पुक्तके पाठः ।

[†] चिभागकरपूरणा,—इति सु॰ पुक्तके, चिभागकरपूरणम्,—इति स॰ पुक्तके पाठः।

[‡] भ्रोचे,--इति भु॰ पुस्तके पाठः।

[🖇] सिद्धि,—इति स॰ घा॰ पुस्तवयाः पाठः ।

⁽१) विजानामुग्रनयनवत् विवाषस्य स्त्रीम्यू मयोः प्रधानसंस्कारत्वादित्याभयः।

"ग्रीचन्तु विविधं प्रोप्तं वाह्यमाभ्यन्तरन्तथा। म्हज्जनाभ्यां सातं वाद्यं भावग्रुद्धिसाथाऽन्तरम्॥ गङ्गा-तायेन कत्स्रेन स्द्रारेश्च नगोपमै: "। श्रा खत्योश्वाचरन् श्रोचं भावरुष्टो न श्रुद्धाति"—इति भौचस्य दिविधस्यापि मर्व्वकर्माधिकार-**चेतुलमन्वय-यति**रेका

इबोद्र्ययति,—

''भौचे यत्नः सदा कार्यः भौच-मूला दिजः स्प्रतः। ग्रोचाचार-विद्यीनस्य समस्ता निष्फला क्रिया "-दित ॥०॥ इति घीचप्रकरणम् ॥०॥

श्रय गख्रूष-विधिः॥

"एवं ग्रोच-विधिं क्षत्रा पञ्चाद्गाष्ट्रधमाचरेत्।

तचापस्तम्बः,-

मूत्रे रेतिष विट्-सर्गे दन्त-धावन-कर्माणि॥ भच्याणां भवणं चैव क्रमाद्गब्डूषमाचरेत्। चतुरष्टदिषट्दाष्ट्रगष्डूषैः षोड्ग्रीस्तथा ॥ मुख-गुद्धिं । कुर्वीत द्यन्यथा दोषमाप्रुयात्। पुरस्ताद्देवताः सर्व्वा दिचणे पितरस्तथा ॥ पश्चिमे सुनि-गन्धर्वा वामे गखूषमाचरेत्। गर्डुष-ममये विप्र सर्जन्या वन्ना-तासनम्॥

जिस्सयैः,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[🗱] निष्पाचाः क्रियाः,— इति बद्धवचनान्तः पाठः सु० प्रस्तके ।

द्यव्वीत यदि मूहात्मा शैरवं नरकं व्रजेत्"—इति।* श्रयाचमन विधिः।

च टद्धपराश्वरः,—

"कलाऽय ग्रीचं प्रचान्य पादी इस्ती च म्हज्जलैः।

निवद्ध[†]शिख-कष्कुः दिज श्राचमनं चरेत्॥

कृत्वोपवीतं सव्यांसे वाङ्मन:-काय-सवत;"--इति ।

याज्ञवल्क्योऽपि,—

"श्रनार्जानु शुचौ देशे उपविष्ट उदङ्मुखः ।

प्राम्वा ब्राह्मेन तीर्घेन दिनानित्यसुपसृधेत्''—इति।

गौतमोऽपि,—"ग्रुचौ देश श्रासीने।दचिणवार् जान्यन्तरा ह स्वा

यञ्चोपवीत्यामणिबन्धनात् पाणी प्रचास्य वाग्यता ऋदयस्पृत्रः॥

निञ्चतुर्वाऽप श्राचामेत्^ण पादौ चाभ्युचेत्** खानिचोपस्पृणेत् ग्रीर्ष-ष्णानि मूर्ईनि च दद्यात्^(९)"—इति । तत्र निञ्चतुर्वेत्यैष्छिकौ

खानि मूर्द्वनि च दद्यात्^(र)"─इति । तत्र चिश्चतुव्वेत्येष्छिकाँ विकल्पः । ब्रह्मतीर्थं तीर्थान्तरेभ्यो विविनक्ति याद्मवल्**कः,**─

* खथ गर्क्ष्यविधः,—इत्यारम् रतदन्तीयन्यः नास्ति मुहितातिरिक्त-पुस्तकेषु।

† प्रबद्ध,—इति सु॰ पुस्तके प ठः।

🗓 कचान्तु—इति स॰ से।॰ ग्रा॰ पुन्तकेषु पाठः।

ऽ जाम्यन्तरं,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।
 ॥ इदये स्पृशन्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

" ध्याचमेत्,—इति स॰ सेा॰ ग्रा॰ पुन्तकेषु पाठः।

** चाभ्युच्चयेत्,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

(१) श्रीर्घेखानि श्रीर्घभवानि खानि हन्द्रियाणि नासिका चन्तुः स्रोत्राधि उपस्पेषेत्, मुर्छेनि च दश्चाद्य हति संबन्धः । ''कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठ-मूलान्यगं करस्य च ।

प्रजापति-पित्त-ब्रह्म-देव-तीर्घान्यनुक्रमात्^(१)"—दति । वदेव ग्रह्व-सिखिताभ्यां स्पष्टीकृतम्,—"त्रङ्गुष्टमूलस्योपा

एतदेव शङ्खालिखिताभ्यां साष्टीकृतम्,— त्रिङ्गुष्टमूलस्यासा प्रागप्रायां रेखायां ब्राह्मं तीधं, प्रदेशिन्यङ्गुष्टयोरन्तरा विद्यं, कनि

का-करतलयोरम्तरा प्राजापत्यं, पूर्जेणाङ्गुलि-पर्वणि दैवम्"—इ

"श्रद्धिः समुद्धृताभिन्त हीनाभिः फेन-बुद्धदैः । विक्रना न च तप्ताभि रचाराभिरूपसृषेत्"—इति ।

"त्रद्भिन्त प्रकृतिसाभिन्दीनाभिः फेन-बुद्धुदैः ।

द्दत्-कण्ट-तानुगाभिस्त यथासङ्घं दिजातयः॥

ग्रुह्योरन् स्त्रीच गूद्रास सकत् सृष्टाभिरन्ततः (१)"—इ

मनुरपि,—

"इद्गाभिः पूर्यते विमः कष्टगाभिस्त भ्रपतिः"।

वैष्योऽङ्किः प्राधिताभिन्तु श्रूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः"—इति

"त्रनुष्णाभिरर्फेन्द्वेभः पूताभिर्वस्त्र-चसुषा ।

इताभिरभन्दासः चिश्चतुर्वाद्व राचमेत्"-इति।

* भूमियः,—इति सु॰ पुस्तको पाठः।

(१) श्वादेशिनी तर्ज्जनी। तथाश्व, कनिकामूले प्राजापत्यं तीर्धं, तर्ज्जनं पिन्धं, खण्गुरुमूले ब्रास्तं, करस्याये देविमितिविवेषः।

(२) चन्ततः खोछप्रान्ते।

याज्ञवस्काः,-

प्रचेता श्रपि,—

वापवादगाह यम:*,—

"रात्राववीचितेनापि शुद्धिरुका मनीषिणाम्। उद्वेनातुराणाञ्च तथोष्णनोषणपापिनाम्"—इति।

उदकस्य यच्छा-प्रकारं परिसाणं चाच अरदाजः,—

"श्रायतं सर्वतः क्रला गोकर्षाक्रतिमत्करम्। संदतांगुजिना तोयं ग्रहीला पाणिना दिजः॥

सुक्राङ्गुष्टकनिष्टेन श्रेषेणाचमनं चरेत्।

माष-मञ्चनमाचास्तु संग्रह्म चिः पिवेदपः"—इति।

स च पाणि ईचिणो द्रष्टवाः, "चिः पिवेद्दचिणेनापः"—इति पु-राणवचनान्। उदकपानानन्तर-भाविनीमितिकर्त्तवामाह द्वः,—

"संद्रत्याङ्गुष्ट-मूलेन‡ दिः प्रम्डच्यात्ततोसुखम् ।

संदताभि स्तिभिः पूर्व्वमास्यमेवमपस्पृत्रेत्? ॥

श्रङ्गुष्टेन प्रदेशिन्या घाणं स्पृष्टा लनन्तरम्। श्रङ्गुष्टामिकाभ्यान्तु चचुः-श्रोचे ततः परम्॥

कनिष्ठाङ्गुष्टयोर्नाभं द्वदयन्तु तलेन वै ।

बर्वाभिस भिरः पसात् बाह्न चार्येण संस्पृष्ठेत्"—इति ।

"तर्जन्यजुष्ठ-यागेन स्पृशेनाशापुट-दयम्।

एक्कुक्ष्यका सर्घनमार,—

याद्यवस्थाः, — इति सु॰ पुस्तके पाठः ।

[†] संहताकुलिना, - इति सु॰ पुन्तके पाठः।

[ं] संपत्वाषुष्ठमूकेन, - इति सु॰ पुस्तके, संभूखेति स॰ पुस्तके पाउः।

[§] संस्ताभिकतक्तिः पूर्वकास्यमुपस्पृशेत्, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

मध्यमाङ्ग्छ-योगेन स्पृथेन्तेत्र-दयं ततः॥
त्रङ्गुष्ठस्थानामिकया योगेन अवलं स्पृथेत्।
किन्छाङ्गुष्ठ-योगेन स्पृथेत् स्कन्ध-दयं ततः॥
नाभिं च द्वदयं तदत् स्पृथेत् पाणि-तलेन तु।
संस्पृथेच ततः श्रीर्षेभयमाचमने विधिः"—दित।

एतमन्वेऽप्यन्यया वर्षयन्ति । तत्र, यथात्राखं व्यवस्था द्रष्ट्या । श्राचमन-निमित्तान्याद मनुः,—

"क्रता मूर्च पुरीषं वा पाष्णाचान्त उपस्पृगेत्। पीताऽपोध्येयमाणस्य वेदमग्निं च मर्व्वदा"—इति। कूर्यपुराणे,—

"चाडास-घोक्क-मभाषे स्ती-मूद्दोक्तिष्ट-भाषणे । एक्तिष्टं पुरुषं सृष्ट्वां भोज्यं वाऽपि तथाविधम् ॥ त्राचामेदत्रुपाते वा खेरितस्य तथैव च । श्रप्तेर्गवामथासभे सृष्ट्वाऽप्रयतमेव च ॥ स्त्रीणां यथाऽऽत्मनः सर्भें नीसीं वा परिधाय च"—इति ।

स्तीशूद्रोक्षिष्टभाषके,—इत्येतकपादिविषयम्। तथा च पद्मपुराके,—

''चाखासादीन् जपे होसे हृष्ट्वाऽऽचासेद्विज्ञान्तमः''—श्वति। अनुरपि,—

वेदमद्वस्त,—इति स॰ सा॰ पुस्तस्योः पाठः।

[†] दङ्गा,—इति स॰ पुस्तको पाठः।

[†] तथात्मसंस्पर्ये,—इंकि सु॰ पुक्तके पाठः।

"सुष्ठा चुला च भुक्का च निष्ठीचोक्काऽनृतं वचः।
रण्यां भाषानं चाकस्य श्वाचानेत् प्रयतोऽपि सन्"—इति ।
यस्यतिः ,—

"श्रधोवायु-समुत्तार्गे श्राक्तन्दे कोध-सभावे। मार्क्जार-मूचिका[†] सार्धे प्रहासेऽनृत-भावणे॥ निमित्तेव्वेषु सर्वेषु कर्षा कुर्वम्बुपस्पृशेत्''—इति। यमोऽपि,—

''जलीर्थीदकमाचामेदवतीर्थं तथैव च।

एवं खालेजमा युक्ता वर्षणेन सुपूजितः"—इति।

द्वागीतोऽपि,—''नेक्तिदेनुपस्पृथ्य असम्"—इति।
विश्विऽपि,—

"चुते निष्ठीवने सुत्ते परिधानेऽश्रुपातने।
पञ्चक्षेतेषु चाचानेः च्छ्रोत्रं वा दक्तिणं स्पृष्टेत्''—इति।
इक्तिकर्ण-स्पर्धनमाचमनासक्षवे वेदितव्यम्। तथा च,
बार्कण्डेयपुराणम्,—

"सम्यगाषम्य तोयेन क्रियां सुर्व्यात वे प्राचिः। देवतानाम्हपीणाञ्च पितृषाञ्चेव यक्षतः॥ सुर्व्योतासमान चापि? दच्चिणत्रवणस्य वा।

नास्त्रेतत् मु॰ पुक्तके ।

[†] मूबक,—इति मु॰ युक्तके पाठः।

[🗜] वाचाने, — इति स॰ सा॰ पुस्तकयाः पाठः ।

९ वापि,—इति मु॰ पुक्तके वाउः।

यथाविभवतो होत्त् पूर्वाभावे ततः परम्॥ न विद्यमाने पूर्वेको उत्तर-प्राप्तिरिखते"—इति ।

द्विणकर्ण-प्रशंसा च, 'प्रभासादीनि तीर्थानि'—रत्यादिना-वच्धते। श्रथ वा, बौधायनेक्तं द्रष्टव्यम्,—''नीवीं विस्त्रय परिधा-योपस्पृशेदाई-त्वणं स्ट्रिमं गोमयं वा संस्पृशेत्''—रति। षट्चिंश्रक्तते दिराचमन-निमित्तं दर्शितम्,—

"होमे भाजन-काले च मन्ध्ययोहभयोरिप। श्राचान्तः पुनराचामेज्ञप-होमार्चनादिषु"—इति। याज्ञवल्कोऽपि,—

"हाला पीला चुते सुप्ते भुक्ता रथ्योपसर्पणे । प्राचान्तः पुनराचामेदासोविपरिधाय च"—दिति । बौधायने।ऽपि,—

"भोजने इवने दाने उपहारे प्रतिग्रहें। हविभेचण-काले च तत् दिराचमनं स्पृतम्"-दित । कूर्मपुराणेऽपि,-

> "प्रचाच्य पाणी पादी च भुज्ञाने। दिरूपस्पृशंत्। ग्राचौ देशे समासीने। भुक्ता च दिरूपस्पृशेत्॥ श्रोष्ठौ विलेशमकौ स्पृष्टा वासे।विपरिधाय च। रेते।मूत्र-पुरीषाणासुसर्गेऽयुक्त-भाषण्रे!॥

[🍍] र्ष्याप्रसर्पेगे,—इति मृष् पुक्तके पाठः।

[†] उपचारप्रतिग्रहे,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] शुष्ट्याभाषणे,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

मुमिलाऽध्ययनार्मे कास मश्रामागमे तथा। चलरं वा साधानं वा समागम्य दिनोत्तमः॥ यन्ध्ययोद्दभयोखददाचान्तोऽप्याचमेत्ततः"—इति । श्रयुक्तभाषणं ! निष्ठुरभाषणम् । श्राचमनापवादमाह बौधायनः,— "दन्तवद्ग-सम्रोषु दन्त-सम्रोषु धार्णा। श्रम्यितेषु ्चं नाचामेन्तेषां संख्यानवच्कुचिः ""—दति। द्नलग्न-दन्तसक्रयोर्निर्हार्थ्यानिर्हार्थ्यक्ष्पेण भेदः । श्रतएव देवलः,— "भोजने दन्त-लग्नानि निर्हत्याचमनं चरेत्। दन्त-लग्नममंद्रार्थं लेपं मन्येत दन्तवत्॥ न तत्र बक्तभः श कुर्याद्यत्रमुद्धर्णे प्नः । भवेचाशौचमत्यर्थं त्रण-वेधादुले छते" — दति । श्रिष्यितेषु ** तेषु म्यानच्युतेषु च निर्गार्णि व्वित्यर्थः । तत्र मनुः,— "दन्तवद्दन्तलग्नेपु जिज्ञास्पर्ग-कृते 🕇 न तु । परिचातेषु च स्थानान्तिगिरसेव तच्छ्चिः"—इति। एतच रसानुपलञ्चा वेदितव्यम्। यथाऽऽच प्रह्नः,—"दन्तवद्दन्त-

^{*} स्ठीवित्वाऽध्ययनारस्मे,—इति मृ॰ पुक्तके पाठः।

† काश्र,—इति झ॰ सें।॰ शा॰ पुक्तके पाठः।

‡ स्रुक्तभाष्यां,—इति मृ॰ पुक्तके पाठः।

﴿ ग्रक्तिष्ठ तेष, —इति शा॰ पुक्तके पाठः।

॥ सस्यानवच्क्चिः,—इति शा॰ पुक्तके पाठः।

श बद्धलं,—इति मृ॰ पुक्तके पाठः।

** ग्रक्तेष्ठ — इति शा॰ पुक्तके पाठः।

†† जिङ्गास्पर्शे स्रुते,—इति स॰ से।॰ शा॰ पुक्तकेषु पाठः।

खग्नेषु रसवर्जनमन्यतो जिङ्काभिसार्थनात्''—इति । फल-मूलादिषु विशेषमाच शातातपः,—

"दन्तलग्ने पाले मूले भुक्त खेदाविष्ठके। ताम्बूले चेतुदण्डे च ने। क्टिशे भवति दिजः"—इति। षट्चिंग्रनातेऽपि, †—

"ताम्बूले चैव से से स अक-स्नेद्दाविष्ठिके ।
दन्त-लग्नस्य संस्पेशे ने च्छिष्टस्त भवेनरः ।
विभाः पन्ने मूल-पुष्पे सृष-काष्ठमये स्तथा।
सुगन्धिभिस्तथा द्रव्ये ने च्छिष्टो भवित दिजः"—इति ।
एतच सुख-सौरभ्याद्यथापभुकाविष्ठिष्ट-विषयं है ताम्बूल-साद्दचर्यात्।
'दन्तलग्नस्य संस्पेशे' दित श्रिनिर्दार्थस्य । दन्तलग्नस्य जिज्ञया संस्पेशे,—
इत्यर्थः। याच्चवल्कोऽिष,—

"सुखजा विपुषोमेध्या साधाऽऽचमन-विन्दवः । यात्रु चास्य-गतं दन्त-सतं त्यक्ता ततः ग्रुचि''— इति । सुख-निःस्ता विन्दवे। यद्यङ्गे पतन्ति ^गतदाऽऽचमनापारकाः*'। तथा च गौतमः,—''सुख्या विपुष उच्छिष्टं न कुर्वन्ति ^{††} न चेदङ्गे

^{* &#}x27;एतच'— इत्यारभ्य, एतदन्तोग्रत्थः मुदितातिरिक्त पुक्तनेषु नास्ति ।

[†] घड्विंशतिमतेषि,—इति शा॰ पुस्तके पाठः।

^{‡ &#}x27;इति' ग्रब्दोऽचाधिकः मु॰ पुक्तके।

[§] मुखसीरभार्चर्यापभुक्तविषयं,—इति स॰ से।॰ प्रा॰ पुक्तकेषु पाठः।

[॥] चार्य्यस्य,—इति ग्रा॰ पुन्तको पाठः।

१ नियतं पतन्ति, — इति से। १ प्रा॰ पुस्तकयाः पाठः ।

^{**} तदाचमनापवादकाः, — इति मु॰ पुक्तके पाठः।

^{††} नेक्सिएं कुर्जन्त,— इति भा॰ पुस्तक पाठः।

निपतन्ति"—इति । श्राचमन-विन्दव स्वक्नं स्पृष्टा श्रिप मेथाः। तथा च मन्ः,—

"सृशन्त विन्दवः पादौ य श्राचामयतः" परान्।
भौमिकैस्ते समा छोया न तैरप्रयते। भवेत्"—इति।
श्रव पाद-ग्रहणम् श्रवयवान्तरस्याप्युपलचणार्थम्। तथा च यमः,—
"प्रयान्याचमतोयाश्च । श्राची नृणाम्।
जिक्कष्ट-देषोनास्यव भूमि-तुल्यास्तु ताः स्वताः"—इति।
सश्यु-विषये विशेषमाद्यापस्तम्वः,—"न स्रश्रुभिरुक्तिष्टो भवत्यन्तरास्थे सङ्गिर्थावन्न इस्तेने।पस्पृशित"—इति। श्राचमने वज्जीनाद्य
स्राः,—

"विना यज्ञोपवीतेन तथा घोतेन वाससा।
सुक्षा ग्रिखां चाप्याचामेत् म् क्षतस्थैव पुनः क्रिया॥
सोष्णीषी वद्ध-पर्य्यद्भः प्रोहपादश्च^(९) यानगः।
दुर्देश-प्रगतश्चैव १ नाचामञ्कुद्धिमाप्रयात्"—दति।
सोधायनोऽपि,—"पादप्रचालनाच्छेषेण नाचासेत्, स्रमी श्रावयिला-

^{*} यस्याचामयतः,—इति प्रा॰ पुस्तके पाठः ।

[†] प्रयान्याचमते।यस्य,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] बाप्याचामेत्,—इति मु॰ पुस्तको पाठः।

दुर्देशः प्रपदस्वैव,—इति भा॰ स॰ पुस्तकयोः पाठः।

⁽१) भ्रो एपादः,—"आसनारू एपादस्तु जानुने । ज्ञेष्ट्रयोस्तया। क्रतावस विश्वते । यस्तु प्रोढ़पादः स उच्यते"—इत्युत्तत्वस्त्रयः। जानुने । ज्ञेष्ट्रयोः क्रतावसिक्यते । वस्त्रति ।

ऽऽचामेत्, न सबुदुदाभिनं सफोनाभि नैं। चिष्ठशिभिनं चाराभि नैं विवर्णाभि नैं। षणाभि नें कलुषाभि नें इसन्न जन्यन तिष्टन्! न प्रज्ञो न प्रणतो न सुन्न-प्रिखो नाबद्धकच्छो है न विद्यान नेविष्टत-प्रियाः न बद्धकचो न लरमाणो नायज्ञोपवीती न प्रसारितपादः, प्रज्य-मकुर्वेस्तिरपो इदयङ्गमाः पिवेत्"-इति । देवले। ऽपि,—

"सोपानको जलस्योवा सुक्रकेशोऽपि वा । नरः।

उण्णीषी वाऽपि नाचामेदस्त्रेनावध्य वा श्रिरः"—दति। श्रापस्तम्बे।ऽपि,—"न वर्ष-धाराभिराचामेत्" वर्ति। यमोऽपि,—

"श्रप: कर-नखै: खुष्टा य श्राचामति वै दिजः।

सुरां पित्रति स व्यक्तं यसस्य वचनं यथा"—इति। ब्रह्माण्ड-पुराणेऽपि—

"कण्डं त्रिरोवा प्रावत्य रथाऽऽपण-गतोऽपि वा।
श्रक्तवा पादयोः श्रीचमाचान्तोऽप्यग्रुचिभवेत्"—इति।
शौतमोऽपि,—"नाञ्चलिना पिवेन्नतिष्ठन् नोडृतोदकेनाचामेत्"—
इति । नतिष्ठनिति खलविषयं, जले च तिष्ठन्नपाचामेत्। तथा च
विष्णुः,—

^{*} ने। च्छिष्टाभिनं चाराभिः, - इति नान्ति मुझितातिरिक्त पुक्तनेष् ।

[†] नेायााभिः, -- इति मुझितातिरिक्तपुक्तनेषु न दृश्यते।

[‡] न जल्यन् न तिस्ठन्, — इति नास्ति मु॰ पुस्तको ।

[§] नाबद्धकेग्री,—इति शा॰ पुक्तके पाठः ।

[∥] थवा,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

श न वर्षधाराखाचामेत्,—इति भा॰ पुस्तके पाठः।

"नानोक्ट्सं जले तिष्ठन्नाचानः ग्रुचितामियात्। त्रधसाच्क्तकलोऽपि समाचान्ता न ग्रुद्धति"-इति। कौन्निकोऽपि,-

"त्रपवित्र-करः कश्चित् ब्राह्मणोऽप उपसृशेत्"।
त्रष्ठतं तस्य तत् सर्वें भवत्यात्तमनं तथा॥
वामहत्ते स्थिते दर्भे दिचिणेनात्रमेद्यदि।
रक्तं तु तद्भवेत्तायं पीला चान्द्रायणञ्चरेत्"—इति।
मार्कण्डेयस्त दिचिण-इसस्य स-पवित्रतां विधत्ते,—
"सपवित्रेण इस्तेन कुर्यादात्तमनिक्रयाम्।
नेास्किष्ठं तत् पवित्रन्तु भुकोस्किष्ठन्तु वर्ष्ययेत्"—इति।
गोभिसस्त इस्तद्ये स-पवित्रलं प्रशंसति,—

"उभयत्र स्थितेर्दर्भः समाचामित योदिजः । सोमपान-फलं तस्य भुक्षा यज्ञफलं भवेत्"—इति । स्वानानन्तर-भाविन्यासमने दचो विशेषमाह,—

> ''स्नालाऽऽचामे तदा विषः पादौ कता जले खले। जमयोरणमौ ग्रुडस्ततः चेमाभवेदिति"।

द्वारीत:-

^{*} ब्राह्मकोयदुपस्पृग्रेत्,—इति सु॰ पुन्तको, ब्राह्मकोय उपस्पन्नेत्,—इति चान्यत्र पाठः।

[†] अपेयं तस्य तत्सन्धं,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] पवित्रं,—इति स॰ सा॰ ग्रा॰ पुस्तकेषु पाठः।

इस्तदय,—इति सु॰ पुस्तके पाठः!

"श्रार्द्र-वासा जले कुर्यात्तर्पणाचमनं जपम्। ग्रुष्कवामा खले कुर्यात्तर्पणाचमनं जपम्"—इति । खलविषये विशेषोद्शितः स्रत्यन्तरे,—

"श्रलाभे ताम-पात्रस्य करकञ्च कमण्डलुम्।

ग्रहीला स्वयमाचामेत् नरोनाप्रयते। भवेत्॥

करकालावुकार्येञ्च ताम-पर्णपुटेन च।

स्वहस्ताचमनं कार्यं स्वेहलेपांञ्च वर्ञ्जयेत्॥

करपात्रे च चत्तोयं यत्तीयं ताम्रभाजने।

मौवर्णे राजतेचैव नैवाग्राद्धन्तु तत् स्रग्नम्'—द्गति।

एवमुक-लचणसाचमनस प्रभंसामाह व्याष्ट्रपात्,—

"एवं यो ब्राह्मणोनित्यमुपसार्धनमाचरेत्। ब्रह्मादि-स्वस्पर्यान्तं जगत् स परितर्पयेत्" - इति।

रुद्धभङ्खोऽपि,—

"चिः प्राक्षीयाद्यसभस्य प्रीतास्तेनास्य देवताः । ब्रह्मा विष्णुस रुद्रस्य भवन्तीत्यनुष्र्यस्यमः। गङ्गा च यसुना चैव प्रीयेतां परिमार्क्जनात्। पादाभ्यां प्रीयते विष्णु ब्रह्मा श्रिरिस कीर्त्तितः। नासत्यदस्ता प्रीयते स्पृष्टे नासा-पुट-दये। स्पृष्टे स्रोचन-युग्से तु प्रीयेते श्रश्च-भास्तरौ।

चर्मे पुटेन,—इति स॰ सा॰ प्रा॰ पुक्त केषु पाठः ।

[†] करकपाचे च, इति मु॰ पुन्तके पाठः।

[।] धीयते,--इति ग्रा॰ पुस्तके पाठः ।

कर्ण-युग्भे तथा स्पृष्टे प्रीयेते लिनिजानली।
स्कन्थयोः स्पर्धनादेव प्रीयन्ते मर्व्यदेवताः।
नाभि-मंस्पर्धनात्रागाः प्रीयन्ते चास्य नित्यणः।
मंस्पृष्टे हृदये चास्य प्रीयन्ते मर्व्यदेवताः।
मूर्द्ध-मंस्पर्धनादस्य प्रीतस्त पुरुषोभवेत्''—इति।
श्राचमनाकरणे प्रत्यवायो दर्धितः पुराणसारे, *—
"यः क्रियाः कुरुते मोहादनाचम्दैव नास्तिकः।
भवन्ति हि यथा तस्य क्रियाः सर्व्या न मंग्रयः''—इति।
॥ ।। इति श्राचमन-प्रकरणस्॥ ।।

श्रथ दन्तधावन-विधि:॥

श्रवाचि:,--

"मुखे पर्युषिते नित्यं भवत्यप्रयते। नरः।
तदाई-काष्ठं ग्राप्यं वा भचयेद्दन्तधावनम्"—इति।
व्याचाऽपि,—

"प्रवात्य इस्तो पादो च सुख इ सुसमाहितः। द्विणं वा इसुधत्य काला जान्यन्तरा ततः॥ तिकं कषायं कटुकं सुगन्धं कण्डकान्वितम्। चीरिणो वच-गुल्मादीन् भचयेद्दन्तवावनम्"—इति।

विष्णुः,—

^{*} पुराणसारे,—इति नास्ति मु॰ पुस्तको । गंसगन्धं,— इति मु॰ पुस्तको पाठः।

"काष्ट्रिक-चीर-विवेत्यं दादगाङ्गुल-सिम्मतस्। किनिष्ठाङ्गुलिवत् स्यूलं पर्वार्ड्ज-इत-कूर्चकस्॥ दन्त-धावनसुद्दिष्टं जिङ्कोलेखनिका तथा। सुद्धच्यं स्टच्य-दन्तस्य सम-दन्तस्य मध्यमम्॥ स्यूलं विषम-दन्तस्य चिविधं दन्त-धावनम्। दादगाङ्गुलिकं विषे काष्ठमाङ्गमणीषिणः॥ चन-विट्-ग्रुह्द-जातीनां नव-षद्-चतुरङ्गुलस्"—इति।

श्रक्तिराः,—

"श्राम-पुनाग-विलानामपामार्ग-शिरीषयोः।
भवयेत् प्रातहत्याय वाग्यतो दन्त-धावनम् ।।
वटाश्वत्याक-खिद्र-करवीरांश्च वर्ज्ञयेत्।
जात्यञ्च विल्व-खिद्र-मूलन्तु कत्रुभस्य च॥
श्रितमेदं प्रियङ्गञ्च कण्टिकिन्यक्तयेव च।
प्रवाल्य भवयेत् पूर्वं प्रवाल्येव च धन्यजेन्॥
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा कषायं तिक्रकं तथा।
प्रातर्भुक्ता च यतवाग्भवयेद्दन्त-धावनम्"—इति।
कात्यायना दन्त-धावनस्य काष्ठाभिमन्त्रण-मन्त्रं दर्भयति,—
'श्रायुर्वलं यश्रोवर्चः प्रजाः पश्च-वस्तृनि च।
ब्रह्म प्रज्ञाञ्च मेधाञ्च लं नोधिहि वनस्पते"—इति।

^{*} जिङ्गोलेखनिकां—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[†] इति, ग्रब्दोऽत्राधिके। मु॰ पुक्तके।

वर्ष्कांशनाहोग्रनाः,—"नाङ्गुलिभिर्दन्तान् प्रवालयेत्" ।
दिचिणाभिमुखो नद्यां नीलं धव-कदम्वकम् ।
तिन्दुकेङ्गुद-वन्धूक-मोचामरज-वल्वजम् ॥
कार्पामं दंन्त-काष्ठच विष्णोर्पि हरे च्क्रियम् ।
न भच्चयेत पालाणं कार्पामं ग्राकमेवच ।
एतानि भच्चयेद्यम् चीण-पुष्णः म जायते"—दति ।
विष्णुः,—

"प्रतिपद्र्षषष्ठीषु चतुर्द्यययमीषु च।
नवम्यां भानुवारे च दन्त-काष्टं विवर्ज्ञयेत्"—इति।
यमोऽपि,—

"चतुर्देखष्टमी दर्शः पूर्णिमा संक्रमे। स्वः ।
एषु स्ती-तेल-मांसानि दन्त-काष्ठच वर्ज्ञयेत् ।
श्राद्धे जन्मदिने चैव विवाहेऽजीर्ल-दोषतः ।
श्रते चैवोपवासे च वर्ज्ञयेद्दन्त-धावनम्"—इति ॥
व्यासोऽपि,—

''श्राद्धे यद्ये च नियमात्राद्यात् प्रोषितभर्वका । श्राद्धे कर्त्तुं र्निषेधोऽयं न तु भोतः कदाचन ।

^{*} वचनानामन्छुप्छन्दसे।पनिवद्धत्वात् खत्र च तह्यच्याभावात् वियन्य-खराखि पतितान्यनुमीयन्ते। परमादर्शपुक्तकेषु सर्वेध्वेवमेव दर्शनादित्यमेव रिक्ततम्।

[†] नियमाद्मतत्, -- मु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] माद्यकर्त्तु,—इति मु॰ पुक्तके पाठः

श्रुलाभे दन्त-काष्टानां निषिद्धायां* तथा तिणौ ।

श्रपां दादश-गण्डूषे विद्धाद्दन्त-धावनम्''-- इति । सद्धयाज्ञवस्यः !-

पराश्ररमाधवः।

"इष्टका-लेष्ट-पाषाले रितराङ्गुलिभिखया। सुत्ता चानामिकाऽङ्गुष्ठो वर्ज्जयेद्दन्त-धावनम्"—इति। इति दन्त-धावन-प्रकरणम्॥

श्रय मान-जप होमादे ईर्भ-पाणिना कर्त्तव्यवादादी दर्भ-विधिक्चते ॥

तत्र हारीतः—

"श्रक्तितायान् सपवांश्व? समूलान् कोमलान् ग्रुभान्।

पित्र-देविर्ष-पूजार्थं ममादध्यात् कुग्रान् दिजः।

कुग्र-इस्तेन यच्चप्तं पानच्चैव कुग्रैः सह।

कुग्र-इस्तस्तु यो भुक्के तस्य संस्था न विद्यते"—इति।

पुराणान्तरेऽपि,—

"कुश-पूतं भवेत् सानं कुशेने।पस्पृशेत् दिजः । कुशेन चेद्धितं तोयं चेामपानेन समितम्"—इति । गोभिसोऽपि,—

^{*} निषिद्धे च --- इति मृ॰ पुक्तके पाठः।

[†] याच्चवण्क्यः—इति मु॰ पुक्तको पाठः।

[‡] जप,--इति मु॰ पुक्तके नास्ति।

५ पवित्रांख,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[।] पिटदेव जपार्थन्तु,—इति स॰ से।॰ ग्रा॰ पुस्तकेषु पाठः।

[¶] कुग्रहस्तेन,—इत्यारभ्य कुग्रेने।पस्पृशेत् दिजः,—इत्येतदन्तीग्रज्यः सुदि-तातिरिक्त पुस्तकेषु न दृश्यते ।

"कुश-मूले स्थितो ब्रह्मा कुश-मध्ये जनाईनः । कुशाये शङ्करं विद्यात्*चयो देवाव्यवस्थिताः"—इति । कौशिकः,—

"ग्रुची देशे श्रुचिर्भूता ख़िता पूर्वीत्तरामुखः । ॐकारेणैव मन्त्रेण कुशाः सृष्यादिजोत्तमैः''-इति । उत्पाटन-मन्त्रस्तु,—

"विरिञ्चिना यहे।त्पन्न, परमेष्ठि-निसर्गन: ।

नुद पापानि सर्वाणि दर्भ, खिस्तिकरे। सम् "-दिति। वर्ण-अदेन विनियोग-भेदमाइ! कात्यायमः,-

"इरिता यज्ञिया दभीः पीतकाः पाकयज्ञियाः^(९) । समूलाः पिट्टदैवत्याः कल्माषा वैश्वदेविकाः"—इति । खुशाभावे शङ्खः,—

"कुशाभावे दिजश्रेष्ठः काश्रेः कुर्व्वीत यत्नतः? । तर्पणादीनि कर्माणि काश्राः कुश्र-धमाः स्वताः"-इति । यमोऽणि,-

- * विन्दात्,—इति मृ॰ पुस्तके पाठः।
- † निसर्गतः, इति भा॰ पुस्तके पाठः।
- ‡ विनियागमाच, इति प्रा॰ पुक्तके पाठः।
- 🖇 तत्त्वतः,—इति ग्रा॰ स॰ पुक्तकयाः पाठः।

⁽१) पाकयित्रयाः पाकयत्ते विनियोगार्हाः । पाकयत्त्रस्,—"पाकयत्ता हृत्याच्यत रकाया यत्तान् (८.८.२)"— इति काळायनीये श्रीतसूत्री परिभाषितः। "त्रयः पाकयत्ताः, इतां ख्रियो ह्रयमाना खन्मी प्रक्रता ब्राह्मयानीन ब्रह्मिया इताः, (१.१.२-३)"— इति खाश्ववायनीये ग्रह्मसूत्रे उक्तम्। "पाकयत्ताः खल्पयत्ताः प्रश्चन्तयत्ता वा"— इति तदुत्तौ गार्थनाराययाः । पाक्षयत्तः पाकाश्वन्यत्ती रुवित्सर्थग्रह्मितिष्ठा होमादिः,— इति रघुनन्दनः।

पराश्ररमाधवः।

"कुगाः कागा यवा दूर्व्यास्त्रया बीह्यएवच। वलजाः पुण्डरीकाञ्च सप्तधा वर्हिरुचाते"-इति । वज्ञीनाच चारीत:-

> "चितौ दर्भाः पि दर्भाः ये दर्भा यज्ञ-भूमिषु । ्रस्तरणामन-विण्डेषु † षट् कुशान् परिवर्ज्ञयेत्॥ ब्रह्मयज्ञेषु चे दर्भा चे दर्भाः पित्रतर्पणे। इता मूच-पूरीषाभ्यां तेषां त्यागोविधीयते ॥

त्रपूतागर्हिता दर्भा ये मंच्छिताः १ नखेसाया॥ । क्षियतानग्निद्राधां खु कु भान् यत्नेन वर्ज्जयेत्"—इति ।

क्रुगोत्पाटने काल-नियममाइ हारीतः,--

"मारे नभस्रमावास्या तस्यां दर्भ-चयोमतः[¶]।

श्रयातयामास्ते दर्भा नियोज्याः स्तुः पुनः पुनः"(१)—इति॥

ग्रह्य:*°-

```
दर्भाः कृष्णाजिनं मन्त्राबाह्यणाञ्च विशेषतः 🕂 ।
```

- * पुर्व्हरीकानि,—इति ग्रा॰ पुस्तके पाठः। † गर्तेषु,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।
- ‡ वस्ययचे च,-इति मु॰ पुस्तको पाठः।
- 🖇 येचच्छित्राः,—इति ग्रा॰ पुस्तके पाठः ।
- ॥ नखेः स्मृताः, --इति स॰ सा॰ प्रा॰ पुस्तकेधु पाठः।
- ¶ दर्भोच्छयामतः,— इति मु॰ पुक्तके पाठः।
- * जास्तीदं सुदितातिरिक्तपुम्तकेषु।
- †† ब्राह्मणा इविरययः,—इति खन्धच पाठः।
- (१) यातयामलञ्च,—''जीर्णञ्च परिश्वत्तञ्च यातायामिनदं दयम्''— इत्युत्तः बच्चां, तद्वैपरीत्यमयातयामलम्।

त्रयातयान्येतानि नियोच्यानि पुनः पुनः"—इति । पवित्र-धार्णे फलमाइ मार्कण्डेयः,—

> "कुश-पाणिः घदा तिष्ठेत् ब्राह्मणो दंभ-वर्जितः । स नित्यं इन्ति पापानि त्रल-राशिमित्रानलः" - इति ।

घातातप:,--

"जपे होसे च दाने च खाध्याचे पित्र-तर्पणे।
श्रश्रूत्यं तु[†] करं कुर्यात् सुवर्ण-रजतैः कुर्शैः"—दाते।
पविच-प्रकारमाह कात्यायनः,—

"त्रनन्तर्गर्भणं साग्रं कुणं दिदलसेवच । प्रादेशमाचं विज्ञेयं पविचं यच कुचचित्''—इति । सार्कण्डेयः,‡—

> "चतुर्भिः दर्भ-पूज्जीले ब्रीह्मणस्य पवित्रकम्। एकैक-न्यूनसुद्दिष्टं वर्णे वर्णे यथाक्रमम्॥ चिभिः दर्भेः शान्ति-कर्ष पञ्चभिः पौष्टिकन्तथा। चतुर्भियाभिचारां युश्चेन् कुर्यात् पवित्रकम्" (१)—दिति।

শ্বনি:,—

^{*} नियाच्याः स्यः— इति भा० पुम्तने पाठः।

[†] चान्यूनं तु,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] मार्कां खेराऽपि,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[🖇] चतुर्भिचाभिचाराख्यं,—इति मृश्युक्तको पाठः।

⁽१) प्रान्तिर्धमंदारा ऐहिकानियहेतुदुरितनिय्तः, तद्र्यं यत् कर्मा विद्वितं तत् प्रान्तिकर्मा युच्यते । पृष्टिर्धनाद्यपचयः, तत्पनकं कर्मा पौष्टि-कम्। खिभचारः प्रज्ञनारणादिः । स चाभिचारः प्रक्षते प्रोनादिरूपतया पर्यवस्तिः।

"ब्रह्म-यज्ञे जपे चैव ब्रह्मग्रन्थि विधीयते। ओजने वर्त्तुलं प्रोक्तं एवं धर्मा न हीयते" -- इति। इति दर्भ-प्रकरणम्॥

तदेवं 'सन्धा द्वानम्'- द्वासिन् वचने द्वान-प्रब्दोपसिन् तानि ब्राह्म-सहर्त्तोत्यानादीनि कुत्र-विध्यन्तानि कर्षाणि निर्दाप-तानि; प्रयेदानीं मूल-वचनोक्तं खानं प्रपञ्चरते । तत्र कूर्षपुराणम्,—

"प्रचाख्य दन्त-काष्ठं वे अस्ययिता यथाविधि । श्राचम्य प्रथतो नित्यं प्रातःस्तानं समाचरेत्"—इति । स्वासः,—

"उषःकालेतु संप्राप्ते कला चावम्यकं वुधः । द्वायात्रदीषु ग्रुद्धासु भोचं कला यथाविधि"—इति । इचोऽपि?,—

"श्रद्धाला नाचरेत् कर्ष जप-होमादि किञ्चन ॥ । खाला-खेद-समाकीर्णः प्रयनादुत्यितः पुमान् ॥ श्रत्यन्त-मिलनः कायोगन-च्छिद्र-समन्तिः । खनत्येव दिवा राषीण प्रातःखानं विश्वोधनम् ॥ प्रातःखानं प्रशंसन्ति दृष्टादृष्ट-फलं हि तत्। सर्वमर्चित शुद्धात्मा प्रातःखायी जपादिकम्"-इति।

वर्त्तुलः प्रोक्तः,—इति धा॰ पुक्तको पाठः ।

[†] विधीयते,—इति मृ॰ पुस्तके पाठः।

[‡] प्रक्रम्यते, — इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[§] गास्येतत्, —मृ॰ पुक्तने।

[|] बिष यत्, — हति मु॰ पुक्तके पाठः।

प दिवारात्रं, - इति मुं पुषाको पाठः।

द्यामः, — "ऋषीणास्टिषिता नित्यं प्रातः ह्यानान्न मंत्रयः । श्रम्भाः काल-कर्णी प्रशः दुर्विचिन्तनस् । प्रातः ह्यानेन पापानि पूचन्ते नाच मंत्रयः"—इति । दत्तोऽपि, —

''श्रज्ञानाद्यदि वा भोदा द्रात्रो दुयरितं क्रतम्।
प्रातःखानेन तत् सञ्जं ग्रोधयन्ति दिजातयः''-इति ।
खान-प्रकारः चतुर्विंग्रात-भते विदितः,—
'खानमञ्देवतिर्भन्ते वीर्रणेश्च सदा सद।
कुर्याद्वाद्दितिभवीऽय यत् किञ्चेदसचाऽपिवा ।''(र) - इति ।

इर्विचिन्तितम्, इति मृ॰ पुक्तके पाठः ।
 चित्तिञ्चेदस्यापि च, - इनि मृ॰ पुक्तके पाठः ।

⁽१) च्यलच्योर्लच्या च्या । कालकर्यी चतुःविष्येगिगन्यन्तर्गताऽस्टिनं-भ्रत्संत्यका यागिनी।

⁽श) खब्दैवतमन्त्राः ऋग्वेदे दश्ममग्छले नवमस्त्री नव पिठताः, तत्र प्रथमे चयामन्त्रा आधिमार्तते अपांस्पर्शे विनिय्त्रत्या प्रसिद्धाः। तत्र, 'खापोह्छि'—इत्यादिः प्रथमेमन्त्रः, 'यावः श्वितमारसः'—इत्यादिहिं तीयः, 'तस्मा अरं'—इत्यादिन्तृतीयः। रतस्व वाजसनेयसंहितायां रका-दश्मधाये पिठताः। रवं सामवेदसंहितायामुत्तराग्रस्थे नवमध्याठकस्य दितीयार्डे तदक्त्रयात्मकमेव दश्मं स्त्रतं पिठतम्। वार्रणमन्त्राख्न, 'तन्त्वा-यामि ब्रह्मणा वन्यमानः'—इति पञ्च, 'तं नारुमे वर्णस्य विद्यान्'—इति हे, 'इमं मे वर्णश्रिध'—इति चेत्रयेश ऋषः हिमादिणा लिखिताः। तत्र तत्त्वायामीत्याद्याः पञ्च ऋषः, ऋग्वेदे प्रथममग्डले पञ्चदश्चीतमके चतुर्विः शतिस्ते रकादशाद्याः। 'त्वं नारुमे वर्णस्य विद्यान्'—इति दे ऋषी ऋग्वेदे चतुर्यमग्डले विद्यतिऋगात्मकप्रयमस्त्रते चतुर्थीपञ्चण्या। 'इमं मे वर्णश्रि'—इति च ऋग्वेदे प्रथममग्डले पञ्चविंग्रतिस्तर्भ स्थानविंग्रतितमी चर्म्। व्याह्नतयाभृराद्याः प्रसिद्धाः। 'यत्किञ्चेदं'—इति च ऋग्वेदे स्थममग्डले पञ्चविंग्रतिस्तर्भ स्वते पञ्चनि स्त्रते पञ्चमी ऋम्।

कात्यायनोऽपि,—

"थथाऽइनि तथा प्रातः नित्यं स्नायादनातुरः"। दन्तान् प्रचात्य नदादौ ग्रहे चेत् तद्मन्त्रवत्''- इति। भ्रमन्त्रवदिति सन्त्र-संनेपोऽभिप्रेतः; यतः सएव श्राह,—

> . "श्रन्यवाद्वोम-कालस्य वज्जनात् स्नान-कर्मणः।

प्रातः संचेपतः स्नानं † होम-लोपो विगर्हितः"-इति । कास-नियमसाह जावालिः,-

"स्ततं प्रातहत्याय दन्त-धावन-पूर्वकम्। श्वाचरेदुषि स्तानं तर्पयेद्देव-मानुषान्"—इति । खतुर्विंग्रति-मतेऽपि,—

> ''उषस्युषि यत् स्नानं सन्धायासुदितेऽपिता । प्राजापत्येन तन्तुन्यं सर्ज-पाप-प्रणामनम्''— इति ।

खिते द्रत्युद्धाभिमुखे,—दत्यर्थः । खद्यस्याणुपरि स्नानं चेत् धन्ध्याऽणुत्क्रक्षेत्र, (१)स्नान-पूर्व्वकलात् धन्ध्यायाः ; धन्ध्योत्कर्षस्य योगि-याज्ञवक्कोन ! निषिद्धः,—

"धन्धी धन्धासुपासीत, नास्तगे नाद्गते रवी''—इति । यथोतं स्नानं कुर्वन्नघमर्वणं^(२) कुर्यात्। तदाइ शौनकः,—

स्वायादतन्त्रितः,—इति मृ॰ पुन्तकी पाठः ।
 प्रातन तनुयात् स्वानं, —इति स्वन्थन पाठः ।

[‡] याज्ञवल्लोरन, - इति मृ॰ पुन्तको पाठः।

⁽१) विचितकानादुत्तरकाले करणमुत्कर्धः।

⁽श) "ऋतश्व"— हत्यादि ऋक्त्रयं अव्यवधातया प्रसिद्धम्। तच ऋगवेदे दश्चमसम्बद्धे युचात्मकं गवत्यधिकश्चततमं स्वक्तम्। स्तदेव स्वतं तैत्तिरीया-रुग्यने दश्मप्रपाठके प्रथमानुवाके पठितम्।

"स्नाताऽरचाम्नावारि-मध्ये चिः पठेदघ-मर्षणम्"—इति । ब्रह्मार्ष्डपुराणे स्नानाङ्ग-तर्पणं विहितम्,—

"नित्यं नैमित्तिकं काम्यं चिविधं स्नानसुच्यते।
तर्पसन्तु भवेत्तस्य श्रङ्गलेन प्रकीर्त्तितम्*"—इति।
यभाऽणिः—

"दौ इसौ युग्मतः क्रता पूरचेदुदकाञ्चलिम्। गोग्रहङ्गमानमुद्धृत्व जल-मध्ये जसं चिपेत्"-इति। कार्काविनः.—

"नाभिमात्रे जले खिला चिन्तयत्रूईमानयः"—इति । तर्पवेदितिशेषः । नृषिंदपुराणे,—

> "पित्वन् पित्व-गणान् † देवानिद्धः सन्तर्पयेन्तः । देवान् देव-गणांश्वापि सुनीम्मन-गणानिप" !॥

परुविंगतिमते,--

"खानादनन्तरं तावत् तर्पयेत् पित्व-देवताः । जनीर्य पीड्येदक्तं चन्धा-कर्म ततःपरम्"(१)—इति । भरदानाऽपि,—

"वन्त्रोदकमपेचन्ते ये म्हतादायकर्षिणः 🛭 ।

^{*} खबस्यितम्,—इति खन्यत्र पाठः।

[†] ऋषिगयान, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] पितृन् पिद्धगर्याचापि नित्यं सन्तर्पयेत्ततः—इत्यर्जनिधनं स॰ सा॰ भा॰ पुरानेषु ।

[§] दासकर्मकः,---इति सु • पुक्तके पाठः ।

⁽५) धनेन धानाक्षतपैशं धानप्रयोगयवान्तर्भूतम्, -- इत्युत्तं अविति ।

तसात् सर्व-प्रथतेन जलं भ्रमौ निपातयेत्" - दति । बस्त-निष्पीड्न-मन्त्रसु,--

> "ये के चासान्-कुले जाता श्रपुत्रागोत्रिणास्ताः। ते ग्रह्णन्तु मया दत्तं वस्त-निष्योऽनादकम्"—इति। ॥०॥ इति स्नानप्रकरणम्॥०॥

खानानन्तरं वासः परिद्धात् । तथा च मत्यपुराणे ,—
"एवं खाला ततः पञ्चादाचम्य च विधानतः ! ।
जत्याय वामसी गुक्ते गुद्धे तु परिधाय च है"—इति।
कर्मा कुर्यादितिश्रेषः । योगियाज्ञवल्काः,—

"स्नानैवं वाससी धौते । श्रिक्किने परिधाय च।
प्रत्याखोरू सदा चाड्नि: इस्तौ प्रचालयेन्ततः ग"—इति।
श्रव विशेषमाइ व्यामः,—

''ने।त्तरीयमधः कुर्यान्नोपर्याधस्यमम्बरम् । नान्तर्वाचे। विना जातु निवचेद्दमनं बुधः''—इति । श्रव मार्करुडेयपुराणे,—

^{*} त्रष्यन्तु,—इति सेा॰ ग्रा॰ पुस्तकयेाः पाठः।

[†] वामनपुरासो, इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] यथाविधि,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[🖇] परिधायवा,— इति स॰ से।॰ ग्रा॰ पुक्त नेषु पाठः।

[∥] शुक्तो,—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

[¶] प्रदाखयेदिति,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

"श्वग्रंच्यात्रच" खातो गाचाण्यम्बर-पाणिभिः। न च निर्भूनुयात्वेशान् वाषयीव न पीड्येत्[†]"—इति । श्वच कारणमाद गोभिलः‡,—

"पिवन्ति श्रिक्षेदिवाः पिवन्ति पितरे सुखात्। सध्यतः सर्वे-गत्थन्त्री ऋधस्तात् सर्वे-जन्तवः॥ तस्मात् स्नाते। नावस्त्रस्थात् स्नान-ग्रास्था न पाणिना" - इति। स्नाक्षेऽपि,—

"तिसः केन्छोऽई-केटी-च यावन्यङ्गक्षानि वै। स्ववन्ति धर्द-तीर्घाणि तस्मान्न परिमार्क्डयेत्"—इति। भावाणि:,—

"सानं सताऽऽई-वासास्त विष्मूत्रं कुर्तते यहि । प्राणायाम-चयं सता पुनः स्नानेन शुद्धाति"—इति । बस्त विषये विशेषमास् सग्ः,—

"ब्राह्मणस्य सितं वस्तं नृपतेरक्तमञ्चलम् ॥(१)। पीतं वैध्यस्य प्रदृद्धः नीलं मज्ञवद्धिते"—इति। प्रजापतिरपि,—

नरः,—इति द्या॰ पुत्तकयाः पाठः ।

[†] निर्धुनेत्,— इति सेा॰ स॰ ग्रा॰ पुल्तकेषु पाठः।

[‡] देवलः,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[🖇] बसिल, — इति स॰ सा॰ मा॰ मुक्तकेषु माठः।

[॥] रक्तमन्बरम्, — इति ग्रा॰ पुरुके पाउः।

⁽१) उन्वयं उत्कटम्। रक्तविशेषविभदम्।

"चौमं वाषः प्रसंग्रन्ति तर्पणे सदश्रम्तथा।
काषार्यं धातु-रक्तं वा * सेल्वणं तच कर्षिचित्"—इति।
देवले।ऽपि ं,—

"ख्यं धौतेन कर्त्त्वा क्रिया धर्मग्रा विपश्चिता ।

म तु सेवक-धौतेन नाइंतन न विश्वचित्'—इति ।

माइतेनेति समस्तं पदम् । श्राइत-स्वणमाइ पुस्त्यः,—

"ईषद्भौतं नवं श्वेतं सदृशं यस्त धारितम् ॥ ।

श्राइतं तिद्यानीयात् सर्वे कर्मस् पावनम्"—इति ।

मौधायनोऽपि,—

''कर्त्त्रयमुत्तरं वासः पञ्चखेतेषु कर्मस् । खाध्याय-होम-दानेषु भक्ताचमनयोस्त्रया''—दित । एतत्, सर्व-कर्मीपलचणार्धं, श्रनुत्तर्यस्य कर्ममाच-निषेधात्। तथा च स्मृणोक्तम्,—

> "विकच्छोऽनुक्तरीयस नग्नश्चावस्त्रएवच । श्रीतं स्मान्तं तथा कर्मा न नग्न स्थिन्तयेदपि ॥ नग्नोमिल्लन-वस्तः स्थानग्रस्थाई-पटः स्मृतः।

^{*} काषायधातुवस्तं च,—इति सु॰ पुन्तको, काषायधातुरक्तं वा,—इति धा॰ पुन्तको पाठः।

[†] गास्तीदं मु॰ पुस्तके।

[‡] रजक्षीतेन, — इति सेा॰ ग्रा॰ पुत्तकयाः पाठः।

[§] नाहतेन घ,—इति ग्रा॰ पुन्तके पाठः।

[॥] धावितं, - इति ग्रा॰ पुस्तके पाठः।

१ साध्यायात्मर्गदानेषु, -- इति से। शा॰ पुस्तकयाः पाठः।

^{**} व वपस्थिन्तयेदिति,—इति मु॰ पुन्तके पाठः।

नग्नसु दग्ध-वस्त्रः स्थानग्नः स्थूत-पटस्तथा''—इति । विष्णपुराणेऽपि,—

"हाम-देवार्चनाद्यासु क्रियासु पठने तथा। नैक-वस्त्रः प्रवर्त्तेत दिजे।नाचमने जपे"—इति । गोभिलोऽपि,-

''एकर्वस्त्रो न भुज्जीत न कुर्याद्देवताऽर्चनम्''—इति । श्रवार्नुकल्पमाच योगियाज्ञवल्काः,—

''श्रनाभे धौतवस्तस्य ग्राण-चौमाविकानि च । कुतुपं योग-पट्टच्च*(१) विवासास्तु न वै भवेत्"—दति । कुतुपं याग-पट्टं च, धारयेदिनिशेष: । ॥०॥ इति वल्ल-धार्ण-प्रकर्णम् ॥०॥

त्रथ, ऊर्द्धपुण्डु-विधि: † ब्रह्माण्डपुराणे दर्शित:,— "पर्वताग्रे नदी-तोरे धम्मे-चेत्रे विशेषतः। सिन्धु-तीरे च वल्सीके तुलमी-मूल-म्हितकाम् ॥ मृद एतासु संग्राह्याः १ वर्ज्ञयेलन्यमृत्तिकाम। ग्यामं ग्रान्ति-करं प्रोतं रतं वग्य-करं भवेत ॥

^{*} कुतपं यागपादच,--इति सा॰ प्राल पंन्तकयाः पाठः। एवं परच पंती।

[†] चिष्युद्धविधि, — इति शा॰ पुन्तके पाठः।

[‡] तुलसोमूलमाश्रिते, — इति सेा० ग्रा० पुस्तकयोः पाठः।

[्]र ∮ सम्पाद्याः,—इति स॰ सेा॰ ग्रा॰ पुक्तकेषु पाठः।

⁽१) कुत्पे निपालकम्बलः । योगपट्टम् 'ये।गपाटा'-इति प्रसिद्धम् ।

श्री-करं पीतमित्याङ वैंप्णवं श्वेतसुचाते । श्रङ्गाष्टः पुष्टि-दः प्रोक्तो मध्यमाऽऽयुष्करी भवेत्॥ श्रनासिकाऽत्र-दा नित्यं सुक्ति-दा च प्रदेशिनी। एतेरङ्ग्लि-भेदेस कारयेत्र नखेः स्पृशत्॥ वर्त्ति-दीपाकृतिं वाऽपि वेणु-पनाकृतिं तथा । पद्मस्य सुकुलाकारं तथैव कुसुदस्य च ॥ मत्य-कूर्माकृति वाऽपि शङ्काकारमतः परम्॥ दशाङ्गुल-प्रमाणन्तु उत्तमोत्तमसुचिते । नवाङ्गुलं मध्यमं खादष्टाङ्गुलमतः परम्॥ षत्र-षट्-पञ्चभिः पुष्ट्रं सध्यमं चिविधं स्वतम् । चतु स्त्रिद्यङ्गुलैः पुष्टुं कनिष्ठं चिविधं भवेत्॥ खलाटे केशवं विद्यानारायणमधोदरे। माधवं इदि विन्यस्य गोविन्दं स्कन्ध-मूलके ।। **उदरे दिल्ले पार्श्व विष्णुरित्यभिधीयते ।** तत्पार्श्वे बाज्ज-मध्ये मधु-सदनमनुसारेत्॥ चि-विक्रमं कण्ड-देशे वाम-कुचौ तु वामनम्। श्राधरं बाङके वासे इधीके ग्रन्तु कर्णके 🗓 ॥ दादशौतानि नामानि वासुदेवेति गूईनि॥ ष्ट हे तुपद्मनाभन्तु ककुद्दामोदरं खारेत्।

^{*} मुक्तिदाण, — इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[†] क्याः कूपके, - इति से। शा पुस्तकयाः पाठः।

¹ मयहवं ,--प्रति बेा॰ गा॰ पुलक्याः पाठः।

पुत्रा-काले च होसे च सायं प्रातः * समाहितः।
नामान्युचार्यं विधिना धार्येदूर्द्वपुष्ट्रकम्"—इति।
सत्यवतोऽपि,—

"मन्त्रांत्रीधारयेन्त्रियं ऊर्डपुष्ट्रं विना तु तत्। यन्त्रम्भं कार्यंन्त्रिय तत्मञ्चं निष्पालं भवेत्"—इति । "ऊर्डपुष्ट्रं म्दरा ग्रुभं ललाटे यस्य दृश्यते । स चाण्डालोऽपि श्रुद्धात्मा । पूच्चएव न मंग्रयः"—इति । ॥ । । इति ऊर्डपुष्ट्र-प्रकर्णम् ॥ ०॥

प्रातः स्तान-प्रमङ्गेन खानान्तराणु चन्ते । तत्र ग्रह्मः,—

"स्नानन्तु दिविधं प्रोक्तं गोण-सुख्य-प्रभेदतः ।
तयोस्तु वाह्णं सुख्यं तत्पुनः षद्विधं भवेत्"—इति ।
तच, सुख्य-स्नानस्य षट्-प्रकारता त्राग्नेयपुराणे दर्शिता,—
"नित्यं नैसिन्तिकं काम्यं कियाऽङ्गं सन्तकर्षणम् ।
किया-स्नानं तथा षष्ठं घोडा स्नानं प्रकोर्त्तितम्"॥
एतेषां नित्तणसाइ शङ्खः,—

"श्रह्मातय पुमानाई। जपाग्निहनगदिषु। प्रातः हानं तदर्थन्तु नित्य-स्नानं प्रकीर्त्तितम्॥

सार्यकाले,—इति स० द्या० प्रक्तकयोः पाठः।

र् 'अन्त्रोक्त' — इत्यारभ्य, 'इति' इत्यन्तोग्रत्थः नान्ति मु॰ पुकाकी।

[🛊] चारहालापि विश्वद्धातमा — इति मु॰ पुन्तके पाठः।

चाण्डाल-गत्र-यूपांश्व (१) स्पृष्टाऽस्तातां रजस्वलात्। स्वानार्षम्य यदाप्तोति स्वानं नैमित्तिकं हि तत्॥ पृष्य-स्वानादिकं यनु दैवज्ञ-विधि-चोदितम्। । तद्धि काम्यं समुद्धं नाकामस्वत्? प्रयोजयेत्॥ जप्तकामः पविचाणि(१) श्रिचियन् देवताः पितृन्। स्वानं समाचरेद् यमु॥ कियाऽङ्गं तत्प्रकीर्त्तितम्॥ मलापकर्षणं नामण स्वानमभ्यङ्ग-पूर्वकम्(१)। मलापकर्षणार्थाय प्रदत्तिस्तस्य कोर्त्तिता॥ सरःसु देवखातेषु तीर्थेषु च नदीषु च। किया-स्वानं समुद्धिं स्वानं तच मता किया''—इति।

यदापि, मधाज्ञ-स्नानस्य नेदानीमत्रमर स्तथापि प्रातःस्नानवत्तस्य नित्यत्वात् प्रमङ्गेनाभिधीयते । तस्य नित्यत्वस व्याघपादेनात्रम्,—

^{*} चार्खालप्रवपूजादिः—इति सा॰ प्रा॰ पुस्तकयाः पाठः।

प्रथमसानादिकं, — इति स॰ सा॰ प्रा॰ पुस्तकेषु पाठः।

[‡] विधिनोदितं,—इति शा॰ पुस्तको पाठः।

[🖇] सकामस्तत्,—इति मु॰ पुस्तको पाठः।

[॥] समाचरेत्रियं, — इति शा॰ पुक्तको पाठः।

मपापक र्घणं स्तानं, — इति मु॰ पुस्तको पाठः।

⁽१) यिच्ययूपसार्रोपि निषिदः। स च विहः कर्म्मण ऊर्द्धमेव मन्त्रयः। ग्रोभिलेन लच हीमादिकं विहितम् (ग्रो॰ग्र॰—३प्र॰३कार॰३७— ३८ सूचम्)

⁽२) पविचाणि मन्त्रान्।

⁽१) अभ्यक्षस,—''मूर्द्धि दत्तं यदा तैलं भवेत् सर्व्वाक्षसक्षतम्। स्रोते। भि-क्तर्पयेदाह्र अभ्यक्षः स उदाह्यतः''—इत्याय्वीदाक्षणस्याः।

"प्रातः खायी अवैन्तिष्यं मध्य-खायी अवेदिति^(१)"। कूर्मपुराणे,—

"ततो सधाइ-समये स्नानार्थं स्ट्साइरेत्।
पुष्पाचतान्^(२) कुग्र-तिलान् गोसयं ग्रुद्धसेवच।
नदीषु देवखातेषु तड़ागेषु सरःसु च॥
स्नानं समाचरेत्रित्यं गर्न-प्रश्रवणेषु च^(२)।
परकीय-निपानेषु^(४) न स्नायाद्वे कदाचन॥
पञ्च पिण्डान् ससुद्धृत्य स्नायाद्वाऽसस्भवे पुनः"—इति।
तचाधिकार्यनिधकारिणो व्यासे विभजते ,—
"स्नानं मध्यन्दिने कुर्यात् सुजीर्णेऽस्ने निरामयः।

^{*} तटाकेंबु,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

र्ग तचाधिकार्थ्यनधिकारिया विभजते, - मु॰ पुस्तके पाठः।

⁽१) खत्र नित्यपदं काका चिगे जिकन्यायात् पूर्विण प्रातः खायी त्यने परेण च मध्य खायी त्यने नान्विति । मध्य खायी मध्या इखायी । तथा च नित्य-पदसं बन्धा द्वित्य विद्यम् । तद्वतम् । "नित्यं सदा यावदायु ने कदा-चिदितिक मेत् । उपेत्या तिक मे दोष श्रुते रत्या गदर्भ नात् । फाला श्रुते -विश्वा च तद्वित्य मिति की चितम्"—इति ।

⁽२) खन्ततायवाः। "अन्ततास्त यवाः प्रोक्ताः"—इति स्मरणात्। यवा-नामासादनच्च तर्पणार्थमिति नोध्यम्। एवं तिकानामपि।

⁽३) गर्नान्त, "धनः सहसाण्यसी च गतिर्यासां न विद्यते । न ता नदी-श्रन्दवद्या गर्नान्ते परिकीर्त्तिताः"—इत्युत्तजद्याः।

⁽⁸⁾ परकीयत्वं परखामिकत्वं तेन परखानिते निपाने उत्पर्धात्यरं न पिण्डोडारः,—इत्येके निनन्धारः। परकीयत्वं परक्षतत्वं तेनेत्स्यगत् परकृषि पिण्डोडारः,—इत्यपरे।

न भुक्ताऽलङ्गृतोरागी* नाज्ञातेऽस्थि नाकुलः"—इति । श्रात्रम-भेदेन स्नान-व्यवस्थामाह दत्तः,—

> ''प्रातर्मधाह्नयोः स्नानं वानप्रस्य-ग्रहस्ययोः । यतेस्त्रिसवनं प्रोतं मञ्जनु ब्रह्मचारिणः"—दित ।

श्रन्वय-वातिरेकाभ्यां सानस्य समन्त्रतामाह व्यासः,—

"मन्त्र-पूर्तं जले स्नानं प्राज्ञः स्नान-फल-प्रदम्। न तृषा वारि-मग्नानां यादसामिव तत्-फलम्"॥

योगियाज्ञवल्यः,-

"मत्य-कच्छपांमण्डूकास्तोये मग्नादिवानिश्रम्। वसन्ति चैव ते स्नानानाप्नुवन्ति फलं क्वित्"—इति। समन्त्रत्नं दिजाति-विषयम्। यदाह विष्णुः,—

"ब्रह्म-चन्न-विशां चैन मन्त्रनत् स्नानिमयते। तुष्णीमेन हि ग्रहृस्य स्त्रीणाञ्च कुरू-नन्दन"—इति।

तुष्णामव १६ रहहू खारताणा च पुर्व गन्द्र चहात । 'द्वानार्थं स्ट्रमाहरेदित्'—दति यदुक्तं, तत्र विभेषमाह भातातपः,—

> "ग्रुचि-देशानुं शंयाद्या प्रकेरास्मादि-वर्ज्जिता । रक्ता गौरा तथा श्वेता म्हित्तका त्रिविधा स्टता॥ म्हित्तकाऽऽखूत्करासेपाद् विसास्च वरिष्टक्यो.।

^{*} योगी,—इति मु॰ पुस्तके पाठः। † जिसवनखानं,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] कूम्मक, --- इति सु॰ पुक्तके पाठः।

९ शुची देशे तु,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[॥] जनाच,—इति सेा॰ पुस्तके पाठः ।

कत-भौचाऽविश्वष्टा च न याद्याः सप्त स्वतिकाः। स्वत्तिकां गोमयं वाऽपि न निश्रायां समाइरेत्। न गोमूच-पुरीषे तु स्टबीयादुद्धिमान्नरः"—इति । योगियाद्मवस्कोऽपि,—

"गलोदकानं विविधत् खापयेत्तत् पृथक् चितौ । विधा छला सदन्तान्तु गोमयं तिद्वचणः॥ श्रधमोत्तम-मध्यानामङ्गानां चालनन्तु तैः। भागैः पृथक् पृथक् कुर्यात् चालने सद्यद्भरम् ।"—इति । भौनकोऽपि.—

> "प्रयते। म्हदमादाय दूर्वाऽपामार्ग-गोमयम्। एकदेशे प्रयक् कुर्यात् * * * * "-इति।

বিখিচ:,—

"स्देकया शिरः चाखं दाश्यां नाभेखयोपरि।
श्रथस्य तिस्रिभः कार्यं ं षड्भिः पादौ तस्व च।
श्रवाख सर्व-कायन्तु दिराचम्य यद्याविधि"—इति ।
काय-प्रचाखनानन्तरभावि-कर्त्त्रयमाहश्च श्रोनकः,—"गायश्चाः
श्रादित्योदेवता खाताऽतो देवा॥—इति स्ट्रमभिमन्त्रयेत्,—ततो

^{*} क्षतशीचावशेघाच,--इति सा॰ शा॰ प्रतक्योः पाठः।

[†] कुर्यातालनेम्द्रसङ्गरः,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[🚶] व्यथचतस्रक्षिः कार्यः, — इति सु॰ प्रस्तके पाठः।

[§] ज्ञत्यमाच, — इति सु॰ पुक्तको पाठः।

[॥] गायन्या चादित्या चविष्ट्याता ततोदेवा—इति चेा॰ शा॰ युक्तकयोः पाठः।

यत इन्द्र खिखिदा विश्वस्ति विरचो विष्युध इन्गं सुरेजिरिति सदं संग्रह्म प्रतिमन्तं प्रतिदिशं चिपेत् पूर्वादि-क्रमेण (१) ततः समा-र्ज्ञां कुर्यात् सदा पूर्वन्तु मन्त्रवत्"।

'श्रयकान्ते'—दत्यादयो सद्घ इण-मन्ता यजुर्वेद-प्रसिद्धाः^(१) । ''पुनस्य गोमयेनैवमयमयमीरिति ब्रुवन्^(१) । श्रयमयं चरन्तीनामौषधीनां वनेवने॥ तासास्रवभ-पत्नीनां सुरभीणां श्ररीरतः । उत्पन्नं लोक-सौख्यार्थं पविचं* काय-श्रोधनम्॥ लं मे रागांस श्रोकांस पापस्च हर गोमय''—दति ।

^{*} पावनं, - इति स॰ सा॰ पा॰ पुक्तनेषु पाठः।

⁽१) खतेरिवा इति मन्तः ऋग्वेदे (१।२२।१६।) एवं सामवेदे उत्तरार्धिके (८।२।५।६।) यत इन्द्र इति ऋग्वेदे (८।६१।१३।) सामवेदे छन्दस्यार्धिके (३।३।८।२) उत्तरार्धिके (५।२।१५।१) तित्तरीयारस्यके (१०।१।) खिल्तदा विश्रस्पतिः इति ऋग्वेदे (१०।१५२।२) तेत्तरीयारस्यके (१०।५५।) खयळंवेदे (८।५।२२) परं तत्र विश्रास्पतिरिति पाठः। विरच्तो विस्ध इति सामवेदे उत्तरार्धिके (८।३।०।१) इन्गं सुमे जरितः, — इत्यादिकामन्त्रोनास्माभिकपल्यः । इदं सुमेनरः, — इत्यादिकामन्त्रः खयळंवेदे (१८।२।८।) दृश्यते। खनुमीयते चाचा-दर्श्वपुन्तकेषु लेखकप्रमादात् पाठे। इत्यादाः।

⁽२) ति सिरीयार रामे दश्मप्रपाठकस्य प्रथमानुवाके।

⁽३) खन, ''पुनस्य ग्रोमयेनेवसयमयसिति ब्रुवन्''—इत्येव पाठा मस प्रतिभाति। सरव खयमयसिति मन्त्रः पस्तात् पठितः। यथोक्क-पाठे लन्युप्कन्दसेभक्षापत्तिः। परमस्तदवत्तीकितेषु सर्वेषु पुक्षकेषु तथैव दखलात् तथैव रिक्कतः।

"काष्टात् काष्डाादिति दाभ्यां (१) श्रङ्गमङ्गसुपस्पृश्चेत्"—इति । दूर्वादयेन,—इति श्रेषः।

"त्रपापमपिक लिषमपकत्य मपेरिप" त्रपामार्ग, लमसाकं दुष्टं भगं नुद खाहेत्यपामार्गेणाङ्गमङ्गसुपस्पृशेत्। त्रथ हिरण्य ग्रङ्गमापो देवीरपस्तवन्तरित्यप उपखाप, सुमिनियान दत्यपः स्पृष्टा दुर्मिनियान इति विहः चिपेत्। ततः, इन्द्रः ग्रुद्ध दत्यृचा चापः प्रविक्य मिनसा जपेत् (१)।

"तत्र गायेत सामानि श्रपि वा याइतीर्जपेत्। श्रिवेन से^(२) जिपलेदसाप इत्यप श्राञ्जवेत्"—इति।

विशिष्टः,—

^{*} मपातवः,—इति सु॰ पुस्तको पाठः।

[†] इन्द्रः सुद्ध इत्युचस्थापःप्रविद्या, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

⁽१) काग्छात् काग्छादिति दो मन्त्री तैत्तिशीयारस्यके दश्मप्रपाठके प्रय-मानुवाके पठिती। तत्र काग्छात् कांग्छादिति प्रथमामन्तः। याध्रतेन प्रतनेषिति दितीयामन्तः।

⁽१) विरक्षप्रदर्शमित तैत्तिरीयारक्षमें (१०११) खापेदिवीरपक्तवन्तः,—
इत्वादिने भन्नो नास्माभिरपक्षन्यः । ऋग्वेदे (१।२३।१६।) खायनंवेदे च (१।८।३।) खपेदिवीक्ष्पक्षये,—इत्वादिने मन्नोद्देश्यते । खनं
ऋग्वेदे (१।८३।३।) खापेनिदेवीक्षपयन्ति,—इत्वादिर्भन्नोद्देश्यते । खन्याप्यादर्शपुक्तनेषु नेखकप्रसादः सम्भाव्यते । स्विनियान इति
दुम्भिन्यान इति चैतौ मन्नो तैत्तिरीयारक्षस्य दश्रमप्रपाठकस्य
प्रथमानुवाने पठितौ । इन्द्रः युद्ध इति मन्नोपि नेपिक्ननः । परन्तु
सामवेदे उत्तराधिने (३।२।८।२।) इन्द्र युद्धोन,—इत्वादिनो मन्नो
दश्यते । सम्भावयामः खनापि नेखकप्रमाद एव प्रभवति ।

⁽१) भिवेन मे,—इति तैत्तिरीयारस्यने (१ • १००)

"ये ते अतिमिति दाभ्यां तीर्थान्यावास्येदुधः ! कुरुचेचं गयां गङ्गां प्रभावं नैमिषं जपेत्*"—इति । अङ्कः,—

> "प्रपद्ये वरणं देवमभागां पितमीश्वरम्। याचितं देहि मे तीर्थं मर्ब-पापापनुत्तये॥ तीर्थमावाद्यिय्यामि मर्ब्धाघोष-निस्नदनम्। मान्निथ्यमसिंश्चित्ताये क्रियतां मदनुग्रद्दात्॥ रूट्रान् प्रपद्ये वरदान् मर्ब्धानपुषदस्तथो। श्रपः पुष्णाः पवित्रास्च । प्रपद्ये वरणं तथा। श्रमयन्त्वाग्रु से पापं रचन्तु च सदैव माम्"—इति।

विशिष्ठः,—

"त्रापे। चिष्ठेदमापस द्रुपदादिव दत्यपि। तथा चिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिरम्ततः^(१)॥ ततोऽर्कमीच्य चोद्गारं निमच्यानार्थाले वुधः।

† सर्वाची घनिस्दनम्,—इत्यादि, 'खपः पुष्णाः पवित्राख'—इत्यन्तं गास्ति स॰ से।॰ ग्रा॰ पुस्तकेषु।

^{*} तथा,--इति सु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) खापिह्छा,—इति ऋग्वेदे (१०।८।१।) वाजसनेथिसंहितायां (११।५। ११।) सामवेदे उत्तरार्चिते (८।२।१०।१।) खयळवेदे (१।५।१।) इद-माप इति ऋग्वेदे (१।२३।२२।) एवं (१०।६।८।) झपदादिव इति खयळवेदे (६।११५।३।) हिरण्यवर्था इति तैत्तिरीयसंहितायां (५।६। १।८।) खयळवेदे (१।३३।१।) पावमान्योमन्ताः सामवेदे इन्दस्याचित्रे पावमानवार्धे वह्नदः पठिताः। खन्यचापि वळच।

प्रःणायामां य कुर्वीत गायत्री सार्घ-मर्घणम्"—इति । विष्णुरिप,—"ततोऽपु निमग्न स्तिर्घ-मर्घणं जपेत्, तिहिण्णोः पर्म पदमिति वा, द्रुपदां सावित्रों वा, युंजते मन इत्यनुवानं वा, पृत्ष स्त्रतं वा^(२), स्नात-शाई-वासा देविष-पित्न-तर्पणमक्षस्य एव कुर्यात"—इति । मेधातिथिर्पि,—

"ततोऽस्मिस निमग्नम्त तिः पठेदघ-मर्घणम्।
प्रद्यान् सूर्द्धनि तथा महाव्याहृतिभिर्ज्ञलम्''—इति।
विसिष्ठः,—

"स्नाला संग्रह्म वासो उत्यदुक्त मंत्रोधये नृदा।
श्रपवित्रीकृतो तो तु कोपी गास्त्राव-वारिणा॥
यो उनेन विधिना स्नाति यत्र तत्राभामि हिजः।
स तीर्य-फलमान्नोति तीर्ये तु दिगुणं फलम् । ''—दिति।
तत्रानुक स्पमाह योगियाज्ञ वर्षक्यः,—

^{*} खपवित्रीकते ते तु,—इति स॰ से।॰ प्रा॰ प्रत्तेष् पाठः।

[ै] कुत्रास्त्रसि, इति सु॰ पुन्तके पाठः।

[🗼] अवित्, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

⁽१) तिहिणारिति ऋग्वेद (१।२२।२०।) सामवेदे उत्तरार्चिके (८।२।५।४।) अथर्क्वेदे (७।२६।७।) युञ्जते मनः इत्यन्वाकः तित्तरीयारण्यकस्य चतुर्यप्रपाठकस्य हितीयः। एवं वाजसनेथिसंहितायां पञ्चमस्य पञ्चमः। तथा तित्तरीयसंहितायाः प्रथम-दितीय-त्रयोदशः। पुरुषस्तकः ऋग्वेदे दश्म-नवितिमस्य प्रथमं स्त्तम्। वाजसनेथिसहितायां एकत्रिंशतः प्रथमोऽन्वाकः। तित्तरीयारण्यकस्य तिथस्य द्वादशो उन्वाकः। वित्तरीयारण्यकस्य तिथस्य द्वादशो उन्वाकः। स्व

"यएष विस्तृतः मोकः स्नामस्य विधिरत्तमः।
श्रमामस्यात्र सुर्याचेत् तत्रायं विधिरत्यते।
स्नाममार्जले पैव मार्ज्ञनाषमने तथा॥
जलाभिमन्त्रणद्येव तीर्थस्य पस्तिस्पनम्।
श्रममर्थण-स्निते चिरावृत्तेन नित्यशः॥
स्नानापरणमित्येतदुपदिष्टं महात्मभिः"—दिति।
॥०॥ दिति माधादिक-स्नामम्॥०॥

श्रय नैमित्तिक-स्नानम्।

तच सनुः,—

'दिवाकीर्त्तिं मुदकाञ्च पतितं स्रतिकां तथा। श्रवं तत्-सृष्टिनञ्चेव सृष्ट्वा स्नानेन शुद्धाति''॥ दिवाकीर्त्तिञ्चाण्डालः। श्रङ्गिराः,—

"ग्रव-सृग्रमघोदकां स्रतिकां पिततं तथा।
सृष्ट्वा स्नानेन ग्रद्धः स्नात् मचैलेन न संग्रयः"—इति।
गौतमोऽपि,—"पितत-चाण्डाल-स्रितिकोदक्या-ग्रवस्पृक्तत्-स्पृष्टि-स्पर्णने ‡ सचैल खदकोपस्पर्यनात् ग्रद्धोत्"—इति। पिततादि

^{*} विक्तरः, --- इति सु॰ पुक्तने पाठः।

[†] दिवाकीर्ष, — इति से। पुस्तके, दिवाकत्य, — इति प्रा॰ पुस्तके पाठः। एवं परच।

[‡] ग्रवतत्स्युष्यपस्पर्भने,—इति ग्रा॰ सेा॰ पुत्तकयोः पाठः।

स्पृष्टिनं सनारभ्य द्वतीयस्य सचेसं स्नानं, चतुर्घस्य तु उदके। प- स्वर्धनाच्कुद्धिः । तथा च मरीचिः,—

"उपसृशेचतुर्थस्त तदूर्द्धं प्रोचणं स्रतम्"—इति । यमु सम्बर्त्तेन दयोरेव स्नानमुक्तम्,—

"तत्-सृष्टिनं सृग्रेद्यस्य स्नानं तस्य विधीयते। ऊर्द्धमाचमनं प्रोक्तं द्रव्याणां प्रोचणं तथा ""—इति। तदमुद्धि-पूर्वे-स्पर्धन-विषयम्। तथा च संग्रहकारः,—

"श्रवुद्धि-पूर्वेक-सर्भे दयोः खानं विधीयते।

चयाणां वृद्धि-पूर्वेत तत् सृष्टि-न्याय-कस्पना"-इति। कूर्यप्राणम्,--

> "चाण्डाल-स्रितन-भवैः संस्पृष्टं संस्पृशेद् यदि। प्रमादात्तत श्राचम्य अपं कुर्यात् समाहितः॥ तत्-स्पृष्टि-स्पृष्टिनं स्पृष्टुा बुद्धिपूर्वं † दिजोत्तमः। श्राचमेत विग्रुद्धार्थं ‡ प्राष्ट्र देवः पितामदः"॥

याज्ञवस्कार्राप,—

"खदक्या स्रतिभिः है खायात् संस्पृष्टः तैरूपस्पृश्चेत्। श्रिक्षिष्ठानि^(१) जपेचैव गायवीं मनसा सक्षत्"—द्दात । एतद्द्रण्डाद्यन्तरित-स्पर्श-विषयम्, श्रन्यथा दयोः स्नानिस्यनेम

^{*} यथा,—इति सु॰ पुन्तको पाठः।

[🕇] संस्पृष्ठातु,—इति ग्रा॰ पुन्तके पाठः।

[🕽] चाचमत्तिश्रद्धार्थं,—इति ग्रा॰ पुत्तको पाठः ।

५ उदक्बाऽश्वचिभिः, — इति सु॰ पुन्तके पाठः ।

⁽१) चव् जिङ्गानि 'खापोचिछा' इत्यादीनि।

विरोधः प्रसञ्चेत । वस्त्रान्तरित-स्पर्धने तु दण्डान्तरित-न्याय-प्राप्ता वाइ प्रचेताः,—

"वस्तान्तरित-संस्पर्धः साचात् स्पर्धाऽभिधीयते। साचात् स्पर्धे तु यत् प्रोत्तं तदस्तान्तरितेऽपि च"—इति। वतुर्व्विंग्रतिमते स्नानस्य निमित्तान्तरसुत्तम्,—

"बौद्धान् पाष्ठ्यतान् जैनान् लोकायतिक-काणिलाणः । विकर्षास्थान् दिजान् सृष्ट्वा सचेले। जसमाविश्रेत् ॥ कापालिकांस्तु संस्पृष्य प्राणायामोऽधिका मतः"—इति । चाण्डालादि-स्पर्श-निमित्त-स्नाने † विश्रेषमाद्द विष्णुः,—

"स्नानार्हें। योनिमित्तेन क्रता तोयावगाहनम्। त्राचम्य प्रयतः पञ्चात् स्नानं विधिवदास्रेरेत्"—इति। योगियाज्ञवस्कागेऽपि,—

"त्रणीमेवावगाहेत यदा खादश्यिक्तरः। क्राचम्य प्रयतः पञ्चात् खानं विधिवदाचरेत्ं' — दात । गार्ग्योऽपि,—

"कुर्यान्नेमित्तिकं स्नानं ग्रीताद्भिः काम्यमेवच । नित्यं यादृष्णिकं चैव यथारुचि समाचरेत्"—इति । ॥०॥ इति नेमित्तिक-स्नान-प्रकर्णम्॥०॥

^{*} यत्र वस्त्रान्तरितस्पर्धनं तत्र न दखान्तरितन्यायः । तथा च,—इति सुण पुन्तके पाठः । † निमित्तम्दतस्वाने—इति प्राण्यमुक्तके पाठः ।

श्रय काम्य-स्नानम्।

तत्र पुलस्यः,—

"पुर्धे च जन्म-नचने व्यातीपाते च वैधती।
श्रमावास्यां(*) नदी-स्नानं पुनात्यासप्तमं कुलम्॥
चैन-कृष्ण-चतुर्दृग्यां यः स्नायाच्छिव-सन्निधी।
न प्रेतलमवाप्नोति गङ्गायाञ्च विशेषतः॥
शिविजङ्ग-समीपेतु चन्तायं पुरतः स्थितम्।
शिव-गङ्गेति विज्ञेयं तत्र स्नाता दिवं व्रजेत्"—इति।

यमोऽपि,—

"कार्त्तिकां पुरकरे खातः सर्ब्ब-पापैः प्रमुच्यते । माध्यां खातः प्रयागे तु मुच्यते सर्व-किल्विषैः॥ जैष्ठे मासि सितं पचे दमम्यां इस्त-संयुते। दमजन्माघद्या गङ्गा तेन पाप-दरा स्मृता"—इति।

विष्णुः,—

"सूर्यग्रहण-तुन्या तु ग्राक्ता माघस्य सप्तमी। ष्रहणोदय-वेनायां तस्यां सानं महाफनम्॥ पुनर्वसु-बुधोपेता चैचे मासि सिताऽएमी। स्रोतःसु विधिदत् साला वाजपेय-फनं नभेत्"—इति।

^{*} न स प्रेतलमाप्नोति,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

र् प्रिवतीर्थमितिखातं,—इति सु॰ पुन्तको पाठः।

[‡] दादप्यां,—इति सु॰ पुन्तको पाठः।

⁽१) चामावासी प्रव्यस्य रूपिमदम्।

श्रादि *पुराणे,—

"कार्त्तिकं सकलं सासं नित्यसायी जितेन्द्रियः । जपन् इविष्य-सुक् क्लान्तः † सर्व-पापैः प्रमुच्यते ॥ तुला-सकर्-सेषेषु प्रातः स्त्रायी सदा सवेत्। इविष्यं ब्रह्मचर्यञ्च सहापातक-नाधनस्"—इति । सत्यप्राणे,—

"श्राषाहादि चतुर्भामं प्रातः सायी भवेत्ररः । विष्रेभ्यो भोजनं दत्त्वा कार्त्तिक्यां गो-प्रदो मिनेत्॥ स वैष्णव-पदं याति विष्णु-व्रतमिदं स्पृतम्"—इति । मार्कण्डियोऽपि?.—

"मर्ज-कालं तिलें: खानं पुष्धं व्याचे। प्रविन्ति ।
तुष्यत्यामलकेर्विष्णु रेकादश्यां विश्वेषतः ॥
श्रीकामः सर्व्वदा खानं कुर्व्वीतामलकेर्विरः ।
सप्तमीं नवमीर्षेव पर्व-कालञ्च ॥(१) वर्ज्ञयेत्"—इति ॥
विष्णुः,—

[•] चादित्य, — इति सु॰ पुक्तको पाठः।

चिताः, — इति स॰ से।॰ प्रा॰ पुक्तकेषु पाठः।

‡ सप्रदेा, — इति सु॰ पुक्तको पाठः।

§ सार्वेग्छेयपुरायो, — इति सु॰ पुक्तको पाठः।

॥ पच्चपर्वेस, — इति सु॰ पुक्तको पाठः।

⁽१) पर्वाणि च,—"चतुर्राग्रस्मी चैव चमावस्याचपूर्णिमा। पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंकान्तिरेवच"—इत्यक्ताचत्त्रणानि।

"धालाञ्च तरूणा दृद्धा नर्-नारी नपुंषकाः। खाला माघे ग्रुभे तीर्थे प्राप्नुवन्तीप्तितं फलम्॥ माघे माखुषि खाला विष्णु-लोकं म गच्छति"—इति॥ ॥०॥ इति काम्य-खानम्॥०॥

श्रय मलापकर्षण-सानम्।

तच वामनपुराणम्,—

"नाभ्यक्षमर्के न च भूमिपुचे चौरं च ग्रुके च कुजे च मांसम्। बुधे च योषित्परिवर्ज्जनीया ग्रेषेष् मर्वेषु सदेव कुर्थात्"—दित ।

च्योति:शास्त्रे,—

"सन्तापः कान्ति र न्यायुर्धनं निर्धनता तथा। श्रनारेग्यं सर्च-कामाः श्रभ्यङ्गाङ्गास्करादिषु"—इति। मनुरपि,—

"पचादी च खी षष्ठ्यां रिकायाञ्च तथा तियो। तैलेनाभ्यज्यमानस्त धनायुभ्यां विचीयते"—इति गर्गाऽपि,—

> "पञ्चदक्यां चतुर्दक्यामष्टम्यां रिव-संक्रमे । दादम्यां सप्तमी-षद्योः तैल-स्पर्धं विवर्ज्ञयेत्"—इति ।

^{*} सन्तापग्रान्ति,—इति सु॰ पुक्तके पाठः ।

बोधायनाऽपि, "-

"श्रष्टम्याच चतुर्द्रभ्यां नत्रम्याच्च विशेषतः । िराऽभ्यक्नं वर्ज्ञायेनु पर्व-सन्धी तथैवच"—इति । गर्गीऽपि,—

"न च कुर्यात् हतीयायां चयादम्यानिया तथा।

प्रायतीं स्रतिमन्त्रिक्त द्यम्यामपि पण्डितः"—इति।

एवं सर्व्वास्त्रपि तिथिष्वस्यङ्गस्य निषेधे प्राप्ते तैल-विभेषेणास्यमुजानाति प्रचेताः,—

"वार्षपं गत्ध-तेलञ्च यत्तेलं पुष्प-वासितम्। श्रन्य-द्रय-युनं तेलं न दुर्यात कदाचन"-इति। यमाऽपि,-

> "घृतञ्च सार्षपं तेलं यत्तेलं पुष्प-वासितं । न दोषः पक्ष-तेलेषु स्नानाभ्यक्तेषु नित्यमः"—इति । ॥०॥ इत्यभ्यक्ग-स्नानम्॥०॥

क्रियाऽङ्ग-स्नानन्तु नित्य-स्नानवदन्तुष्ठेयम् । "प्रातः ग्रुङ्ग-तिसैः स्नाला मध्याचे पूजयेत् सुधीः" । इत्यादिकं क्रियाऽङ्ग-स्नानं द्रष्ट्यम् । तस्य क्रियाऽङ्गलं पुराखे स्वष्टीकृतम्,—

"धर्षा-क्रियां कर्तुमनाः पूर्वं स्नानं समाचरेत्। क्रियाऽक्नं तस्त्रसुद्दिष्टं स्नानं वेदमये दिंजैः"—इति।

[&]quot; यमोपि, - इति सु॰ पुन्तके पाठः।

र्वे देवमये, - इति मु॰ पुक्तके पाठः।

श्रय क्रिया-सानम्।

নৰ মন্ত্ৰ:,—

"किया-सानं प्रवच्छामि यथाविदिधि-पूर्वकम् ।

स्टित्रिद्धिय कर्त्तयं ग्रोचमादौ यथाविधि ॥

जले निमग्रस्तम्यच्य चे चोपस्पृष्य चथाविधि ।

तीर्थस्यावाइनं कुर्यात् तत्प्रवच्छाम्यतः परम् ।

प्रपद्ये वर्रणं देवमक्षमां पितमीय्यरम् ।

याचितं देहि मे तीथं मर्च-पापापनुत्तये ।

तीर्थमावाइिय्यामि मर्चाघ-विनिद्धदनम् ॥

मान्निध्यमिसंखित्ताये कियतां मदनुण्हात्"—इति ।

परस्विप स्वाने षु मुख्यानुकन्पाभ्यां जल-विग्रेषो विष्णुपुराणें
निक्षितः.—

"नदी-नद्द-तड़ागेषु देवखात-विलेषु च। नित्य-क्रियाऽधें स्नायीत गिरि-प्रस्ववणेषु च॥ कूपे वोद्भृत-तायेन स्नानं कुर्वीत वा भुवि"—इति। मार्कण्डेयोऽपि,—

> "पुराणानां नरेन्द्राणान्धणीणाञ्च महात्मनाम्। स्नानं कूप-तङ्गिषु देवतानां समाचरेत्। श्वमिष्ठसुद्भृतात्पृष्णं ततः प्रस्नवणोदकम्॥

^{*} निमद्यस्त्रिर्मञ्च,—इति सु॰ पुक्तने पाठः।

[ं] चौपविष्य,—इति स॰ से।॰ ग्रा॰ प्रत्तेषु पाठः।

[‡] पतिमूर्जितम,-इति ग्रा॰ पुक्तके पाठः।

तताऽपि धारमं पुर्खं तसान्नादेयसुच्यते । तीर्घ-ते।यं ततः पुर्खं ततोगाङ्गन्तु सर्व्वतः"—इति । मरीचिः,—

"श्रमिष्ठसुद्भृतं वाऽपि श्रीतसुष्णमथापि वा।
गाङ्गं पयः पुनात्याशः पापमासरणान्तिकस्"-इति।
निषिद्ध-जलसाइ व्यासः,-

"श्रनुत्पृष्टेषु न सायात्त्रघैवासंस्ततेषु च । श्रात्मीयेष्वपि न सायात्त्रघैवान्यजलेष्वपि"—इति । व्यासेऽपि,†—

"नद्यां यच परिश्वष्टं नद्यायच विनिः स्टतम् । गतं प्रत्यागतं यच तत्ते।यं परिवर्क्तयेत्"—दित ॥ भातातपेऽपि,—

"त्रनीरिप कते कूपे सरोवाषादिके तथा।
तव खाला च पीला च प्रायिश्वनं समाचरेत्"—इति॥
प्रतिप्रसवमाइ मनुः,—

"श्रलाभे देव-खातानां सरमां मरितां तथा । खद्भृत्य चतुरः पिष्डान् पारको खानमाचरेत्"—इति ॥ ख्योदकं विषेधयति शङ्खः,—

^{*} तथेवासंकृतेषु च,-इति स॰ ग्रा॰ पस्तकयाः पाठः।

[†] पुराहरीके दिप, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

र नद्यां यच, -- इति मुं पुस्तके पाठः।

९ उष्णोदकस्तानं,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

"स्नातस्य विस्न-तप्तेन तथेव पर-वारिणा । धरीर-ग्राह्मिविज्ञीया न तु स्नान-फलं लभेत्"-इति ॥ याज्ञवस्त्राः,—

"रुषा तृष्णोदक-स्नानं रुषा जणमनैदिकम्। रुषा लम्नोचिये दानं रुषा भुक्तममाचिकम्"—इति । यन्तृष्णोदकस्नान* विधानम्,—

''त्राप एव सदा पूता स्तासां विक्विशिधकः।
ततः सर्वेषु कालेषु उष्णाकाः पावनं स्रातम्''—इति।
षट्तिंग्रनातेऽपि, ं—

"म्रापः खभावतामेध्याः कि पुनर्वक्रि-षंयुताः। तेन यन्तः प्रशंयन्ति स्नानमुष्णेन वारिणा"—इति। तदातुर-स्नान-विषयम । तथाच यमः,—

"त्रादित्य-किरणैः पूतं पुनः पूतञ्च विक्रना। त्रामातमातुर-साने प्रश्नसं स्थात् ग्रुट्तोदकम्?"—इति। यदा तु नद्याद्यसभवस्तदा त्रानातुरस्थापुष्णोदक-स्नानमनिषिद्ध-

मित्याच चमः,—

"नित्यं नैमित्तिक श्चेव कियांगं । मल-कर्षणम्। तीर्थाभावे तु कर्त्तव्यसुष्णोदक-परादकैः"—इति।

^{*} खान, — इति नास्ति ग्रा॰ द्या॰ पुस्तकयोः।

[†] षड्विंशन्मतेऽपि, -- इति शा॰ पुक्तके पाउः।

[‡] तदातुरविषयम्, — इति स॰ ग्रा॰ प्रत्वयोः पाठः।

[🦠] न सुभी दक्तम्,—हित ग्रा॰ पुस्तके पाठः।

[॥] कियायां, — इति मु॰ पुक्तको पाठः।

यर्पि चद्धमनुनेात्रम्,—

"स्ते जनानि संक्रान्ती श्राद्धे जनादिने तथा।
श्रम्थ्य-सार्थने चैन न सायादुष्ण-वारिणा॥
संक्रान्यां भानु-वारे च सप्तसां राज्ज-दर्भने।
श्रारोग्य-पुच-मित्रार्थी न सायादुष्ण-वारिणा॥
पौर्णमास्यां तथा दर्भे यः सायादुष्ण-वारिणा।
स गोस्त्या-कृतं पापं प्राप्तोतीह न संगयः"—इति।

तनोक्षेषु मरणादिषु नेष्णोदकैः स्नायात्, श्रिपि तु परकीयै-सङ्गृतोदकै वैत्युक्तमिति न विरोधः । उष्णोदक-स्नाने विभेषमास् व्यासः,—

"श्रीताखपु निषिच्छोष्णा मन्त्र-संभार-संभृताः। गेहेऽपि श्रस्तते स्तानं नदी-फल-समं विदुः !"—द्गति। गौजन्तु स्तानसुत्तरच खयमेव वस्त्यति॥

॥०॥ इति क्रिया-खानम् ॥०॥

श्रय सन्थाविधिः।

तच सन्धा-खरूपं दचो दर्भयति,—

"श्रहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्य-नत्तत्त-विर्क्ततः। सातु सन्ध्या समास्याता सुनिभिस्तत्त-दर्गिभिः"—इति।

[🕈] जन्मितियौ,-इति मृ॰ पुक्तके पाठः।

[ं] तादकेळिति न विरोध इत्युक्तम्,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] तुद्धीनमपतं विचः,—इति ग्रा॰ पुत्तके पाठः।

यदाि काल-वाचकलेनाच सन्धा-मञ्दः प्रतीयते, तथापि तिसान् काले उपास्या देवता सन्धा-मञ्देनोपलस्यते । तथा देवतथा उपलचणसुपलस्य मूल-वचने कर्मा-परलेन सन्धा-मञ्दः प्रयुक्तः। श्रथवा,—सन्धो भवा किया सन्धा । श्रतएव थासः,—

"उपासे मन्धि-वेलायां निशाया दिवस्य च।

तामेव मन्ध्यां तस्मान्तु ग्रवदन्ति मनीषिणः"—इति।

तां कियां विद्धाति योगियाज्ञवस्यः,—

"सन्धा सन्धासुपासीत नास्तमे नेाइते खौ?'—इति। सा च सन्धा चिविधा। तद्कमचिणा,—

"सन्धा-चयनु कर्त्तयं दिजेनाताविदा सदा"-इति।
तच, काल-भेदेन देवताया नामादि-भेदमाइ में व्यासः,—
"गायची नाम पूर्व्वाक्ते साविची मध्यमे दिने।
सरस्तती च सायाह्ये सैव सन्धा विधा स्थाता॥
प्रतिग्रहादत्रदोषात् पातकादुपपातकात्।
ग्रायची प्राच्यते तसाद्वायन्तं चायते यतः॥
स्वित्व-द्योतनात् सैव ॥ साविची परिकीर्त्तिता।
जगतः प्रस्विची वा वागूपलात् सरस्तती"—इति।

वर्ण-भेदः स्रत्यन्तरेऽभिच्तिः,—

तथा च देवताया उपलच्चगम्पलच्य, — इति भ्रा॰ स॰ पुक्तकयोः पाठः।

तस्मात्तत्,-इति ग्रा॰ पुत्तके पाठः।

[‡] नामभेदमात्त्र,— इति मु॰ पुत्तके पाठः।

[🖇] चिषु,—इति ग्रा॰ सा॰ पुस्तकयोः पाठः।

[॥] चैव, — इति मु॰ पक्तके पाठः।

"गायची तु भवेद्रका साविची ग्रुक्तविष्का।
सरस्वती तथा कष्णा उपास्था वर्ष-भेदतः॥
गायची ब्रह्मरूपा तु साविची स्ट्ररूपिणी।
सरस्वती विष्णुरूपा उपास्था रूप-भेदतः"*—इति।

खपासनमिश्यानम्। त्रतएव तैत्तिरीय ब्राह्मणम्,—"खद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमिश्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विदान् सकलं भद्रमञ्जते ऽसावादित्यो ब्रह्मीत ब्रह्मीव सन् ब्रह्माणिति यएवं वेद"—इति । त्रयमर्थः, वच्यमाण-प्रकारेण प्राणायामादिकं कर्मा कुर्वन् यथोक-नाम-क्रोपोतं सन्धा-ग्रव्द-वाच्यमादित्यं ब्रह्मीति ध्यायन्ति हिकसा-सुप्तिकञ्च सकलं भद्रमञ्जते । यएवसुक्त-ध्यानेन ग्रुद्धान्तः करणो ब्रह्म साचात् कुरूते, स पूर्वमपि ब्रह्मीव सन्ज्ञानाच्जीवलं प्राप्नोति यथोक-ज्ञानेन तद्ज्ञानापगमे ब्रह्मीव प्राप्नोति,—इति । व्यासे।ऽपि एतदेवाशिप्रत्याह,—

"न भिन्नां प्रतिपद्येत गायनीं ब्रह्मणा सह। खोऽहमस्मीत्युपासीत विधिना येन केन चित्"—इति। तन, प्रातःसन्धायाः काल-परिमाणमाह दत्तः,—

> ''रात्र्यन्त-याम-नाड़ी दे मन्धादिः काल उचते। दर्भनाद्रवि-रेखाया खदन्तो सुनिभिः स्टतः''—इति।

^{* &#}x27;ग्रायचीत्रचारूपातु,'—इत्यादिः 'रूपभेदतः'—इत्यन्तीयत्रः मुदिता-तिरित्तपुक्तनेषु नान्ति ।

[†] यथोक्तनामाभिध्येय रूपोपस्तिं, - इति मृ॰ पुक्तने पाठः।

म्ना-सङ्गवं प्रातः सन्धाया गौणः कालः, त्रा-प्रदोषावसानं च सायंसन्धायास्त्रदाह रहन्मनः,—

"न प्रातनं प्रदोषञ्च सन्धा-कालोऽतिपत्यते । सुख्य-कल्पोऽनुकल्पञ्च सर्वस्मिन् कर्माण स्प्रतः"—इति । कूर्मापुराणे सन्ध्योपास्ति-प्रकारे। दर्भितः,—

"प्राक्तृतेषु ततः स्थिला दर्भेषु च समाहितः*। प्राणायाम-चयं कला धायेत्[†] सन्धामिति श्रुतिः''—इति। चाज्ञवस्कोऽपि,—

"प्राणानायस्य संप्रोच्य चृचेनाब्दैवतेन तु"-इति ।

"बद्धाऽऽमनं नियम्यासृन् स्रेताऽऽचार्यादिकं तथा। सन्त्रिमीलित-दृङ्गोनी प्राणायामं समभ्यसेत्"—इति। प्रणायाम-लचणं मनुराइ,—

"सव्याह्नितं सप्रणवां गायत्रीं भिरसा सह । त्रिः पठेदायत-प्राणः प्राणायामः स उच्यते''—इति । याज्ञवल्काः,—

"गायत्रों शिरसा सार्द्धं जपेद्याह्वति-पूर्विकाम् । दश्य-प्रणव-संयुक्तां विरयं प्राण-संयमः"- इति । योगियाज्ञवस्कोऽपि,१—

^{*} प्रागर्गेष् ततः स्थिता दर्भेषु सुसमाहितः,—इति मृ॰ पुरूषे पाठः।

र् ध्यायन्, — इति ग्रा॰ पुक्तके पाठः।

[🗓] प्रतिप्रवावसंयुक्तां,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[§] याच्चवक्कोऽपि,—इति स॰ सा॰ ग्रा॰ पुक्तकेषु पाठः।

"अर्भुवः खर्महर्जनः तपः सत्यं तथैवच।
प्रत्योद्वार-समायुकः खया तत्सवितः परम्।
ॐ श्रापोच्योतिरित्येतिच्छिरः पञ्चात् प्रयोजयेत्॥
चिरावर्त्तन-योगान् प्राणायामः प्रकीर्त्तितः। "—इति॥

स च प्राणायामः पूरक-कुक्शक-रेचक-भेदेन चिविधोच्चेयः । तथा च योगियाज्ञवल्काः,—

> "पूरकः कुमको रेचाः प्राचायामिक्तिलचणः । नाधिकाऽऽक्तष्ट उच्छाचे।भातः पूरक उच्यते । कुसको निश्चलः श्वाचे।रेच्यमानस्त रेचकः"—इति ।

मार्जनमाइ वासः।

"त्रापोहिष्ठेत्यृचैः १ कुर्यानार्जनन्तु कुमोदकैः ।
प्रणवेन तु संयुक्तं चिपेदारि पदेपदे॥॥
वपुष्यद्यौ विपेदूर्द्धमधी यस चयाय च ।
रजस्तोनोहिमयान् जायत्-स्वप्न-सुषुप्ति-जान् ।
वाङ्-मनः-काय-जान् देषान् नवैतान् नविभर्दे हेत्"-इति ।
प्रातातपः,—

"ऋगन्ते मार्जनं कुर्यात् पादान्ते-वा समाहितः ।

^{*} समायुक्तं,—इति ग्रा॰ पुक्तने पाठः ।

[†] सम्माब्दितः,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] रेचकः,—इति ग्रा॰ पुक्तके पाठः।

९ बापे। विकेयुंबा, — इति मु॰ पुक्तके पाठः ।

[॥] पदेषु च, - इति झा॰ पुकाके पाठः।

[&]quot; ऋगन्तेवाचपादान्ते मार्जनं ससमाहितः,—इति मु॰ पुकाने पाठः।

श्रर्द्धचीनोऽथवा कुर्याच्छिष्टानां मतमीदृश्यम्"—इति । हारीतोऽपि,—"मार्जनार्चन-विलक्क्य-भेजनानि दैव-तीर्थेन कुर्यात्"। तेच मार्जनं न धारा-चुतौ कार्यम् । तथा ब्रह्मा,*—

"धाराच्यतेन तोयेन सन्ध्योपास्ति र्विगर्हिता । पितरे। न प्रशंसन्ति न प्रशंसन्ति देवताः"—इति ॥ कथं तर्हि मार्ज्जनिमिति, तचाह स एव,—

> "नद्यां ने तीर्घे तटे वाऽपि भाजने म्हण्सयेऽपिवा। त्रीदुम्बरेऽष सौवर्णे राजते दारु-सम्भवे।

कला तु वाम-इस्ते वा सन्ध्योपास्ति समाचरेत्"—द्गति । कला उदकमिति श्रेषः । म्हण्सयादि पाच-सङ्गावे तु वामइस्तस्य प्रतिषेधः ‡

> ''वामइसो जलं कता ये तु सन्ध्यासुपासते। सा सन्ध्या दृषली ज्ञेया ऋसुरास्तेषु? तर्पिताः''।

द्दित स्मर्णात्। म्हण्सयाद्यभावे तु, 'क्रला तु वामहस्ते वा'— दृत्यनेनैव विधानात्। एवसुक्तविधिना मार्ज्जियला सूर्यश्चेत्यपः पिवेत्। तदाह बौधायनः,—'श्वथातः सन्धेरापासन-विधि व्याख्या-स्थामः, तीर्थं गला प्रयतोऽांभिषकः प्रचालित-पाणि-पादो विधि-नाऽऽचम्याग्रिश्च मा मन्युश्चेति सायमपः पीला सूर्यश्च मामन्युश्चेति

^{*} तथाच,—इति स॰ ग्रा॰ पुस्तकयेाः पाठः।

[ौ]सन्थां, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] वामच्चाः प्रतिविद्धः,—हति सु॰ पुन्तके पाठः ।

ऽ खस्रदाक्तेक्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

प्रातः यावित्रेण वसुमत्या*(१) श्रव्लिङ्गाभिक्षेत्रणीभिः दिश्ख्यर्षाभिः पावमानीभिर्याद्वितिभरन्येश्च पवित्रेरात्मानं प्रोद्ध्य प्रयतो भवति'' — द्वि । भारद्वातः र्,—

"भायमग्रिश्व मेत्युका प्रातः स्वर्थेत्यपः पिवेत् । श्रापः पुनन्तु मध्याह्ने ततश्चाचमनञ्चरेत्"—इति । कात्यायनोऽपि,—

'भिरसे बार्जनं कुर्यात् कुभैः सेादक-विन्दुनिः।
प्रणवो स्रभुंवः खञ्च गायची च ततीयिका।
श्रव-दैवत्यं त्यृचं चैव ‡ चतुर्थिमिति बार्जनम्'—इति।
बार्जनाननारं प्रजापितः,—

''जल-पूर्णं तथा इसं नामिकाऽग्रे ममर्पयेत्। स्वतञ्चेति पठिला तु तज्जलन्तु निती चिपेत्''—इति। ततः सूर्यायार्थे दद्यात्। तथाच व्यामः,—

^{*} सुरभिमत्या,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।
† भरदाजः, इति स॰ धा॰ पुक्तकयोः पाठः।
‡ खन्दैनतम्दनं चैन,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) वसुग्रब्दोपेता मन्त्रा ऋग्वेदे पठिताः। यया (१।८।६॥, १।१५८।१॥, ५।१५८।१॥, ५।१५८।१॥, १।१५८।१॥) सामवेदे उत्तराधिते प्रेका पठिता (१।१।२२।२)। यवमायर्क्यो (१०।८।८॥, १२।३।११॥, १६।६।१॥) तेत्तिरीयसंहितायां (१।३।३।१॥, ११।६।३॥) काठके (३८।१॥६॥) वाजसनेयिसंहितायां (१।२।२-३॥, २।१६।१॥, ८।३॥।१॥, ११।५८।१॥, १९।६०।१॥, ११।६५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥, १८।१५।१॥,

"करभ्यां ते। यमादाय गायव्या चाभिमन्त्रितम। मादित्याभिसुखस्तिष्ठन् चिक्रईमय चोत्चिपेत्"—इति । द्वारीताऽपि,—"धावित्याभिमन्त्रितम् उदकं पुष्प-मिश्रमञ्जलिना चिपेत्"—दित । ऋर्घ-दाने मन्त्रान्तरसुक्तं विष्णुना,—

"कराभ्यामञ्जलिं कला जल-पूर्णं ममाहित:।

उरुत्यमिति मन्त्रेण तत्त्रीयं प्रचिपेह्नुवि ""—इति । ततः प्रदिचणं छला उदकं खुश्रेत् । तदुकं वराह् पुराणे,—

"सायं मन्तवदाचम्य प्रोच्य सूर्यस्य चाञ्जिनस्?।

दला प्रदिचणं कला जलं सृष्ट्वा विद्युद्धाति"—इति। श्रुतिरपि, —"यत् प्रद्विणं प्रक्रमन्ति तेन पाप्रानमवधुन्वन्ति॥"—इति। कूर्ब्यप्राणम्,—

''त्रघोपतिष्ठेदादित्यसुदयन्तं समाहितः । मन्त्रेस्त विविधेः सोरैः स्वायजुः-साम-सक्षावैः"—इति। खपसानन् स-शाखोक-मन्तः कार्यम्।

"उपखानं खकैर्मन्तरादित्यख तु कारयेत्"। इति विशिष्ठसारणात् । कूर्मपुराणे उपस्थाननु स्वतीरित्यादिना ^ग

तत्तीयं च चिता चि.पेत्,—इति मु॰ पुक्तके पाठः ।

[🕇] ततः प्रदित्त्यां कृत्वा उदनश्च स्पर्पदिति,—इति स्नानार्डक्पेया निधि-त्तमस्ति मु॰ पुस्तके।

[‡] वराच्च,—इति नास्ति ग्रा॰ स॰ पुस्तकयाः।

[🔇] सायंसन्धामुपासीत प्राच्य सूर्य्याय चाञ्जलिम्, – इति मु॰ पुक्तके पाठः।

^{||} धून्वन्ति, — इति मु॰ पुत्तके पाठः।

¶ खपाठेत्यादिना, — इति मु॰ पुत्तके पाठः।

प्रपिञ्चतम् । प्राक्कृलेषु,—इत्यारभ्यादित्योपस्थान-पर्यन्तं प्रातः षन्थायां यदुपवर्षितं, तदितरयोर्भयोरपि सन्ध्ययोः समानम् । तत्र, मध्याक्रसन्धायां विश्वेषा नारायणेनाभिह्तः,—

"श्रापः पुनन्तु मन्तेण श्रापोहिष्ठेति भार्क्जनम् ।
प्रविष्य चाञ्चिलं सम्यगुद्रत्यं चित्रमित्यपि ।
तच्कुर्देव दति च इंसः ग्रुचिषदित्यपि॥
एतत् जपेदूर्ड्य-बाङः स्रय्यं पथ्यन् समाहितः ।
गायत्रा त यथायि जपस्याय दिवाकरम्"—इति ।
कास्न-विशेषस्त प्रद्धोन दर्थितः—

"प्रातः सन्धां सनचनां मध्यमां खान-कर्मणि। सादित्यां पश्चिमां सन्धासुपासीत यथाविधि"—इति। स्नानकर्मणीति माध्याक्तिक-स्नानानन्तरमित्यर्थः। माध्याक्तिक-सन्ध्यायां गौण-कालमाइ दचः,—

"त्रधर्द्धयामादामायं मन्धा माध्याक्तिकीव्यते"—इति । सन्धा-चये तारतस्येन देश-विशेषमाद्व व्यासः,—

"ग्रहे लेक-गुणा सन्धा गोष्ठे दशगुणा स्प्रता। श्रतसाहस्तिका नदामनन्ता विष्णुयन्तिधी"— इति ॥ महाभारते,—

"विद्यासम्धा दश्रगुणा गर्न-प्रश्नवणेषु च। खाता तीर्धे श्रतगुणा सादसा जाक्रवी-तटे"—इति॥ श्रातातपोऽपि,—

^{*} दप्रगुर्खा,-इति मु॰ पुक्तके पाठः।

"श्रनृतं मद्यगन्धञ्च दिवामेथुनमेवच ।
पुनाति तृषलम्यात्रं मन्धा वहिरूपामिता"—इति ॥
वहिः मन्धायामुपामितायां यदा विहरणाद्यङ्गलोपस्तदा गृहएव सन्धात्रयं कर्त्त्रयाभित्यादात्रिः,—

"सम्धानयन्तु कर्न्यं दिजेनाताविदा मदा। उभे सम्धे तु कर्न्ये ब्राह्मणैय ग्रहेम्विप"—इति।

यद्यपि, प्रशस्तवाद हिरेव सन्धाययं कर्त्तव्यवेन प्राप्तं, तथापि श्रौतवेन विहरणस्य प्रावन्यात् तदनुरोधेन सायं-प्रातः-सन्ध्ये ग्रहेऽ-भ्यनुज्ञायेते।सायं सन्ध्यायासुपण्याने सन्त्र-विशेषमाह नारायणः,—

"वारूणीभिस्तथादित्यसुपस्थाय प्रदिचणम् ।

कर्चन् दिशोनसस्तुर्धादीगीशांश्च एथक् एथक्'-इति । वाक्ण्यः,-'इमं सेवक्ण'-दत्याद्याः । यद्यपि, वाक्णीभि वंक्ण-स्थापस्थानं लिङ्गवलात् प्राप्तं, तथापि श्रुतेः प्रावल्यात् तथा लिङ्गं वाधिता श्रादित्योपस्थाने एव विनियुज्यन्ते । एतच हतीयाध्याये विचारितम्(१) ।

तथा हि, "ऐन्द्रा गार्डपत्यसुपित छेत"—इति श्रूयते । इन्द्रो देवतालेन यखाम्टिच मन्त्रलिङ्गात् प्रकारत्यते, सेयम्गेन्द्री; 'कदाचन स्तरीरिम नेन्द्र सञ्चिम,—दत्यादिका। तत्र, लिङ्गादिन्द्रोपम्याने मन्त्रस्य विनियोगः प्रतीयते, 'गार्डपत्यम्'—इति दितीयाश्रुत्या तु गार्ड-पत्थोष्णस्थाने । तत्र संभयः, किसुभयं समुचित्योपस्थेयं, उत्तैकएव ।

⁽१) पूर्वमोमांसायाः, — इति ग्रेषः। रतच तच ततीय-तिय-सप्तममिधः करणम्।

तचापि किं यः कञ्चिदैक्किकः, किं वेन्द्रएव, जतगाईपत्यएव,—
इति । तच, श्रुति-लिङ्गयोः सम-वल-प्रमाणलात् विरेधानुपलस्भाच
समुचयः,—इत्येकः पचः। एकेपिस्थाने मन्त्रस्य निराकाङ्कलात् नैराकाङ्च्य-लचण-विरेधादन्यतर-नियामकादर्भनाचैक्किकः,—इति
दितीयः पचः। श्रुतेः भ्रञ्दात्मिकायाः श्रर्थ-सामर्थानुसारिलात्
सामर्थस्य चोपजीयलेन प्रावच्यादिन्द्रएवोपस्थेयः,—इति त्तियः पचः।
सन्त्रगतोचीन्द्रभन्दोरुद्या भ्रक्षमभिधन्ते, 'इदि परमेश्वर्थे'—इत्यसाद्
धातारुत्यन्नलात् स्वकार्थ-विषयपरमेश्वर्थे।पतं गाईपत्यमभिधन्ते,
'गुणादाप्यभिधानं स्थात्'—इति न्यायेनोभय-साधारणलेन लिङ्गस्य
सन्देद्यापादकलम्। श्रयेचेतः ;—'क्विंग्येगमपदरित'—इति न्यायेन
भीषवुद्युत्पादिकायाः क्वेः प्रावच्याक्कक्रपवोपस्थेयः,—इति। एवं
तर्हि, लिङ्गादिप भीष-बुद्युत्पादकलेन श्रतिरेवाच विनियोजिका(१)।
तथा ह्याचार्थेक्कम्,—

"मन्त्रार्थं मन्त्रतो बुद्धा पञ्चाक्कितिं" निष्ण्य च। मन्त्राकाङ्का-बलेनेन्द्र-ग्रेषल-श्रुतिकम्पनम्॥ श्रत्या प्रत्यचया पूर्वे गाईपत्याङ्गतां गते।

[†] तत्शक्तिं च, - इति मु॰ पुस्तके पाठः।

⁽१) रतच, "श्रुति-लिङ्ग-वाका-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पार दोर्वेन्द्यमर्थविप्रकर्षात् (मी० २ अ० ३पा० १४ स्०)"—इति जैमिनि सूचात् सिद्धम्। श्रुत्यादयस्व, "श्रुतिर्दितीया च्यमता च लिङ्गं वाकां पदान्येव तु संहतानि। सा प्रक्रिया या कथिमत्यपेचा स्थानं क्रमा यागवनं समाख्या"—इत्वतन्त्रात्याः। तच च, दितीयापदं कारक-विभक्तयुपनच्याम्,—इति वाचस्पतिमिश्राः।

तिराकाङ्गीकते मन्त्रे निर्मूना श्रित-कन्सना।।
तेन ग्रीप्त-प्रवित्तान्क्रुत्या निङ्गस्य वाधनम्''।
तस्माद्गार्चपत्यएवे।पत्येयः,—दित सिद्धम्,। सन्ध्यां प्रगंसित यमः,—
''सन्ध्यासुपासते ये तु सततं संग्रित-व्रताः।
विधूत पापास्ते यान्ति ब्रह्मतोकं सनातनम्॥
यदस्य कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
श्रामीनः पश्चिमां सन्धां प्राणायामेस्तु इन्ति तत्॥
यद्गाया कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
पूर्व्वसःध्यासुपासीनः प्राणायामैर्यपोद्यति॥
स्वयोदीर्घ-सन्ध्यतादीर्घमायुरवाप्तृयुः शः
प्रज्ञां यश्च कीर्त्तिच ब्रह्मवर्चसमेवच''—इति।
श्रकरणे प्रत्यवायोदर्शितोदचेण,—

''सन्धादीनो ऽग्रुचिर्नित्यमनर्दः सर्व-कर्मस्। यदन्यत् कुरुते कर्मा न तस्य फलभाग्भवेत''—इति । गोभिलोऽपि,—

"सन्धा येन न विज्ञाता सन्धा येनानुपासिता। जीवमानोभवेच्छू द्रो स्तः या चेापजायते । निष्णुपुराणेऽपि,—

"उपतिष्ठन्ति वै ! सन्धां ये न पूर्व्वा न पश्चिमाम्।

सर्व्वभायुक्पाययः,— इति मु॰ पुन्तके पाठः ।

र् श्वानाभिजायते, - इति सु॰ पुस्तके पाठः ।

[ं] ये, − इति द्या॰ पुक्तको प।

व्रजन्ति ते दुरात्मानस्तामिसं नरकं नृप"—इति॥ कूर्कापुराणेऽपि,—

''योऽन्यत्र कुरुते यहं धर्म-कार्ये दिजोत्तमः । विद्याय धन्धा-प्रणतिं स याति नरकायुतम्"—इति । एतसर्व्यमनार्त्त-विषयम् । तथाच याज्ञवक्काः,—

''त्रनार्त्तञ्चोत्स्जेदास्तु सविष्ठः ग्रूट्ट-सिमातः ।

प्रायश्चित्ती भवेचैव लोके भवति निन्दितः"—इति। चनिर्पि,—

"नेपितिष्ठन्ति ये बन्धां खस्याऽनस्यास्तु ने दिजाः। हिंसन्ति ने सदा पापा अगनन्तं दिवाकरम्"-इति। विष्णुप्राणेऽपि,—

"वर्षकालमुपछानं बन्धायाः पार्थिवेद्यते । श्रन्यत्र स्नतकाशीच-विश्वमातुर-भीतितः"-इति । स्नतकादी सत्यपि सामर्थी सन्धोपासनं न कार्यमित्याद सर्विष्टः,—

"स्तके कर्मणां त्यागः सन्धादीनां विधोयते"—इति। धदपि पुनस्तेनोक्तम्,—

"सम्धासिष्टिञ्च होमञ्च" यावज्जीवं समाचरेत् । न त्यज्येत् स्रतके वाऽपि त्यजनगङ्खत्यधोगतिम्"—इति । तन्मानसिक-सम्धाऽभिप्रायम् । यतस्तेनैवेतकम्,—

"स्तिके स्तिके चैव बन्धाकका न तु त्यच्येत् । अनके चारयेन्यन्त्रान् प्राणायामस्ते दिजः॥

^{*} सन्धामिष्टिं चर्व हिामं,हति मु॰ पुस्तके पाठः। † न सन्धजेत,—हति सु॰ पुस्तके पाठः।

एति दिदिला यः सन्धासुपास्ते संग्रितन्तः । दीघेमायुः म विन्देत मर्र्यपापैः प्रसुच्चते"—इति । ॥०॥ इति मन्धाविधिः॥०॥

त्रय सन्थाङ्ग-जप-विधिः।

तच मनु: —

''त्राचम्य प्रयतोनित्यमुभे सन्धे समाहितः।

गुचै। देशे जपन् जप्यमुपामीत यथाविधि''—इति।

कथिमित्यपेचिते त्राह शङ्घः,—''कुश्रव्यां ममामीनः कुश्रोत्तरायां
वा कुश्र-पविच-पाणिः स्र्याभिमुखोवाऽचमालामादाय देवतां
ध्यायन् जपं कुर्यात्"—इति।

यासोऽपि,—

"प्रणव-व्याह्ति-युनां गायवीच्च जपेत्ततः"—इति । योगियाज्ञवल्काम्तु, श्रन्तेऽपि प्रणव-योगार्धमाहः,— "ॐकारं पूर्वमुचार्य स्टर्भवः स्वस्त्यैवच। गायवीं प्रणवं चान्ते जपएवसुदाहृतः"—इति । बौधायनोऽपि,—"उभयतः प्रणवां सव्याहृतिकां जपेत्"—इति

"तिविधोजपयज्ञः स्थात्तस्य भेदं निवोधत । वाचिकञ्च उपांग्रञ्ज मानम स्तिविधः स्टतः ॥ त्रयाणां जप-यज्ञानां श्रेयः स्थादुत्तरोत्तरः"—इति । वाचिकोपांग्रज्ञयोर्णचणं पुराणेऽभिह्तिम्,— "यदुष्च-नीच-स्वरितैः ग्रब्दैः स्पष्ट-पदाचरैः ।

नृधिं इपुराणे जप-यज्ञस्य भेदोऽभिहितः,—

सन्त्रमुचारयेदाचा वाचिकेाऽयं जपः स्रातः ॥

श्रानेरुचारयेन्सन्त्रभीषदोष्ठौ प्रचालयन् ।

श्रापरेरश्रुतः किञ्चित् म उपांग्रजपः स्रातः"—इति ।
विश्वासित्रेण सानसस्य खन्तणमुक्तम्,—

'धायेट् यदत्तर-श्रेणीं वर्णादणं पदात्पदम् । ग्रब्दार्थ-चिन्तनं भूयः कथ्यते मानसेजपः"— इति ।

वयाणां तारतस्य च तेनैवोक्तम्,—

"उत्तमं मानसं जयसुपांग्रं मध्यमं स्वतम्। ऋधमं वाचिकं प्राज्ञः सर्वमन्तेषु वै दिजाः। वाचिकस्वैकमेकं स्वादुपांग्र्यः ग्रतसुच्यते॥ साइस्रोमानसः प्रोकोमन्वचि-स्गु-नारदैः"—इति।

जप-नियममाइ शौनकः,—

"क्रलोत्तानो करो प्रातः सायञ्चाधोसुखो तथा।
सध्ये स्तम्बकराभ्यान्तु" जपएवसुदाहृतः ॥
सनः-सन्तोषणं शोचं मानं सन्तार्थ-चिन्तनम्।
प्रययवसनिर्वदोजप-संपत्ति-हेतवः"—हात ।

सनुर्पि,—

"पूर्वां मन्थां जपंस्तिष्ठेत् मावित्रीमाऽर्क-दर्भगात्। पश्चिमान्तु समामीनः सम्यग्टच-विभावनात्"—इति। मधाह्यं जपस्य नियमः वायुपुराणे दर्भितः,—

^{*} स्कन्दकराभ्यान्तु,—इति स॰ या॰ प्रा॰ पुक्तकेषु, तिर्व्यक्तराभ्यान्तु,— इत्यन्यत्रपाठः।

"तथा अधास्र-बन्धायामाधीनः प्राद्मुखोजपेत्' — इति । वर्च्यानाह व्यासः,—

"न संक्रासन् न च इसन् न पार्श्वमवलोकयन्।
नायासितो न जन्यं च न प्राटतिश्रग्रह्या।
न पदा पादमाक्रम्य न चैविह तथा करौ॥
न चासमाहित-सना नच संश्रावयन् जपेत्"—इति।
बौधायनोऽपि,—

"नाभेरधः षंस्पर्धनं कर्षा-मंयुक्तेवर्जयेत्"-इति । व्याचाऽपि,†—

"जपकाले न भाषेत जत-हे। मादिकेषु च।

एते खेवावसकस्तु यद्यागच्छेत् दिजोत्तमः।

श्राभिवाद्य तनोविप्रं योग-वेमस्र कीर्त्तयेत्"—इति।
योगियाज्ञवक्कोऽपि,—

"यदि वाग्यम-लापः खाज्जपादिषु कदाचन। व्याहरेद्वैणावं मन्त्रं सारेदा विष्णुमययम्"—इति। संवर्त्तीऽपि,—

"लोक-वार्त्ताऽऽदिकं श्रुवा दृष्ट्वा खृष्ट्वा प्रभाषितम्। सञ्चां विना च यज्जनः तत्मर्वे निष्पत्तं भवेत्"—इति । प्रभाषितं १ वज्जभाषितं पुरुषमिति । गौतमोऽपि,—

^{*} नचास्त्रिते।,—इति ग्रा॰ पुस्तके पाठः।

र्ग नास्तोदं सु० पुस्तके।

[🕽] जप्यं,—इति ग्रा॰ सु॰ पुस्तक्रयेः पाठः।

[§] प्रभाधितसिति,—इति ग्रा॰ पुक्तके पाठः ।

"गष्कतिस्विष्ठते वाऽपि खेष्क्या कर्म कुर्वतः।
प्राप्ते ची विना गंखां तस्य निष्मलं भवेत्॥
कोधं लोभं तथा निद्रां निष्ठीवन-विज्ञुक्षणम्।
दर्भनञ्च श्व-नीचानां वर्जये च्यप-कर्मणि॥
प्राचामेस्यभवे चेषां स्मरेदिष्णुं सुरार्चितम्।
च्योतीं चि प्रशंसेदा कुर्यादा प्राण-संयमम्॥
ज्यलनं गाञ्च विप्रां यतीन्वाऽपि विष्ठाद्वये"-इति।

देश-नियमस्त याज्ञवस्कीनोत्तः,—

"ऋग्यागारे जलान्ते वा जपेहेवालयेऽपि वा । पुष्यतीर्घे गवां गोष्ठे दिज-चेनेऽथवा ग्टहे"—दित ! श्रह्मोऽपि,—

"रहे नेकगुणं जषं नदादी दिगुणं स्टतम्।
गवां गोष्ठे दयगुणमान्यागारे प्रताधिकम् ॥
सिद्ध-चेचेषु तीर्थेषु देवतायास्य सिक्षधी ।
सदस-प्रत-काटीनामनन्तं विष्णु-सिक्षधी"—इति ।
कूर्मपुराणेऽपि,—

'गुद्यका राचिषाः सिद्धाहरन्ति प्रसभं यतः । एकान्ते तु ग्रुभे देशे तस्माज्जष्यं सदाचरेत्"—इति । जप-संख्यामाद्य योगियाज्ञवक्काः,—

"ब्रह्मचार्याहिताग्निश्च व्यतमद्योत्तरं जपेत्।

^{*} कोधं मान्यं चुतं निदां,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।
† दर्शनं स्वादिनीचानां,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

वानप्रस्थायतिश्चैव महस्रादधिकं जपेत्"—इति । स्रात्यन्तरे,—

"दर्शे श्राद्धे प्रदोषे च गायचीं दश-संख्या । श्रष्टाविंशत्यनध्याये सुदिने तु यथाक्रमस्"—इति । यमाऽपि,—

> "सदस-परमां देवीं जत-मधां दजावराम्। गायत्रीन्तु जपेन्नित्यं सर्व-पाप-प्रणाजनीम्"—इति।

श्रापसम्बोऽपि,—"दर्भेष्वासीनो दर्भान् धारयमाणः सेादकेन पाणिना प्राक्षुखः सावित्रीं सहस्रकल श्रावर्त्तयेष्क्तकलोऽपरिमित-कलावा"-इति ।

॥०॥ इति जप-विधिः॥०॥

जपाङ्गभ्रतामचमालामाइ † हारीतः,—

"शङ्ख-क्ष्णमयी माला काञ्चनीभिरयोत्पलैः। पद्माचकेञ्च क्राचे विद्रुमेर्मण-मोकिकैः॥ तथाचेद्राचकेमाला तथेवाङ्गुलि-पर्वभिः। पुत्रजीवमयी माला श्रसा वै जप-कर्मणि"—इति।

गौतमाऽपि,—

''त्रङ्गुच्या जप-संख्यानमेकमेकसुदाह्वतम्। रेखायाऽष्टगुणं पुत्रजीवैर्द्रभगुणाधिकम्।

^{*} स्मृत्यन्तरे, - इत्यादिः, इति, - इत्यन्तीग्रश्ची नान्ति सुदितातिरिक्त-पुन्तकेषु।

र्ग जपाक्रभूतां मालामाच, -- इति सु॰ पुक्तके पाठः।

¹ यमा चर्केस, — इति स॰ प्रा॰ पुक्तकयोः पाठः।

ग्रतं स्थाच्छङ्खमणिभिः प्रवालेश्च महस्रकम् । स्फटिकेर्दश्रमाद्दसं मौकिकेर्चसुच्यते । पद्माचेर्दश्रसचन्तु सौवर्षैः कोटिक्च्यतं ॥ कुश्रयन्थ्या च सद्राचेरनन्तपस्तसुच्यते"—इति ।

श्रथाचमाला-मणि-संख्यामाच प्रजापतिः,—

"श्रष्टोत्तरमतं कुर्याचतुःपञ्चामिकां तथा।

सप्तविमितिकां वाऽय ततानैवाधिका हिता॥

श्रष्टोत्तर-मता माला उत्तमा सा प्रकीर्त्तिता।

चतुःपञ्चामिका या तु मध्यमा सा प्रकीर्त्तिता॥

श्रधमा प्रोच्यते नित्यं सप्तविमिति-संख्यया"—इति।

गौतमाऽपि,-

"श्रङ्ग छं मे। चरं विद्यात्तर्ज्ञनी श्रनु-नाश्चिनी।

सध्यमा धन-कामायानामिका^(१) पौष्टिकी तथा॥

कनिष्ठा रचणी प्रोक्ता जपकर्षणि श्रोभना।

श्रङ्ग छेन जपं जप्यमन्यैरङ्ग जिभिः सद्य॥

श्रङ्ग छेन विना जप्यं छतं तदफलं भवेत्"—इति।

गायची-जपं प्रशंसति व्यासः,—

''दशकलः प्रजप्ता पात्र्यहाद्यस कतं स्व । तत् पापं प्रणुदत्याग्रः नात्र कार्या विचारणा । श्रत-जप्ता तु सा देवी पापौघ-श्रमनी स्टता । सहस्रजप्ता सा देवी उपपातक-नाशिनी ।

⁽१) धनकामाय, --- इति होदः।

लव-जायेन च तथा महापातक-नाशिनी ॥ केटि-जायेन राजेन्द्र यदिक्ति तदाप्रुयात्''—इति ।

यमोऽपि,-

"गायचान परं जायं गायचान परं तपः। गायचान परं धानं गायचान परं जतम्"—इति। मन्रपि,—

''योऽधीतेऽइन्यइन्येतां चीणि वर्षाण्यतन्तितः । स ब्रह्म परमणेति वायुश्वतस मूर्त्तिमान्''—इति । गोतमोऽपि,—

> "श्रनेन विधिना नित्यं जपं कुर्यात् प्रयत्नतः । प्रमन्नोविपुतान् भोगान् भुक्तिं मुक्तिञ्च विन्दति"—इति । ॥०॥ इति सन्धा-जपयोः प्रकरणम् ॥०॥

अय है। म-विधिः।

तव, कूर्मपुराणे,—

"त्रयागम्य ग्रहं विप्रः समाचम्य यथाविधि । प्रज्वास्य वह्हिं विधिबज्जुङ्गयाज्ञातवेदसम्"—इति ।

द्चोऽपि,—

"सम्धा-कर्मावसाने तु ख्यं होमे।विधीयते । ख्यं होमे फलं यत्यात्तदन्येन न लभ्यते॥ होमे यत् फलसुद्धिष्टं जुक्रतः खयमेन तु।

^{*} यरां, - इति भा॰ पुक्तके पाठः।

ह्रयमानं तदन्येन फलमुईं प्रपद्यते । स्वतिक् पुत्रोगुरुर्भाता भागिनेयोऽच विट्पतिः । एतैरपि इतं यत्यात्तद्भृतं खयमेव हि"—इति ।

विट्पति जीमाता। खयं हामएव मुख्यः, तदभावे च्हिल-गादि-होमः। तच विशेषः कूर्क्षपुराणे दर्शितः,—

> "च्हित्वक् पुत्रोऽयवा पत्नी श्रियोवाऽपि सहेादरः। प्राप्यानुज्ञां विश्वेषेण जुज्जयादा ययाविधि"—इति।

ह्यात-तारतम्यं दर्शयति श्रुति:,*-

"श्रन्यैः ग्रत-इताद्वोमादेकः ग्रिय्य-इतेवरः ।

शियोः भत-इताङ्घोमादेकः पुत्र-इतीवरः ।

पुनै: शत-इताद्वीमाने। ह्याताइतोवरः"— इति ॥

कः त्विगादि-होमेऽपि यजमान-सिन्नधानेन अवित्यम्। तदुः कं कात्यायनेन,—

"श्रमनन्तु दम्पत्ये हिंातयं नर्तिगादिना । दयोरप्यमनन्तु भवेद्धृतमनर्थकम्"—इति ।

खभयोः सन्निधानं सुख्यं, तदभावे त्वेकतर-सन्निधानेनापि हातुं प्रकाम्। तथा च सएवाइ, ं—

> "निचिषाग्निं खदारेषु परिकल्धार्तिजं तथा। प्रवित कार्यवान् विप्रो वधैव न चिरं वसेत्" – इति।

^{*} श्रुतिः, -- इति नास्ति मु॰ पुस्तके।

^{ां} नास्तीदमर्डं मुदितातिरिक्तं पुस्तकेषु ।

^{‡ &#}x27;उभयोः'—इत्यारभ्य, 'सरवाष्ट'—इत्यंतस्य खाने, प्रवासे विश्रोध-माष सृतिः,—इति मृ॰ पुक्तने पाठः।

हामकालः कात्यायनेन दर्भितः,—

''यावत् सम्यक् विभायन्ते नभस्यृत्ताणि सर्व्वतः ।

लेक्तिलञ्च नापैति तावत् षायन्तु इयते"—दित ।
श्रापस्त्रावोऽपि,—''मसुद्रोवा एष यदहारात्रः, तस्वैते गाधतीर्थे
यस्थी, तस्मात् मन्धी हातव्यम्—दित कात्यायन-त्राह्मणं भवित,
नचत्रं दृष्ट्वा प्रदेषि निषायां वा षायम्"—दित । षसुद्रलेन
निक्षितस्वाहोरात्रस्य षन्धिदयं सुप्रवेश तीर्थं, तस्मात् मन्धिहीमकालः,—दित सुख्यः कन्पः। नचत्र-दर्शनादयस्त्रयः कालाः षायं
होसेऽनुकल्पाः। एकनचत्रोदयो नचत्रदर्शनं, धर्वनचत्रोदयः प्रदोषः,
निद्रावेला निष्णा। प्रातर्होमकालोऽपि चतुर्व्विधस्तेनैवद्र्षितः,—"उषस्वुषोदयं समयाध्युषिते प्रातः"—दित । मनुस्तु प्रथम-दितीयावेकी
कात्य काल-त्रयमाह,—

" उदिते उनुदिते चैव समयाधुषिते तथा ।

सर्वधा वर्नते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः" — इति ।

एतेषां लचणमाइ व्यासः,—

"रानेः घोड्णमे भागे ग्रह-नचन-भूषिते। कालं लनुदितं प्राक्त*हीमं कुर्यादिचनणः॥ तथा प्रभात-सभये नष्टे नचन-मण्डले। रविर्यावन्न-दृष्टेत समयाध्यषितस्तु सः॥ रेखामाचस्तु दृष्येत रिक्षाभिस्तु समन्वितः। खदितं तं विजानीयात् तत्र होमं प्रकल्पयेत्"—इति।

^{*} सन्धित्रयं,—इति मु॰ पुक्तके पाठः। † कालेत्वगृदिते प्रातः,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

श्वाश्वलायनस्त श्रनुकन्यान्तरमाइ,—"श्वासङ्गवान्तं प्रातः"—
इति । हेाम-कालः,—इत्यनुवर्त्तते । श्रथवा, सर्व्यप्वते काल-विशेषा
यथाशाखं सुख्यतयेव व्यवतिष्टन्ते उदितानुदित-हेामवत् । यदा तु
कथि चित्रुष्यकालातिक्रमः, तदा गोभिलेकं द्रष्ट्यमः,—"श्रथ
यदि ग्रह्येऽग्रो सापंप्रातर्हीमयोर्द्शपौर्णमासयोर्वा इयं होतारं वा
नाधिगच्छेत् कथं कुर्यादिति, श्रा सायमान्नतेः प्रातरान्नतिन्नात्येत्याप्रातरान्नतेः सायमान्नतिराऽमावास्यायाः पौर्णमासी नात्येत्यापौर्णमास्यमावास्या"—इति । बौधायनोऽपि,—

"त्रा धार्यकर्मणः प्रातराप्रातः साय-कर्मणः। त्राङ्गतिन्नीतिपद्येत पार्व्वणं पार्व्वणान्तरात्"-इति। त्रापत्रस्य पच-होमं कुर्यात्। तथाच मरीचिः,—

"शरीरापद्भवेद् यत्र भयादाऽऽर्त्तिः प्रजायते ।

तथाऽन्याखिप चापत्मु पच-हामाविधीयते"—इति ।

पचहामिनः तत्-पच-मधे श्रापनियमी तदा प्रसृति पुनर्हीमः कर्त्तयः । तदाइ मरीचिः,—

"पचहामानथो कवा गवा तसात् निवर्त्ततः। होमं पुनः प्रकुर्यानु नचासौ दोषभाग्भवेत्''-इति। एवं हामानुष्ठिताविषे सीमोस्साने कते पुनराधानं कर्त्तव्यम्। तदाह कात्यायनः,—

''विद्यायां संभार्थयेत् सीमासुब्द्या गच्छति।

^{*} यथानथिनमुख्यकालातिक्रमः तथा,—इति मृ॰ पुष्पची पाकः।

होम-कालात्यये तस्य "पुनराधानिमयते"—इति।
होमकालानत्यये तु नास्ति पुनराधानं, तदाह ग्रोनकः,—

"प्रोधिते तु यदा पत्नी यदि ग्रामान्तरं व्रजेत्।
होम-काले यदि प्राप्ता न सा दोषेण युज्यते"—इति।
होमह्यमाह सएव,—

"क्तमादन-मक्वादि तण्डुलादि कताकतम्। बीह्यादि चाकतं प्रोक्तमिति ह्यं निधा वृधेः॥ हिवयेषु यवामुख्यास्तदनु वीह्यः स्तृताः। श्रभावे वीहि-यवयोर्दभा वा पयमाऽपिवा॥ तदभावे यवाग्वा वा जुह्रयादुदकेन वा। यथोक्त-वस्त्वमंप्राप्तो याद्यं तदनुकारि यत्॥ यवानामिव गोधूमा वीहिणामिव भालयः। श्राच्यं ह्यमनादेशे जहोतिषु(१) विधीयते॥ मन्त्रस्य देवतायास्य प्रजापितिरिति स्थितिः"—इति।

त्राक्तति-परिमाणमाच टहु-हच्सति:t,—

^{*} होमकालादतीतस्य, — इति मृ॰ पुक्तके पाठः।

† होमेकाले तु संप्राप्ते न सा, — इति मृ॰ पुक्तके पाठः।

‡ बहस्पतिः, — इति स॰ सा॰ प्राच्युक्तकेषु पाठः।

⁽१) यद्यपि धातुस्तरूपे शप् अनुप्तिस्थते, तथापि प्रयोगानुसारात् धाल-र्धेऽपि तस्य साधुलं मन्तयम्। "द्वैत्ततेन श्रब्दम् शा०१ अ०१पा० भूसू०)"—इत्यादिवत्।

"प्रख-धान्यं चतुःषष्ठिराक्ततेः परिकीर्त्तितम्।
तिलानान्तु तदर्द्धं स्थात् तदर्द्धं स्थाद्घृतस्य तु"—इति॥
बौधायनीऽपि,—

"वीदीनां वा यवानां वा भतमा इतिरियाते"—इति । होम-प्रकारः ख-ग्रह्योत्त-विधिना द्रष्ट्यः। तद्तां ग्रह्मपरिभिष्टे,— "ख-ग्रह्योत्तेन विधिना होमं कुर्याद्यथाविधि"—इति । विष्णुरिप*,—

"वज्ञ-ग्रुष्किन्धने चाग्नी सुमिमिद्धे ज्ञताभने।
विधूमे लेलिहाने च हातव्यं कर्मा-मिद्धये॥
योऽनिर्चिषि जुहात्यग्नी व्यङ्गारे चैव मानवः।
मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्चोपजायते"—इति।
एतच ज्ञालैवानुष्ठेयमनाया दोष-श्रवणात्। तदाहाङ्गिराः,—
"खाभिप्राय-क्वतं कर्म यत्किञ्चित् ज्ञान-विज्ञितम्।
कीडा-कर्मेव वालानां तस्वे निन्प्रयोजनम्"—इति।
चतुर्विभितिमते,—

"हतं ज्ञानं क्रिया-हीनं हतास्त्रज्ञानतः! क्रियाः।
श्रपश्यनत्थकोदग्धः पश्यनपिच पङ्गुकः"—इति।
श्रीत-स्मार्त्तयोरपि व्यवस्थामाह याज्ञवल्काः,—
"कर्म स्मार्त्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं ग्रही।

^{*} नास्तीदं — मु॰ पुस्तने ।

† जीड़ानम्मच, — इति स॰ सा॰ ग्रा॰ पुस्तने पाठः ।

‡ इतास्त्वज्ञानिनः, — इति ग्रा॰ पुस्तने पाठः ।

दाय-कालाह्दते वाऽपि श्रौतं वैतानिकाग्निषु"—इति । वैतानिका गार्हपत्यादयः। यस्य पुनः श्रौत-स्मानीग्नि-दयं तस्यानुष्ठान-प्रकारमाह* भरदाजः,—

"होमं वैतानिकं क्रला सान्तें कुर्यादिचनणः। स्रतीनां वेद-मूललात्, सान्तें केचित् पुरा विदुः"-इति। भातातपाऽपि,—

"श्रीतं यत् तत् † खयं कुर्यादन्ये। पि सार्त्तमाचरेत्। श्रामतौ श्रीतमप्यन्यः कुर्यादाचारमन्ततः"—इति । उक्तस्याग्नेर्नित्यतामाइ गर्भः,—

"कृतादारोनेव तिष्ठेत् चणमणिश्चना विना।
तिष्ठेत चेद्विजोत्रात्यस्वयाच पितितोभवेत्॥
यथा स्नानं यथा भार्या वेदस्थाध्यायनं यथा १।
तधेवौपामनं ११ दृष्टं न तिष्ठेत्तदयोगतः॥"—इति।
सत्यामिष वैदिकानुष्ठान-भक्ती न स्नार्त्तमात्रेण पित्तुस्थेत।
तदाइ सएव,—

''योवैदिकमनादृत्य कर्म सार्त्तीतहासिकस्।

^{*} तस्यानुष्ठानव्यवस्थामात्त्र,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

रं स्त्रीतं यत्स्यात्, — इति ग्रा॰ पुक्तके पाठः।

[‡] भाग्यक्तथाच,—इति मु॰ पुक्तको पाठः।

[🖇] तथा,—इति ग्रा॰ पुक्तको पाठः।

[॥] तिद्वियागतः, — इति मु॰ पुक्तके पाठः ।

⁽९) खानं समावर्त्तनापरनामधेयमाञ्चवनम् । खैापासनं सार्त्तामाः ।

मोहात् समाचरेदिप्रो न स पुर्णेन युच्यते।
प्रधानं वैदिकं कर्मा गुण-स्टतं तथेतरत्।
गुण-निष्ठः प्रधानन्तु हिला गच्छत्यधोगतिम्'—दिति।
स्त्रमकं प्रति व्यासः स्राह,—

"श्रीतं कर्त्तं नचेच्छकः कर्षा सान्तं समाचरेत्। तचाष्यमकः करणे सदाचारं लभेदुधः"—इति।

होमं प्रशंसत्यङ्गिराः,—

"योदद्यात् काञ्चनं मेहं पृथिवीञ्च ममागराम्। तत् मायं-प्रात-होमस्य तुः भवति वा नवा"—इति। होम नो भसा धार्यम्। तदाह वहस्यतिः,—

"नर्यभसाग्निहाचाने धार्यमेवाग्निहाचिभिः। त्रनाहिताग्ने बीह्याख्यमोपायन-यमुद्भवम्"। "इता चैव तुः भसाना"—इत्यादि स्रत्यन्तर्च ।

॥०॥ इति होम-प्रकरणम् ॥०॥

तदेवं, 'सन्धा द्धानं जपे।होमः'-इत्यसिन्मूल-वचने होमां तानि कर्माणि निरूपितानि। तान्येतान्यष्टधा विभक्तस्य दिनस्य प्रयम-भागे समापनीयानि। यद्यपि, मधाह्न-स्नानादीनि निरूपि-तानि, तथापि तेषां प्रातःस्नानादि-प्रसङ्गेन निरूपितानामाद्य-भागे

^{*} सायं प्रातर्श्वामस्य,—इति प्रा॰ पुक्तके पाठः।
† हीमान्ते,—इत्यादि, स्मृत्यन्तरञ्च,—इत्यंते।य्रायः मुनितातिरिक्तपुक्तकेषु न दृश्यते।

न कर्न्यता*। दिवमस्राष्ट्रधा विभागं तत्र कर्त्त्य-विशेषञ्च दर्शयित,—
"दिवमस्राद्यभागे तु कृत्यं तस्रोपिदिस्यते।
दितीये च वृतीये च चतुर्थे पञ्चमे तथा।
षष्ठे च सप्तमे चैव श्रष्टमे च पृथक् पृथक्।
विभागेस्वेषु यत् कर्मा तत् प्रवच्यास्यशेषतः"—

द्रत्यादिना ।

श्रथ, मूलवचनानुमारेण देवता-पूजनं कर्त्तव्यम् । तच पूजनं प्रातर्हीमानन्तरम्,—इति केचित्। तथा च मरीचिः,—

"विधाय देवता-पूजां प्रातर्हेशमादनन्तरम्"—इति । ब्रह्मयज्ञ-जपानन्तरम्,—इत्यन्ये । तथाच हारीतः,—

"कुर्जीत देवता-पूजां जपयज्ञादनन्तरम्" – इति । कुर्मपुराणेऽपि, –

> "निष्पीद्य स्नान-वस्तं वै ममाचम्य च वाग्यतः। स्वैर्मन्तैरर्चयेदेवान् पत्रैः पुष्पैस्तथाऽम्बुभिः"—इति ।

ततः । जपयज्ञानन्तरं देवपूजां निरूपिययामः । प्रातर्हेमा-नन्तर-भावीनि ब्रह्मयज्ञान्तानि मूल-वचनानुकान्ययाह्निक-क्रम-प्राप्त-लात्तान्युच्यन्ते । होमानन्तर-क्रत्यमाह दत्तः,—

"देव-कार्यं ततः कला गुरू-मङ्गल-वीचणम्"—इति । मङ्गलमादर्भादि । तदुकं मत्यपुराणे,—

^{*} प्रातःखानादिप्रसङ्गेनाभिष्टितत्वात्, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

रेवतानाच पूजनं वक्तवं,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] तत्रचायं,—इति भा० पुस्तके पाउः।

"रोचनं * चन्दनं हेम स्टर्ङ्गं दर्पणं मणिम्। गुरुमग्निञ्च स्वर्थञ्च प्रातः पर्यत् सदा वुधः"—इति। विष्णुपुराणेऽपि,—

"खाचान्तञ्च ततः कुर्यात् पुमान् केश-प्रसाधनम्। श्रादशीज्जन-माङ्गल्य-दूर्व्वाद्यालभानानि च"—दित । मृत्युपुराणे,—

"खात्मानन्तु चृते पछ्छेद्यदीच्छेचिर-जीवितम्"—इति । नार्दोऽपि,—

"लोकेऽस्मिनाङ्गलान्यष्टी ब्राह्मणो गीर्क्तामनः । हिरण्यं मर्पिरादित्य श्रापोराजा तथाऽष्टमः । एतानि सततं पश्चेत् नमस्टेदर्चयेच यः ॥ प्रदित्तणञ्च कुर्वीत तथा ह्यायुर्न हीयते"—दित । मनुरपि,—

"श्रिमिचित् किपला सची राजा भिचुर्महोदिधः। दृष्टमाचाः पुनन्धेते तसात् पश्चेत नित्यशः"—इति। वामनपुराणेऽपि,—

"होमञ्च कताऽऽलभनं ग्रुभानां ततो विहिनिर्गमनं प्रमस्तम्। दूर्वाच मिर्पर्दिध सेदकुमं धेनुं सक्तां टषभं सुवर्षम्।

^{*} रे।चनां,—इति स॰ ग्रा॰ पुक्तकयाः पाठः। † खमात्मानं,—इति मु॰ पृक्तके पाठः। † तथा, —इति मुद्रितपुक्तके पाठः।

महोसयं स्वस्तिकमत्तां श्र तेलं मधु ब्राह्मण-कन्यका श्र । श्रेतानि पुष्पानि तथा श्रमीं च ज्ञताश्रनं चन्दनमर्क-विम्बम् । श्रयत्य- ट्वश्र समालभेत ततश्र कुर्यान्त्रिज-जाति-धर्मम्,"—इति ।

भरदाजोऽपि,—

"कण्डूय पृष्ठतोगान्तुः हत्वा चायत्य-वन्दनम्। उपगम्य गुरून् सर्वान् विप्रांश्चैवाभिवादयेत्"—इति । ब्राह्मण-समवाये प्रथमं कस्याभिवादनभित्याकाङ्गायामाह मनुः,—

"लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽऽध्यात्मिकमैत्र वा।
श्राददीत यतोज्ञानं तं पूर्वमिभवादयेत्"—दित ।
श्रिभिवादन-काले खं नाम कीर्स्तयेदित्याह सएव,—
"श्रिभिवादात् परं विप्रोज्यायांसमभिवादयन्।
श्रिभीनामाऽहमस्मोति खं नाम परिकीर्स्तयेत्।
भोश्रव्दं कीर्स्तयेदन्ते ख-ख-नामाऽभिवादनम्?"—दित ।

^{*} यद्गीमयं, — इति ग्रा॰ पुक्तके पाठः ।

[†] विद्यं,—इति ग्रा॰ पुक्तको पाठः।

¹ एखगां गान्तु, — इति मु॰ पुन्तके पाठः।

९ खखनामोऽभिवादयेत्,—इति मृ॰ पुक्तके पाठः। खखनामोऽभि-बादने,—इति मदितमनुसंहितायां पाठः।

श्रभिवादात् परिमिति, श्रभिवादये,—इति श्रन्थसार्थं पश्चादे-तन्नामाऽइं भोः,—इति श्रन्थसार्थिदित्यर्थः । श्रभिवादन-प्रकारमा-इापस्तम्नः,—"दिचणं बाइं श्रोच-समं प्रसार्थं ब्राह्मणोऽभिवादयेन्। खरः-समं राजन्थे सध्य-समं वैश्यः, नीचैः श्रुद्रः प्राञ्चितः"—इति । एक-इस्तेनाभिवादनं निषेधति विष्णुः,—

"जना-प्रभृति यत्कि चिनेतमा धर्ममाचरेत्। सर्वे तिल्यालं याति होक-इस्ताभिवादरःत्"—इति। एतच प्रत्युत्याय कर्त्त्वम्। तदादापस्नमः,—

"ऊर्डें प्राणाद्युत्कामन्ति यूनः स्वितित्रागते । प्रत्युत्यानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते"—इति । श्रभिवादितेन वक्तव्यामाभिषमाद्यं मनुः,—

"त्रायुषान् भव माम्येति वाच्यो विवेऽभिवादने ।

श्रकारश्वास नामोऽन्ते वाचाः पूर्वाचरः भुतः"-इति।

पूर्वमत्तरं यसामे पूर्वात्तरः । पूर्वमत्तरञ्च नामस-यञ्चनं, स्वराणां स्वर-पूर्वकलामभवात् । ततश्चाभिवादक-नाम-गतो स्वञ्चन-निष्ठाऽन्तिम-स्वरः प्रावनीयः। श्रकारेणान्तिम-स्वरमात्रमुपस्यते, श्रिये-नामामकारान्तलामभवात् । तथात्र सत्येवं प्रयोगो भवति; श्रीयुशान् भव सौम्य देवदत्ताः, -दति। यसु प्रत्यभिवाद्न-प्रकारं न जानाति, स नाभिवाद्य द्रत्याद्द सएव, -

"योन वेन्यभि शदस्य विप्रः प्रत्यभितादनम्।

^{*} प्रस्तीळें,—इति भ्रा॰ पुन्तके पाठः।

[†] खभिवादोन वतात्रमाह, - इति मु॰ पक्तके पाठः।

नाभिवाद्यः स विदुषा यथा ग्रुह्रस्तरीव सः"—इति । यस्तु जानन्नपि न ग्रत्यभिवादनं करेाति, तस्यदोषो भविष्यत्यु-राणे दर्भितः,—

"श्रभिवादे छते यस्तुन करे।त्यभिवादनम्। श्राधिषं वा कुरुश्रेष्ठ स याति नरकान् बह्रन्"— इति। यसोऽपि,—

"श्रभिवादे तु यः पूर्त्रमाशिषं न प्रयक्ति। यहुष्कृतं भवेदस्य तसाङ्गागं प्रपद्यते॥ तसात् पूर्त्वाभिभाषी स्थाचण्डानस्यापि धर्मावित्। स्रगं पिवेति वक्तव्यमेवं धर्मीन दीयते॥ स्वस्तीति ब्राह्मणे ब्रूयादायुग्नानिति राजनि। धनवानिति वैश्ये तु ग्रुद्दे लारेग्यमेवच "—इति॥ मन्रपि,—

"ब्राह्मणं कुणलं एच्छेत् च वतस्युमनामयम्। वैग्धं चेमं समागम्य ग्रुद्धमारे।ग्यमेवच ॥ पर-पत्नी तु या स्त्री स्थादसम्बधा च योनितः। तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च्[‡]"—इति॥ ज्यायांसमभिवादयेदित्युक्तं, तच कियता कालेन ज्यायस्लमित्यपेचिते

^{*} पूर्व्वाभिवादी,—इति शा॰ पुस्तके पाठः।

[†] खन्तीति ब्राह्मणं ब्रूयादायुषानिति भूमिषः। दईतामिति वैग्यन्तु म्यूडम्तु खाग्रतं वद,—इति मु॰ पुन्तके पाठः।

[‡] भगिनीति वा,—इति ग्रा॰ पुन्तने पाठः।

त्राच त्रापस्तम्बः,—''चि-वर्ष-पूर्वः स्रोचियोऽभिवादनमर्दति"—इति । मनुर्गप,—

> "दग्राब्दाखं पौर-षखं पञ्चाब्दाखं कलास्ताम्। चन्द्रपूर्वं श्रोवियाणामन्येनापि ख-योनिषु"—इति।

समान-पुर-वासिनां दश्रभिः वर्षेः पूर्वः सखा भवति, ततोऽधि-कोज्यायान्, कलास्टतां विद्यावतां पञ्चान्द-पूर्वः सखा, श्रोनियणां वेदाध्यायिनां चान्द-पूर्वः सखा भवति, ततोऽधिकाज्यायान्, ख-चानिषु भावादिषु सर्वेषु खल्णेनापि वयसा पूर्वः सखा भवति, ततोऽधिकाज्यायानित्यर्थः।

नन्, एते मान्याः,—रत्यृत्विगादीनां याज्ञवक्येन पूज्यत्वाभि-धानाद्यवीयसामपि तेषामभिवादनं प्राप्तमिति चेन्। तन्न, प्रत्यु-त्यान-सम्भाषणाभ्यां मान्यत्व-सिद्धेः। श्रतएव तेषामभिवाद्यत्वमाद्र गौतमः,—''क्ट्रत्विक्-श्रग्रुर-पित्व्य-मातुक्वादीनां तु यवीयसां प्रत्यु-त्यानाभिवादनम्''—इति । श्रभिवादनम् श्रभिभाषणम् । तथा बौधायनः,—''च्ह्रत्विक्-श्रग्रुर-पित्व्य-मातुक्वानां तु यवीयसां प्रत्यु-त्यानाभिभाषणम्''—इति । एतच ब्राह्मण-विषयम्। तथा च श्रातातपः,—

> "त्रभिवाद्यो नमस्तार्थः शिरमा वन्द्यएवच । ब्राह्मणः चित्रयाद्येमु श्रीकामैः मादरं मदा॥ नाभिवाद्यामु विप्रेण चित्रयाद्याः कथम्रन ।

^{*} खब्दपूर्वं,--इति स॰ ग्रा॰ पुक्तकयोः पाठः।

श्वान-कर्ष-गुणों पेता यद्यप्येते बज्जश्रुताः॥ श्रीभवाद्य दिजः ग्रह्मं सचेलं स्नानमाचरेत्। त्राह्मणानां यतं सम्यगभिवाद्य विग्राध्यति'—इति। विष्णुरिप,—

'सभास दैव सर्वास यद्ये राज-रहेषु च।
नमस्तारं प्रकुर्वीत ब्राह्मणात्राभिवादयेत्"—इति ।
गुर्वादेक्ष्पसंग्रहणमादः गौतमः,—"गुरोः पादोपसंग्रहणं प्रातः"—
इति । गुरुरचाचार्यः । यतः स एवादः,—"मात-पित्त-तद्वस्त्रृनां पूर्वनातानां विद्या-गुरूणां तदुक्षणाञ्च" । दिति । उपसंग्रहण-नावणं
भनुरादः,—

"यत्यस्त-पाणिना कार्यसुपसंग्रहणं गुरैाः।
स्रवेन स्रवः स्पृष्ट्यो दिचिणेन स दिचिणः"—इति।
गुरैाः स्रवः-दिचिणो पादौ स्वकीय-स्रवः-दिचिणाभ्यां पाणिभ्यां स्पृष्ट्या।
बौधायने।ऽपि,—"श्रोत्रे संस्पृष्य सनः समाधायाधस्ताश्चान्वोरापद्यासित्युपसंग्रहणस्"। कुर्यादिति श्रेषः। एतश्च गुरू-पत्नीनामिष कार्यम्। तथा स सनुः,—

> "गुर्वन् प्रतिपूज्याः खुः सवर्षा गुर्-योषितः । श्रमवर्षास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्यानाभिभाषणेः ॥ भ्रातभार्थोपसंग्राह्या सवर्षाऽइन्यइन्यपि । विप्रोक्ष त्रूपसंग्राह्या श्वाति-सम्बन्धि-योषितः"—इति ।

म शुक्ति तु पूर्वम्पसंग्रहणमाष्ट्र,— इति मृ॰ पुस्तके पाठः । व सञ्जूष्टमाधाक्षिवादयेत्,— इति मृ॰ पुस्तके पाठः ।

एवमविश्रेषेणीपसंग्रहणे प्राप्ते कविद्यवादमाह सएव,—

"गुर-पत्नी तु युवितर्नाभिवादोष्ट पादयोः। पूर्ष-विंग्रति-वर्षेण गुण-दोषौ विज्ञानता। श्रभ्यञ्जनं स्नापनञ्च गानेतिसादनसेवसः।

गुर-पत्था न कार्थाणि केशानाञ्च प्रश्वाधनस्"-इति।

किन्तर्हि तत्र कर्न्यमित्यपेत्रिते सएवाइ,-

"कामन्तु गुर-पत्नीनां युवतीनां युवा भुवि । विधिवदन्दनं कुर्यादमावहमिति ब्रुवन् । विप्रोय्य पाद-यहणमन्वहञ्चाभिवादनम् । गुरु-दारेषु कुर्वीत मतां धर्ममनुसारन्"—इति ।

म्बिभवादने वर्चानाइ म्नापसम्बः,— ''म खापानदेष्टितिशिशा मनद-दितं पाणिवीऽभिवादयीत''— दति।

ग्रह्मोऽपि,—"नोदकुक्ष-इस्लोऽभिनादयेत् न भेष्यं चरत्र पुष्पात्र-इस्लो नाग्राचिनं जपन्न देव-पित्र-कार्यं कुर्वन् न ग्रयानः"—इति। ग्रापस्तम्बोऽपि,—"तथा विषम-गताय गुरवे नाभिवाद्यं तथाऽप्रय-त्रायाप्रयतस्य न प्रत्यभिवाद्येत्? प्रतिवयसः स्त्रियः"—इति। तथाऽन्यन सएवारु,—

''समित्-पुष्प-कुषाध्याम्-म्हदन्याचत-पाणिकः ।

[ा] गाभोदाइनमेवच,--इति शा॰ पुक्तके पाठः।

[†] खर्वाञ्चत,—इति मु॰ पुन्तके पाठः।

[‡] न पृष्प इस्तो,—इति सु॰ मुस्तको पाठः।

ज प्रत्यभिवदेत्,—इति मु॰ पुक्तके पाठः ।

जपं होमञ्च कुर्वाणो नाभिवाद्यस्तया दिजः"—इति"।
पाखण्डं पिततं वात्यं महापातिकनं ग्रठम्।
नास्तिकञ्च कतन्नञ्च नाभिवाद्यात् नं कथञ्चन ॥
धावन्तच प्रमत्तच मूचीचारकतं तथा।
भुज्जानमातुरं नाहें नाभिवाद्यात् दिजोत्तमः॥
वमन्तं जृक्षमाणञ्च कुर्वेतं दन्त-धावनम्।
श्रभ्यत-श्रिरसञ्चेव स्नास्थन्तं नाभिवादयेत्॥
स्नुक्-पाणिकमविज्ञातमभनं रिपुमातुरम्।
योगिनञ्च तपः-सक्तं किनष्ठं नाभिवादयेत्"॥

व्यानानपोऽपि,—

"खदक्यां स्वितिकां नारीं भर्त्तृ श्लीं गर्भ-घातिनीम्। श्रभिवाद्य दिजोमोद्दात् चिराचेण तु श्रुद्धाति" १—इति। गुरोः पादोपसंग्रदणमित्युक्तं, तच कीदृशो गुरुरित्याश्रद्धाथा माद्व मनुः,—

"निषेकादीनि कर्माणि यः करेाति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरच्यते"॥ याज्ञवल्क्योऽपि,—

^{* &#}x27;इति' प्रव्दोऽत्राधिक इति प्रतिभाति, किन्तु सर्वेष्वेव पुक्तकेषु दृष्टु-स्वादितः।

[ं] नाभिवादेत्,--इति शा॰ पुस्तके पाठः। एवं परच।

[🕽] उन्मत्तं,—इति ग्रा॰ पुस्तके पाठः।

[🐧] षाहे। दात्रेगा शुध्यति, — इति मु॰ पुने पाठः।

"स गुरुर्यः क्रियां क्रला वेदमसी प्रयच्छति"—इति । श्रधापनं विप्र-विषयं, निषेकादि-कर्त्तः पर्व-साधारणम् । पित्र-धातिरिक्तानामीपचारिकं गुरुलमाइ मनुः,—

"श्रन्धं वा बक्त वा यस्य श्रुतस्थोपकरोति यः। तमपीच गुरुं विद्यात् श्रुते।पिकवया तया"—दित । द्वारीतोऽपि,—

> "उपधायः पिता ज्येष्ठोभ्राता चैत्र महीपितः । मातुन्नः श्वद्युरस्त्वाता मातामइ-पितामहौ ॥ वर्ष-ज्येष्ठः पिव्यञ्च पुंखेते गुरवः स्वताः । माता मातामही गुर्वी पितुर्मातुः महोदराः । श्वश्रुः पितामही ज्येष्ठा धात्री च गुरवः स्तियाम्" — इति ।

श्रव, पिल-माल-ग्रहणं तद्देतेऽपि मान्याः,—दत्येतदर्थम्। श्रतण्वाद सण्व,—

"श्रनुवर्त्तनमेतेषां मनावाक्तायकर्मभिः"—इति । व्याचाऽपिः—

> "मातामहो मातुलस्य पित्यः स्वग्नुरो गुरः। पूर्वजः स्नातकस्यर्तिङ्मान्यास्ते गुरुवत्सदा ॥ मात-स्वमा मातुलानी स्वस्रूधाची पित्र-स्वमा । पितामही पित्रय-स्त्री गुरु-स्त्री मात्वसरेत्"—इति ।

मनुरपि,—

गुरुवत् स्तियः,—इति मु॰ पुक्तके पाठः ।

मातामधी,—इति मु॰ पुरतके पाउः।

"पितुर्भगिन्यां सातुश्च च्यायस्याञ्च स्वसर्व्यपि । सात्वदृत्तिसातिष्ठेसाता ताभ्या गरोयसी । खपाध्यायान् दशाचार्व्य श्राचार्व्याणां श्रतं पिता । सहस्वनु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते"—इति ।

यत्तु,—

"दौ गुरू पुरुषस्थे ह पिता माता च धर्मतः। पिता गुरुतरस्तद्वन्माता गुरुतरा तथा। तथोरपि पिता श्रेयान् वीज-प्राधान्य-दर्भनात्। श्रभावे वीजिनोमाता तदभावे तु पूर्वजः"।

द्रित पुराण वचनम्। तित्रिषेकादि-समस्त-संस्कार-पूर्वकाध्यापक-पित्र-विषयम्। श्रन्थयाः, मातेव गरीयसीति वचनं विरुध्येत । तस्या-गरीयस्वसुपपादयति व्यासः,—

> "भाषान् दशोदरस्यं या धला श्रूलैः समाकुला। ततोऽपि विविधेरुंखैः प्रस्तयेत विमूर्च्छिता। प्राणैरपि प्रियान् पुत्रान् मन्यते सुत-वस्नला। कस्तस्यानिष्कृतिं कर्नुं शकोवर्ष-शतेरपि''—इति।

"उपाधायान् द्याचार्यः"—इति यदुकं, तत्रोपाधायाचार्य-योर्जनणमाद्य मन्ः,—

> "एकदेशन्त वेदस्य वेदाङ्गान्यथवा पुनः। योऽध्यापयति वन्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥ उपनीय तु यः शियं वेदमधापयेद्विजः।

^{*} वेदना, - इति मु॰ पुक्तके पाठः।

सकलं सरहसञ्च तमावार्यं प्रचवते"—इति ॥

श्वावार्ये।ऽपि पित्नमाचार्यच्या गरीयानेव : तदाइ सएव,—

"खत्पादक-ब्रह्मदाचे।गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।

ब्रह्म-जन्म हि विप्रस प्रेत्य चेह च भ्राश्वतम्"—इति ॥

यस्तु वाले।ऽपि वद्भमधापयित, से।ऽपि तस्य गरीयानिति सएवाइ,—

"बाले।ऽपि विप्रोटद्धस्य पिता भवित मन्त्रदः ।

श्रधापयामास पितृन् भ्रिग्धराङ्गिरसः कविः ॥

पुत्रका इति हे।वाच ज्ञानेन परिग्रह्म तान् ।

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागत-मन्यवः ॥

देवाश्वतान् समेत्योचुर्न्यायं वः भ्रिश्चरक्तवान् ।

श्रज्ञोभवित वे वालः पिता भवित मन्त्रदः ॥

श्रज्ञोभवित वे वालः पिता भवित मन्त्रदः ॥

श्रज्ञो हि वालमित्याद्यः पितेत्येव च मन्त्रदम् ।

न हायनैने पितितैनं वन्नेन न वस्नुभिः ॥

स्वयद्यक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स ने। महान्''—ः ति ।
तया च विष्णुः,—''वाले समान-वयि श्रधापके गुरुवद्दर्त्तित्यम''—
इति । ज्येष्ठ-भातर्यिप गुरुवद्दर्त्तित्यमित्यभिदितं पुराणसारे,—
''ज्येष्ठोभाता पित्र-समे। स्ते पितरि भूसुगः ।
किनिष्ठासं नमस्येरन् सर्वे च्छन्दानुवर्त्तिनः।
तमेव चोपजीवेरन् ययैव पितरन्तथा''—इति ।

सन्र्पि,---

"पिहवत् पालयेत् पुचान् ज्येष्ठोभ्राता यवीयमः।

^{*} वित्तेन,-इति सु॰ यन्तनं पाठः।

पुचवचापि वर्त्तरन् ययैव पितरं तथा''—इति । परम-गुरावपि तथेत्याच सएव,—

"गुरागुंगे मिलिहिते गुरुवदृत्तिमाचरेत्"—इति । श्राचार्यानुज्ञामन्तरेण मातुलादीन् श्रममावन्तो नाभिवादयेदित्याह षण्व,—

"नचानिस्ष्टोगुरूणा स्वान् गुरूनभिवादयेत्"—इति ।
ममावृत्तस्य तु नानुज्ञाऽपेचा । तदाद्दापस्तम्वः,—"समावृत्तेन
सर्वे गुन्व उपमंदाह्याः प्रोध्य च समागमे श्राचार्य-प्राचार्य-मनिपाते प्राचार्यसुपसंग्रह्याचार्यसुपजिघृतेत्"—इति । श्रभिवादनं प्रशंसित मएव,—

> "श्रभिवादन-श्रीलस्य नित्यं दृद्धोपसेविन:। चलारि तस्य वर्ट्टन्ते ह्यायुः प्रज्ञा यशोवलम्"—इति॥

> > ॥०॥ इत्यभिवादन-प्रकरणम् ॥०॥

श्रय दितीयभाग-क्रत्यमुच्यते ।।

तव दत्तः,—

"दिनीय च तथा भागे वेदाभ्याचा विधीयते" - इति। कृर्कपुराणम् , --

^{*} समागते,—इति ग्रा॰ स॰ पुन्तकयाः पाठः।

[ं] खय दितीयभागकृत्यमुच्यते,—इत्यतः पृद्धं, वेदाभ्यासकाः जनिर्णयः— इत्यधिकं मृ॰ पुन्तके।

"वेदाभ्यामं ततः कुर्यात् प्रयत्नाच्छितिते। दिजः। जपेदथापये च्छियान् धारयेदै विच रयेत्॥ श्रवेचेत च ग्रास्त्राणि धर्मादीनि दिनात्तम"-इति।

वेदाभ्यामं प्रशंसति सन्।,—

"वैद्मेव समभ्यस्वेत् तपस्त्र्वा दिजोत्तमः। वेदाभ्याचे। हि विप्रस्थ तपः पर्मि हे। च्यते । ष्ट्रवि-देव-मन्याणां वेदश्चनुः सनातनम् १—इति । व्याचाऽपि,-

"नान्योज्ञापयते धर्मां वेदादेव स निर्वभी। तस्मात् सर्व-प्रयक्षेन धर्मार्थं वेदमाश्रयेत्'?-इति ॥ चाज्ञवस्कारिप,—

"यज्ञानां तपमाञ्चेव ग्रुभानाञ्चेव कर्माणाम्। वेदएव दिजातीनां निश्रेयस-करः परः"॥ तथा, वेद-विद्यीनस्य सर्व-क्रिया-वैफक्तं मनुर्दर्भयति,— ''यषा षण्डेाऽफलः स्त्रीषु यषा गौर्गवि चाफला । यया चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः"—इति ।

त्रिमानेव भागे कत्यान्तरमाइ गर्गः,—

"मिनित्-पृष्य-कुणादीनां स कालः समुदाह्तः"—इति ।

धक्तादोंख,—द्वित मृ॰ प्रतके पाठः।

श्रय तृतीय-भाग-कर्त्रव्यम् ।

तत्र दत्तः,—

"तियेच तथा भागे पेष्य--वर्गार्थ-साधनस्"--इति। कूर्मपुराणम् --

"उपेयादीश्वरञ्चाय योग-चेमार्घ-सिद्धये। साधयेदिविधानर्घान् कुटुम्बार्थं ततोदिजः"—इति। पोष्य-वर्गश्च दचेण दर्भितः,—

"भाता पिता गुरुभीर्था प्रजा दीनः समाश्रितः। श्रभ्यागतोऽतिथिञ्चाग्निः पोष्यवर्ग उदाहृतः"—इति। एतच धन-साधनं यथादृत्ति कार्यम्। तथाऽऽह मनुः— ''यात्रा-मात्र-प्रसिद्यार्थे खैंः कर्मभिरगहितैः।

श्रक्तेशेन शरीरस्य कुर्वीत धन-सञ्चयम्''—इति । श्रगर्हितानि कर्माणि श्रध्यापनादीनि । तानि च निरूपितानि । ननु, ब्राह्मणस्यैवेतानि कर्माणि न चित्रय-विश्वोः । तदाह सनुः,—

> "त्रयोधर्मा निवर्त्तरन् ब्राह्मणात् चत्रियम् प्रति । श्रध्यापनं याजनस्र तृतीयस्य प्रतिग्रहः ॥

वैग्धं प्रति तथैवेते निवर्त्तरिन्निति स्थितिः"—इति ।
श्रतो न तथोरधापनादिर्ज्जनापायः । वाढ़ं, श्रतण्योषायान्तरं
तेनेवोकम्,—

''ग्रस्तास्त्रसन्तं चनस्य वणिक्-पग्रा-कृषिर्विग्रः"—इति । वणिक् वाणिज्यं, पग्राः पग्रा-पालनम् । याज्ञवल्क्योऽपि,—

^{*} कार्यात् पूर्वे, 'बर्जनप्रकरणम्' — इत्यधिकः पाठः मु॰ पुक्तके।

"प्रधानं चित्रये कर्मा प्रजानां परिपालनम् । कुषीद-क्षि-वाणिज्यं पाग्रुपाच्यं निग्नः स्मृतम्"—इति । खपायान्तराणाह मनुः,—

> "सप्त वित्तागमाधम्म्यादायोताभः क्रयोजयः। प्रयोगः कर्भयोगञ्च सत्-प्रतिग्रह एवच"—इति।

दायोऽन्वयागतं धनं, लाभोनिधि-दर्भनम्। दाय-लाभ-क्रया-न्वयागताञ्चतुर्णां, जयः चित्रयस्त्रेव। प्रयोगो दृद्धार्थं धन-प्रदानम्, कर्म्ययोगः स्वि-वाणिज्यम्। प्रयोग-कर्मयोगौ वैश्वस्त्रेव। सत्-प्रतिग्रहो विप्रस्तेव। कूर्मपुराणेऽपि,—

"दिविधस्त ग्रही ज्ञेयः साधकश्चाणसाधकः ।
श्रधापनं याजनञ्च पूर्वस्थाज्ञः प्रतिग्रहम् ।
श्रिकोञ्केनाणुपाददाद् ग्रहस्यः साधकः स्मृतः ।
श्रसाधकस्त यः प्रोक्ता ग्रहस्थाश्रम-संस्थितः ॥
श्रिकोंच्के तस्य कथिते दे दन्ती परमर्षिभः ।
श्रम्दतेनापि जीवेत म्हतेन प्रम्हतेन वा ॥
श्रयाचितं स्थादम्हतं मृतं भैचन्तु याचितम्"—इति ।
सनुरपि,—

"चरतास्तास्यां जीवेत स्तेन प्रस्तेन वा। सत्यानृताभ्यामिया न य-रच्या कथचन॥ चरतमुञ्क्षिलं ज्ञेयमस्तं स्यादयाचितम्। स्तन्तु याचितं प्रोतं प्रस्तं कर्षणं स्रतम्। सत्यानृतन्त् वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते॥ सेवा य-व्हिर्विख्याता तस्मान्तां पश्विक्कंशेत्''—इति। पतित-परित्यक्तेककणोपादानसुक्कः, ग्राच्यादेर्निपतित-परित्यक्त-वल्वरी-यहणं ग्रिलम्। याज्ञवक्क्योऽपि,—

'क्यूरूल-कुमी-धान्यो वा च्याहिकाऽयम्तने।ऽपिता। जीवेदाऽपि भिलाण्केन श्रेथानेषां परः परः''-इति॥ कुप्रूलं काष्ठकं; तद्भारत-धान्य-षञ्चेता कुप्रूल-धान्यः, ब्यह-पर्याप्त-धान्य-षञ्चेता व्याहिकः, न श्रम्तन-चिन्ताऽप्यस्तीत्यश्वस्तनः षद्यः षम्पादक दत्यर्थः। एतेषां श्रश्यस्तनान्तानां द्यत्तयोमनुने।काः वेदितव्याः। तथाऽऽह,—

> "षट्कमें काभवत्येषां त्रिभिर्न्यः प्रवर्तते । दाभ्यामेक सुतुर्थम्त ब्रह्म-सचेण जीयते" - इति ।

श्रयमर्थः ; एकः कुग्रूल-धान्येयाजनादि-षट्-कर्मा भवेत्, श्रन्या दितीयः कुम्मी-धान्यो याजनाध्यापनप्रतिग्रहैर्वर्त्तेत, एककृती-यस्त्याह्विकः प्रतिग्रहेतराभ्यां, चतुर्यस्वयस्तने । त्रह्मसवेणाध्यापनेन जीव्यते, —दत्यर्थः । प्रह्रहिनस्त्रभनमा दर्भिता, —

"ग्रुद्ध्य दिज-ग्रुश्या सर्व-ग्रिन्यानि वाऽपिच। विक्रयः सर्ववस्त्रनां ग्रुद्धकर्मेत्युदाह्यतम्"-दित। याज्ञवन्त्र्योऽपि,-

"ग्रुद्रस्य दिज-ग्रुश्रूषा तयाऽजीवन् विण्यतेत्। भिन्येवी विविधेजीवेद् दिजाति-हितमाचरन्"—हित। श्रजीवित्रति केदः। हारीतोऽपि,—"ग्रुद्रस्य धर्मी दिजाति-भ्रुश्रूषा-ऽपवर्जनं कलवादि-पोषणं कर्षणं पग्रु-पालनं भारोद्वहन-पण्य- व्यवहार-चिवकर्म-नृत्य-गीत-वेणु-वीणा-सदङ्ग-वादनानि"-इति।
श्रथ चतुर्थे भागे कर्त्तवमुच्यते। तव दचः,—

"चतुर्थे तु तथा भागे स्नानार्थे स्ट्रमाहरेत्"—इति। मधास्न-स्नान-विधिस्त प्रमङ्गात् पूर्व्यमेव निरुपितः।

ऋय ब्रह्मयज्ञ-विधिः।

तस्य खरूपं तैत्तिरीय-वाह्मणे दर्भितम्,—"यन् खाध्यायमधी-चीतैकामणृचं यजुः साम वा तत् ब्रह्मयज्ञः सन्तिष्ठते"—इति । लिङ्गपुराणेऽपि,—

"ख-शाखाऽध्ययनं विप्र ब्रह्मयज्ञ इति स्रतः"—इति । तस्य कालमाद ब्रह्स्यतिः,—

"स चावाक् तर्पणात् कार्यः पश्वादा प्रातराक्ततेः । वैश्वदेवावधाने वा नान्यदा तु निमित्ततः"—इति । श्रुच, वैश्वदेव-ग्रब्देन मनुष्ययज्ञान्तं कर्मा विवच्यते ।यतः कूर्मपुराणे-ऽभिहितम्

> "यदि स्वात्तर्पणादर्वाक् ब्रह्मयज्ञः क्रतीन हि। क्रता मनुष्य-यज्ञन्तु ततः स्वाध्वायमाचरेत्"—इति।

श्रुतिश्व दिग्देश-कालानाइ,—"ब्रह्मयज्ञेन यन्यमाणः प्राच्यां दिश्वि, ग्रामादंक्कदिर्दर्श उदीच्यां प्रागुदीच्यां वोदितश्चादित्थे"— इति । श्रक्कदिर्दर्श इत्यनेन श्रन्देन देश-विशेषोलचितः । कदिगर्रहाक्कादनं हण-कटादि, यन नुदृश्यते तनेत्यर्थः । उदिते श्रादित्थे,

—इत्यनेन सूर्योदयात् प्राचीनं कालं निषधयति, न तदयानन्तर्यं विधीयते, तस्य हेाम-कालवात्। मनुरपि देशादीतिकर्त्तयतामाह,—

"त्रपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः। सावित्रोमभयधीयीत गलाऽर्खं समाहितः"—इति।

उपवीतादीतिकर्त्तवातां श्रुतिराह,—"दिश्णित उपवीयोपित्य हसाववित्य विरागमेत् दिःपरिम्च्य मक्षद्पसृथ्य ग्रिरश्चनुषी नासिके श्रोने हृदयमालभ्य"—इति। "दर्भाणां महरूपसीयोपस्यं कृता प्रागासीनः स्वाध्यायमधीयोत"—इति च। "दिश्णित्तरौ पाणी पादौ कृता सपवित्रावोमिति प्रतिपद्यते"—इति च। "वीनेव प्रायुङ्गा स्टर्श्वः स्वर्" दृति च। "श्रय सावित्रों गायत्रों विरत्नाह पच्छो- ऽर्हुर्षभोनवानम्"—इति च। "ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्षञ्च"—इति च। "हस्ताभौच श्राञ्चेय उतार्ण्वेवल जत वाचो-दितष्ठनुत त्रजन्नुतासीन जत प्रयानाऽधीयीतिव स्वाध्यायम्"—इति च। "सध्यन्दिने प्रवलमधीयीत"—इति च। "नसे। ब्रह्मणे—इति परिधानीयां विरत्नाहाप उपस्थ्य ग्रहानित ततो यित्विश्चिद्दाति सा दिश्चणा"—इति च। दिश्चणतः प्रदिश्चणं क्रत्वेत्वर्थः। तथाच योगियाज्ञवल्कः;—

"प्रदिचणं समावत्य नमस्तत्योपिवस्य च । दर्भेषु दर्भ-पाणिभ्यां संहताभ्यां कताञ्चलिः॥ खाध्यायन्तु यथाप्रिक ब्रह्मयज्ञार्यमाचरेत्"—इति । भौनकस्त्वितिकर्त्तव्यान्तरमाइ,--

'पाणायामेर्दम्ध-दोषः ग्रुकाम्बर-धरः ग्रुचिः।

यथाविध्यपत्राचम्य त्रारोहेद्र्भ-संस्तरम् ॥ पविच-पाणिः छला तु उपस्यं दित्रगोत्तरम्"—द्गति।

उदाह्त-श्रुती, मक्तद्पसृग्धेत्यस्थानन्तरं, मयं पाणं पादी प्रोक्चेदित्यध्यादर्नयम्, उत्तरिसान् फल-वाक्ये तथाऽनुक्रमणात्। "यत् विराचामेत्—दित, तेन ऋचः प्रीणाति, यद् दिः परिम्डजित तेन यजूंषि, यत् मक्रद्पसृग्रित तेन मामानि, यत् मयं पाणं पादी प्रोक्चित यक्किर्यक्षणी नामिके श्रोचे हृदयमालभते तेनाथ-वीङ्गिरसे ब्राह्मणानीतिहामान् पुराणानि कन्पान् गाथा नाराणंसीः प्रीणाति"—दिति।

दर्भाणामित्यादिश्रुत्यर्थः श्रोनकेन दर्शितः,—"प्राग्वोदग्वा या-मानिष्णुम्यापत्राष्टुत्य ग्रुची देशे यज्ञोपनीत्याचम्याक्तिन्वामा दर्भाणां महद्रपसीर्थं प्राक्कृलानान्तेषु प्राङ्मुख उपविग्योपस्यं कला दिन्नणोत्तरी पाणी पादौ मन्धाय पित्रचन्तो द्यात्राष्ट्रिय्योः मन्धि-मीचमाणः मंमीन्य वा यथायुक्तमात्मानं मन्येत तथायुक्तो-प्रधीयीत खाध्यायं, मनमाधीयीत, उत वा दिवा नकं वा तिष्टन् वजन्नामीनः श्रयाना वा" । मर्व्यया खाध्यायमधीयतेत्र नलङ्गा-श्रत्या प्रधानं पित्याच्यमित्यर्थः । ब्रह्मयज्ञे जष्यं श्राश्वमेधिके दिशितम्,—

> ''वेदमादी ममारम्य तथोपर्युपरि कमात्। यद्धीतान्वहं ग्रत्या तत् खाध्यायः प्रचवते ॥ ऋचं वाऽथ यजुर्वाऽपि मामायर्वमथापि वा। इतिहाम-पुराणानि यथागिकि न हापयेत्''-इति ।

याज्ञवन्कारेपि,-

"वेदाधर्जपुराणानि सेतिहासानि ग्रातितः। जपयज्ञ-प्रसिद्धार्थं विद्यासाध्यात्मिकीं जपेत्"—इति। ग्रहणाध्ययनवत् ब्रह्मयज्ञाध्ययनस्यानध्याय-दिनेषु परित्याग-प्राप्ती सनुराह,—

> "वेदोपकरणे चैव खाध्याये चैव नैत्यिके। नानुरोधोऽस्यनध्याये होम-मन्त्रेषु चैव हि॥ नैत्यिके नास्यनध्यायो ब्रह्म-मचं हि तत् स्टतम्। ब्रह्माऊति-इतं पुण्य-मनध्याय-वषट्कतम्"-इति।

ब्रह्मवैवाङ्गित-द्रव्यन्तेन इतम् । श्रधीयते,—इत्यद्यध्यायो याच्यादि-मन्त्र-समूद्यः, तेन * वषट्कारेण च महितं इतम् । यतोनास्त्यनध्यायः, श्वतएव श्रुतिर्नध्याय-विश्रेषाननूद्य तेषु जपं प्रश्रशंम,—"यएवं विद्वा-न्योधे वर्षति विद्योतमाने स्तनयत्यवस्फूर्ज्जित पवमाने वायावमावा-स्थायां स्वाध्यायमधीते तपएव तन् तप्यते तपोद्य स्वाध्यायः"—इति ।

तेष्वनध्यायेष्वन्यसेव पठनीयम्। तदाद्यापस्तम्वः—"श्रथ यदि वातोवायात् स्तनयेदा विद्यातिते वा तयाऽवस्कूर्ज्ञदेकाष्ट्रचमेकं वा यजुरेकं वा सामाभित्यादरेत्"—इति। श्रात्म-देशयोरश्रुचिले ब्रह्मयज्ञोवर्ज्जनीयः। तथाच श्रुतिः,—"तस्य वा एतस्य यज्ञस्य दावनध्यायौ पदात्माऽश्रुचिर्यदेशः"—इति। ब्रह्मयज्ञं प्रशंमित श्रुतिः, —"उत्तमं नाकमधिरोद्दिति उत्तमः समानानां भवित यावन्तं द वादमां वित्तस्य पूर्णां ददत् खर्ग-लेाकं जयित तावन्तं लोकं जयित

^{*} तेन क्रतेन,—इति ग्रा॰ स॰ पुन्तकयाः पाठः।

भ्रयां चाच्य चाप पुनर्हत्युं जयित ब्रह्मणः सायुज्यं गच्छिति"— इति । याज्ञवल्क्योऽपि,—

"यं यं ऋतुमधीयीत तस्य तस्याप्त्रयात् फलम्"-इति । वित्त-पूर्ष-पृथिवी-दानस्य फलमञ्जुते—इति ।

॥०॥ इति ब्रह्मयज्ञ-प्रकरणम्॥०॥

ऋष तर्पण-विधिः।

तच विश्वष्ट:,---

"ऋक्-सामाधर्व-वेदोकान् जया-मन्तान् यर्जूषि च।
जन्ना चैवं * ततः कुर्याद्विर्षि-पित्त-तर्पणम्"—इति।
बहुस्यतिरपि,—

"ब्रह्मयज्ञ-प्रसिद्धार्थं विद्याचाध्यात्मिकीं जपेत्। जप्ताऽथ प्रणवं वाऽपि नतस्तर्पणमाचरेत्" – इति। विष्णुपुराणऽपि, –

"श्रुचि-वस्त्र-धरः स्नातो देवर्षि-पित्त-तर्पणम् ।
तेषामेव हि तीर्थेन कुर्वीत सुसमाहितः॥
विरपः! प्रीणनार्थाय देवानामपवर्ज्ञयेत्।
श्रयर्षीणां यथान्यायं सक्तसापि प्रजापतेः॥
पितृणां प्रीणनार्थाय विरपः पृथिवीपते"—इति।

जिप्तिवं,—इति सु॰ पुक्तके पाठः ।

चापि इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[🕹] दिरपः,--इति सी॰ ग्रा॰ पुस्तकयेाः पाठः।

व्यासः,—

"एकैकमञ्जलिं देवा दौ दौ तु शनकादयः"। ऋईन्ति पतरस्तींस्तीन् स्तियञ्जैकमञ्जलिम्"- इति । श्राग्नेयपुराणेऽपि,—

> "प्रागग्रेषु सुरांसर्पेनानुय्यांस्रीव सधातः । पित्हंस्तु दत्तिणाग्रेषु चैक-दि-नि-जसाञ्चलीन्"—इति ।

श्रच, श्रम्म लि-मङ्घा यथाशाखं व्यवतिष्ठते। यत्र शाखायां न मङ्घानियमः श्रुतः, तत्र विकल्पः। तत्रैव ब्रह्मस्य निन्याम-विशेषो-दर्शितः,—

"सर्वेन दैव-कार्याणि वासेन पित्र-तर्पणस्।

निवीतेन अनुष्यानां तर्पणं संविधीयते"—इति।
सव्येने।पवीतेन, वासेन प्राचीनावीतेन,—इत्यर्थः। तथाच प्रह्ला-िल-खितो,—"उसाम्यामपि इस्ताभ्यां प्राङ्सुखो चज्ञोपवीती प्रागगैः कुष्रदेवता-तर्पणं दैव-तीर्थन कुर्यात्"—इति। विष्णुरिप,—

''ततः क्षवा निवीतन्तु यज्ञस्रचमतन्त्रितः।

प्राजापत्येन तीर्धेन मनुष्यांस्तर्पयेत् एथक्"—इति । बौधायनः,—"श्रथ द्विणतः प्राचीनावीती पित्नन् खधानमस्तर्प-थामि"—इत्यादि । यनु,—

> "उभाभ्यामिप इस्ताभ्यामुदकं यः प्रयच्छित । स मूड़ोनरकं याति कालस्वमवाक्षिराः"—

^{*} ग्रनकादिषु,—इदि ग्रा॰ पुस्तके पाठः। .

[†] स्त्रप्निन्त, — इति सु॰ पुस्तने पाठः।

दित । यात्रपाद-वचनं, तच्छाद्वादि-विषयम्। त्रतएव कार्ष्णाकिनिः,—
"श्राद्धे विवाद-काले च पाणिनैकेन दीयते ।
तर्पणे त्रभयेनैव विधिरेष पुरातनः"—दित ।
एतच तर्पणं ख्यलखेन नोदके कर्त्त्वम्। तथाच गोभिलः,—
"नादकेषु न पात्रेषु न क्रुद्धो नैकपाणिना ।
नेगपतिष्ठति तत्त्तोयं यत्र भूमौ प्रदीयते"—दित ।

म्रतः खलखोभूमावेव तर्पणं कुर्व्वीत, न जलादाविति। तथाच विष्णुः,—

"ख़ले ख़िला जले यस्त प्रथक्केंदुदकं नरः।
नेापतिष्ठति तदारि पितृणां तित्रर्थकम्"-इति।
स्त्रच विभेषमाइ दारीतः,—

"विसवा वसनं ग्रुष्कं स्वलं विस्तीर्णं-वर्षिष । विधिन्नस्वर्पणं कुर्यात्र पाचेषु कदाचन ॥ पाचादा जसमादाय ग्रुभे पाचान्तरे विपेत् । जस-पूर्णेऽचवा गर्ने म स्वले तु विवर्षिष । केग्र-भस-तुषाङ्गार-कष्टकास्थि-समाकुलम्॥ भवेत्राद्दीतलं यसादिष्ठिषाऽऽस्तर्णं ततः"—इति ।

यत् कार्णाजिनिनेकम्,—

"देवतानां पित्याष जले दद्याक्षासासासाम्"—इति। तद्यद्वि-खल-विषयम्। तदाइ विष्णुः,— "यत्राद्वि खलं वा खादुदके देवता-पितृन्।

तर्पयेनु यथाकाममपु सर्वे प्रतिष्ठितम्"—इति।

पाच-विशेषमाच पितामचः,—

"हेम-रूपमयं पात्रं ताम्र-कांख-षसुद्भवम्। पितृणां तर्पणे पात्रं म्हण्मयन्तु परित्यजेत्"-इति॥ मरीचि:,—

"मौवर्षेन च पात्रेण ताम्न-रूपमयेन च"। श्रोड्म्बरेण विन्वेन पित्यणां दत्तमचयम्"— इति । रिक्त-इस्तेन न कुर्यादित्याइ मण्व,—

"विना रूप-सुवर्णेन विना ताम्र तिलेखया। विना मन्त्रेश्च दर्भेश्च पित्वणां ने।पितष्ठते"—इति। स्रात्यन्तरे च—

"खङ्ग-मौक्तिक-इस्तेन कर्त्त्र पित्त-तर्पणम्। मणि-काञ्चन-दर्भेर्वा न प्रात्येन रे कदाचन"—इति ॥ न चात्र ममुख्योनापि सम-विकल्प इत्यभिप्रेत्य मरीचिराइ,— "तिलानामणभावे तु सुवर्ण-रजतान्वितम्। तदभावे निषिचेत्तु दभैंर्भन्त्रेण वा पुनः"—इति ॥ तिल-यहणे तु विशेषमाह योगियाज्ञवल्काः,—

> "यद्यद्धृतं निषिञ्चेनु तिलान् मंमिश्रयेक्नले । श्रतोऽन्यथा तु मयोन तिला याह्या विचवणैः"—इति।

^{*} तास्वकांस्यमयेन वा,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[ी] घटकोन,—इति ग्रा॰ पुक्तको पाठः।

[📗] ताममयस्त्रथा,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[🛇] शुक्तेगा,—इति सु॰ प्रस्तने पाठः।

एतद्बोमक-प्रदेशाभिप्रायम् । तथाच देवलः,—

"राम-संखान् तिलान् कला यसु तर्पयते पितृन्।

पितरस्तर्पितास्तेन रुधिरेण मस्तेन च"-इति। वर्ण-भेदेन तिलानां विनियाग-विशेषं दर्शयति सएव,-

"श्रुक्तीस्त तर्पयेद्वान् मनुष्यान् ग्रवलेसिलीः।

पितृन् सन्तर्पयेत् कृष्णे स्तर्पयेत् सर्वया दिज"-दित । कूर्मापुराणेऽपि, देवर्षि-पित्व-तर्पणे विशेषोदर्शितः,—

"देवान् ब्रह्मऋषींश्चैव तर्पयेदचतोदकैः।

पित्वन् भत्या तिलीः कृष्णैः ख-सूत्रोत्त-विधानतः"—इति।

तियादि-विशेषेण निष-तर्पणं निषेधयति,—

"सप्तम्यां रविवारे च ग्रुक्ते" जन्मदिने तथा।

स्त्य-पुत्र-कलत्रार्थी न कुर्थात्तिल-तर्पणम्"-इति।

पुराणेऽपि,—

"पचयोर्भयो राजन् सप्तम्यां निश्चि सन्धयोः। वित्त-पुच-कलनार्थो तिलान् पचसु वर्क्षये स्टिन्द्रति। बौधायने।ऽपि,—

> "न जीवत्-पित्वतः क्षणेसिलेस्वर्पणमाचरेत्। सप्तम्यां रिववारे च जन्मर्चदिवसेषु च॥ ग्रहे निषिद्धं सितलं तर्पणं तद्वहिर्भवेत्। विवाहे चोपनयने चौले सित यथाक्रमम्॥

^{*} ग्रहे,--इति सेा॰ स॰ भा॰ प्रत्तेष् पाठः। एवं परत्र।

वर्षमद्धं तदर्ज्ञ वर्ज्ञयेत् तिल-तर्पणम्।
तिथि-तीर्थ-तिश्रेषेषु कार्यः प्रेतेषु सर्वदा"-इति ।
तर्पणीयान् दर्शयति सत्यवतः,—
"कलोपवीती देवेभ्यानिवीती च भवेत्ततः।
, मनुष्यांस्तर्पयेद्धस्या ब्रह्म-पुचानृषींस्तथा।
श्रपस्यं ततः कला स्यं जान्वाच्य स्वतले॥
दर्भपाणिस्त विधिना प्रेतान् सन्तर्पयेत्ततः"॥
योगियाद्यवस्त्यः,—

"ब्रह्माणं तर्पयेत् पूर्वं विष्णुं रहं प्रजापितम्।
वेदान् कन्दांषि देवांश्च ऋषींश्चेव तपोधनान्॥
श्वाचार्यांश्चेव गत्थर्व्वानाचार्य-तनयांख्या।
संवत्यरं सावयवं देवीरप्रसम्बद्या॥
तथा देवान् नगान्नागान् सागरान् पर्व्वतानि।
सरितोऽय मनुष्यांश्च यचान् रचांसि चैव हि॥
पित्राचांश्च सुपर्षांश्च भूतान्यथ पश्चंख्या।
वनप्रतीनेषधींश्च भूतग्रामांश्वतुर्विधान्॥
सयं जानुं ततोऽन्नाच्य पाणिभ्यां दिचणामुखः।
तिद्वाङ्गेखर्पयेन्मन्तैः सर्व्वान् पित्रगणांस्वथा॥
सातामदांश्च सततं श्रद्धया तर्पयेत् दिज"—दित।
श्वीनकाऽिष,—"श्रिविष्णुः प्रजापितः"—दत्यादि। यजुःशाखनान्तुः
काण्डिषि-तर्पणसृक्तम्,—

"श्रथ काण्ड-ऋषीनेतानुदकाञ्जलिभिः ग्रुचिः।

श्रव्ययः तर्पयेत्रित्यं मन्त्रेणैवाष्ट-नामभिः ॥ पित-तर्पणं प्रकृत्य पैठीनसिः,—

"श्रपसयं ततः कला स्थिला च पित्रदिङ्गुखः।

पित्रन् दियानदियांश्च पित्र-तीर्थेन तर्पयेत्"—इति।
दियाः वसु-रुद्रादित्याः श्रदियाः पित्रादयः। योगियाज्ञवस्काः,—

"वस्रन् रहान् तथाऽऽदित्यान् नमस्कार्-ममन्वितान्"—इति । तर्पयेदिति शेषः । वस्वादीनां नामानि पैठीनसिना दर्शितानि,—

"ध्रुवोधर्मश्च में समश्च श्रापश्चेवानिकोनकः।
प्रत्यूषश्च प्रभातश्च वसवोऽष्टो प्रकीर्त्तताः।
श्रुवेक्य प्रभातश्च वसवोऽष्टो प्रकीर्त्तताः॥
श्रुवेक्य दिवृद्धा विकृपाचोऽष्य रैवतः॥
स्रश्च बद्धकृपश्च श्रुवेक्यः।
सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः।
एते कृद्धाः समाख्याता एकादश्च सुरोत्तमाः।
दृन्द्रोधाता भगः पूषा मित्रोऽष्य वक्ष्णोऽर्ध्यमा॥
श्रुविश्च विवस्तान् लष्टा च स्विता विष्णुरेवच।
एते व दादशादित्या देवानां प्रत्ररामताः॥
एतेच दिव्याः पितरः पूच्याः सर्वे-प्रयत्नतः"।
ततः स्व-पित्रादींस्तर्पयेत्। तत्र प्रकारमाइ पैठीनसिः,—

^{*} खनलः, — इति शा॰ प्रत्तके पाठः।

[†] बसुरूदादयः, — इति मृ॰ पुक्तके पाठ।

[‡] थमख, — इति मृ॰ पुन्तके पाठः।

[🦠] व्यर्षि,--इति मृ॰ पुन्तके पाठः।

"स्त नाम-गोच-ग्रहणं पुरुषं पुरुषं प्रति । तिलोदकाञ्चलींस्त्रींस्त्रीनुचैरुचैर्विनिनिपेत्" । योगियाज्ञवलक्योऽपि,—

"मवर्णभ्योजनं देशं" नामवर्षभ्यग्वच । गोव-नाम-स्वधाकारै स्तर्पयदुषुर्धकाः"—दनि । ः ः नाम-ग्रहणेऽपि विशेषमाह अयलायनः ं,—

"शर्मानं बाह्मणस्थोतं वसानं चित्रस्य च।

गुप्तानं देव वैश्वस्य दामानं गुरुणन्याः॥

चतुर्णामपि वर्णानां पित्रणां पित्र-गोवतः।

पित्र-गोवं कुमारीणां कहानां भर्त-गोवतः"—इति।

पिल-तर्पण कमसाह मत्यवतः,-

''पिल्भ्यः प्रत्यहं दद्यात्ततामात्रभ्य एवच । नता मानासहानाच पिल्यम्य सुनस्य च''—इति । विष्णुपुराणेऽपि,—

> 'दिद्यात् पेत्रंण तिर्धिन कामानन्यान् इट्युच्च से । भात्रे प्रमात्रे तन्मात्रे गुरूपत्ये तथा नृप । ग्रवे भातुनादीनां स्तिष्ध-मित्राय अभुज"—इति ।

हारीताऽपि,—"पित्रादीन् मात्रादीन् मातामहादीन् पित्रथां-स्तत्पत्नीर्चेष्ठभातृंस्तत्पत्नीः मातुलादींस्तत्पत्नीः गुर्केशचार्थोपाध्याया-दीन् सुहत्-सम्बन्धि-बान्धवान् द्रथान्नदात्रपेषकारिणस्तत्पत्नीस तपं-

सबर्गाभ्योऽञ्जलिर्देयः,—इति सु॰ पुन्तके पाठः ।

[†] बाधायनः,—इति सु॰ प्रत्ते पाठः।

शेत्"-दति । जीवपित्रक-तर्पणे विभेषमाह योगियाज्ञस्यः,—

"कथवाडनलः से सो यमशैवार्यमा तथा ।

श्रिप्रस्वात्ताः से समाय तथा वर्षिषदे।ऽपि च ।

यदि स्वाज्ञीवपित्रकस्तान् विद्याच तथा पित्तन् ।

यभ्योवाऽपि पिता दद्यात्तेभ्येवाऽपि प्रदीयते ।

एतां स्वेव प्रमीतां स्व प्रमीत-पित्रको दिजः"—दति ।

तर्पयेदितिभेषः । श्रवमानाञ्चित्तमाह कात्यायनः,—

"पित्रवंग्र्या मात्रवंग्र्या ये चान्ये पितरे जिनाः ।

मत्तस्त्रदक्षमर्दन्ति ये तां स्वां स्वर्पयाम्यहम्" ।

दत्यवसानाञ्चिति । श्रादित्यपुराणेऽपि,—

"यत्र क्षचन संस्थानां चुत्तृप्णोपहतात्मनाम्।

तेषां हि दत्तमचयमिदमम् तिलोदकम्॥ चे मे कुले लुप्तपिष्डाः पुत्त-पौत्त-विवर्जिताः। तेषान्तु दत्तमचयमिदमम् तिलोदकम्"—इति। मत्यपुराणेऽपि,—

''येऽवान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजनानि वान्धवाः । ते विश्वमिखिलां यान्तु ये वा मनोऽम्बुवाञ्किताः''—इति । विस्तरेण कर्तुमममर्थस्य मंचेपेण तर्पणसुतं विष्णुपुरारे,—

"श्रा-ब्रह्म-सम्ब-पर्यन्तं जगनृष्यत्विति बुवन् । चिपेत् पयोऽञ्चलीं चींन्तु कुर्यात् संचेपतर्पणम्"—इति । यम-तर्पणन्तु दद्धमननोक्तम्, –

"प्रेतेत्सव-चतुर्दश्यां कार्यन्तु यम-तर्पणम्।

कृष्णाङ्गार-चतुर्दश्यामिय कार्यं सदैव वा॥ यमाय धर्म-राजाय स्ट्यिव चान्तकाय च। वैवस्त्रताय कालाय सर्च-स्ता-च्याय च॥ श्रीडुम्बराय दधाय नीलाय परमेष्टिने। टकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय ते नमः"—इति। नियमस्त स्कन्दपुराणे निरूपितः,—

''दिचिणाभिसुखोस्ता तिलें: मर्थ समाहित: । दैवतीर्थेन देवलात्तिलें: प्रेताधिपाय च''—इति । एवं कुर्व्वतः फलमाइ यमः,—

"थत्र कचन नद्यां हि स्ताला कृष्णचतुर्दशीम्। सन्तर्थ धर्माराजानं सुच्यते सर्व्वकि लिपें:"—इति। साघ-ग्रुक्ताष्टस्यां भीग्रतर्पणं कुर्यान्तदाह व्यासः,—

"श्रुक्ताष्टम्यान्तु माघस्य दद्याङ्गीयाय यो जलम्।

सम्बत्धरकतं पापं तत्त्वणादेव नम्यति ॥
वैद्याचपद्य-गोचाय साङ्गृति-प्रवराय च ।

गङ्गापुत्ताय भीयाय प्रदास्थेऽहं तिले।दक्तम्* ।

श्रपुत्ताय ददाम्येतत् सलिलं भीयावर्षाणे"—इति ॥

तर्पण-प्रशंसा पुराणसारे दिर्शिता,—

"एवं यः सर्व्यस्तानि तर्पदेदन्वहं दिजः। स गच्छेत् परमं स्थानं तेजामूर्त्तिमनामयम्"- इति ।

^{* &#}x27;खपुत्राय'—हत्यर्डानन्तरं, 'गङ्गापुत्राय'— इत्यर्डे दृश्यते सुदिताः तिरिक्त पुत्तकेष्।

श्रकरणे प्रत्यवायः प्राणे दर्शितः—

"देवताञ्च पित्वंश्चिव सुनीन् व यो न तर्पयेत्। देवादीनाम्हणी भूला नरकं स व्रजत्यधः" - इति । याज्ञवल्क्योऽपि,—

"नास्तिकाभावाद्यसांस्त न तर्पयित वै पित्हन्। पित्रन्ति देइ-निस्नावं पितराऽस्य जलार्थिनः"—इति। इरिताऽपि,—

"देवाश्च पितरश्चेव काञ्चल्त मितलाञ्चलिम्"। श्रद्ने तु निरामाले प्रतियान्ति यथागतम्"— इति । काल्यायने।ऽपि,—

"क्रायां यथेच्छेच्छरदातपार्तः पयः पिपाद्भः नुधितोऽलमत्रम् । बालेजिनिनीं जननी च बालं योषित् पुमांसं पुरुषञ्च योषाम् ॥ तथा सर्व्वानि स्तानि स्वावगणि चराणि च । विप्रादुदकमिच्छिन्ति सर्व्वेऽयुदक-काङ्किणः॥ तस्मात् सदेव कर्त्तव्यमकुर्वत्महतैनसा । युज्यते ब्राह्मणः कुर्वन् विश्वसेतिद्दभक्तिं हि"—इति । भन्न पित्व-गाषा,—

"श्रिप नः म कुले भ्रयाद्योनेाददाज्जलाञ्चलिम्। नदीषु बद्धतोयासु ग्रीतलासु विभोषतः"—इति।

सरिताजलम्,—इति ग्रां पुक्तको पाठः।

तर्पणानन्तरं वस्त-निष्पीडनं कर्नाक्ष्यः। तदाइ योगियाज्ञवल्काः,—
"यावदेवानृषीं खेंव पितृं खापि न तर्पयेत्।
तावन्त पीडयेदस्तं योहि स्नातो भवेद्विजः॥
निष्पीडयित योविप्रः स्नान-वस्त्रभतर्णं च"।
निर्पाशः पितरेगयान्ति ग्रापं दत्ना सुदारूणम्"—इति।
निष्पीडनन्तु स्त्रले कार्यम्। तदुकं स्प्रत्यन्तरे,—
"वस्त्रनिष्पीडितं तोयं श्राद्धे चोच्चित्रभोजिनाम्।
भागधेयं श्रुतिः प्राह तस्मानिष्पीडयेत् स्वले"—इति।
विष्णुपुराणे,—
"श्राचम्य च तते।द्यात् सूर्याय श्रुल्लाञ्चलिम्।

"त्राचम्य च तते। दद्यात् स्वर्याय मिललाञ्चलिम्। नमोविवस्वते ब्रह्मन् भास्तते विष्णुतेजसे। जगत्-सविचे ग्राचये सविचे कर्म्भदायिने"—इति ।।।।।। इति तर्पण-प्रकरणम्॥।।।

श्रय देवार्चनम्।

इत्यं मूलवचनानुकानि तर्पणांतानि कर्माणि निरूपितानि। श्रथ, मूलवचने किं कर्म-प्राप्तं देवतार्चनं निरूष्यते। तत्र, नृसिंइ-पुराणम्,—

^{*} खानवस्त्रमतर्पेग्रम्, - इति प्रा॰ स॰ पुस्तकवाः पाठः।

[†] श्राद्धेचोच्छिस्भोजनम्, इति मृ॰ पस्तको पाठः।

[‡] विषापुराणे,—इत्यारभ्य, सतदन्ताग्रत्थः नास्ति मुद्रितातिरिका-पुन्तकेषु।

"जल-देवान् नमस्त्रत्य ततोगच्छेद्ग्यहं बुधः । पौरूषेण तु स्क्रोन ततोविष्णुं ममर्चयेत्" - इति । श्राग्नेयपुराणे, —

"मन्त्रेर्वणाव-रोट्रेस्त साविचैः ग्रानिकेसिया"। विष्णुं प्रजापितं वाऽपि ग्रिवं वा भास्करन्तथा॥ तिल्किकेर्चियेनान्तैः सर्वदेवान् समाहितः"—दिति। कूर्मपुराणेऽपि,—

"ब्रह्माणं श्रङ्गरं सृधीं तथैव सधुस्यदनम्। श्रन्यां श्राभिमतान् देवान् भत्या चाक्रोधने ।ऽलरः॥ खैर्मन्तर्ष्वयेत्रित्यं पत्रैः पृष्णैस्तथा असुभिः" – इति । स्रात्यन्तरे, —

"त्रादित्यमिनका विष्णुं गणनायं महेयरम्"—इत्यादि । यद्यपि, पूर्वे मूलवचन-खाख्याने पूजनीयोदेव एक एवः—इति महता प्रबन्धेन प्रपश्चितं, तथापि दर्भन-भेदमात्रित्य विष्णु-श्रङ्ग-रादिमेदोपन्यामो १ न विरुद्धाते । दर्भनमेदश्च पुराणमारे वर्णितः,—

'भैवञ्च वैष्णवं भातं सीरं वैनायकन्तथा। स्कान्दञ्च भित्तमार्गस्य दर्भनानि षडेव हि''—इति॥ तत्र, वैष्णवदर्भनानुसारी पूजाकम श्रायमेधिके निरूपितः,—

^{*} प्राम्भवेस्तथा,-इति मृ पुस्तके पाठः।

र्म स्वायनारे-इत्यादिरेतदन्ताय्यः मुद्रितातिरिक्तपुक्तकेषु न दश्यते।

[🕇] पूजनीये(महादेव, — इति सु॰ प्रक्तेने पाठः।

< विष्णुश्रद्धारादिभेदा,—इति सु॰ पुस्तको पाउः।

"ग्रटणु पाण्डव तत्सर्वमर्चन-क्रममात्मनः।
स्थिण्डिले पद्मकं कृत्वा चाष्टपत्रं सक्षिकम्॥
त्रिष्टाचर-विधानेन त्र्रथवा दाद्याचरैः।
वैदिकरियवा मन्त्रे मम स्वतेन वा पुनः॥
स्थापितं मां ततस्तिस्त्रच्यीत विचचणः॥
पुरुषञ्च ततः सत्यमच्युतञ्च युधिष्ठिर।
त्रिनिरुद्ध मां प्राङ्किखानस्विदोजनाः॥
त्रिन्देश्च मां प्राङ्किखानस्विदोजनाः॥
त्रिन्देश्च सां त्रिज्ञ सङ्गर्षणम्यापि वा॥
प्रयुक्तञ्चानिरुद्धच चतुर्मूक्तिं प्रचचते।
प्रताञ्चान्याञ्च राजेन्द्र संज्ञा-भेदेन मूर्क्यः॥
विद्यन्थान्तरा एवां मासेवं चार्चयेद्धः"—दित।

त्राग्रेयेऽपि,—

"श्चर्नं सम्प्रवच्छामि विष्णोरमित-तेजमः। यत्नवा सुनयः सर्वे परं निर्वाणमाप्रुयुः॥ श्रप्खग्नो हृदये सर्वे स्विष्डिले प्रतिमासु च। षट्खेतेषु हरेः सम्यगर्चनं सुनिभिः स्रतम्॥ श्रग्नो क्रियावतां देवा रवो ‡ देवा मनीषिणाम्। प्रतिमाखन्यबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः॥

^{*} चान्धेप्येवं,—इहि सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] विनाध्यातमपरानेव,— इति मु॰ पुस्तके राउः।

[‡] दिवि,—इति शां पुक्तके पाठः।

तस्य सर्वगतवाच स्वण्डिले भावितातानाम्। च्छावेदे पौरुषं स्नमर्चितं गृह्यसुत्तमम्। श्रान्ष्भस्य स्नास्य चेष्टुभं तस्य देवता ॥ प्रवोद्योजगदीजस्टिषनाग्यणः स्टतः। प्रयमां विन्यसेदासे दितीयां दिल्णे करे॥ हतीयां वामपादे तु चतुर्थीं दिचिणे न्यसेत्। पञ्चमं वामजानौ तुषष्ठीं वैदिचिणे न्यसेत्॥ सप्तमीं बामकव्यान्तु श्रष्टमीं दाचणे तथा। नवमीं नाभिमध्ये तु दशमीं हृदये तथा॥ एकादग्रीं कण्डमध्ये दादग्रीं वामवाइको। चयोदशों दित्तिणे तु तथाऽऽस्थे तु चतुर्दशीम्॥ त्रह्णोः पञ्चदशीञ्चैव विन्यसेन्सूड्वि षोडशीस्। यथा दे हे तथा दे वे न्यासं क्षला विधानतः॥ न्यासेन तु भवेत् सेाऽपि खयसेव जनाईनः। एंवं न्यामविधिं कला पञ्चाद्यागं समाचरेत्॥ पूर्व्वयाऽऽवाद्यदेवमामनन्तु दितीयया । पाद्यं ततीयया चैव चतुर्थाऽर्घं प्रदापयेत्॥ पश्चम्याऽऽचमनं दद्यात् षश्चा स्नानं समाचरेत्। सप्तम्या तु ततोवासे ह्याष्ट्रस्या चोपवीतकम्॥ नवम्या गन्धलेपन्तु दश्रम्या पुष्पकन्त्रथा । एकादय्या तथा धूपं दाइय्या दीपमेवच ॥ नैवेद्यन् चयोदम्या नमस्कारे चतुईश्री।

प्रदक्ति पश्चदणी यजने वोड्णी तथा।
स्नाने वस्ते च नैनेद्ये दद्यादाचमनं तथा।
इत्ना घोड्णभिर्मन्तैः घोड्णानस्य चाइतीः॥
पुनः घोड्णभिर्मन्तैर्द्यात् पुष्पाणि घोड्ण।
तच मर्थं जपेद्भूयः पौरुषं स्वत्तमुत्तमम्॥
श्रिचिरात् सिद्धिमाप्ताति ह्येवमेत्र ममाचरन्।॥
श्रिचरात् सिद्धिमाप्ताति ह्येवमेत्र ममाचरन्।॥
श्रेयः सदा सवित्र-मण्डल-मध्य-वर्णी
नारायणः सर्मिजासन-सन्निविष्टः।
केयूरवान् कनक? कुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्सय-वपुर्धत-णङ्खः-चकः"—इति।

बौधायने।ऽपि,—" श्रयाते। सहापुरुषस्वाहरहः परिचर्या । विधि यास्यास्थामः । स्नाला ग्राचिः ग्राची देशे गेमियेने।पिलिप्य प्रति-कृति कला फल पुष्पेर्ययालाभमर्चयेत्। यह पुष्पोदकेन सहा-पुरुषमावाहयेत्। ॐसः पुरुषमावाहयामि, ॐसुवः पुरुषमावा-ह्यामि, ॐसुवः पुरुषमावाहयामि ॐ सूर्भवःसवः सहापुरुषमा-वाहयामीत्यावाह्य, श्रायातु अगवान् सहापुरुष दत्येतेन स्वाग-

श्रयने,—इति सु॰ पुन्तको पाउः।

[†] धएसासात्,—इति मु॰ पुन्तके पाठः।

[‡] समर्चयेत्,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

[🛇] सलर,—इति सु॰ पृस्तने पाठः।

[॥] परिचर्चा, — इति ग्रा॰ स॰ पुक्तकयेाः पाठः।

ण खचत, - इति सु० पुन्तके।पाठः।

^{**} पुरुषमादाश्वयामीत्यावाच्येत् ,—इति स॰ से।॰ ग्रा॰ पुन्तनेषु पाठः।

तैनाभिनन्दति; खागतमध्ना भगवता महापुरुषस्य, भगवते

महापुरुषाचैतदासन * सुपक्तृप्तमत्रास्तां भगवन् महापुरुषेति, कूर्वे

ददाति भगवताऽयं कूर्चे।दर्भमयस्ति टदुरितसुवर्षसं जुवस्रेत्यचाध-

खानानि कल्पयत्ययतः ग्रह्वाय कल्पयामि, परतञ्चकाय कल्पयामि,

इचिणतो गदायै कल्णयामि, वामता वनमालायै कल्पयामि, पश्चिमतः श्रीवत्साय कल्पयामि, गहत्मते कल्पयामि, उत्तरतः श्रियै-कल्पयामि, सर्खत्ये कल्पयामि, पुष्ये कल्पयामि, तुष्ठी कल्पयामि, श्रथ सावित्रा पात्रमभिभन्त्य प्रताच्य परिविच्याप श्रानीय सह पविचेणादित्यं दर्भयेदोमिति खानं, चीणि पदा विचक्रमद्रित पाद्यं दद्यात्, प्रणवेनार्धमय बाह्यतिभिर्निर्मान्यं व्यपे ह्योत्तरतोवि-व्यक्षेनाय नम इत्यधैनं द्वापयत्यापे। हिष्टामयोभुवः, —इति तिस्हिभः, ब्रह्मयज्ञानं वामदेव्यर्चा यजुः पवित्रेणेत्येताभिः षड्भिः स्नापयित्ना-ऽचाङ्मिस्तर्पयति ; केशवं नारायणं माधवं गोविन्दं विष्णुं मधुस्दर्नं चिविकमं वामनं श्रीधरं इषीकेशं पद्मनामं दामादरं तर्पयिला-ऽधैतानि [†] वस्त्रयज्ञोपवीताचमनीयान्युदकेन व्याह्तिभि र्दला, बाह्रतिभिः प्रदिचिणसुदकं प्रिषिचोदं विष्णुर्विवकसदित दद्यात्, तदिष्णेः परमं पदमिति पुष्यं, द्रावतीत्यचतान्, सावित्र्या धूपसुद्दीष्यखेति दीपं, देवस्य ला सवितुः प्रसवेश्विनार्वाज्ञस्यां पुण्णो इस्ताम्यां भगवते महापुरुषाय जुष्टं चर्हं निवेदयामीति नैवेद्य-

* खागतमधुना भगवते। महापुषस्थैतदासन,—इति सु॰ पृन्तके पाठः।
† केशवं नारायगमित्यादि दामादरान्तं तर्पयित्वायतानि,—इति सु॰

प्रतेक पाठः।

मण केशवादिनामि रिद्या पृष्पानि दद्यात्। श्रह्वाय नमः, चकाय नमः, गदाये नमः, वनमालाये नमः, श्रीवत्याय नमः, गरुताते नमः, श्रिये नमः, सरखत्ये नमः, पृश्चे नमः, तृश्चे नमः,—दत्यविष्ठिर्गन्ध-माल्वे* त्रीह्मणानलङ्गत्य श्रयेनं स्थायतुः सामिः । स्वन् ध्रवहः जण्यता पुरुषस्रकं वाद्यां विष्णवान्मन्तानित्येके। अध्रुतः सवरोम् भगवते मद्दापुरुषाय चरुसुदासयामीति चरुसुदास्थादास-नकाले अधः पुरुषसुदासयामि, अभुवः पुरुषसुद्दासयामि, असुवः पुरुषसुद्दासयामि, अध्रुवः पुरुषसुद्दासयामीत्युद्दास्य प्रयातः भगवान् मद्द्याप्रविद्योगय चिति । प्रतिमास्थानेनेव्यप्ख्यावाद्दन-विसर्ज्ञन-वर्ज्ञः । स्वः समानं मदत्व्यस्थ्यनित्याच्चते, मदत्वस्थ्यनित्याद्द भगवान् बौधायनः"—दति । कूर्कपुराणेऽपि,—

"न विष्णाराधनात् पुष्यं विद्यते कर्षा वैदिकम्।
तस्माद्दिनादी मध्याक्ते? नित्यमाराधयेद्धरिम्।
तदिष्णोरिति मन्त्रेण स्रक्तेन पुरुषेण च।
नैताभ्यां सदृश्रोमन्त्रो वेदेषूक्तञ्चतुर्श्वपि"—इति।
एवं वैष्णाधदर्शनानुमारि-पूजा ज्ञातत्या।

"श्रथवा देवभीशानं अगवन्तं सनातनस्।

^{*} ग्रन्धपृष्ये,—इति सु॰ पुस्तके पाठः ।

[†] ऋग्यजुःसामाथर्वभः,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[🕽] प्रतिमादिस्थानेव्यप्त्रयावावाहनविसर्जनवर्जं,—इति सु॰पुन्तके पाठः।

[§] तस्तादनादिमध्यान्तं,—इति ग्रा॰ युक्तके पाठः ।

श्वाराधयेत् सहादेवं आव-पूतो सहेश्वरस् ।
सन्तेण रूद्र-गायत्या प्रणवेणायवा प्नः ॥
देशानेनाथवा रे द्विस्त्राम्बनेन समाहितः ।
पुष्यैः पन्तेरथाद्भिवा चन्द्रनाद्यैमंहेश्वरस् ।
तथांनमः शिवायेति सन्तेणानेन वा यजेत् ॥
नसस्तुर्यान्याहादेवस्तं सत्यमितीश्वरस् ।
विवेदयीत चात्मानं यो ब्रह्माणिमितीश्वरस् ॥
प्रदिचणं दिजः कुर्यात् पञ्च ब्रह्माणि वा जपेत् ।
ध्यायीत देवसीशानं योस-सध्य-गतं शिवस्"—दति ।

बौधायनोऽपि,—"त्राघातो सहादेवस्वाहरहः परिचर्या-विधिं व्याख्यास्वासः। स्नाला ग्रुचौ देशे गोमयेने।पलिप्य प्रतिधतिं क्रलाऽचत-पुष्पीर्यथालाभमर्चयेत्। सह पुष्पोदकेन महादेवमावाहयामि, अस्वः महादेवमावाहयामि, अस्वः महादेवमावाहयामि, अस्वः महादेवमावाहयामि, अस्वः महादेवमावाहयामि, अस्वः महादेवमावाहयामि त्यावाह्यः महादेवमावाहयामि त्यावाह्यः मायातः भगवन्त्रहादेव दत्यय स्वागतेनाभिनन्दितः; स्वागतमधुनाः भगवते महादेवाय एतदासनसुपक्षुप्रमचास्थतां भगवन् महादेव दत्यत्र कृषीं ददाति भगवते।ऽयं कुषीदर्भमयस्त्रियद्धिरितसुवर्णस्तं जुषस्रेत्यक्ष्यानि कत्ययत्यग्रते। विष्णवे कत्ययामि ब्राह्मस्ते कत्ययामि, दिविणतः स्कन्दाय कन्ययामि विनायकाय कन्ययामि, पश्चिमतः ग्रून्तःय कन्ययामि महाकालाय कन्ययामि, स्वन्दाय कन्ययामि महाकालाय कन्ययामि, स्वन्दाय स्वन्ययामि नन्दिकेश्वराय कन्ययामि कन्ययामि, स्वन्दाय स्वन्ययामि महाकालाय कन्ययामि, स्वन्दाय स्वन्ययामि कन्ययामि स्वन्ययामि कन्ययामि स्वन्ययामि स्वन्ययामि कन्ययामि स्वन्ययामि स्वन्ययामि कन्ययामि स्वन्ययामि स्वन्ययामि स्वन्ययामि स्वन्ययामि स्वन्ययामि स्वन्ययामि स्वन्ययामि कन्ययामि स्वन्ययामि स्वययामि स्वन्ययामि स्वन्ययामि स्वन्ययामि स्वन्

पाचमिभमन्त्य प्रचाच्य चिर्पः पविचमपत्रानीय सह पविचेणाहितः

दर्भचेदोसिति सानं, पठितिरुद्रेण पाद्यं दद्यात्, प्रणवेनार्घभध व्याचितिभिर्निकीं खे येपे हो त्रिक्त रत्य एडे शाय मा दल येनं स्नापियला श्रापाहिष्टामयाभुवरति तिस्भिहिर्णवर्णाः ग्रुच्यः पावकारति चतस्थिः पवसानः सुवर्जन दत्यनुवानेन सापयिला श्रद्भिस्पेयति महादेवं न तर्पथामि शर्कं देवं तर्यथामि देशानं देवं तर्पथामि पश्चपतिं देवं तर्पयामि रूट्रं देवं तर्पयामि उग्रं देवं तर्पयामि भीमं देवं तर्पयामि महान्तं देवं तर्पयामि इति तर्पयिलाऽयैतानि वस्तय-ज्ञोपवीताचमनीयान्युदकेन खाइतभिर्दला, बाइतिभि: प्रदिचिण-सुदकं परिविचा, नमस्ते रुद्र मन्यवदित गन्धं दद्यात्, सहस्ताणि सदसग्रदति पृष्पं दद्यात्, देशानं ला भुवनानामधिश्रियमित्यचतान् दयात्, साविचा धूपसुद्दीष्यस्त्रेति दीपं देवस्य ला सवितुः प्रस्वे-ऽियने।वाज्जभ्यां पुष्णो इस्ताभ्यां भगवते महादेवाय जुष्टं चर्हं निवेद-थामीति नैवेदां, श्रथाष्ट्रभिनामधेयैरष्टी पृष्पाणि दद्यात्; भवाय देवाय नमः प्रवाय देवाय नमः देशानाय देवाय नमः पश्छपतये देवाय नमः रुद्राय देवाय नमः उग्राय देवाय नमः भीमाय देवाय नमः महते देवाय नमः विष्णवे नमः ब्राह्मणे नमः स्कन्दाय नमः विनायकाय नमः शूलाय नमः महाकालाय नमः उमायै नमः नन्दिनेश्वराय नमःइति चर्गेषेणाष्टभिनामधेयैर्षाज्ञतीर्नुहाति भवाय देवाय खाहेत्यादिभिर्ज्जलाऽविष्रष्टेर्गन्धमान्धेर्वाह्मणानलंकत्या-थैनं च्छायज्ञःसामभिः स्तुवन्ति, सहस्राणि सहस्रग्रदत्यनुवाकं जपि-

^{*} चगडाय,—इति ग्रा॰ पुक्तको पाठः। † भवं देवं,—इति सु॰ पुको पाठः।

लाऽन्यां स्व रोद्रान् मन्त्रान्ययायिक जिपला, ॐभूर्भुवःस्वरेगिति महादेवाय चरुमुढास्थादामनका ले * ॐभूरः नहादेवसुढासयामीति प्रतिमन्त्रं रुद्रसुद्धास्य ।

> प्रयातु भगवानीयः सर्ज-लाक-नमस्त्रतः। श्रनेन इविषा त्रप्तः पुनरागमनाय च॥

पुनः सन्दर्भनाय वेति । प्रतिमार्थे स्थानेष्वप्खग्नावाहन-विस-र्ज्जन-वर्ज्जं सर्वे समानं, महत् खस्ययनिमत्याच्चतद्त्याह भगवान् बौधायनः"—दति । प्रिवार्चनं प्रशंसति नन्दिनेश्वरः,—

> "यः प्रदद्याद् गवां लचं दोग्धीणां वेद-पार्गे। एकाइमर्चयेक्षिङ्गं तस्य पुष्णं ततोऽधिकम्। मकत् पूजयते यस्तु भगवन्तमुमापितम्। श्रस्यास्त्रमेधादधिकं फलं भवति भूस्राः"—इति।

निर्मात्य गन्धेऽपि धार्यः। "देवानभ्यर्च गन्धेन"—दत्यादि सृति विधानात्॥। देवार्चनाकरणे देाषः कूर्मपुराणेऽभिहितः,—

> "योमोद्दादयवाऽऽलस्यादकला देवताऽर्चनम्। भुद्गे, स याति नरकं सकरेव्यपि जायते"—इति । ॥०॥ इति देवता-पूजा-प्रकरणम्॥०॥

^{*} भूर्भुवः खरेम् भगवते महादेवमुद्दासयामीत्यादिभिः रुद्रमुद्दासनकाले, —इति स॰ ग्रा॰ पस्तकयोः पाठः।

[🕇] प्रतिमन्त्रमिति नास्ति स॰ ग्रा॰ सेा॰ पुस्तकेषु ।

[‡] चेति,—इति भा॰ पुस्तके पाठः।

[§] प्रतिमादि,—इति मु॰ पुक्तके पाठः ।

[|] निर्माल्यगन्धोऽपि,—इवादिः एतदन्तोयन्तो नान्ति मुदितातिरित्ता-पुन्तनेषु ।

अय गुरु-पूजा-प्रकर्णम्।

एवं मूलवचनेक्त-देवता-पूजनं निरूपितम्। 'देवतानाञ्च'-इति चकारेण ग्रह्ं समुचिनाति । गुरेरिप देवतावत् पूजनीयलात्। श्रतएव श्रुति:,—

''यस्य देवे परा भिक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताह्यथाः प्रकाशन्ते महात्मनः''— इति। शैवपुराणे,—

"योग्रह्स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स च शङ्करः।
शिव-विद्या-गुरूणाञ्च भेदोनास्ति कथञ्चन॥
शिवे मन्त्रे गुरौ यस्य भावना सहृग्री भवेत्।
भोगोसोचञ्च सिद्धिञ्च श्रीघं तस्य भवेद्ध्रुवम्॥
वस्त्राभरणमाच्यानि श्रयनान्यासनानि च।
प्रियाणि चात्मने।यानि तानि देयानि वैगुरोः॥
तोषयेत्तं प्रयत्नेन मनसा कर्मणा गिरा"—इति।
मनुरपि,—

"दसं लोकं मात्र-भक्ता पित्र-भक्तातु मध्यमम्।
गुरू-ग्रुश्रूषया चैव ब्रह्म-लोकं समश्रुते॥
सर्वे तस्यादृताधमा यस्यैते चय त्रादृताः।
त्रानादृताञ्च यस्यैते सर्वास्तस्यापनाः क्रियाः॥
यावत् चयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्।
तेस्वेव नित्यं ग्रुश्रूषां कुर्यात् प्रिय-हिते रतः"—इति।
॥०॥ इति गुरुपूजा-प्रकरणम्॥०॥

अय वैश्व हैव-प्रकरणम्।

पञ्चमभाग-कृत्यमाह द्त्रः,—

''पञ्चमे च तथा भागे संविभागे। यथाऽईतः । पिल-देव मन्थाणां कीटानां चेापदिग्यते"—दति ।

यद्यपि, 'द्यातियां वैयदेवञ्च'—इत्यातियास पूर्वभावितं मूल-वचनेकां, तथापि वैयदेवस्य देवपूजाऽनन्तरभावितं नृसिंइपुराणेऽभि-हितम्,—

> "पौरुषेण च स्रकेन ततोविष्णुं समर्चयेत्। वैश्वदेवं ततः कुर्यादक्तिकम्मं तथैव च"—इति॥

तत्र, 'ततः'—इति पञ्चमी-श्रुत्या क्रमः प्रतीयते, मूलवचने तु पाठमाचेण। पाठात्तत्-सिन्धिक्षपाच्छुतिर्वलीयमी,—इति । श्रुति-लिङ्ग-सृत्ते (भी० ३श्र० ३पा० ९४स्र०) व्यवस्थापितम्। तस्मा-द्वैश्यदेवं प्रथमं कर्त्तव्यम्। एवच्च मित्र, वेदपाठोऽप्यनुग्रहीतो-भवति;—''देवयज्ञः पित्यज्ञोस्तयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञः''—इति । स्मान्ति पाठादेदिकः पाठोवलीयानिति विरोधाधिकरण (मी० १श्र० ३पा० २श्र०) न्यायेनावगम्यते । तस्मादपि वैश्वदेवस्य प्राथम्यम्। तत्र, वेश्वदेवं विधन्ते व्यासः,—

"वैश्वदेवं प्रकुर्वीत ख-शाखा-विहितं ततः । संस्कृतानिहि विविधेर्हविष्ययञ्जनान्वितैः ! ॥

^{*} ततस्ततइति,---इति सु० पुम्तके पाठः।

पाठान्तरनिरुपिका श्रुतिर्वेतीयसीति,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

¹ द्विभिर्यञ्जनान्वितेः,— इति सु॰ पुस्तके पाठः।

तैरेवा से वं सिंद्या च्हेषमा प्राय वारिणा।
कला (पमयं म्हथ्या सर्वद चिणतो * हरेत्"—इति।
ततो देवा चेना नन्तर सित्यर्थः। नारायणो (पि,—

"मभायांन्त ग्राचिः स्नातो विधिनाऽऽचम्य वाग्यतः। प्रविग्य सम्मासङ्घेत्यौ वैश्वदेवं समाचरेत्"—इति। कृर्यापुराणेऽपि,—

"शालाग्नी लोकिके वाऽष्य जले भृभ्यामधापि वा । वैद्यदेवम् कर्त्तव्या देवयज्ञः स वै स्थतः॥ यदि स्थालोकिके पाकः ततोऽन्नं तत्र ह्यते । शालाग्नौ तु पचेदन्नं ! विधिरेष सनातनः"—इति । श्राङ्गिराः,—

"शालाशो वा प्रचेदनं खौकिके वाऽपि नित्यशः। यसिनशौ पचेदनं तसिन् होमो निधीयते"-इति। श्रातानपाऽपि,—

''लोकिके वैदिके वाऽपि ज्ञतोत्स्छे जले चितौ। वैद्यदेवस्तु कर्त्रसः पञ्चस्रगाऽपनुत्तये''—इति। स्नाः पञ्च दर्भयति यमः,—

> "पञ्च सुना ग्रहस्यस्य वर्त्तन्तेऽहरहः मदा। कण्डनी १ पेषणी चुन्नी जलकुमा उपस्करः।

^{*} सर्वे दिच्यातो,--इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[ं] ज्ञावयेन्, — इति भ्रा० स० पुरतकयाः पाठः।

[🏮] प्रानाभी तव वे दत्तं,— इति प्रा॰ स॰ पुक्तवयोः प्राठः।

[ं] खिखनी,—इति सु॰ पुन्तके पाठः। एवं परचा

एतानि वास्यन् विप्रो वध्यते वे सुद्धर्मुद्धः । एतासां पावनार्थाय पञ्च यज्ञाः प्रकीर्त्तिताः"—इति ।

सुना हिंसा-स्थानानि । कण्डनी सुषलोलूखलादिः । पेषणी दृश्यद्रपलादिः । पुत्ती पाक-स्थानम् । जलकुक्षः उदकस्थानम् । उपस्करः शूर्पादिः । ऋवस्करः, – इति पाठे, मार्ज्जन्यादिईष्ट्यः । एताः सनाः खस्कवार्ये प्रापयन् पापेन युज्यते, – इत्यर्थः । तच काल-द्रयेऽपि कर्त्त्व्यमित्याच् कात्यायनः, —

"मायं प्रातें श्रदेवः कर्त्त्र वेविकमं च।

श्रनश्रताऽपि सततमन्यथा किल्विषी भवेत्"—इति ।

होम-प्रकारमाहाश्वलायनः,-"श्रथ मायं प्रातः सिद्धस्य हिवधस्य जुड्डयादिप्रहोत्र-देवताभ्यः सेामाय वनस्पतये श्रग्नीषोमाभ्यामिन्द्राप्रिम्यां द्यावाष्ट्रियवीभ्यां धन्वन्तरये दन्द्राय विश्वभ्योदेवेभ्या ब्रह्मणे खाहा"—दित । हिवधस्थेति हिवर्याग्रस्थेत्यर्थः । श्रिप्रहोत्त-देवताभ्यः स्वर्याग्रिप्रजापितभ्य दत्यर्थः । श्रापस्तम्बोऽपि,—"श्रीपासने पत्तने वा बिद्धराद्यैः प्रतिमन्तं हस्तेन जुड्यादुभयतः परिषेत्रनं यथा पुरस्तात्"—दित । श्राद्यरनुवाकादावुक्तरग्रये खाहा दत्यादिभिः खिष्टकदन्तैः । सभयतः कमीदावन्ते चेत्यर्थः । कात्यायने।ऽपि,— "वैश्वदेवादन्वात्पर्युद्ध खाहाकारै जुड्डयात् ; ब्रह्मणे प्रजापतये ग्रह्मेभ्यः काग्यपायानुमतये"—दित । श्रव यथाखश्राखं ध्वतस्या । होत्यान्त-संस्कारमाह, व्यासः,—

^{*} ग्रहेभ्यः,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

"जुड़यात् मर्पिषाऽभ्यतं तील-चार-विवर्ज्जितम्। दथ्यतं पयमाऽकं वा तदभावेऽम्बुनाऽपि वा"—इति॥ द्रयानुकन्पसतुर्विंग्रतिसते दर्शितः,—

''त्रलाभे येन केनापि फलगाकेादकादिभिः। पयोदिधिघृतैः कुर्यादैयदेवं खुवेण तु। इस्तेनानादिभिः कुर्यादित्वरञ्जलिना जले"- इति। यदद्यते तेनैव हेातयम्। तदुकं ग्रह्मपरिशिष्टे,—

"शार्क वा यदि वा पत्रं मूलं वा यदि वा फलम्।

सङ्क्ष्ययेद्यदाहार्फ्तेनैव जुड्डयादिप"-दृति।

चार-लवण-परान्न-संस्ष्टेन हिविष्येन* हे।सोऽग्री न कार्यः, किन्तूष्णं अस्माग्यायतनानुत्तरते।ऽपाद्य तिस्मन् हे।तथम्। तदाहापस्मनः,—

"न चार-लवण-हे।सोविद्यते, तथा परान्न-संस्ष्टस्य हविष्यस्य हे।सः,

खदीचीनसुष्णं अस्मापेद्य तिस्मन् जुड्डयान्तद्भुतमद्भतं चाग्री।
अवति"-दृति। परिश्रिष्टेऽपि,—

"उत्तानेन तु इस्तेन ह्यङ्गुष्ठाग्रेण पीड़ितम्। संदताङ्गुलिपाणिस्तु वाग्यतो जुड्डयाद्धविः''—इति। श्रनग्निकस्य वैश्वदेवे विशेषमाच्च दृद्धविशष्टः,—

> ''त्रनग्निकस्त योविप्रः सेरिनं याह्तिभिः खयम्। इत्वा प्राकल-मन्हेश्च प्रिष्टं काक-विलं हरेत्''—इति।

^{*} संस्थेनाच्चियोग, - इति स॰ सा॰ ग्रा॰ पुस्तकेषु पाठः।

[†] संख्यसाइविष्यस्य,-इति स॰ सो॰ प्रा॰ पुलाकेषु पाठः।

देवक्रतस्थैनम इत्याद्याः शाकलमन्ताः । विप्णुरिपः,—
"श्रन्नं व्याहितिभिर्ज्ञेला ज्ञला मन्त्रेष्ट शाकलैः ।
प्रजापतेईविर्ज्ञला पूजयेदितिष्यं ततः"—इति ।

भ्रतयज्ञः कूर्मपुराणे दर्शितः,—

"देवेभ्यम् ज्ञतादन्नाच्छेषाङ्ग्रत-विलं हरेत्। भूतयज्ञः सवै प्रोको भूतिदः सर्वदेहिनाम्"—इति।

हारीताऽपि,—"वास्तुपाल-भ्रतेभ्या विलहरणं भ्रतयज्ञः"—इति। कात्यायनाऽपि,—

"उद्घृत्य इविषाऽऽषिच्य इविष्येण घृतादिना। ख-शाखा-विधिना ज्ञला तच्छेषेण विलं इरेत्"—इति। गौण-कर्त्तृनाहाचिः,—

"पुत्रोभाताऽचवा च्हिलक् शिष्यः श्वश्चर्र-मातुलाः।
प्रती-श्रोत्विय-याच्याः दृष्टास्तु विलक्षमिणि"—इति ।
यहे कर्नन्तराभावे प्रवसता खयमेव कर्त्तयमित्याः बौधायनः,—

"प्रवासं गक्कतोयस्य ग्रहे कर्त्ता न विद्यते । पञ्चानां सहतासेषां स यज्ञेः सह गक्कति"—इति ।

विल-हरण-प्रकारमाह शौनकः,—''त्रथ विलहरणमेताभ्यश्वैव देव-ताभ्ये।ऽह्य त्रोषधिवनस्पतिभ्या ग्रहाय ग्रहदेवताभ्या वास्तुदेवताभ्य इन्ह्रायेन्द्रपुरूषेभ्यायमाय यमपुरूषेभ्या वरूणाय वरूणपुरूषेभ्यः सामाय सामपुरूषेभ्यः,—इति प्रतिदिशं, ब्रह्मणे ब्रह्मपुरूषेभ्यः,—इति मध्ये, विश्वभ्यादेवेभ्यः सर्वेभ्याभ्यतेभ्या दिवाचारिभ्यः,—इति दिवा, नत्रं चारिभ्यः,—इति नत्रं, र्चोभ्यः,—इति उत्तरतः, ख्रधा पित्रभ्यः,— द्दित प्राचीनावीती शेषं दिचिणा मिनयेत्''—दित । श्रापस्त्वी-ऽपि,—''श्रपरेणाग्निं सप्तमाष्टमाभ्यासुदगपवर्गसुद्धान-संनिधी नवसेन सध्येऽगारस्य दशसेकादशभ्यां प्रागापवर्गसुत्तरपूर्वदेशेऽगारस्थोत्तरैश्च-तुर्भिः श्रय्यादेशे कामलिङ्गेन देइन्यासन्तरिच लिङ्गेनोत्तरेणापिधान्या-सुत्तरेत्रद्वसर्दने दिचिणतः पित्तलिङ्गेन प्राचीनावीती श्रवाचीनपाणिः सुत्तरेत्रद्वसर्दने दिचिणतः पित्तलिङ्गेन प्राचीनावीती श्रवाचीनपाणिः सुर्व्यात्, रौद्र उत्तरतो यथा देवताभ्यस्तयोनाना परिषेचनं तथा-धर्मभेदानकसेवोत्तरेण वैद्दायसस्''—दित । सार्कण्डेयोऽपि,—

"एवं ग्टइविंकं कला गटहे ग्टइपतिः गडिंचः।

श्रापायनाय स्तानां कुर्याद्वर्गमादगत्' — इति । कूर्मपुराणे च,—

"यभ्यस्र सपचेभ्यस्र पतितेभ्यक्तघैव च । दद्याङ्गुमौ विद्यसात्रं पित्तभ्योऽष्य दिजोत्तमः"—इति । मनुरपि,—

"ग्रुनाञ्च पिततानाञ्च खपचां पापरे।गिणाम् । वायमानां कमीनाञ्च ग्रनकेर्निवेपेङ्ग्वि"—इति । त्रत्निमिति ग्रेषः । त्रत्नोत्सर्गमन्त्रो विष्णुपुराणे दर्गितः,—

> "देवामनुष्याः पश्चेतवयां सि सिद्धाः सयचोरगदेत्यसङ्घाः। प्रेताः पिश्वाचास्तरवः समस्ता-ये चान्नमिच्छंति मया प्रदत्तम्।

दिल्लायां,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[†] सुत्तरे ब्रह्मसदने, — इति भा॰ स॰ पुस्तकयोः पाठः।

पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या-वुअ्चिताः कर्मानिवन्धवद्धाः । प्रयान्त् ते तिशिमदं मयाऽत्रं तेभ्याविसृष्टं सुखिनाभवन्तु । येषां न माता न पिता न वन्धु,-नैवानसिद्धिनं तथाऽनमस्ति। तत् त्रयेऽनं सुवि दत्तमेतत् प्रयान्तु तृप्तिं सुदिता भवन्तु। भूतानि सर्वाणि तथाऽत्रमेतत् श्रहञ्च विष्णुनं ततोऽन्यदस्ति। तसादिदं भृतहिताय भूत-अर्त्नप्रयच्छा भि भवाय नेषास् । चतुईशा लाकगणी यएष तच स्थिताये किल भूतमङ्गाः। त्रप्रार्थमत्रं हि मया विस्षृष्टं तेषामिदं ते सुदिता भवन्तु।

इत्युचार्य नरेादद्यादन्नं श्रद्धा-समन्तितः । अवि स्रतोपकाराय ग्रदी सर्व्वाश्रयोयतः"—इति ।

पित्रयज्ञः श्रुत्या दर्धितः,—"यत् पित्रभ्यः खधाकरे।त्यायपत्तत्-पित्रयज्ञः सन्तिष्ठते"—इति । कात्यायने।ऽपि,—

> "ऋधापनं ब्रह्मयज्ञः पित्वयज्ञस्त तर्पणम्। द्हामादैवीवलिभातो नृयज्ञोऽतिष्टि-पूजनम्॥

श्राह्मं वा पित्यज्ञः स्थात् पित्रोत्रिक्तियापि वा"-इति। श्राच, यथास्त्रशास्तं व्यवस्था। श्राह्मं चात्र नित्यश्राह्मम्। तथा कूर्मपुराणम्,—

"एकनु भोजयेदिप्रं पितृनुहिण्य सप्तमः। नित्यश्राद्धं तदुहिष्टं पित्यज्ञोगित-प्रदः"—दित । मार्कण्डेयोऽपि,—

"कुर्यादहरहः श्राद्धमनाधेने।दकेन वा। पित्ननुद्धिय विशांम्त भोजयेदिप्रमेव वा"दित। नित्यश्राद्ध-प्रकारो मत्यपुराणे दर्शितः,—

"नित्यं तावत् प्रवच्यामि ऋर्घावा इन-वर्क्चितम्। ऋदैवं तिद्वजानीयात् पार्व्वणं तिद्धं की चितम्"—इति। प्रचेताः,—

"नावाइनाद्वीकरणं न पिण्डं न विमर्ज्जनम्"—इति । यासे।ऽपि,—

"नित्यश्राद्धेऽर्ध्यम्थाचै दिजानभ्यक्य प्रक्तितः।
सर्जान् पित्यणान् सम्यक् सहैवोदिग्य भेजियेत्॥
श्रावाहन-स्वधाकार-पिण्डाग्रीकरणादिकम्।
ब्रह्मचर्यादि-नियमा विश्वदेवास्त्रयेव च॥
नित्यश्राद्धे त्यजेदेतान् भोज्यमत्रं प्रकल्पयेत्।
दला तु दिल्णां प्रक्ता नमस्कारै विसर्ज्ञयेत्॥
एकमप्याप्रयेत्तित्यं षषामप्यन्तं ग्रही"—द्रति।

कात्यायनः तनानुकत्यमान् —

"एकमणागयेत्रित्यं पित्यक्तार्थ-सिद्ध्ये।
श्वदेवं, नास्ति चेदन्योभोक्ता भोज्यमणापि वा॥
श्रम्बुद्धृत्य यणाग्रिक किञ्चिदन्नं यणाविधि।
पित्रभ्यददमित्युक्ता खधाकारसुदाहरेत्'"—इति।
खद्धृतसन्नं ब्राह्मणाय दद्यात। तद्कं कूर्मपुराणे,—
"खद्धृत्य वा यणाग्रिक किश्चिदनं समाहितः।
बेद-तन्वार्थ-विद्वे दिजायेवे।पपादयेत्''—इति।
"दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येने।दकेन वा।
पयोमूलफर्लेई:ऽपि पित्रभ्यः प्रीतिमावहन्'ं।

तएते देवयज्ञ-अत्यज्ञ-पित्यज्ञास्त्रयोऽपि वैश्वदेव-ज्ञब्देने। श्वान्ते । यत्र विश्वदेवाद्य्यन्ते तद्वेश्वदेविकं कर्म । देवयज्ञे च, विश्वेभ्यो देवेभ्यः खाहेति पित्तवात् तत्रैतनाम मुख्यम् । येषान्तु ज्ञाखायां अत्यज्ञेऽप्ययं मन्त्रोऽित, तेषां तत्राप्येतन्त्रुख्यम् । पित्यज्ञे तु क्विन्व्यायेन तन्नाम-प्रवृत्तिः । श्रथवा, मूलवचने, 'वैश्वदेवख'—दित च कारेण पित्यज्ञादिकमनुकं ममुखीयते ।

यद्यपि, "षायं प्रातः विद्वस्य इविष्यस्य जुझ्यात्"—इति वचनेन वैयदेवस्यान-मंस्कारता प्रतीयते, तथापि पुरुषार्थलमेवा-स्युपेयम्। "तानेतानहरहः कुर्व्वीत"—इति वाक्यभेषे तद्वगमात्। नचाभयार्थलं भङ्गनीयं, परस्पर-विरोधात्। श्रन्न-मंस्कारते ह्यनस्य प्राधान्यं वैयदेवस्य गुणता, पुरुषार्थले तु तदिपर्थयः। तथा च

तचासी ब्राह्मणायेति दत्त्वा भुञ्जीत वाग्यतः,—इत्यर्द्धमधिनं मु॰पुल्तको।
 चयं स्नोकोमुदित्यतिरिक्तपुल्तकोषु न दृश्यते।

स्ति, एकस्पैत युगपत् प्राधान्यं गुणलं च विरुद्धोयाताम्। तहीस्तन्न-संस्कारतेव, सा भृत् पुरुषार्थविमिति चेत्। तन्न,

"महायज्ञेस यज्ञेस ब्राह्मीयं क्रियते तनुः"—दति

मनुना पुरुषार्थल-सार्णात्। यत्तु,—''मिद्धस्य इविद्यस्य जुड्यात्''
—हत्युदाहृतं, तदन्यथाणुपपद्यते । तत्र, जुड्यादित्युत्पत्तिविधिः।
सिद्धस्य इविद्यस्त्रेति विनियोगविधिः । तानेतानहरहः कुर्व्वोतेत्यधिकारः । किञ्च, श्रव्न-संस्कार-पन्ने प्रतिपाकमावृत्तिः प्रमञ्चेत,
''प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिः''— इति न्यायात् । तस्मात्, पुरुषार्थलभेवन्याय्यम् । श्रत्राप्त्र राह्यपरिशिष्टेऽभिहितम्,—

"प्रोधितोऽष्यात्म-मंस्कारं कुर्यादेवाविचारयन्"—इति।
गोभिलोऽपि,—'यद्येकस्मिन् काले ब्रीहि-यवौ पच्येयातां;
श्रन्यतरस्य ज्ञला कृतं मन्येत, यद्येकस्मिन् काले पुनः पुनरत्नं पच्येत;
सक्तदेव विलं कुर्व्यात, यद्येकस्मिन् काले बज्जधाऽनं पच्यते; ग्रहपितमहानसादेवैतं विलं कुर्व्यात"—इति। श्रयमर्थः। नानाद्रयकान्नपाके पुनःपुनरत्नपाकेऽपि बह्ननामविभक्तानां आचादीनां प्रथक् प्रथक्
पाकेऽपि, एकसादेव द्रव्यात् महादेव ग्रहपित-पाकादेव हात्यमिति।

॥ ।॥ इति वैश्वदेवप्रकरणम् ॥ ।॥

श्रथातिष्यापरनामके। मनुष्ययज्ञोनिरूप्यते।

श्चातिष्यस्य मनुखयज्ञतं कात्यायनेनाकम्,—

"श्रध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पित्यज्ञम्त तर्पण्म् । होमे।देवा विलर्भृता नृयज्ञोऽतियि-पूजनम्" - इति । श्रुतिरिष,—"यद्वाह्मणेभोऽत्रं ददाति तन्मनृष्ययज्ञः सन्तिष्ठते"— इति । बौधायनेऽिष,—"श्रहरदः ब्राह्मणेभोऽत्रं दद्यान्मूल-फल-ष्माकानि वेत्यथैनं सनुष्ययज्ञं समाप्ते।ति" । कार्णाजिनिरिष,—

"भिचां वा पुरक्तलं वाऽपि इंतकार्मथापि वा। श्रमभावे तथा" दद्यादुदपाचमथापि वा"—इति। कूर्म्मपुराणेऽपि,—

"इंतकारमधायं वा भिन्नां वा ग्रितिता दिनः । दद्यादितिधये नित्यं वृद्योत परमेश्वरम्"—इति । भिन्नादि-लन्नणं मनुराइ,—

"ग्रासमानं भवेद्भिचा त्रग्रं ग्राम-चतुष्टयम्। त्रग्रं चतुर्गुणीकृत्य इन्तकारे। विधीयते"—इति। त्रितिथि-निरीचणाय ग्रहांगणे कंचित्कालन्तिष्ठेदित्युकं मार्कण्डेय-पुराणे,—

"श्राचम्य च ततः कुर्यात् प्राच्चीदारावलीकनम् । सुद्धत्तस्थाष्टमं भागसुदीच्छोद्धतिथिभवेत्"—इति । विष्णुपुराणेपि,—

> ''ततो गोदोसमार्च वा कालन्तिष्ठेद् ग्रहाङ्गणे। श्रतिथि-ग्रहणार्थाय तदूईं वा यथेच्छया''—इति।

> > ॥ ।। इति मनुष्ययज्ञः॥ ।॥

^{*} सदा,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

तदेवं, 'सन्धा स्नानम्'— इत्यस्मिन् मूस्तवचने स्नानादीन्यातिच्या-न्नानि षट् कर्माणि निरूपितानि ।

न चाच सप्तल-प्रतिभानात् षटलं विरुद्धिमिति ग्रङ्कनीयं, सन्मार्ग-त्यायेनोद्देश्य-गतायाः सङ्खाया श्रविविचितलात् । यानि कर्माणि उद्देश्यगतानि, तानि दिनेदिने कर्त्तव्यानीति तेषां नित्यल-विधानात् । सन्मार्ग-त्यायञ्च त्रतीयाध्याये प्रतिपादितः,—

च्यातिष्टोसे, "द्यापिवचेण ग्रहं संसार्ष्टि" - इति श्रूयते। तच्छं श्रायः, किसेकस्य सन्मार्गः किंवा सर्व्वेषासिति। तद्यं चिन्ता; किसचोद्देश्य-गता सङ्घा विविच्ता जताविविचितेति। यथा "पग्रुना यजेत"— इत्यच एकवचन-श्रुति-वलादुपादेथ-पग्रु-गता सङ्घा विविच्ता, तथेव ग्रहसित्येकवचन-श्रुति-वलादुदेश्य-गताऽपि सङ्घा विविच्ता भवितु सर्हति। तस्मादेकस्वैव ग्रहस्य सन्मार्गे प्राप्ते श्रूमः। पश्चीरनेनैव वचनेन याग-सम्बन्धावगमात् यागं प्रति पश्चार्गुणी-भ्रतत्वाद्यावद्गुणं प्रधानावत्त्यभावात् कियता पग्रुनेत्यवच्छेदकाका-ङ्वायां तदवच्छेदकव्वेनेकत्व-सङ्घा सम्बद्धाते,— इत्युपादेथ-गतायाः सङ्घायाः विविच्तत्वं युक्तम्। ग्रहाणानु वाक्यान्तरेण याग-सम्बन्धा-वगमात् संमार्गवाक्ये दितीयाश्रुत्या संमार्गं प्रति ग्रहस्य प्राधान्याव-गमात् संमार्गवाक्ये दितीयाश्रुत्या संमार्गं प्रति ग्रहस्य प्राधान्याव-गमात् प्रतिप्रधानं गुणस्य संमार्गत्यावर्त्वाच्यात् कियन्ता ग्रह्मा न

कियता पश्चनित परिच्छेदकाकाङ्कायां तत्परिच्छेदकत्वेकत्वसंख्या, —
 इति सु॰ पुन्तवे पाठः।

विविचिता। तस्मात्, सर्जे ग्रहाः संमार्ज्जनीयाः। प्रक्रतेऽप्युद्देग्य-सन्ध्यादि-गता षट्वसंख्या न विविचिता।

श्रयोच्येत, श्रखां पराश्वरस्नृते। वाक्यान्तरेण सन्धादीनां निरूठ्यभावादनेनेव वाक्येन नित्यल-विशिष्टानां तेषां उत्पादनादुपादेयगतन्वेन पश्चेकलविदिविविचित्तलमेव सङ्घाया युक्तमिति। एवं तिर्षः,
सन्ध्यासितं चानं सन्ध्याचानमिति समासे सत्यङ्गेन खानेन सिर्द्रताया श्रङ्गीस्तायाः सन्ध्याया एकलेन परिगणनासात्र षट्मंखाः
विरुद्धाते,—इति गमयितयम्।

सन्धादीनां नित्यतं चाग्निहाचादिवद्यावक्तीव-कर्त्तव्यतया-ऽवगम्यते। जीवनवदिधकारित्वञ्च, दिने दिने इति वीपायाऽवगम्यते। यथा "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत"—इत्यच वीपाया तदवग-अखदत्॥

श्रातिष्यं वैश्वदेवं चेत्युक्तम्। तन, की दृष्णेऽति चिरित्याकाञ्चाया-माइ,—

दृष्टी वा यदि वा देखे। मूर्षः पिएडत एव वा। संप्राप्ती वैश्वदेवांते से।ऽतिथिः स्वर्ग-संक्रमः॥ ४०॥

इष्टः सःखादिः । तस च भोजनीयतं याज्ञवस्कोनातम्,—

"भोजयेषागतान् काले यखि-सम्बन्धि-वान्धवान्" - इति । देखाः भोजनीयत्वं मनुना निन्दितम्,—

> ''काममधर्षयेकानं नाभिक्षमिष लिरम्। दिवता दि दिवर्भुतं भवति प्रेत्य निष्पसम्''—इति।

एवं सत्यरि-मिच-विवेका यथा क्रियते, तथैवातिषावापि तत् प्रसक्ती तन्त्रिराकरणाय, 'इष्टो वा यदि वा देखः'—इत्युक्तम्। सुर्खस्य भोजनीयत्वं सृत्यन्तरे निषिद्धम्;

''नष्टभौचे व्रतभृष्टे विष्ठे वेद-विवर्क्ति । दीयमानं रूदत्यन्तं किं मया दुष्कृतं कृतम्''-इति । पण्डितस्य भाजनीयलं मन्ना दर्भितम्,—

> "श्रोतियायैव दयानि इयक्यानि दात्थाः। श्रईत्रमाय विप्राय तसी दत्तं महाफलम्"—इति।

एवं यति, श्राद्धादाविव वैश्वदेवान्तेऽपि पण्डित-मूर्ख-विवेक प्रयक्ती तित्रराकरणायाकां, मूर्खः पण्डित एववा, - इति। वैश्वदेवा-न्नश्रब्देन देवयज्ञ-भूतयज्ञादीनामुपरि घटिका-पादमात्र-परिमितः कालो विविचितः। तथा च मार्कण्डेयपुराण-वचनमुदाहृतम्; 'मुझ-र्न्तस्थाष्टमं भागम्' - इति । श्रतएव, तस्मिन् कालो समागमनभेवा-तिथि-खचणं, नेतरिद्धादि । संकम्यतेऽनेनेति संक्रमः, खर्गस्थ संक्रमः खर्गसंक्रमः, खर्ग-प्राप्ति-हेतुरिति यावत्। तथाचाश्वभेधिके, -

"चुत्पिपाषात्रमात्तीय देशकालागताय च । षत्कत्यात्रं प्रदातव्यं यज्ञस्य फलमिच्छति"*—इति ॥ तमेवातिथिं विशिनष्टिः,—

दूराध्वापगतं । श्रान्तं वैश्वदेव उपिखतम् । श्वतिथिं तं विजानीयान्वातिथिः पूर्व्वमागतः ॥४१॥

^{*} दूराचीवगतं,—इति घा॰ पुन्तके पाठः। † चाच, चाचिकच्छा,—धित पाठी अवितुं युक्तः।

दूराध्वेपगतं ग्रामान्तरादागतम् । श्रान्तं चुत्-त्रण्णा-परिपीडितम्। श्रतण्य व्यापः,—

"श्रादूरादाश्रमं प्राप्तः" चुन्-विष्णा-श्रम-किष्तः । यः, पूज्यतेऽतिधिः । सम्यगपूर्वकातुरेव । सः''—इति । नातिथिः पूर्वमागत इति, तस्मिन्नेव दिनेऽतिथिनीत्तरेषुरित्यर्थः ।

तथा च मन्:,—

"एकरात्रं हि निवसन्तिधि ब्रीह्मणः स्तरः"—इति । वैश्वदेव उपस्थितम्,—इति दिवसाभिप्रायम् । सायन्तु वैश्वदेव-काले कालान्तरे वा प्राप्ते।ऽतिथिरेव । तथा च मनुः,—

"न्त्रप्रणेखोऽतिधिः सायं स्रर्थेटो ग्टइमेधिनाम् ।

काले प्राप्तस्तकाले वा नाखानश्रन् ग्रंहे वसेत्"-इति ।

सर्थोट इति त्रसंगक्कता सर्थेण देशान्तर-गमनाशक्तिसुत्पाद्य एटइं प्रापित इत्यर्थः । याज्ञवस्क्योऽपि,—

''श्रप्रणेखोऽतिथिः सायमपि वाग्भूतणेदकैः''—इति । प्रचेता भपि,—

''यः षायं वैश्वदेवान्ते षायं वा ग्रहमागतः।

देववत् पूजनीयोऽसौ स्वर्थीटः साऽतिथिः सातः"—इति॥ दूराध्वपद-वावर्त्थमाइ,—

^{*} खितदूरार्गतः श्रान्तः,— इति सु॰ पुक्तको पाठः।

वः पूज्यसातिथः,—हति मु॰ पुस्तके पाठः।

[ं] इन्यमयूपः चतुरेय,—हति सु॰ पुक्तमे पाठः।

नैकयामीणमितिथिं न यत्तीत कदाचन। श्रनित्यमागना यसात्तसादितिथिरुच्यते ॥४२॥

न विद्यते तिथिर्थस्यामावतिथिः। तथा च यमः,-

"तिथिपर्वेतिसवाः सर्वे त्यका येन सहाताना।

बार्रतिथः सर्वभूतानां भेषानभ्यागतान् विदुः"—इति ।

अन्वादि-युगादि-प्रस्तिषु तिथि-विभेषेषु द्रय-लाभमुद्दिश्य येऽभ्यागच्छिन्ति, तेऽभ्यागताः । तादृशं तिथि-विभेषमनपेच्य यदा कदाचित् चुन्तृष्णादि-पीड़या वा समागते।ऽतिथिः । एवध सत्येक-यामीणः प्रतिनियतेषु तिथिविभेषेषु समागच्छतीति " नासावितिथः । यसु यामान्तरादकसादसङ्गेतिता वुभुन्तः सन्नागच्छति, से।ऽनित्य-मागतः, सएवातिथिलेन संग्रह्यते, नेतरः । तथा च विष्णु-पुराणम्,—

"श्रज्ञात-कुल-नामानमन्यतः समुपागतम् ।
पूजयेदितिथिं सम्यक् नैक-ग्राम-निवासिनम् ॥
श्रकिञ्चनमसंबन्धमन्य-देशादुपागतम्"—इति ।
सार्केण्डेथोऽपि,—

'न मित्रमतिधिं कुर्यानैक-ग्राम-निवासिनम् । श्रज्ञात-कुल-नामानं तत्का ले समुपस्थितम् ॥ वृभुत्तमागतं श्रान्तं यात्रमानमिकञ्चनम् ।

सदागच्छतीति,—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

क्षमुपस्थितम्)—इति मु॰ प्रतके राष्ठः।

ब्राह्मणं प्राइरितथि स पूज्यः शकितेविधैः"-इति । सनुरपि,-

"नैकग्रामीणमितिथि विष्रं साङ्गितकं तथा। उपस्थितं गरहे विद्याङ्गार्था यचाग्रयोऽपिवा"—इति। एकग्रामवासी श्रितिथि-धर्मीणागते।ऽप्यतिथिनं भवति। तथा, साङ्गितकः सङ्गतेन चरः; सङ्गतपूर्वीदृष्टपूर्वः,—इति यावत्। नापि,

यत्र काचन देशे त्रातिथि-धर्मेणागताऽतिथिः। किन्तु, यसिन् स्वकीये परकीये वा देशे भार्थाऽग्रयो भवन्ति, तत्रैवेषिस्वते।ऽतिथिर्भवति॥

श्रिति थे: खरूपं निरूष तिसन्नागते सित यन्तर्त्ते यं तदा ह,--

श्रितियं तच सम्प्रामं पूजयेत् खागतादिना । श्रिक्यासन-प्रदानेन पाद-प्रशालनेन च ॥४३॥ श्रिष्ठया चान्नदानेन प्रियप्रश्रोत्तरेण च । गच्छंतच्चानुयानेन प्रीतिसुत्पादयेत् यही ॥४४॥

निगद-व्याख्यातमेतच्क्रोकदयम् । तदेतत् बाह्मण-विषयम्, "यद्ग्राह्मणेभ्योऽत्रं ददाति"—इति, "श्रहरद्यः ब्राह्मणेभ्योऽत्रं ददाति" —इति श्रुति-स्वित्रभ्यामुदाद्यत्तवात् । चित्रयादयस्तु न ब्राह्मण-ग्रहे श्रुतिचि-सत्कारमद्देति, किन्तु भोजनमात्रम्। तथा च मनुः,—

[🟺] संपूज्यः, — इति ग्रा॰ पुस्तके पाठः।

र्गं मच्छतस्वानयानेन, - इति भा व स पुल्तकयाः पाठः।

[‡] खुतिस्हवोषदाइतलात्, - इति ग्रा॰ पुक्तके पाठः।

"ब्राह्मणस्य तनितिय ग्रेहे राजन्य उच्यते।
विग्य-भूद्री स्वा चैत ज्ञातया गुरुरेत च॥
यदि त्वितिथि-धर्मेण चित्रया गुरुरेत च॥
सुक्ततत्सु च विग्रेषु कामं तमि भाजयेत्॥
विग्य-भूद्राविष प्राप्ती कुटुम्बेऽतिथि-धर्मिणी।
भाजयेत् सह स्रत्येसातानृशंखं प्रकल्पयेत्॥
दत्तरानिष स्व्यादीन् सम्प्रीत्या ग्रहमागतान्।
सस्तत्यानं यथाभक्ति भोजयेत् सह भार्ययाद्धं—द्ति॥
श्रासनादि-दाने विभ्रेषमाह सएत,—

"श्रामनात्रमधे श्रव्यामनुबच्चामुपामनम् । उत्तमेषूत्तमं कुर्धाद्वीने हीनं ममे ममम्"—दिति ॥ श्रतिधि-मत्काराकरणे प्रत्यवायमाह,—

> श्रिति वर्षस्य भग्नाशे गृहात् प्रति निवर्त्तते। पितरस्तस्य नाश्रन्ति दश्र वर्षाणि पञ्च च ॥४५॥ काष्ठ-भार-सहस्रेन एत-कुम्भ-श्रतेन च। श्रुतिथिर्यस्य भग्नाशस्तस्य होमा निरर्थकः ॥४६॥

श्रहमस्य ग्रहे भोच्ये,—दत्याशया समागताऽतिथिर्धि भाजन-मप्राप्य तद्ग्रहानिवर्त्तेत, तदा ग्रहिणा क्रियमाणं पैत्वकं निष्पलं स्थात्। तथा, वैदिकाऽपि विहितद्रयादङ्ग-सम्पनोऽपि निष्पलोभवेत्। तथा च मनुः,—

^{*} तथा,- इति शा॰ पुन्तको पाठः।

"शिलेक्की चरते। नित्यं पश्चामीनिप जुक्कतः।
सञ्चे सुकतमादने बाह्मणोऽनर्चिते।वसन्"—इति।
स्नाश्चमेधिकेऽपि,—

"सङ्गोपाङ्गांखया वेदान् पठती इ दिने दिने ।

न चाति यिं पूजयित रथा स परित दिजः ॥

पाक्रयज्ञैर्भदायेज्ञैः से। अधंस्थाभिरेवच ।

ये यजन्ति न चार्चन्ति ग्रहेस्वति यिमागतम् ॥

तेषां यभोऽभिकामानां दन्ति मृष्ट्य यद्भवेत् ।

एया भवति तत्सर्ज्ञभाषया इतया इतम्"—इति ।

प्राच, सक्रतदान्यभिधानं दुष्कृतप्राप्तेरप्युपलचणम्। तथा च विष्णुः,—

"श्रति थिर्यस्य भग्नाभो ग्रहस्थस्य तु गन्कृति ।

तस्मात् सुक्तमादाय दुष्कृतन्तु प्रयक्कति"—इति ।
श्राम्बनेधिकेऽपि,—

"वैश्वदेवान्तिके प्राप्तमतिथि योन पूजयेत्।
स चाण्डास्त्रमाप्त्रोति सद्याप्त न संग्रयः॥
निर्व्वासयिति यो विप्रं देशकासागतं ग्रदात्।
पतितस्त्रत्रस्ति।
स्रितिश्व-सत्कारं प्रभंसितः,—

सुश्चेचे वापयेदीजं सुपाचे निश्चिषदानम्। सुश्चेचे च सुपाचे च ह्युतं तत् न विनश्चिति॥४९॥ यथा सुनेचोत्रवीजं न विनश्चिति किन्तु सदते फलाय कस्पते,

^{*} न जीर्थेति,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

तथा स्पानेऽतिथौ दत्तमनादिकमत्त्रयफलिमत्यर्थः । तदाह मनुः,—

"नैव खर्य तर्श्रीयादितिथि यन्न भोजयेत् ।

धन्यं यशस्यमायुष्यं खार्यं चातिथि-पूजनम्"—इति ॥

श्राश्रमेधिकेऽपि,—

"पादाभ्यङ्गाम्बुदानैस्त याऽतिथि पूजयेत्ररः । पूजितस्तेन राजेन्द्र, भवामीच न संग्रयः"—इति । ग्रातातपाऽपि,—

"खाध्यायेनाग्निहोत्रेण यज्ञेन तपमा तथा। नावाप्नाति ग्रही खोकान् यथा लतिथि-पूजनात्"—इति॥ श्रातिथ्यकर्तुर्गियममाह,—

न एच्छेहोच-चरणे न खाध्यायं श्रुतं तथा। हृदये कल्पयेदेवं † सर्व-देवमया ‡ हि सः॥४८॥ इति।

श्राद्धे ह्यादावेव ब्राह्मणः परिचणीयः, - इति मनुना दर्शितम्, "दूरादेव परीचेत ब्राह्मणं वेद-पारगम्।
तीर्थं तद्धय-कथानां प्रदाने चेऽतिथिः स्वतः" - इति।
स्रमेनापि, -

"पूर्वमेव परीचेत ब्राह्मणान् वेद पार-गान्। भरीर-प्रभवेदीं वैविश्रद्धान् चरित-व्रतान्" - दति।

^{*} दत्तमज्ञादिनं महापालप्रदिमत्यर्थः,— इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[ं] इदयं कल्पयेत्तस्मिन्, - इति सु॰ सू॰ पुक्तके पाठः।

[‡] सर्व्वदेवसमा, -- इति ग्रा॰ पुक्तके पाँठः।

श्रतः श्राद्ध-न्यायेनातिय्येऽपि कर्माण गोचादि-परीचा-प्राप्ती तत् निवार्थते । गोचं वंश-प्रवर्त्तक-मद्दर्ध-स्वतन्धः । चरणमाचारः । श्राखा-विश्वेषः खाध्यायः । श्रुतं व्याकरण-मीमांसादि । एतद्देश-नामा दीनासुपच्चचणम् । श्रतएव यमः,—

"न पृच्छेद्गोच-चर्णे देशं नाम कुलं श्रुतम्। श्रध्वने।ऽप्यागतं वित्रं भोजनार्थसुपस्थितम्"—इति। न केवलंगोच-प्रश्नादि-वर्जनं, किन्तर्हि देवता-बुद्धिरपि कर्त्तया। तद्कां श्रातातपेन,—

"वित्ते विभावयेत्तस्मिन् व्यासः खयसुपागतः"*—इति । विष्णुपुराणेऽपि,—

> "खाध्याय-गोच-चरणमपृष्ट्वा च तथा कुलम्। हिरण्यगर्भ-बुद्धा तं मन्येताभ्यागतं ग्रही"—इति।

देवता-बुद्धि-विषयले हेतः धर्न-देवमयलम्। तच पुराणमारे दर्शितम्,—

"धाता प्रजापितः शकोविक्किवसुगणोयमः ।
प्रविद्यातिथिमेते वै † भुद्धतेऽत्रं दिजात्तम"—इति ।
गोचादि-प्रश्ले फलाभावे। बौधायनेन दिश्तः,—
"देशं नाम कुलं विद्यां सृष्ट्वा योऽत्रं प्रयक्कित ।
न स तत्फलमाप्नोति दला खगं न गक्कित"—इति ।

^{*} व्यासं खयसुपस्थितम् ,—इति सु॰ पुस्तको पाठः ।
† प्रविष्यातिचिमेवैते,—इति सु॰ पुस्तको पाठः ।

यथाऽऽतियाकक्ता गोचादीन् न प्रच्हेत्, तथाऽतिथिरपि न ब्रूयात्। तदाइ मनु:,--

"न भोजनाधें खे विप्रः कुल-गाने निवेदयेत्। भोजनाधें हि ते ग्रंसन् वान्ताग्रीत्युच्यते बुधैः"—इति॥ श्रतिथि-दृष्टान्तेन भिनुकथोर्थति-ब्रह्मचारिणोः पूज्यतामाइ,—

श्रपूर्वः सुव्रती विपा स्वपूर्व्वश्वातिथिस्तथा। वेदाभ्यासरतानित्यं चयः पूज्या दिने दिने ॥४८॥

सुष्ठु वर्त सुवर्त मोचहेतुर्यतिधर्मः, सेाऽस्थासीति सुवती यतिः। वैदाभ्यास-रतेविद्वाचारी, तदर्थलात् तस्थाश्रमस्य। ताबुभौ प्रतिदिग-मपूर्वावितिथिवत् पूज्यावित्यर्थः।तथा च याज्ञवल्काः,—

"सक्तत्य भिचने भिचा दातव्या सुन्नताय च"—इति । नृमिंचपुराणेऽपि",—

"भिचाञ्च भिचवे दद्यादिधिवद्ब्रह्मचारिणे । यन्पुर्ण्यफलमाप्नाति गांदला विधिवद्गुराः॥ तन्पुर्ण्यफलमाप्नाति भिवांदला दिवाग्रही"-दति। यमः,—

"सकत्य भिचने भिचां यः प्रयक्ति माननः। गो-प्रदान-समं पुष्णं तस्माह भगनान् यमः"—इति । ब्रह्मचारिषं खब्तीति नाचयिता तद्भक्ते जबं प्रदाय भिचा-प्रदानं

^{*} मनुर्याप, -- इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[†] वनचारियो, — इति भ्रा॰ स॰ पुस्तकयोः पाठः।

कार्यम्। तदाइ गौतमः,—"खिक्ताचा" भिनादानमपूर्वम्"—इति॥ स्वति-ब्रह्मचारिणौ यदि वैश्वदेवान्ते समागच्छतस्तदाऽस्त्वेवं , यदा तु वैश्वदेवात् पूर्वमागच्छतस्तदा कथिमित्याइ,—

> विश्वदेवे तु संप्राप्ते भिक्षुके यहमागते। उद्दृत्य वैश्वदेवार्थे भिक्षुकन्तुः विसर्ज्येत्॥५०॥

संप्राप्ते प्रसक्ते मननुष्ठिते सतीति यावत्। तथा च नृसिंहपुराणे,—
"ऋकते वैश्वदेवे तु भिचुके ग्रहमागते"—इति ।

भिनुकन्तु विषर्क्षयेत्, यावदेश्वदेवाद्यपयुक्तमन्नं, तावत् पृथक् छलाऽविशिष्टादनाद्भिन्नां दला भिनुकं विषर्क्षभेत्॥ स्रकर्णे प्रत्यवायमान्ह,—

> यतिय ब्रह्मचारी च पकाद-स्वामिनावृभी। तयारचमदत्वा तु भुका चान्द्रायण्डरेत्॥५१॥

चान्द्रायणस्य चचणं वच्छासः प्रायस्चित्त-प्रकरणे?। प्रायस्चित्त-विधानात् प्रत्यवायोऽवन्यते। तथाः पकान्न-स्वासित्वादसादाने प्रत्यवास्वचपपनः। स्रतण्व पुराणेऽपि,—

"श्रष्टलाऽग्नीनसन्तर्घ तपखिनसुपखितम्।

[📍] खब्तीतियाचं, - इति सु॰ पुज्ञके पाठः।

में समामती तदालेवं, - इति सु॰ पुक्त के पाठः।

[🕽] भिच्चां दस्वा, – हति घान् पुक्तके वाठः।

[§] प्रायिक्षक्षम्बर्ये, - द्रित बाक्ति सुदितातिरिक्षपुक्तकेषु।

श्रीवा तु परे लेकि खानि मांग्रानि खाद्येत्"—इति॥
बद्धषु भितुकेषु श्रागतेष्वधक्तेन कि कर्त्त्वभित्याधङ्घाइ, —
द्याच भिष्ठा-चितयं परिव्राङ्ब्रह्मचारिणाम्।
द्रुच्छया च तताद्यादिभवे* सत्यवारितम्।॥५२॥
निगद-व्याख्यातमेतत्। ययाविभवं भिन्ना-दानं कूर्मपुराणे दर्धितम्,—
"भिन्नां वै भिन्नवे द्यान् विधिवद्ब्रह्मचारिणे।
द्यादन्नं ययाधित ह्यर्थिभोलोभवर्ज्ञितः"—इति॥
यति-भिन्ना-प्रदानेः नियममाइ,—

यति-इस्ते जलं दद्याद्वैद्यं द्द्यात् पुनर्ज्ञलम्।
तद्वैद्धं मेरुणा तुल्यं तज्जलं सागरे।पमम्॥ ५३॥
खप्टमेतत्। तद्व भैवं यति विभवे वद्वलं दातव्यम्। तर्द्रतं
बह्यप्राणे,—

"यः पान-पूरणीं भिर्चा यतिभ्यः मंप्रयक्कति । विमुक्तः मर्न्नपापेभ्या नामौ दुर्गतिमाप्त्रयात्"—इति ॥ यथा भिर्मुकस्य ममागतस्यातिय्यमवश्यं कर्त्त्रयं, तद्वदेश्वर्योपेतस्यापि स्वग्रहे समागतस्यातिय्यमभ्युदय-कामिना कर्त्त्रयमित्याह,—

यस्य छचं इयश्रेव कुञ्जरारोइम्हिमत्। ऐन्द्रं स्थानमुपासीत तसात्तन विचारयेत्॥ ५४॥

^{*} तताविदान् विभवे, - इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[ं] श्लोकाऽयं मुदितम्लपुक्तके मास्ति।

[া] भिन्दाप्रदाने,—इति स॰ द्या॰ ग्रा॰ गुन्तकेषु पाठः।

यस्य क्च-ह्यो विद्येते, तस्यातिय्यं कुर्वन् ऐन्द्रं पदमवाप्नुयात्। एतस्यादचनात् पूर्वोत्तर-वचनयोरातिय्य-विषयलात् तत्-प्रकरणान्तः-पातिवेनास्मिन् वचनेऽनुक्तमिष्, त्रातिय्यं कुर्व्विति पद-द्वयं, सन्दंग्य-व्यायेनाच लभ्यते। कुद्धरस्यारोहा यस्मिन्नेन्द्रे पदे, तत्कुद्धरारोहम्। स्टिद्धरस्तपानाप्मरः सेवादिरसिन्नस्तीत्यृद्धिमत्। क्चादिमान् चिन्यादिरतियिर्जातिकुलाचारैर्यद्यपि हीनः, तथापि तत्पूष्णायाः स्वर्ग-प्राप्ति-हेतुलात् तमतिथिं, हीनल-बुद्धा पूष्योऽयं न वा, दित न विचारयेत् न सन्दिद्यात् किन्वीयर-बुद्धा तं पूष्ययेत्।

यद्यपि, भिनुकवन्नायमिसान् जनानि तपस्ती, तथाप्यतीते जन्मन्यनेन तपाऽनुष्ठितम्, श्रन्यघेदृशस्त्रैश्वर्यस्य प्राप्यसंभवात्। श्रतस्व विश्वतिमत देश्वरांश्रलं भगवता दिश्वतम्,—

"यद्विस्तिमत्सलं श्रीमदृर्ज्ञितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ लं मम तेजेऽंग्र-सक्षवम्"—इति ॥ तसादुक्तमेश्रयीपेतस्यातिष्यम् ॥

यदुकां वैश्वदेवात् पूर्व्सपि यति-ब्रह्मचारिभ्यां भिचा दात्रवेति, तचापपत्तिभाइ.—

वैश्वदेव-क्रतं पापं शक्तोभिक्षुर्व्यपाहितुम्। न हि भिक्षु-क्रतान् देषान् वैश्वदेवाव्यपाहित॥५५॥

वैश्वदेवस्य पञ्चात् करणेन प्रथक्ते स्वा दें वाः, स्व भिचा-दानेन निवर्त्तते। भिचा-परिचारेण तु यो देवाः, नासौ पूर्वकतेनाणि वैश्वदेवेन निवर्त्तते। श्रम, भिचुशब्दो विद्यार्थादीनासुपस्तवकः। तथा च तेषां भिचुकनं व्यासेने। सम्, "यितिस ब्रह्मचारी च विद्यार्थी गुरू-पेषकः।
श्रध्यगः चीज-वित्तिस षड़ेते भिचुकाः स्टताः"—इति।
पुराणेऽपि,—

"याधितसार्ध-होनस्य कुटुम्बात् प्रचातस्य च । श्रध्वानं प्रतिपन्नस्य भिचाचर्या विधीयते" - इति । वैश्वदेवकृतसित्युकाः वृद्धिस्यलाद्वेश्वदेवस्थाकर्णे प्रत्यवायमाह, -

श्रक्तता वैश्वदेवन्तु सुञ्जते ये दिजाधमाः। सर्व्ये ते निष्णलाज्ञेयाः पतन्ति नरकेऽभुचै। ॥ ५६॥

निष्फला-यथोक्त-फल रहिताः। न केवलिश्-प्राष्ट्रभावः किन्त्व-निष्ट-प्राप्तिरिप दर्भिताः;—'पतिन्त नरकेऽग्रुचौ'—दिति॥ वैश्वदेव-दृष्टान्तेनातिष्याकरणेऽपि प्रत्यवायमाहः,—

वैश्वदेव-विद्यानाये श्वातिष्येन विद्याल्याः। सर्व्ये ते नरकं यान्ति काकयानिं व्रजन्ति च॥५०॥

नरका रौरवादिः, तमनुभ्रय पञ्चात् काकयोनि व्रजन्ति ॥ प्रतिथित्वेन खुवन्नन्यानि भोजनीयानाइ[†],—

पापा वा यदि चण्डां का विप्रघः पितृघातकः। वैश्वदेवे तु संप्राप्तः सेऽतिथिः स्वर्ग-संक्रमः॥५८॥

वैश्वदेवं कर्त्तव्यिमित्युक्ता,— इति सु॰ पुन्तके पाठः ।

[†] खिति चित्वेन प्राप्तस्य पापिष्ठस्यापि भो जनीयतामा इ, - इति सु॰ पुलने पाठः।

पापे। गोवधाद्यपपातकी । एतेषां भांजनीयलमेव, नतु त्रश्रेषातिष्य-मत्काराईत्वम् । तदेतदेवाभिप्रेत्यात्रमेधिके वर्षितम्,—
"चण्डालीवा त्रपाकावा काले यः कश्चिदागतः ।
त्रज्ञेन पूजनीयश्च परच हितमिक्कता"—इति ।
विष्णुधर्मीक्तरे,—

"चण्डालेवाऽघ वा पापः श्रनुर्व्वा पित्रघातकः। देशकालाभ्युपगतो भरणीयामतामम"-इति। जक्षान् प्रश्नंपति दारीतः,-

"देवानृषीन् पित्वंश्वेव श्वतानि ब्राह्मणांखया । तर्पयन् विधिना वित्रो ब्रह्मश्वयाय कल्पते"—इति । पुराणेऽपि,—

"यत्पलं सेामयागेन प्राप्तोति धनवान् दिआः । सम्यक् पत्तमहायज्ञे देरिद्रस्तदवाप्तुयात्"—इति । श्रकरणे प्रत्यवायमाह व्यासः,—

"पञ्चयज्ञांसु योमोद्यात्र करोति ग्रद्धात्रमी । तस्य नायं न च परोत्नोको भवति धर्मतः"—इति ॥ पञ्चयञ्चाननारं भोजनमभिष्रेत्य तदनुवादेन तत्र वर्जनीयानाद,—

यानेष्टितिश्रिराभुक्के याभुक्के दिख्यामुखः। वाम-पाद-करः स्थित्वा तदै रक्षांसि भुष्टते॥५८॥

^{*} पापावा यदि चखाका, -- इति सु॰ पुक्तके पाठः।

भोजन-विधिश्च मनुना दर्शितः,—

"भुक्तवत्सु व विषेषु खेषु म्टलुषु चैव हि । भुज्जीचातां ततः पञ्चादविषष्टन्तु दम्पती"—इति ।

विष्णुपुराणे,--

"ततः सुवामिनी-दुःखि-गर्भिणी-रुद्ध-वालकान्। भोजयेत् संस्कृतान्नेन प्रथमन्तु परं ग्रही॥ श्रभुक्तवत्सु चैतेषु भुज्जन् भुङ्को सुदुष्कृतम्। स्टतश्च गला नरकं स्मेग्रभुग्जायते नृप"—इति।

मार्कण्डेयपुराणे,—

"पूजियलाऽतिथीलिखान्" ज्ञातीन् वर्स्यूम्लथाऽर्घिनः । विकलान् वाल-बद्धां य भोजबेदातुरां स्ततः॥ वाज्कैत् चुन्तृट्परीतात्मा यचालं रस-संयुतम्"—द्गति ।

भोजनेतिकर्त्तवामाह बोधायनः,—

''उपलिप्ते समे खाने ग्रुचौ स्नृत्ण-समिति। चतुरसं निकाणं वा वर्त्तुलं वाऽर्द्धचन्द्रकम्॥ कर्त्त्रयमानुपूर्व्येण ब्राह्मणादिषु मण्डलम्''-इति।

श्रञ्जीऽपि,—

"श्रादित्यावसवे।रुट्रा ब्रह्मा चैव पितामरः।

^{*} पूजियतातिचीन् विषान्,—इति सु॰ पुक्तने पाठः।

[†] श्चात्तामनान्विते,—इति स॰ ग्रा॰ पुस्तकयाः पाठः। तण, न मका-न्वितं खमनान्वितं, श्चाद्याच तदमनान्वितचेति तत्त्रणा, तिसादि-स्वर्षावेष्यः।

मण्डलान्युपजीवन्ति तस्मात् कुर्व्योत मण्डलम्''—इति । कूर्म्भपुराणेऽपि,—

"उपलिप्ते ग्रुची देशे पादी प्रचान्य वै करी। श्राचम्यार्द्रानने । प्रचार्द्री भोजनञ्चरेत्"—इति । व्याचाऽपि,—

"पञ्चार्द्वाभोजनं कुर्यात् प्राङ्मुखोमोनमास्थितः। इस्तौ पादौ तथैवास्थमेषु पञ्चार्द्रता मता"—इति। श्वाश्वमेधिकेऽपि,—

"त्रार्द्रपादस्त भुज्जीयात् प्राक्तु खश्चायने ग्रुचौ । पादाभ्यां धरणीं स्पृष्टा पादेनेकेन वा पुनः"-इति । तस्त्र भोजनं ग्रुद्धपाने कर्त्त्व्यम् । तदुकं कूर्म्भपुराणे,—

"प्रमन् - ग्राह्म-पानेषु भुज्जीताकुत्विते दिजः" — इति ।
प्रमन्तानि च पाचाणि पैठीनिश्चना दर्भितानि,—
"शौवर्षे राजते ताम्रे यमपनपलाभयोः ।
भोजनेभोजने चैवः चिरान-पलमञ्जते ॥
एकएव तु योभुक्के विमले कांख-भाजने ।
चलारि तस्य वर्द्धन्ते श्रायः प्रज्ञा यभोवलम्"—इति ।

तन, यमपन-पत्तामपन-भोजनं रहि-व्यतिरिक्त-विषयम्,

शुद्धीताकोधनोदिजः,—इति सु॰ पुक्तके पाठः ।

[ं] खीवर्षे राजते पाचे तासे पद्मपनाप्रयाः,—इति सु॰ पुन्तके पाउः।

[‡] भीजनामीजने चैव,—इति स॰ मा॰ पुष्तकयोः पाठः।

हे वद्मयणपनाध्यपनभोगनं,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

"पलाश-यम-पत्रेषु" ग्रही भुक्षेन्दवं चरेत्। ब्रह्मचारि-यतीनाञ्च चान्द्रायण-फलं भवेत्"—इति व्यास-स्मरणात्। कांस्य-पात्रन्तु ग्रहस्यैकविषयं , यत्यादीनान्तु निषेधात् । तदाह प्रचेताः,—

''ताम्बूलाभ्यञ्चनं चैव कांख्याचे च भोजनम्। यतिश्व ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्ज्ञयेत्''—इति। तच पात्रं भ्रमी खापनीयम्। यदुत्रं बूर्क्मपुराणे,— 'प्राद्रीं भोजनं कुर्याद्भूमी पानं निधाय तु। खपवासेन तन्तुत्यं मनुराह प्रजापितः"—इति।

तच खापनं प्राणाइति-पर्यन्तं, पश्चानु यन्त्रिकामारेष्य भोत्रत्यम्। तदाइ व्यासः,—

''न्यस्य पात्रं तु भुज्जीत पञ्च ग्रामान् महामुने।
ग्रेषमुद्धृत्य भोक्तयं श्रूयतामत्र कारणम्॥
विप्रुषां पाद-मंस्पर्भः पाद-चेल-रजस्तया।
सुखेन भुद्धे विप्रो हि पित्रर्थन्तु न लुप्यते''॥
पैत्रक-भोजने स्वमि-पात्र-प्रतिष्ठापनं न लोपनीयमित्यर्थः। उक्तपात्र-निश्वितमन्नं नमस्कुर्यात्। तदुकं ब्रह्मपुराणे,—
'श्रत्नं दृष्ट्वा प्रणम्यादो प्राज्जिलः कथयेत्ततः।

^{*} पनाग्रपद्मपचेषु,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

[ौ] ग्रहस्थविषयं, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

^{🗓 🗨} म, यत्यादीमां तनिषेधात्, — इति पाठः समीचीमः प्रतिभाति ।

[§] न्यसापा न सुञ्जीत,—इति द्या॰ पुरतके पाठः।

श्रम्माकं नित्यमस्त्रेति भत्याऽय वन्द्येत्''॥

वन्दनानन्तर-क्रत्यमार गोभिलः,—"त्रयातः प्राणाइति-कल्पो-बाइतिभिगीयचाऽभिमन्त्र ऋतं ला सत्येन परिविञ्चामीति सार्थं, बतां लर्नेन परिषिधामीति प्रातः,

> त्रन्तञ्चरिष भूतेषु गृहायां विश्वतोसुखः। वं यज्ञस्वं वषद्वकार श्रापाच्यातीरसाऽम्हतम्॥

लं ब्रह्मा लं प्रजापितः ब्रह्मशृक्षेतः खरामस्तोपकारणमसीत्यपः पीला दशहोतारं मनसानुद्गृतीतददन् पच यासान् ग्टझीयात् प्राणाय खाहिति गार्चपत्यमेव तेन् जूहाति। जपानाय खाहित्यन्वा-हार्यपचनमेव तेन जुहाति। वानाय खाहेत्वाहवनीयमेव तेन जुहाति। खदानाय खाहेति षत्यमेव तेन जुहोति। षमानाय खाहेत्यावसण्य-मेव तेन जुहोति"। एते पञ्च मन्त्राः प्रणवाद्याः कर्त्तव्याः। तथाच श्रीनकः,-

"खाद्वाऽन्ताः प्रणवाद्यास्य नाम्ना मन्त्रास्तु वायवः । जिज्ञयैव यथेदनं दशनैस्त न संस्पृशेत्"—इति। जिज्ञा-यसने विशेष श्रायमेधिके दर्शितः, —

"यथा रसं न जानाति जिङ्का प्राणाङ्गतौ नृष । तथा धमाहितः कुर्यात् प्राणाङितमतन्त्रितः"—इति। प्राणाञ्जतिम्बङ्गुः जि-नियममाद ग्रीनकः,—

खघ, दर्भ होतारं, — इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति ।

[†] मनसानुद्धृत्य त्वरम्,—इति ग्रा॰ पुत्तको पाठः । ‡ तेनान्नेन,—इति सु॰ पुत्तको पाठः ।

''तर्ज्जनी-सध्यमा-ऽङ्गुष्ट-लग्ना प्राणाइतिभेवेत्। सध्यमा-ऽनामिका-ऽङ्गुष्टेरपाने जुड्डयात्ततः॥ कनिष्ठा-ऽनामिका-ऽङ्गुष्टे कीने तु जुड्डयाद्धविः"। तर्ज्जनीन्तु विद्यः कला उदाने जुड्डयात्ततः॥ समाने सर्वद्दस्तेन ससुदायाङ्गतिभेवेत्''—इति।

परिषेचनानन्तरभावि-विशेषोभविखपुराणे दर्शितः,—

"भोजनात् किञ्चिदनायं धर्मश्राजाय वै विलम्। दलाऽय चित्रगृप्ताय प्रेतेभ्यश्चेदमुचरेत्॥ यत्र काचन मंत्यानां चुत्तृष्णोपहतात्मनाम्। प्रेतानां त्रप्रयेऽचयमिदमस्य यथामुखम्"—इति।

कूर्मपुराणेऽपि,—

"महाव्या इतिस्वनं परिधा चोदनेन तु। श्रम्हतोपस्तरणममीत्यापोशानिकयां चरेत्"—इति।

बौधायनस्त, सर्वमेतत् संग्रह्माह,—"सर्वावस्वकावसानेषु प्रचा-लित-पाणि-पादोऽप श्राचम्य ग्रुचौ संवते देशे प्राङ्मुख उपरिश्य खद्धृतमाद्वियमाणं भूर्भवः खरेमित्युपस्याय वाचं यच्छेदन्यत् समानं महायाहृतिभिः प्रदिवणमनसुदकं परिषिच्य सर्येन पाणिनाऽविसुञ्च-नम्हतोपस्तरणममीत्यपः पोला पञ्चानेन प्राणाज्ञतानुहोतिः श्रद्धायां प्राणे निविष्टोऽम्हतं नुहोमि भिवामाविभाप्रदाहाय प्राणाय खाहा,

^{*} जुड्डयात्ततः,—इति ्मु० पृक्तको पाठः।

[†] मध्यमानामिका श्रूनीः, — इति सु॰ पुक्तके पाउः।

श्रपाने वान उदाने समाने निविष्ट द्वादिना, यथालिङ्ग सनुषङ्गः। एवं पञ्चान्नेन, तथ्णीं भूयोवर्त्तयेत् प्रजापतिं सनसा ध्यायेत्, श्रयाणुदाहरन्ति,—

त्रामीनः प्राङ्मुखोऽस्रीयात् वाग्यतोऽत्रमकुत्सयन् ।
त्रास्तन्दयंस्तत्मनाश्च अक्षाः त्रं समुपस्पृष्णेत् ॥
सर्वभच्छापूप-कन्द-मूल-फल-मांमानां दन्तैनीवर्जयेत् । नातिस्हितः
श्रम्हतापिधानममीत्युपरिष्टादपः पीलाऽऽचान्तो इदयदेशमभिष्टश्चतिः
प्राणानां ग्रन्थिरसि रुद्रोमाविश्वान्तकस्तेनान्नेनाष्यायस्तेति । पुनराचम्य
दिविणपादाङ्गुष्ठे पाणिं निश्रावयति,—

"श्रङ्गुष्ठमाचः पुरुषो श्रङ्गुष्ठच समाश्रितः।

देश: सर्वेख जगतः प्रभुः पीणाति विश्वभुक्''- इति॥

ज्ञतान्त्रानुमन्त्रणमूर्ज्ञह्सः समाचरेत्, श्रद्धायां प्राणे निविद्या-स्टतः ज्ञतं प्राणमन्त्रेनाप्यायस्त्, श्रद्धायामपाने, श्रद्धायां व्याने, श्रद्धायासुदाने, श्रद्धायां समाने, निविद्योत्यादिर्ययासिङ्गमनुषङ्गः। श्रद्धाणि मन्नात्माऽस्टतलायेत्यात्मानं योजयेत् सर्व-क्रतु-याजिनामा-त्मायाजी विशिद्यते"—दति । विष्णुपुराणे,—

> "श्रश्रीयात् तन्मनाभ्रता पूर्वन्तु मधुरं रसम्। खवणास्त्री तथा मध्ये कटु-तिकादिकांस्ततः॥

अव्यास्तन्धयं स्तन्मनास्त,—इति सु० पुस्तने पाठः ।

[†] श्रद्धायामपाने निविध्यास्तगुं ज्ञतमपानमज्ञेनाप्यायख श्रद्धायां व्याने निविध्यास्तगुं ज्ञतं व्यानमज्ञेनाप्यायख श्रद्धायाम्दाने निविध्यास्तगुं ज्ञतं व्यानमज्ञेनाप्यायख श्रद्धायां समाने निविध्यास्तगुं ज्ञतं समानमज्ञेनाप्यायखेति यथालिश्रमनुषद्भः, -- इति मु॰ पुस्तने पाठः

प्राग्द्रवं पुरुषोऽस्रीयान्मध्ये च कठिनाभनः"। स्रन्ते पुनर्दवाधी तु वनारोग्ये न सुञ्चिति"—इति॥ भोजने कवन-मञ्चामाद्यापसम्बः,—

"श्रष्टौ यासासुनेर्भच्याः घोड़शारण्डवासिनः। दाचिंशन् ग्टहस्यस्य ह्यसितं ब्रह्मचारिणः''—इति। श्राश्वमेधिकेऽपि,—

"वक्र-प्रमाण-पिण्डां यु यु वे दे के कियाः पुनः।
वक्राधिकन्तु यत् पिण्डमात्मी च्छिष्टं तरुच्यते॥
पिण्डाविष्यसम्बद्ध वक्रा-निःस्तमेवच।
श्रभोज्यं तिद्वजानीयात् भुक्ता चान्द्रायणं चरेत्।
यदा चात्यप्रनं नाद्यात् नाति हीनं च कि हिचित्।
यथा अने व्यथा न स्थात् तथा भुद्धीत नित्यष्यः"—इति।
वद्धमन्ः,—

''पीलाऽपाऽमनम्त्रीयात्। पाच-दत्तमगर्हितम्।
भार्या-स्तत-दामेश्य उच्छिष्टं भेषयेत् दिजः'' !—इति।
उच्छिष्ट-भेषणन्तु घृतादि-व्यतिगित्त-विषयम्। तदाह पुलस्यः,—
''भोजनन्तु न निःभेषं कुर्यात् प्राज्ञः कयञ्चन।
म्रन्यच दिधमक्ताज्यं फलं च्यीरं च मध्वपः''—इति।
एतच भोजनं मायं प्रातञ्च कर्तव्यम्। तदुतं मनुना,—

^{*} कठिनाश्चनम् इति मु॰ पुस्तके पाठः।

पीत्वापाद्यानमञ्जीयात्,—इति ग्रा॰ पुक्तके पाठः।

¹ ततः, - इति स॰ ग्रा॰ पुन्तकयोः पाठः।

"ायं प्रातिर्दिजातीनामग्रनं श्रुति-चेदितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादिग्निचेत्र-ममे विधिः"—इति।
गौतमः,—"सायं प्रातस्त्वन्नमभिपूजितमनिन्दन् भुन्नीत" - इति।
खदाद्दत-वचन-समूहेन प्रसिद्धं साङ्ग-भेजनं मूलवचने, "या भुङ्को"—
इत्यनू च विष्टित-भिरस्तादिकं प्रत्यवायाभिधानेन निषेधयति। एतच्च
वर्ष्यान्तराणामणुपलचणम्। तानि च ब्रह्मपुराणे दर्शितानि,—

''यस्त पाणि-तले अङ्को यस्त फुक्तार-संयुतम् ।

प्रस्ताङ्गिलिभिर्ययां तस्य गोमांसवच तत् ।

नाजीर्षे भोजनं कुर्यात् कदन्नानि वृभुचितः! ॥

इस्थ्यरथयानेष्ट्रमास्थिता नैव भचयेत् ।

ग्रामानाभ्यन्तरस्थो वा देवालय-गते।ऽथवा ॥

ग्रयनस्थो न सुद्धीत न पाणिस्थं न चामने ।

नाईवासा नाई ग्रिरा नचायज्ञोपवीतवान् ॥

न प्रसारित-पादस्तु पादारोपित-पाणिमान् ।

स्व-बाज्ज-सय्य-संस्थ्य न च पर्यञ्जमास्थितः ॥

न वेष्टित-ग्रिराखापि नेतसङ्ग-क्रत-भाजनः ।

नैकवस्तोदृषद्मध्ये नेपानत्-क्रत-पादकः ।

न चर्मीपरिसंस्थ्य चर्म-वेष्टित-पार्यवान् ॥

न चर्मीपरिसंस्थय चर्म-वेष्टित-पार्यवान् ॥

^{*} फुल्लारवायुना,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

र्ग यंद्य, - इति भा॰ स॰ पुस्तकयोः पाठः।

[‡] कुर्याद्वातिवुभुच्चितः,—हति सु॰ पुस्तके पाठः।

[§] नेत्सक्रक्तभोजनः,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

श ने।पानत्कः सपादुकः, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

याम-शेषं न चास्तीयात् पीत-शेषं पित्रेन्न च। के शाक-मूल-फलेनूणां दलच्छे दैनं भन्नथेत्॥ बहनां भुझतां मध्ये न चास्तीयात्तराऽन्तितः। वद्या न विस्रजेदनं नेाच्छिष्टं कुत्रचिद्रजेत्*''॥

ब्रहस्पति:,—

"न स्पृणेदामइस्तेन भुद्धाने।ऽत्तं कदाचन। न पादौ न णिरोवस्तिं न पदा भाजनं स्पृणेत्" – इति। उप्रनाः, –

''नादला मिष्ट[†] मस्त्रीयाद्वह्ननां चैव पग्छताम् । नास्त्रीयुर्वेद्दवश्चेव तथाऽनेकस्य पग्छतः''—द्गति । स्रादित्यपुराणे,—

"नोच्छिष्टं ग्राइयेदाच्यं जाधिष्यष्टं चे सन्यजेत्। ग्राहर-सुकाविष्यष्टन्तु नाद्याङ्गाण्ड-स्थितं विषि"—इति। कूर्मपुराणे,—

> "नार्द्धराचे न मधाले नाजीर्णे नार्द्धवस्त्रध्यः । न भिन्न-भाजने चाद्यात् । न भ्रम्यां न च पाणिषु ॥ नोच्छिष्टो घृतमादद्यान्न मूर्द्धानं स्पृथन्नि । न ब्रह्म कीर्त्तियताऽपि न निःश्रेषं न भार्यया ॥

^{*} अत्र, नेरिक्षः कुत्रचिद्वजेत्,—इति पाठेर भवितुं यृताः।

[🕇] म्टर, — इति सु॰ पुन्तको पाठः।

[‡] नेक्चिन्छो,—इति ग्रा॰ पुस्तको पःठः।

[🦠] जम्धियरं न, — इति स॰ ग्रा॰ पुक्तकयोः पाठः।

[∥] चेव, — इति ग्रा॰ पुरतके पाठः।

नान्यागारे न वाऽऽकाश्चे न च देवालयादिषु"-दिति । याज्ञवल्क्योऽपि,—

"न भार्था-दर्भनेऽस्त्रीयात्रैकत्रामा न संस्थितः"- इति । यत्तु,—

> "ब्राह्मणा यह ये। प्रियोगादुन्त्रिं वा कदाचन। न तस्य दे। षिमच्छिन्ति नित्यमेव मनीषिणः। खिच्छिमतरस्त्रीणां ये। प्रश्नीयाद् ब्राह्मणः क्वित्॥ प्रायिश्वत्ती स विद्येयः संकीणां मूहचेतनः"—इति।

न तत्सर्व्या देशाभाव-प्रतिपादन-परं, कदाचनेति वचनात्। श्रतणवादित्यपुराणम्,—

''ब्राह्मका भार्यया सार्ड्ड किचिझुच्चीत चाध्वनि । श्रमवर्ण-स्त्रिया सार्ड्ड सुक्षा पतित तत्चलात्''- इति । बद्धमनुरिप्ं,—

> "न पिनेन्न च भुद्धीत दिजः सयोन पाणिना। नैकह्स्तेन च जलं ग्रुट्रेणाविर्क्तं पिनेत्॥ पिनतो यत् पतेन्तोयं भाजने सुख-निःस्तम्। श्रभोज्यं तद्भवेदन्नं भुक्ता भुद्धीत किल्विषम्॥ पीतावशेषितं तायं ब्राह्मणः पुनरापिनेत्?।

^{*} नागारे च नवाकाधे,—इति भ्रा॰ पुस्तके पाठः।

[†] उधीवर्णीस्त्रया, -- इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[🕽] सनुरपि, इति सु॰ पुस्तके पाठः।

^{\$} छात्र, ब्राह्मणो न पुनः पिवेत्,—इति पाठो भवितुं युक्तः। 'पिवतेर-यत्'—इत्यारभ्य, 'पुनरापिवेत्'—इत्यन्तोयत्थः मुदितातिरिक्तपुक्तकेषु न दृश्यते।

पिवेद्यदि हि तन्मोहात् दिजञ्चान्द्रायणं चरेत्"—दिति । श्रवि:,—

"ते यं पाणि-नख-स्पृष्टं- मनाह्मणे न पिवेत् कचित्। सुरापानेन तत्तु ख्यमित्येवं मनुरववीत्" – इति । भ्रातातपः, —

"उद्घृत्य वाम-इस्तेन यत्तीयं पिवति दिजः। सुरापानेन तत्तुः सनुराह प्रजापतिः"—दति। श्रायभैघिकेऽपि,—

"पानीयानि पिवेदीन तत्पात्रं दिजसत्तमः । श्रनुच्छिष्टं भवेत्तावद्यावद्भूमौ न निचिपेत्"—इति । श्रह्मः,—"नानियुक्तोऽत्यासनस्यः प्रथमसन्त्रीयात्राधिकं दद्यात्र प्रतिग्टह्णीयात्"—इति । श्रातातपोऽपि,—

"श्रयामने।पविष्टस्त योभुद्धे प्रथमं दिजः । बह्ननां प्रथतां प्राज्ञः पङ्त्या हरति कि व्विषम्"—इति । गोभिनः,—

> "एक पङ्ग्रापविष्ठानां विष्राणां यह भोजने। यदोकाऽपि त्यजेत् पात्रं नाष्ट्रीयुरितरे पुनः ॥ की हात्तु भुङ्ग्ने यस्तत्र म मान्तपनमाचरेत्। भुज्जानेषु तु विष्रेषु यस्तु पात्रं परित्यजेत्॥ भोजने विष्न-कर्त्ताऽमौ ब्रह्महाऽपि तथोच्यते"—इति।

^{*} पाणिनखाग्रेग,—इति भा॰ पुन्तके पाठः।

[ं] ष्यनु,—इति भा० पुन्तके पाठः।

वाग्यमनं प्रक्रम्य पुराणे,—

"स्वास्यता वर्णः शक्तं जुइताऽियः श्रियं हरेत्। भुद्धता स्त्युरायुव्यं तस्मान्तीनं चिषु स्मृतस्"—इति। यत्तिचिणाकम्,—

"भीनव्रतं भद्दाकष्टं इँकारेणापि नश्वति । तथा सति मद्दान् देखः तसान्तु नियतश्वरेत्"—दिति । तदेतत् काष्ठ-मौनाभिप्रायेण। एतच पञ्चाग्यासादर्वाग्विषयम्। तथा च दृद्धमनुः,—

"श्रिनिन्दन् अचये नित्यं वाग्यते । प्रच यासान्महामौनं प्राणाद्याप्यायनं सहत्"—इति । श्राश्रिकेऽपि,—

"मौनी वाऽष्यवाऽमौनी प्रच्छः संयतेन्द्रियः । भुच्चीत विधिवदिप्रा न चाच्छिष्टानि चर्वयेत्*''—इति । भ्रातातपाऽपि,—

"इस्त-दत्तानि चान्नानि प्रत्यच-खवणन्तथा। व्हित्तिका-अचणञ्चैव गोमांषाश्रनवत् स्हतम्"—इति । पैठीनसि:.—

> "लवणं यञ्चनं चैव घृतं तैलं तथैव च। लेह्यं पेयञ्च विविधं हस्त-दत्तं न अवयेत्॥ दर्व्या देयं घृतात्रन्तु समस्त-यञ्चनानि च। खदकं यच पकान्तं योदकी दातुमिक्कति।

^{*} ने च्छिष्टानि न चालयेत्, — इति सु॰ पुस्तने पाठः।

ष भूणहा सुरापञ्च स्तेयी च गुरुत ल्यगः"—इति । अके,—

"उदकामपि चण्डालं यानं कुक्रुटमेवच। भुज्जाने। यदि पर्येनु तदननु परित्यजेत्॥ केश-कीटावपद्य में सुख-मारूत-वीजितम्। श्रुन्नं तद्राचमं विद्यानसात्तत् परिवर्ज्ञयेत्"—इति।

"चण्डालपिति दिक्या-वाक्यं श्रुता दिकात्तमः। मुद्धीत ग्रासमाचन्तु दिनसेकसभोजनस्"—इति। पि,—

नः,—

"काइलाभामणग्राव्णस्रकस्थे लूखलस्य च । एतेषां निनदं यावचावत्कालमभाजनम्"—दति । ।रपि,—

"श्रष्येकपङ्त्या नाश्चीयाद्वाह्यणैः खननैरिप ।

को चि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं भवेत् ॥

एकपङ्त्युपविष्टानां दुष्कृतं यद्दुरात्मनाम् ।

सर्वेषां तत्समं तावद्यावत् पङ्किनं भिद्यते''— इति ।

भेद-प्रकारमपि सएवा ह,—

"श्रियाना भसाना चैव स्तसीन सिललेन च। दारेण-चैव मार्गेण पङ्गिभेदो बुधैः स्टतः"—इति।

स्तेना,—इति स॰ ग्रा॰ पुस्तकयाः पाठः । ग्रकोटेावपन्नञ्च,—इति सु॰ पुस्तको पाठः ।

यमाऽपि,—

"उदक्च हणं भस्म दारं पत्यास्त्रधैवच । एभिरन्तरितं कला पङ्गिदीषो न विद्यते"—इति।

तदेवं मूलवचने का नेष्टित शिरस्वादि - वर्ज्ञने पलचिता वि विशेषा दर्शिताः । दत्तिणासुखल-निषेधा नित्य-भे । जन-विषयः । तदिधानात् । तथाच मनुः .—

"त्रायुखं प्राङ्मखा भुङ्गे यशस्यं दित्तणासुखः।

श्रियं प्रत्यञ्जुखा भुक्के च्रतं भुक्के चरङ्मुखः"-इति । गोभिलाऽपि दिचणासुखलं निषेधयति,—

"प्राज्जुखावस्थिता विप्रो प्रतीचां वा यथासुखम्।

उत्तरं पित्वकार्थे तु द्विणान्तु विवर्क्तयेत्"''-इति 'वाम-पाद-करः' वामपादे करोयखामी वामपादकरः

वामपादकरो अङ्को, यश्च स्थिता अङ्को, तैः सर्वेर्ध हुतं तद्र चांसि स् न स्वयं प्राणाग्निहाचादि-फलं प्राप्नातीत्यर्थः। अतस्य राचम-स् कूर्मपुराणेऽपि दर्शितम्,—

"योभुक्के वेष्टिनिशरा यश्च भुक्के विदिक्ष्युखः।

सेापानत्कश्च यो भुक्के मर्चे विद्यात्तदासुरम्''—इति

श्रभिप्रेतस्य भोजन-विधेरूदीचाङ्गानि उच्छिष्टोदक-दानाव

कर्त्त्रवानि । तत्र देवलः,—

^{*} विसर्जयेत्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] उत्तु,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[!] उच्छिछोदकदानादीनि,—इति नास्ति स॰ सो॰ ग्रा॰ पुस्तके

"भुक्तोच्छिष्टं ममादाय मर्जसात् किञ्चिदाचमन् । उच्छिष्टभागधेयेभ्यः मोदकं निर्व्यमहित"—इति । तत्र, मन्त्रः,—

"रौरवेऽपृष्य-निलये पद्मार्वुद-निवासिनास्।
प्राणिनां सर्वेश्वतानासचय्यसुपितष्ठतास्""—दिति ।
गद्ययासेऽपि,—"ततस्तुप्तः सन्तस्तापिधानसमीत्यपः पीला
तस्माद्यान्मनागपस्त्य विधिवदाचासेत्"—दिति । स चाचमनप्रकारो
देवलेन दर्भितः,—

''शुक्ताऽऽचामेद्यथोकेन विधानेन समाहितः। शोधयेन्मुख-इस्तौ च स्ट्रह्मिर्घर्षणैरिप''—इति। तच घर्षणं तर्ज्ञन्या न कर्त्त्र्यम्। तदाच गौतमः,— ''गण्डूषस्थाय समये तर्ज्ञन्या वक्तशोधनम्। कुर्व्वीत यदि मूहात्मा रौरवे नरके पतेत्[†]''—इति। खासः,—

"हस्तं प्रचात्य गण्डूषं यः पिनेद्रिवचित्रणः।

स देवां य पिदं येव ह्यात्मान येव पातयेत्"—इति ।

"तस्मिन् नाचमनं कुर्यात् यत्र भाण्डेऽय भुक्तवान्।

यद्युत्तिष्ठत्यनाचान्तो भुक्तवाना सनात्ततः॥

स्नानं सद्यः प्रकुर्विति से। ऽन्यया ऽप्रयते। भवेत्"—इति।

^{*} प्राणिनां सर्वभूतानां स्थाचय्यसुपतिष्ठतु,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

रे रौरवं नरकं वजेत्,—इति सुः पुस्तके पाठः।

^{‡ &#}x27;इति' ग्रब्दोऽत्राधिकः प्रतिभाति ।

कूर्मपुराणेऽपि,—

"श्रम्तापिधानमधीत्यपः पिवेत् " " ।
श्राचान्तः पुनराचमेदायं गौरिति मन्त्रतः ।
द्रुपदां वा चिरावन्य धर्च-पाप-प्रणाधिनीम् ।
प्राणानां ग्रन्थिरधीत्यालभेत् द्रदयं ततः ॥
श्राचम्याङ्ग्रष्टमानीय पादाङ्गुष्ठे तु द्चिणे ।
निश्रावयेद्धस्त-जलमूर्ड्ड-इस्तः समाहितः ॥
इतानुमन्त्रणं कुर्यात् श्रद्धायामिति मन्त्रतः ।
श्रप्टाचरेण ह्यात्मानं योजयेद्वह्मणीति हि ।
सर्वेषामेवमङ्गानामात्म-यागः परः स्तृतः ॥
योऽनेन विधिना कुर्यात् स्र याति ब्रह्मणः पद्म्'-इति ।

श्रवि:,-

"श्राचान्तोऽष्यगु चिस्तावद्यावत् पात्रमनुद्धृतम्। उद्धृतेऽष्यगु चिस्तावद्यावन्नो लिष्यते मही। श्रमाविप हि लिप्तायां तावत् स्यादगु चिः पुमान्॥ श्रामनादु त्थितस्तसाद्यावन्न स्पृत्रते महीम्"—इति।

श्चातातपाऽपि,—

"श्राचम्य पात्रसुत्मृत्य किङ्गिदाईण पाणिना। सुख्यान् प्राणान् ममालभ्य नाभिं पाणि-तलेन च॥ सुक्षा नैव प्रतिष्ठेत न चाषाईण पाणिना। पाणिं मूर्ड्मि समाधाय स्पृष्टा चाग्निं समाहितः॥

^{*} नोन्मुच्यते, - इति ग्रा॰ पुल्तके पाठः।

ज्ञातिस्रेष्ठ्यं समाप्ताति प्रयोग-कुश्वलोनरः"—इति । विष्णुपुराणेऽपि,—

"ख्रम्थः प्रशान-चित्तस्तु क्रतासन-परिग्रहः।

१. भीष्ट-देवनानाञ्च कुर्व्वीत स्मरणं नरः॥

१. श्रीष्ट-देवनानाञ्च कुर्व्वीत स्मरणं नरः॥

१. श्रीष्टराष्ट्रचेद्वानुं पार्थिवं पवनेरितः।

दत्तावकाशो नभसा जरयेदस्तु से सुख्रम्।

श्रव्यं वलाय से स्रमेरपामग्यनिलस्य च॥

भवन्तेतत् परिणतं समास्त्वयाहतं सुख्रम्।

प्राणापानसमानानासुदानयानयोस्तया॥

श्रव्यं पृष्टिकरञ्चास्तु समास्त्वयाहतं सुख्रम्।

श्रगस्तिरग्निरंडवानलश्च

भुक्तं मयाऽत्रं जरयलग्रेषम्।

सुखं ममैतत् परिणाम-सभावं

यक्कतरेगं मम चाम्तु देहे॥
विष्णुः समस्तेन्द्रिय-देइ-देही

प्रधानस्रते। भगवान् ययैकः।
सत्येन तेनान्तमग्रेषमन्तम्
श्रारोग्यदं स्थात् परिणामसेतु।
विष्णुर्यया तयैवानं परिणामश्च वै तथा!।

परिकाती,—इति भ्रा० पुस्तके पाठः।

[†] सुखद्य मे तत्,-इति स॰ प्रा॰ पुस्तकयोः पाठः।

[🌣] विष्णुरात्मा तथैवाज्ञं परिगामस्तथैवच,--इति मु॰ पुस्तके पाठः।

सत्येन तेन से सुक्तं जीर्यावन्ति सदन्ते था।

इत्युचार्य ख-इस्तेन परिम्डज्य तथोदरम्॥

प्रनायास-प्रदायीनि कुर्यात् कर्माण्डतन्द्रतः"—इति।

सार्कण्डियोऽपि,—

"अयोऽप्याचम्य कर्त्तयं ततस्ताम्बूल-भचणम्"—इति । तत्र विश्वष्टः,—

> "सुपूगं च सुपर्णञ्च सुचूर्णेन समन्तितम् । श्रदला दिज देवेभ्यः ताम्वूलं वर्ज्जयेदुधः। एक-पूगं सुखारेग्गयं दिपूगं निष्मलम्भवेत्॥ श्रातश्रेष्ठं चि-पूगञ्च ह्यधिकं नेव दुष्यति। पर्ष-मूले भवेद्याधिः पर्णाग्गे पाप-सभवः॥ चूर्ष-पर्षं हरेदायुः श्रिरा बुद्धि-विनाशिनी। तस्मादगञ्च मूलञ्च श्रिराञ्चेव१ विश्रेषतः॥ जीर्ष-पर्णं॥ वर्ज्ञयिला ताम्बूलं खादयेदुधः'।

यदिदं भे।जनं निरूपितं, तद्गृहण-काले प्रतिषिद्धम्। तदाह मनुः,—
"चन्द्र-सुर्थ-ग्रहे नाद्यादद्यात् स्नावा विसुक्तयोः।

श्रमुक्तयोरस्त-गयोर्दृष्ट्वा स्नाला परेऽइनि''- द्ति।

मद्भातं,—इति मु॰ पुक्तको पाठः।

[†] ससंयुतम्, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] इरस्यायुः,— इति मु॰ पुस्तको पाठः।

[🖇] क्रिरस्वेव, — इति स॰ ग्रा॰ पुन्तकयाः पाठः।

[॥] चूर्यापर्याः,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

श र्घटष्टा, — इति सु॰ पुस्तको पाठः।

यहे यहण-काले, स्पर्धमारभ्य मोचण-पर्यन्ता यह-कालः।
तिस्मन् काले न अञ्चीत, किन्तु राज्ञणा चन्द्र-स्वर्थयोः सुक्तयोः
सताः पञ्चात् स्नाला सुञ्चीत। यदा तु ग्रस्तासमयस्तदा परेद्युः
विस्कते तो दृष्ट्वा अञ्चीत। न केवलं ग्रहण-काले भाजनाभावः, किन्तु
ग्रहणात् प्रागपि। तदाह व्यासः,—

"नाद्यात् सर्य-ग्रहात् पूर्वमिस सायं ग्राग्न-ग्रहात्।
यह-काले च नाक्षीयात् स्नालाऽश्रीयाच मुक्तयोः॥
सुक्ते ग्रिगिन भुझीत यदि न स्थान्प्रदानिग्रा।
श्रमुक्तयोरस्वगयोरय दृष्ट्या परेऽहिन"—इति।
पूर्व-काले भोजन-निषेधे विशेषमाह दृद्धविष्ठः,—
"ग्रहणन्तु भवेदिन्दोः प्रथमादिध यामतः।
भुझीतावर्त्तनात् पूर्वे पश्चिमे प्रहरादधः॥
रवेस्त्वावर्त्तनादूर्द्धमर्व्वागेव निग्नीयतः।
चतुर्थे प्रहरे चेत् स्थात् चतुर्थ-प्रहरादधः"—इति।

राचो प्रथमात् यामादिध ऊर्डं यहणं चेत्, त्रावर्त्तनानाधाहात् पूर्वे भुद्धीत; राचि-पश्चिम-यामे चेत्, राचि-प्रथम-यामादर्व्वाक् भुद्धीत; त्राह्मयतुर्ध-प्रहरे रवि-यहस्रेत्, राचेः चतुर्थ-प्रहरादधी भुद्धीतेखर्धः। निष्णीया मध्यराचिः। मध्याह्मादुर्द्धं रवि-यहणं चेत्, मध्य-राचादर्व्वागेव भुद्धीतेखर्थः। प्रणि-यहणे याम-चयेण व्यवधान-मपेचितं, सूर्य-यहे तु याम-चतुष्टयेनेति तात्पर्यार्थः। तथाच दृद्धं गीतमः,—

"स्टर्य-गरे तु नास्त्रीयात् पूर्वे याम-चतुष्टयम्।

चन्द्र-ग्रहे तु यामांस्त्रीन् वाल-रुद्धातुरैर्विना"-इति । वालरुद्धातुर-विषये मत्यपुराणे,—

"श्रपराह्णे न मधाह्णे मधाह्णे चेत्र मङ्गवे।
सङ्गवे ग्रहणं चेत्यात्र पूर्वे भाजनञ्चरेत्" - इति।
समर्थस्य तु भाजने प्रायस्थित्तमुतं कात्यायनेन म, -"चन्द्र-सर्थ-ग्रहे भुक्ता प्राजापत्येन ग्रुद्धाति।

तिसान्नेव दिने भुक्ता चिराचेणैव ग्रुड्यित"—दिति। श्राधा-यहणे याम-चयस्थापंवादमाह तृद्धविष्ठाहः,—

"ग्रस्तेदये विधोः पूर्वे नाहर्भे जनमाचरेत्'-इति। ग्रसास्त्रमये विशेषमाह स्याः,-

"ग्रस्तावेवास्तमानन्तु रवीन्दू प्राष्ट्रते। यदि । तयोः परेद्युह्रदये स्नालाऽभ्यवहरेत्ररः"—दति । वृद्धगार्ग्योऽपि,—

"सन्धा-काले यदा राज्यंभते ग्राग्न-भारकारो । तदहर्नेव भुज्जीत राचाविष कदाचन"—इति । विष्णुधर्मीनरेऽपि,—

"श्राहोरानं न भोकवं चन्द्र-सर्थ्य-ग्रहोयदा। सुक्तिं दृष्ट्वा तु भोकवां स्नानं छला ततः परम्'—इति। ननु, भेघाद्यनाद्धीने चातुषं दर्भनं न सक्षात्रति इति चेत् †, दर्भन-शब्देन शास्त्र-विज्ञानस्य विवचितलात्। तदाह बद्धगौतमः,—

^{*} याच्चवल्क्येन,—इति सु॰ पुस्तके पाठः। † खाच,— इति चेन्न,— इति पाठे। भवितुं युक्तः।

"चन्द्र-सूर्य-ग्रहे नाद्यात् तिसान्नहिन पूर्वतः ।
राहे विसुति विज्ञाय साला कुर्वीत भोजनस्"—इति ।
एवं तर्हि, परेद्युर्द्यात् प्रागिपि शास्त्र-विज्ञान-सभावाद् ग्रस्तास्तमयेऽपि तर्येव भोजनं प्रसन्येत । तन्न,

"तयोः एरे युह्रये खाला अथवहरेन्नरः"।
श्विहाराचं न भोत्तयम् * * * * * * - द्रित
वचन-द्रयेन * तदप्रमतेः । यन्तु ख्वन्दपुराणे,—

"यदा चन्द्र-ग्रहस्तात, निश्चीषात् परते।भवेत् ।
भोत्तयं तात्, पूर्वाह्णे नापराह्णे कथञ्चन ॥
पूर्वें निश्चीयात् ग्रहणं यदा चन्द्रस्त वे भवेत् ।
तदा दिवा न कर्न्तयं भोजनं शिखि-वाहन"—दिति ।
तदिदं याम-चयाभिप्रायकं, "चन्द्र-ग्रहे तु यामांस्त्रीन्"—दिति
विश्वेषस्य यद्वगौतमेनाभिधानात् । पाप-चय-कामोग्रहण-दिनसुप-

"श्रयने विषुवे चैव चन्द्र-सूर्य्य-ग्रहे तथा । श्रहेराचे षितः स्नाला सर्व्यपापैः प्रसुच्यते"—द्गति । पुची तु ने प्रविसेत्। तदाइ नारदः,—

वमेत्। तदाइ दत्तः,—

''संक्रान्यासुपवासञ्च कर्णोकादिश-वासरे। चन्द्र-सूर्य-ग्रेड चैव न कुर्यात् पुत्रवान् ग्रही''—दित। ग्रसास्त्रमये तु पुत्रिणे।ऽणुपवासएव, ''श्रहोरात्रं न भे।क्रयम्''—

^{*} तज्ञ, तयाः परेद्युरुदयेभ्यव हरेदहाराचं न भोक्तायमिति वचनद्वयेन, —हति स॰ शार पुस्तकयाः पाठः।

—इति भोजन-प्रतिषेधात्। कचित्तु यहण-विशेषे सामादिकं न कर्त्तवम्। तद्कं षट्त्रिंशन्सते,—

"सूर्य-ग्रहा यदा राघो दिवा चन्द्र-ग्रह्मथा।
तच स्नानं न कुर्वीत दद्याद्दानं न च कचित्"—इति।
एतच स्र-भाग-विशेष-व्यवस्थितानां ग्रास-मेचि-दर्शन-वेग्ग्यलाभावे द्रष्ट्यम्।

॥०॥ इति भोजन-प्रकर्णम्॥०॥

दृत्यं निक्षितिन भाजनान्तेन कर्त्त्यजातेनाहः पञ्चम-भाग-मतिवादयेत्। एतेन भाग-पञ्चक-क्रत्याभिधानेनाविश्रष्ट-दिवस-कर्त्त्यजातमुपलन्तणीयम्। तच कर्त्त्यजातं दन्तेण दिश्तम्,—

"भुक्ता तु सुखमास्थाय तद्यं परिणामयेत् । दितिष्ठाम-पुराणाद्यैः षष्ठ-सप्तमकौ नस्वेत् । श्रष्टमे स्नोक-याचा तु विद्यान्ततः पुनः"—इितः। श्रिवः,—

"दिवा खापं न कुर्व्वीत स्त्रियश्चैव परित्यजेत्। श्रायुःचीणा दिवा निद्रा दिवा स्त्री पुष्य-नाश्चिनी। इतिहास-पुराणानि धर्म-श्रास्त्राणि चाभ्यसेत्॥ ख्या विवाद-वाक्यानि परिवादश्च वर्क्वयेत्"—इति। विष्णुपुराणेऽपि,—

"श्रनाथास-प्रदायीनि कुर्यात् कर्षाण्यतन्द्रितः।

^{*} परिकामयन्, — इति मु॰ पुक्तके पाठः।

षच्हास्तः दि-विनादेन मन्त्रागादिवरे। धिना *॥ दिनं नयेत्ततः षन्ध्यासुपतिष्ठेत् पसाहितः"—इति । याज्ञवक्कोऽपि,—

"श्रह:-श्रेषं समाधीत शिष्टैरिष्टै य बन्धुभिः।
जपास्य पश्चिमां सन्ध्यां ज्ञताऽश्लीस्तानुपास्य च।
स्रत्येः परिदृते। भुक्ता नातितृशेऽध्य संविधित्"—इति॥
जपास्य चेति चकारेण वैश्वदेवादिकं ससुचिनाति। साधंसन्ध्याहोमौ निरूपितौ। वैश्वदेवादौ कश्चिदिशेषो विष्णुपुराणे दर्शितः,—

"पुनः पाकसुपादाय सायमण्यनीपते। वैश्वदेव-निमित्तं वै पत्या साईं विलं हरेत्॥ तत्रापि श्वपचादिभ्य तथैवान्नं विसर्ज्ञयेत् । श्रितिष्यं चागतं तत्र खणत्या पूज्यदेद्धः॥ दिवाऽतिथौ तु विसुखे गते यत्पातकं नृप। तदेवाष्ट्रगणं पुंसां खर्थाटे विसुखे गते॥ तस्मात् ख-णत्या राजेन्द्र, सर्थाटमतिष्यं नरः। पूज्येत्, पूजिते तस्मिन् पूजिताः सर्व्य-देवताः! कृत-पादादिशोचश्च भुक्ता सायं तता ग्रही॥ गच्छेच्छयामस्पुटितां! ततादाहमयीं नृप"—दिता।

॥ ॰ ॥ इत्यद्वः ग्रेषादि-कत्यम् ॥ ० ॥

^{*} नासच्छास्त्रविनादेन सन्मार्गार्थविरेाधिनाः — इति मु॰ पुस्तको पाठः।

[🕇] तर्थवात्रविसर्ज्ञनं,—इति ग्रा॰ पुक्तके पाठः।

[‡] गच्छेच्छयामनुदितां,—इति मु॰ प्रकाले पाठः।

श्यन-प्रकारमाइ * हारीतः,—''सुप्रचाजित-चरण-तले। रखां क्षणा उदक्व-पूर्ण-घटादि-मङ्गल्योपेतश्रात्माभिर्वितामनुपदतां स्व-चामां पटन् । श्रय्यामधिष्ठाय राचिस्त्रकं जित्वा विष्णुं नमस्त्रत्य 'सपीपसपं भद्रन्ते',—इति स्रोकं जित्वा दष्ट-देवता-स्नर्णं क्रवा समाधिमास्यायान्यांश्चेव वैदिकान् मन्त्रान् साविचीच जित्वा मङ्गल्यं श्रुतं शङ्काञ्च ग्र्युलन् दिच्णाशिराः खपेत्''—इति। दिच्णाशिराः,— इति प्रदर्शनार्थम्। तथाच विष्णुप्राणम्,—

"प्राच्यां दिशि शिरः श्रस्तं यास्यायामयता नृप।
सदैव स्वपतः पुंसेविपरीतन्तु रेग्गदम्"-इति।
गार्ग्योऽपि,--

''खगे हे प्राक्षिराः भेते श्वाप्त्रर्थे दिवणाभिराः।
प्रत्यक्भिराः प्रवासे च न कदाचिदुदक्भिराः''—इति ।
पुराणेऽपि ‡,—

"रातिस्रुत्तं जपेत् स्रता सर्वाञ्च सुखग्नाचितः। नमस्कृताऽययं विष्णुं समाधिस्यः खपेत्रिग्नि'—इति। सुखग्नायिनाऽपि गालवेन १ दर्जिताः,—

''श्रगस्तिर्भाधवश्चैव सुचुकुन्दो ॥ सहासुनिः।

^{*} खथात्वः ग्रेषादिक्तयं। तत्र ग्रयनप्रकारमात्त्र,—इति स॰ ग्रा॰ पुत्त-क्योः पाठः।

[ं] सून्वा प्रावानिति पठन्,--इति शा॰ पुन्तको पाठः।

[‡] विष्णुपुरागोऽपि, — इति यु॰ पुक्तको पाठः।

[🖇] ग्रोभिनेन,—ह्ति मु॰ पुस्तके पाठः।

[॥] चारत्योमाधवस्वेव मृचितुन्दो, - इति सु॰ पुस्तके पाठः।

कपिलो सुनिरास्तीकः * पचैते सुखशायिनः"-इति । श्रयने वर्ज्जनीयानाच मार्कण्डेयः,-

"प्रस्वालये समाने च एक टके चतुव्यये।

महादेव-ग्रहे वाऽिष माट-वेस्मिन न खपेत्॥

न यच-नागायतने स्कन्दस्थायतने तथा।

कूल-च्छायासु च तथा मर्करा-लोष्ट-पांग्रुषु॥

न खपेच तथा गर्के विना दीकां कथचन।

धान्य-गो-विप्र-देवानां गुरुणाञ्च तथोपिर॥

न चापि भग्नम्यने नाग्रुचौ नाग्रुचिः खयम्।

नार्द्रवासा न नम्रस्य विनारी-स्थित-मस्तकः॥

नाकाभे सर्वमून्ये च न च चैत्यद्रुमे तथा"—इति।

विष्णुरिष,—"नार्द्रवासाः खपेन्न-पलाध-धयने न पञ्च-दाह्र-क्षते न-भग्न-धयने न विद्युद्रमधे नाग्निष्ठ्ये न बालमध्ये न चारिमध्ये न धान्ये न गृह्-इताधन-सुराणासुपरि १ ने। च्छिष्टे न दिवि"—इति । विष्णुपुराणेऽपि,—

"नाविशाला न वै भग्नां नासमां मिलनां न च। न च जन्तुमयीं ग्रय्यामिधितिष्टेदनास्तृताम्"—इति ॥ खग्ननाः,—"न तैलाभ्यक-ग्रिराः खपेनादीचितः कृष्णचर्माणि"—इति।

^{*} मुनिरास्तिकाः,—इति मु॰ पुस्तने पाठः।

[†] तटाकान्ते—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] नार्जवासाननखेव, — इति ग्रा॰ पुस्तके पाठः।

५ न गो-ज्ञताश्चन-गुरूवासुपरि,—इति सु॰ पुस्तको पाठः।

दत्त:,-

"प्रदोष-पश्चिमौ यामौ वेदाभ्याम-रतानयेत्। यामदयं प्रयानस्तु ब्रह्मभूयाय कन्पते"—इति । 'सन्ध्यास्तानम्'—इत्यारभ्य, 'योवेष्टितिष्यराः'—इत्यन्तेन यन्य-मन्दर्भेण श्रुत्युपलचणाभ्यामाज्ञिकं मंचिष्य निकृपितम्। एतस्य करणे श्रेयः श्रकरणे तु प्रत्यवायः। तदुकं कूर्कपुराणे,—

"इत्यं तद्खिलं प्रोक्तमहन्यहिन वै मया।

ब्राह्मणानां कत्यजातमपवर्ग-फल-प्रदम्॥

नास्तिकादथवाऽऽल्खाद्ब्राह्मणो न करेति थः।

स याति नरकान् घोरान् काकयोनौ प्रजायते॥

नान्योविसुक्तये पन्या सुक्काऽऽप्रम-विधि खकम्।

तस्मात् कर्माणि कुर्वीत तुष्टये परमेष्टिनः"—इति॥

दृत्यच, 'खकर्माभिरतः'—दृत्यनेन ब्राह्मणस्य साधारणधर्मा-निरूष का तवाध्यनादि-साधारण-धर्मा-प्रसङ्गागतमाह्निकं परिसमा-स्पेदानीं प्रकृतानेव क्रम-प्राप्तानभिषिकस्य चिषयस्य साधारणधर्मा-नाइ,—

श्रवता द्यानधीयानाः यच भैश्यचरा दिजाः। तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चौर-भक्त-प्रदेश हि सः॥६०॥ स्रचिया हि प्रजारसन्। श्रस्तपाणिः प्रदण्डवान्। निर्जित्य पर-सैन्यानि स्थिति धर्मोण पालयेत्॥६१॥

साधारखधर्मी। निरूपितः, — इति सु॰ पुत्तके पाठः ।
 रञ्जन्, — इति सु॰ पुत्तके पाठः ।

पुष्पमाचं विचिन्यान्मूलच्छेदं न कारयेत्। मालाकार इवरामे न यथाऽङ्गार-कारकः॥ई२॥इति॥

दिविधो हि राजधर्मः, दुष्ट-श्रिचा श्रिष्ट-परिपालनञ्च। तनारीन स्रोकेन दुष्ट-श्रिचा प्रतिपाद्यते। वत्रश्चेताच ब्रह्मचारि-कर्द्यं मध्यादि-वर्जनमभिप्रेतम्। तथा च बाज्ञवल्काः, "व्रतमपीडयन्"— दृत्युक्षा विविचितं तद्वतं स्पष्टीचकार,—

"मधु-मांसाञ्जनोच्छिष्ठ-ग्रुत-स्ती-प्राणिहिंसनम्। भास्तरालेकनासील-परिवादांश्च वर्जयेत्"—इति।

यदा, ख-ग्रह्म-प्रसिद्धानि प्राजापत्यादीनि चलार्यच व्रतमञ्दाभिधेयानि । तदुभयविध-व्रत-रहिताः खाध्यायमण्यनधीयाना ब्रह्मचारिणो यच प्रामे भैत्यमाचरित्त, तं ग्रामं देख्येत् । यतः, म ग्रामचौर-महुभेग्यो भक्तमन्तं प्रयच्छिति । श्रानेन वचनेन विहितम-ननुतिष्ठतां प्रतिषद्धमनुतिष्ठतां मर्वेषां राज्ञा देख्नीयवसुप-खद्यते । श्रतण्व नारदः,—

''रो यो वर्णाऽवहीयेत यशोद्रेकमनुवजेत्। तं तं दृष्ट्वा खतामार्गात् प्रचुतं खापयेत्पथि''—इति॥ याज्ञवस्काः,—

"श्रमास्त्रोत्तेषु चान्येषु पापयुक्तेषु कर्मसु ।
प्रमिन्द्यात्मना राजा दण्डं दण्डोषु पातयेत् ॥
कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जानपदानिष ।
खधर्माचिकतान राजा विनीय खापयेत्पथि"—इति ।

मनुरपि,—

"पिताऽऽचार्यः सुहत्माता भार्या पुतः पुरेाहितः।
नादण्ड्योनाम राज्ञोऽस्ति यस्त्वधर्मेण तिष्ठति"—इति।
याज्ञवल्क्योऽपि,—

"श्रिप स्नाता स्तोभार्था श्वरुरामातु लोऽपि वा । नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्मादिचलितः खकात्"—इति । दण्डा-दण्डनं प्रशंसति याज्ञवस्काः,—

''यो दण्ड्यान् दण्डयेट्राजा सम्यग्वधांश्च घातयेत्। दृष्टं स्थात् ऋतुभिस्तेन समाप्त-वर्-द्विणैः''—दिति । श्रदण्ड्य-दण्डनं निषेधयित सनुः,—

"श्रदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्वेवाष्यदण्डयन्। श्रयशोमहदाप्तीति नरकश्चेव गच्छति"—इति।

दण्डम दिविधः, भारीरे।ऽर्ध-दण्डम् *। यथाऽऽह नारदः,—
"भारीरम्वार्थ-दण्डम् † दण्डम् दिविधः स्रतः।
भारीरसाडनादिन्तु मरणान्तः प्रकीर्त्तितः॥
काकिन्यादिस्त्वर्थ-दण्डः ! सर्वखान्तस्वयैवच"—इति ।

राज्ञोदण्डियिटचं महता प्रबन्धेन सक्षावयति मनुः,— "त्रराजके हि लेकिऽस्मिन् सर्वतिविद्रुते भयात् । रचार्थमस्य सर्वस्य राजानमस्जल्पभुः॥

^{*} प्रारीर चार्थिकचेपि,—इति सु॰ प्रत्ते पाठः।

[†] भारीर खार्थिकस्वेति,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

[🛊] कणादिस्वर्धदग्रस्तु,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

दन्द्रानिसयराकीणामग्रेश्व वरूणस्य च। चन्द्र-वित्तेष्रयोश्चेव मात्रानिर्हत्य प्राश्वतीः ॥ यसादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्योनिर्मितानृपः। तसादभिभवत्येष धर्चभ्रतानि तेजसा॥ तपत्यादित्यवचैव चन्नं विच मनां सिच। न चैनं भवि प्रक्रोति कश्चिदप्यभिवीचितुम् ॥ चे। द्वीर्भवति वायुश्च चे। दर्कः चे। सः संस्वाट् ह स कुवेरः स वर्णः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ वालोऽपि नावमन्तथा मनुष्य इति स्विमपः। मदतीं देवता ह्येषा नर्रूपेण तिष्ठति॥ एकमेव दस्त्यग्निनं दुरूपमर्पिणम्। कुलन्दहित राजाग्निः स-पग्नु-द्रय-सञ्चयम्॥ कार्यं मोऽवेच्य प्रकिञ्च देश-काली च न तत्त्वतः। कुरते धर्म-सिद्धार्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते विजयस्य पराकसे। मृत्युश्च वस्ति कोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥ यसु तं देष्टि सम्बोद्धात् स विनश्यत्यसंशयस्। तस्य ह्याश्च विनाशाय राजा प्रकुर्ते सनः ॥ तसाद्धर्ममभीष्टेषु 🕇 षत्यं पर्योत्रराधिपः ।

यः किस्त्रदिभवीचितुम्,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।
 रेग्नं कालस्न,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[ौ] तस्माद्धर्मीऽयमिछेषु,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

श्रनिष्टञ्चायिनिष्टेषु तद्धमां न विचासदेत्॥ तस्यार्थे मर्वस्तानां गोप्तारं धर्ममात्मनः। ब्रह्म-तेजामयं दण्डमस्जत् पूर्वमीश्वरः॥ तं राजा प्रणयेद्ष्डं * चिवर्गेणाभिवर्द्धते"—इति। महाभारते,—

"परोचादेवताः धर्वा राजा प्रत्यच-देवता ।
प्रधादस्य प्रकापस्य प्रत्यचे। यस्य दृश्यते ॥
राजा माता पिता चैत राजा कुखवतां कुखम् ।
राजा धत्यस्य धर्मस्य राजा हितकरे। नृणाम् ॥
कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा काख-कारणम् ।
दित ते संग्रयोमाभ्द्रहाजा वाखस्य कारणम् ।
राज-मूलोमहाराज, धर्मीलोकस्य रस्यते ॥
प्रजा राज-भयादेव न खादन्ति परस्परम्"—इति।

ननु, 'दण्डयेद्राजा'—इति भ्रपालखापि दण्डयित्वमुक्तम्, तन्कयं चित्रयखामाधारण-धर्मः? मैवं, राजमन्दस्य चित्रय-विषय-वेनावेश्वधिकरणे निणीतवात्। तथाहि,—

दितीयाध्यये अवेद्यधिकरणे श्रूयते,—"श्राग्नेयमष्टाकपासं निर्व-पति दिरण्यं दिचणा"—दत्यादिना राजकर्वके राजस्रये अवेष्टिनाम-केष्टिं प्रक्रत्य, "यदि ब्राह्मणोयनेत वार्चस्पत्यं मध्ये विधायाद्धतिं द्धला तमिभिधारयेत्, यदि राजन्यऐन्द्रं, यदि वैद्यो वैश्वदेवम्"—दति ।

म्यायन् धर्मां, — इति सु॰ पुक्तको पाठः।
 चच्च,—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

तत्र षंत्रयः; दिं बाह्मणादीनामवेष्टी प्राप्तानां वर्णानां राजसूचे श्रधिकारः, उत चित्रयस्थैव ? इति । तदधें च, किं राजप्रब्दः
चयाणामिष वर्णानां वाचकः, किं वा चित्रयस्थैव ? इति । तति।ऽषि
पुनर्विचारियत्यम्; किं राजप्रब्दो राज्य-थोग-निमित्ताः, चित्रयलनिमित्तो वा ? इति । तत्र, राजप्रब्दो राज्य-थोग-निमित्ताएव, श्रार्थप्रिषद्धेः पर्वलोक-प्रिषद्धलादिवगानाच । न तु चित्रयल-निमित्तः,
श्रनार्थ-प्रिषद्धेरार्थ-प्रसिद्धापेच्या दुर्वललात् । द्रविडेषु विगानात् ।
तदन्येखप्रसिद्धेश्व । तच स्थात् राज्य-योगात् राजानस्त्रयोऽषि भवित्त ।
राज्यपदन्तु, रूळ्या जनपद- रच्यो वर्त्तते ; न राज-योगसपेच्यते ।

ननु, 'कर्माण'— द्रत्यधिकत्य, ''पत्यंगपुरे। हिनादिश्योयक्''—
दिन वचनान् राजग्रव्य तत्र णाठादाचारात्र स्वतेवेलीयस्वान्
राज-योगप्व राज्यपद-प्रवित्त-निमित्तिमिति चेत्। लेाक-प्रयोगस्वैव ग्रव्दायावधारणे प्रमाणलान् स्वतेरिप मण्व मूलं नान्यत्।
प्रयोगाच राज्यग्रव्दस्वैव खानन्यं निमित्तलं च राजग्रव्दस्वावगम्यते। ततस्वदनुमारेण, सार्णं ग्रव्दापग्रव्द-विभाग-माच-परं व्यास्वेथम्। श्रनस्वयाणामिष राजपदाभिधेयत्वेन राजस्वे प्राप्तानां
निमित्तार्थानि श्रवणानि। 'यदि' ग्रव्दोऽिष, राजग्रव्दस्य राज्ययोग-निमित्तत्वे प्रमाणम्। श्रन्यथा, प्राष्ट्रभावान् 'यदि' ग्रव्दोऽनुपपन्नः स्वान्। वैदिकश्च निर्देगः स्वतेरिष वलीयान्। तस्नात्,
निमित्तार्थः नि श्रवणानि,—दिन प्राप्ते श्रुमः।

न तावदैदिक-निर्देशादच निर्णयः शकाने, श्रन्यथाऽपि तत्-

च्यत्र, तस्मात्,—इति पाठा भवितुं युक्तः !

39

सद्गावात्। 'राजानसभिषेचयेत्'—इति ह्यभिषेक-विधी प्रागेव राज्य-योगाद्राजण्यस्य* चित्रयमात्रएव प्रयुक्तः। तेन, रूढमेव राज-पदं निर्णीयते। 'यदि' ग्रब्दस्तु, निपातलाद् ययाक्त्यश्चिदपि नियमें न दुखति,—इति। सारणाच स्वतन्त्रमेव राजपदम्। नच तस्य निर्मूखलं, द्रविड्-प्रयोगस्थेव मूलस्य सम्भवात्। श्रतोन ययार्थलेंः सारणस्य प्रमाणमस्तीति तेनेवाभियुक्त-प्रणीतेनाचारस्य सम्भवात् गौण-ध्रान्यादि-प्रयोग-प्रस्ततस्य वाधात् राज-योगेन राज्यग्रव्दः, स्वतन्त्रस्तु राजग्रव्दः चित्रय-वचन इति ब्राह्मणादेरवेष्टी प्राप्टभावात् प्रापकानि वचनानि,—इति। एवमचापि राजग्रब्दः चित्रय-परः ।

ननु, जन-रञ्जनाद्राजलं महाभारतेऽभिहितम्,

"रञ्जनात् खलु राजवं प्रजानां पालनादिपि"— इति।

वाढ़ं, सभावत्येवं चित्रयस्मित् रञ्जकत्वं, 'चित्रयोहि'—इत्यवेन दितीयभ्रोकेन भ्रिष्ट-पालनकृषे। धर्मीविधीयते राज-धर्मीषु प्रजा-रचणस्य प्राधान्येन विविचितत्वात् प्रथमं प्रजारचणिमत्युक्तम्। श्रतएव याज्ञवक्कः,—

"प्रधानः चित्रये धर्मः; " प्रजानां परिपालनम्"-इति ।

^{*} राजप्रब्दः,—इति पाठी भतितुं युक्तः ।

[†] नयने,--इति पाठा भवितुं युक्तः।

[‡] खता गायथार्थले,-इति पाठा भवितुं युक्तः।

^{ं &#}x27;तथा हि'—इत्यारभ्य, 'च्चियपरः'— इत्यन्तीय्रत्यः सुदितातिरिक्क-पुक्तकेषु न दश्यते।

[॥] धर्मीानिरूप्यते,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[🎙] प्रजारञ्जनस्य,— इति सु॰ पुत्तने पाठः। एवं परत्र।

^{**} प्रधानं च्हाचियेकर्मा,--इति स॰ ग्रा॰ पुस्तक्ये(: पाठ: ।

मनुरिप तदेवादौ प्रदर्भयति,—

"प्रजानां रचणं दानिमञ्चाऽध्ययनमेवच।

विषयेष्यप्रमित्तञ्च चित्रयस्य समादिश्रत्"—इति।

शान्तिपर्वेखिप,—

"नृपाणां परमोधर्मः प्रजानां परिपालनम्।
निर्दिष्ट-फल-भोका हि राजा धर्मेण युज्यते॥
वर्णानामाश्रमाणाञ्च राजा भवति पालकः।
स्त्रे स्त्रे धर्मे नियुद्धानः प्रजाः स्ताः पालयेत् सदा॥
पालनेनैव भृतानां कतकत्यो महीपतिः।
सम्यक् पालयिता भागं धर्मस्याप्नोति पुष्कलम्॥
यजते यदधीते च यददाति यदचिति।
राजा षड्भाग-भाक् तस्य प्रजा धर्मेण पालयन्॥
सर्वाञ्चेव प्रजा नित्यं राजा धर्मेण पालयेत्।
खत्यानेन प्रसादेन पूजयेचापि धार्मिकान्॥
राज्ञा हि पूजिते।धर्मस्ततः सर्व्वच पूज्यते।
यद् यदाचरते राजा तत् प्रजानाञ्च रे।चते"—इति।

मार्कण्डेयपुराखे,-

"वस्र, राज्याभिषिक्तेन प्रजारञ्जनमादितः॥
कर्त्त्रवमविरोधेन खधर्मस्य महीस्ता।
पाननेनेव स्तानां कतकत्योमहीपतिः॥
सम्यक् पालपिता भागं धर्मेष्वाप्राति पुष्कलम्"—इति।
स्रह्माण्डपुराखे,—

"यदक्का कुरुति धमीं प्रजाधमीं पास्तदन्। दश-वर्ष-षदसाणि तस्य भुक्के महत्पन्तम्"-इति*। मनुरिप्[†],—

'सर्वनोधर्म-षड्भागो राज्ञोभवति रचतः।
श्रधर्मादपि षड्भागो भवत्येव द्यरचतःः।
रचन् धर्मेण भतानि राजा वध्यांश्व घातयन्।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्र-ग्रत-दिवणैः॥
योऽरचन्वितमादत्ते करं ग्राष्ट्रकश्च पार्थिवः।
प्रीतिं भोगं च दण्डश्च स सद्योनरकं व्रजेत्''॥

रचणीयाश्च प्रजाभयमापनाः, भयञ्च तासां देधा सम्यद्यते ; चोर-व्याचादिभ्यः पर-सैन्हेभ्यावा । श्वतस्तरुभय-निवारणाय, 'प्रदण्डवान्' —द्रति, 'परसैन्यानि मिर्जित्य'—द्रति चोक्तम्। एतच निवारणं चित्रयस्येव कुतोऽसाधारणमित्याणङ्य तद्धेतुलेन णस्त्रपाणिलं वर्णितम्। तच चित्रयस्येव । तथाच मन्ः,—

"शक्तास्तस्त्रत्वं चनस्य विषक्-पश्य-क्षिर्विशः। श्राजीवनाधं धर्मान्तु दानमध्ययनं जगुः"—इति। श्रानुशासनिकेऽपि चनियं प्रकृत्य पद्यते,—

"जुलाइः श्रस्तपाणितं? तस्य धर्मः सनातनः"।

^{* &#}x27;इति' ग्रब्दे। नास्ति मु॰ पुक्तको ।

^{† &#}x27;मनुरपि'—इति नास्ति मु॰ पुस्तके।

[‡] नास्तीदमद्धं मु॰ पुस्तके।

[🖇] ग्रास्त्रजीवित्वं,—इति ग्रा॰ पुस्तके पाठः।

शक्तपाणिनेन च युद्धोपकरणानि सर्वाणुपलच्यन्ते। तानि च श्रान्तिपर्वणि दर्शितानि,—

> "यष्टयस्तोमाराः खङ्गाः निधिताञ्च परश्वधाः । फलकान्यथ वक्षीणि परिकल्प्यान्यनेकग्रः"॥

'प्रदेखवान'—इत्यनेन चौरादि-शिचा विविचता। यद्ययेषा पूर्व्यवचनएवोका, तथापि तच प्राधान्येन प्रतिपादिता, श्रच तु प्रजारचण-धाधनवेनेति न पौनक्त्यम्। दण्ड-प्रकारमाह मनुः,—

> "अनुबन्धं परीच्याय देश-काली च तत्त्वतः। सापराधमघाले।च्य दण्डं दण्डोषु पातयेत्"॥

विष्णु:,—

''त्रागः स्विप तथाऽन्येतु ज्ञाला जाति धनं वथः। दण्डन्तु प्रणयेद्राजा सामन्त-त्राह्मणैः सह"—इति।

ष्ट्रस्पतिरपि,—

"वाग्धिग्वधः खकञ्चैव चतुई। कल्पिते दसः । पुरूपे दोष-विभवं ज्ञाला षंपरिकल्पयेत्॥ गुरून् पुरोहितान् विप्रान् वाग्दर्ण्डेनैव दण्डयेत् । विवादिने । विद्यान् दोषिणोऽर्थेन दण्डयेत्॥ महापराध-युकांश्च वध-दण्डेन दण्डयेत्"।

तथा कात्यायनः,—

"मिचादिषु प्रयुद्धीत वाग्दण्डं धिक् तपिखनाम्। ययोक्तं तस्य तत्कुर्युरनुकं साधु-कन्पितम्॥ श्रधार्मिकं चिभिन्धायैर्निग्टहीयात् प्रयव्वतः। निरोधनेन बस्धेन विविधेन वधेन च"-रित । मनु:,--

> "दय स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायभुवोऽनवीत्। चिषु वर्णेषु तानि स्थुरचता ब्राह्मणो ब्रजेत्॥ उपस्थमुदरं जिज्ञा इस्तो पादो च पञ्चमम्। चतुर्नासे च कर्णा च धनं देचस्वयैवच॥ मोण्डां प्राणान्तिकोदण्डा ब्राह्मणस्य विधीयते। पुरुषाणां कुलीनानां नारीणाञ्च विभेषतः"—दति।

दृइस्पतिगपि,—

"जगत् सर्व्यमिदं इन्यात् ब्राह्मणस्य न तत्स्यम् । तस्मात्तस्य वधं राजा मनसग्ऽपि न चिन्तयेत्॥ श्रवध्यान् ब्राह्मणानाद्यः सर्व्यपपेव्यक्तस्थितान् । यद्यविप्रेषु कुश्रलं तत्तद्राजा समाचरेत्॥ राष्ट्रादेनं विद्यः कुर्यात् समग्रधनमचतम्"—इति ।

चमाऽपि,—

"एवं धर्म-प्रवत्तस्य राज्ञादण्डधरस्य च।

यग्नोऽस्मिन् प्रथते लोके खर्गे वासस्त्रयाऽचयः"—दित ।

पर-सैन्य-निर्जयस्तु ग्रान्तिपर्वणि दर्शितः,—

"चैत्रे वा मार्गग्रीषें वा सेनायोगः प्रशस्यते।

पक्षणस्या हि पृथिती भवत्यम्नुमती तथा ॥

नैवातिश्रीतानात्युष्णः कालोभवति भागत।

तदा,—इति शा० पुन्तको पाठः ।

<mark>तम्मात्तदा योजयीत परेवां</mark> यमनेषु वा॥ एते हि योगाः सेनायाः प्रश्नस्ताः पर-वाधने। जलवांकुणवान्मार्गः समागम्यः प्रश्नस्वते॥ चारै: सुविदिताभ्यासः क्र श्र लेबनगोचरै:। ् सप्तर्षीन् पृष्ठतः कला युद्धोय्रचलाद्व ॥ यतेावायुर्यतः सर्वेा यतः श्रुक्रस्तताजयः। श्वकर्मामनुदकाममर्थादामले। एकाम् ॥ श्रयभूमि प्रशंसन्ति ये युद्धकुश्रलाजनाः । समा निरुदका चैत्र रथस्थिः प्रशस्थिते॥ नोचद्रमा महाकचा सेादका हिल्योधिनाम । बद्धर्गा महारचा वेण्-वेत्र-तिरक्कता ॥ पदातीनां चमा भृमिः सर्व्वतोनवनानि च। पदाति-बक्तला सेना दृढ़ा भवति भारत ॥ तथाऽश्व-वज्जला सेना सुद्रिनेषु प्रशस्ते। पदाति-नाग-बद्धला प्रावद्वाले प्रश्रखते ॥ गुणानेतान् प्रमङ्खाय युद्धं भनुषु योजयेत्"— इति ।

मनुरपि,-

"यदा तु यानमातिष्ठेदरि-राष्ट्रं प्रति प्रभुः। तदाऽनेन विधानेन यायादरि-पुरं प्रनैः॥ मार्गप्रीर्षे प्रुभे मासे यायादात्रां महीपतिः।

सुविदिते (उभ्यास, — इति सु॰ पुक्तको पाठः ।
 प्रधावति च, — इति सु॰ पुक्तको पाठः ।

फारगुनं वाऽय चैंचं वा मार्गी प्रति ध्यावसम् ॥
श्रन्थेष्वपृतु-कालेषु यदा पर्यद्भुवं जयम्।
तदा यायादिग्रहीन व्यग्ने चोत्यिते रिपोः (१) ॥
क्ला विधानं मूले तु याचिकच यथाविधि।
उपां ग्रह्मास्यद्भीव चारान् सम्यम्बिधाय च (२) ॥
संग्रोध्य चिविधं मार्गे पिष्टुधश्च स्वकं वस्तम् (२) ।
साम्परायिक-कन्पेन यायादरि-पुरं श्रनैः "—इति।

बलख पड्विधता-उपनसा दर्शिता, -- "मूल-वलं श्रेणी-वलं मिन-वलं स्टतक-वलं प्रमु-क्लमाटविक-वलं च"-इति । युद्धार्थं मैन्य-सन्नाइ-रचनामाइ मन्:,--

> "दण्डयूहेन तमागें यायासु प्रकटेन वा । वराष्ट्र-मकराभ्यां वा सच्या वा गर्डुन वा ॥

^{*} मास्गुने वाथ चेचे वा मासे प्रति यथावसम्, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।
† उत्त, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) व्यसनानि च कामज-कोधज भेदेन दिविधानि। खन, कामजानि दश्र, कोधजान्यछाविति मिलित्वा खछादश्र। तदुक्तं मनुनैव। "कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महोपतिः। वियुव्यतेऽर्धधर्माध्यां कोधजे खात्मनेव हि॥ स्रगयाऽन्तो दिवाखप्रः परिवादः स्त्रिया-मदः। तौर्याचिकं उधान्या च कामजोदश्रकोगगाः॥ पैसुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽस्याऽर्धदृषणम्। वाग्दग्रज्ञ पारुष्यं कोधजोऽपि गणोऽरुकः"—इति।

⁽२) मृते खनीयदुर्गराष्ट्ररूपे। विधानं तद्रचार्थं सैन्यैनदेशस्यापनम्। बास्पदं शत्रुराष्ट्रस्थस्य येनावस्थानमस्य भवति तादृशं पटमख्यपादि।

⁽३) जाङ्गलानूपाटविकरूपविषयभेदेन मार्गस्य जैविध्यम्।

यतय भथमाग्रक्केनतो विस्तार्येद्रसम्। पद्मेन चैव यूहेन निविशेत तथा खयम्॥ सेनापतीन् वलाध्यचान् सर्वदिचु निवेशयेत्। यत्य भयमाश्रद्धेतां प्राचीं कल्पयेहिशम्॥ गुन्सां य स्थापयेदाप्तान् कतमं ज्ञान् समन्ततः। खाने युद्धे च कुश्रलानभी ह्निविकारिणः॥ मंदतान् थोधयेदन्यान् कामं विस्तारयेदह्नन्। स्चा वच्चेन चैवैतान् यूहेन यूद्य योधयेत्॥ खन्दनार्यः समे युद्धोदनूषे नौ-दिपैस्तथा । वनगुन्माद्ये चापैर्सिनमायुधेः खले ॥ कुर्चेत्रां समस्यां सपञ्चालाञ्कूर्येनजान्। दीर्घान् लघूं खेव नरानगानी केषु योजयेत् ॥ प्रदर्षयेदलं यूह्य तांश्व सम्यक् परीचयेत्। चेष्टास्वैव विजानीयादरीन् योधयतामपि॥ उपर्द्यारिमामीत राष्ट्रवाखोपपीड्येत्। द्रषयेचास्य यततं यवमान्नोदकेन्धनम् ॥ भिन्दाचैव तटाकानि प्रकार-परिखास्तथा। समवस्तन्दयेचैनं रात्रौ वित्रामयेदिप ॥ उपजाणानुपजपेदुधीचैव हि तत्कतम्।

^{*} संहतान् विभजेदश्वान्, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[ं] याधयेत्,—इति पाठान्तरम्।

युक्ते च दैवे^(१) युद्धेत जयप्रेषुरपेतभीः ।

याचा दानेन भेदेन समस्तैरथवा प्रथक्॥

विजेतुं प्रयतेतारीन् न युद्धेन कदाचन ।

श्रानित्योविजयो यसात् दृश्यते युध्यमानयाः ॥

पराजयश्च संग्रामे तसाद्युद्धं विवर्जयेत् ।

चयाणामणुपायानां पूर्वेतितानामसभावे ।

तथा युद्धेत संयत्तों विजयेत रिपुं यथा ॥

जिला संपूजयेद्देवान् ब्राह्मणांश्चेव धार्मिकान् ।

प्रदद्यात् परिहारांश्च खापयेदभयानि च ॥

सर्वेषान्तु विदिलेषां समासेन चिकीर्षितम् ।

स्थापयेत् तत्र तदंश्यं कुर्याच समयक्रियाम् ॥

प्रमाणानि च कुर्वित तेषां धर्मान् यथोदितान्"—इति ।

जन-प्रकारेण परमैन्यानि निर्जित्य, जितामेतां पूर्व्याच खकीयां भुवं राज-धर्मीण पालयेत्। तदेव धर्मीण पालनं, 'पुष्पमानं'—इति हतीय-स्रोकेन विभदीक्रियते। यथा, मालाकार श्रारामे यदा यदा यत् यत्पृष्पं विकस्ति तदा तदा तदिचिनोति न तु पुष्पलतासुन्मू- खयित, तथा प्रजाभ्यः करमाददाने। राजा यथोदयं षष्टं भागं

^{*} युद्धेत्रत सममन्यत्त्वा,—इति मु॰ पुन्तके पाठः।

परिचाराधं, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] राजा धर्मीण, - इति पाठी भवितुं युक्तः।

⁽१) पूर्व्वकालीनपुरुषदेइनिष्पन्नं सक्ततं दुट्कृतस्व प्रलेग्नुखीभूतं सत् सदेवं दुरेविचे युच्यते । तदुक्तम्। "तच देवमभियक्तं पौषणं पौर्व-देक्तिम्"—इति ।

ग्रह्मीयात्। श्रंगार-कार्कम्तु रुचमुन्भून्य सर्व्वात्मना दहति, न तु तथा प्रजाः पीड्येत्। एतच ग्रान्तिपर्व्वणि दर्शितम्,—

"मध्दोहं दुहेद्राष्टं स्त्रमरात्त प्रवामयेत्।

नचेवत् पीड़येत* स्तनांश्चैव विकुष्टयेत्॥

जलोकावत् पिवेद्राष्टं स्टदुनेव नराधिपः।

याघीवदुद्धरेत् पुत्रं न दंग्नेत्र च पीड़येत्॥

यथा च लेखकः पर्णमाखुः पादलचं यथा।

ऋतीत्र्णेनाष्युपायेन वर्द्धमानं प्रदापयेत्॥

ततोश्चयस्ततोश्चयः क्रमाद्दद्धं समाचरेत्"—इति।

सनुरपि,—

"क्रयिक्यमध्यानं भक्तञ्च सपित्ययम्।
योगं चेमच संप्रेच्य विष्णेत दापयेत् करान् ॥
यथा फलेन युच्येत राजा कर्त्ता च कर्म्यणाम्।
तथाऽवेच्य नृपोराष्ट्रे कन्पयेत् सततं करान्॥
यथाऽन्पान्पमदन्ययं वार्योकोवत्सषद्पदाः।
तथाऽन्पान्पोदचीतयो राष्ट्राज्ञाऽऽन्दिकः करः"—इति

मार्कखेथोऽपि,—

''मामानष्टौ यथा सूर्य्यस्तीयं हरति रिक्षाभिः। सूच्येणैवाभ्युपायेन तथा ग्रुख्लादिकं नृपः"—इति।

^{*} नेच्तुवत् पौड़येह्नीकं,—इति शा० पुस्तके पाठः।

[🕇] अजूकावत्,— इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] व्याद्रीवदाइरेत,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

एतच करादानं मालाकार-दृष्टान्तेन प्रतिपादितमित्रेषा-मपि सर्वेषां राज-धर्माणासुपलवणम्। ते च धर्माः याज्ञवल्कोन दर्भिताः,—

> "महात्माद्दः स्यूललनः कृतज्ञो यद्ध-सेवनः। विनीतः सलसम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक् ग्रुचिः॥ श्रदीर्घस्रनः स्यतिमाननुधो प्रप्रवासया। धार्मिकाऽत्यसनस्वेन प्राज्ञः स्ररेग्द्रस्थवित्॥ स्व-रन्ध्र-गेग्नाऽऽन्वीचिक्यां दण्डनीत्यां तथैनच । विनीतस्त्वथ वार्त्तायां चयास्वेन नराधिपः"—द्दति।

यएतेऽन्तरङ्गा राजधर्माः, एतएव राजगुणाः,—दत्ययुच्यन्ते । मत्तप्य, "षट्चिंग्रहुणोपेता राजा",— दत्यस्य स्वन्स व्याख्यानावसरे, महेत्साहादयः उग्रनमा पठिताः । वहिरङ्गान्नपि राजधर्मा वाज्ञ-वक्क्येन दिर्शताः,—

"समन्त्रिणः प्रकुर्वित प्राज्ञान्त्रौत्तान् स्थिरान् ग्रुचीन्। तै: सार्द्धं चिन्तयेद्राञ्चं विप्रेणाय ततः खयम्"—इति । मनुरपि,—

> "मोलाञ्कास्त्रविदः ग्रूरान् लक्ष्यलचान् कुलोद्गतान्। यचिवान् यप्त चाष्टौ वा प्रकुर्व्वीत परीचितान्॥ तैः याद्वे चिन्तयेन्त्रित्यं सामादीन् सन्धि-विदहान्।।

^{*} स्मृतिमानचुद्रो, — इति सु॰ पुस्तके पाठः। •

र्वे प्रस्ते पाठः।

[‡] सामान्यं सन्धिविग्रहम्,—इति पाठान्तरम्।

स्थानं ससुद्यं गुप्तिं लक्ष-प्रश्नमनानि च^(२) ॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायसुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानाञ्च कार्योषु विद्ध्याद्धितमात्मनः ॥
सर्वेषान्तु विश्विष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा सामान्य-संयुतम् ॥
नित्यं तस्मिन् समायस्तः सर्वकार्याणि निःचिपेत् ।
तेन सार्द्धं विनिश्चित्य ततः कर्मा समारभेत्"—दति ।

श्रारभणीयच कर्मा, देश-विशेषे दुर्ग-सम्पादनम्। तच याज्ञ ब्रह्मोन दर्शितम्,—

"रम्यं यगस्यमाजीयं जाङ्गलं देशमावसेत्। तत्र दुर्गानि कुर्व्वीत जनकोशात्मगुप्तये"-इति॥ दुर्गभेदामनुना दर्शिताः,—

"धन्तरुगें महीदुर्गमव्दुगें वार्चमेव वा ।
नृदुगें गिरिदुर्गञ्च समादृत्य वसेत् पुरम्॥
सर्ज्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुगें समाश्रयेत्' — इति ।
दुर्ग-संविधान-प्रकारः शान्तिपर्ज्वणि दर्शितः,—

<sup>माड्गुण्यसंयुतम्,—इति पाठान्तरम्।
प्रश्रस्यमाजीयम्,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।</sup>

⁽१) तिस्रत्यनेनेति स्थानं दर्खनोषपुरराष्ट्रात्मनं चतुर्व्विधम्। समुदय-न्युत्पद्यंते स्वर्था स्रस्मादिति समुदयाधान्य च्वरत्याद्युत्पत्तिस्थानम्। स्वातमगता राष्ट्रगता च रच्चा गुप्तिः। लब्धस्य प्रश्मनं सत्पाचे प्रतिपादनादिकम्।

"दृढ-प्राकार-परिखं इस्त्यय-रथ-सङ्कुलग्। खर्ज्जिस्त्वनगगरञ्च चलरापण-ग्रोभितम्॥ प्रित्यु-व्यवहारञ्च प्रग्रान्तमकुतोभयम्। ग्रुराह्यं प्राज्ञ-सम्पूषं तत्पुरं खयमाविश्रेत्"—दृति।

"तत्र्यादायुध-सम्पन्नं धन-धान्येन वाइनैः।

मनुर्पि,—

ब्राह्मणै: शिल्पिभर्यन्तर्यविषेने। दिनेश्वनै: ॥
तस्य मध्ये तु पर्याप्तं कारयेद्ग्रहमात्मनः ।
गुप्तं धर्वन्तं ग्रुट्ठं जल-वृत्त-समन्तिम्"—इति ।
दुर्ग-संविधानसुक्का यागादि-धर्मानिप सएवाइ,—
"तद्धास्थादहेद्वार्थां सवर्णं जनणानिताम् ।
कुले महति सभूतां हृद्यां रूप-समन्तिताम् ॥
पुरे। हितञ्च कुर्वीत वृणुयादेव चर्तिजम् ।
तेऽस्य ग्रह्मानि कर्माणि कुर्युर्वेतानिकानि च ॥
यजेत राजा क्रतुभिर्विविधेराप्तद्तिणै: ।
यज्ञार्थं चैव विप्रेभ्या द्याद्वागान् धनानि च ॥

सांवत्सरिकमाप्तेच राष्ट्रादाहारयेदलिम्।

स्थाचामाय-परोले।के वर्त्तेत पित्वननृषु"-इति।

याज्ञवलको।ऽपि,—

^{*} रूपगुणान्विताम्,—इति पाठान्तरम्।

[†] धर्मीधं, - इति पाठान्तरम्।

"पुरे।हितच्च कुर्वित दैवज्ञमिषचिष्ठितम्। दण्डनीत्याच कुण्णमयर्व्वाङ्गिरचे तथा॥ श्रोत-सार्च-क्रिया-हेतोर्वणुयादेव चर्विजः। यज्ञांश्रेव प्रकुर्वित विधिवङ्गूरि-दिचणान्॥ भोगांच दद्यादिग्रेभ्यो वस्त्रनि विविधानि च। स-दान-मान-सत्कारैर्वासयेत् श्रोवियान् सदा"—इति। मनुरिष,—

> "मियमाणोऽष्याददीत न राजा श्रोचियात् करम्। न च चुधाऽस्य मंगीदेत् श्रोचियो विषये वसन्॥ यस्य राज्ञस्त विषये श्रोचियः मीदित चुधा। तस्यापि तत् चुधा राष्ट्रमचिरादेव मीदिति॥ श्रुत-वन्ते विदिवाऽस्य वन्तं धर्म्यां प्रकल्पयेत्। मंरचेत् सर्वतश्चेनं पिता पुचिमवौरसम्"—इति।

म्त्रानुषासनिकेऽपि,— ''श्राला-प्रपा-तड़ागानि देवनाऽऽयतनानि च।

ब्राह्मणावसयस्वेव कर्त्तवं नृपसत्तमैः ॥ ब्राह्मणा नावमन्तवाः भस्म-क्त्रादवाग्नयः । कुलसुत्पाटवेयुस्ते क्रोधाविष्टा दिजातयः ॥ दुष्टानां ग्रासनं धर्मः शिष्टानां परिपालनम्।

कर्त्तवं स्रमिपालेन नित्यं कार्येषु चार्ज्ञवम्"-इति।

ग्रान्तिपर्वेखपि,—

"वाकात्रेषु ऋतेषु परित्राणं कुरुद्व ।

श्वरणागतेषु कारूणं कुर्यात्तव समाहितः॥
भरणं सर्वस्तानां रचणञ्चापि सर्वश्चः।
यष्ट्यं क्रतिभिर्त्तियं दातयञ्चापपीडया॥
प्रजानां रचणं कार्यं न कार्यं कर्म ग्रहितम्।
श्वात्रसेषु यथाकालं चेलं भोजन-भाजनम्॥
स्वयन्तूपहरेद्राजा सरुत्य विधिपूर्वकम्।
श्वात्मानं सर्वकार्याणि तापसे राज्यसेवच॥
निवेदयेत् प्रयत्नेन तिष्ठेत् प्रक्रञ्च नित्यशः।
विक्रमेण महीं लञ्चा प्रजाधर्मेण पालयन्॥
श्वाह्ये निधनं कुर्याद्राजा धर्म-परायणः।
श्वाह्ये च महीं लञ्चा श्रोचियायोपपादयेत्"—इति।

मनुः,—

"मोद्दाजा खराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेचया। चाऽितराङ्गग्यते राज्याज्ञीविताच मवान्धवः॥ ग्रारीर-कर्षणात् प्राणाः चीयन्ते प्राणिनां यथा। तथा राज्ञामपि प्राणाः चीयन्ते राष्ट्र-कर्षणात्"—इति।

दिन-चर्या तु मनुना दर्शिता,—

"ज्ञाय पश्चिमे यासे क्रतभीचः समाहितः। इताऽभिं बाह्मणांश्वाक्ची प्रविभेच सभां भ्राभाम्"'—इति। स्मत्यक्तरेऽपिः—

^{*} ततः,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

"प्रातस्त्याय नृपतिः कुर्याद्नस्य धावनम्।
स्नान-प्रानां समागत्य स्नाता पूर्तन वारिणा॥
श्रघे दला तु देवाय भास्कराय समाहितः।
ततोऽसङ्गत-गम्नः सन् वज्ञमालोक्य मन्त्रवित्॥
धृत-पानं तु विप्राय दद्यात् सकनकं नृपः"- इति।
धान्नवस्कोऽपि,—

"ऋतिकपुरोहिताचार्येराश्रीभिरभिनन्दितः।
हृष्ट्वा च्योतिर्विदोवैद्यान् दद्याद्गाः काचनं महीम्।
नैवेशिकानि च तथा श्रोचियाणां ग्रहाणि च"—दति।
नैवेशिकानि विवाहोपयोगीनि कन्याऽलङ्कारादीनि। दानानन्तरं कृत्यां मनुराह,—

"तच खितः प्रजाः धर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्। विद्यन्य च प्रजाः धर्वाः मन्त्रयेत् धद्य मन्तिभिः॥ गिरिष्टष्ठं समारुद्य प्राधादं वा रहे।गतः। च्यरण्ये निः चलाके वा मन्त्रयेताविभावितः॥ सम्यन्दिनेऽर्द्धराचे वा विश्वान्तो विगतक्तमः। चिन्तयेत् धर्मकामार्थान् धार्द्धं तेरेकएवच॥ कन्यानां सम्प्रदानञ्च कुमाराणाच्च रचणम्। दूतस्य प्रेषणच्चैव कार्यग्रेषं तथैवच॥ च्यन्तःपुर-प्रजानाञ्च प्रणिधीनाञ्च चेष्टितम्।

^{*} अन्त्रवत्, - इति सु॰ पुस्तके पाठः।

र् इतपाने, - इति ग्रा॰ पुस्तको पाठः।

श्वतः चाष्टिवधं कर्म पञ्चवर्गञ्च तत्ततः ॥
श्वनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डबस्य च।
श्वरेरवन्तरं मिचसुदासीनं तथोः परम् ॥
तान् सर्वानिभसन्दधात् सामादिभिरूपकर्मः ।
स्वसिश्चव समस्तेश्व पौरूषेण नथेन च॥
सिश्चं च विग्रइं चैव सानमासनमेव च।
देधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्विन्तयेत्सदा ॥
श्वासनञ्चेव यानञ्च सिश्चं विग्रइसेवच ।
कार्यं वीद्य प्रयञ्जीत देधं संश्रयसेवच ॥
छपेतारसुयेयञ्च सर्वापायांश्व कत्स्रशः ।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये" ॥

षष्टिविधतन्तु कर्षाण उप्रनमा प्रदर्भितम्,—

"ग्रादाने च विमर्गे च तथा प्रैवनिवेधयोः ।

पञ्चमे चार्यवचने व्यवदारख चेचणे॥

दण्डग्रद्धोः समायुक्तखेनाष्टगतिकोनृपः"।

ग्रुद्धिः प्रायश्चित्तम्। पञ्चवर्गस्त, कापटिक-दाक्षिक-ग्रहपति-वैदे-एक-तापस-व्यञ्जनाञ्चराः। कर्मणामारमोषायः,पुरुष-द्रव्य-संपत्,विनि-पात-प्रतीकारः, कार्यसिद्धिरिति वा पञ्चवर्गः"।

> "एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्रा मन्तिभिः। व्यायाम्यासुत्य मध्याक्ते भोतुमन्तः पुरं व्रजेत्॥ तवात्मभूतेः कालजीरहार्थैः परिचारकैः।

[&]quot; शुद्धिरिखारभ्यं, पञ्चवर्गः,--- हत्वन्ते ग्रत्योनास्ति सु॰ पुस्तके ।

सुपरीचितमचाद्यमद्यानान्त्रेर्विषापदैः॥ विषष्नेरगदेशास्य मर्वद्रयाणि योजयेत । विषप्नानि च रत्नानि नियते।धारयेत्सदा॥ परीचिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनीदकधूपनैः। वेषाभरणसंयुक्ताः संस्पृशेयुः समाहिताः ॥ एवं प्रयतं कुर्वीत यान-ग्रयाऽऽधनाग्रने। स्ताने प्रसाधने चैव सर्व्वालङ्कारकेषु च॥ भुकतान् विचरेचैव स्तीभिरनः पुरे सह। विद्वत्य च यथाकामं "पुनः कार्याणि चिन्तयेत्॥ श्रलङ्गतञ्च संपश्चेदायधीयं पुनर्जनम्। वाइनानि च सर्वाणि शस्ताणाभरणानि च॥ षन्धाञ्चोपास्य ऋणुयादन्तर्वेग्सनि शस्त्रस्तत्। रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनाञ्च चेष्टितम्॥ गला कचाऽन्तरं सम्यक् । समनुज्ञाप्य तं जनम्। प्रविभेद्गोजनार्थन्तु स्ती-स्तेर्राउन्तःपुरं पुनः॥ तत्र भुक्ता पुनः किञ्चित्तूर्य्यघोषैः प्रदर्षितः। संविशेच यथाकालमुनिष्ठेच गतक्षमः॥ एतिइधानमातिष्टेदरागः पृथिवीपितः । श्रखस्यः सर्व्वमेवैतत् स्रत्येषु विनिवेषयेत्"- इति।

धर्मान्तरमाइ मनुः,-

यथाकार्ल,—इति पाठान्तरम्।

र्वत्यत्,-इति पाठान्तरम्।

"सङ्घासेव्यनिवर्त्तालं प्रजानाञ्चेव पालनम्। ग्रुश्रूषा ब्राह्मणानाञ्च राज्ञः श्रेयस्तरं परम्॥ श्रूलक्षञ्चेव लिप्रोत लक्षं रतेच यत्नतः। रतितं वर्ड्यचेव वर्द्धं पाचेषु निःचिपेत्॥ श्रमाययेव वर्त्तेत न कथञ्चन मायया। बुद्धोतारि-प्रयुक्तान्तु मायां नित्यं सुषंटतः"—इति। ग्रान्तिपर्वेष्विपः,—

''यमनानि च मर्जाणि नृपतिः परिवर्जयेत्। लोक-मंग्रहणाशाय क्षतक्यभनी भवेत्''—इति। तानि यमनानि मनुना दर्शितानि,—

"द्य काम-षमुत्यानि तथाऽष्टी कोधजानि च।

हगर्याऽची दिवाखप्तः परीवादः क्तियोमदः॥

तौर्याचिकं रूथाऽढाळ्या कामजाद्यकागणः।

पैयुज्यं षाइषं द्रोइ देखाऽस्याऽर्थ-दूषणम्॥

वाग्दण्डज्य पार्खं कोधजाऽपि गणोऽष्टकः।

कामजेषु प्रयक्तो हि र्यस्नेषु महीपतिः॥

वियुज्यतेऽर्थ-धमाभ्यां कोधजे खात्मनेव तु।

दयोर्प्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयोविदुः॥

तं यक्तेन त्यजेसोभं त्याच्यो ह्येतौ गणानुभौ।

पानमचाः क्तियश्चव सगया च ययाक्रमम्॥

एतत्कष्टतमं विद्याचतुष्कं कामजे गणे।

दण्डस्य पातनश्चव वाक्पाद्यार्थदृष्णे॥

क्रोधजेऽपि गणे विद्यात् कष्टमेतिस्तिकं चदा।

व्यमनस्य च म्हत्योश्च व्यमनं कष्टमुस्यते॥

व्यमनस्यो हि व्रजति खर्यात्यव्यमनी मृतः"—इति।

मार्क रहेथोऽपि,—

"व्यसनानि परित्यच्य सप्त मूलहराणि च्(१)।

श्रात्मा रिपुभ्यः संरच्योविहर्मन्त-विनिर्गमात्॥
स्थान रिपुभ्यः संरच्योविहर्मन्त-विनिर्गमात्॥
स्थान रिपुभ्यः संरच्योविहर्मन्त-विनिर्गमात्॥
भवितव्यं नरेन्द्रेण न कामवश्रवर्त्तिनाः॥
प्रागात्मा मन्त्रिणयेव ततोस्त्यामहीस्ता।
ज्ञेयायानन्तरं पौराविह्योत ततोऽरिभिः॥
यस्त्तेतानविनिर्जित्य वैरिणोविजिगीषते।
से।ऽजितात्माऽजितामात्यः श्रचुवर्गेण वाध्यते"—इति।

तदेवसुक्त-धर्मकलापेन संयुक्ती राजा प्रजाः पालयेत् । तदुक्तं सनुना,—

"एवं सर्वे विधायेदिमितिकर्त्त्रयमात्मनः। युक्तस्रेवाप्रमत्तस्य परिरत्तेदिमाः प्रजाः"—इति । प्रजा-रत्तेणे राज्ञः श्रेयोविशेष ऐहिक श्रामुश्चिकस्य शान्तिपर्व्यणि-दर्शितः,—

अजास समवर्तिनाः,—इति सु० पुक्तको पाठः।

⁽१) कामजेषु पानादिचतुळां को धजेषु दर्ग्डपातनादि चिकां च करतनत्वे-नेक्तिम्। तान्येवाच 'सप्त' प्रब्देन निर्दिश्यन्ते। तान्येव च करतमत्वात् मण-इटाखीय चन्ते।

"क्तियञ्च पुरुषामार्गं धर्नाखद्वार-स्विता ।
निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदा रचित स्विमपः ॥
धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंधन्ति परस्परम् ।
श्रनुयुद्धान्ति चान्योन्यं यदा रचित स्विमपः ॥
यजन्ते च महायज्ञेक्तयोवणाः पृथिविधः ।
युक्ताञ्चाधीयते वेदान् यदा रचित स्विमपः ॥
यदा राजाऽऽयुधं श्रेष्ठमादाय वहित प्रजाः ।
महता वखयोगेन तदा खेकान् समस्रुते"—इति ।
गामायणेऽपि,—

"यः चित्रयः खधर्मेण पृथिवीमनुशास्ति वै । स लोने सभते वीर्थं यद्यः प्रत्य च सङ्गतिम्"—इति । श्रपासने दोषः श्रान्तिपर्ञीण दिश्रितः,—

> "यानं वस्ताण्यलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च । इरेयुः सहसा पापाः, यदि राजा न पालयेत्॥ पतेद्वज्ञविधं ग्रस्तं न क्षिनं विणक्पयः। सम्बद्धसंस्तयी न स्थात् यदि राजा न पालयेत्"—इति।

> > ॥०॥ इति राज-धर्म-प्रकरणम्॥०॥



^{*} षात्र, खनुरुधान्ति,—इति पाठे। भवितुं यहाः।

ऋय वैश्य-धर्मा-प्रकर्णम्।

कस-प्राप्तान् वैग्यस्यासाधार्ण-धर्मानार,-

लाभकर्म तथा रतं गवां च परिपालनम्। रुपि-कर्मच वाणिज्यं वैग्य-रुक्तिरदाहृता॥६३॥

लाभाधं कर्मा, लाभकर्मा; कुमीदाद्युपजीवनिमत्यर्थः । रत्नं मणि-सुकादि। तेन च तत्परीचण-क्रय-विक्रया उपलच्छन्ते । गवां पालनं विणादकप्रदान-वन्धन-मोचन-दोइनादि । क्रिकिग्म, श्वामिकर्षण-वीज वापनादि । वाणिज्यं क्रयिक-धान्यादि-क्रय-विक्रया । कुमीदादीनां वैग्य-धर्मालमाइ याज्ञवल्क्यः, —

"कुषीद-कवि-वाणिच्यं पाष्ठ्रपाच्यं विषः स्रतम्"—इति। अनुरपि,—

"पशूनां रचणं दानमिज्याऽध्ययनसेवच। विणक्पयं कुमीदच्च वैश्वस्य कृषिसेवच"—इति। समादिशदिति शेषः। वराइपुराणेऽपि,—

> ''खःध्यायं यजनं दानं कुसीद-पश्चपालनम्। गोरचां कृषिवाणिज्यं कुर्यादेश्यो यथाविधि''—इति।

पग्रुपालनं श्रजायादि-पालनं, गोग्रन्दस्य पृथगुपात्तलात्। श्रानु-ग्रामिनके विक्रेय-द्रव्याण्यपि निद्धितानि,—

"तिल-चर्म-रमार्थेव विक्रयाः पश्चवाजिनः। विणक्षयमुपासीनैवेश्यवेश्य-पथि-स्थितैः"—इति । श्रान्तिप्रविण जावान्युपास्यान-प्रमङ्गेन वैग्यधर्माम्ब्रलाधारेणोदिताः,— खाभकर्मादीनि वाणिच्यान्तानि, तानि सर्वाणि वैश्वदत्तिः वैश्वस्य जीवनहेतुः,—द्रत्यर्थः । तदुक्तं मार्कण्डेये,—

"दानमध्ययनं यज्ञोवैश्वस्थापि निधैव सः । वाणिज्यं पाग्छपात्यच क्षविश्ववास्य जीविका"—इति । श्रर्घ-विज्ञानादयो वैग्यधर्मावेन द्रष्ट्याः । श्रतएव मनुना वैग्यधर्मीषु पठिताः,—

"वैश्वस्तु क्रत-संस्कारः क्रला दार्-परिग्रहम्। वार्त्तायां नित्ययुक्तः स्वात् पत्रूनाञ्चैव रचणे॥ प्रजापति हैं वैश्वाय स्टूषा परिददे पशून्। न च वैश्वस्य कामः स्थात्र रचेयं पशूनिति॥ वैग्ये चेच्छति नान्येन रचितव्याः कथञ्चन। मणि-मुक्ता-प्रवालानां सौद्यानां तान्तवस्य च॥ गन्धानाञ्च रमानाञ्च विद्याद्घेवसावसम् । वीजानासुप्तिविच स्थात् चेच-देष-गुणस्य च ॥ मान-चार्गाञ्च जानीयानुबा-चार्गाञ्च सर्वतः । सारासारञ्च भाष्डानां देशानाञ्च गुणागुणम्॥ साभासाभञ्च पण्यानां पश्रूनाञ्च विवर्द्धनम्। सत्यानाञ्च सति विद्याद्गाषाञ्च विविधानृणाम्। द्रवाणां स्थान-यागांश्व कयं विक्रयमेवच ॥ धर्मेण च द्रंय-दृहावातिष्ठे यत्रमुत्तमम्। दद्याच सर्वस्रतानामन्तरेव प्रयत्नतः"—द्ति। क्षवि-वाणिज्य-गेरिचाः वार्त्ताश्रव्देनेाच्यनो, मानवागा श्रञ्जित- प्रस्वादि-सधाः। मूलक्षने 'लाभकर्ष'-इत्यन, 'लौहकर्ष'-इति के चित् पठिना। लौहस्य सुवर्णरजतादेरघपरिज्ञान-क्रयादिकं तत्क-र्किति याख्येयम्। लौहानाञ्चेति मनुपठितलात्। यथे।क्रधर्मानुष्ठाने फलमायमेधिके वर्णितम्,-

"विषिग्धर्माञ्च सुचन् वै देव-ब्राह्मण-पूजकः । स विषक् स्वर्गमाप्तीति पूज्यमानीऽपारीगणैः"—इति । वैपरीत्ये देाषः ग्रान्तिपर्वणि दर्शितः,—

> "यः करेति जनान् साधून् विलक्षिणि वञ्चनस्। स याति नरकं घोरं धनं तस्यापि चीयते"—इति। ॥०॥ इति वैध्यधर्म-प्रकरणस्॥०॥

क्रम-प्राप्ता म्कूट्रस्यामाधारण-धर्माना स्-

श्रूद्रस्य दिज श्रुश्रूषा परमाधर्मा उच्चते। श्रान्यथा कुरुते किञ्चित्तद्भवेत्तस्य निष्णलम्॥ई४॥

श्रव, दिज-प्रव्दो बाह्यण-परः, तत्-ग्र्श्रुषायाः परमलं निः-श्रेयम-हेतुलात्। तदाह मनुः,—

> "विप्राणां वेदविदुषां ग्रन्नस्थानां स्थास्तिनाम्। ग्रुश्वेव तु श्रद्गस्य धर्मे। नैश्रेयमः परः॥ ग्रुचिक्त्लष्ट-ग्रुश्रृषुर्म्टदुः शान्तोऽनत्तंकतः। बाह्यणोपास्रयोनित्यमुत्कष्टां जातिमश्रुते"—इति।

विष्णुपुराणेऽपि,—

रजतादेरर्घंपरीच्याचानकयादिकं, इति सु॰ मुक्तके पाठः

"दिज-प्राभुषयेतेष पाकयश्चाधिकारतान्। निजान् जयित वै लोकान् शुद्रोधम्यतरः सहतः"—इति । भानुशाधनिकेऽपि,—

> "रागेदिषश्च से एश्च पारुषश्च नृशंकता। श्रायघ दीर्घवेरत्नमितमानमनार्ज्ज्वम्॥ श्रमतश्चातिवादश्च पेश्चन्यमितिलेशमता। निक्तिश्चाप्यविज्ञानं जनने श्रुद्धमाविश्वत्॥ दृष्ट्वा पितामदः श्रुद्धमभिश्वतन्तु तामधेः। दिज-श्चश्रूषणं धर्मं श्रद्धाणाञ्च प्रयुक्तवान्॥ नश्चित्त ताममाभावाः श्रद्धस्य दिजभित्ततः। दिज-श्चश्रूषया श्रद्धः परं श्रेथोऽधिमच्कृति"—दिति।

परम, -दित विशेषणादन्येऽपि केचन धर्माः मन्तीति गम्यते। ते च देवलेन दर्शिताः, -- 'शूद्रधर्मास्तिवर्ण-ग्रुष्ट्रष्ट्रा कलचादि-पेषणं कर्षण-प्रग्रुपालन-भारे। दहन-पण्ययवहार-चित्रकर्म-नृत्य-गीत-वेणु-वीला-सुरज-म्हदङ्ग-वादनानि"-दिति। विष्णुपुराणेऽपि, --

"दानञ्च दद्याच्छूद्रोऽपि पाकयज्ञैर्धजेत च। पित्रादिकञ्च वै सर्वे ग्रुद्धः कुर्वीत तेन वा"—इति। याज्ञवक्क्योऽपि,—

"भार्यारतः ग्रुचिर्म्धत्य-भक्तां श्राद्ध-क्रिया-परः। नमस्कारेण मन्तेण पत्र यज्ञात्र द्वापयेत्"-दति। ग्रान्तिपर्व्वर्ण्यपि,—

"खाहाकार-नमस्कार-मन्त्रं गूद्रे विधायते।

ताभ्यां श्र्ष्ट्रः पाकयज्ञीर्यजेत ब्राह्मणान् ख्यम् ॥
सञ्चयां च न कुर्वीत जातु श्रूद्रः कथञ्चन ।
सेवया हि धनं लब्धा वश्रे कुर्याद्गरीयमः ॥
राज्ञा दानमनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः"—दति।
श्रानुशासनिकेऽपि,—

"श्रि संकः ग्रभाचारे। देवता-दिज-पूजकः। ग्रह्रोधर्म-फलेरिष्टेः खधर्मी एव युज्यते"-दित।

न नेवलं विप्र-श्रुष्या निश्रेयसार्था, श्रिप तु वृत्त्यर्थाऽपि । श्रुत एव प्रकल्प्यमाना वृत्तिर्भनुना दर्शिता,—

"प्रकल्पा तस्य वै वित्तः स्वकुटुम्बाद्यघाईतः।

श्वितिषावेत्त्य दात्त्यञ्च में स्वत्यानाञ्च परिग्रहम्॥

प्रक्लिप्टमनं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च।

पुलाकाञ्चेव धान्यानां जीर्णाञ्चेव परिच्हदाः"-इति।

श्वािकापर्व्याप्यात्

"यश्च कञ्चिद्विजातीनां भूद्रः ग्रःश्रूषुराव्रजेत् । प्रकल्प्या तस्य तैराद्धर्यत्तिर्धर्मविदेशजनाः॥ क्रच-वेष्टन-पुद्धानि उपानद्वजनानि च। द्यातयामानि देयानि भूद्राय परिचारिणे"—इति।

श्रन्यया दिज-ग्रंश्रूषामन्तरेण यदि किञ्चित् पाकयञ्चादिकं कुर्यात्, तत्सर्वं निष्फलं भवेत्। तदुकं मनुना,—

^{*} ब्रह्मवान्, — इति ग्रा॰ पुस्तके पाठः।

पे अति ख, - इति मु॰ पुन्तके खाउः।

"विप्र-सेवैव श्र्द्रस्य विधिष्टं कर्म कप्यते। यदतोऽन्यद्धि कुर्ते तद्भवेत्तस्य निष्णकम्"—दति।

तस्मान, दिज-ग्रुश्रूषैव तस्य प्रसाधर्मः, चित्र-वैश्व-ग्रुश्रूषा तु केवल-वृत्त्यर्थलादप्रसोधर्मः। श्रतएव सनुना, विप्र-ग्रुश्रूषायाउस-यार्थलिमतर-ग्रुश्रूषायाः केवल-वृत्त्यर्थलञ्च दर्भितम्,—

> "शूद्रम्त द्विमाकाङ्कन् चनमाराधयेद्यदि। धनिनं वाऽणुपाराध्य वैश्यं श्रद्धोजिजीविषेत्॥ स्वर्गार्थमुभयार्थं वै विप्रानराधयेत् तु सः"।

जात-ब्राह्मण-मञ्दः स्थात् मा ह्यस्य क्षतकत्यता । यदा दिज-मह्मम् प्रया जीवितुं न मक्षोति, तदा किं कुर्या-दित्यतमार,—

लवणं मधु तैलन्ब दिध तक्षं घतं पयः। न दुष्येच्छूद्रजातीनां कुर्यात्सर्वेषु विक्रयम्॥ई५॥

ग्रुश्रूषया जीवितुमग्रक्तोजीवनाय जवणादिषु सर्वेषु विक्रयं कुर्श्वात् । नन्, जवणादीनि विक्रीयमाणानि विक्रेतुर्देषमावहन्ति । तदाह याज्ञवक्यः,—

> "फलोपलवीमसामनुखापूपवीरुधः। तिलीदनरसवारान् दिध चीरं घृतं जलम्॥

ब्राह्मगानेव राधयेत्,—इति ग्रा॰ स॰ पुक्तकयेाः पाठः ।

[†] जातबाद्धार्यप्रव्दर्य नह्यस्य कतकत्वता,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] यदि सुश्रूषया जीवितुं न शक्तोति, जीवनाय खवणादिविकायं कुर्यात्, — इति सु॰ पुन्तके पाठः ।

वधा-रस-मधूच्छिष्ट-मधु-लाचाः सवर्षिः।

स्चर्ध-पुष्प-तातप-नेग्न-तक-विष-चितोः ॥

कौग्रेय-नील-लवण-मांग्रेकणफ-घीषकान्।

ग्राकार्द्रे।षधि-पिण्याक-पग्रु-गन्धां लचित च॥

वैग्य-रुच्याऽपि जीवन्ने। विक्रीणीत कदाचन।

लाचा-लवण-मांग्रानि वर्जनीयानि विक्रये॥

पयोद्धि च मद्यं च हीनवर्ण-कराणि च"—इति।

श्रीनवर्णः ग्रुद्रः। मैवम्, श्रस्य ब्राह्मण-विषयलात्। श्रतएव मनुः,—

"सद्यः! पतित मांग्रेन लाच्या लवणेन च।

याहेण ग्रुद्रोभवति ब्राह्मणः चीर-विक्रयात्?"—इति।

श्रद्रस्त स्वणादीनि विक्रीणत्रिप न दुख्येत्। 'विक्रीणन्'—इति पदं वच्छमाण-स्नोकादनुषच्य योजनीयम्। याज्ञवस्कोऽपि श्रुश्रू-षया जीवितुमशक्तस्य श्रूद्रस्य वाणिच्यादिकमाइ,—

"श्रद्रस्य दिज-श्रुश्रूषा तथाऽजीवन् विषयावेत् । शिन्पैर्वा विविधेर्जीवेत् दिजाति-हितमाचरन्"-इति । यैः कर्मभिर्दिजातयः श्रुश्रुष्यन्ते, तैरित्यर्थः । सनुरुपि,—

^{*} शस्त्रासवमधूच्छिष्टमधुलाचाः,—इति सु॰ पुल्तके पाठः।

[†] पयोदिध च, — इत्यादि, ग्रूडः, — इत्यन्तं नास्ति सुदितातिरिक्तपुष्तः केषु।

^{ां} सम्यक्, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[🤉] च्लीरविकायी,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[॥] श्रूदत्त् नवगादीनि विक्रीणव हि दुखति,—इति स्त्रोकार्द्धतयेव कि-खितमत्ति मु॰ पुत्तके।

"श्रम्भ त्रं ग्रुश्रूषां ग्रूट्रः कर्तुं दिजन्मनाम्।
नुवदारात्ययं प्राप्तोजीवेत्कारुक-कर्मभिः॥
यै: कर्मभिः सुचिरतेः ग्रुश्रूव्यन्ते दिजातयः।
तानि कारुक-कर्माणि ग्रिन्यानि विविधानि च"-ति॥
ग्रूट्रस्यापि वर्ज्यानान्ह,—

विक्रीणन् मद्य-मांसानि ह्यभश्रस्य च भश्रणम्।
कुर्वनगम्या गमनं श्रूद्रः पतित तत्श्रणात् ॥ ६६॥
कपीला श्रीर-पानेन ब्राह्मणी गमनेन च।
वेदाश्रर-विचारेण श्रूद्रः पतित तत्श्रणात् ॥ ६७॥
मद्यं च वज्जविधं; ताल-पानम-द्राच-माधूक-खार्जूरादिकम्।
श्रमच्यं गो-मांमादि। श्रगम्या भगिन्यादयः । स्पष्टमन्यन्।

॥०॥ इति श्रूट्र-धर्म-प्रकरणम्॥०॥
प्रखाता हि पराश्चर-स्तितिह स्तत्यागमख्यापनं
धर्मोवर्ण-चतुष्ट्यी-बद्धमता साधारणाख्याभिधा ।
श्राद्यस्वाह्मिक-श्रिष्ट-नाम-विहितः षट्कर्म-पूतीऽपरः
पूर्व्वाध्याय-निरूपितं तदिख्लं व्याख्यत् सुधीर्माधवः॥

इति श्रीराजाधिराज-परमेश्वर-वैदिकमार्गप्रवर्त्तक-श्रीवीर-वुक-भ्रापाल-साम्राज्य-धरम्बरस्य माधवामात्यस्य छतौ परागर-स्तिन-चाल्यायां प्रथमीऽध्यायः॥०॥

^{*} श्रृद्रसाखालतामियात्,—इति स॰ ग्रा॰ पुन्तकयोः पाठः। † ब्राह्मण्यादयः,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

श्रय दितीयोऽध्यायः।

वागी शाद्याः सुमनसः सर्वार्थानासुपक्रमे । यं नला कतकत्याः स्युः तं नमामि गजाननम्॥

प्रथमें धाये वासेन पृष्टयोर्वर्ण-चतुष्टय-साधारणासाधारण-धर्म-योर्मध्ये साधारण-धर्मी संचिष्णासाधारण-धर्मीः प्रपितः, श्रिथेदानी संचिप्तः साधारण-धर्मी दितीयेऽधाये प्रपञ्चरते।

श्रयना, पूर्वाध्यायश्रामुश्रित-धर्म-प्राधान्येन प्रवृत्तः, श्रयनु ऐहिक-जीवन-हेतु-धर्मः प्राधान्येन प्रवर्त्तते । तचादावध्याय-प्रति-पाद्यमधें प्रतिजानीते,—

श्रतः परं यहस्यस्य कर्माचारं † कलौ युगे। धर्मा साधारणं श्रत्त्व्या चातुर्वर्ण्याश्रमागतम्॥१॥ तं प्रवस्थाम्यहं पूर्व्व पराश्रर-वचेायथा।

श्रतः परं, चातुर्व्वर्ण-साधारण धर्म-संचेपेणारुत्तरिस्त्रम् काले । सएव विस्तर-कथनकोचिते। वसरः । वड्ड-ग्रन्थ-पाठ-श्रक्ति-रिताम् अन्द-प्रज्ञान् प्रति संचेपेणाभिद्ति सति, समर्थानासुत्तमप्रज्ञानां बुद्धिस्वलात्तान् प्रति विस्तरेण कथितुसुचिनलात्। श्रतएवाडः-राचार्थाः,—

^{* &#}x27;धर्म्' पदं नास्ति मु॰ पुक्तके ।

र् धर्माचारं,--इति स॰ सा॰ ग्रा॰ पुक्तकेषु पाठः।

"संचेप-विस्तराभ्यां हि मन्दोत्तमधियां नृणाम्। वस्त्रच्यमानमधन्तः करणं तेन तथते"—इति।

चदा, श्रतःपरं श्रामुश्रिक-प्रधान-धर्म-कथनादनन्तरम्। "घट्-म्राभिरतः" "सन्ध्या स्नानम्"—द्रत्यादिना स्नामुश्रिक-फले धर्मेऽभि-दिते सत्यैदिक-फलस्य कथादि-धर्मस्य बुद्धिः श्रत्यात् तदभिधानस्य स्नोऽवसरः।

वच्यमाण्य क्यादि-धर्मध्य ब्रह्मचारि-वन्य-यित्वसभवमिनग्रेख तद्योग्यमाश्रमिणं दर्भयति,—'ग्रहस्यस्य'—इति। कत-चेता-दापदेषु वैग्यस्यैव क्रव्यादावधिकारे । तृ ग्रहस्यमाचस्य विप्रादेरते विश्वनष्टि,—'कली युगे'—इति। कर्मप्रब्दोलोके व्यापारमाचे प्रयुच्यते,
श्राचारप्रबद्ध धर्मक्षे प्रास्त्रीये दापारे। क्रव्यादेस्तु युगान्तरेषु
कर्मानं, कलावाचारलमित्युभयक्ष्पतमस्ति। तथेवाश्रमान्तरेषु कर्मानं
गार्चस्ये लाचारचित्रभयक्ष्पता। तदिवचया 'कर्माचारम्' इत्युक्तम्।
कली ग्रहस्यस्य याजनादीनां दुर्लभलाक्षीवन-हेतुतया क्रव्यादि-विधानादाचारलसुपपत्रम्।

क्यादेः साधारण-धर्मात्रमुपपादयित,—'चातुर्वर्धात्रमागतम्'
—दित । चतुर्वर्णापव चातुवर्धम् । तत्र सर्वत्रैव प्रसिद्धः श्रात्रमोगार्चस्थारूपः । सन्ति हि श्रूद्रस्थापि विवाद-पञ्चमहायज्ञादयोः
गटहस्य-धर्माः । एतत् सर्वमसाभिः उत्तरत्रात्रम-निरूपणे विस्पष्टमभिधास्यते । तस्मित्रात्रमे विधानात् साधारण्यम् । पराग्ररग्रन्देनाचातीतकस्पोत्पन्नोविवित्तिः । एतदेवाभिय्यच्चित्तं 'पूर्वम्'—दत्युक्तम् ।
पूर्वकन्य-सिद्धं पराग्रर-वाक्यं कलि-धर्भे क्रयादौ यथा वन्तं, तथैवाइं

संप्रवच्छामि। श्रतः, यम्प्रदायागतलात् क्षयादेराचारतायां न विवादः कर्त्त्रयः, - दत्याग्रयः। 'गुरुतरविषये विनयः कर्त्त्रयः' देति ग्रिष्टा-चारं ग्रिचयितुं 'श्रत्या सम्प्रवच्यामि' दत्युक्तं, न तु किसांश्रद्धकीं स्वस्थायिकं द्योतियितुम्। किल-धर्म-प्रवीणस्य पराधरस्य तचाग्रत्य सम्भवात्॥

प्रतिज्ञातं धर्में दर्शयति,—

षर्कर्य-सिहताविप्रः क्षिकर्या च कार्यत् ॥२॥

षट्कर्माणि पूर्वीकानि; यजनादीनि, सन्धाऽऽदीनि च। तैः सिहिताविमः ग्रुष्ट्रविकेः ग्रुष्टैः किषं कारयेत्। न च याजनादीनां जीवन-हेतुलात् किमनया क्रयेति वाच्यं, कली जीवन-पर्याप्ततया याजनादीनां दुर्लभवात्। यत्तु मनुनेक्तम्,—

'वैश्व-रत्या तु जीनंसु ब्राह्मणः चित्रयोऽपि वा। हिंसा-अयात् पराधीनां * कृषिं यत्नेन वर्क्कयेत्॥ कृषिं साध्वित सन्यन्ते सा रुक्तिः सदिगर्हिता। स्रुमिं स्रुमिश्यांस्वेव हन्ति काष्ठसयोसुखस्"— द्रति।

तत् खयङ्गाभिप्रायम् । श्रन्यथा, मनाः ख-वचन-विरेधात्। खेनैव क्षविरभ्युपगताः;

"उभाभ्यामणजीवंसु कथं स्थादिति चेद्भवेत्। कृषिगोरचमास्थाय जीवेदैग्यस्य जीविकाम्'—दित । ननु,कूर्म्यपुराणे खयं कृता कृषिरभ्युपगता,—

षीविष्याप्रदामेघां,—इति मु॰ प्रत्ते पाठः।

"खयं वा कर्षणं कुर्यादाणिकं वा कुर्यादकम्।

कष्टा " पापीयसी वृक्तिः कुसीदन्तां विवर्क्तयेत्"—इति ।

तन्त्र, श्रस्य वचनस्य कुसीद-निन्दा-परत्नात्। श्रतण्व नारदः,—

"श्रापत्स्विपच कष्टासु ब्राह्मणस्य न वार्ड्रुषम्"—इति ।

ननु, ष्ट्रस्यितिः स्वयङ्गर्मृकां कृषिमङ्गीचकार,—

"कुषीद-क्षि-वाणिच्यं प्रकुवीताख्यंकृतम्।

श्रापत्काले खयं कुर्वन्नेनमा युज्यते दिजः"—इति।

वाढं, कारियतुमणश्रक्तस्य तत्कर्त्तृत्वम्, 'श्रापत्काले'—इति विशेचितत्वात्। ननु, कारियद्वतमणापिद्वषयमेवः क्षवेंश्य-धर्मावादिप्रस्य
याजनादीनामेव सुख्य-जीवन-हेतुत्वात्। एवं तद्धापत्तारतस्येम
व्यवस्थाऽस्तः। श्रन्यापदि कारियद्वत्वम श्रन्तापदि कर्त्तृत्वम्,—इति।
श्रिथवा, युग-भेदेन व्यवस्थाष्यताः; युगान्तरेषु कारियद्वत्वमापद्वर्षः,
काली सुख्यधर्मः, प्राधान्येने।पक्तस्य प्रतिपादनात्।
तत्र, कृषी हालिकस्य वलीवर्द्ध-संस्था-नियममाह हारीतः,—

"श्रष्टागवं धम्म्येइलं षड्गवं जीवितार्थिनाम्। चतुर्गवं नृशंघानां दिगवं ब्रह्मघातिनाम्"—इति। तचान्तौ पचौ देयौ † इतराविष क्रमेण सुख्यानुकल्पौ द्रष्ट्यौ॥ कृषौ वर्च्यान् वलीवर्द्वानाद,—

खुधितं तृषितं श्रान्तं वलीवृर्द्धं न योजयेत्। होनाङ्गं व्याधितं ज्ञीवं रुषं विप्रोनं वाहयेत्॥३॥ इति।

^{*} तेन,-इति मु॰ पुस्तके पाउः।

[†] तनाद्यौ पद्मावद्यमतया हेथौ, — इति सु॰ पुलको पाठः।

चुधादयस्तन्तिः त्वगन्तयाः । दीनाङ्गः पाद-विकसः । क्षीवः पुंस्त-रहितः ॥ कोदृशस्तर्हि वसीवर्द्धः कृषी योज्यदत्यतत्राहः,—

स्थिराङ्गं नीरुजं तृतं सुनदें षण्डवर्ज्जितम्। वाइयेहिवसस्याह्वं पश्चात् स्नानं समाचरेत्॥४॥ इति।

→ स्थिराङ्गः पादादि-वैकल्य-रहितः। नीक्जाव्याधि-रहितः। त्यप्तः चुन्तृष्णाभ्यामपीडितः। सुनर्द्धी हिंसको दृप्तः अम-रहितः,—दिति यावत्। षण्डेति भाव-प्रधानानिर्देशः। षण्डल-वर्जितः पुंस्लोपेतः याक्तः,—दिति यावत्। दिवसस्याद्धें याम-दयम्। 'पयात् स्नानं समाचरेत्'—दिति, वर्लावर्द्धान् स्नापयेदित्यर्थः। तथा च हारीतः, —"स्नापियलाऽनडुहोऽलङ्कृत्य ब्राह्मणान् भोजयेत्"—दिति। वाहने विभोषः श्रायसेधिके दिर्भितः,—

> ''वाइयेद्धुंकतेनेव प्राखया वा सपत्रया। न दण्डेन न यद्या वा न पाग्रेन च वा पुनः॥ न चुन्यणाश्रमश्रान्तं वाइयेदिकलेन्द्रियम्। स्रव्हतेषु च भुद्धीयात् पिवेत् पीतेषु चोदकम्॥ श्रक्तः पूर्वे दियामं वा धुर्याणां वाइनं स्रतम्। विश्राम्देक्षध्यमे भागे भागे चान्ये यथास्खम्॥ यत्र वा लर्या नित्यं संश्रयोयत्र वाऽध्वनि। वाइयेन्तत्र धूर्यांस्तु म स पापेन खिप्यते॥ श्रन्यथा वाइयन् राजन्, नियतं याति रौरवम्।

रुधिरं वाइयेत् तेषां यसु मोद्दान्तराधमः।
भूण-दत्या-समं पापं तस्य स्थात् पाण्डुनन्दन"—दति॥
वस्तीवर्ड्ड-स्नापनानन्तरं कर्त्तव्यमादः,—

जणं देवार्चनं होमं खाध्यायच्चैवमभ्यमेत्। एक-दि-चि-चतुर्व्विप्रान् भोजयेत् स्नातकान् दिजः॥५॥

यथा, वलीवर्द्ध-श्रान्ति-कत-दोषापनयनाय खापनं, एवं प्राणुपघात-दोषापनयनाय यथाप्रिक जप्यादीनामन्यतममनुतिष्ठेत्।
एकं दो नीं खतुराविप्रान् खातकान् यथाप्रिक भोजयेत्। खातका
नवविधिभिनुकाः। तदाइ मनुः,—

"सान्तानिकं यच्यमाणमध्यगं सर्ववेदसम्। गुर्व्वर्थं पित्रमात्रथे खाधायार्ध्युपतापिनम्"—इति ।

षान्तानिकं पन्तानाय विवाहोपयुक्त-द्रवार्धिनम्। प्रक्वेद्यः पर्वेख-दित्तणं यागं कता निखलमापन्नोद्रवार्थी, तिमत्यर्धः। पित्यमान्धे पित्र-मात्र-प्रतुष्ट्रप्रवाद्यिनम्। खाध्यायार्थी खाध्याय-प्रव-चन-निक्वाहाय द्रव्यार्थी, उपतापी रोगी, खाध्यायार्थि-महितः उपतापी खाध्यायार्थ्यपतापी, तिमति मध्यम-पद-लोपी समासः। तावुभावित्यर्थः॥

क्रषो फलितस्य धान्यस्य विनियोगमाइ,—

खयङ्कृष्टे तथा क्षेत्रे धान्यैश्व खयमर्जितैः। निर्व्वपेत् पष्चयज्ञांश्व कतु-दीक्षाष्ट्र कारयेत्॥ई॥ दति। यानि खयङ्गृष्टे चेचे फिलितानि धान्यानि, यानि वाऽन्यैः किर्षिते चेचे खयमितितानि धान्यानि, तैः धर्चेः स्मान्तान् पञ्चमहा-यज्ञान् श्रीतामि प्रश्निमादि-कातु-दीचाञ्च कुर्यात्। कार्यदिति खार्घिके एप् । श्रयवा, खयञ्च महायज्ञान् कुर्वीत, यियनुभ्यो-धान्यं दला तैः कातु-दीचाञ्च कार्येत्। क्रूर्मपुराणेऽप्येष विनियोगो दिर्घतः,—

''लअलाभः पित्वन् देवान् ब्राह्मणां श्वापि पूजयेत्। ते तप्ताः तस्य तद्दोषं ग्रमयन्ति न संग्रयः"—इति ॥ कषीवलस्य तिलादि-धान्य-सम्पन्नस्य धन-लेभिन प्रसप्तिला-दिविकयस्तं निवारयति,—

तिलारसान विक्रेयाविक्रयाधान्य-तत्समाः। विप्रस्थैवंविधा दक्तिस्तृण-काष्ठादि-विक्रयः॥७॥ इति।

रमाः दिध-मधु-घृतादयः। यदि धान्यान्तर-रिहतस्य तिल-विक्रयमन्तरेण जीवनं वा धर्मावा न सिद्धोत्, तदा तिलाधान्यान्तरे-विनिमातव्याः,—द्वासिप्रत्य 'विक्रेयाधान्य-तत्समाः'—द्वाप्तम् । याविद्धः प्रस्थैस्तिलादत्तास्ताविद्धरेव धान्यान्तरसुपादेयं नाधिकिम-त्यर्थः। तदुकं नारदेन,—

> "त्रमन्ते जीवनस्वार्थे" यज्ञहेतोस्त्रस्वेवच । यद्यवस्थन्तु विक्रेयास्तिला धान्येन तत्समाः"—इति ।

^{*} भेषजस्यार्थे,— इति स॰ ग्रा॰ पुष्तकयाः पाठः।

याद्वावस्कारिण,-

"धर्मार्थं विकयं नेयासिलाधान्येन तत्समाः"—इति। तिलन्यायोर्येऽपि योजनीयः। श्रतएव मन्ः,—

"र्मारमैर्निमातवा न लेव लवणं र्षै:।

े क्रतात्रञ्चाकतात्रेन^{*} तिलाधान्येन तत्समाः''— इति ।

न्त्रापक्तम्बेरिप,—"त्रन्येन चात्रस्य मनुष्यानाञ्च मनुष्यैः रमानाच रमै: गन्धानाच गन्धैविद्यया च विद्यानाम्"—इति । र्म-विनिमये विश्रेषमाच विश्व :, — "र्यार्यैः समते हीनते वा निमातवाः"— इति। श्रव-विनिमये विशेषमाच गौतमः, - "समेनासमेन तु पक्करा" —इति। ननु तिल-विक्रयोऽभ्युपगतोमनुना,—

"कामसुत्पाद्य कथान्तु खयसेव कथीवलः।

विक्रीणीत तिलान् ग्रद्धान् धर्मार्थमितर-स्थितान्"—द्गति। श्रव केचिदाइः, - 'तदेतद्विनियमाभिप्रायम्'-इति। श्रपरे तु अन्यन्ते, ऋणापकरणाद्यापद्धमीर्थे तिल-विकयोन विक्टू:। श्रयभेव पचीयुकः, विशष्ठ-वचन-मंवादनात्। "कामं वा खर्य क्रयोत्पाद्य तिलान् विक्रीणीरन्"-इति । विनिमयाभिपाये तु वचनान्तरेण सद पौनक्ष्यमपरिदार्थं स्थात्। यतामनुनैव क्वनाम्नरेण 'तिला धान्येन तसमाः'—इति विनियमादर्शितः। यत्तन्यस्मिन्वचने त्रर्थात्तिसवि-क्रय-निषेधः प्रतिभाति । तथाचि मनुयमाभ्यासुपदर्शितम्,—

"भोजनाभ्यञ्जनाद् दानाद् यदन्यत् कुरुते तिसैः।

^{*} क्षताच्य क्षताद्वेग,--- इति ग्रा॰ प्रन्तके पाठः।

क्तिर्भ्हता म विष्टायां पिति भिः सह मक्जिति *''-इति। नायं दोषः। श्वावश्वक-धर्मी-व्यति रिक्त-विषयलात्। योऽयं तिलानां धान्य-समलेन विनियमः, यश्च त्रणादि-विक्रयः, सेयमेवं-विधा विप्रस्य जीवनार्था वृक्तिः। तथा च नारदः,—

"ब्राह्मणस्य तु विकेयं ग्रष्क-दाह-तणादिकम्" - द्रित ॥
ददानीं कषावानुषङ्गिकस्य पाप्मनः प्रतीकारं वक्तुं प्रथमतस्तं
पाप्मानं दर्भयित, -

ब्राह्मणश्चेत् कृषिं कुर्यान्महादेषमवाघ्रयात्॥ इति॥

क्षो हिंसायात्रवर्जनीयलात् सावधानस्यापि क्षषीवलस्य दोषो-ऽनुषज्यते दति । श्रव, हिंसायां पापिमिति मनुवचनं पूर्वमेवोदाह्यतम्॥ एकस्य दोषस्य महत्वं विश्वद्यति,—

संवत्सरेण यत्पापं मन्स्यघाती समाप्त्रयात् ॥ ८॥ आयोमुखेन काष्ठेन तदेका हेन लाङ्गली । इति ।

लोइ-महितेन लाङ्गल-मुखेन प्राणिनां चित्रवधोभवतीति मत्य-वधात् पापाधिकामुक्तम् ॥ डकरीत्या कर्षकमात्रस्य पाप-प्रमक्ती तद्वारियतुं विभिनष्टि,— पाश्रकोमतस्यधाती च व्याधः शाकुनिकस्तव्या ॥ १॥ श्रद्ता कर्षकश्चेव सर्वे ते समभागिनः। इति।

क्विभैवति विकायां कर्म्भणा तेन पापक्वत्, - इति सु॰ पुस्तके पाठः ।

वागुरां प्रमार्थे स्गादि-याही पाश्वकः । व्याभोस्ग-वधाजीवः । श्वाकुनिकः पचि-घाती । श्रदाता खले राश्विमूलमुपागतेभ्योऽप्रदाता । तेषां सर्वेषां प्रत्यवायः समानः । ततश्च, दृष्टान्तलेन पाश्वका-दयद्व वर्ण्यन्ते । यथा पाश्वकादीनां पापं महत्, एवमेवादातुः कर्षकस्वेत्यर्थः ॥

म् यद्धं कषीवलखा पामा दार्भतः, तमिदानी पाप-परिहार-प्रकारमाह,—

र्थां श्कित्वा महीं भित्त्वा हत्त्वा च स्नि-कीटकान्॥१०॥ कर्षकः खलयज्ञेन सर्व्वपापैः प्रमुच्चते । इति ।

क्रेंदन-भेदन-इननैर्यावन्ति पापानि निष्पद्यन्ते, तेषां सर्वेषां खले धान्यदानं प्रतीकारः । तथा च हारीतः,—

> "स्रमिं भिलोषधी क्लिता इला कीट-पिपीलिकाः। पुनन्ति खलयज्ञेन कर्षकानाच संग्रयः॥ यूपोऽयं निहितोमध्ये चिधिनाम हि कर्षकैः। तस्मादतन्तितेदद्यात्तव धान्यार्थद्विणाम्" - इति॥

खलयज्ञाकरणे प्रत्यवायमार,—

यान दद्याद्दिजातिभ्याराश्रिमूलमुपागतः ॥ ११॥ स चौरः स च पापिष्ठो ब्रह्मघन्तं विनिर्दिशत्। इति। कर्षकस्थायं खलयज्ञोनित्यः काम्यश्र,—इति वचन-दय-वलादव-

^{*} प्रत्यवाया,---इति सु॰ पुस्तको पाठः।

मध्ये इति सु॰ पुस्तके पाठः।

गम्यते। श्रकरणे प्रत्यवायात् नित्यत्वं, छेदनादि-पाप-निवर्णकतात् काम्यत्वस्र। खलयज्ञस्य नित्यत्वं भेरपुराणे दर्भितम्,—

"श्रद्त्वा कर्षकोदिवि, यस्तु धान्यं प्रवेशयोत् ।
तस्य वणाऽभिभ्द्रतस्य देवि, पापं व्रवीम्यदम् ॥
दियं वर्ष-सदसन्तु दुरात्मा कृषिकारकः ।
सहदेशे भवेदृत्तः स पुष्प-फल-वर्जितः ॥
तस्यान्ते मानुषोध्वा कदाचित्वाल-पर्ययात् ।
दिरद्रोत्याधितोमूर्षः जुल-दीनश्च जायते"—दिति ॥
दात्यस्य धान्यस्य परिमाणमादः,—

राज्ञे दत्वा तु पड्भागं दैवानाच्चैकविंशकम्॥ १२॥ विप्राणां चिंशकं भागं सर्वपापैः प्रमुच्यते*।

षट्स भागेष्वनेशागः , षड्भागः, एकविंग्रति-संख्येनेषु भागेष्वत्य तमोभागएकविंग्रकः। तदत् चिंग्रकेषु भागेष्यत्यतमोभागिक्तिंगः,— दति ज्ञेयम्। देववत् पित्रभ्योऽपि देयः। तद्कं कूर्म्यपुराणे,— "देवेभ्यस्य पित्रभ्यस्य दद्याद्वागं तु विंग्रकम्।

विश्रद्धागन्तु विश्राणां कृषिं कुर्वन दोषभाक्!"-इति। विश्रस्येषेतिकर्त्त्रयकृषिमुका वर्णान्तराणामपि तामाइ,—

चिंशद्भागं वास्त्राणानां कृषिं कुर्व्वदेषिभाक्,—इति सु॰ षुक्तके पाठः ।

t नास्त्ययमंग्रः सु॰ पुन्तके।

[🕽] दुर्घात, - इति सु॰ पुन्तके पाठः।

सिचिगाऽपि क्षिं कत्वा देवान् विप्रांश्व पूजयेत् ॥१३॥ वैष्यः श्रद्दस्तथा कुर्यात् कषि-वाणिज्य-शिल्पकम्। इति

वाणिज्य-शिन्पयोर्षि कली वर्ण-चतुष्ट्य-साधारणं दर्शयितं 'वाणिज्य-शिन्पकम्'—इत्युक्तम् । यद्यपि वैश्यस्य कृषिः पूर्व्वाध्याये विद्यिता, तथाप्यचेतिकक्त्रंयता-विधानाय पुनरूपन्यासः । 'तथा कुर्यात्'—इत्यतिदेशेन ब्राह्मणस्य कृषौ विद्यतितिकक्त्रंयता सर्वा-ऽप्यच विद्या सर्वति,—इति ॥

यदि श्रद्धस्थापि कथादिकमभ्युपगम्येत, तर्हि तेनैव जीवन-सिद्धेः कली दिज-श्रश्रूषा परित्याच्येत्याश्रङ्खाह,—

विकसी कुर्वते ग्रद्राः दिजशुत्रप्रयोक्झिताः॥१४॥ भवन्त्यल्पायुषस्ते वै निर्यं यान्त्यसंशयम्। इति।

लाभाधिकोन विशिष्ट-जीवन-हेतुलात् क्यादिकं विकर्षेत्युच्यते । दिजग्रस्रूषया तु जीर्ण-वस्त्रादिकमेव लभ्यते दति न लाभाधिकाम् । स्रतोऽधिक-लिपाया क्यादिकमेव कुर्वन्तायदि दिज-ग्रस्रूषां परि-त्यजेयुखदा तेषामैहिकमासुस्रिकञ्च सीयते॥

दत्यं वर्ण-चतुष्टय-साधारणं जीवन-हेतुं धर्में प्रतिपाद्य निग-मयति,—

चतुर्णामपि वर्णाणामेष धर्मः सनातनः॥ १५॥

श्रतीतेष्वपि कलियुगेतु विप्रादीनां कृष्यादिकमसीति स्वचितुं 'सनातनः'—इत्युक्तम् । यद्यपि स्रत्यन्तदेविवाचापि वर्ष-धर्मानन्तरमाश्रम-धर्मावनु-सुचिताः, तथापि व्यासेनापृष्ठलादाचार्येणोपेचिताः। श्रस्माभिस् श्रोत-दितार्थाय ते वर्ष्यन्ते। न च पूर्वाध्यायएव कुतोन वर्णितादति मन्तव्यम्, तच प्रसङ्गाभावात्। श्रच तु 'चातुर्वर्ष्याश्रमागतम्'— दत्याश्रम-श्रव्देन तेषां बुद्धिस्थलादस्ति प्रसङ्गः।

ते चात्रमाञ्चतुर्विधाः । तदुनं स्कान्दे,—

"ब्रह्मचारी ग्टहम्यञ्च वानप्रस्योऽघ भिनुकः ।

एते क्रमेण विप्राणां चलारः पृथगात्रमाः"—इति ।

मनुरिप,—

"ब्रह्मचारी ग्रहस्यस्य वानप्रस्थायतिस्तथा। एते ग्रहस्य-प्रभवास्त्रारः पृथगात्रमाः"—इति ।

ग्रहस्यप्रभवाः ग्रहस्योपजीविनद्द्यर्थः। तत्रोपनयनेन संक्षृतो-त्रह्मचारी, "त्रह्मचर्यमागासुप मा नयख"—दित मन्त्रवर्णात्। त्रह्माचर्यसृद्दिग्यागां मासुपनयस्व द्द्यर्थः। उपनयनच गर्याधाना-दिषु पठितवात् त्राह्म्यसंस्कारः । तदाह हारीतः,—"दिविधोहि संस्कारेभवित त्राह्म्योदैवस्य, गर्याधानादिसान्ती त्राह्म्यः पाकयज्ञ-हिवर्यज्ञाः सोम्यास्य देवोत्राह्म्येण संस्कृतस्वर्षाणां समानतां सायुज्यं गच्छति, देवेनेन्तरेण संस्कृतोदवानां समानतां सायुज्यं गच्छति" —दित ।

गर्काधानादयोगीतमेनानुकान्ताः,—"गर्काधान-पुंसवनानवले।-भन-सीमन्तीत्रयन-जात तर्भ-नामकरणात्रप्राधन-चौले।पनयनं चला-

^{*} ब्रह्मसंस्कारः, - इति सु॰ पुस्तको पाठः। एवं परच।

रि वेद-व्रतानि स्नानं सद्धर्मवारिणी-संयोगः पञ्चाना यज्ञानामत्-ष्ठानं त्रष्टका पार्वणत्राद्धं त्रावणाग्रहायणी चैत्याययुजी चेति सप्त पाकयज्ञ-संस्थात्रान्याधेयोऽग्निहोत्रं दर्भपूर्णमासाग्रयण-चातुर्मास्थानि निष्ड्पग्रवन्थाः सोत्रामणीति सप्त हिर्वयज्ञ-संस्थात्रग्निष्टोमोऽत्यग्नि-ष्टोमडक्यः वोड्गी वाजपेयोऽतिरात्राप्त्रोर्थामद्दति सप्त सेाम-संस्था-दृत्येते चलारिंगत् संस्काराः"—दति ।

तत्र, गर्न्नाधानादयश्रूड़ान्ताः संस्काराः वीज-गर्भ-जनित-दोष-निरुत्यर्थाः । श्रतएव याज्ञवल्काः चूड़ान्तान् संस्कारान् निरूप्याह,—

"एवमेनः ग्रमं चाति वीज-गर्भ-ससुद्भवम्"-इति।

श्रतोत्रह्मचर्थाश्रमात् प्राक् ते वर्णन्ते। तच, दिजानां गर्धा-धानादयः समन्त्रकाः कार्याः। तदास् याज्ञवल्काः,—

"ब्रह्म-चित्रय-विट् श्र्द्रावर्णास्वाद्यास्त्रयोदिजाः।

निषेकादि-आग्रानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः कियाः"—इति।

गर्ज्ञाधानादीनां काल-विशेषमाह सएव,-

"गर्चाधानस्तौ पुंषः सवनं खन्दनान् पुरा। षष्टेऽष्टमे वा सीमन्तौमाखेते जातकर्म च॥

श्रद्दन्येकाद्ये नाम चतुर्घे मासि निक्रमः।

षष्ठेऽन्नप्राधनं मासि चूड़ा कार्या यथाकुलम्"—इति। रंजादर्भन-दिवसमारभ्य षोड़ध दिवसाच्हतुः। तदाच मनुः,—

"चतुः खाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोड्ग स्टताः।

^{*} संस्काराः,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

चतुर्भिरितहैः बार्ड्डमहोभिः बिह्यहितैः ॥
तासामाद्याञ्चतसस् निन्दितैकादगी च या।
वयोदगी च ग्रेवाः स्युः प्रग्रस्तादग्र राज्यः ॥
युग्मास पुत्राजायन्ते स्तियोऽयुग्यास राज्यि।
तस्ताद्यग्मास पुत्रार्थी संविग्रेदार्त्तवे स्तियम्"—इति ।

रजोदर्भनमारभ्य चलार्यदानि सदिगर्हितानि । युग्मास समासु, संविभेत् गच्छेत् ।

एवस्तो गर्भाधानं छला गर्भ-चलनात् पुरा पुंसवनं कार्यम्।
तचलनं दितीये वा त्तीये वा अवित । तदाइ वैजवापः,—"मािष
दितीये वा पुरा खन्दतं"—दित । पारस्करे।ऽपि,—"मािध दितीये
वा त्तीये वा यदइः पुंसा नचनेण चन्द्रमा युक्तः खात्"—दित । पुं
नचनाणि च इसादीनि ज्योतिःशास्ते प्रसिद्धानि । श्रनवलोभनमाश्रनायन-गरह्यपरिशिष्टेऽवगन्त्र्यम् ।

सीमनोत्तयनस्य याज्ञवस्त्रोत्त-कलादन्येऽपि कालासुनिभिः दर्शिताः। तच लोकाचिः,—"तिये गर्भमासे सीमन्तेत्त्रयनं कार्यम्"—इति। त्रापलम्बोऽपि,—"प्रथमे गर्भे चतुर्थे मासि"—इति। वैजवापोऽपि,—"त्रथ, सीमन्तोत्त्रयनं चतुर्थे पच्चमे षष्ठे वाऽपि"—इति। साङ्घायनग्रह्येऽपि,—"सप्तमे मासि प्रथमे गर्भे सीमन्तोत्त्रयनम्"—इति। श्रङ्खायनग्रह्येऽपि,—"गर्भ-स्पन्दनमारभ्य सीम-न्तात्त्रयनम्"—इति। श्रङ्खारेऽपि,—"गर्भ-स्पन्दनमारभ्य सीम-न्तात्त्रयनं यावदा न प्रसवः"—इति। विश्रेषात्रवणात् सर्वेऽप्येते विकल्प्यन्ते। एतच सीमन्तात्त्रयनं चेत्र-संस्कारत्वात् सर्वेऽप्येते विकल्प्यन्ते। एतच सीमन्तात्त्रयनं चेत्र-संस्कारत्वात् सर्वेऽप्येते विकल्प्यन्ते। एतच सीमन्तात्त्रयनं चेत्र-संस्कारत्वात् सर्वेऽप्येते विकल्प्यन्ते। एतच सीमन्तोत्त्रयनं चेत्र-संस्कारत्वात् सर्वदेव कर्त्तव्यं न प्रतिगर्भम्। तथा च हारीतः,—

"बहात् संस्तृत-संस्तारा सीमन्तेन दिजस्तियः"—इति। देवलोऽपि,—

"सक्तत् संक्षता या नारी धर्वगर्भेषु संक्षता" — इति । गर्भ-संस्कार-पचे तु प्रतिगर्भमावर्त्तनीयम्। तथा च विष्णुः,—

''सीझन्ते। त्रयनं कर्मन स्त्री-संस्कारदयाते।

केचिद्रभेख संस्काराद्रभें गभें प्रयुद्धते"-इति ।

म्रानयोः पचयोर्घयाग्रह्यं स्ववस्था। श्रष्टत-सीमन्तायाः प्रसवे सत्यव्रतन्त्राह,—

> "स्त्री यद्यकत-सीमन्ता प्रस्त्येत कथञ्चन। ग्रहीत-पुचा विधिवत्युनः संस्कारमहिति"—इति।

जातकर्मणः कालोयाज्ञवल्कोन दर्शितः,—"मास्त्रेते जातकर्म च"-इति । एते त्रागते जातदित यावत् । विष्णुरिए,—

"जातकर्म ततः कुर्थात् पुत्रे जाते यथोदितम्" - इति । स्व-ग्रह्मे, - इति श्रेषः । तच स्नानानन्तरं कार्यम्। तथा च संवर्नः, -

"जाते पुत्रे पितुः खानं सचेलन्तु विधीयते"—इति । जातकर्भ च नाभि-वर्द्धनात् प्रागेव कार्य्यम्। तदाह हारीतः,—

"प्राङ्नाभिवर्ङ्गात् पुंचाजातकर्म विधीयते।

भन्तवत् प्रामिश्चास्य हिरण्य-मधु-मर्पिषाम्"—इति । वर्द्धनं केदनम् । न चामौच-मंकया कर्मानधिकारहति वाच्यं माभि-केदात् प्राममौचाभावात्। तदाद जैमिनिः,—

''यावन क्छियते नासं तावनाप्तीति स्नतकम्।

किने नाले ततः पञ्चात् स्नतकन्तु विधीयते"—इति । विष्णुधर्मात्तरे,—

"धिच्छिन्न-नाद्यां कर्न्तयं श्राद्धं वै पुत्र-जन्मिन । त्रभौचोपरमे कार्यमध्यवा नियतात्मिभः"—इति । तच श्राद्धं हेमा कार्यम् । तदाइ व्यामः,—

"द्रवाभावे दिजाभावे प्रवासे पुच-जन्मनि । हेना श्राद्धं प्रकुर्वीत यस्य भार्या रजस्वला"-इति । श्रादित्यपुराणे पकान्ननिषेधोदर्भितः,—

"जात-श्राह न दद्यामु पक्कानं ब्राह्मणेव्यपि।

यसाचान्द्रायण्यत् ग्रुद्धिस्तेषां भवित नान्यया"—इति।

तसिन् दिने यथाप्रिक्त दानं कर्मव्यम्। तद्क्रम् श्रादित्यपुराणे,—

"देवाश्च पितरश्चेव पुने जाते दिजन्मनाम्।

श्रायान्ति तसाम्तद्दः पुणं पूज्यञ्च सर्वदा॥

तत्र दद्यात् सुवर्णन्तु भूमं गां तुरगं रथम्"—इति।

पञ्चोऽपि,—"सर्वेषां सकुल्यानां दिपदं चतुष्पद-धान्य-हिर
ण्यादि दद्यात्"—इति। एतचाभौन-मध्देऽपि कार्यम्।

"श्रामौचे तु समुत्पन्ने पुन-जन्म यदा भवेत्।

कर्मुखात्कालिकी ग्रुद्धः पूर्वाभौचेन ग्रुद्धाति"—इति।

नामकरणस्य याच्चवल्योक्त-कालादन्येऽपि कालामनुना दर्भिताः,—

"नामधेयं दभम्यान्तु दादश्यां वाऽस्य कारयेत्।

पुण्ये तिथौ सुहर्म्ते वा नचने वा गुणान्विते"—इति।

^{*} बिपद,—इति नास्ति सु॰ पंक्तके 🖟

कारयेदिति खार्थिकोणिच्।

"ततस्तु नाम कुर्वीत पितेव दशमेऽहनि"—

दित विष्णुपुराण-वचनात्। यदा, पितुरभावे श्रयोग्यले वाऽन्येन कारयेत्। तदाइ प्रह्वः,—"कुलदेवता-नचत्राभिषंवन्धं पिता कुर्यादन्योवा कुल-रुद्धः"—दित । भविष्यतपुराणे,—

> "नामधेयं दश्रम्यां च केचिदिच्छन्ति पार्थिव"। दादश्यामथवा राचौ माचे पूर्णे तथाऽपरे॥ श्रष्टादशेऽचनि तथा वदन्यन्ये मनीविणः"—दित।

ग्रह्मपरिभिष्टेऽपि,—"जननाद्मराचे खुष्टे संवत्सरे वा नामकर-णम्"—दित । तच, ख-ग्रह्मानुसारेण व्यवस्था। नामधेय-खरूपञ्च वर्ण-भेदेन दर्भयति मनुः,—

> "माङ्गलां ब्राह्मणस्य स्थात् चित्रयस्य वलान्तितम्। वैश्यस्य धन-धंयुकां ग्रूद्रस्य तु जुगुस्तितम्। ग्रमीवद्ब्राह्मणस्य स्थाद्राज्ञोरचा-समन्तितम्। वैश्यस्य पृष्टि-संयुक्तं श्रद्रस्य प्रेष्य-संयुतम्॥ स्त्रीणां सुखोद्यमकूरं विस्पष्टार्थं मनेरसम्। मङ्गलां दीर्घ-वर्णान्तमाणीर्वादाभिधानवत्"—इति।

माङ्गल्यादीनि पूर्व-पदानि, शक्तादीन्युत्तर-पदानि। तथा च, नामान्येवं विधानि सम्पद्यन्ते ; श्रीशक्ता, विक्रमपालः, माणिकाश्रेष्ठी, दीनदासः,—दत्यादि। स्त्रीणान्तु श्रीदासीत्यादि। सुखोद्यं सुखेन वदितुं

सूर्यः,—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

[†] श्रूइस्य प्रेथ्यसंयुतम्, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

श्रव्यक्षित्यर्थः। श्रव विशेषमाह वैजवापः,—"पिता नाम करेत्येकाचरं ह्यचरं चतुरचरमपरिमितं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्यं दीर्घाभि-निष्ठानान्तम्"—दित । श्रवमर्थः,—घोषवन्ति यान्यचराणि वर्ग-तृत्वीय-चतुर्घानि, तान्यादौ कार्याणि। श्रन्तस्यायरखवामध्ये कर्त्त-व्याः। श्रिभिनिष्ठानेविसर्जनीयः। तथाच, भद्रपाले।जातवेदा-दृत्यादि नाम भवति। यथोक्ष-नाम-करणस्य फलमाहतुः शृङ्ख-चिखितौ,—"एवं कृते नाम्ब ग्रुचि तत्कुलं भवति"—दिति॥

श्रय निष्क्रमण्म्।

तच सनुः,—

"चतुर्घें आसि कर्त्तवां शिश्वोनिष्कुमणं रहात्"—इति । श्वन कर्त्तवास यमः,—

"ततकृतीये कर्त्तयं मासि सूर्यस्य दर्धनम्। चतुर्ये सासि कर्त्तयं प्रिशोश्चन्द्रस्य दर्धनम्"—इति। क्षोकाचिरपि,—''ढतीयेऽर्धमासे दर्धनमादित्यस्य"—इति। पुराणे-ऽपि,—

"दादग्रेड्नि राजेन्द्र, धिम्रोनिष्क्रमणं ग्रहात्। चतुर्धे मापि कर्त्तवां तथाऽन्येषाञ्च षमातम्"—दित। श्रवापि यथामाखं व्यवस्था।

श्रयानप्राश्नम्।

तच यमः, —

[🛎] तथाचन्त्रस्य,—इति सु॰ पुन्तको पाठः।

"ततोऽन-प्राधनं माधि षष्ठे कार्यं य्याविधि।

श्रष्टमे वाऽपि कर्त्त्वं यत्तेष्टं मङ्गलं खुले"-इति।

श्राह्वनोऽपि,—''संवत्सरेऽन-प्राधनमर्द्ध-संवत्सरदत्येके"। लोकाचिः,—

''षष्ठे मास्यन-प्राधनं जातेषु दन्तेषु वा"—इति। तन्न विधेषमाद्द

"देवता-पुरतस्त धाशुसङ्ग-गतस्य च।
श्रमञ्जूतस्य दातयमन्नं पाने च काञ्चने ।
सभ्याज्यकनकापेतं प्राग्रयेत् पायसं स तम् ।
कत-प्राग्रमथात्मङ्गाद्वानी वासं ससुत्मृजेत्"—इति ।
प्राग्रनानन्तरं जीविका-परीचा मार्कण्डेयेन दर्भिता,—
'श्रग्रतोऽय प्रविन्यस्य ग्रिन्पभाण्डानि सर्वग्रः ।
श्रस्ताणि चैव वस्तानि ततः पर्योनु स्नचणम् ।
प्रयमं यत् स्पृशेदासस्तोभाण्डं स्वयं तथा ।
जीविका तस्य वासस्य तेनैव तु भविष्यति"—इति ।
श्रिय चृड्राकरणम् ।

तच यमः,—

"ततः संवत्परे पूर्णे चूड़ा-कर्म विधीयते। दितीये वा त्तीये वा कर्त्तयं श्रुति-दर्भनात् ।"—इति। वैजवापः,—"त्तीयेवर्षे चूड़ा-करणम्"—इति। श्रङ्कोऽपि,— "त्तीये वर्षे चूड़ा-करणं पञ्चमे वा"—इति। स्रोकाचिरपि,—

[#] वाएं, — इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] श्रु िचीदगात्, - इति सु॰ पुक्तके पाठः।

"स्तीयस्य वर्षस्य स्विष्ठे गते चूड़ा-करणम्"—इति । श्रीनकी-ऽपि",—"स्तीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा"—इति । तन्न, ऋषि-भेदेन चूड़ा-नियमसाह लोकाचिः,—"द्विणतः कमुजा विषष्ठा-नाम्, जभयते।ऽनिकाग्धपानां, सुण्डाम्हगवः, पञ्च-चूड़ाश्रङ्गिरमः, मण्ड-लार्द्ध-श्रिखिने।ऽन्ये, यथाकुलधर्मं वा"—इति । कमुजा केश-पङ्किः। श्रव, यथाशाखं व्यवस्था ।

श्रव, यथोताः चूड़ा-करणान्तात्रनुपनीत-विषयाः, श्रतस्त्-प्रमङ्गादन्येऽपि केचनानुपनीत-धर्माः कथ्यन्ते। तत्र, गौतमः,— "प्राग्रपनयनात् कामचार-कामवाद-कामभत्ताः"— इति। काम-चारद्वकागतिः। कामवादोऽश्लीलादि-भाषणम्। कामभत्तः पर्युषि-तादिभन्नणम्। विष्णुपुराणेऽपि,—

"भच्छाभच्छे तथा पेथे वाच्यावाचे तथाऽनृते। श्रस्मिन् काले न दोषः स्थात् स यावन्नोपनीयते"- इति। एतचाभच्छ-भचणं महापातक-हेतु-व्यतिरिक्त-विषयम् । श्रतः एव स्रत्यन्तरम्,—

"स्वात्काम-चार-भच्योकिर्महतः पातकादृते"—इति । यथा भच्याभच्यादि-नियमोनास्ति, एवमाचमनादि कर्त्तया-न्तरमपि नास्ति । तदाह विषष्टः,—

> "न हास्य में विद्यते कर्म किञ्चिदामौज्जिबन्धनात्। दृत्या भूद्र-एमस्तावद्यावदेदी न जायते"- इति ।

^{*} खायलायनापि,-इति मु॰ प्रसने पाठः।

[†] मचापातक चेतुद्रव्यव्यतिरिक्तविषयम्, — इति मु॰ पक्तके पाठः।

[‡] नलस्य,—इति स॰ सेा॰ ग्रा॰ पुक्तकेषु पाठः।

गौतमोऽिष,—"यथोपपादित-मूत्र-पुरीषोअतित, न तखाचम-नकल्पोविद्यते न ब्रह्माभियाहरेदन्यत्र खधा-निनयनात्^(९)"—इति । श्रह्मराभ्यायस्य कर्त्तव्यः । तदाह मार्कण्डेयः,—

"प्राप्ते तु पञ्चसे वर्षे ह्यप्रसुप्ते जनाईने।

पष्ठीं प्रतिपदं चैव वर्ज्जयिला तथाऽष्टमीम्॥

रिक्तां पञ्चद्रणीञ्चेव सौरि-भौम-दिनन्तथा *।

एवं सुनिश्चिते काले विद्यारमं तु कारयेत्॥

पूजयिला हरिं लच्चीं देवीञ्चेव सरस्ततीम्।

स्व-विद्या-सूत्र-कारांश्चं स्वां विद्याञ्च विशेषतः॥

एतेषामेव देवानां नामा तु जुड्यात् घृतम्।

दिचिणाभिर्दिजेन्द्राणां कर्त्तथञ्चापि पूजनम्॥

प्राञ्चास्यार्थत्ते प्रथमं दिजातिभिः सुपूजितेः।॥

ततः प्रस्त्यनध्यायान् वर्जनीयान् विवर्ज्ञयेत्।

श्रष्टमी-दितयञ्चेव पचान्ते च दिन-चयम्"—इति।

॥०॥ दति गभीधानादि-चूडान्त-संस्कार-प्रकरणम्॥०॥

सौरिभानुदिने तथा,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[†] खविद्यास्त्रवितारं,—इति सु॰ प्रस्ते पाठः।

[‡] स पूजितः, -- इति गा॰ पुक्तके पाठः।

⁽१) ''खधा वै पित्रणामत्रम्,''— इति श्रुतेः खधाग्रेब्देनात्र तसंबन्धात् श्राद्धमुख्यते। तथा च, खधा श्राद्धं निनीयते सम्पाद्यते येन मन्त्रजातेन तत्त्वा। खथा वा, खधा पित्रृणामत्रं, तत् निनीयते प्राप्यते (अर्थात् पित्रृ-खामेव) येन मन्त्रजातेन तत्त्वा। तथा च श्राद्धसम्पादकवैदिकमन्त्रा खनुप-नितेनापि पठनीयाइति पालिते। दर्थः।

श्रयोपनयनम्।

तच मनुः,—

"गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्रोपनायनम्। गर्भादेकाद्मे राज्ञोगर्भात् तु द्वाद्मे विद्यः॥ ब्रह्मवर्ष्य-कामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे । राज्ञोवलार्घितः षष्ठे वैग्र्यस्थार्थार्घिऽनेष्टमे ॥ श्रा षोड्गाद् ब्राह्मणस्य साविची नातिवर्त्तते । श्रा दाविंग्रात् चचवन्धोरा चतुर्विंग्रतेर्विग्रः॥ श्रतकञ्जे चयोऽप्येते यथाकालममंस्क्रताः। साविची-पतिताब्रात्याभवन्त्यार्थ-विगर्हिताः॥ नैतैरपूर्तेर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।

ब्राह्यान् योनांश्च मंवन्धानाचरेत् ब्राह्मणः सह"-इति ।
श्वापलानोऽपि,—"धप्तमे ब्रह्मवर्षस-काममद्यमश्वायुःकामं नवमे तेजस्कामं दशमेऽन्नाद्यकाममेकादशद्दियकामं दादशे पशुकामम्"—
इति । एतच वर्ण-नयस्य साधारणम् । वर्ण-व्यवस्थया काल-नियममाद सएव,—"वसन्ते ब्राह्मणसुपनयीत ग्रीश्मे राजन्यं श्वरदि वैश्यम्"—
इति । वर्णानुपूर्वीणोपनयनस्थेतिकर्त्तव्यतामाद मनुः,—

''कार्ष्य-रोरव-वास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः। वधीरत्रानुपूर्वेण ग्राणचौमाविकानि च''-इति । कार्ष्णादीनि चर्माणि उत्तरीयाणि। तथा च ग्रह्मः,—''क्रष्ण-स्त-वस्ताजनान्युत्तरीयाणि''--इति । विश्वष्ठोऽपि,—''क्रष्णाजिनसुत्तरीयं ब्राह्मणस्य वीरतं राजन्यस्य गयं वस्ताजिनं वः वैद्यस्य"—इति ।
तथा पारस्करः,—"ऐणयमजिनसुत्तरीयं ब्राह्मणस्य वीरवं राजन्यस्थाजं गयं वा वैद्यस्य सर्वेषां वा गयम्"—इति । प्राणादीन्यधरीयाणि । श्रवापस्तम्वः,—"वासः प्राणचीमाजिनानि, काषायं चैकें
वस्तसुपदिप्रन्ति श्रक्ककापीसवस्तं ब्राह्मणस्य माज्ञिष्ठं राजन्यस्य द्यारिद्रं वैद्यस्य"—इति । मेखलामाद्य मनुः,—

"मौद्धी चित्रसमा सन्तण कार्या विषय मेखना। चित्रस्य च मौर्वी ज्या वैश्वस्य प्रणतान्तवी"—इति । चित्रत् चिगुणा। यमोऽपि,—

"विष्रस्य मेखना मोजी ज्या मौवी चित्रयस्य तु । श्राणस्त्रजी तु वैष्यस्य मेखनाधर्मतः स्रताः॥ एनासामप्यभावे तु कुशास्त्रान्तकवन्नजेः । मेखना चित्रता कार्या ग्रस्थिनैकेन वा चिभिः"—इति । मनुरपि,—

"मुज्जाभावे तु कर्त्त्रया कुग्राग्यान्तकवन्त्रज्ञैः । चिरुता ग्रन्थिनैकेन चिभिः पञ्चभिरेव वा"—दति । दण्डमारमनुः,—

> "व्राह्मणेविन-पानाभा चित्रयावाट-खादिरो । पैनवौद्ग्नरो वैग्यादण्डानर्हनि धर्मतः"—इति ।

^{*} प्रावादीन्युत्तरीयाणि,—इति सु॰ पुत्तके पाठः।
ं ''पीतं कौभ्रेयं विष्यस्य,''—इति। पीतं चारित्रं,—इति स॰ प्रा॰
मुक्तकयोः पाठः।

श्रनुकल्पमाइ यरः,—

"एतेषासप्यभावे तु सर्वेषां सर्व-यज्ञियाः"-इति । सनुर्देण्डपरिमाणमाइ,--

''केशान्तिकोब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः । खलाट-पिमातोराज्ञः स्यान्तु नासान्तिकोविशः"-दृति । गौतमे।ऽपि,—''मूर्ड्ड-ललाट-नाषाग्य-प्रमाणाः"-दृति । दण्ड-लचण-माइ मनुः,—

"ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौस्यदर्शनाः । श्रनुद्धेग-करानूणां सलचोनाग्नि-दूषिताः"—इति । गौतमेऽपि,—"श्रपीड़ितायूपवन्नाः सवस्ताः"—इति । यज्ञोपवीत-माइ मनुः,—

"कार्पाससुपवीतं स्वाद्विप्रस्वोर्ड्डेटतं चिटत्। श्रणस्वस्यं राज्ञोवैश्वस्याविकस्वचकस्"—इति । पैठीनिसरपि,—',कार्पाससुपवीतं ब्राह्मणस्य सौमेयं राजन्यस्याविकं वैश्वस्य"—इति । उक्तोपवीतालाभे ययासभावं गो-वालादिकं ग्राह्मम् । तदाह देवलः,—

"कार्षाण-चौम-गोवाल-णण-वल्क-त्रणादिकम्। सदा संभवतः कार्यमुपवीतं दिजातिभिः"—इति। इत्यादङ्गः,—"श्रपि वा वासमी यज्ञोपवीतार्थं कुर्यात् तदभावे विद्यता स्वचेण"—इति। तच नव-तन्तुकं कार्यम्। तदाह देवलः,—

[#] कौग्रेयं,—इति सु॰ पुक्तको पाठः।

[†] वाससी यन्त्रोपवीत्धार्यां, - इति सु॰ पुन्तकी पाठः।

"यज्ञीपवीतं कुवीत स्वेण नव-तन्तुकम्"-इति । कात्यायनः,—

"वियदूर्र्ड्डरतं कार्यं तन्तु-वयमधोरतम्"—इति । ऊर्द्धरतस्य जन्नज्यमाच् मंग्रहकारः*,—

"करेण दिवणेनोड्डं गतेन निगुणीकतम्। विलतं मानवैः । सूत्रं शास्त्रजर्ड्डवतं स्रतम्"—इति । जर्ड्ड गतेन दिवणेन करेण यदिलतं तदूर्ड्डवत्मित्यर्थः। यज्ञी-पवीत-प्रदेशिमाइ देवलः,—

> "यामानिकाम्य मङ्यायां पणवत्यक्तुलीपु तत्। तात्रिम्णितं सृतं प्रचान्याव्याव्यिङ्गकैस्तिभः॥ देवागारेऽयता गोष्ठे नद्यां वाऽन्यत्र वा श्रुचौ। सावित्या चिटतं कुर्यान्यत्र सृत्रच्तु तद्भवेत्॥ विन्याश्वरादि-यज्ञीय-टचस्थान्यतमस्य तु। वश्रीयात्तत्र जीवन्तु पित्रभोनमद्द्यय॥ वामं नावेचित्यं स्थात् पित्रणां त्रिदं हि तत्॥ चिः पीडयेत् कर्तलं देवानां त्रिदं हि तत्॥ सन्धे सदं ग्रहीलाऽस्मिन् स्थापयेङ्ग्रिति ब्रुवन्।

ग्राचनारः,—धित स॰ प्रा॰ पुक्तकयोः पाठः।

[†] मानवे,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] ग्रामानिर्मेख संख्यायाः,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[§] वन्धीयात्तत् सजीवंतु,— इति शा॰ पुष्तके पाठः।

[ऻ] चिन्ताङ्येत्, −इति भा॰ पुक्तको पाठः।

पत्रं पुष्पं फलं वाऽपि चाह्यतीभिञ्च निः चिपेत् ॥ श्रिभमन्त्राच भर्गायशेति निरुत्तयं निभिः । हिन्द्रियरेभ्यञ्च प्रणस्यावद्धारिति"—इति ।

त्रवधारण-मन्त्रस्तु, 'यज्ञोपवीतम्' इत्यादि । यन्यि-नियममाष कात्याचनः,—

"चित्रतं चोपत्रीतं खात्तस्वैकोयन्थिरिष्यते"—इति । पञ्चोपत्रीत-परिमाणमाच सएत,—

"पृष्ठवंशे च नाभ्याञ्च धतं यदिन्दते कटिम् । तद्भार्यमुपनीतं खान्नातिलम्बं तचोच्कितम्'-इति । देवलाऽपि,-

"सनादूर्द्धमधोनाभेनं कर्त्तवां कदाचन" — इति । खपवीत-मञ्जामाद्य स्याः, —

"खपतीतं वटोरेकं दे तथेतरथोः स्तृते।
एकमेव यतीनां स्थात् इति प्रास्तस्य निर्णयः"—इति।
एतच नित्याभिप्राथम्, कामनया बह्नां श्रवणात्। तदाइ देवसः,—
"बह्नि चायुः-कामस्य"—इति। एतदुपवीतं भदा धार्यम्। तदाइ
स्गुः,—

"सदोपवीतिना भायं सदा वद्धिषाखेन च। विश्विखोयुपवीतस्व[†] यत् करोति न तत् क्षतम्॥ जन्तपूतं स्थितं काये यस्य यज्ञोपवीतकम्।

^{*} खाद्वतीः प्रति विचिपेत्,— इति स॰ ग्रा॰ पुत्तवयोः पाठः।
† खुपवीती च,— इति सु॰ पुत्तवे पाठः।

नाद्धरेख ततः पाज्ञोयदीच्छेच्छ्रेयत्रात्मनः॥

सङ्चोद्धरणानस्य पायश्चिनी भवेद्दिजः"—इति।

उपवीते विशेषमाद्द देवलः,—

"स्र वं बले। सनं चेत्यात्ततः छला विलेशमकम् । बाविया दणकलोऽद्भिः मन्त्रिताभिखदु चिपेत् ॥ विच्छित्नं वाऽप्यधोयातं भुक्ता निर्मितसुकृ जेत्"—इति । यज्ञीपवीतादीनां जोटनादौ प्रतिपत्तिमाद मनुः,—

"मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।

श्रपु प्रास्त विनष्टानि ग्रहीतात्यानि मन्त्रवत्''—इति। दण्ड-धारणानन्तरमादित्योपस्थानं कार्यम्। तथाइ मनुः,—

> "प्रतिग्रहोषितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्। प्रदिचणं परीत्याग्निं चरेङ्गेचं यथाविधि"—इति।

दण्डग्रहणान्तेतिकर्त्तवाता-युक्तसुंपनयनं प्राप्य गायवी-महावा-क्यार्थभ्रतं भास्करसुपखाय सेऽहमित्येवं ज्ञाला श्रद्धिं परिचर्य भैच्यं चरेदित्यर्थः। श्रद्धि-परिचर्या मनुना दर्शिता,—

> "दूरादाह्य यमिधः यन्निदधादिहाययि । यायं प्रातश्च जुड्यात् ताभिरग्रिमतन्द्रितः"—इति ।

विद्यायि श्रन्तरिचे स्थापयेन तु स्वमावित्यर्थः । समिदाहर्णे विश्रेषमाद्द वैनवापः,—"पुराऽलमयात् प्राग्रदीचीं दिशं गला श्रहिं-

^{*} सक्तचाधारणात्तस्य—इति मृ॰ पुल्तने पाठः। सक्त्सेाडरणात्तस्य,— इति ग्रा॰ पुल्तने पाठः।

[†] यचासिं, — इति भा व पुत्तके पाठः।

बन्नरण्यात् समिधमाइरेत्; ग्रष्कात्रज्ञावर्चम-कामश्रार्शस्वनाय-कामजभयोरभय-कामः"—दति। समिल्रचणमाइ कात्यायनः,—

"नाङ्गुष्टादिधिका कार्या मिमन् स्यूलतया किचित्। न वियुक्ता लचा चैव न मकीटा न पाटिता ॥ प्रादेशात्वाधिका न्यूना तथा न स्थादिशाखिका। नामपर्वा नातियामा होमेषु तु विजानता॥ विश्रीणा विद्ला हस्ता वका मस्पिरा क्या। दीर्घा स्यूला गुणैर्दृष्टा न कर्म-सिद्धि-विनाशिका"—इति। समिन्वियम उक्तोवायुप्राणे,—

"पालाग्यः समिधः कार्याः खादिर्यः तदलाभतः । श्रमीरोहितकायत्यास्तदभावेऽर्कवेतन्नौ"—इति । श्रिप्रकार्याकरणे प्रत्यवायमाह हारीतः,—

"पुरा जग्राह वै स्टत्युहिं धयन् ब्रह्मचारिणम् । श्रिमलं भाषयामास तस्मात् परिचरेच तम्"—इति। भिचा-चर्या-प्रकारमाह याज्ञवल्यः,—

"ब्राह्मणेषु चरेड्सेच्यमनिन्होखाता-हत्तये। श्रादिमधावधानेषु भवच्छन्दोपलिता॥ ब्राह्मण-चित्रच-विश्रां भेच्य-चर्था यथाक्रमम्"—इति। ब्राह्मणेखिति खखजातीयोपलचणम्। श्रतएव व्याषः,— "ब्राह्मण-चित्रय-विश्रयरेथुभेच्यमन्नहम्।

[†] न तापिता, — इति सु॰ पुस्तको पाठः।

[‡] दीघां स्थूलगुर्वेर्दुरा, हित मु॰ पुक्तके पाठः।

मजातीय-ग्रहेष्वेव मार्ववर्णिकमेव वा"-इति। सार्ववर्षिकत्वसापदिषयम् । श्रतएव भविष्यत्पुराणे दर्शितम्,-"चातुर्वर्णञ्चरेङ्गेच्यमलाभे कुरुनन्दन"—इति। श्रापद्यपि न स्ट्रात् पकं ग्टङ्गीयात्। तदाहाङ्गिराः,— ''श्राममेवाददीतान्या*दटत्तावेकराचिकम्। श्रामं प्रयति मंस्कारे धर्म्यन्तेभ्यः प्रतीच्छितम् ॥ तसादामं यचीतवां श्रुद्रादणंगिरे।ऽबवीत्"—इति । न्त्रनापदि खनातीयेखांपे प्रश्रकेखेन भेच्यमाचरेत्। तदाइ मनुः,— "वेदयज्ञैरहीनानां प्रमतानां ख-कर्मसु। ब्रह्मचार्याहरे द्वीच्यं ग्रहेभ्यः प्रयते। उन्हम्"—दात । त्रादिमधावसाने स्विति, त्रयमर्थः । भिना-प्रवर्त्तना-वाको वर्ष-क्रमेण् श्रादिमध्यावमाने भवच्छन्दः प्रयोज्यः । तथा च मनुः,— "भवत्पूर्वं चरेद्भे च्यसपनीता दिजोत्तमः। भवनाध्यनु राजन्योवैश्यस् भवदुत्तरम्''—इति । **उत्तेषु कचिदपवादमाइ सएव,**— "गुरोः कुले न भिचेत न ज्ञातिकुल-बन्धुषु। श्रां वित्यगेदानां पूर्वं पूर्वं परित्यजेत्॥

सवें वाऽपि चरेद्रामं पूर्वाकानामसभावे।

च्याममेवाददीतास्मा,—इति मु॰ पुक्तके पाठः।

[†] प्रपश्चितम्, —इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[‡] प्रशक्तानां,-शा॰ पुक्तके पाठः।

[§] अमेगा,—इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[॥] सुपवीती,-इति सु॰ पुक्तके पाठः।

नियम्य प्रयतोवाचमभिष्यखांस्त वर्जयेत्"—इति । यत्तु,—

"मातरं वा खबारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्। भिचेत भिचां प्रथमं या चैनं न विमानयेत्"—इति। तदुपनयनाङ्ग-भिचा-विषयम्। तच भेच्यं भोजन-पर्याप्तमाहर्त्तव्यम्, श्रन्यथा दोष-श्रवणात्। तदाइ यमः,—

''श्राहारमात्रादधिकं न कचिद्वैचमाहरेत्।

युज्यते स्तेय-दोषेण कामतोऽधिकमादरन्"—इति । तम भेन्द्यं गुर्वनुद्या-पुरःषरं भोक्तयम् । तदादतुर्मनु-यमौ,—

"समाह्याच भद्गेच्यं चावदर्धमयाचया।

निवेच गुरवेऽश्रीयादाचम्य प्राक्षुतः ग्राचः"—इति । गुर्वचिष्यो तद्वार्थादिभ्योनिवेदसेत्। तदाच गौतमः,—

"निवेद्य गुरवेऽतुज्ञां ततोशुद्धीत समिधौ । गुरोरमावे तद्भार्था-पुच-सब्रह्मचारिखाम्"—इति ।

गुर्वनु ज्ञातं भेचं बर्लाय सुज्जीत । तदाइ याज्ञवस्काः —
/ ''क्रताग्रिकार्योभुज्जीत वाग्यतोगुर्वनु ज्ञया ॥

त्रापोश्चन-किया-पूर्वे शत्कत्याचमकुत्सयन्"—इति ।

यत्कारश्च हारीतेन दर्शितः,—''भैच्यमवेचितं पर्यश्चीकृतमादित्य-दर्शितं गुरवे निवेदितमनुज्ञातमस्त-सम्मितं प्राद्धः, यदस्राति ब्रह्म-चारी ब्रह्म-सिद्धिमवाप्नाति"। गौतमाऽपि,—''सायं प्रातरिभपूजित-सनिन्दन् भुष्प्नीत''—दति। एकान्न-निषेधमाह मनुः,—

^{*} आपे। ग्रानिकयापूर्वे, — इति ग्रा॰ पुस्तके पाठः।

"भेन्छेण वर्त्तयेत्रित्यं नैकानादी भवेद्भवेद्भती। भेन्छेण जतिने। हित्तक्षवास-समा स्तता॥ जतवद्देव-दैवत्ये पित्ये कर्मण्यर्षिवत्। काममभ्यर्थितोऽस्त्रीयात् जतमस्य न सुष्यते"— इति।

श्रकरणे प्रायवायमाच सएव,—

"महाता भेच्यचर्णसमिष्य च पावनम्। भनातुरः सप्तराचसवकीर्णि-व्रतस्वरेत्"—इति।

डपनीतस्य नियममाइ यमः,—

''दर्ष्डं कमण्डलुं वेदं मौर्झी च रसनां तथा। धारयेद्वश्च चर्थञ्च भिचानाणी गुरौ वसन्''- इति। वैदोदर्भसृष्टिः, गुरौ गुरू-ग्रहे इत्यर्थः। यमः,—

''मेखलामजिनं दण्डं उपवीतं च नित्यमः। कौषीनं कटि-स्रचच ब्रह्मचारी च धारयेत्"—इति।

व्यनुः,-

"न्नग्रीत्थनं भेच्यचर्थामधः ग्रयां गुरे हिनम्। न्ना समावर्त्तनात् कुर्यात् इतोपनयने दिजः"—इति । सुमन्तुरिप,—

''ब्रह्मचर्यं तपाभेच्यं यन्ध्ययोरग्नि-कर्भ च। खाध्यायोगुरु-विनश्च चरेयुक्रह्मचारिणः''—इति।

गृद-रुनि-प्रकारमाइ व्यासः,—

"जघन्यश्रायी पूर्वं खादुत्यायी गुर-वेश्मृनि। यस शिक्षेण कर्त्तवां यस दानेन वा पुनः॥ कतिमत्येत्र तत् भवं कला तिष्ठेनु पार्श्वतः। किद्धरः भवंकारी च भवंकमसु के।विदः॥ श्रभुकवित नाश्रीयादपीतवित ने। पिवेत्। न तिष्ठति तथाऽऽसीत नासुत्रे प्रसुपेत् तथा"—इति। विश्वामित्रः,—

> "तङ्गार्या-पुच्योश्चैव दृद्धानां धर्मशालिनाम्"। ग्रुश्रूषा मर्वदा कार्या प्राणामादिभिरेवच"—इति।

वर्चानाइ याज्ञवल्काः,—

"मधुमांसाञ्जने। च्छिष्ट-ग्रात-स्ती-प्राणिहिंसनम्। भास्तराले। तनाम्मील-परिवादां य वर्जयेत्"— इति। मनुरपि,—

"वर्जयेनाधुमां सञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्तियः।

ग्राकानि चैव सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥

श्रभ्यङ्गमंजनञ्चान्त्णोरूपानच्छत्र-धारणम्।

कामं क्रोधञ्च लेशभञ्च नर्त्तनं गीतवादनम्॥

खूतञ्च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।

खीणाञ्च प्रेचणालक्षमुप्यातं परस्य च॥

एकः ग्रयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्रचित्"—इति।

थमः,-

"खद्वाऽअनं च प्रयनं वर्जयेद्दन्त-धावनम्।

धर्म्भशीलिनाम्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

खपेरेकः कुग्नेखेव न रेतः स्कन्दयेत् कचित्"—इति । कूर्भ।राणे,—

"नादर्शञ्चेवमीचेत नाचरेदन्त-धावनस् ।
गुरूच्छिष्टं भेषजाधं प्रयुद्धीत न कामतः"—इति ।
श्रापस्तम्बे।ऽपि,—"पितुर्ज्येष्ठस्य च भातुरूच्छिष्टं भोक्तयम्"—इति ।
गुरूपुचस्याप्युच्छिष्टं न भोक्तयम्। तदाइ मनुः,—

"उत्सादनञ्च गात्राणां द्यापने क्षिष्टभोजने । न कुर्याद्गरू-पुत्रस्य पादयोश्वादनेजनम् ॥ श्रभ्यञ्चनं स्वापनञ्च गात्रीत्सादनस्वित् । गुरूपत्यान कार्याणि केशानाञ्च प्रसाधनस्"—दति ।

ब्रह्मचर्य-कालावधिमार याज्ञवल्यः,--

"प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं दादशाव्दानि पच वा। ग्रहणान्तिकसित्येके केश्रान्तं चैव षोड़शे"—द्गति।

केशान्तं गोदानाखां कर्म। तच षोड्गो वर्षे कार्यम्। तदाइ मनुः,—

> "केशान्तः षोड़शे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते। राजन्यवन्धोर्दाविंशे वैश्यस्य द्यधिके ततः"—इति।

यमः,—

"वसेद्वांदम वर्षानि चतुर्विमितिसेव वा । षट्चिम्नतं वा वर्षाणि गतिवेदं व्रतचरेत्"—इति । एतत् चिवेद-ग्रहणाभिप्रायम् । श्रतएव सनुः,— "षट्चिम्रदादिकं चर्यं गुरौ चैवेदिकं व्रतम् । तदर्हिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ग्रे-इति ।

एवसुकलवणोत्रह्मचारी दिविधः, उपकुर्वाणकानिष्ठिकञ्च । उपकुर्वाणकस्थोकाः धर्माः, नेष्ठिकस्थास्यन्ते । तत्राह याज्ञवलक्यः,—

"नैष्ठिकात्रह्मचारी तु वसेदाचार्य-सन्तिधो ।

तदभावेऽस्य तनये पत्यां वैश्वानरेऽपिवा"— इति ।

सनुर्पि,—

"यदि लात्यिनिकावाधारोचेतास्य गुरोः कुले।

युक्तः परिचरेदेनमा ग्ररीर-विमोचणात्॥

श्राचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते।

गुरुदारे मिणिखे वा गुरुबद्द त्तिमाचरेत्॥

एषु लविद्यमानेषु स्थानामनविद्यारवान्।

प्रयुद्धानाऽग्नि-ग्रुश्रूषां माध्येदेदमात्मनः"—इति॥

एतच सदुत्त-ब्राह्मण-गुवादि-विषयम्, श्रन्यथा दोषः। तदुकं

तेनैव,—

"नाब्राह्मणे गुरौ शिष्योवासमात्यन्तिकं वसेत्।

ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्कन् गतिमनुक्तमास्"—इति॥
वसिष्ठोऽपि,—"ब्रह्मचर्यं चरेदाग्ररीर-विमानणात्। श्रानार्यं च
प्रेतेऽग्निं परिचरेत् संचतवाक् चतुर्थषष्ठाष्टमकालञ्जानी भेद्यं गुर्वधीनाजटिलः शिखाजटेवा गुरुं गच्छन्तमनुगच्छेदासीनं चानुतिष्ठेत्
ग्रयानश्चेदासीत श्राह्मताथायी सर्व-लब्ध-निवेदी खट्टा-प्रयनदन्तप्रचालनाञ्चनाभ्यञ्चनवर्जनानश्चीलस्वीरदस्यभ्येपेयाद्यः"—इति ।

^{*} तदद्धिकं वा पादं वा,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

श्रहिन चिषवनसायी स्वादित्यर्थः । श्रिय-परिचर्या हारीत-श्रह्य-सिखित-यमैर्निकृषिता,—"यिचयाः मिमध्याहृत्य ममार्जनीपलेप-नोद्धमनसमूहनसमिन्धनपर्यायकरणपरिक्रमणे।पस्थानहे।मस्नोचनम-स्कारादिभिरग्रिं परिचरेन्नाग्रमिधितिष्ठेन पद्मां कर्षेन सुखेने।प-धमेन्नापश्चाग्रिञ्च युगपद्धारयेन्नाजीर्णभुक्तोने। च्छिष्टोवाऽभ्याद्ध्यात् । विविधेईविविश्वेषेराग्रेयेरहरहरग्रिं समिधेदामन्त्य गच्छेदागत्य निवे-द्येत् तमानाः शरीरे।परमान्ते ब्रह्मणः सायुक्यं गच्छिति'—इति। एवं कुर्वतः फलमाइ याज्ञवल्काः,—

"श्रमेन विधिना देखं मादयन् विजितेन्द्रियः। ब्रह्मालेकमवाप्नोति न चेश्वाजायते पुनः"—इति। मनुरपि,—

> "त्रा समाप्तेः शरीरस्य यस्त श्रत्रूषते गुरुम्। स मक्कत्यञ्चसा विप्रोत्रह्मणः सद्म श्राश्वतम्'—दिति।

ननु नैष्ठिक ब्रह्मचर्या क्षीकारे गार्डस्थं निर्व्विषयं स्थात्। तन्न, गार्डस्थास्य रागि-विषयलात्। तदा ह जावालिः,—"यदि ग्रह्मेव कामयेन्तदा यावज्जीवमग्निहानं जुड़्यात्"—दिति। श्रन्न केचित्, नैष्टिक-ब्रह्मचर्यं कुङ्जादिविषयं मन्वानागार्डस्थस्य तदितर-विषयता-माद्यः। उदाहरन्ति च तन विष्णुवचनम्,—

> "कुञ्ज-वामन-जात्यस्य-क्षीव-पङ्ग्वार्त्तरे।गिणाम्। व्रतचर्या भवेत्तेषां यावच्चीवमसंग्रयम्"—इति।

तन्त्र, नैष्टिक-ब्रह्मचर्यास्य कुजादिस्वेव नियतले समर्थे प्रत्ये किन्न-कलमुख्यमानं विरुधित। ऐष्टिकलस वसिष्टेम दर्शितम,—'सलार-

श्रास्त्रमाः ब्रह्मचारि-ग्टह्स्य-वानप्रस्य-परिव्राजकाः, तेषां वेदमधीत्य वेदौ वेदान् वा चीर्ण-ब्रह्मचर्योयमिच्छेत्तमावसेत्"—दति । भवि-स्यत्पुराणेऽपि,—

"गाईस्थामिक्कन् भ्रपाल, कुर्याद्दार-परिग्रहम् । ब्रह्मचर्थेण वा कालं नयेत् सङ्गल्प-पूर्वकम् । वैखानसेवाऽपि भवेत् परिव्राष्ट्रथवेक्क्या"—इति । तस्मात्, रागि-विषयलेनैव गाईस्थं व्यवस्थापनीयम्,—इति ।

इति ब्रह्मचारि-प्रकरणम्।

श्रय ग्रहस्थाश्रमं निरूपियतुं तद्धिकार-हेतु* सानमादौ निरूप्यते †।

तन याज्ञवल्काः,--

"गुरवे तु वरं दत्वा खायीत तदनुज्ञया । वेदं व्रतानि वा पारं नीला ह्युभयमेव वा"—इति । तच, दातथोवरोमनुना दर्शितः,—

> "न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपक्तवीत धर्मवित्। स्नास्त्रंस्त गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्॥ चेत्रं हिरण्यं गामयं क्रत्रोपानहमासनम्।

^{*} तद्धिकारहेतुः, - इति पाठा भवितुं युक्तः । † तद्धिकारहेतुं स्नातकमादौ निरूप्यते, -- इति मृ॰ पुस्तकेपाठः ।

धान्यं वासांसि शाकं वा गुरवे प्रीतिमाहरेत्*"—इति । श्रयञ्च वरेगुरू-प्रीत्यर्थान तु विद्या-निष्क्रयार्थः। वेद-विद्याऽर्हस्य मूखस्थासभावात् । तथा च च्छन्दोग-श्रुतिः, — "यद्ययसादमामिद्धः परिग्रहीतां धनस्य पूर्णां दद्यात्तदेव तते। स्वयः"—इति । तापनीय-श्रुतिरपि,—

"सप्तदीपवती स्रमिर्दि चिणार्धं न कल्पते । इति । इति । इति । इति ।

"एकमणचरं यसु गुरः शिखे निवेदथेत्।

पृथियां नास्ति तद्र्यं यद्वाऽस्थानृषी भवेत्"—इति । वेदं त्रतानि वेत्यनेन स्नातक-चैित्यं दर्भितम्। तत्र, वेदमात्र-परिसमापकएकः, व्रतमात्र-परिसमापकादितीयः, उभय-परिसमा-पकस्तृतीयः। व्रतम्ब्देनात्र ग्टह्म-प्रसिद्धान्युपनयनव्रत-साविचीव्रत-वेदव्रतानिः विविचितानि । स्नातक-चैित्यं हारीतेनेक्तम्,—"वयः स्नातकाभवन्तिः विद्यास्नातकोव्रत-स्नातकोविद्या-व्रत-स्नातकः"— इति । वेदं पारं नीवेत्यवार्थावगितरिप विविच्निता । श्रतएव कूर्मपुराणे,—

"वेदं वेदौ तथा वेदान् वेदान् वा चतुरेादिजः। श्रधीत्य चाधिगम्यार्थं ततः खायाद्विजात्तम"—रित। खान-प्रकारस्य ग्रही प्रसिद्धः। स्नातक-धर्माः कूर्मपुराणे दर्धिताः,—

^{*} धार्च प्राक्ष वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत्,—इति पू॰ मनुसं-हितायां पाठः॥

[†] न कल्पिता,—इति सु॰ पुस्तकेपाठः।

[‡] वेदाङ्गनतारस्थाननतानि,—इति सु॰ पुस्तनोपाठः।

"यज्ञोपनीत-दितयं से दिकञ्च कमण्डलुम्। कृतं चे प्णीषममलं पादुके चाणुपानही ॥ रोको च कुण्डले नेदं कृत्त-केश-नखः शुचिः। खाध्याये नित्ययुक्तः खादिह्माल्यञ्च धारयेत्॥ शुक्ताम्बरधरे नित्यं सुगन्धः प्रियदर्शनः। न जीर्ण-मलनदासाभनेत्तु निभने सित॥ न रक्तमुल्लणं चास्य धृतं नासान कन्यिकाम्"-दित। दित स्नातक-प्रकरणम्।

तच मनुः,—

"गुरुणाऽनुमतः स्नाला समावन्तोयथाविधि। उदहेत दिजोभायों सवर्णां लचणान्विताम्"—इति । याज्ञवस्कोऽपि,—

> 'श्रविशुत-ब्रह्मचर्योखिचणां स्तियसुद्धत्। श्रनन्यपूर्विकां कान्तासमिषिणां चवीयमीस्। श्रदोगिणों साहसतीमसमानार्घगोचजास्"—इति।

खचर्णां वाह्याभ्यन्तर-खचण-युकाम्। वाह्यानि खचणानि मनुना दर्शितानि,—

"श्रयङ्गाङ्गीं मीम्यनानीं इंग्न-वार्ण-गामिनीम्। तनु-लोम-केश-दशनां स्टदंगीसुद्वहेत् स्त्रियम्"—इति । वर्चामाद्द सएव,—

"नादचेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रागिणीम्।

नाले। मिकां नातिले। मां न वाचालां न पिङ्गलाम् ॥

नर्त- वृत्त-नदी-नान्नीं नान्य-पर्वत-नामिकाम् ।

न पत्त्यहि-प्रेय्य-नान्नीं न च भीषणनामिकाम्' — दूति ।

कपिला रक्त-तण्डुल-वर्णा। पिङ्गला श्रियवर्णा। श्रन्येति

स्त्रेच्छनान्नी। विष्णुपुराणेऽपि,—

"न ग्राश्र-श्रञ्जनवतीं न चैव पुरुषाक्षतिम्।
न घर्घर-खरां चामां तथा काक-खरां न च।
नानिवंधेचणां तददृत्ताचीं ने दिहेद्धः।
यखाञ्च रामग्रे जंघे गुल्की यखाख्योत्नती।
गण्डयाः कूपकी यखाइमन्यासाञ्च ने दहेत्।
नातिरुचच्छवं पाण्डुकर्जामरुणेचणाम्।
न्य-पीन-इस्त-पादाञ्च न च तामुदहेदुधः*।
न वामनां नातिदीधां ने दिहेत् सङ्गतस्रुवम्।
न वातिच्छिद्र-द्रमनां न कठालमुखीं नरः"—इति।

श्रान्तराणि तु लवणान्यायवायन-ग्रह्मे विहितानि, - "दुविज्ञे-यानि लवणान्यष्टो पिण्डान् छला, ऋतमग्रे प्रथमं यज्ञऋते सत्यं प्रतिष्ठितं यदियं कुमार्घभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यतां यत्यत्यं तह्यतामिति पिण्डानभिमन्त्य कुमारीं ब्रूयादेषामेकं ग्रहाणेति चेवाचेदुभयतः प्रस्वाहृक्षीयाद्ववत्यस्याः प्रजा भविष्यतीति विद्याद् गोष्ठात् पशुमती वेदिपुरीषाद्बह्मवर्चस्विन्यविदासिनोष्ट्रदात् सर्वस-

^{* &#}x27;यस्याच्च' इत्यादि 'तामुद्दहेदुधः' इत्यतत् श्लीकदयं मु॰ पुस्तको न दृश्यते।

म्पना देवनात् कितवी चतुष्पयादिप्रवाजिनीरिणाद्धन्या ग्रागाना-त्पतिन्नी" * इति । विप्रवाजिनी विविधं प्रकर्षेण व्रजतीति विप्रवाजिनी स्वैरिणी दत्यर्थः । श्रनन्यपूर्विकासिति दानेनेापभोगेन वा पुरुषा-न्तराग्रहीताम् । श्रनेन पुनर्सूर्वीवर्त्यते । श्रतएव काध्यपः,—

''सप्त पौनर्भवाः कन्यावर्जनीयाः कुलाधसाः ।

वाचा दत्ता दने।दत्ता कत-कौतुक-सङ्गला ।

उदक-स्पर्भिता या च या च पाणिग्रहीतिका ।

श्रिग्नं परिगता या च पुनर्स्-प्रस्वा च या ।

दत्येताः काश्यपेनोक्तादहन्ति कुलस्यावत्''—द्गति ।

बौधायनः,—''वाग्दत्ता सने।दत्ताऽग्नं परिगता सप्तसं पदन्तीता सुन्ना ग्रहीतगर्भा प्रस्नता चेति सप्तविधा पुनर्भः, 'तां ग्रहीता न प्रजां न धर्मं विन्देत्"—द्गति । नारदाऽपि,—

''कन्धेवाचतयोनिर्या पाणि-ग्रइण-पूर्विका। पुनर्स्-प्रतिमा ज्ञेया पुनः संस्कार-कर्मणि''—दति।

^{* &#}x27;आन्तराणि' इत्यारम्य 'इत्यर्थः' इत्यन्तय्राय्याने मुदितपुस्तके अन्यया पाठो दृश्यते। स यथा, — "आन्तराणि जन्तणानि आश्वनायनग्रह्यो दिश्चितानि दुर्ज्यानि तानि नेदितव्यानि। पूर्व्वस्यां राजो गोरु-नेदिका-कितवस्थान-इदिश्व-चेन-चतुष्यथ-अस्मानिभ्योग्धित्तकां ग्रहीत्वा अशे पिग्छान् इत्या ऋतमग्रे प्रथमं जन्जे ऋते सत्यं प्रतिष्ठितं यदियं कुमार्थिभ जाता तदियमि प्रतिपद्यतां यत् सत्यं तद्दृश्युतामिति पिग्छानिभमन्य कुमारीं ब्रूयादेषामेकं ग्रहाणेति। तज्ञानक्रमेण प्रथमे पिग्छे ग्रहीते धान्यवती भवति, दितीये पश्चमती, द्वतीयेऽभिहोत्तपरा, चतुर्थे विवेकिननी चतुरा सर्व्वजनार्चनपरा भवति, पञ्चमे रेशिग्णी, षष्ठे वन्था, सप्तमे व्यभिचारिणी, अष्टमे विधवा भवदिति।" सम्भावयामः आश्वलायनस्च अस्य तात्यर्थमेव तत्र संग्रहीतिमिति।

याज्ञवल्कोऽपि,—

"श्रचता व चता चैत्र पुनर्भः मंक्कता पुनः"—इति । कान्तां कमनीयां खदोदुर्मने ानयनानन्दकारिणीम् । श्रतएव श्राप-स्तम्बः,—"यस्यां मनश्चनुषोर्निवन्धस्तस्यास्टद्धिः"—इति ।

श्रविष्डामिति । समानएकः पिष्डोयस्याः सा सपिण्डा, न सपिण्डा श्रमिष्डा, ताम् । सपिण्डता च सप्तम-पृरूष-पर्यवसा-यिनी । तत्रैकः पिण्डदाता, त्रयः पिष्डभाजः पित्त-पितामद्द-प्रिपता-द्याः, त्रयोन्नेपभाजः रुद्धप्रिपतामहाद्यः । तथा च मत्यपुराणे,—

"लेपभाजञ्चतुर्घाद्याः पित्राद्याः पिष्डभागिनः। पिष्डदः सप्तमस्तेषां सापिष्ड्यं साप्तपौरूषम्"—इति। सार्क ष्डेयोऽपि,—

> "पिता पितामहस्वेव तथैव प्रपितामहः। पिण्डमंविश्वनाद्येते विज्ञेयाः पुरुषास्त्रयः। लेपमंविश्वनस्थान्ये पितामह-प्रपितामहात्— प्रस्त्युक्तास्त्रयस्तेषां यजमानस्त सप्तमः। इत्येष सुनिभिः प्रोक्तः संबन्धः साप्तपौरूषः"—इति।

एतदुकं भवति, सप्तानां पुरुषाणामेक-पिण्ड-कियाऽनुप्रवेशः सापिण्डा-हेतः। तथाच, देवदत्तस्य स्वकीयैः पिचादिभिः षड्भिः सह सापिण्डाम्, तथा पुचादिभिः षड्भिः सह सापिण्डाम्, — इति। नन्वेवं सित भात-पित्व्यादिभिः सह सापिण्डां न स्थात्, परिगणितेष्वनन्त-भावात्। मैतम्। छिद्ध्य-देवतैक्येन विष्येक्यस्याच विविच्तित्वात्।

^{*} देवदत्तीकोन,-इति सु॰ पुक्तको पाठः।

देवदत्त-कर्दक-कियायां ये देवतालेनानुप्रविश्वन्ति, तेषां मध्ये यः काऽपि स्रात्त-पित्य-कर्दक-क्रियायामप्यनुप्रविश्वतीत्यासि तैः सह सापिण्डाम्। एवं भार्याणामपि भर्द-कर्दक-पिण्ड्रान-क्रियायां सहकर्दनात् सापिण्डाम्।

श्रपरे पुनरन्यथा* सापिष्डामाजः। तथाहि। समानएकः पिष्डोदेश्वायवायेषां ते सपिष्डाः। तत्र, पुत्रस्य सालात् पित्र-देश्वायवाल्येन पित्रा सह सापिष्डाम्। तथा, पितामद्यादिभिरपि पित्र-द्वारेण तक्तरीरावयवाल्यात्। सालान्यात्-प्रशीरावयवाल्येन माला, मातामहादिभिभिरपि मात्रद्वारेण तक्तरीरावयवाल्यान् । सालान्यात् नक्तरीरावयवाल्यान् नव्यात्। तथा, पित्रय-पित्रस्यसादिभिरपि पितामह-देश्वाययाल्यात्। तथा, पित्रय-पित्रस्यसादिभिरपि पितामह-देश्वाययाल्यात्। तथा, मात्रस्य-मातुलादिभिः सह मातामह-देशाल्यात्। पत्या सह एकप्रशीरारभकत्या पत्युः, एवं भात्र-भार्याणामयेक-प्रशीरारभकतेः स्व स्व-पितिभः सहैकप्रशीरारभक्तेलेन। एवं तत्र तत्र सालात् परंपरया वा एक-प्रशीरावयवाल्ययेन सापिष्डां योजनीयम्।

जतं दिविधं सापिण्डां यहानास्ति सेयममिप्छा, तासुदहेत्। नन्वेतं सित न काण्यदादः समावेत्, सर्वत्र सापिण्डास्य कथि चिरात्र-पितुं मकालात्, विधात-मरीरानुहत्ते दुःपरिहरतात्, "बङ्ग्छां प्रजा-येय"—दिति श्रुतेः। नैष देषः, श्रविभेषेण प्राप्तस्य सापिण्डास्य सप्तस् पञ्चम च पुरुषेषु सङ्गचितनेन तदूर्द्धं सापिण्डा-निहन्तेः। तथा च मौकमा,—"सपिण्ड-निहन्तिः सप्तमे पञ्चमे वा"—दिति। गाज्ञ- बक्कोऽपि,—

^{*} पुनरवयव,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[ं] भावश्ररीरदारेय, - इति सु॰ पुक्तके पाठः।

''पञ्चमात् सप्तमादूर्द्धं मात्रतः पित्तन्त्रया''—इति । मात्र-पचे पञ्चमात् पित्र-पचे सप्तमात् पुरुषादूर्द्धे, सापिण्डंग निवर्त्तते,—इत्यथाहृत्य योजनीयम् ।

"धिपण्डता तु पुरुषे यप्तमे विनिवर्चते"—इति

मनु-सारणात्। एतद्कां भवति। पित्न-पचे कूटखमारभ्य तत् पुचादि-गणनायां मप्तमादूर्द्धं वर-वध्वीर्विवाच्चान दुख्यति। मात्न-पचे च कूटखमारभ्य तत्पुचादि-परिगणनायां वर-वध्वीर्माता चेत् पञ्चमी मवति, तदा तथाः सापिण्डानिय्चेर्विवाच्चेन देषायेति। यनु विष्णुपुराणवचनम्,—

"पत्रमीं मात्रपचात् तु पित्रपचात् तु मप्तमीम् । ग्टहस्थ उदहेत् कन्यां न्याय्येन विधिना नृप"—इति तत्र, मप्तमीं पञ्चमीमतीत्येत्यध्याहार्य्यम् । श्रन्यथा,पञ्चमात् मप्तमा दूर्द्धम्,—इति वचन-विरोधात्।

''पञ्चने सप्तमे चैव येषां वैवाहिकी क्रिया।

क्रिया-पराश्रिपि हि ते सर्वतः श्रद्भतां गताः"—इति
मरीचिवचन-विरोधाद्य। यद्यपि पैठीनसिना कल्पदयमुक्तम्,—
"पञ्च मालतः परिहरेत् सप्त पिलतस्त्रीन्मालतः पञ्च पिलते।वा"-इति।
तत्र, दितीयः कल्पोऽसमानजातीय-विषयः। यतः शङ्काश्राह्य,—

"यदोकजातावस्वः ष्टयक्चेत्राः प्रयग्जनाः।

एकपिण्डाः पृथक्षीचाः पिण्डस्वावर्त्तते विषु"—इति । श्रयमर्थः। येषामेकः पिता मातराभित्रजातीयास्ते माहभेदा

^{*} तरते,--इति मु॰ पक्तके पाठः।

दसमानजातीयाः, तथापि, पित्रेक्याद स्तिमापिण्डाम्, तच निषु पुरुषेध्वतीतेषु निवर्त्तते,—इति । नन्वेवं सित पित्र-पचेऽपि निभः
पुरुषेः सापिण्डनिष्टत्तेः 'पञ्च पित्रते।वा'—इति वचनं विरुद्धोत ।
एवन्तर्षि 'चीन्मात्रतः पञ्च पित्रते।वा'—इति पैठीनसिवचनं मजातीन्चेव निषेधपरम्*, श्रनुकन्पोवाऽम् । 'मात्रतः पित्रतस्यां'—इत्यव पित्रबन्देन वीजिनोऽपि सङ्घादः । तथा च गौतमः,—"ऊर्द्धं सप्तमात् पित्रबन्धुभ्योवीजिनश्च मात्रबन्धुभ्यः पञ्चमात्' —इति । योहि
नियोगोत् पुचमुत्पादयित्, स वीजी । पित्रमात्रवान्थवाः स्रत्यन्तरे
दिश्चिताः,—

> "पितुः पित्व-ष्वसः पुत्राः पितुर्मात्व-ष्रवः सुताः। पितुर्मातुन-पुत्राश्च विज्ञेयाः पित्व-बान्धवाः॥ मातुः पित्व-ष्वसः पुत्रामातुर्मात्व-ष्वसः सुताः। मातुर्मातुन-पुत्राश्च विज्ञेयामात्व-बान्धवाः"—इति।

नन्वमिष्डिमिति न वक्तयं, वच्चमाणेन 'श्रममानार्षगोत्रजाम्'— द्रत्यनेनैव सपिण्डायाविवाद्द-निषेध-सिद्धेः । सत्यं, तथापि या मातुरसपिण्डाः भवति, सेवादाद-कर्मणि प्रशस्तेति वक्तयम् । तथा च मनुः,—

"ऋषपिण्डा च या मातुरसगीता च रा पितुः।

^{*} खर्वाङ्निघेधपरम, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[†] सपिखायां विवाहनिषेधसिद्धेः,—रति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] या वितुरसगोचा तथापि या मातुरसपिग्डा,—इति सु॰ पुस्तने पाठः।

[∮] वत्तुं,—इति शः स॰ पुस्तकयेः पाउः।

पराश्रमाधवः।

सा प्रश्नस्ता दिजातीनां दारकर्मणि मैथुने"—इति । या मातुरिष्ण्डा श्रमगोत्रा च, या पितुरसगोत्रा, चकारादस-पिण्डा च, सा मैथुने मिथुन-साध्ये दारकर्मणि दिजातीनां प्रश्नस्ता पिर्णयेत्यर्थः। नन्वत्र सात्रग्रहणमनर्थकं, पित्र-गोत्र-सापिण्ड्य-निषधे-नैव सात्र-गोत्र-सापिण्ड्य-निषध-सिद्धेः। पृथक् पिण्ड-गोत्रयोर-भावात्,

"एकलं सा गता भर्त्तः पिष्डे गोत्रे च स्नुतके। स्वगोद्भग्यते नारी विवाहात् सप्तमे परे"—इति वचनात्। सैवम्। गान्धर्व्वादि-विवाहेषु कन्या-प्रदानाभावेन पिल-गोत्र-सापिष्डायोर्निट्ने:। तथाच मार्कण्डेयपुराणम्,—

> "ब्राह्म्यादिषु विवाहेषु या तृहा कन्यका भवेत्। भर्त्तृ-गोत्रेण कर्त्त्व्या तस्याः पिण्डोदक-क्रिया॥ गान्ध्यवादि-विवाहेषु पित्ट-गोत्रेण धर्मवित्"—इति।

एतेन मातुल-सुता-विवाह-विषय-विवाहोऽपि परासः। तथा हि, तिल्विध-वचनानि गान्ध्वीदि-विवाहोता-जा-विषयाणि, तव मापिण्डा-निरुत्तेरभात्। तदनुगाहक-श्रुति-स्रुति-मदाचारात्। न ब्राह्यादि-विवाहोता-जा-विषयाणि,तव मापिण्डा-निरुत्तेः। तानि ह निषेध-वचनानि। तव श्रातातपः,—

"मातुलस्य सुतामूद्धा मात्र-गोत्रां तथेवच । समान-प्रवराद्येव दिजञ्चान्द्रायणचरेत्"—इति । पैठीनसिर्णा,—"पित्र-मात्र-स्वस्ट-दुह्तिरोमातुल-सुताञ्च धर्मतस्ता-भगिन्यस्तावर्जयेदिति विज्ञायते"। सुमन्तुरणि,—"पित्र-पत्यः सर्वामा- तरस्त्यानि भागिनेयानि, श्रन्यया सङ्गरकारिष्यः"—इति। व्यासः,—

"मातुः मिपाष्डा यत्नेन वर्जनीया दिजातिभिः"—दिति। नन्वविशेषेण प्रवृत्तानामेषां वचनानां कथं विशेष-विषयता? विशेष-वचन-वलादिति बूमः । तथा च मनुः,—

> "पैत्रबसेयों भगिनीं खसीयां मातुरेवच । मातुश्व भातुराप्तस्य गला चान्द्रायणञ्चरेत्॥ एतास्त्रिसस्तु भार्थार्थे नेापयच्छेत बुद्धिमान्"—इति ।

भगिनीपदं पैत्रस्यसंयादि-विशेषणम्। त्राप्तस्येति मातुर्भात-विशेषणम्। तत्र, सुतामित्यध्याद्यारः। त्राप्तस्य सन्तिकृष्टस्य स पिण्डस्य गान्धवादि-विवाद्याद्यारः मातुर्भातुरित्यर्थः। पैत्रस्यसंयी-मित्यत्राप्यनिष्टत्त-मापिण्डरा गन्धवादिनाद्या पित्त-स्वसा विविता। तथा च सति, तद्दृद्धित्रभगिनीति विशेषणं सार्थकम् । ब्राह्म्यादि विवाद्येषु सापिण्डा-निष्टत्तर्भगिनीपदं नान्वीद्यात्। त्रस्यमेव न्यायी-मात्रस्वसीयायामपि योजनीयः। तस्माद्वगिन्याप्तपदे।पेत-मनुवचन-वलादविशेषे निषेधाविशेष-विषयपवापसंद्वियते । नन्, ब्राह्म्यादि-विवाद्वविषये मातुल-सुतायादव मात्र-स्वस्-सुतायात्रपि विवादः प्राप्तुयात् । तत्र, शिष्ट-गर्हिलेन तत्र निषेध-स्थित-कस्पनात्। शिष्ट-गर्हितस्थानुपादेयलं थाज्ञवस्वयन्नाह्यः,—

^{*} स्तद्भिगचोमात्रखसार,—इति, नास्ति मु॰ पुस्तके।

[ं] खयमेन न्यायामातुनिषये, मातुनमुतापरिणयउदीचिप्रिष्टगर्हितः, तथापि दान्तिणात्यप्रिष्टेराचरितनिषये मातुनभुतायामिन मात्रखस्सुताया श्रिपि विवाहः प्राप्तयात्,—इति सु॰ पृक्तने पाठः।

"ऋस्वर्धं लेकिविदिष्टं धर्ममणाचारेन तु"-इति।

यद्यपि मातुलस्ता-परिणयनमुदोच्य-भिष्ट-भिर्हितम्, तथापि दिल्णात्य-भिष्टैराचिरतलेन नाविगीते।ऽयसुदीच्यानामाचारः। न च दिल्णात्यानां राग-मूललं भ्रङ्गनीयं, विधि-निषेध-परीचिकैरेव तदि-वाह-कर्णात्। मात्र-स्वसः सुता-विवाहस्त श्रविगीतेन भिष्टाचारेण गर्हितः। मातुल-स्ताविवाहस्यानुग्राहका श्रविगीतेन भिष्टाचारेण 'श्रायाहीन्द्र पथिभिरीलितेभिर्यज्ञमिमं नोभागधेयं जुषस्त । तथा सन्द्रवर्षः। जद्रमातुलस्तेव योषा भागस्ते पेत्रस्वसेयी वपाम्"—द्रति।

श्रयमर्थः हे इन्द्र, पथिभिरीलितेभिः स्तृतः मह ने। साक्रमिमं यज्ञमायाहि । श्रागत्य च श्रमाभिर्दीयमानं भागधेयं जुपस्त, त्रप्ता-मान्यादिना संस्तृतां तपान्तासुद्दिश्य जड्डः त्यक्तवन्तः । तत्र दृष्टान्त-द्यम् । यथा, मातुलस्य योषा दृहिता भागिनेयस्य भागः भजन्त्रीया, भागिनेयेन परिणेतुं योग्या, यथा च पैत्रस्वसेयी पै। तथा भागः । तथाऽयं ते तव भागोवपाऽऽस्यः,—दित । वाजसनेयके-ऽपि । "तसादा समानादेव पृष्वादत्ता चायश्च जायते, उत त्त्रीये सङ्गन्स्यावर्धे सङ्गन्स्यावर्धे अङ्गन्स्यावर्धे सङ्गन्स्यावर्धे सङ्गन्स्यावर्धे । तो च मिथः सङ्गन्ययतः, कृत्रस्थमारभ्य त्त्रीये चतुर्थे वा पृष्वे सङ्गन्स्यावर्धे विवदावर्धे दत्यर्थः ।

चद्यणयमर्थवादः, तथापि मानान्तरविरेधाभावात् खार्थे प्रमा-णम् । विरोधि-वचनानां माल-मपिण्डा-विधयलस्व वर्णितलात् ।

^{*} विवाहस्यानुग्राहिका,—इति पाठोभवितुं युक्तः।

[†] दौच्चिस्य,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

[‡] माहसपिग्डाविषयलस्य च,— इति सु॰ पुन्तके पाठः ।

तसादविरुद्धार्थवारेनानूदिनवादुपरिधारणविदिधिः कल्पचितं शकाते।

तथा हि, प्रेताग्रिहे। ते श्रूयते। "श्रधस्तात् सिमधं धारयत्रतुद्रवेदुपरि हि देवेभ्ये।धारयति"—इति। तत्र, पैतकस्य हिवषोऽधस्तात् समन्त्रकं सिमद्धारणं विधाय, तद्दाक्य-भेषे सिमधोहिवरपरिधारणं देवे कर्मणि यत् श्रुतं, तत् किमर्थवादः, उत विधीयते?
इति संग्रयः। तत्राधोधारण-विधि-स्तावकत्वेन तदेकवाक्यता-लाभादर्थवाददति पूर्वपतः। प्रसिद्धं हार्थमनूद्य तेन स्तुतिर्युक्ता, उपरि
धारणन् न कापि प्रसिद्धम्, श्रुतस्तावकत्वायोगादाक्यभेदमभ्युपगम्याष्यपूर्वार्थतादिधः कन्यितः।

एवं वितीये पुरुषे मङ्ग च्हावहै, — इत्यादाविष श्रपूर्वार्थनेन, मातुल-सुतां विवहेत, — इति विधिः कल्यते । तस्माच्हान्तानुग्रहीते। इयं विवाहः । सृतयस्तु ब्राह्यादिषु सािष्ड्य-निराकरणेन मातुल-सुता-विवाह-प्रापकतया दर्शिताः । श्रिष्टाचार्य दाचिणात्यानामविगीत उदाहृतः ।

केचिनु श्रासुगिद्धिप देश-विशेषेण सातुल-सुता-विवाही-धर्म्यः,—इति सन्यन्ते। उदाहरन्ति च वचनानि। तच वौधायनः,— "पद्यधा विप्रतिपत्तिर्द्रिणतः; श्रनुपनीतेन आर्यया च सह-भोजनं पर्युषित-भोजनं सातुल दुहित्त-पित्व्खसृदुहित्त-परिणयन-सिति, तथात्तरतः; ऊर्ण-विक्रयः सीधुपानसुभयतादिङ्गिर्यवहारः श्रायुधीयकं ससुद्रयानिसिति, इतरद्रतरिसान् कुर्वन् दुर्थिति, दतरदतरिसान् तद्श-प्रसाष्टात्"- इति। इतरे।दाचिणात्यद्दतरिसान्

[🕈] सिमधा इरगं, -- इति सु॰ पुन्तके पाठः।

उत्तरदेशे मातुल-संवन्धं कुर्वन् दुष्यति, न ख-देशे। तथेत उदी-चारतरिमान् दिल्लादेशे सीधु-पानादिकं कुर्वन् दुष्यति, न ख-देशे। कुतः ? देश-प्रामाणात् देश-निवन्धनलादा चारखेत्यर्थः *। तथा च देवलः,—

"यस्मिन् देशे य त्राचारान्याय-दृष्टम्तु कल्पितः।

स तस्मिन्नेव कर्न्नयोन तु देशान्तरे सृतः ।

यस्मिन् देशे पुरे ग्रामे नैविद्ये नगरेऽपिवा।

योयन विहिताधर्मसं धर्मं न विचालयेत्"—इति।

नन्, भिष्टाचार-प्रामाणे ख-दृहित-विवाहे। एप प्रमञ्चेत, प्रजा-पतेराचरणात्। तथा च श्रुतिः। "प्रजापितः खां दृहितरमभ्यगात् ‡" —द्रितः मैवम्। "न देव-चिरतचर्त्त"—द्रित न्यायात्। श्रुतण्व वौधायनः,—

> "श्वनुष्ठितन्तु यहेवे मुंनिभिर्यदनुष्ठितम्। नानुष्ठेयं मनुष्येस्तदुकं कर्म समाचरेत्"—इति।

तदेवं बाह्यादि-विवाह-खवस्यया देशभेद-विषय-खवस्यया च मातुल सुता-विवाहः 'न सपिण्डाम्'—दत्यादिशास्तादेव मिद्धः (१)।

मिवन्धनलादः चार प्रामाण्यस्येत्यर्थः,—इति स॰ ग्रा॰ पुक्तकयाः पाठः ।

र्वे देशाचारः स्रुते।स्रोः, — इति सु॰ पुस्त के पाठः।

[‡] दुच्चितरमभ्यध्यायात्,— इति सु॰ पुन्तेने पाठः।

⁽१) अत्र तावदेवं महता प्रवन्धेन दान्तिणात्यानां मातुनकन्या-परिणया-चारस्य शास्त्रीयत्वं प्रामाण्यस्य समर्थितम्। जैमिनीयन्यायमानायान्तु ख्यमेव ताद्याचारस्य स्रुतिविषद्धत्वमप्रामाण्यस्य व्यवस्थापितम्। तथा च न्यायमानायां प्रथमाध्यायस्य दतीयपादे पश्चमाधिकर्णे।

यवीयमीं वयमा काय-परिमाणेन च न्यूनाम् । तच, वयोन्यून-तायादयत्तामार मनु:,—

"चिंगदर्षीत्रहेत् कन्यां हृद्यां दादणत्रार्षिकीम् । च्यष्टवर्षीऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सलरः"—इति । चहस्यतिरपि,—

"निंगदर्षीदणाब्दां तु भार्यां विन्देन निग्नकाम्। एकविंगतिवर्षावा सप्तवर्षामवाप्तुयात्"—इति। विष्णुपुराणेऽपि,—

"वर्षेरेकगुणां भार्यामुदहेत् चिगुणः खयम्"—इति। श्रोगिणीं श्रचिकित्य-राजयन्मादि-राग-रहिताम्। धातमतीं च्यष्टः कनिष्ठोवास्राता यस्याः, सा स्नातमती। श्रानेन पुचिका-मङ्गा व्युदस्यते। श्रतएव मनुः,—

"यस्यास्त न अवेद्वाता न विज्ञायेत वा पिता। नेषयच्छेत तां प्राज्ञः पुचिका-धर्म-श्रद्धया"—इति। यस्याः पिता पुचिका-कर्णाभिष्रायवान् न वा,—इति न

"यामातुषविवाहादी शिष्टाचारः स मा न वा। इतराचारवन्मातममात्वं सार्चवाधनात्। स्तृतिमूलेक्टि सर्वेत्र शिष्ठाचारस्ततोऽत्र च। खनुमेया स्तृतिः स्तृत्या वाध्या प्रत्यच्या तु सा"—इति।
उक्तच। "खाचारात्त स्तृतिं ज्ञात्वा स्तृतेस्तु श्रति-कल्पनम्। तेन
द्यान्तरितं तेषां प्रामाग्धं विप्रकृष्यते"—इति। तदत्र खोक्तविरोधीः
दुष्परिहरः। न्यायमालायां संग्रहे प्रकृत्तीग्रश्यकारः मातुषकन्या
परिणयाचारस्याप्रामाण्यं मीमांसकाचार्थस्य वार्त्तिककारस्यानमतमेव
संजगाह, खन तु द्याचारस्य स्तृतिसिद्धतया प्रामाण्यमेव खस्यान
मतं व्यवस्थापयामास,—इति कथिद्धत् समाधानमास्थेयं धीमद्भिः।

विज्ञायते, तां ने।पयच्छेत्। यत्र तु नेषा ग्रङ्का, तामस्राहकामणुष-यच्छेदित्यभिप्रायः। 'न विज्ञायेत वा पिता' दत्युकेः वरेण सद्द संप्रतिपत्तिं विनाऽपि पितुः सङ्कल्पमात्रेण कन्या पुत्रिका अवतीति द्रष्टव्यम्। तथाच गौतमः। "त्रभिषस्त्रिमात्रात् पुत्रिकेखेकेषां, तत् संग्रयात् ने।पयच्छेदस्राहकाम्"—इति। मनुरपि,—

> ''त्रपुचोऽनेन विधिना सुतां सुवींत पुचिकास्। यदपत्यं भवेदस्यां तनाम स्थात् स्वधाकरम्''—इति।

वरेण यह संप्रतिपत्ति-करणे तु पुनिका-करणं खष्टमेव विश्वा-यते । सा च सम्प्रतिपत्तिविसिष्ठेन दर्शिता,—

> "श्रधातकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यात्रलङ्गृताम्। श्रस्यां योजायते पुत्रः स मे पुत्रोभवेदिति"—इति।

'स नौ पुत्रोभवेदिति'—इति कचित्पाटः । श्रस्थास्य पुत्रिकासा-गान्धवादाविव खपित्रादिभिः सद न सापिएडा-सगोत्रल-निवृत्तिः । स्रतएव सौगानिः,—

> "मातामस्य गोत्रेण मातुः पिण्डोदकिकयाम्। कुर्वीत पुत्रिकापुत्रणवमाह प्रजापितः"—इति।

तदेवमभिहितां पुनिकां ग्रद्धमानः पुनार्थी आहमतीसेवा-द्वहेत्। 'श्रममानार्षगोनजाम्' च्रवेरिदमार्षः प्रवरं गोन-प्रवर्त्तकस्य सुनेर्व्यावर्त्तक-सुनिगणदत्यर्थः। तद्यथा, गोन-प्रवर्त्तकस्य भरद्धाजस्य स्थावर्त्तकावंगिरे। द्वस्यती। श्रतणवाङ्गिरस-वाईस्पत्य-भरद्धाज-गोनो-

^{*} संप्रतिपत्ती, — इति म॰ ग्रा॰ से ।॰ पुक्तके षु पाठः । † नास्त्ययमं ग्रः सुदितातिरिक्तपुक्तके षु।

ऽहमिति प्रयुद्धते । एवमन्यदणुदाहार्यम् । गोचन्तु वंशपरम्परा प्रसिद्धम्। चस्रावद्घावरेण सह प्रवरेकां गोचेकां वा नास्ति, सा वधूर्विवाहमर्हति, क्वचिद्गोत्र भेदेऽपि प्रवरेक्यमस्ति। तद्यचा, याज्ञ-व बन्य- बाधूल- मोनकानां भिन्न गोचाणां भागव-वीत इव्य- सावेत सेति प्रवरस्थेक्यात्। त्रातस्तच विवाद-प्रसन्ती तद्भावच्छेदाय, त्रासमानार्षजाम्, — इत्युत्तम् । कचित् प्रवर-भेदेऽपि गोवैक्यम् । तद्यया, श्राङ्गिरसांवरी-षयौवनाश्व-मान्धाचंवरीषयौवनाश्वत्यवाङ्गिरम-मान्धात्व-प्रवर-भेदेऽपि यौवनाश्वगोचमेकम्। श्रतस्तव विवाद्धामासृदित्यममानगोचग्रहणम् ॥ गोच-प्रवर्त्तकाञ्च प्राधान्येनाष्टी सुनयः, ते चागस्याष्टमाः सप्तर्षयः। तथा च बीधायन:,—

"यमदग्निर्भरदाजाविश्वामिचाऽचि-गौतमौ । विश्वष्ठकम्यपागस्यासुनयोगोचकारिणः। एतेषां यान्यपत्यानि तानि गोचाणि मन्वते"-इति । एतेषाञ्च गोचालामवान्तरभेदाः यदस-यञ्चाकास्तेषां गला-खंकान-पञ्चात्रत्। तथा च वौधायनः,—

> ''गोत्राणाञ्च सहस्राणि प्रयुतान्यर्नुदानि च । ऊनपचामदेतेषां प्रवराच्यिषदर्भनात्"—इति।

प्रवर्-गोत्रयो: ममानलाममानले बौधायन-कात्यायन-विश्वा-भिन्न-गर्गादि-प्रणीतेषु प्रवरग्रयेषु प्रसिद्धः। न चान सिलित[‡]

^{*} माभूदित्यसमानार्षगोत्रजामित्युक्तम्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।
† विश्वामित्रोयमदिमिभैरदाजीऽय गौतमः,—इति स॰ ग्रा॰ पुक्तकयोः षाठः।

[🗓] गटहीत,—इति सु॰ पुरतने पाठः।

योगीच-प्रवर्धाः पर्युदाय-निमित्तवं ग्रङ्गनीरं, प्रत्येकं दोषा-भिधानात् । तदाइ बौधायनः,—''धगोचां चेदमत्योपयच्छेनातः— वदेनां विस्ट्यात्"—इति । ग्रातातपाऽपि,—

> "परिणीय षगे। जान्तु समान-प्रवरां तथा। कला तस्याः समुत्यभं तप्तकः च्हं विश्वोधनम्"— इति।

त्रापस्तम्ब:,—

''समान-गोच-प्रवरां कन्यामूद्वोपगम्य च । तस्यासुत्पाद्य सन्तानं । ब्रह्माण्यादेव द्वीयते''—इति । इत्यं कन्या- जत्तणं परीच्य कुलमपि परीचणीयम् । श्रतएव मनुः,—

> "महान्यपि समृद्धानि गोऽजाविष्टनधान्यतः। स्त्रीमंबन्धे दश्रेमानि में कुलानि परिवर्जयेत्॥ हीनिक्रयं निष्पुरूषं निष्क्न्दोरे। मश्रार्थसम्। चय्यामयायपसारिश्विचिकुष्ठिकुलानि च"—इति।

द्दीनिकायं यागादि-किया-रहितम्। निष्पुरुषं स्तीमात्रग्रेषम्। निम्कन्दोऽध्ययन-वर्जितम्। यमोऽपि,—

> "चतुर्दश कुलानीमान्यविवाद्यानि निर्दिशेत्। श्रनार्षयं ब्राह्मणानाम्हित्वजाञ्चेव वर्जयेत्॥ श्रत्युचमित्राद्यस श्रतिवर्णस्य वर्जयेत्। सीनाङ्गमितिरिकाङ्गमामयावि-कुलानि च॥

[#] स्थितिक च्छं, -- इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[†] चारु ालं, -- इति स॰ से। ॰ ग्रा॰ पुक्तकेषु पाठः।

[‡] दश्रीतानि, — इति भा वस प पुत्तवायोः पाठः।

श्विचिकु शिकु लादीनां कुर्यादिपरिवर्जनम् । बदा कामिनु लं वर्चे रामग्रानाञ्च यत्नु लम् ॥ श्वपसारि-कुलं यच यच पाएडु-कुलं भवेत्"—इति। अनार्षेयं श्रविज्ञात-प्रवरम्। एतच दीनकियादि-वर्जनं तथा-विधापत्य-परिहारार्थम् । "कुलानुरूपाः प्रजाः सकावन्ति"-इति श्वारीतवचनात्। पुराणेऽपि,—

"मातुलान् भजते पुत्रः कन्यका भजते पितृन। यथायीला अधेन्याता तथायीलाभवेत् सुतः ""—इति । मनुर्पि,-

"पितुर्वा अजते श्रीलं मातुर्वे। भयमेववा। न कथञ्चन दुर्यानिः प्रकृतिं खां विसुञ्चति"—इति । इति हेय-कुलसुकम् । उपादेयनु याज्ञवस्कात्राह,—

"द्शपुरुषविखातात् श्रोनियाणां महाकुलात्"—इति। मातृतः पितृतः पञ्च पञ्च पुरुषानिख्यातायस्मिन् कुले तद्य-पुरुषविख्यातं, तस्मात् महाकुलात् पुच-ग्रस्यादि-सम्दद्धात्कन्यासुदहे-दित्यर्थः। मनुरपि,—

"उत्तमैह्तमैर्नित्यं मंबन्धानाचरेत् सद । निनीषुः कुलसुत्कर्वमधमानधमांस्यजेत्"-इति । श्रवेश्नमान् मएवाइ,—

"विग्रद्धाः कर्मभियैव श्रुति-स्पृति-निद्र्श्वितै:।

[&]quot; तथाप्रीला अवेत् सता,—इति स॰ पुल्लको पाठः।

श्विज्ञुत-ब्रह्मद्यामहाकुल-समन्तिताः॥

सहाकुलैश्व संबन्धामहत्वेन व्यवस्थिताः।

सन्तुष्टाः सक्जनहिताः साधवः समदर्भिनः॥

लेभिरागदेषामर्षमानमोहादि-वर्जिताः।

श्रकोधनाः सुप्रसादाः कार्याः संबन्धिनः सदा"--दित।

श्रक्षमानाह सएव,--

"ये खनाः पिश्रनाः क्षीवाः ये च नास्तिक-वृत्तयः। विकर्मणा च जीवन्तोविकताक्षतयस्तया॥ प्रवद्ध-वैराः श्रूरेर्ये राजिकिन्तिषणस्त्या। ब्रह्मस्वादनित्यास्य कद्यास्य विगर्हिताः॥ श्रप्रजायेषु वंश्रेषु स्वीप्रजाप्रसवस्तया। पतिश्रस्य स्वासिन्यः तांस्य यत्नेन वर्जयेत्"—इति।

कन्या-दाने वर-नियमोगौतमेन दर्शितः,-"विद्याऽऽचार-वन्धु-लचण-श्रील-मन्यन्ताय दद्यात्"—इति । यमोऽपि,-

"कुल च ग्रील च वपुर्वय च विद्याच वित्त च ग्रामायतां च ।

एतान् गुणान् सप्त परीच्य देया

कन्या बुधैः भ्रीषमिचनानीयम्"—इति ।

याजनस्यः,—

"एतैरेव गुणैर्युनः सवर्णः श्रीवियोवरः।

वप्रश्रास्त,—हित सु॰ पुस्तके पाठः।

यतात् परीचितः पुंख्वे युवा धीमान् जनप्रियः"—इति ।

एतैः कन्यकायामुक्तलचणैः । पुंख्वपरीचोपायस्तु नारदेन दर्भितः,—

"यस्यापु प्रवते वीर्यः द्वादि मूत्रञ्च फोनिलम् ।

पुमान् स्वाद्मचणैरेतैर्विपरीतस्तु षण्डकः ॥

चतुर्दश्विधः शास्त्रे षण्डोदृष्टोमनीषिभिः ।

चिकित्स्यञ्चाचिकितस्यञ्च तेषामुक्तेविधः कमात् ॥

निमर्गषण्डावप्रञ्च पचषण्डस्तयैवच ।

श्रमिशापादुराः रागादरकोधात् तथैवच ॥

ईर्य्याषण्डञ्च मेथञ्च वातरेता मुखेभगः ।

श्राचित्रोमोघवीजञ्च शालीने। न्यापतिस्तथा"—इति ।

निषर्गषण्डः खभावते। लिङ्ग-तृषण-हीनः । वधः च्छिन्न-सुध्कः । पञ्चदश्च दिनानि लियमायेव्यमानः सन् सङ्झोग-चमः पच्चण्डः । गृष् श्वाप-षण्डादयस्त्रयः स्पष्टाः । दूर्थ्या पुंस्त्वमुत्सद्यते यस्य, स दूर्ध्या-षण्डः । स्युपचार-विशेषेण पुंस्त-शक्तर्यस्यः स वेव्यषण्डः । वातोप-षत-रेतस्को वातरेताः । यस्य मुख्य पुंस्त-शक्तिनं योनौ, स मुखे भगः । रेते। निरोधात् पण्डीभृतत्रशाचित्रषण्डः । गन्भाधानासमर्थ-वोजः से। प्रतिनरेधात् पण्डीभृतत्रशाचित्रषण्डः । गन्भाधानासमर्थ-वोजः से। प्रतिनरेषणान्यासु पुरुषभावः, वे।ऽन्यापितः—द्वि। एतच परीच्य ज्ञेयम् । श्रव कारणमाद्य स्वर्वः, चि।ऽन्यापितः—द्वि।

"त्रपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टाः स्त्री चेचं वीजिने।नराः। चेचं वीजवते देवं नावीजी चेचमईति'—इति।

^{*} पुंच्तमुत्पद्यते यस्य,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

षण्डवदन्यानि वर्जनीयान्नरानाह क।त्यायनः,—
"दूरस्थानामिवद्यानां मोक्षम्यगिनुसारिणाम् ।
श्राणां निर्द्धनानाञ्च न देया कन्यका बुधैः"— इति ।

कीरशाय तर्हि देय।, इत्यतआह मनुः,—
"उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सरशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्यादिचक्षणः"—इति ॥

अप्राप्तामपीति अप्राप्त-विवाह-समयां बालिकामपीत्यर्थः ।
"जन्मतो गर्भाधानादा प्रज्वमाद्यात् परं शुभम् ।
कुमारीणां तथा दानं मेखला वन्धनन्तथा ॥"— इति ।

बौधायनोऽपि,—

"दद्याद्रगुणवते कन्यां निय्नकां ब्रह्मचारिणे। अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्र रजखलाम् ॥"—इति।

यत् यमेनोक्तम्,---

"काममामरणातिष्ठेद्रगृहे कन्यर्तुमत्यि। नत्वेवेनां प्रयच्छेतं गुणहोनाय किहिंचित्॥"—इति।

तद्रगुणवित सम्भवित गुणहोनाय कन्यां न दद्यादित्येवंप्रम् , न तु सर्वथा गुणहोन-निषेध-परम् । न चेत्. 'अपि वा गुणहोनाय' — इति बौधायनोक्तानुकल्पोनिविषयः स्यात् । 'ऋतुमत्यिप तिष्टेत्' इति वचनं, उक्तरीत्या न स्वार्थे तात्पर्यवत् । यतः, 'नोप्रन्ध्याद्र-रजखलाम्' — इत्येनेन विरुद्धचते । अतप्व वसिष्ठोऽपि, —

"प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यां ऋतुकालभयात् पिता । ऋतुमत्या हि तिष्ठन्त्या दोषः पितरभुच्छति"—इति ।

^{*} श्लोकोऽयं नास्ति मु॰ पुस्तके ।

संवत्ते रिपि, —

"कामकाले तु संप्राप्ते सोमोभुङ्के तु कन्याकाम्। रजःकाले तु गन्धर्वा विह्नस्तु कुचदर्शने। तस्मादुद्वाह्येत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्" — इति

कन्याशव्देन लजाऽऽद्यभिज्ञान-रहितवयोयुक्ता विवक्षिता। तथा च पुराणम् ,—

"यावन्न लिज्जताऽङ्गानि कन्या पुरुष-सिन्नधौ। योन्यादोनि न गृहेत तावद्भवति कन्यका"॥

संग्रहकारोऽपि,—

"यावद्वालं न गृहाति यावत् क्रीड़ित पांशुभिः। यावद्दोषं न जानाति तावद्भवति कन्यका"॥

वयोविशेषेण दातुः फलविशेषमाह मरोचिः,—
गौरो' ददन्नाकपृष्टं वैकुण्ठं रोहिणीं ददत् ।
कन्यां ददद्व्वह्यलोकं रौरवन्तु रजखलाम्" — इति ।

गौर्यादिशव्दार्थी यमेन दशितः,—

"अष्टबर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी। दशमे कन्यका प्रोक्ता अत जर्ध्वं रजखला"॥

संवत्तोंऽपि,—

"अष्टवर्षा भवेद्गौरी नवमे लग्निका भवेत् ! दशमे कन्यका प्रोक्ता द्वादशे वृषली स्मृता" — इति ।

^{*&#}x27;संवचोऽपि' दत्यादिः, 'इति' इत्यन्तः ग्रन्थःक्षचिन्न दश्यते । संग्रहकारोपि इत्यादि कन्यका इत्यन्तं नास्ति मुतितिरिक्षपुस्तकेषु ।

मुख्यानुकल्पभेदेन दातृ-विशेषानाह नारदः,—

"पिता दद्यात् स्वयं कन्यां भ्राता वाऽनुमतः* पितुः ।

मातामहो मातुलश्च सकुल्यो वान्धवस्तथा ॥

माता त्वभावे सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्त्तते ।

तस्यामप्रकृतिस्थायां कन्यां दद्यः स्वजातयः । ॥

यदा तु नैव किश्चत् स्यात् कन्या राजानमाव्रजेत्''— इति । याज्ञबल्क्योऽपि, —

पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा।
कन्याप्रदः पूर्वनारो प्रकृतिस्थः परः परः।
अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ॥
गम्यं त्वभावे दातृणां कन्या कूर्यात् स्वयंवरम्"— इति।

गम्यं गमनाहं सावण्यंदिगुणयुक्तमित्यथेः । तथाच नारदः, —

"सवर्णमनुरूपञ्च कुलशोल-बल-श्रुतैः ।

सह धम्मञ्चरेत् तेन पुत्रांञ्चोत्पादयेत्ततः"— इति ।

सवर्णं वरं प्राप्य, — इत्यध्याहृत्य योजनीयम्। तच्चासित रजो-दर्शने द्रष्टव्यम्। दृष्टे तु रजिस सत्सिपि पित्रादिषु कञ्चित्कालं पितुः शासनं परीक्ष्य तदुपेक्षणेन स्वयमेव वरं वरयेत्। तदाह बौधायनः. —

"त्रीणि वर्षाण्यृतुमती काङ्क्षेत पितृशासनम् । ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदशं पतिम् । अविद्यमाने सदशे गुणहोनमपि श्रयेत्"— इति ।

^{*} वाऽनुमताः, — इति स॰ सो॰ शा॰ पुस्तकेषु पाठः। † सजातयः, — इति पाठान्तरम्।

मनुरपि,-

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्थ्यं तुमतो सती । जद्धवं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् । अदीयमाना भतिरमधिगच्छेद्यदि स्वयम् । नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति''—इति ।

सा यं भर्तारमधिगच्छति, सोऽपि नैनोऽधिगच्छतीत्यर्थः। यतु विष्णुनोक्तम्,—

ऋतुत्रयमुपास्येव कन्या कुर्यात् स्वयंवरम्" – इति ।

तद्रगुणवद्दरलाभे सित द्रष्टिंग्यम्। ननु, ऋतुमत्यां कन्याशब्दः कथं प्रयुक्तः यतो यमेन 'दशवर्षा भवेत् कन्या'—इत्युक्तम्। न च दशमे वर्षे ऋतुः सम्भवति। नायं दोषः। गौय्यांदिशब्दवत् कन्याशब्दस्यापि यमेन परिभाषितत्वात्। सा च परिभाषा, फलकथनादावुप युक्ता। तच्च पूर्वमेवोदाहृत, 'कन्यां ददद् ब्रह्मलोकम्, — इति। लोक-प्रसिद्धस्तु कन्याशब्दो विवाह-रहित स्त्रीमात्रमाचष्टे। एवञ्च सित, शास्त्रेषु वहवः कन्याशब्दा अनुगृहीता भवन्ति। तथाचानु-शसिनिकेऽष्टावक्रोपाख्याने वृद्धस्त्रियां प्रयुक्तः —

"कौमार' ब्रह्मचय्यं में कन्येवास्मिन् न संशयः'— इति । शलयपवंण्यि वृद्धस्त्रियां नारदेन प्रयुक्तः,—

"असंस्कृतायाः कन्यायाः कृतो लोकास्तवानघ'' — इति । जमा महेश्वर संवादेऽपि, —

"ऋतुस्नाता तु या शुद्धा सा कन्येत्यभिधीयते"— इति ।

^{*} ब्रह्मचर्थ्यं वा, — इति सुः पुस्तके ।

ननु, "असंस्कृतायाः"—इति वचने विवाह-रहिताया उत्तमलोकाभाव-उक्तः, सोऽनुपपन्नः, विवाह-रहितानामपि ब्रह्मवाहिनीनामुपनयना-ध्यायनादिभिः उत्तम-लोक-सम्भवात्। अतएव हारीतेनोक्तम्,— "द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च, तत्र वह्मवादिनीना-मुपनयनमग्रीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्यां' — इति । वधूनां तूपस्थिते विवाहे कथि चदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः,—इति । मैवम् । तस्य कल्पान्तर-विषयत्वात् । तथाच यमः —

पुरा कल्पे कुमारोणां मौज्ञोबन्धनिमध्यते । अध्यापनं च वेदानां सावित्रो वचनं तथा ॥ पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत परः । स्वगृहे चैव कन्याया मैक्षचय्या विधोयते । वज्जीयेद्जिनं चीरं जटा-धारणमैव च" — इति ।

"अष्टवर्षा भवेद्गौरी" — इत्यादिना विवाह-काल एकः। अध विवाहभेदा उच्यन्ते। तत्र मनुः,—

"चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान्। अष्टाविमान् समासेन स्त्री-विवाहान्निवोधत। ब्राह्मोदेवस्तथैवार्षः प्राजापत्यः तथाऽऽसुरः। गान्धवीराक्षसञ्चैव पैशाचश्वाष्टमोमतः" — इति।

एषां क्रमेण लक्षणमाह स एव,—

आच्छाद्य चार्चियत्वा च श्रुतशोलवते स्वयम् । आह्य दानं कन्याया ब्राह्मोधर्मः प्रकीत्तितः॥

^{*} वेदाध्ययन् ,— इति नास्ति छ० पुस्ते हे ।

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्मकुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं देवो धर्मः प्रचक्षते ॥
एकं गोमिथुनं देवो वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षोधर्मः स उच्यते ॥
सहोमौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुमाष्य तु ।
कन्याप्रदानमभ्यच्च्यं प्राजापत्यो विधःस्मृतः ॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्याये च*स्वशक्तितः ।
कन्या-प्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥
इच्छयाऽन्योन्य-संयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स च विज्ञे यो मेथुन्यः काम-सम्भवः ॥
हत्वा छित्वा च मित्वा च क्रोशन्तों रुदतीं वलात् । ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥
सुप्तां मत्तां वा रहोयत्रोयमच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः कथितौऽष्टमः' — इति ।

नारदीऽपि,—

"ब्राह्मस्तु प्रथमस्तेषां प्राजापत्यस्तथा । परः । आर्षञ्चेवाथ दैवञ्च सान्धर्वञ्चासुरस्तथा ॥ राक्षसोऽनन्तरस्तस्मात् पैशाचञ्चाष्टमी मतः" – इति ।

^{*} कन्यायादचः — इति स० शा० पुस्तकयोः । पाठा ।

^{ां} गृहात्, - इति मु॰ पुस्तके पाठा।

^{ाँ &}lt;sub>वता</sub>, — इति स॰ घा॰ पुस्तकयोः पाठा ।

[ा] पैद्याचक्रवाष्टमोधमः, — इति का० पुस्तके पाठः ।

वर्णानुपूर्वेणविवाह-नियममाह मनुः,—

"षड़ानुपूर्विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् । विट्यूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्रधम्यान्नराक्षसान्'— इति ।

आदितः षड्विवाहा विप्रस्य धर्म्याः, आसुरादयर चत्वारः पैशाचान्ताः क्षित्रियाणां धर्म्याः, राक्षसवर्जं त एव वैश्य-शूद्रयोरपि । एतेषां व्राह्मा-दीनां मध्ये प्रशस्तानाह सएव,—

"चतुरोव्राह्मणस्याचान् प्रशस्तान् कवयो विदुः। राक्षसं क्षत्रियस्येकमासुरं वैश्य-शूद्रयोः" — इति॥

स्मृत्यन्तरेऽपि,---

"चत्वारो व्राह्मणस्याद्याः शस्ता गान्धर्व-राक्षसौ । राज्ञस्तथाऽ ऽसुरोवैश्ये श्रुद्रे चान्त्यस्तु गहितः"— इति ।

गहितो न कस्यापि प्रशस्त इत्यर्थः । अन्यविवाहालामे व्राह्माणा-दीनां पैशाचमप्यनुजानाति संवर्तः,—

"सर्वोपायेरसाध्या स्यात् सुकन्या पुरुषस्य या। चौर्य्येणापि विवाहेन सा विवह्या रहः स्थिता"— इति ।

व्राह्यादीनां फलमाह मनुः, —

"दशपूर्वान् परान् वंश्यानात्मानं चैकविंशकम्। वाह्यी-पुत्रः सुकृतकृत्मोचयत्येनसः पितृन्॥ दैवोद्रा-जः सुतश्चेव सप्तसप्त परावरान्। आर्थोद्रा-जः सुतः स्रोंस्रोन् षट् षट् कायोद्र-जः सुतः॥

^{*} क्षत्रियादीनां, — इति मुः पुस्तके पाठः ।

व्राह्मादिषु विवाहेषुचतुष्वेंवानुपूर्वशः । वह्मवर्च्चितः पुत्रा जायन्ते शिष्ट-संमताः ॥ रूप-सत्व-गुणोपेता धनवन्तो यशिखनः । पर्याप्त-भोगा धिमष्ठाजीवन्ति च शतं समाः इतरेषु च शिष्टेषु* नृशंसानृतवादिनः । जायन्ते दुविवाहे नु व्रह्म-धर्म-द्विषः सुताः"— इति ।

प्रशस्तेष्विपि चतुर्षु विवाहेषु पूर्वः पूर्वः प्रशस्ततरः । तत्र बौघायनः, — "तेषाञचत्वारः पूर्वे ब्राह्मणस्य, तेष्विपि पूर्वः पूर्वः श्रेयान् , इतरेषामुत्तरोत्तरः पापीयान्" — इति । नन्वासुरवदाषेऽिप पापीयान् , क्रयप्राप्तत्वाविशेषात् । अतएव काश्यपः, —

''क्रयक्रोता तु या नारी न सा पत्न्यिभधीयते । न स दैवेन सापिण्ड्ये दासीं तां काश्यपोऽववीत्" — इति

मनुरिष आर्षस्य क्रयक्रीतत्वादधर्मस्वमिम्नेत्याह, —
"पञ्चानान्तु त्रयोधम्याः द्वावधम्यी स्मृताविह ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यौ कथञ्चन ?"—इति ।

ब्राह्मादीनामासुरान्तानां मध्ये व्रह्म-दैव-प्रजापत्याः त्रयोधम्याः क्रयाभावात् । आर्षासुरौ द्वावधम्यौ, क्रय-क्रीतत्वात् । तयोरप्या-सुरः पैशाचवदापद्यपि न कर्त्तव्यः । तन्न । पञ्चानामिति वचनस्य

^{*} इतरे प्ववशिष्टेषु, — इति स० शा० पुस्तकयोः पाठ: ।

^{ां} दुर्चिवाहेषु, - इति स॰ शा॰ पुस्तकयोः पाठ: ।

^{ाँ} न सा देवे च पित्र्ये च,— इति सु॰ पुस्तके पाठ:।

^{ों} कदाचन, — इति मु॰ पुस्तके पाठ:।

मतान्तरोपन्यास-परत्वात्। कृत एतत्। यतः स्वयमेवोत्तरत्र गोमियुनस्य श्रुक्कत्वं मतान्तरत्वेनान्द्य निषेधति, —

"आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुमृंषैव तत्। अल्पोवाऽपि महान् वापि विक्रयस्तावदेव सः"— इति।

गोिमिथुनं शुल्कम्, — इति यत् केचिदाहुस्तनमृथैव, न हि तस्य शुल्कत्वं सम्भवति, तल्लक्षणाभावात्। अनियत-परिमाणत्वं हि शुल्क-लक्षणं, क्रये तद्दर्शनात्। क्रयसाधनं हि मूल्यं देश-कालाद्य-पेक्षया अल्पं वा महद्धा भवति। प्रकृते तु परिमाणं नियतं, यतः आर्षस्तावतेव गोिमिथुनेनैव सम्पद्यते न त्वन्यशा। अतः क्रयः क्रीत-त्वाभावाद्धस्यं एवार्षः। अतएव देवलः,—

> ''पूर्वे विवाह।रचत्वारो धर्म्यास्तोय-प्रदानिकाः । अशुल्का ब्राह्मणार्हारच तारयन्ति कुलद्वयम्" — इति ।

न च, गन्धर्वादि-विवाहेषु सप्तपदाभिक्रमणाद्याभावात् पतित्वभार्या-त्वाभावः, — इति शङ्कनीयम् । स्वीकारात् प्राक्तदभावेऽपि पश्चात्तत्सद्भावात् । तदाह देवलः, —

'गान्धर्वादि विवाहेषु पुनर्वेवाहिको विधिः। कर्त्तव्यश्च त्रिभिवंणेः समर्थेनाग्निसक्षिकम्' — इति।

गृह्यपरिशिष्टेऽपि.—

''गान्धवां सुरपैशाचा विवाहा राक्षसरच यः*। पूर्वं परिक्रमरचेषा i परचाद्धोभो विधोयते'' — इति।

^{*} राक्षसाद्व ये,— इति स॰ बा॰ पुस्तकयोः पाठः।

^{ां} पश्चिमस्तेषां,— इति मु॰ पुस्तके पाठः ।

होमाकरणे तु ना भार्यात्वम् । अतएव विशष्ठबौधायनी, — ''वलादपहता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता । अन्यस्मे विधिवद्रदेया यथा कन्या तथैव सा'' — इति ।

तस्माद् गन्धर्वादिष्विप सप्तपद्यभिक्रमणसम्भवादस्ति भार्यात्वम् । ब्राह्मचादिषु विवाहेषु यद्भदानमुक्तं तत्सकृदेव । तथा च याज्ञवलक्यः,—

"सकृत् प्रदीयते कन्या हरंस्तां चौरदण्डभाक्"— इति ।

मुनुरपि, –

''सकृदंशो निपतित सकृत् कन्या प्रदीयते। सकृद।ह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्'— इति।

एतचादुष्टवराभिप्रायम् । यदाह नारदः, —

"दत्वा कान्ताय यः कन्यां वराय न ददाति ताम् । अदुष्टरचेद्र वरो राज्ञा स दण्ड्यस्तत्र चौरवत्"— इति ।

किमयमुत्सर्गः ? नैत्याह याज्ञवल्कयः,—

"दत्तामपि हरेत् पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्"— इति ।

एतद्रवाग्दानाभिप्रायम् । यस्मै वाचा दता, ततोऽन्यश्चेत् प्रशस्त-तरो लभ्यते, ततस्तस्मै देया, न तु दुष्टाय पूर्वस्मै । तथा च गौतमः,— "प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्" — इति । वर-दोषास्तु कात्यायनेनोक्ताः, —

"उन्मत्ताः पतितः कुष्ठो तथा षण्डः सगोत्रजः। चक्षुः श्रोत्र-विहोनश्च तथाऽपस्मार दूषितः॥ वर-दोषास्तथैवेते कन्या-दोषाः प्रकीतिताः"— इति । यस्तु जढ़ायाः पुनरुद्धवाहो यमःशातातपाभ्यां दिश्तिः,—

"वरवचेत्कृलःशोलाभ्यां न युज्येत कथठचन ।

न मन्त्राः कारणं तत्र नच कन्याऽनृतं भवेत्* ॥

समाच्छिद्य तु तां कन्यां वलादक्षतयोनिकाम् ।

पुनर्गुणवते दद्यादिति शातातपोऽत्रवीत्"— इति ।

"हीनस्य कुलःशोलाभ्यां हरन् कन्यां न दोषभाक् ।

न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्याऽनृतं भवेत्"— इति ।

कात्यायनोऽपि. —

"स तु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीवएव वा । विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयऽपि वा । ऊढ़ापि देया सान्यस्मै स-प्रावरणः भूषणा" – इति ।

मनुर्ि, -

"नन्टे मृते प्रव्रजिते क्लोवे च पतिते तथा । पठचस्वापत्स नारोणां पतिरन्यो विधीयते" — इति ।

सोऽयं पुनरुद्वाहो युगान्तरविषय । तथा चादिपुराणम्,—

"दत्तायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा ।

कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां । कमण्डलुम्''—इति ।

यस्तु कन्यादोषमनिमज्ञाय प्रयच्छति, स राज्ञा दण्डियत्व्यः, नारदः,—

"अनास्याय ददद्रदोषं दण्ड्यउत्तमसाहसम्' — इति।

^{*} नास्तीदमद्धं मु॰ पुस्तके।

^{ां} इपि वा,--- ... मु॰ पुस्तके पाठः ।

कन्यादोषास्तु नारदेन दर्शिताः,-

"दीर्घ-कुित्सत-रोगार्ता व्यङ्गा संस्पृष्ट मैथुना। दृष्टान्यगताभावा च कन्या दोपाः प्रकीतिंताः"— इति।

न केवलं दोषमनारव्याय ददतो दण्डः, अपि तु सापि परित्याज्ये-त्याह मनुः,—

"विधिवत् परिगृद्यापि त्यजेत् कन्यां विगर्हिताम् । व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम्''— इति ।

नारदोऽपि, —

"नादुष्टां दूंषयेत् कन्यां नादुष्टं दूषयेद्वरम् । दोषे सित न दोषः स्यादन्योन्यं त्यजतोद्धयोः"— इति । एतत् सम्नपद्यभिक्रमणादर्वाग्वेदितव्यम् । तत्रीव भार्यात्वस्योत्पत्ताः ।

अतएव मनुः,—

''पाणिग्रहण-मन्त्रेस्तु नियतं दार लक्षणम् । तेषां निव्ठा तु विक्षेया विद्वद्भः सप्तमे पदे''— इति ।

यमोऽपि, —

"नोदकेन न वा वाचा कन्यायाः पतिरिष्यते । पाणिग्रहण-संस्कारात् पतित्वं सप्तमे पदे"— इति ।

पाणिग्रहण-संस्कारात् पूर्वं परिणेतुर्मरणेऽपि न कन्यात्वं हीयते । तथा च व शष्ठः,—

"अद्भावांचा च दत्तायां म्रियते वा वरो यदि । न च मन्त्रोपनीता स्यात् कुमारो पितुरेव सा" — इति ।

^{*} अयञ्चोद्ध। होयुगान्तरविषयः, — इत्यधिकः पाठ · · · पुस्तके दृश्यते।

वरणानन्तरं देशन्तरगमने विशेषमाह कात्यायनः,—

"वरियत्वा तु यः किश्चत् प्रणश्येत् पुरुषो यदा ।

तदा समाञ्चीनतीत्य कन्यान्यं वर्येद्वरम्"— इति ।

नारदोऽपि,—

"प्रित्गृह्य तु यः कन्यां वरोदेशान्तरं व्रजेत्। संवत्सरमितक्रम्य कन्यान्यं वरयेद्धरम्"— इति । शुल्कं दत्वा यदि वरो म्रियते, तदा किंकत्तं यमित्यत आह नारदः,—

> "कन्यायां दत्तशुल्कायां भ्रियते यदि शुल्कदः । देवराय प्रदातव्या यदि कन्यानुमन्यते"— इति ।

देशान्तरगमने तु विशेषः कात्यायनेनोक्तः,—

"प्रदाय शुलकं गच्छेद्र यः कन्यायाः स्त्रोधनं तथा ।
धार्यां सा वर्षमेकन्तु देयान्यस्मै विधानतः"— इति ।

एवं वाग्दानादारम्य सप्तमाद्यभिक्रमणात् प्राग्दोषद्र्शने भरणादौ वा कन्यामन्यस्मै दद्यादित्युक्तं भवति । अतएव कात्यायनः,—

"अनेकेभ्यो हि दत्तायामनुद्रायानतु तत्र वै । परागमञ्च सर्वेषां लभेत तदिमानतु ताम् । अथागच्छेत वोद्रायां दत्तं पूर्ववरो हरैत्"—इति ।

अनुदायां यस्मे पूर्वं प्रतिश्रुता स एव कन्यां लभते । अन्येनोदा यान्तु स्वदत्तं शुल्कमात्रं हरेत्, न कन्यामित्यर्थः । 'लक्षण्यां स्त्रियमुद्रहेत्'—इति यदुक्तं, तत्रोद्रहनीया कन्या द्विविधा ; सवर्णां चासवर्णा च, तयोराद्या प्रशस्ता । तदाह मनुः,—

"सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि । कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः"—इति । अग्रे स्नातकस्य प्रथमविवाहे. दारकर्माणि अग्निदोत्रादौ धर्में.* सवर्णा, बरेण समानो वर्णोबाह्मणादिर्यस्याः, साः यथा ब्राह्मणस्य ब्राह्मणी क्षत्रियस्य क्षत्रिया वैश्यस्य वैश्या, प्रशस्ता। धर्मार्थमादौ सवर्णा-मूडा पश्चादिरंसवश्चेत्तदा तेषामवराः हीनवर्णाः इमाः क्षत्रियाद्याः क्रमेण मार्याः स्मृताः। तथा च याज्ञवल्क्यः,—

"तिस्रो वर्णानुपूर्वेण द्वे तथैका यथाक्रमम् । ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः"—इति ।

मनुरपि, –

"बूद्रैव मार्या बूद्रस्य सा च स्वा च विशरमृते । ते च स्वा चैव राज्ञः स्युस्ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः" – इति । नारोदोऽपि, –

"ब्राह्मणस्यानुलोम्येन स्त्रियोऽन्यास्तिस्र एव तु । श्रुद्रायाः प्रातिलोभ्येन तथान्ये पतयस्त्रयः ॥ ढेभार्ये क्षत्रियस्यान्ये वैश्यस्यैका प्रकीतिता । वैश्याया द्वौ पतो ज्ञेयावेकोऽन्यः क्षत्रिया-पतिः"— इति ।

वसिष्ठ-पारस्कराविष, — तिस्रो व्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण द्वे राजन्य-स्यैका बैध्यस्य सर्वेषां वाशूद्राण मेके मन्त्रवर्जम्" — इति । पैठीनसिः, — "अलाभे कन्यायाः स्नातकव्रत्रं चरेदिष वा क्षत्रियायां पुत्रमुत्पादयीत शूद्रायां वेत्येके"— इति । विष्णुरिष, —

"द्विजस्य भार्या शूद्रा तु धर्मार्थं न भवेत् कवित्। रत्यर्थमेव सा तस्य रागान्धस्य प्रकीतिता" – इति ।

^{*} धर्म, — इति नास्ति मु० पुस्तके ।

एवं तावदेतेषां मतेन द्विजानामापिद श्र्दा-संग्रहणं रितमात्र-फलमिप दोषमांचादनुज्ञातम् । इदानीमपरेषां मतेन व्राह्मण-क्षित्रययोः तावच्छूदा-वर्जनमेव युक्ततरं नोद्वाहः — इत्युच्यते । तत्र मनुः, —

"न व्राह्मण-क्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।
कस्मिर्वछदपि वृतान्ते शूद्रा मार्यापदिश्यते ॥
होनजाति स्त्रियं मोहादुद्धहन्ती द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि श्रूद्रवत् ॥
श्रुद्रावेदी पतत्यत्रे रुत्थय-तनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्यत्या तदपत्यतया भृगोः ॥
श्रूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥
वृषशी फेन-पोतस्य निश्वासोपहतस्य च ।
तस्याञ्चेव प्रसृतस्य निष्कृतिनं विधीयते ॥"—इति ।

आश्वमेधिकेऽपि,—

"श्रद्धा-योनौ पतद्धीजं हाहाशब्दं द्विजन्मनः।'
कृत्वा पुरोषगर्तेषु पतितोऽस्मीति दुःखितः ॥
मामधःपातयन्नेष पापात्मा काममोहितः।
अधोगति व्रजेत् क्षिप्रमिति शप्तवा पतेत् तु तत्*—इति।

ननु, 'तारच स्वा चाग्रजन्मनः'— इति मनुना श्रुद्रा-विवाहो विप्रस्याभ्यनुज्ञातः । पुनरच तेनेव 'न व्राह्यण-क्षत्रिययोः' — इति स निषिद्धः । अतो व्याहतः, — इति चेन्मैवम् । मतभेदेन युरभेदेन वा व्यवस्थोप उत्तेः । अतएव याज्ञवल्क्येन मतभेदः

^{*} पतेत् ध्रुवम् ,— इति ग्रु॰ पुस्तके पाठः ।

स्पव्टीकृतः,—

"यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद् दारोपसंग्रहः । न तन्मम मतं यसमात् तत्रायं जायते स्वयम् ॥"— इति ।

आनुशासनिकेऽपि,—

"अपत्यजन्म युद्रायां न प्रशंसन्ति साधवः । रत्यर्थमपि शूद्रा स्यान्नेत्याहुरपरे जनाः" — इति ।

युगमेदेन व्यवस्था च स्मृत्यन्तरे स्पष्टीकृता,— "असवर्णांसु कन्यासु विवाहरच द्विजातिमि;"— इत्यादिमनुक्रम्य—

"कलौ युगेत्विमान् धर्मान् वज्यानाहुर्मनीषिणः" — इत्युप-संहारात्*। विवाह-विधिस्तु मनुनाभिहितः,—

"पाणिग्रहण-संस्कारः सवर्णासूपदिश्यते । असवर्णास्वयं ज्ञे यो विधिरुद्धाहकर्मणि । शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया । वासोदशा शूद्रया तु वर्णोतकृष्टस्य वेदने"— इति ।

शङ्कलिखिताविप,— "इषुं गृह्णाति राजन्या प्रतोदं वैश्या दशान्तरं शूद्रा, व्राह्मणस्तु सवर्णायाः पाणि गृह्णोयात् । पैठीनसिः,—

"साङ्गुष्ठं व्राह्मणः पाणि गृङ्गोयात् क्षत्रियः शरम् । वैश्यानाश्च प्रतोदन्तु गूदावस्त्रदशामिति **"— इति ।

सा च व्यवस्था दृष्टोपपत्तिमिक्का असवर्णाक्षीचिवानास्,—
 इत्याधिक: पाठ: मु॰ पुस्तके।

^{**} साङ्ग ष्टं ब्राह्मण्याः पाणि गृह्णीयात् क्षत्रियायाः वारं प्रोतदं वैदयायाः श्रुदायाच स्वदद्यमिति,— इति मु॰ पुस्तके पाठः ।

परिक्रमो व्राह्मणस्योक्तोराजन्यवैश्ययोराचार्य्यपरिक्रमः, i - इति। कृतोद्वाहस्योपगम-नियममाह मनुः, —

"ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्व-दार-निरतः सदा । पर्व्ववर्जं ब्रजेच्चैनां तद्भतोरतिकाम्यया" — इति ।

रजोदर्शन-प्रभृति षोङ्शाहोरात्रात्मकः कालो गर्भग्रहण-समर्थ-ऋतुः। तस्मिन्नृतावपत्यार्थो सदा स्त्रियमुपगच्छेत्। तच्चामिगमनं स्वदारेष्वेव। ऋताविष पर्वतिथि वर्जयेत्। अनृताविष तथास्त्रिया प्राथितो विनाऽप्यपत्योद्देशन्तामिगच्छेत्। यथानिद्दिष्टमृतुं याज्ञ-वलकचो दर्शयित, —

"षोज्ञारं निशाः स्त्रीणां तस्मिन् युग्भासु संविशेत्। ब्रह्मचाय्यैव पर्वाण्याद्यारचतस्त्रस्य वर्जयेत्" — इति।

तिस्मन्नृती पर्वाण्याद्याद्यतस्रो रात्रीर्वर्जयित्वा युग्मासु समासु षष्ठी प्रभृतिषु गच्छेत् पुत्रार्थम्। अयुग्मासु स्त्री-जन्म-मयादगमनं, न तु प्रतिषेधात्। युग्मास्विप रात्रिष्वेवोपगमनं, नाहिनि, दिवा कामस्य निषिद्धत्वात्। तथाचाथवंणो श्रुतिः। प्राणंवा एते प्रस्कन्दयन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते व्रह्मचर्य्यमेव तद यदात्रौ रत्या संयुज्यन्ते"— इति शङ्खलिस्तिवाविष, — "नात्वे दिवा मेथुनं ब्रजेत्" — इति । "ऋतुकालामिगामी स्यात्" — इत्यत्र नियम-द्वयं वेदितव्यम् , ऋतौ गच्छेदेव न तु वर्जयेत्, — इत्येको-नियमः, ऋतावेव गच्छेन्नानृतौ, — इत्यपरः। अत्यव देवलः, —

"स्वयं दारानृतुस्नातान् स्वस्थरचेन्नोपगच्छति। भ्रूणहत्यामवाप्नोति गर्भं प्राप्तं विनाशयेत्" – इति।

^{ां} अयम्य्यंताः पेठिनसिवचनस्येवाम् इत्यनुमीयते ।

बौधायनोऽपि, —

"त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यो भार्यां नोपग्रच्छति । स तुल्यं भ्रूणहत्याया दोषमृच्छत्यसंशयम् । ऋतौ नोपैति यो भार्यामनृतौ यश्च ग्रच्छति । तुल्यमाहुस्तयोः पापमयोनौ यश्च सिञ्चति" — इति ।

पर्ववर्जमित्यनेन निषिद्ध-तिथि-नक्षत्रान्युपलक्ष्यन्ते । निषिद्धपर्वं त्वमावास्या पौर्णमासी च तत्र स्त्रीगमनं श्रुत्या निषिद्धम् । — नामाः वास्यायाञ्च पौर्नमास्याञ्च स्त्रियमुपेयाद् यद्युपेयान्निरिन्द्रियः स्यात्" — इति । अन्याश्च निषिद्ध-तिथयोऽष्टम्यादयः । तत्र मनुः, —

अमावास्याऽष्टमी चैव पौर्णमासी चतुर्द्धा। ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः" — इति ।

अमावास्यादयो यास्तिथयः, तासु स्त्रीसङ्गत्यागेनेत्यध्याहृत्य योजनीयम्। ऋतुकालेऽपि दिनषट्कं वर्ज्यमिति स एवाह, —

तासामाद्यारचतस्रस्तु निन्दितेकादशी च या । त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः" — इति ।

निषिद्धनक्षत्रं याज्ञवल्क्यो दर्शयति, —

एवं राच्छत्स्त्रयं क्षामां मघां मूजञ्च वर्जयेत्" — इति । क्षामां लघ्वाहारादिना कृशामित्यर्थः । अतएव वृहस्यतिरपि स्त्रीपुंसो-राहार-विशेषं सनिमित्तमाह, —

"स्त्रियाः शुक्रेऽधिके स्त्रो स्यात् पुनान् पुंसोऽधिके भवेत्। तस्मात् शुक्रविवृद्धचर्थं स्निग्धं हृद्यञ्च भक्षयेत्*। लघ्वाहारां स्त्रियं कुटयाँदेवं सञ्जनयेत् सुतम्" — इति।

ह्निग्धमन्नञ्च भक्षयेत् , — इति मु॰ पुस्तके पाठः ।

मनुरपि, —

"पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः। समेऽपुमान् पुंस्त्रियोर्वा क्षीणेऽल्पे च i विपर्ययः"—इति।

अपुमानिति छेदः । संक्रान्तिरं च पञ्चपर्वान्तःपातित्वाद्वर्जनीया। तदुक्तं विष्णुपुराणे, —

''चतुर्द्द श्यष्टमीचैव अमावास्या च पूर्णिमा । पर्वाण्येतानि राजेन्द्र, रिवसंक्रान्तिरैव च ॥ तैल-स्त्री-मासं-योगी च पर्वष्वेतेषु वै पुमान् । विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं नृग" — इति ।

देशाश्च वज्यस्तित्रैव दशिताः,—

"चैत्य-चत्वर-सीधेषु नचैव च चतुष्यथे। नैव रमशानोषवनसलिलेषु महोपते॥ गच्छेद्रचवायं मतिमान्मूत्रीचार-प्रपोड़ितः" — इति।

स्वदारनिरतः, इत्यनेन मनसाऽपि परदारगमनं निषद्धतया विवक्षितम्। एतदपि तत्रेव दिशतम्, —

"परदारान्न ग्रच्छेन्तु मनसाऽपि कथञ्चन । पर-दार-रितः पुंसामुमयत्रापि भीतिदा ॥ इति मत्वा स्वदारेषु ऋतुमत्सु व्रजेद्धुः" — इति ।

^{ां} श्लोणत्वे च, — इति मुः पुस्तके पाठः।

र्ष स्त्री तेळ मांस संयोगी, — इत्यन्यत्र पाठः ॥

अन्यदपि वज्जर्यं तत्रैव दिशतम्, —

"न स्नातां तु स्त्रियं गच्छेन्नातुरां न रजखलाम्। नानिष्टां न प्रकुपितां नाप्रशस्तां न रोगिणीम्॥ नादक्षिणां नान्यकामां नाकामं नान्ययोषितम्। क्षुत्क्षामां नातिभुक्तां वा स्वयं चैतेर्गुणेर्युतः॥ स्नातः स्नग्गन्धयृक् प्रीतो व्यावायं पुरुषो ब्रजेत्" — इति।

तदव्रतः, — इत्यनेन श्रीतं वरं स्मारयति । तथा च श्रुतिः । "स स्त्रीषंसादमुपासोददस्ये ब्रह्महत्याये तृतीयं प्रतिगृह्णीतेति, ताअबुवन् वरं वृणावहा * ऋत्वियात् प्रजां विन्दामहे काममाविजनितेः सम्भवामहे तस्मादृत्वियाः स्त्रियः प्रजां विन्दन्ते काममाविजनितेः सम्भवन्ति वरे । वृतं ह्यासां तृतीयं ब्रह्महत्याये प्रत्यगृहत् सा मलवद् वासाभवत्" — इति ।

अयमर्थः। इन्द्रः किल विश्वरूपनाम्नः पुरोहितस्य वधात् वह्याहत्या-मुपागतामञ्जलिना स्वीकृत्य संवत्सरं धृत्वा लोकापवादाद्वीतस्तां त्रेधा विमज्य प्रथमभागं पृथिन्ये द्वितीयभागं वनष्पतिभयो वरपूर्वकं दत्वा वृतीयभागमादाय स्त्रोसमूहमुपागमत् ताश्च वरमयाचन्त, ऋतुकाल-गमनात् प्रजां लभेमहि आप्रसवमनृताविष यथेच्छं सम्भवामेति वरं लब्ध्वा नृतीयभागं प्रत्यगृह्वन् । स च भागो रजोरूपेण परिणतः, ततः प्रभृति मासि मासि योषिन्मलवद्वासा सम्पन्नेति। याज्ञवल्क्योऽिष, —

यथाकामी भवेदाऽपि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् । स्वदार-निरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्यायतः स्मृतःः" — इति ।

^{*} वृणीमद्दा, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

^{ां} बाचै, — इति मुः पुस्तके पाठः।

वृहस्पतिरपि, —

"ऋतुकालाभिगमनं पुसा कार्य्यं प्रयत्नतः। सदैव वा पर्ववज्जं स्त्रीणामभिमतं हि तत्" — इति।

ऋतुकालानिगमनित्यत्र केचिदेवमाचक्षते, अजातःपुत्रस्यैवैष नियमो न तु जात-पुत्रस्य. — इति । उपषादयन्ति च । तत्र कूर्मः पुराणे, —

"ऋतुकालामिगामी स्याद यावत् पुत्रोऽभिजायते" — इति ।

ऋणापाकरणार्थं हि पुत्रोत्पादनम्। तथा च श्रृतिः। जायमानो वै व्राह्मणस्त्रिभिऋणवान् जावते वह्मचर्थेण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्रो यज्वा व्रह्मचारिवासी" — इति। मन्त्त्रवर्णोऽपि, —

> "ऋणमस्मिन् सन्नयति ह्यमृतत्वञ्च गच्छति । पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जोवतो मुखम्" — इति ।

तदेतदृणापाकरणमेकपुत्रोतेपोदनेन सम्पद्यते, तावतापि पुत्रित्व-सिद्धेः। तथाच मनुः, —

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः । पितृणामनृण्यचैव स तस्मात् सर्वमर्हति ॥ यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्रुते । स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदः" — इति ॥

ननु, वहपुत्रत्वमिष क्वित् श्रुयते, — "इमां त्विमन्त्त्रमीदः सुपुत्रां सुभगां कृणु । दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशंकृधि" — इति । "स्यि च पुत्रांश्चादात्" — इति च ।

सत्यम । नायं विधिः, किन्तु वह्नपत्य प्रशंसा । तस्मादजात पुत्रस्यैवायं ऋतुगमन-नियमः, इति !

तदपरे न क्षमन्ते। यद्यषि पुत्रित्वमानृण्यं चैकेनैव पुत्रेण सम्पद्यते, तथाप्यस्ति वहुपुत्रत्वविधिः। "एतम् एवाहमभ्यगाशिषं तस्मान्मम् त्वमेकोऽसोति ह कौषीतिकः पुत्रमुवाच, रश्मोस्त्व पर्याः वर्त्तयाद्वह्योवे ते भविष्यन्ति" — इति छन्दोगैराम्नानात्। तस्य चायमर्थः। कौषीतिकर्नाम् मुनिः स्वयमादित्यमण्डलमेवोपासीनः उद्गानं कृत्वा तत् फलत्वेन पुत्रमेकं प्रयिलभ्य तमुवाच, अहमेतः मेकमेवादित्यं ध्यायन् गानमकार्षं, तस्माद्दोषान्मम् त्वमेक एव पुत्रोऽसि एकपुत्रत्वं च न प्रशस्तम्, अतस्त्वं वहुपुत्रताये रश्मीन् बद्धनुपास्तिवेजायामावत्तं येति। महाभारतेऽपि, —

"अपत्यन्तु मनैवैकं कुले महित भारत ।
अपुत्रञ्चैकपुत्रत्विमत्याहुर्घर्मवादिनः ॥
चक्षुरैकञ्च पुत्रश्च अस्ति नास्तीति भारत ।
चक्षुनिशं तनोनिशः पुत्रनाशं कुलक्षयः ॥
अनित्यताञ्च मत्यीनां मत्वा शोचामि पुत्रक ।
सन्तानस्याविनाशन्तु कामये भद्रमस्तु ते" — इति ।

नन्, ज्येष्टेनैव पुत्रेण।नृण्य-सिद्धे निर्धकं पुत्रान्तरोत्पादनम् । तन्न, सर्वेपां पुत्राणामानृण्य-हेतुत्वात् । न हि पुत्र-जननमात्रेण पितुरानृण्यं, किन्तिहं, सम्यगनुशिष्टेन पुत्रेण शास्त्रीयेषु कर्म-खनुष्ठितेषु पश्चादानृण्यं सम्यद्यते । अतएव वाजसनेयिब्राह्मणे पुत्रानुशासनिविधः समाम्नातः । "तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाष्टु स्तस्मादेनमनुशासित यदनेन किञ्चिद्धण्या कृतं भवति तस्मादेनम्नसः सर्वस्मात् पुत्रो मोचयति तस्मात् पुत्रो नाम पुत्रेनेवास्मिलोके प्रतितिष्ठित" — इति ।

अस्यायमर्थः । अस्ति किञ्चित् संप्रतिपित्तनामकं कर्मं । यदा पितुर्मरणावसरो भवति, तदा पुत्रमाहूय वेदाध्ययने यञ्च लोकिकव्यापारे च यद्यत्कर्त्तव्यजातं तस्य सर्वस्य पुत्रे सम्प्रदानं कर्त्तव्यम् । सेयं सम्प्रतिपित्तः । तस्यां च सम्प्रतिपत्तौ यस्मादनुशिष्ट एव पुत्रोऽधिकारो, तस्मादनुशिष्ट पुत्रं परलोकिहतमाहुः शास्त्रज्ञाः । अतएव पुत्रानुशासनं कुर्युः पितरः । स चानुशिष्टः पुत्रो यत्किञ्चित् सिपत्रा शास्त्रीयं कम्मं अक्षण्या वक्रत्वेन शास्त्र वेपरीत्येन कृतं भवति, तस्मात् सर्वरमात् पापादेनं स्विपत्रं स्वयं शास्त्रीयं कर्म सम्यगनुतिष्ठन्मोचयित । तस्मात् पुत्राम्नो नरकात् त्रायते,
—इति व्युत्पत्या पुत्रो नाम । स च पिता स्वयं मृतः पुत्रशरीरेणेवास्मिन् लोके यथाशास्त्रं कर्म कुर्वन्ननुतिष्ठति, — इति ।

एवं सित बद्धनां मध्ये यथावदनुशासनं प्रज्ञा-मांद्यादि-प्रतिबन्ध-वाहुल्य त् कस्यचिदेव सम्पद्यते । अनुशिष्टेष्विप वहषु यथावदनुष्ठानं कस्यचिदेव । अतो उयेष्ठः कनिष्ठो ा यस्तदृशः, स एवानृण्यहेतुः । अतएव पुराणेऽभिहितम् , —

"एष्टव्या वहवः पुत्राः यद्येकेऽपि गयां व्रजेत्" — इति ।

"दशास्यां पुत्रानाधेहि" — इत्यादिमन्त्राश्चैवं सति वहुपुत्रस्वविधि-मुपोद्रलयन्ति । यत्तु, कामजानितरानित्युदाहृतं, तदननुशिष्ट-विषयम् । तस्मात्, जात-पुत्रोऽप्युतावुपेयादेव ।

बहूनां पलीनामृतु-यौगपद्ये क्रममाह देवलः, —

"योगपद्ये तु तीर्थानां विप्रादिक्रमशाव्रजेत्। रक्षणार्थमपुरुां वा ग्रहणक्रमशोऽपि वा" — इति।

तीर्थमृतुः । तद्यौगपद्ये सत्यसवर्णासु वर्णक्रमेण, सवर्णासु विवाह-क्रमेण गच्छेत् । यदा तु काचिदपुत्रा, पुत्रवत्य इतराः, तदा अपुत्रां

अग्रतो गच्छेत्। ऋताविप जातिभेदेनौपगमन-काल-सङ्घोचमाह देवलः, —

"व्राह्मण्यां द्व दशाहं स्याद्वेदोक्तमृतुधारणम् । दशाष्टी षट् च शेषाणां विघीयन्तेऽनुपूर्वशः" — इति ।

पञ्चम-दिवसमारभ्य द्वारशाहादिसंख्याऽवगन्तव्या । चतुर्थे तु दिवसे गमनं वैकल्यकं, विहित प्रतिषिद्धत्वात् । तथाच हारीतो-विद्याति, — "चतुर्थेऽहिन स्नातायां युग्मासु वा गर्माधानम्" — इति । व्यासो निषेधति, —

"वतुर्थे सा न गम्याऽह्वि गताऽल्पायुः प्रसूयते" — इति ।

व्यवस्थित-विकल्परच।यमुदितानुदितहोभवत् । रजसो निवृतौ चतुथ्यी विधिः, तदनुवृतौ प्रतिषेदः । तथा च मनुः, —

"रजस्युपरते साध्वो स्नानेन स्त्री रजखला" — इति।

साध्वो गर्माधानादि-विहित-कर्मयोग्येत्यर्थः । दिन-विशेषेणोपगमने फल-विशेषोऽभिहितो लिङ्गपुराणे, —

"चतुर्थे सा न गम्याऽहि गताल्पायुः प्रसूयते । विद्या हीनं व्रतम्रब्टं पतितं पारदारिकम् ॥ दारिद्रचाणंव-भग्नञ्च तनयं सा प्रसूयते । कन्याथिनेव गन्तव्या पञ्चभ्यां विधिवत् पुनः ॥ षष्ठ्यां गम्या महाभाग, सत्पुत्र*—जननी भवेत् । सप्तभ्यां चैव कन्याधीं गच्छत् सैव प्रसूयते ॥

^{*} सपुत्र, — इति मु॰ पुस्तके पाठः ।

अष्टम्यां सर्व-सम्पन्नं तनयं सम्प्रसूयते ।
नवभ्यां दारिकार्थं स्याद्दशम्यां पण्डितं तथा ।
एकादश्यां तथा नारों जनयत्येव पूर्ववत् ॥
द्वादश्यां धर्मतत्त्वज्ञं श्रौत-स्मार्च-प्रवर्षं कम् ।
त्रयोदश्यां तथा नारों वर्ण-सङ्कर-कारिणीम् ।
जनयत्यज्ञना, तस्मान्न गच्छत् सर्वयत्नतः ॥
चतुर्वश्यां यदा गच्छेत् सुपुत्र-जननी भवेत् ।
पञ्चदश्याञ्च धर्मंज्ञां चिोड्श्यां ज्ञानपारगम् ॥" — इति ।

ऋतु कालानिमगमने यो दोषोऽभिहितः, तस्यापवादमाह व्यासः, — "व्याधितो बन्धनस्थो वा प्रवासेष्वथ पर्वसु । ऋतुकालैऽपि नारीणां भ्रूणहत्या प्रमुच्यते ॥

> वृद्धां वन्ध्यामबृत्ताञ्च मृतापत्यामपुष्पिताम् । कन्याञ्च बहुपुत्राञ्च वर्जयन्मुच्यते भयात् ॥" — इति ।

भ्रुण हत्या भ्रूण-हननम् । उक्तरीत्या यस्यां वृद्धत्वादि-दी रहितायामृतुकालोपगमनमवश्यंभावि, यस्याञ्च वृद्धादौ नावश्यंभावि सा सर्वापि सम्यक् पालनीया । तथा च मनुः, —

"पितृमिर्मातृमिरचैताः पतिमिर्देवरैस्तथा। पूज्याः भूषियतव्यारच बहुकल्याणमीप्सुमिः॥ यत्र नार्यस्तृ पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

[ि] धर्मज्र', — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

शोचिन्त जामयो यत्र (१) विनश्यत्याशु तत् कुलम् ।
न शोचिन्त तु यत्रैता वर्द्ध ते तद्धि सर्वदा ॥
जामयोयानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्या-हतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥
तस्मादेताः सदाभ्यच्या भूषण।च्छादनादिभिः ।
भूतिकामैर्नरे नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥
सन्तुष्टो भार्यया भक्तां भर्ता भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥" — इति ।

पूज्यत्वञ्चावृता-व्यतिरिक्तासु द्रष्टव्यम् । अवृतायास्तु प्राणधारण-मात्र-मोजनम् । तथा च याज्ञवल्क्यः, —

"हताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम् । परिभूतामधः शय्यां वासयेद्वचिमचारिणीम्" — इति ।

यथा विन्ना साध्वी भर्तव्या, तथैवाधिविन्नाऽपि (२)। तदाह स एव,—
"अधिविन्नाऽपि भर्तव्या, महदेनोऽन्यथा भवेत्" — इति ।

अधिवेदनं मार्ग्यान्तर-परिग्रहः। अधिवेदन-निमित्तान्यपि स एवाह, — "सुरापो व्याधिता धूर्ता वन्ध्याऽर्श्यटन्यप्रियम्बदा। स्त्रो- प्रसूरचाधिवेत्तव्या पुरुष द्वेषिणी तथा" — इति।

(१) जामयोभ्रातृभायां इति केचेत्। भगिन्य इति केचित् वस्तुतस्तु ''जामि तवस्कुछस्त्रियोः'' — इत्यमरोक्तं ग्रह्माम् । * भूषणाच्छादनाशनैः, — इति मु० पुस्तके पाठः। र सन्कारेणोत्सवेन च, — इति स० पुस्तके पाठः।

(२) एकस्यां स्त्रियां विद्यमानावाम परस्त्रो परिग्रहे कृते पूर्वा स्त्री अधिविन्नेत्युच्यते। सुरापी मद्यपीत्यर्थः। सुरापाने तु नाधिवेदेनमात्रम, अपि तु त्याग एव। "तथा महति पातके" — इति त्यागहेतुत्वेनामि-धानात् (१)।

"पतत्यद्ध" शरीरस्य यस्य मार्थ्या सुरां पिवेन्" — इति वचनाचि । अतएव मनुः, —

"मद्यपारुसाधु-वृत्ता च प्रतिकूला च या मवेत्। वयाधिता चाधिवेत्तव्या हिस्रार्थंघ्नी च सर्वदा" — इति ।

व्याधिना दीर्घरोगिणी। ब्रह्मपुराणेऽपि, —

"धर्म्म-विघ्न-करीं भार्यामसतोञ्चा तरो पिणीम् । त्यजेद्धम्मस्य रक्षार्थं, तथैवा प्रियवादिनीम् न त्यजेदिधिविन्देत न तु भोगं परित्यजेत्" २) — इति ।

- (१) छरामद्यवौंर्मदस्तु, ''पानसं द्राक्ष माधूकं खाउर्जूरं वालमें द्रावम । मध्वीकं टाङ्कमाध्घोकं मेरेयं नारिकेलजम । समानाि विजानीयात् मद्यानेकादशैव तु । द्वादशन्तु छरामद्यं सर्व्वेषामधमं त्मृतम्"— इत्युक्तदिशाऽवसेयः । छरा तु पैक्ट्येव मुख्या । ''छरा तु पैक्टोमुख्योक्ता न वस्यास्त्वितरे समे'' इतिस्मरणात । पैष्टोपानव्य श्रयाणामेव द्विजावोनां महापातकम् । "छरावै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुक्वते । वस्माद्वाह्मणराजन्थौवैश्यश्च न छरां पिवेत्'— इति घचनात् । गौद्रो-माध्य्वोरपि छरात्वं गौण, तत्पानमिष ब्राह्मणस्य महापातकमेव । ''गोद्रो पैष्टी च माध्यो च विज्ञेया त्रिविधा छरा । यथैवैका तथा सर्व्या न पातक्या द्विजोत्तमैः" इति स्मरणात् ।
 - (२) अप्रियवादिनी न त्यजेत् किन्तु अधिन्देत, न पुनरप्रियवादिन्याभोगः त्यजेदित्यर्थः ।

अधिवेदन काल विशेषो मनुना दिशतः, —

"वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याऽष्टे दशमे तुं मृतत्रजा । एकादशे स्त्री-जननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी" — इति ।

हितायां विशेषमाह सएव, —

"या रोगिणी स्यात्र हिता सम्पन्ना चैव शीलतः । साऽनुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या तु कहिन्वत्" — इति ।

अधिवेदनं द्विविधं, धम्मधिं कामार्थं न तत्र, पुत्रोत्पत्त्यादि-धम्मिथें पूर्वोक्तानि मद्योत्यादोनि निमित्तानि ; कामार्थे तु न तान्य-वेक्षणीयानि, किन्तु पूर्वीदा तोषणीया । तथाच स्मृत्यन्तरे, —

"एकामुत्क्रम्य कामार्थमन्यां लब्धुं य इच्छति । समर्थस्तोषयित्राऽर्थेः पूर्वोद्रामपरां वहेत्" — इति ।

यद्यसौ स्वयं न तोषयेत्, तदा तत्तोषगाय राजा द्रव्यं दापयेत्। तदाह याज्ञवलक्यः, —

"आज्ञा-सम्पादिनों दक्षां वीरस्ं प्रियवादिनीम्। त्यजन् दाप्यस्तृतीयांशमद्रव्योभरणं स्त्रियाः" — इति।

सधनस्य तृतीयांश-दानं निद्धं नंस्याशनाच्छादनादिना पोषणमिति । या तूक्त-द्रव्यापरितोषणात् प्रकारान्तरेण वा निर्गच्छेत् तां प्रत्याह मनुः, —

"अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्र द्वेषिता गृहात्। सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुल-सन्निधी"—इति । त्यागोनाम तदीय-जनक-कुल-प्रेषणम्। "पूज्या भूषयितव्याश्च"— इति यदुक्तं, तत्र बहुपत्नीकस्य पूजाक्रममाह मनुः, —

"यदि स्वाश्चावराश्चेव विन्देरन् योषितो दिजाः । तासां बर्ण क्रमेण स्याज्जेष्ठचं पूजा च वेश्मिन ॥ मर्त्युः शरीर शुश्रषां धर्म्मकार्य्यञ्च नैत्यकम् । स्वा स्वेव कुर्यात् शर्वेषां नान्यजातिः कथञ्चन" – इति ।

बद्बोषु पत्नीषु सहधम्मंचःरिणीं निर्धारयति याज्ञवल्कयः, — "सत्यामन्यां सवर्णायां धम्मंकार्यं न कारयेत्। सवर्णासु बिधौ धम्में ज्येष्ठया न विनेतरा" — इति।

सवर्णयेव सह धर्माठ वरेत् नासवर्णया। अलाभे तु सवर्णाया इतरयाऽपि सह धर्माठ वरेदित्यश्राक्षम्यते। न चेवं सित, श्रूद्रयाऽपि सह धर्माचरणं प्रसज्येतेति वाच्यं, विसष्ठ वचनेन तिन्निषेधात्; "कृष्णवणां या रमणायेव सा न धर्माय" – इति। सवर्णाऽनेक्तवे तु धर्मा वृष्ठाने ज्येष्ठया विना मध्यमा कनिष्ठा च न योक्तव्ये, किन्तु ज्येष्ठया कनीयस्यो विनियोक्तव्याः। तथाच बौधायनः, – "एकेकामेव सन्नाह्य देकेकां गार्हपत्यमीक्षयेत् एकेकामाज्यमवेक्षयेत्" — इत्यादि। कात्यायनः, —

> "नैक्याऽपि विना कार्यमाधानं भार्यया द्विजैः। अकृतं तद्विजानीयात् सर्वानान्वारमन्ति यत्' — इति।

यद्धस्मात् सर्वानारभन्ते तस्मादेकया कृतमप्यकृतमेव। केचिदत्र 'ज्येष्ठया न विनेतराः' — इति वचनमन्यथा व्याचक्षते ; ज्येष्ठेव सहधम्मं चारिणो नेतराः, — इति । उदाहरन्ति च तत्र विव्णुवचनम्, -

"अग्निहोत्रादि-यज्ञेषु न द्वितीया सहाचरेत् । अन्यथा निष्फलं तस्य खिष्टैः क्रतुशतैरपि'' — इति ।

प्तद्वशरव्यानं वीधयन-कात्यायन-वचन-विरोधान्नाद रणीयम् । विष्णुवचनन्त्वसवर्ण-द्वितीया-विगयम् , सत्स्वग्निषु या परिणोता तद्विषयं वा । नष्टेष्वग्निषु पुनराधाने तस्या अपि कर्नु त्वादग्निहात्रा-दिषु सहाधिकारः । तत्र व विशेषमाह कात्यायनः, —

"अग्निहोत्रादिशुश्रूषां वहुमार्थाः सवर्णया । कारयेत्तद्वहुत्वे च ज्येष्ठया गाहिता न चेत् ॥ तथावीर-सुवामासामाज्ञासम्पादिनो च या । दक्षा प्रियम्बदा शुद्रा तामत्र विनियोजयेत् ॥ दिन-क्रमेण वा कम्मं यथा ज्येष्ठमशक्तितः । विमज्य सह वा कुर्यांद्र यथाज्ञानमशक्तितः" — इति ।

यदि ज्येष्ठा न गहिंता, तदा तया कारयेत्। गहिंता चेत्, किनष्ठया वोरसुवा कारयेत्। वीरसुवोपिवहृचचेत्, तासामपि मध्ये आज्ञा-सम्पादनादि-गुण युक्तां विनियोजयेत्। प्रतिदिनमेका कर्त्तुमशक्ता चेत्, तदादिन-क्रमेण यथाज्येष्ठं कारयेत्। एकस्मिननपि दिने यद्येका कृत्सनं कर्त्तृमशक्ता, तदा सर्वास्तत् कम्मं यथाज्ञानं विभज्य कुर्युः। यत्तु कात्यायनेनेवोक्तम्, —

"प्रथमा धर्मप्तनी स्याद् द्वितीया रतिवद्धिनी। दष्टमेव फलं तत्र नादष्टमुपपद्यते'' — इति।

तिद्विष्णु-वचनेन समानार्थम् । इत्थं सिवशेषो विवाहोनिरूपितः । अथ सवर्णा सवर्णा-विवाह-प्रसन्तेन वुद्धचार ढानामनुलो मप्रतिलोम-

जातीनां व्यवहारोपयोगिसंज्ञा-प्रतिपत्त्यर्थं जाति-भेदो निरूप्यते ।

तत्र याज्ञवल्क्यः, —

"सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः। अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्त्राः सन्तानवद्धंनाः" — इति।

सजातयो मातापितृ-समान-जातीयाः। मनुरपि, –

"सर्व्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नोष्वक्षत-योनिषु । आनुलोम्येन सम्मूता जात्या ज्ञे यास्तएव ते" — इति ॥

व्राह्मण-दम्पतीभ्यामुत्यन्नो जात्या व्राह्मणो भवेत् । एव क्षत्रियादिष्विप

देवलोऽपि, — "ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत् ।

एवं क्षत्रिय-विट्-शुद्रा ह्वा याः स्वेभ्यः स्वयोनिजाः'' – इति ।

असवर्णास्वनुलोमजानाह मनुः, —

"स्त्रोष्वनन्तर-जातासु द्विजेष्ट्यादितान् सुतान् । सदशानेव तानाखर्मातृदोषविगहितान्" — इति ।

जदायां क्षत्रियायां त्राह्मणादुपपन्नो ब्राह्मण-सहशो न तु मुख्य त्राह्मणः होनजातीय-मातृ-संवन्धात्। एवमन्यत्रापि। ते चानुलोम-जाभूद्धा-विसक्तादिजातिभेदेन षड्धिः। ते च याज्ञवल्क्येन दिशताः,—

गादजातिमदन पाष्ट्रयाः । त च याज्ञवल्क्यन दाशताः,-"विप्रान् मूर्द्धावसिक्तो हि क्षतियायां विशःस्त्रियाम् ।

अम्बष्ठः शूद्रचां निषादो जांतः पारशवोऽपिवा ॥

वैश्याशुद्रचोस्तुराजन्यान्माहिष्योग्रोसुतौस्मृतौ ।
 वैश्यातुकरणः शुद्रचां विन्नास्वेषविधिःस्मृतः" — इति ।

^{*} व्यत्र, 'नारदोऽपि' — इत्यधिक: पाठः मु॰ पुस्तके ।

तत्र व्राह्मणाज्जातास्त्रयः क्षत्त्रि।त्द्रौ, वैश्यादेकः । तदुक्तं मनुना,—

"विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृषतेर्वर्णयोद्धयोः । वैश्यस्य वर्णएकस्मिन् षडेतेऽपशदाःस्मृताः" — इति ।

मुख्य-पितृ-जात्यमावात् अपशदाः । ननु, मूद्धावसक्तत्वादीनि न जात्यन्तराणि, अनुलोमजानां मातृजातीयत्वात् । तदाह विष्णुः,— "समान-वर्णासुपुत्राः समान-वर्णामवन्ति, अनुलोमजास्तु मातृसवर्णाः* प्रतिलोमजास्त्वार्य्य-विगहिताः" — इति । शङ्कोऽपि, —

"क्षित्रयायां व्राह्मणेनोत्पन्नः क्षित्रय एव भवति, क्षित्रया — देश्यायां वैश्यएव भवति, वैश्येन शूद्रचां शूद्रएव भवति"।

नैषदोषः । अनयोर्व्वचनयोर्मातृजात्युदितःधम्मं प्राप्त्यर्थंत्वात । अन्यथा, वीजोत्कर्षवेयर्थावतः । यथा क्षेत्रापकःषं उत्कृष्ट-जाति-निवारकः एवं वीजोत्कषीऽपिनकृष्ट-जातिः कुतो न निवारयेत् । तस्मात्, जात्यन्तराण्येव मूर्द्धाविसक्तत्वादीनि । ननु, देवलेनानु-लोम-जातयोऽन्यथा वणिताः ;

"व्राह्मणात् क्षत्रियायान्तु सवर्णोनाम जायते । क्षत्रियाच्चैव वैश्यायां जाते (मवष्ठ इति समृतः'' — इति ।

नायं दोषं। एकस्यामेव ज तौ मूर्द्धाविसक्त-सवर्ण-संज्ञयोविकल्पेन प्रवृत्तत्वात्। एवमम्बष्ठादिष्विषि। न चेकत्र संज्ञाविकल्पे दृष्टान्ता-भावः शङ्कनोयः, एकत्र निषाद-पारशव-सज्ञा-विकल्पस्य मनु-देवल

^{*} ब्बनुक्षोमास मातृषु मातृः र्णाः, — इति स० पुल्तके पाठः ।

याज्ञ बल्क्ये रुदाहतत्वात् । प्रतिलोमजास्तु मनुना दशिताः, —

"क्षत्रियाद्विप्र-कन्यायां सूतो भवति जातितः ।

वैश्यान्मागधवैदेही राजविप्राङ्गना-सुतौ ।

शूद्रादायोगवः क्षता चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।

वैश्य-राजन्य-विप्रासु जायन्ते वर्णसङ्गराः ॥

आयोगवश्च क्षता च चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।

प्रातिलोम्येन जायन्ते श्रृद्रादपशदास्त्रयः ।

वैश्यान्मागधवैदेही क्षत्रियात् सूत एव च ।

प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यशदास्त्रयः" — इति । *

देवलोऽपि, —

"श्रूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालः प्रतिलोमजाः । वैश्यायां क्षत्रियाञ्च ब्राह्मण्याञ्च यथाक्रमम् ॥ तथैव मागधो वैश्याज्ञातो वैदेहकस्तथा । ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्ञातः सूतो जात्या न कर्म्मणा" — इति ।

याञ्चवलक्योऽपि, —

"ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतोवेश्याद् वेदेहकस्तथा। यूद्राज्ञातस्तु चण्डालः सर्व-धम्म-विहिष्कृतः॥ क्षत्रिया मागधं वैश्यात् श्रुद्रात् क्षतारमेवच। श्रुद्रादायोगवं वैश्या जनयामास वैसुतम्" — इति।

वर्णानामनुलोमजानां प्रतिलोमजानाञ्च परस्पर-साष्ट्रय्यैणोत्पन्नाः विवासन्ति विशेष।स्त्वनेकविधाः ते च

^{*} श्लोकोऽयं मुद्रित पुस्तके नास्ति।

^{ां} पुक्तश इत्वन्यत्र पाठः।

तद्वृत्तयश्च पुराणसारे प्रपठिचताः । तेषु च जाति-विशेषेषूत्त-माधम-भावं विविनक्ति देवलः, —

"तेषां सवर्णजाः श्रेष्ठास्तेभ्योऽन्वगनुलोमजाः । अन्तरालावहिर्वर्णाः पतिताः प्रतिलोमजाः" — इति ।

विजातोयान्मिथुनादुत्पन्ना अन्तरालाः। ते च द्विविधाः, अनु लोमजाः, प्रतिलोमजाश्च। तत्रानुलोमजाः सवर्णज्ञेभ्यो हीना — अपि न वर्णवाह्याः, मानृसमानवर्णत्वात्। प्रतिलोमजास्तु वर्ण-वाह्यत्वात् पतिता अधमाः। याज्ञवल्क्योऽपि, —

"असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः" — इति ।

क्विष्ठद्धमजातेरय्युत्तमजाति-प्राप्तिर्भवति । तदाह स एव, — "जात्युत्कर्षो युगे ज्ञोयः सप्तमे पञ्चमेऽपिवा" — इति ।

कूटस्थ-स्त्रीपुंस-युगमारम्य परिगणनायां पठचमे षष्ठे सप्तमे वाऽनुलोमेन युग्मे जाति इत्कृष्यते । तद्यथा । पुमान् विप्रः, वध्रः यूद्रा, तयोर्थ्यंमं कूटस्थं, तस्मादुत्पन्ना निष्वि साऽपि विप्रेणोद्रा तयोर्थ्यंमं द्वितीयं, एवं तदुत्पन्नायां वघ्वां विप्रेणोद्रायां तृतीयादि-युग्न-परम्परा भवति, तत्र सप्तमे युग्मे जातमपत्यं ब्राह्मण्योपेतं भवति । एवं वैश्या-विप्र-युगलं कूटस्थं युग्म, तस्मादुत्पन्नाऽम्वष्ठा, तस्याश्च विप्रस्य च युग्मं द्वितीयं, इवं तदुत्पन्नायां विप्रेणोद्रायां षष्ठं यद्र युग्मं, तस्मादुत्पन्नस्य ब्राह्मण्यं भवति । तथा क्षत्रिया-विप्रयोर्थ्मं कूटस्यं, तदुत्पन्ना मूर्द्धाविसक्ता, तस्याश्च विप्रस्य च युग्मं द्वितीयं, तत्परम्मरायां पञ्चमाद्रयुग्मादुत्पन्नस्य ब्राह्मण्यं भवति । एतदुक्त भवति । पञ्चमे षष्ठे सप्तमे वेति

[ि] तदुत्पन्नाइच, — इति स॰ पुस्तके पाठ:।

व्यवस्थित-विकल्पः । कूटस्थयोर्दम्यत्योः समनन्तरेकान्तर-द्वचन्तर-जाति-योगे पण्चमादयोऽवगन्तव्याः, — इति । तथाच सति, शुद्धा-वैश्ययोर्वेश्याक्षत्रिययौश्च समनन्तरत्वात् पञ्चमे, शूद्धा-क्षत्रिययोः षष्ठे, जातिरुत्कृष्यते । क्वचिदुत्तम-जातेरप्यघम-जाति-प्राप्तिर्भवति । तदाह सएव, —

"व्यत्यये कर्म्मणां साम्यं पूर्व्वचाधरोत्तरम्" — इति ।

विप्रादीनां चतुर्णां वर्णानां मुख्यवृत्तितया विहिताति याजन — पालन-पशुपाल्य-द्विजशुश्रूषाऽ ऽदीनि यानि कम्माणि, तेषामापदि व्यत्यये विपर्यासे सति, यदि निवृतायामप्यापदि तामधम-वृत्ति न परित्यजेतु: तथा पुत्रपीत्रादयोऽपि तां न परित्यजेयुः, तदानीं पूर्ववत् प्रचम-षष्ठ-सप्तमेषु युग्मेषु जातमपत्यं तद्भवृत्त्युचित-जाति-साम्यं प्रतिपद्यते, — इति । तद्यथा । व्राह्मणः शूद्र-बृत्र्या जीवन् यदि पुत्रमुल्पादयति, सोऽपि तथैव, - इत्येवं परम्परायां सप्तमादुत्पन्नस्य ब्रुद्रत्वं भवति । एवं क्षत्रियः ब्रुद्र-बृत्र्या जीवन् शुद्र' जनयति। वैश्वस्तु पञ्चमे युग्मे, — इति पूर्ववदित्यादेरयमर्थः । अधरोत्तरमिति भावप्रधानो इएव्यम् । यथा बर्ण-साङ्कर्ये प्रातिलोम्यमधम, आनुलोम्यमुत्तमं, तथा वृत्ति-सांकर्येऽपि। तद्यथा। क्षत्रियस्यापद्यपि याजनादि-ब्राह्मण-वृत्त्युपजीवनमधमम्। "न तु कदाचिज्ज्यायसीम्" — इति विसष्टेन निषिद्धत्वात् । पाशुपाल्यादि-वैश्य-वृत्युपजीवनमुत्तमम्। "अजीवन्तः स्वधम्में णानन्तरां पापीयसों वृत्तिमातिष्ठेरन्" — इति वसिष्ठेनापदि विधानादिति। पूर्व्वव्रचाधरोत्तरमिल्यस्यापराव्यारव्या। त्रिविधोहि सङ्करः वर्ण-सङ्करः सङ्गीर्ण-सङ्करो वर्णसङ्गीर्ण-सङ्करवचेति। तद्यथा। उत्तमाधम-वर्णयोदीम्पत्यं वर्णः-सङ्गरः। तज्जन्ययो-महिष्य-करिण्योदीम्पत्यं-संश्वीर्ण-सन्तरः। वर्ण-सन्नोर्णयोदीम्पत्यं

वर्ण-सङ्कोण-सङ्करः । तत्र "विप्रान्मूद्धाविसिक्तः, — इत्यानुलोम्येन वर्ण-सङ्करजा दिशिताः । ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतः" — इति प्राति-लोम्येन वर्ण-सङ्करजादिशिताः ।

"माहिष्येण करण्यान्तु रथकारः प्रजायते" ।

इति सङ्गोर्ण-सङ्करजा दशिताः। इदानोमधरोत्तरमित्यनेन वर्णसङ्गोर्ण-सङ्करजाः प्रदर्श्यन्ते । अधरे प्रतिलोमजाः। उत्तरे अनुलोमजाः। तद्यथा। मूर्द्धाविसिकायां सङ्गोर्णायामुत्तमायां क्षत्रिय-वैश्य शूद्धे रधमे-रूत्तत्पादिताः अधरे, निषांद्यां सङ्गोर्णायां अधमायां व्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्ये रुत्तमैर्वर्णे रुत्पादिताउत्तरे, अधरे चोत्तरे च अधरोत्तरम्। पूर्वववदिति पदेन 'असत् सन्तश्च विज्ञे याः' — इति वचनार्थोऽति दिश्यते। यथापूर्व्ववर्णे रुत्पादिता वर्ण-सङ्करजाः सङ्गोर्णसङ्करजाश्च प्रतिलोमजा असन्तः अनुलोमजाश्च सन्तः, तथा वर्ण-सङ्गोर्ण-सङ्करजा अपि अनुलोमजाः सन्त प्रतिलोमजास्त्वसन्तः, — इति द्रष्टव्यम्। उक्तत्रे विध्ये वर्णसङ्करं वर्ण-सङ्गोर्ण-सङ्करं-वाऽऽश्चित्यो-त्पाद्यमानाः वर्णामासाः षष्टिर्भवन्ति, संकीर्ण-सङ्करमाश्चित्योत्-षद्यमाना जात्यामासा-अनन्ताः। तद्वतं स्मृत्यन्तरे, —

"प्रातिलोम्यानुम्येन वर्णेस्तरुजैश्च वर्णतः । षष्टिर्वाऽन्ये प्रजायन्ते तत्त्रसूतेस्त्वनन्तता" — इति ।

प्रतिलोमानुलोमाभ्यां वर्णेश्त्षादिता दादश । षड्नुलोमवर्णजाः, सूत-वैदेह चण्डाल-मागध-क्षत्रायोगवाः प्रतिलोम-वर्णंजाः, इत्थं दादशिम-वर्णेः संवन्धादुत्पादिता अष्टचत्वारिशत् । एवं षष्टिसंख्ययोपलक्षिताः अन्य वर्णामासा जायन्ते । तद्यथा, मूर्द्धाविसक्ताम्वष्ठ-निषादमाहिष्योग्रकरणाः यखनुलोमवर्णजाः । सूत-वैदेह चण्डाल-मागध-

^{*} यथाव्येण, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

क्षतायोगवाः प्रतिलोमवर्णजाः । इत्थं द्वादश । तत्र मूर्द्वाविसक्तेनानुलोमेन क्षत्रिया-वैश्या-शूद्रासूत्पादितास्त्रयः, प्रातिलोन्मेन
ब्राह्मण्यामेकः ; अम्बद्धस्यानुलोम्मेन द्वौ, प्रातिलोम्येन द्वौः निषांदस्यानुलोम्येनैकः प्रतिलोम्येन त्रयः ; माहिष्यस्यानुलोम्येन द्वौ,
प्रातिलोम्येन द्वौ ; उप्रस्यानुलोम्येनैकः, प्रातिलोम्येन त्रय ;
करणस्यानुलोम्येनैकः, प्रातिलोम्येन त्रयः, — इति पूर्व्वद्कोत्पादिताश्चतुर्विश्वतिः । एवं सूतादीनां षणां वर्णानामेकैकस्य चतृसृषु
वर्णद्वेकैकः, — इति, तेऽपि चतुर्विश्वतिः। एव मिलित्वा षष्टिः सम्पद्यते ।
तिभ्यः संख्याकेभ्यः उत्पादितैः अपत्येरामासानां संख्याया आनन्त्यं
भवति । समाप्ता प्रासिक्षको जाती-भेद-कथा । विवाहानन्तर-भाविनः
प्राकृताः पञ्चमहायज्ञादयः सोमसंस्थाऽन्ताः संस्कारा आहिक-वचने
षट्कम्मवचने च निरूपिताः, — इति नात्र पुनरुच्यन्ते ।

अथावशिष्टाः गृहस्थधम्मा निरूप्यन्ते ।

तत्रोपाकर्म-विधिमाह याज्ञवल्क्यः, —

"अध्यायानामुपाकम्मं श्रावण्यां श्रवणेन वा । हस्तेनौषधिभावे वा प्रज्यभ्यां श्रावणस्य तु" — इति ।

'अधीयन्ते' — इत्यध्याया वेदाः । तेषामुपाकम्मं प्रारम्भः श्रावण-मासस्य पौर्णमास्यां, अन्यस्यां वा श्रवण-नक्षत्रयुक्तायां तिथौ, हस्त नक्षत्र-युक्तायां श्रावणमासस्य पठचभ्यां वा कर्त्तव्यः । यदा तु श्रावणमासे ओषधयो न प्रादुर्भवन्ति, तदा माद्रपदे मासे प्रोक्त-तिथिषु कुर्यात् । तदाह वसिष्ठः । "अथातः स्वाध्यायोपाकम्मं श्रावण्यां पौर्णमास्यां प्रौष्ठपद्यां वा" — इति । मनुरपि, —

"श्रावण्यां त्रीष्ठपद्यां वाऽप्यु गकृत्य यथाविधि । युक्तरछन्दांस्यधीयीत मासान् विष्रोऽर्द्धं पञ्चमान्"— इति ।

अर्द्ध पञ्चमं येषां ते तथा, सार्द्धान् चतुरो मासानित्यर्थः। यदा पुनः श्रावण्यां पौष्ठपद्यां वा शुक्रास्तमयादि—प्रतिवन्धः, तदानीमा-षाट्यां कर्त्तव्यम्। तदुक्तं कूर्मपुराणे, —

"श्रावणस्य तु मासस्य पौर्णमांस्यां द्विजोत्तमाः । आषाढ्यां पौष्ठपद्यां वा वेदोपाकरणं स्मृतम्" — इति ।

वौधायनोऽपि । "श्रावणपौर्णमास्यामाषाढ्यां वोपाकृत्य तैष्यां माष्यां वोऽसृजेत्" — इति । तेषु त्रिष्वपि मासेषु पूर्णिमा-श्रवण-हस्ताः शाखा-भेदेन व्यवस्थिताः । तदाह गोभिलः, —

"पर्व्वण्यौदयिके कुर्युः श्रावण्यां तैतिरीयकाः । वद्गुचाः शवणे कुर्युर्प्रह-संक्रान्ति-वजिते" — इति ।

अत्र, औदियिके, — इति पर्वादिषु सर्वित्र संवद्धचते। पर्विष भौदियकत्वे विशेषमाह सएव, —

"श्रावणी पौर्णमासी तु सङ्गवात्परतोयदि । तदा त्वौदयिको ग्राह्या नान्यथौदयिको भवेत्" — इति ।

श्रवणस्य त्वौदयिकत्वमन्वय-व्यातिरेकाभ्यां व्यासेन दिश्तिम्, —
"श्रवणेन तु यत्कर्म्म ह्युत्तराषाढ़-संयुते ।
संवत्सर-कृतोऽध्यायस्तत्क्षणादेव नश्यित ।
धनिष्ठा-संयुते कुर्याच्छावणं कम्मं यद्भवेत् ।
तत् कम्मं सफलं ज्ञेयमुपाकरण-संज्ञितम्" — इति ।

श्रवणे यत् कर्मा विहितं, तदुत्तराषाद्-संयुते न कुर्यात्, यदि कुर्यात् तदा नश्यतीति योजनीयम्। ग्रह-संक्रान्ति-वर्ज्जिते,— इति यदुक्तं, तत्र विशेषमाह गार्ग्यः, —

"अद्धरात्रादघस्ताच्चेत् संक्रान्तिग्रहणं तथा। उपाकमं न कुर्वेति परतश्रेन्न दोषकृत्॥ यत्राद्धं रात्रादर्वाक् चेद्रग्रहः संक्रम एव वा। नोपाकर्म तदा कुर्यात् श्रावण्यां श्रवण्ऽपि च॥"— इति।

कर्कटे मासे नोपाकर्मं कर्त्तव्यं। तथा च स्मृत्यन्तरे, -

"वेदोपाकरणे प्राप्ते कुलीरे संस्थिते रवौ । उपाकर्म न कर्त्तव्यं कर्तव्य सिंह-संयुते ॥" — इति ।

तदेतद्देशान्तर-विषयम्। तथा च स्मृत्यन्तरम्,—

"नर्मदोत्तरभागे तु कर्त्तव्यं सिंह-संयुते।

कर्कटे संस्थिते भानावुपाकुर्यात् तु दक्षिणे*॥"

ननु उपाकरणं ब्रह्मचारि-धर्मः, "उपाकृत्याधीयीत" — इति तस्य ग्रहणाध्यायनाङ्गत्व प्रतोतेः । ग्रहणाध्ययनञ् व ब्रह्मचारिण एव, "वेदमधीत्य स्नायात्" — इति स्नानात् प्राचीनत्वावगमात् । अतः, कथमिदं गृहस्थधर्मत्वेनोच्यते । नायं दोषः । गृहस्थस्यापि ग्रहणाध्ययनेऽधिकार-सम्भवात् । अतएव "अधीयीत" — इत्यनुः वृत्तौ ब्रह्मचारिकल्पेन, यथान्यायमितरे जायोपेता इयेके" — इति ।

अस्यार्थः । येन नियमिवशेषेण युक्तो ब्रह्मचारी अधीते, तेनैव नियमेन समावृत्तोऽप्यधीयीत । समावृत्तादितरे ब्रह्मचारिणस्तु यथान्यायं स्वविध्युक्त-प्रकारेणाधीयीरन् । तथा, जायोपेतो गृहस्थो-ऽपि ब्रह्मचारिवन्नियमोपेतोऽधीयोतेति । न च समावृतःगृहस्थ-योग्रंहणाध्ययनाधिकारे "वेदमधीत्य स्नायात्" — इति विरुद्धचेतेति शक्तीयम् । तस्य वचनत्य विद्यास्नातक-विषयत्वात् । अतएव, —

"वेदं ब्रतानि वा पारं नीत्वा ह्यु भयमेव वा" — इति ।

^{*} तदेतत्, — इत्यावि दक्षिणे, — इत्यन्तं नास्ति मु॰ पुस्त हे ।

पक्षद्वयोपन्यासो दिश्वितः। उपाकरणस्य गृहस्थधर्मत्वाभ्युपगमे मनु-याज्ञवल्क्य-स्मृत्योगृ हस्थ-धर्म-प्रकरण-पाठोऽप्यनुगृहीतो भवति। उपाकरणस्येतिकर्त्तव्यता कार्ष्णाजिनिना दिश्विता, —

"उपाकर्मणि चोतसर्गे यथाकालं समेत्य च। ऋषीन् दर्भमयान् कृत्वा पूजयेत् तर्पयेत्तंतः", — इति।

बौधायनोऽपि, —

"गौतमादीनृषीन् सप्त कृत्वा दर्भमयान् पुनः । पूजवित्वा यथाशक्ति तर्पयेद्र वंशमुद्धरन्" — इति ।

अथोत्सर्जनम्।

तत्र याज्ञवलक्यः, —

"पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायामयापि वा । जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्सर्गं विधिवद्वहिः॥" — इति ।

मनुरपि, —

"पुष्ये तु चन्दसां कुर्याद्रहिरु सर्जनं द्विजः। माघशुक्रस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्रे प्रथमेऽहिन" — इति।

यदा श्रावण्यामुपाकर्म, तदा पुष्यमासस्य शुक्रप्रतिपदि पूर्वाहे, यदि पौष्ठपद्यामुपाकर्म, तदा माघस्येति व्यवस्थितोऽयं विकल्पः। उत्सृष्टस्यापि पुन्रप्थयमं प्रागुपाकरणात् काल-विशेषे विद्धाति मनुः,

"अतः परन्तु छन्दांसि शुक्केषु नियतः पठेत्। अङ्गानि च रहस्यञ्च* कृष्णपक्षेषु वै पठेत्" — इति।

वेदाङ्गानि रहस्यं च, — इति मु० पुस्तके पाठः ।

कूरमंपुराणेऽपि, —

"छन्दांस्यूद्धं मतोऽभ्यस्येत् शुक्नपक्षेषु वै दिजः । वेदाङ्गानि पुराणानि कृष्णपक्षेषु मानवः *" – इति ॥

यदि भावि-विघ्न भयात् सहसाऽध्येतव्यमिति बुद्धिः, तदा संवरसरान्ते प्रागुपाकरणादुत्मृजेत । "यत् स्वाध्यायमधीतेऽब्दम् i" — इति श्रुतेः । उपाकरणोत्सर्जने प्रशंसांत कात्यायनः, —

"प्रत्यब्दं यदुपाकर्म सोत्सर्गं विधिवद्गं द्विजैः। क्रियते छन्दसां तेन पुनराप्यायनं भवेत्। अयातयामैश्छन्दोभिर्यत् कर्मा क्रियते द्विजैः। क्रीड्मानैरपि सदा तत्तेषां सिद्धि-कारकम्" – इति।

अन्येऽपि धम्माः कूर्मपुराणे दिश्ताः, —

"नाधार्मिक्वें ते ग्रामे न व्याधि वहुले मृशम्।

न शूद्र राज्ये निवसेन्न पाषण्डि-जनैवृंते।

हिमविद्धन्ध्ययोर्मध्यं पूर्वपश्चिमयोः शुमम्।

मुक्तवा समुद्रयोर्देशं नान्यत्र निवसेत् हिजः।

कृष्णो वा यत्र चरित मृगो नित्य स्वमावतः।

पुण्यश्च षिश्रुता नद्यस्तत्र वा निवसेद्धिजः।

परस्त्रियं न माषेत नायाज्यं याजयेद्धुधः।

न देवायतनं गच्छेत् कदाचिन्नाप्रदक्षिणम्।

न वोजयेद्धा वस्त्रेण समवायञ्च वज्जयेत्।

नैकोध्वानं प्रपद्ये त नाधाम्मिक-जनैः सह।

न निन्द्ये द्योगिनः सिद्धान् व्रतिनोवा यतोस्तथा" — इति।

^{*} वैद्धितः, — इति सु० पुस्तके पाठः।

^{ां} मधीयीत, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

मनुरपि, -

"देवतानां गुरोराज्ञः स्नातकाचार्ययो स्तया।
नाक्रामेत् कामतरछायां वभुणो दीक्षितस्य च।
क्षियञ्चैव सर्वञ्च व्राह्मणञ्च वहुश्रुतम्।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानिष कदाचन।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लमाम्।
सत्यं बूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमाप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धम्मः सनातनः।
नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यं गते रवी।
नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलेः सह।
होनाङ्गानितिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान्।
रूप-द्रविण-होनांश्च जाति होनांश्च नाक्षिपेत्।
वैरिणं नोपसेवेत सहायञ्चैव वैरिणः।
अधाम्मिकं तस्करञ्च परस्यैव तु योषितम्" — इति।

मार्कप्डेयोऽपि, —

"असदालापमनृतं वाक्पारुष्यं विवर्जयेत्। असच्छास्त्रमसद्वादमसत्सेवाञ्च पुत्रक। न म्लेच्छ-भाषां शिक्षेत न पश्येदात्मनः शकृत्। नाधितिष्टेच्छकृन्मूत्रं केश मस्म-कपालिकाः। तुषाङ्गारास्थिशीर्षाण रज्जु-वस्त्रादिकानि च। वर्जयेन्मार्जनी-रेणुं नापेयञ्च पिवेद्विजः"।

^{*} रूपद्रविगसम्यन्नान्, — इति सु० पुरुषेः पाढः ।

सामान्येन च धर्म्म संक्षिप्याह मनुः, —

"येनांस्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः । तेन यायात् सतां मार्गं तेन गुच्छन्न रिष्यति* । यत् कम्मं कुर्ष्वतोऽप्यस्य परितोषोऽन्तरात्मनः । तत् प्रयत्नेन कुर्व्वते विपरीतन्तु वर्जयेत्" — इति ।

इत्य व्रह्मचारि-गृहस्थाश्रमःधम्मी निरूपितौ । अथ वानप्रस्थाश्रमी निरूप्यते ।

नन्, केचिद्रगार्हस्थ्य-व्यतिरिक्तमाश्रमान्तरं नैच्छन्ति, उदाहरन्ति च तत्र गौतमस्मृतिम्। "एकाश्रम्यन्त्वाचार्याः प्रत्यक्ष-विधानाद्र-गार्हस्थ्यस्येति आचार्यास्तु गार्हस्थ्यमेक एवाश्रमो नान्यः किचदः स्तीति मन्यन्ते ; हेतुं चाचक्षते, गार्हस्थस्य प्रत्यक्ष-श्रुतिषु विधानादितरस्य तदभावात्, — इति । तथाहि। वद्ध चाः, 'अग्निमीले', — इत्यारभ्य मन्त्र-व्राह्मणात्मके कृत्सनेऽपि वेदे होतु-कर्त्तव्यमेवामनन्ति । यजुर्वे दिनश्च, 'इषे त्वा' — इत्यादिना अध्वर्ग्यु-कर्त्तव्यम् । सामगा अवि, 'अग्न आयाहि' — इत्यादिनोद्र-गातु कर्तव्यम् । होत्रादयश्च गृहस्था एव । तथाचाधीयमानेषु व्रत्यक्ष-वेदेषु गृहस्थ-कर्त्वयाभिधानेन तदाश्रमविधिः परिकल्प्यते, न त्वेवमितराश्रम विधि-कल्पकं किञ्चित् पश्यामः। "याज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" — इति श्रुतिः कृत्स्नं पुरुषायुषं गृहि-कम्मंस्वेव विनियुङक्ते । श्रुत्यन्तरञ्च "एतद्दे जरा-मर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं, जरया वा ह्येवास्मानमुच्यते मृत्युना वा" — इति । न चैवं सति कथं ब्रह्मचर्याश्रमाङ्गीकारः, — इति शङ्कनीयम्।

^{*} दुष्यति, — इति मु॰ पुस्तके पाठः ।

[ि] चिधि कन्वित्, — इति स॰ सो॰ पुस्तक्यो पाठः।

नैष्ठिकस्य पक्ष-कोटि निःक्षिप्तत्वादुपकृर्व्वाणकस्य प्रतिपत्तृत्वेन- । आश्रमित्वाभावात् । यदा, किम्मित्वेनाभिमतयो ब्रह्मचारि-वनस्थयो-रीदशी गतिः तदा, कैव कथा कृत्सन-कम्में-त्यागिनो यतेः । तस्माद्र, गार्हस्थ्यमेक एवाश्रमः, — इत्याचार्याणां पक्षः ।

अत्रोच्यते । अस्ति हि चतुर्णां आश्रमाणां प्रत्यक्ष-श्रुति-विधानम् । तथाच, जावाला आमनन्ति । "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" — इति । आचार्यास्तु, रागिण-मिम्प्रेत्य तस्योद्ध रेतःसु नैष्ठिक-वह्मचर्यादिषु त्रिष्वाश्रमेष्वनिधकार मन्यमानाः, गार्ह्या स्थ्यमेव वर्णयामासुः । यत्तु कृतस्नेऽिप वेदे गृहस्थ-धर्मास्यौवाम्नानिमत्युक्तम् । तदयुक्तम् । वानप्रस्थस्यापि सदारस्याग्निहोत्रादि सम्भवात् । नैष्ठिक-ब्रह्मचारि-धर्मास्तु छन्दोगे पठ्यते । "ब्रह्मचार्याचार्यकुल-वासो तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्" — इति । उपकुष्वाणक-धर्माः सर्व्व-शाखासूपनयन-प्रकरणेषु प्रसिद्धाः । यति-धर्माश्चोपनिषद्धागे । अतो यावज्जीवादि-श्रुतेः कामि-विषयत्वेनाश्रमान्तराणि न तया प्रलिपतुं शक्यन्ते । साधिताश्चोत्तरमीमां नायां चत्वार आश्रमाः । तस्मात्, क्रम-प्राप्तो वानप्रस्थाश्रमः प्रस्तूयते । तत्र, याज्ञवल्क्यस्तं विधत्ते, —

"सृत-विनयस्त पत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम् । वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत्" — इति ।

वानप्रस्थो वुभूषुः स्वस्य ब्रह्म हर्य्य-नियमेन पत्न्या अनपयोगात्तां रक्षणीयत्वेन पुत्रेषु निःक्षिप्य वनं व्रजेत्। यदा साऽपि नियता सती पति-शुश्रूषां कामयते, तदा तया सह वनं ब्रजेत्। तस्मिन् पक्षे

^{ां} प्रतिषिद्धत्वेम, -- इति स० सो० प्रस्तकयो पाठः।

वैतानिक-गृह्याभ्यामिग्नभ्यां सह गच्छेत्। सुत निक्षेप-पक्षे त्वातमिन अग्नोन् समारोप्य प्रब्रजेत्। तदाह छागलेयः, —

"अपत्नीकः समारोप्य व्राह्मणः प्रव्रजेद गृहात्" — इति ।

तादृशोऽरण्य गत्वा वैरवानस-सूत्रोक्त-मार्गेणाग्निमाद्ध्यात् । तदाह् वसिष्ठः । "वानप्रस्थो जटिलश्चीराजिनवासान फाल कृष्टमधि-तिष्टे । दकृष्ट-मूल-फलं सिंक्चन्वीतोद्धेरेताः क्षपाशयो दद्यादेव न-प्रतिगृह्वीयात् ऊर्द्धं पञ्चभयो मासेभ्यः श्रावणकेनाग्नि । माद्ध्या-दाहिताग्निवृक्षमूलिको दद्याद् देविषिपतृमनुष्येभ्यः स गच्छेत् स्वर्गमानन्त्यम्" — इति । श्रावणकं तपस्वि-धर्म्मः-प्रतिपादकं वैरवानस-सूत्रम् । अकृष्टमूलमाहारत्वेन बुवन् ग्राम्यहार-परित्यागं सूचयति । अतएव मनुः, —

"सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चेव परिच्छदम्। पुत्रेषु भार्यां निक्षिण्य वनं गच्छेत् सहैव वा" — इति ।

गृहस्थस्य वनप्रवेशावसरमाह यमः, —

"दितीयमायुषो मागमुषित्वा तु गृहे दिजः । तृतीयमायुषो भागं गृहमैधो वने वसेत् ॥ उत्पाद्य धम्मतः पुत्रानिष्दा यज्ञैश्च शक्तितः । दृष्ट्वोऽपत्यस्य चापत्यं ब्राह्मणोऽरण्यमाविशेत्" — इति ॥

अत्र, ब्राह्मण-गृहणं त्रैवणिकोपलक्षणार्थं, 'उषित्वा तु गृहे द्विजः, — इत्युपक्रमानुसारात् । मनुरपि, —

"गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीयितमात्मनः । अपत्यस्यैव चापस्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्" — इति ।

^{ां} मधिगच्छे, — इति मु॰ पुस्तके पाठः । र्वे श्रावणमासेऽग्नि, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

शङ्किलिखताविष, — "पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वेदमध्याद्य वृत्ति विधाय दारें। संयोज्य गुणवित पुत्रे कुटुम्वमावेश्य कृतः प्रस्थान-लिङ्गोवृत्ति-विशेषाननुक्रमेत्, क्रमशो यायावराणां गृत्तिमुपास्य वनमा-श्रयेदुत्तरायणे पूर्व्वपक्षे" — इति । एतच्चाश्रम-समुच्चय-पक्षे द्रष्टव्यम् । असमुच्चयपक्षे त्वकृत-गार्हस्त्योऽपि वानप्रस्थेऽधि-क्रियते । तदाह विसष्ठः, — "चत्वार आश्रमा ब्रह्मचारि-गृहस्थ-वान गस्थ-परित्राजकाः । तेषां वेदमधीत्य वेदं विदित्वा चोर्ण-ब्रह्मचय्यों यमिच्छेत् तमावसेत्"—इति । आपस्तम्बोऽपि,—"चत्वार आश्रमा-गार्हस्थ्यं आचार्य्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्"—इत्युपक्रम्य, "यत्कामयेत, तदारमेत"-इत्युपसंहरित । वन-प्रतिष्ठस्य कर्त्तव्यमाह याज्ञवल्क्यः,—

"अ-फाल-कृष्टेनाग्नोर च पितृन् देवतिश्चीनपि । भृत्यांश्च तर्पयेच्छश्वज्जटा-लोम-भृदात्मवान्" — इति ॥

अ-फाल-कृष्टं शाक-मूल-नीवारादि । तथाच मनुः, —
"मुन्यन्नै विविधेमैध्यैः शाक-मूल-फलेन वा।

एतैरेव महायज्ञान् निर्व्वपिद्धि-पूर्व्वकम्" — इति ।

नच, ब्रह्मचारि-विधुरयोरनियकयोर्वनस्थयोः कथमग्नीनां तर्पणमिति वाच्यं, वैरवानस-शास्त्रोक्तस्याग्नेः सद्भावात्। नचाफालकृष्ट-नोवारादिना पुरोखाश-करणे 'व्रीहिभियंजेत' — इति श्रुतिर्वाध्येतेति शङ्कनीयम्। ब्रीहीणामप्यफालकृष्टानां सम्भवात्। तस्मादकृष्ट-पच्यवैविद्यादिभिर्वेतानिकं कर्म्म कुर्यात्। तथा च मनुः,—

"वैतानिकठच जूह्यादिप्रहोत्रं यथाविधि । दर्शमस्कन्दयन् पर्वं पौर्णमास्यां प्रयोगतः । ऋक्षे एचाग्रहावणं चैव चातुर्शस्यानि चाहरेत् । उत्तरायणठच* क्रमशोदक्षस्यायनमेवच ॥

^{*} तुढायनञ्च, —इति स॰ पुस्तके पाठः ।

वासन्तैः शारदेर्मेध्येर्मुन्यन्नैः खयमाहृतैः । पुरोखाशं चरुञ्चैव निर्वपिद्धिः-पूर्वकम्'' — इति ॥

मेध्यैर्यज्ञाहॅर्मुन्यन्नेरकृष्ट पच्येरित्तर्थः । संग्राह्यद्रव्यस्थेयतामाह याज्ञवल्क्यः, —

> "अह्रो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा । अर्थस्य सञ्चयं कुर्यात् कृतमाश्वयुजे त्यजेत्" — इति ॥

एकदिन-साध्यत्य कर्मणो यावत् पर्ध्याप्तं, तावतीऽर्थस्य सञ्चयं कुर्ध्यात्। एवमेक-मास-संवत्सर-पक्षेऽपि योजनीयम्। तत्र यदि किञ्चित् सञ्चितमविशिष्येत्, तत् सर्व्यमाश्वयुज्यां त्यजेत्। यदाह विष्णुः। "मास-निचयः, संवत्सर-निचयो वा, संवत्सर-निचयात् पूर्वं निचयमाश्वयुज्यां जह्यात्" — इति। संत्यज्य ततो नृतनं सञ्चित्र्यात्। मनुरपि, —

"त्यजेदारवयुजे मासे मुन्यन्नं पूर्व्व-सिंवतम् । जीर्णानि* चैव वासांसि शाक-मूल-फलानि च । सद्यः प्रक्षालितोवा स्यान्मास-सठचियकोऽपि वा । षण्मास-निचयोवाऽपि समा-निचयएववा" — इति ॥

तत्र वज्यानाह सएव, —

"वर्ज्जयेन्मधु-मांसानि भौमानि कवकाणि च । भूतृणं सिग्रकं चैव रलेष्मातक फलानि च ॥ न फाल-कृष्टमश्नीयादुत्कृष्टमपि केनिचत् । न ग्रामजातान्यहाणि पुष्पानि च फलानि च" — इति ॥

^{*} चोर्णानि, — इति मु॰ पुस्तके वाठः ।

कवकानि चत्रकानि । तपोनियममाह याज्ञवल्क्यः, — "दान्तस्त्रषवण-स्नायी निवृत्तरच प्रतिग्रहात्। स्वाध्यायवान् दान-शोलः सर्व्व-सत्व-हितेरतः ॥ दन्तोल्खलिकः काल-पक्काशी वाऽवम-कुट्कः। श्रीतस्मार्तं फल-स्नेहैं: कर्म कुर्यात् क्रियास्तथा ॥ चन्द्रायनैर्नयेत् कालं कृच्छे वर्ता वर्त्त येत् सदा। पक्षे गते चाप्यश्नीयान्मासे वाष्ट्रनि वा गते ॥ स्वपेद्भूमौ शुची रात्रौ दिवस प्रपदैर्न येत्। स्थानासनविहारैवा योगाम्यासेन वा तथा ॥ ग्रीहमे पञ्चाग्नि मध्यस्थो वर्षासु स्थाण्डिलेशयः । अर्द्र वासास्तु हेमन्ते शक्तया वाध्य तपश्चरेत्" — इति । दन्ताएवोल्खलं निस्तुषोकरण साधनं, तद् यस्यास्ति स दन्तोलू-खलिकः । वाह्योल्खलादि-साधन-निरपेक्षइत्यर्थः । काल-पक्वं-उदरे-**न्नुद-पनस-फलादि । अश्मनाकुटनमवहननं यस्य, सोऽश्मकुटकः।** फल स्नेहोलिकुच-मधूकादि-मैध्यतर-फल-जन्मानि तैलानि । भोजनाभ्यञ्जनादयः । विष्णुरपि । "वायु-पुष्टाशो फलाशी मूजाशी वायु-पक्वान्नयोर्वा सकृदश्नीयात्" – इति । হ্যাকাহ্যী पर्णाशो कूम्मंपुरोऽपि, —

"एकपादेन तिष्ठेत मरीचीन्वा पिवेत् सदा। पञ्चाग्नि-धूमपो वा स्यादुष्मपः सोमश्यवा॥ पयः पिवेत् शुक्लपक्षे कृष्णपक्षे च गोमयम्। शीर्ण-पर्णाशनो वा स्यात् कृष्छेर्वा वर्त्त येत् सदा॥ अथर्वशिरसोऽध्येता वेदान्ताभ्यास-तत्परः। यमान् सेवेत सततं नियमांश्चाप्यतांद्रितः॥ जितेन्द्रियो जित-क्रोधस्तत्त्वश्चान-विचिन्तकः। ब्रह्मचारी मवन्नित्यं न पत्नीं प्रतिसंश्रयेत्॥ यस्तु पत्न्या समं गत्वा मैथुनं कामतश्चरेत्।
तद्भृतं तस्य लुप्येत प्रायश्चिचीयते द्विजः ॥
नक्तः बाडन्नं समश्नोयाद्भ दिवा वाऽऽहृत्य शक्तितः।
चतुर्थकालिको वा स्यात् स्यादा चाष्टमकालिकः ॥
चान्द्रायण-विधानेवां शुक्रे कृष्णे च वर्त्तयेत्।
पद्धे पद्धे समश्वीयाद्यवाग्ं क्विधतां सकृत्॥
पुष्पमूल-फलैवांऽपि केवलैवंत्येत् सदा।
स्वामाविकैः स्वयं शोणैवेंखानस-मते स्थितः" — इति॥

अग्नि-परिचय्यीयामह्ममं प्रत्याह याज्ञवल्कयः, —
"अग्नीनप्यात्मसात् कृत्वा बृक्षावासो मिताशनः ।
बानप्रस्थो गृहेष्वेव यात्रार्थ मेह्यमाचरेत् ॥
ग्रामादाहृत्य वै ग्रासानष्टो मुज्ञीत वाग्यतः" — इति ॥

मनुर्षि, -

"अग्रीनात्मिन वैतानात् समारोप्य यथाविधि । अनिष्ठरित्तकेतः स्यान्मूनिर्मूलफलाशनः ॥ अप्रयत्नः सुखर्श्चेषु ब्रह्मचारी धराशयः । गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ ग्रामादाहृत्य वार्श्वायादृष्टी ग्रासान् वने वसन् । प्रतिगृह्य पुटेनेव पाणिना शकलेन वा ॥ एताश्चान्याश्च सेवेत दोक्षाविप्रो वने वसन् । आसां महर्षि–चय्यणां त्यक्तवार्श्यतमया तनुम् ॥ वीत शोक-भयो विप्रो ब्रह्मलोके महींयते" — इति ॥

ननु, अष्ट-ग्रास-विधाने, "षोङ्शारण्यवासिनः" इति वचनं विरुद्धयेत । तन्न, शक्ताशक्त-विषयत्वेन व्यवस्थोपपत्तेः । सर्वानुष्ठानासमधं

प्रत्याह याज्ञवल्कवः, —

"वायुमक्षः प्रागुदोचीं गच्छेदावष्म-संक्षयात्" — इति ।

कूम्मंपुराणेऽपि, —

महाप्रस्थानिकं वाऽसौ कुर्यादनशनन्तु वा । अग्निप्रवेशमन्यद्वा ब्रह्मापंण-विधौ स्थितः ॥

यस्तु सम्यगिममाश्रमं शिवं संश्रयत्यशिव-पुञ्ज-नाशनम् । ताप-हन्तृपदमैश्वरं परं याति यत्र जगतोऽस्य संस्थितिः" — इति ।

इत्थं वानप्रस्थाश्रमो निरूपितः ।

अथ चतुर्थाभ्रमो निरूप्यते।

तत्र मनुः, —

"वनेषु तु विहृत्येवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषोमागं त्यक्तवा सङ्गान् परिव्रजेत्" — इति ॥

याज्ञवल्क्योऽपि, —

वनाद्र गृहाद्वा कृत्वेष्टि सर्ववेदसदक्षिणाम् । प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मिन ॥ अधीतवेदो जपकृत् पुत्रवानन्नदोऽग्निमान् । शक्ता च यज्ञकृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा" — इति ॥

आश्रम-चतुष्टय-समुच्चयमिप्रेत्य, वनान्मोक्षे मनः कुर्यादित्युक्तम् । आश्रम-त्रय-समुच्चयामिप्रामेण गृहाद्वेति पक्षान्तरोपन्यासः । ननु, अत्रापि चतुष्टय-समुच्चय एवामिप्रेयतां, पारिब्राज्यानन्तरं वानप्रस्थ-स्यानुष्ठातं शक्यत्वात् । मैवम् । ब्रह्मचर्यादीनां चतुर्णामाश्रमाणां आरोहस्य प्रतिनियतत्वात् । तथा च जावला आश्रमाणामारोहमाम-निन्त । "ब्रह्मचर्यं समाण्य गृहो भवेत्, गृहो भूत्वा वनी भवेत् , वनी भूत्वा प्रव्रजेत्*" — इति । न त्वेवमवरोहः क्वचिदण्या म्नातः । प्रत्युतावरोहं दक्षो निषेधति, —

"त्रयाणामानुलोम्यं स्यात् प्रातिलोम्यं न विद्यते । प्रातिलोम्येन यो याति न ं तस्मात् पापकृत्तमः यो गृहाश्रममास्थाय ब्रह्मचारी भवेत् पुनः । न यतिर्न वनस्थर व स सर्वाश्रम विज्ञतः" — इति ॥

यदि गृही कथित्वत् प्रत्यवरुद्य व्रह्मचारी भवेत्, तदाऽसौ सर्वाश्रम-विहस्कृतः । आरूढ़-पिततत्वात् । अतो न वनस्थादिभिराश्रम-वासिभिः शब्दैरभिलाप्यो भवति । अयञ्चावरोहाभाव उत्तर-मीमांसायां तृतीयाध्याये वणितः ।

वनाद्गं गृहाद्वेत्यत्र ब्रह्मचर्याद्गं वा, — इत्यपि द्रष्टव्यम्। यदा जनमान्तरानुष्ठितः सुकृति-परिपाक-वलात् वालय एव वैराग्यमुपजायते, तदानीमकृतोद्वाहो ब्रह्मचर्यादेव प्रब्रजेत्। तथा च जावाल श्रुतिः।

"यदि वेतरथा ब्रह्मचय्यदिव प्रव्रजेद्ग गृहाद्वा वनाद्वा"—इति ।

पूर्व्वमविरकं वालं प्रत्याश्रम-चतुष्टय-समुचयमायुविभागेनोपन्यस्य, विरक्तमुद्दिश्य यदि वेति पक्षान्तरोपन्यासः। इतरथेति वाल्य-एवावगत-वैराग्य इत्यर्थः। अकृतोद्वाहस्य संन्यासो नृसिंहपुराणे दिशितः, —

"यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं शिरः स न्यसेदकृतोद्वाहो ब्रह्मणो ब्रह्मचर्य्यवान्" — इति ॥

गृहाद्वनी भूत्वा प्रवजेत् , — इति सु॰ पुस्तके पाठः ।

^{ां} स, — इति स॰ पुस्तके पाठः।

अङ्गिराअप्याह, —

"संसारमेव, किःसारं दृष्ट्वा सार-दिदक्षया। प्रव्रजत्यकृतोद्वाहः परं वैराग्यमाश्रितः ॥ प्रव्रजेद् ब्रह्मचर्येण प्रव्रजेच्च गृहादिषि। वनाद्वा प्रव्रजेदिद्वानातुरो वार्थ दुःस्वितः" — इति॥

दुःखितो व्याधितश्चौरव्याघाद्युपद्रुतः। आतुरो मुमूर्षः। तत्र महाभारतम्, —

"उत्पन्ने सङ्गटे घोरे चौरव्याघादि-सङ्घटे । भय-भीतस्य संन्यासमङ्गिरामुनिरव्रवीत् ॥ आतुराणाञ्च संन्यासे न विधिर्नेव च क्रिया । पैपमात्रं समुच्चार्य्य संन्यासं तत्र पूरयेत्" — इति ॥

नन्, ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रज्याऽङ्गीकारे मनु-वचनानि विरुद्धक्षेरन्, —
"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रानुत्याद्य धर्मतः।
इष्द्वा च शक्तिती यज्ञौर्मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनधीत्य गुरोवेदाननुत्पाद्य तथात्मजान्।
अनिष्दा चैव यज्ञौरच मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥"—इति।

ऋगत्रयं श्रुत्या दशितम्। "जायमानो वै व्राह्मणस्त्रिभित्रं णवान् जायते, व्रह्मवर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः, एष वा अनृणीयः पुत्री यज्वा बह्मवारी वासि" — इति । यदा स्वर्गप्रापकः पितृयाणमार्गोऽप्यृणापाकरणमन्तरेण न सम्भवति, तदा कैव कथा मोक्षमार्गे। अतएव मन्त्रवर्णः, —

"अनृणा अथोस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणास्याम।

संसारमेव, — इति सु० पुस्तके पाठः।

ये देवयाना उत पितृयाणाः सर्वान् पथो अनुणा अक्षियेम" — इति ॥

व्राह्मणमि । "सर्वान् लोकान् अनुणोऽनुसञ्चरति" — इति । मैवम् । अविरक्तविषयत्वादेतेषां वचनानाम् । अतएव विरक्तस्य प्रव्रज्यायां कालविलम्बं निषेधयति जावालश्रुतिः । "यदहरैव विरजेत् तदहरेव प्रब्रजेत्" — इति ।

ननु, उक्तरीत्या ब्रह्मचर्यादिषु आश्रमेषु यथावद्रधर्मानुष्ठायिनां तदा-श्रमात् प्रव्रजेदिति प्रतीयते । तथा सति, स्नातक-विधुरादीनामना श्रमिणामाश्रमिणाठच केषाठिचत् केनचित् प्रतिबन्धेन विदितधर्मानु-ष्ठायिनां सत्यपि वैराग्ये सन्त्यासो न प्राप्नुयात् । मैवम् । तेषां प्रत्यक्ष-श्रुत्येव तद्विधानात् । "अन्य पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातकोत्-सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत्" — इति । यमीऽपि, —

"पुनदारिक्रयाभावे मृतभायः परिव्रजेत् । वनस्थो धृतपापो वा परं पन्थानमाश्रयेत् ॥" — इति ॥

स्नातक-विधुरादीनामन्तरालवत्तिनामाश्रम-निरपक्षै-र्जापोपवास-तोर्थ-यात्रादिकर्मिनित्र चत्तशुद्धि-सम्भवेन मोक्षाश्रमेऽधिकारोऽस्तीति तृतीया-ध्याये मीमांसितम् । धर्म-लोपेऽप्यनुतापवतस्तत्-प्रायित्र चत्तत्वेन संन्यासः सम्भवति । तथा च स्मृत्यन्तरम्, —

"ये च सन्तानजादोषा ये च स्युः कर्म-सम्भवाः । संन्यासस्तान् दहेत् सर्वास्तुषाग्निरिव काञ्चनम् ॥—इति ॥

मनुरपि, —

"मृत्तोयैः शुद्धचते शोध्यं नदो वेगेन शुद्धचित । रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः"॥ — इति॥

अत्र केवित्, ब्राह्मणस्येव संन्यासाधिकारी न क्षत्रिय-वैश्ययोः, — इत्याहुः। उदाहरन्ति च श्रुति-स्मृती। तत्र वाजसनेयक-व्राह्मणम्। "एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रेषणायाश्च वित्तेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थायाथ मिक्षाचर्यञ्चरन्ति" — इति। मनुरप्युपक्रमोपसंहारयोब्राह्मणशब्दं प्रयुङ्क्ते, —

"आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रब्रजेद् गृहात्"।

इत्युपक्रमः।

"एष वोऽभिदितो धर्मो ब्राह्मण्स्य चतुर्विधः"।

इत्युपसंहारः। नारदोऽपि, —

"प्रथमादाश्रमाद्र वापि विरक्तो भव-सागरात्। ब्राह्मणो मोक्षमन्विच्छंस्त्यक्त्वा सङ्गान् परिब्रजेत्॥"— इति॥

योगियाज्ञवलक्योऽपि, —

"चत्वारो ब्राह्मणस्येका आश्रमाः श्रुति-चोदिताः । क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेको वैश्य-यूद्रयौः ॥" — इति ॥

वामनपुराणेऽपि, —

"चत्वार आश्रमारचेते ब्राह्मणस्य प्रकीतिताः।
गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यञ्च वानप्रस्थं त्रयोऽऽश्रमाः॥
क्षत्रियस्यापि कथिता य आचारा दिजस्य हि।
ब्रह्मचर्यञ्च गार्हस्थ्यमाश्रम-दितयं विशः॥
गार्हस्थमुचितन्त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर॥" — इति॥

ननु, श्रूद्रस्याश्रम एव नास्ति,

"चत्वार अश्रमास्तात, तेषु ग्रुद्रस्तु नार्हति" — इति ॥

निषेधात्। ततः कथं तस्य गाहँस्थ्याङ्गीकारः। उच्यते। समन्त्रक एव विवाहो निषिध्यते, न त्वमन्त्रकः। अन्यथा, विवाह-प्रकरणोदाहृतानि शूद्रविषयाणि वचनानि, पञ्च-महायज्ञादि-गृहस्थधमेषु श्रूद्राधिकारवचनानि* विरुध्येरन्। तस्मादिस्ति श्रूद्रस्य गाहँस्थ्यम्। सन्यासस्तुक्त-रोत्या विष्रस्यैव। अतएव स्मृत्यन्तरे, कषाय-दण्डादि-लिङ्ग-धारणं क्षत्रिय-वैश्ययोनिपद्धम्, —

"मुखजानामयं धर्मों यद्विष्णोलिष्मधारणम्। बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मो विधीयते" — इति॥

अपुरे पनः, संन्यासं त्रैवणिकाधिकारमिच्छन्ति। अधीत-वेदस्य दिजातिमात्रस्य समुच्चय-विकल्पाभ्यामाश्रम-चतुष्टयस्य बहुस्मृतिषु विधानात्। अतएव याज्ञवल्क्येन संन्यास-प्रकरणे दिजशब्दः प्रयुक्तः,

"सन्निरुद्धचे निद्रय-ग्रामं राग-द्वेषी प्रहाय च । भयं हत्वा च भूतानाममृती भवति द्विजः" — इति ॥

स्मृत्यन्तरन्तु शुज्जग्राहिकतयेव वर्ण-त्रयस्य संन्यासं विद्धाति,— "ऋण-त्रयमपाकृत्य निर्ममो निरहंकृतिः । व्राह्मणः क्षत्रियो वाऽ्थ वैश्यो वा प्रब्रजेद्र गृहात्" — इति ॥

कूमंपुराणेऽपि दिज-ग्रहणं कृतम्, —

"अग्नीनात्मिन संस्थाप्य द्विजः प्रव्रजितो मवेत्। योगाभ्यासरतः शान्तो ब्रह्मविद्यापरायणः" — इति ॥

^{*} अन्न, 'धवनानि च' — इति पाठी अधितुं युक्तः।

यानि पुट्वाँदाहत-वचनानि, तानि क्षत्रिय-वैश्ययोः काषायदण्ड-निषंध-पराणि। तथाच, मुखजानामिति वचनमुदाहतम्। वौधायनोऽपि, —

"ब्राह्मणानामयं धर्मी यदिष्णोलिङ्ग-धारणम् । राजन्य-वैश्ययोर्नेति तत्रात्रेय-मुनेर्वचः" — इति ॥

परिव्राड् वुभूषुः सर्वस्वदक्षिणां प्राजापत्यामिष्टिं निर्व्वपेत्। तदाह मनुः, —

"प्राजापत्यां निरूप्येष्टि सर्व्व वेदसदक्षिणाम् । आत्मन्यग्रीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रब्रजेद्र गृहात्" — इति ॥

यद्वा। आग्नेयोमिष्टि कृर्यात्। तदुक्तं श्रुत्या। "अधैके प्रजापत्यामिष्टि कुर्व्वन्ति, तथा न कुर्यात् आग्नेयोमेव कुर्यादिग्नि-हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति" — इति । कूम्मेपुराणेऽपि, —

"प्रजापत्यां निरूप्येष्टिमार्थनेयोमथवा पुनः । अन्तः पक्वकषायोऽसौ ब्रह्माश्रममुपाश्रयेत्" — इति* ॥

प्राजापत्येष्टिराहिताण्निविषया, 'अग्नोन् समारोप्य' — इत्यिन-वहुत्वाभिधानात्। आग्नेयो त्वनाहिताग्निविषया, तद्वाक्यशेषे 'अग्निमाजिघोत्, — इत्येकाग्न्यभिधानात्। सा चेष्टिः श्राद्धादि-पुरःसरं प्रकत्तेव्या। तथाच नृसिंहपुराणम्, —

"एवं वनाश्रमे तिष्ठन् तपसादग्धकिल्विषः । चतुर्थमाश्रमं गुच्छेत् सन्न्यस्य विधिना द्विजः ॥

^{*} क्रुर्म्मधुरामेऽपि, — इत्यारभ्य, एतदन्तो प्रन्योनगन्ति सु० पुस्तके ।

दिव्यपितुभ्यो* देवेभ्यः स्विपतुभ्योऽपि यत्नतः । दत्वा श्राद्धमृषिभ्यश्च मनुष्येभ्यस्तथाऽऽत्मने । इष्टिं वैश्वानरों कृत्वा प्राजापत्यामथापि वा ॥ अग्निं स्वात्मनि संस्थाप्य मन्त्रवत् प्रब्रजेत् पुनः"— इति ।

श्राद्धानि चाष्टौ दैवादीनि । तथाचाह बौधायनः, —

"दैवमार्षं तथादिव्यं पित्रयं मातृक-मानुषे ।

भौतिकं चारमनश्चान्ते अष्टौ श्राद्धानि निर्वे पेत्''— इति ॥

उक्त शाद्धादौ योग्यता, कृच्छूैः सम्पादनीया। तदाह कात्यायनः,— "कृच्छांस्तु चतुरः कृत्वा पावनार्थमनाश्रमी। आश्रमी चेत्ततः कृच्छ्ं । तेनासौ योग्यतां ब्रजेत्" — इति॥

श्राद्धानन्तरमाविनीमिष्टेः प्राचीनामितिकर्त्तव्यतामाह वौधायनः,—

"कृत्वा श्राद्धानि सर्व्वाण पित्रादिभ्योऽष्टक पृथक् ।

वापयित्वा च केशादीनमार्जयेत् मातृका इमाः ॥

त्रीन् दण्डानम् लोस्थूलान वैणवानमूर्द्ध सम्मितान् ।

एकादश-नव-द्धि-त्रि-चतुः-सप्तान्यपर्वकान् ॥

सत्वकानव्रणान् सोम्यान् समसन्नत-पर्वकान् ।

वेष्टितान् कृष्ण गोवाल-रज्वा तु चतुरम् लान् ॥

एकोवा तादृशो दण्डो गोवाल-सहितो भवेत् ।

कुश-कार्पास सूत्र व्वा क्षीम-सूत्र रथापि वा ।

कुरालेर्ग्रंथितं शिक्यं पद्माकारसमन्वितम्।

षट्पादं पञ्चपादं वा मुब्टि-द्वय-विदारितम्॥

^{*} देवपितृस्यो,—इति स॰ पुस्तके, देयं पितृस्यो,—इति सु॰ पुस्तके पाठः । वित्तप्रकृष्कुं,— इति स॰ पुस्तके पाठः ।

विकेशं सितः मस्पष्टमुभयद्वादशाञ्चुलम्। द्विगुणं त्रिगुणं वाऽपि सर्व्वतोऽष्टाङ्गुलन्तु वा ॥ प्रादेशमात्रं वा सूत्रं कापसिः ततमव्रणम्। चण्डालाद्यहतं । चैतत् समृतं जनपवित्रकम् । गृहीतं मन्त्रवत्तद्वत्सशिक्यञ्च कमण्डलम् । दारवं वैणवं वापि मृदलावुमयन्तु वा॥ पात्रं शिलामयं ताम्रं पर्णादिमयमेव वा। चतुरस्र' वर्त्तुलं वाडप्यासनं दारवं शुभम् ॥ कौपीनाच्छादनं वासः कन्थां शीतनिवारणीम् । पादुके चापि शोचार्थं दशमात्रा उदाहताः॥ <mark>छत्रं पवित्रं सूत्र' च त्रिविष्ट</mark>न्धं तथाऽजिनम् । पक्षाणि चाक्षसूत्रञ्च मृत्खनित्री कृपाणिका । योगपट्टं वहिर्वास इत्येता एकविंशतिः। तासां षच्चाधिका र्वे नित्या दश वा सर्व्वशोधि बा॥ गृहोत्वेमा अथागत्य देवाग।रेऽग्निवेश्मनि । ग्रामान्ते ग्रामसीमान्ते यदा शुचिमनोहरे । आज्यं पयोदधीत्येतत्त्रिवृद्धा जलमेव वा ॥ ॐ भूरित्यादिना प्राश्य रात्रिं चोपवसेत्ततः । एतावतैव विधिना भिक्षुः स्यादापदि द्विजः ॥ अथादित्यस्यास्तमयात् पूर्वंमग्नोन् विहृत्यी सः। आज्यञ्च गार्हपत्ये तु संस्कृत्यैतेन च स्न चा ॥

^{*} वीत, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

ां चण्डाकाचक्रतं, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

ां कपाछिकाः, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

ां पञ्चादिका, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

ां विद्युत्य, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

पूर्णमाहवनीये तु जुहुयात् प्रणवेन तत् ।

*वह्वन्वाधानमेतत् स्यादग्निहोत्रे हुते ततः ॥

स्थित्वा तु गार्हंपत्यस्य दर्भानुत्तरतोश्त्र तु ।

पात्राणि सादयित्वाश्य ब्रह्मायत्तन एव तु ॥

स्तीर्णेषु दर्भेष्वासीत त्विजनान्तरितेषु वा ।

जागृयाद्रात्रिमेतान्तु यावद्र ब्राह्मो मुहुर्त्तकः ।

एतामवस्थां सम्प्राम्प मृतोश्यानन्त्यमश्रुते ॥

अग्निहोत्रं सकाले च हुत्वा प्रातस्तनं ततः ।

इष्टि वैश्वानरी कुर्यात् प्राजापत्यामश्रापिव।" — इति ॥

आज्यादि-प्राश्चानानन्तरमग्नि-विहरणात् पूर्वं सावित्री प्रवेशं कुर्यात्। तदुक्तं वौधायनधम्में। ॐ मूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वं रेण्यं ॐ मूवः सावित्रीं प्रविशामि मर्गोदेवस्य धोमहि, ॐ सुवः सावित्रीं प्रविशामि धियोयोनः प्रचोदयादिति अर्द्धं च्चशः समस्तया बा" — इति । इष्ठि ं परिसमाप्याग्नींश्चात्मिन समारोप्य प्रैषमुच्चारयेत्। तदाह कात्यायनः, —

> "आत्मन्यग्नीन् समारोप्य वैदिमध्ये स्थितो हरिम्। ध्यात्वा हृदि त्वनुज्ञातो गुरुणा प्रैषमीरयेत्" — इति।

अथ प्रेषमुच्चारयांभयदानं कुर्यात्। तदुकः कापिलमते, —
"विधिवत् प्रेषमुच्चार्यं त्रिरुपांशु त्रिरुच्चकैः।
अभयं सर्व्वभूतेभ्यो मम स्वाहेत्यपो मुवि।
निर्णीय दण्ड-शिक्यादि गृहीत्वाऽथ वहिर्वजेत्" — इति॥

^{*} एतत् पूर्व्यं ब्रह्मा'— इत्यधिकः पाठः ग्रु० पुस्तके ।

^{ां} इतिष्टि, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

दण्डादीनां मन्त्रानाह वीधःयतः, —

"सखा मेत्यादिना दण्डं गृह्णीयाद्र गुरूणाऽवितम् ।

येन देवाः पवित्रेणेत्युक्त्वा जलपवित्रकम् ॥

यदस्य पारे रजसः शुक्रमित्यपि शिक्यकम् ।

व्याह्तोमिस्तथा पात्रमथ कौपीनमित्यूचा ॥

युवा सुवासा इत्येवं तच्छंयोरुपवीतकम् ।

एतद्र गृहीत्वा निष्कम्य स्वग्रामं वान्धवांस्त्यजेत् ॥

निःस्पृहोऽन्यत्र गत्वैव ब्रतैः स्बैर्व्वर्त्तयेत् सदा" — इति ।

एतच जलपवित्रादिकं चतुर्विधेषु भिक्षुषु प्रथम-द्वितीय-विषयम्। चातुर्विध्यन्तु भिक्षूणां हारीत आह, —

"चतुर्विधा भिक्षवस्तु प्रोक्ताः सामान्यलिङ्गिनः ॥ तेषां पृथक् पृथक् ज्ञानं वृत्तिभेदात् कृतं च तत् । कूटोचरो* वहूदको हंसइचैव तृतीयकः ॥ चतुर्थः परमोहंसो यो यः परचात् स उत्तमः"। — इति ।

पितामहो।पि. --

"वतुर्विधा भिक्षवस्तु प्ररव्याता ब्रह्मणो मुखात्। कूटोचरो बहुदको हंसश्चैव तृतीयकः। चतुर्थः प्रहंसश्च संज्ञाभेदैः प्रकीतिताः"—इति।

तत्राधिकार-विशेषः पुराणे दर्शितः, —

"विरक्तिदिविधा प्रोक्ता तीव्रा तीव्रतरेति च ॥ सत्यामेव तु तीव्रायां न्यसेद् योगी कृठिचरः । शक्तो वहुदके तीव्रतरायां हंस-संज्ञिते ॥ मुमुखुः प्रमे हंसे साक्षादिज्ञान-साधने" — इति ।

^{*} कुटीचक, — इति मु॰ पुस्तके पाठ:। एवं परत्र सर्व्धत्र

तत्र कुटीचरस्य वृत्तिविशेषमाह प्रजापितः । "कुटीचरो नाम स्वगृहे वर्त्तमानः श्रुचिरकलुषः अहिताग्निषु भिक्षां भुआनोऽपगतकाम-क्रोध-लोभ-मोहोऽहण्णारविजित आत्माऽनुग्रहं कुरुते" । वृद्धपराशरऽपि । "कूटीचरो नाम पुरत्रादिभिः कुटीं कारियत्वा काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यादीन् हित्वा विधिवत् सन्न्यासंकृत्वा त्रिदण्ड-जल-पवित्र-काषायवस्त्र-धारिणः शोचाचमन*जपस्वाध्याय-ब्रह्मचर्य्य-ध्यानां तत्पराः पुत्रत्रादेशेव िक्षाकालेऽन्नयाच्यामात्रमुपभुआना रिस्तस्यां कुट्यां नित्यं वसन्तआत्मानं मोक्षयन्ति" — इति । स्कन्दपुराणेऽपि, —

"कृटीचरस्तु सन्न्यस्य से से सद्मिन नित्यशः। भिक्षामादाय भुजीत स्ववन्धूनां गृहेऽथवा। शिखी यज्ञोपविती स्यात् त्रिदण्डी सकमण्डलुः" — इति। कुटीबरस्याशक्त-विषयत्वाद्युक्तो गृहवासादिः। तदुक्तं वौधायनेन, —

"कूटोचराः परिव्रज्य से से वेश्मिन नित्यशः। भिक्षां वन्धुभ्य आदाय भुक्षते शक्ति-संक्षयात्" — इति ॥ बहृदकस्य वृत्ति-विशेषमाह स्कन्दः, —

> "बह्दकस्तु सन्न्यस्य बन्धु-पुत्रादिवजितः । सप्तागारं चरेद्र मैक्षमेकान्नञ्च परित्यजेत् ॥ गोवाल-रज्जु-संबन्धं त्रिदण्डं शिक्यमुद्धृतम् । जलपात्रं पवित्रञ्च रवनित्रञ्च कृपाणिकाम् ॥ शिखां यज्ञोपवीतञ्च देवताराधनञ्चरेत् ।" — इति ।

स्त्रानभौवादमन, — इति मु॰ पुस्तके पाठः ।

^{ां} ब्रह्म वर्ष्यययन, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

[ि] पुत्रादेख, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

^{ों} युञ्जाना, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

बुद्धपराशरोऽपि । "तत्र वहूदको नाम त्रिदण्ड-कमण्डलु-पवित्र*-पात्र-काषायवस्त्रधारिणो वेदान्तार्थाववोधकाः साधुवृत्तेषु व्राह्मण-गृहेषु भेंक्षचर्यां चरन्त आत्मानं मोक्षयन्ति" – इति । पितामहोऽपि, –

"वहूदकः स विन्नो यः सर्व-सङ्ग-विवर्जितः । बन्धुवर्गे न भिक्षेत स्वभूमौ नैव संवसेत् ॥ निश्चलः स्थाणुभूतश्च सदा मोक्ष-परायणः । न कुटचां नोदके सङ्गं कुर्याद्भ वस्त्रो च चेतसा ॥ नागरे नासने नानने नास्तरे नात्रिदण्डके । स्वमात्रायां न कुर्याद्भ वे रागं दण्डादिके यतिः" ॥ — इति ॥

हंस-वृत्तिः स्कन्दपुराणे दशिला, —

"हंसः कमण्डलुं शिक्य भिक्षापात्रं तथैव च । कन्थां कीपीनमाच्छाद्यमञ्चवस्त्रं वहिःपटम् ॥ एकन्तु वैणवं दण्डं धारयेन्निह्यमादरात् । देवतानामभेदेन कुर्याद्ध्यानं समर्चयेत्"॥ — इति ॥

विष्णुरपि, —

"यज्ञोपवीतं दण्डञ्च वस्त्रं जन्तु-निवारणम् । तावन् परिग्रहः प्रोक्तो नान्यो हंस-परिग्रहः ॥" – इति ॥

पितामहेऽपि, —

' हंसस्तृतीयो विज्ञे यो भिक्षु मिक्ष-परायणः । नित्यं त्रिषवणस्रायी त्वार्द्ध वासा भवेत् सदा ॥

^{*} पद्मपिन्न, — इति मु॰ पुस्तके पाठ: ।

चान्द्रायणेन वर्तेत यति-धर्मानुशासनात्। वृक्षमूले वसेन्नित्यं गुहायां वा सरित्-तटे ॥" — इति ॥

बौधायनोऽपि, —

"हंसाः कमण्डलुं शिक्यं दण्डपात्राणि विभ्रतः। ग्राम-तीर्थेकरात्रारु च नगरे पञ्चरात्रकाः॥ त्रि-षडात्रीपवासारु च पक्ष-मासौपवसिनः। कृच्छ्-सान्तपनाद्यौरु च यज्ञौः कृशवपुर्धराः॥" — इति॥

परमहंस-वृत्तिः स्कन्दपुराणे दिशता, —

"कौपीनाच्छादनं वस्त्रं कन्थां शीत-निवारिणीम् ।

अक्षमालाञ्च गृह्णोयात् वैणवं दण्डमव्रणम् ॥

माधूकर*मर्थैकान्नं परहंसः समाचरेत् ।

परहंसस्त्रिदण्डञ्च रज्जुं गोवाल-निमिताम् ॥

अत्र केचिच्छ्द्धा-जाड्येन सन्ध्यावन्दन-गायत्री-शिखा-यज्ञोपवीत-त्यागमसहमानाः यथावणितं पारमहस्यं विद्विषन्ति । उदाहरन्ति च कानिचिद् वचनानि । तत्र हारीतः, —

शिखां यज्ञोपवीतञ्च नित्यं कर्म परित्यज़ेत्"। — इति ॥

"चत्वार आश्रमा ह्ये ते सन्ध्यावन्दन-विजताः। ब्राह्मण्यादेव हीवन्ते यद्यप्युगतपोधनाः॥" — इति।

बौधायनोऽपि, —

"अनागतान्तु ये पूर्वामनतीतान्तु पश्चिमाम्। सन्ध्यां नोपासते विप्राः कथन्ते ब्राह्मणाः स्मृताः॥" – इति॥

^{*} नधूकर, — इति स॰ पुस्तके पाठः।

स्मृत्यन्तरेऽपि, —

"सायं प्रातः सदा सन्ध्यां ये विप्रा नो उपासते । कामं तान् धार्मिको राजा बूद्र-कर्मसु योजयेत् ॥ — इति ॥

मनुर्पि, -

"सावित्री-पतिता व्रात्या भवन्त्यार्य-विगहिताः ।" — इति ॥

अत्रिरपि. —

"यन्नोपवीतं सर्वेषां द्विजानां मुक्ति-साधनम् । परित्यजन्ति ये मोहान्नरा निरयगामिनः ॥" — इति ॥

पदापुराणे, ---

"शिखा-यञ्जोपवीतेन त्यक्तेनासौ कश्चं द्विजः ।" — इति ॥

मैवं। एतेषां वचनानां परमहंस-व्यतिरिक्त-विषत्वेनाप्युपपत्तेः।
णारमहंस्यन्तु बहुषु प्रत्यक्षश्रुतिषूपलभ्यमानं केन प्रद्रेष्टुं शक्यम्।
तथा च जावालश्रुतिः। "तत्र परमहंसा नाम संवर्त्तकारुणिक
श्वेतकेतुदुर्वासमूंनिदाघजज्ञभरतदत्तात्रेयरेवतकप्रभृतयो व्यक्तलिङ्गा
अव्यक्ताचारा अनुन्मचा उन्मत्तवदाचरन्ति" — इति । तेषाञ्च
शिखादित्याग आत्मज्ञानादिधम्यांश्च तत्रेव श्रुताः। "दण्डं
कमण्डलुं शिक्यं षात्रं जलपवित्रकम्, शिखां यज्ञोपवीतं चेत्येतत्
सर्व्व भूः स्वाहेत्यप्तु परित्यज्यात्मानमन्विच्छन् यथारूपधरो
निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः तत्वव्रह्ममार्गे सम्मक् सम्पन्नः शुद्धमानसः
प्राणसन्धारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन् करपात्रेण*
लामालाभयोः समो मृत्वा, शून्यागार-देवगृह-लृगकूट-ज्ञत्मोक-वृक्षमूल
कृजालशालारिनहोत्र-नदोपुलिन-गिरिकृहर-कन्दर-कोटर — निर्झर-

^{*} उद्यात्रेण, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

स्थिष्डिलेष्विनकोतवानप्रयत्नो निर्ममः शुक्रध्यानपरायणोऽध्यात्म-निष्ठोऽशुद्धकमर्म-निर्मूलन-परः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम" — इति ।

तस्यःमेव च श्रुतौ जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद-रूपेण यज्ञोपवीत-त्यागमाक्षिप्य समाहितम्। "पुच्छामि त्वां यः ज्ञवल्क्य नायज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवलक्यः इदमेवास्य यज्ञोपवीतं यः आत्मेति"—इति । आरुणिश्रुतावि पारमहंस्यं प्रपञ्चितम् । "आरुणिः प्रजापतेलेकिं जगाम तं गत्वोवाच केन भगवन् कम्माण्य-शेषतो विसृजानीति। तं होवाच प्रजापतिः तव पुत्रान् भ्रातृन् वन्घवादीन् शिखायज्ञोपवीते यागं सूत्रं स्वाध्यायञ्च भूलींकं भूवलोकं स्वलोंकं महोलोकं जनलोकं तपोलोकं सत्यक्षोकं चातल-वितल-भूतल-तलातल-महातल-रसातल-पातालं ब्रह्माण्डञ्च विसर्जयेत्। दण्डमाच्छादनं कौपोनं परिगृहेत्, देषं विसृजेत् । ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थो वा लौकिकारनीनुदरारनी समारोपयेत्। गायत्रीं च शरीराग्नी * समारोपयेत्। उपवीतं भूमौ वाप्रसू वा विसुजेत्। ां दण्डान् लोकाग्नोन् विसृजेदिति होवाच । अत अद्धं ममन्त्रवदाचरे-दूद्ध गमन विसुजेत्त्रिसन्ध्यादौ स्नानमाचरेत्। सर्वेषु देवेष्त्राचरण-मःवर्त्तयेदुपनिषदमावर्त्तयेत्" — इति । मैत्रावरुणश्रुतवपि । "इन्द्रस्य वज़ोऽसीति त्रीनवैणवान् दण्डान् दक्षिणपाणी धारयेदेकं वा, यद्येकं सिशखं वपनं कृत्वा विसुज्य यज्ञोपवीतम्" — इति । तदा पिप्पलाद शाखायामपि.

> "सिशि लं वपनं कृत्वा विहःसूत्रं त्यजेद्धाः। यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥

^{*} स्वभावाचाझौ, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

^{ाँ} कुटीचको बज्ञचारी कुटुम्बं विस्रजेत् विप्रत्वं विस्रजेत् पात्र विस्रजेत्, — इत्यधिकः पाठः सु० पुस्तके ।

स्चनात् स्विमित्याहः स्व नाम परंपदम। तत्र सूत्रं विहितं येन स विश्रो वेदपारगः ॥ येन सर्विमदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव । तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवितत्तवदशिवान् ॥ वहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगसूत्रं समास्थितः । ब्रह्मभाविमदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ॥ धारणादस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत्। सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ॥ ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः। ज्ञानशिखाज्ञाननिष्ठाज्ञानयज्ञोपवीतिनः॥ ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमच्यते। अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा॥ स शिखोत्युच्यते विद्वान्नेतरैः केशधारणैः। कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः। एमिधर्थिमदं सूत्रं क्रियाङ्गं तिद्ध वै स्मृतम् । शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम ॥ ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः। इदं यन्नोपवीतन्तु परमं यत्परायणम् ॥ विद्वान् यज्ञोपवोती स्यात् यज्ञास्तं यज्वनं विदुः" — इति ।

व्यासस्मृताविप, —

"यज्ञोपवोतं कम्माङ्गं वदन्तयु तमबुद्धयः । उपकुर्व्वाणकात् पूर्वं यतो लोके न दश्यते ॥ यावत् कम्माणि कुरुते तावदेवास्य धारणम् । तस्मादस्य परित्यागः क्रियते कम्मीमः सह ॥ अग्निहोत्र-विनाशे तु जुह्वादीनि यथा त्यजेत्॥ यथा च मेखलादीनि गृहस्थाश्रम-वाठ्यया। पत्नी योक्त्रं यथेष्टचन्ते सोमान्ते च यथा ग्रहान्॥ तदुद्रयज्ञोपवीतस्य त्यागमिच्छन्ति योगिनः" — इति।

विश्वामित्रोऽपि, — "अथापरं परिव्राजकलिष्ठ" सर्व्वतः परिमोक्षमेकै सत्यानृते सुखदुः से वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्यातमानमन्विच्छेत् शिखा-यञ्चोपवीत-कमण्डलु-कपालानां त्यागी"—इति । बौधायनोऽपि । "अत्त खंद्र यञ्चोपवीतं मन्त्रमाच्छादनं यष्टयः शिक्यं जलपवित्रं कमण्डलुं पात्रमित्येतानि वर्जयत्वा वैणवं दण्डमादत्ते सखामगोपाय" — इति । स्मृत्यन्तरेऽपि, —

"यदा तु विदितं तत् स्यात् * परंव्रह्मसनातनम् । तदैकदण्डं संगृह्य उपवीतं शिखां त्यजेत्" — इति ।

अत्र केचिदाहः। उपवीत-त्यागवचनानि पुरातनः यशोपवीत-विषयाणि। तथा च स्मृतिः। "नखानि निकृत्या पुराणं वस्त्रं यशोपवीतं कमण्डलुं त्यक्तवा नवानि गृहोत्वा ग्रीमं प्रविशेत्" – इति। यदाऽऽचमनाङ्गं यशोपवीतं न स्यात् तदा ब्राह्मणादेव हीयते। तस्मादस्ति परमहंसस्यापि शशोपवीतम्, — इति।

तदयुक्तम्, उदाहतस्मृतेर्बहृदकादि-विषयत्वात्। "न यज्ञो-पवीतं नाच्छादनञ्चरति परमहंसः"— इति श्रुतेः। "अयज्ञोपवीती शौचनिष्ठः काममेकं वैणवं दण्डमादधीत" — इति श्रुत्यन्तराच्च। न च ब्राह्योपवीतमन्तरेणाचमनाद्यसम्भवः, कौषोतिकब्राह्मणे प्रवनोत्तराम्यां तदुपपादनात्। "किमस्य यज्ञोपवीतं का शिखा

^{*} तत्त्वात्, – इति मु॰ पुस्तके पाठः।

कथञ्चास्योपस्पर्शनम्" — इति प्रश्नः । "इदमेवास्य यज्ञोपवीतं यदात्मध्यानं विद्या शिखा" — इत्याद्युत्तरम् । व्राह्मण्यन्तु विज्ञान-मय-शिखायज्ञोपवीतिन एव पुष्कलम् , — इति पिष्यलादश्रुता-वुदाहृतम् ।

केचिन्तु परमहंसस्यापि त्रिदण्डमिच्छन्ति, उदाहरन्ति च वचनानि । तत्र दक्षः, सर्व्वेषामाश्रमिणां क्रमेण लक्षणमभिदधानः "त्रिदण्डनयतिश्चैव" — इति यतेर्लक्षणमभिधाय, त्रिदण्डरहितस्य यतित्वं निषेधति, —

"यस्यैतलक्षणं नास्ति प्रायश्चित्ती न चाश्रमी" — इति ।

हारीत-दत्तात्रेय-पितामहाः कुटीचरादीन् चतुरोऽप्युप=यस्य सर्वेषां त्रिदण्डमेव विद्यते, —

"वृत्तिभेदेन भिन्न। इच नैव लिङ्गेन ते द्विजाः। लिङ्गन्तु वैणवं तेषां त्रिदण्डं सपवित्रकम्" — इति।

अत्रिरपि, —

"शिखिनस्तु श्रुताः केचित् केचिन्मुण्डाश्च मिक्षुकाः। चतुर्द्धा मिक्षुकाः प्रोक्ताः सर्वे चैव त्रिदण्डिनः" — इति।

एकदण्ड-वचनानि तु त्रिदण्डालाभ-विषयाणि । तदाह मेधातिथिः, —

"यावन्न स्युस्त्रिदण्डास्तु तावदेकेन पर्प्यटेत्" — इति ।

हारोतोऽपि, -

"नष्टे जलपिवत्रे वा त्रिदण्डे वा प्रमादतः । एकन्तु वैणवं दण्डं पालाशं वैल्वमेव वा ॥ गृहोत्वा विवरेत्तःवद्यावस्त्रम्थेत् त्रिदण्डकम्" — इति । अत्रोच्यते । परमहंसस्यैकदण्ड-निराकरणे वह्नागम-विरोधः स्यात् उदाहृताश्च परमहंसस्यैक-दण्ड*प्रतिपादकाः श्रुति-स्मृतयः । एवं सति मेधातिथि-हारीतास्यां यदेकदण्डस्यानुकल्पत्वमुक्तं, तद्वद्वदकादि-विषयं भविष्यति । परमहंसस्य तु नैकदण्डोऽनुकल्पः । यतो व्यास आह, —

> "त्रिदण्डस्य परित्याग एकदण्डस्य धारणम्। एकस्मिन् दृश्यते वाक्ये तस्मादस्य प्रधानता" ॥ — इति ॥

यत्, "सर्वे चैव त्रिदण्डिनः" — इति, तद्वाग्दण्डादिविषयं न तु यष्टि-त्रयाभित्रायम् । तथा च मनुः, —

> "वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्त्रथैव च। यस्यैते नियता वुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ त्रिदण्डमेतत् निःक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः। कामक्रोधौ तु संयस्य ततः सिद्धि निगच्छति॥" – इति ॥

दक्षोऽपि, -

"वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च । यस्यैते नियता दण्डा स्त्रिदण्डीति स उच्यते ॥" — इति ॥

प्तेषां च त्रयाणां दण्डानां स्वरूपं स प्वाह, —
"वाग्दण्डो मीनता प्रोक्ता कर्मदण्डस्त्वनीहता ।
मानसस्य तु दण्डस्य प्राणायामी विधीयते ॥" — इति ॥

यदपि पितामहेनोक्तं, —

"परः परमहंसस्तु तुर्याख्यः श्रुतिरव्रवीत्। यमैश्चिनियमैर्युक्तो विष्णुरूपी त्रिदण्डमृत्।" — इति॥

^{*} प्रतिपदिका, — इति पाठो भिषतु पुक्तः । र्व वग्दण्डो सौनमाविष्ठेत् कर्मदण्डे त्वनीहताम्, — इति स॰ शा॰ पुस्तकेषु पाठः।

तदप्युक्तरोत्या वाग्दण्डाद्यभिप्रायम् । यदिप, — "लिङ्गन्तु वैणवं तेषां त्रिदण्डं सपवित्रकम् "

— इति यष्टि-त्रयाभिधानं, तदिष वहूदक-विषयत्वेनोपपन्नम्। योहि वहूदक एव सन् ग्रामैकरात्रादिकां* हंसवृत्तिमाचरित, स वृत्तितो हंसो भविति। वेदान्त-श्रवणादिकां परमहंसवृत्तिं चेदाश्रयिति, तदा वृत्तितः परमहंसो भविति। तेषां हंसादीनां त्रिदण्डमेव लिङ्गम्। अर्ननेवाभिप्रायेण, —

"वृत्तिभेदेन भिन्नाइच नैव लिङ्गेन ते द्विजाः" — इति ।

अन्यथा मुख्ययोह स्योरेकदण्ड-विधायकान्युद हतानि वचनानि निर्विषयाणि स्युः। तेस्मादेक एव दण्डः परमहं सस्य। ननु परमहं सोपनिषदि एकदण्डोऽप्यमुख्येनेव श्रूयते। "कौपीनं दण्ड-माच्छादनञ्च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोकस्योपकारार्थाय च परिग्रहेत्, तच्च ं न मुख्योऽस्ति, को मुख्य इति चेदयं मुख्यो न दण्डं न शिक्यं नाच्छादनं चरति परमहं सः' — इति। वादम्। नास्त्येव विद्वत्-परमहं सस्य वाह्ययष्ट युपयोगः। अतएव वाक्यशेषे ज्ञानमेव तस्य दण्डः, — इत्युक्तम्,—

"बानदण्डोधृतो येन एकदण्डो स उच्यते" — इति ।

यिष्ट-धारणन्तु विविदिषोः परमहं सस्य । न च विद्धः-विविदिषु-भेदेन पारमहं स्य-द्वे विध्ये मानाभावः राष्ट्वनीयः । वाजमर्न यिव्राह्मणे तदुपलम्मात् । "एतं वै तमात्मानं विदित्वा व्राह्मणाः पुत्रेषणायाद्य वित्तेषणायाद्य लोकेषणायाद्य व्युत्थायाथ मिक्षाचर्यं चरन्ति" — इति विद्वत्संन्यासे प्रमाणम । एतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव

^{*} ग्रामैकरात्रिकां, — इति सु० पुस्तके पाठः । तिस्य, — इति सु० पुस्तके पाठः ।

प्रव्राजिनो लोकिमिच्छः तः प्रव्रजिन्तः — इनि चान्यस्मिन् । एतद्वाक्ये विद्विविविषुसंन्यासौ उभाविप विस्पष्टमवग्रम्येते । "एतत्
सर्वं मूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्" — इति जावालवाक्ये त्रिदण्डादि-परित्यागात्मकं विविदिषु-पारमहंस्यमाम्नातम् ।
श्रुति । "न्यास इति ब्रह्म ब्रह्म हि परः परो हि ब्रह्म तानि वा एतान्यः
पराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्" — इत्यिष्रहोत्रयज्ञ-दानादितपो-निन्दापुःसरं पारमहंस्यं विधाय तस्य परमहंसस्य विविदिषोरात्मविद्याधिकारं दर्शयित, "ओमित्येतमात्मानं युज्ञीत" — इति ।
तस्माद् द्वेविध्य-सद्भावाद् दण्डादिनिवारणमद्भेष-कर्मश्चन्य-विद्वद्मपारमहंस-विषयम् । विदुषः कर्भव्य-शून्यतां भगवानाह, —

"यस्त्वात्मरतिरैव स्यादात्मतृष्ठश्च मानवः । आत्यन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते" — इति ।

दक्षोऽपि, —

"नाध्येतव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कदाचन। एतैः सर्वैः सुनिष्पन्नो यतिर्भवति नान्यदा" — इति।

स्मृत्यन्तरेऽपि, -

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। नैवास्ति किञ्चित् कत्तंव्यमस्ति चेन्न स सर्ववित्' — इति।

वह्न चत्राह्मणेऽपि। "एतद्ध स्म वै तिद्धांस आहुः कोषेयाः किमर्था-वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" — इति। विविदिषोस्तुः श्रवण-मननादि-कर्त्तव्यसद्भावात् तदुपकारित्वेन दण्डधारणादि-नियम उपपद्यते। ननु-ज्ञान-रहितस्याणि दण्डप्रतिषेध आम्रायते,

"काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञान-वर्जितः। स याति नरकान् घोरान् महारौरव-संज्ञितान्"॥

पराशरमाधवः

नायं दोषः । विद्यां विविदिषाञ्च विना जीवनार्थमेव केवलमैकदण्डं यो धत्ते तद्विषयत्वात् प्रतिषेधस्य । अतएव सर्वाशीति विशेषितम् । स्मृताविष, —

"एकदण्डं समाश्रित्य जीवन्ति वहवी नराः । नरके रौरवे घोरे कर्म-त्यागात् पतन्ति ते" — इति ।

युक्तरच नरक-पातः, सत्यपि व्राह्मदण्डे पाप-निवर्त्तकानामान्तरदन्डा-नामभावात् । पाप-निवर्त्तकत्वञ्च कालिकापुरणे दर्शितम् . —

"वैणवा ये समृता दन्डा लिङ्गमात्र-प्रवोधकाः । लिङ्गव्यक्तौ हि धार्यास्ते न पुनर्धम्मं-हेतवः । कायजा ये बुधैनित्यं नृणां पाप-विभोक्षणात् । जितेन्द्रियैजितक्रोधै धाँग्यां वै तत्त्वदिशिभः" — इति ।

ये कायजास्त्रयोदन्डास्ते पाप-विभोक्षणाय धाय्याः — इत्यन्वयः। नन्वेकदन्ड-त्रिदन्डयोविकलपः कचित् समर्थते । तत्र, विष्णु-वौधायनौ, —

"एकदण्डी भवेद्वाऽपि त्रिदण्डो वा मुनिर्भवेत्" — इति ।

व्यासः, —

"त्रिदण्डमेकदण्डं वा व्रतमास्याय तत्त्ववित् । पर्ण्यटेत् पृथिवीं नित्यं वर्षाकाले स्थिरीमवेत्" — इति ।

शौनकोऽपि। "अश्य कषायवासाः सखामा गोपायेति त्रिदण्डमेकदण्डं वा गृहाति" — इति। आश्वमेधिके भगवद्वचनम्, —

"एकदण्डो त्रिदण्डो वा शिखो मुन्डित एव वा । काषायमात्रसारोऽपि यतिः पूज्यो युधिष्ठर" — इति । वादम । उक्तरीत्या तयोर्व्यवस्था द्रष्टव्या । तत्र, कूटीचर-वहद-कयोस्त्रिदन्डः, हंस-परमहंसयोरेकदन्डः । तथा सति तत्र तत्रो — दाहृतानि वचनानि उपपद्यन्ते ।

तदेवं चतुर्विधः संन्यासो निरुपितः।

अथ तद्धर्मा निरुप्यन्ते।

तत्र वौधायनः, —

"ऊषःकाले समुत्थाय शौचं कृत्वा यथाविधि। दन्तान् विमृज्य चाचम्य पर्ववज्जं यथाविधि। स्नात्वा चाचम्य विधिवत्तिष्ठन्नासीन एव वा॥ विभ्रज्जलपवित्रं वाऽप्यक्षसूत्रं करद्वये। तद्वत् पवित्रेगोवालेः कृते दुष्कृतनाशने। उदये विधिवत् सन्ध्यामुपास्य त्रिकजप्यवान्। मित्रस्य चर्षणोत्याद्ये रूपस्थाय परि त्रिभिः*। पूर्व्ववत् तर्पयत्वाऽथ जपेत् सम्यक् समाहितः" — इति।

मनुरपि, -

"एकएव चरेन्नित्यं सिद्धचर्धंमसहायकः। सिद्धिमेकस्य संप्रयन् न जहाति न हीयते" — इति ॥

एकस्यासहायस्य विचरतो रागद्धेषादि-प्रतिवन्धामावात् ज्ञानलक्षणां सिद्धिं निश्चिनवन् तां सिद्धिं न जहाति, तस्यां सिद्धावप्रत्यूहेन

^{*} पवित्रिभि:, — इति पाठात्तरम्।

पराशरमाधवः

प्रवत्तते, प्रवृत्तश्च तस्याः सिद्धे नं हीयते किन्तु पारं गच्छति । यदा तु दितीय-तृतीय-पुरुष-सहायवान् विचरैत्तदा रागद्धेष-सम्भवादुक्त-सिद्धे हीयते । अतएव दक्षः, —

"एकोमिक्षुर्यथोक्तस्तु द्वावेव मिथुनं स्मृतम् । त्रयोग्रामः समाख्याताऊद्धन्तु नगरायते ॥ नगरन्तु न कर्त्तय्यं ग्रामोऽपि मिथुनं तथा । एतत्रत्रयं प्रकुर्वाणः स्वधम्मत् च्यवते यतिः ॥ राजवात्तां हि तेषाञ्च मिक्षा-वार्ता परस्परम् । स्नेह-पैशुन्य-मात्सर्य्यं सन्निकर्णान्न संशयः"॥

यदा तु श्रवणादि-सम्पत्त्यभावादात्मज्ञान-सिद्धौ स्वयमशक्तः स्यात्, तदा तत्र शक्ते - द्वितीयेन सह विचरेत्। यथा श्रुतिः। "वर्षासु ध्रुवशोलोऽष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेत् द्वौ वा चरेत्"। चरेता-मित्तर्थः। एकाकी विचरेत् सर्व्वभूतेभ्यो हितमाचरेत्। तदाह याज्ञवलक्यः, —

सर्व्वभूत-हितः शान्तः त्रिनण्डो सकमण्डलुः । एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत्" — इति ।

हिताचरणं नाम हिसाऽननुष्ठानमात्रं न पुनरूपकारेषु प्रवृत्तिः। ''हिंसाऽनुग्रयोरनारम्मः" — इति गोतमस्मरणात्। अतएवाहिंसा-दीनाहात्रिः, —

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचय्यापिरग्रही । भावशुद्धिर्हरेभिक्तिः सन्तोषः शौचमार्जवम् ॥ आस्यक्यं ब्रह्मसंस्पर्शः स्वाध्यायः समदर्शनम् । अनौद्ध्यत्यमदोनत्वं प्रसादः स्थैय्य-मार्ववे ॥ सस्नहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः । उपेक्षा धैर्य-माधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा ॥

पराचरमाधवः

हास्तपोन्नान-विज्ञाने योगो लघ्वशनं धृतिः । स्नानं सुरार्चनं ध्यानं प्राणायामो विलः स्तुतिः ॥ भिक्षाटनं जपः सन्ध्या त्यागः कर्मफलस्य च । एष स्वधमी विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम् ॥'' — इति ।

प्रव्रज्यां कृत्वापि गुरोः समीपे ब्रह्मज्ञानपर्यन्तं निवसेत्। तदुवतंः लिङ्गपुराणे, –

''आश्रमत्रयमुक्तस्य* प्राप्तस्य प्रमाश्रमम् । ततः संवत्सरस्यान्ते प्राप्य ज्ञानमनुत्तमम् । अनुज्ञाप्य गुरुठचैव चरैद्धि पृथिवीमिमाम् । त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ पिधाय बुद्धचा द्वाराणि ध्यानेनैकमना भवेत् ।" — इति ।

मत्स्यपुराणेऽपि, —

"गुरोरिप हिते युक्तः स तु संवत्सरं वसेत्। नियमेष्वप्रमत्रस्तु यमेषु च सदा भवेत्॥ प्राप्य चान्ते ततश्चैव ज्ञानयोगमनुत्तमम्। अविरोधेन धर्मस्य चरेत पृथिवों यतिः॥"— इति।

संवत्सरमित्युपलक्षणं, यावज्ञानं तावन्निवसेत्। गृरुसमीपःवासस्यः ज्ञानार्श्चत्वात्। पृथिवी-विचरणे विशेषमाह कण्वः, —

"एकरात्र' वसेत् ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम् । वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मांसांश्च चतुरो वसेत्॥"— इति॥

^{*} अभ्रम त्रयसुर् सुज्य, — इति सु॰ पुस्तके पाठः।

मत्स्यपुराणेऽपि, —

"अष्टौ मासान् विहारः स्याद्यतीनां संयतात्मनाम् । एकत्र चतुरो मासान् वाषिकान् निवसेत् पुनः ॥ अविमुक्ते प्रविष्टानां विहारस्तु न विद्यते । न दोषो भविता तत्र दृष्टं शास्त्रं पुरातनम् ॥"— इति ।

चातुर्मास्य-निवासे प्रयोजनमाह मेधातिथिः, — "संरक्षणार्थं' जन्तूनां वसुधातलचारिणाम् । आषाढ़ादींश्च चतुर आ मासान् कार्त्तिकाद् यतिः ॥ धर्माद्ये जलसम्पन्ने ग्रामान्ते निवसेच्छुचिः ।" — इति ।

अन्यानिष हैयोपादेयांश्च धर्मान् संगृह्याह स एव, —

"श्रद्धया परयोपेतः परमात्म-परायणः ।

स्थूलसूक्ष्मशरीरेग्यो मुच्यते दशषट्कवित् ॥

त्रिदण्डं कुण्डिकां कन्यां भैक्ष-भाजनमासनम् ।

कौपीनाच्छादनं वासः षड़ेतानि परिग्रहेत् ॥

स्थावरं जङ्गमं वीजं तैजसं विषयायुधम् ॥

पड़ेतानि न गृह्वोयाद् यति मूंत्रपुरीषवत् ॥

रसायनं क्रियावादं ज्योतिषं क्रयविक्रयम् ।

विविधानि च शिल्पानि वर्जयेत् परदारवत् ॥

मिक्षाटनं जपं स्नानं ध्यानं शौचं सुरार्चनम् ।

कर्त्तव्याणि षड़ेतानि सर्वथा नृप ! दण्डवत् ॥

नटादि-प्रेक्षणं द्यूतं प्रमदां सुहृदं तथा ।

भक्ष्यं भोज्यमुदक्यां च षण्न पश्येत् कदाचन ।

स्कन्धावारे खले साथे पुरे ग्रामे वसद्गृरे ॥

^{*} विषमायुधम्, — इति स॰ पुस्तके पाठः।

न वसेत यतिः षटसु स्थानेष्वेतेष कहिंचित्। रागं द्वेषं मदं मायां दम्मं मोहं प्रात्मस्॥ षड़ेतानि यतिनित्यं मनसापि न चिन्तयेत्। मञ्चकं शुक्रवस्त्रञ्च स्त्रीक्थां लौल्यमेव च॥ दिवास्वापञ्च यानञ्च यतीनां पतनानि षट्। संयोगंच वियोगगंच वियोगस्य च साधनम्॥ जोवेश्वरप्रधानानां स्वरूपाणि बिचन्त्येत्। आसनं पात्र-लोपश्च सञ्चयाः शिष्य-सङ्गहः॥ दिवास्वापो वृथाजलपौ यतेर्बन्ध-कराणि षट्। एकहात्परतो ग्रामे पञ्चाहात् परतः पुरे ॥ वर्षाभ्योऽन्यत्र तत्-स्थान*भासनं तदुदाहतम्। उक्तानां यति-पात्राणामेकस्यापि न सङ्ग हः ॥ मिक्षोर्मेक्षमुजरचापि पात्र-लोपः स उच्यते । गृहोतस्य त्रिदण्डादेद्वितीयस्य परिग्रहः॥ कालान्तरोपभोगार्थं सञ्चयः परिकीत्तितः। शुश्रा - लाम-पूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ॥ शिष्याणां न तु कारण्यात् सस्नेहः शिष्यसंग्रहः। विद्या दिवा प्रकाशनवादविद्या रात्रिरुच्यते॥ विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते। आध्यात्मिकीं कथां मुक्तवा भैक्षचर्यां सुरस्तुतिम्॥ अनुग्रहप्रदप्रश्नो वृथाजलपः स उच्यते। अजिह्नः पण्डकः पङ्गरन्धो वधिर एव च ॥ मुग्धरच मुच्यते भिक्षः षड्भिरेतैर्न संशयः। इदं मृष्टिमिदं नेति योऽश्नन्निप न सज्जिति॥

^{*} वहास, — इति स॰ पुस्तके पाठः।

पराशरमाधवः

हितं सत्यं मितं विक्तं तमिजिद्धं प्रचक्षते ।
सद्योजातां यथा नारीं तथा पोड़शबाषिकीम् ॥
शतवर्षाञ्च यो दृष्टा निर्विकारः स षण्डकः ।
मिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च ॥
योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरैव सः ।
तिष्ठतो ब्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ॥
चतुर्युगद्धयं त्क्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते ।
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं यतिः *॥
श्रुत्वा यो न शृणोतीव विधरः स प्रकीतितः ।
सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थोऽविकलेन्द्रियः । ॥
सुप्तवद्भवत्तंते नित्यं स मिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥" — इति ।

भिक्षाटनविधिमाह मनुः, —

"एककालं चरेद्रमैक्ष' न प्रसज्येत विस्तरे । भैक्षप्रसक्तोहि यतिर्विषयेष्विप सज्जते ॥ विधूमे सन्नमुषले व्यङ्गारे मुक्तविति । वृत्ते सराव-संपाते भिक्षां नित्य यतिश्वरेत् । अलाभे न विषादी स्यालाभे चैव न हर्षयेत् । प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रा-सङ्गाद्धिनिर्गतः" ॥ — इति ।

मीयन्ते, — इति मात्रा विषयास्तेषां सङ्गाद्विनिर्गतो यतस्ततीन हर्षः-विषादौ काय्यौ । यमोऽपि, —

"स्नात्वा शुचिः शुचौ देशे कृतजय्यः समाहितः । भिक्षार्थी प्रविशेद्रप्रामं राग-द्रेष-विवर्जिजर्तः ॥

^{*} भोकाबद्दन्तु यत् , — इति मु॰ पुस्तके पाटः ।

^{ां} चिकितेन्द्रियः, — इति शु॰ पुस्तके पाठः।

चरेन्माधूकरं भैक्षं यतिम्लेंच्छ-कुलादिप ।
एकान्नं न तु भुञ्जीत वृहस्पित-समोयितः ॥
मेध्यं भैक्षं चरेन्नित्यं सायाह् वाग्यतः शुचिः ।
एकवासा विशुद्धात्मा मन्दगामी युगान्तदृक् ॥
यथालब्धं तथाऽ्रनीयादाज्यसंस्कार-विज्जतम् ।
भेक्षं माधूकरं नाम सर्व्व-पातक-नाशनम्" — इति ।

वौद्यायनोऽपि, —

"विधूमे सन्न-मुसले व्यङ्गारे मुक्तविज्ञते। कालेऽपराह्न-भूयिष्ठे भिक्षाऽटनमथाचरेत्॥ जद्ध जान्वोरधोनामेः परिधायैकमग्वरम् । द्वितीयमान्तरं वासः पात्री दण्डी च वारयतः ॥ सव्ये चादाय पात्रनतु त्रिदण्डं दक्षिणे करे। उपतिष्ठेत सूर्यन्तु ध्यात्वा चैकत्वमातमना ॥ उक्तवा विराजनं मन्त्रमाकृष्णेन प्रदक्षिणम्। कृत्वा पुनर्जिपित्वा च ये ते पन्थान इत्यपि॥ योऽसी विष्णवाख्य आदित्ये पुरुषोऽन्तर्ह् दि स्थितः। सो । इं नारायणो देव इति ध्यात्वा प्रणम्य तम् ॥ भिक्षापात्रादि-शुद्धचर्थमवमुच्याप्युपानहो । ततो ग्रामं व्रजेन्मन्दं युगमात्रावलोककः॥ ध्यायन् हरिञ्च तिच्चते इदं च समुदीरयेत्। विष्णुस्तिर्यगधोद्धं मे वैकुण्ठो विदिशन्दिशम् ॥ पातु मां सर्वितो रामो धन्वी चक्री च केशवः। अभिगम्य गृहाद्भिक्षां भवत्-पूर्वं प्रचोदयेत् ॥ गो-दोहमात्रं तिष्ठेच वाग्यतोऽधोमुखस्ततः। दृष्टा भिक्षां दृष्टिपूतां दातुरच कर-संस्थिताम् ॥

पराशरमाधवः

त्रिदण्डं दक्षिणे त्वङ्गे ततः सन्धाय बाहुना । उत्पाटयेच्च दवचं दक्षिणेन करेण सः । पात्रं वामकरे क्षिप्त्वा रलेपयेद्रदक्षिणेन तु । प्राणायात्रिकमात्रन्तु भिक्षेत विगतस्पृहः" — इति ॥

भौक्षस्य पञ्चविधत्वमाहोशनाः, —

"माधूकरमसन्तप्तं प्राक्षणीतमयाचितम्। तात्कालिकोपपन्नञ्च भेक्षं पञ्चिवधं स्मृतम्॥ मनः-सङ्गल्प-रहितान्-गृहांस्त्रीन् सप्त पञ्चकान्। मधुवदाहरणं यत्तु मध्यकरमिति स्मृतम्॥ शयनोत्थापनात् प्राग्यत् प्राथित मक्तिसंयुतैः। तत् प्राक्षणीतमित्याह भगवानुशना मुनिः॥ मिक्षाऽटन-समुद्योगात् पाक् केनापि निमन्त्रितम्। अयाचितं हि तद्भौकं भोक्तव्यं मनुरव्रवीत्॥ उपस्थाने च यत्प्रोक्तं मिक्षार्थं ब्राह्मणेन ह। तात्कालिकामिति ख्यातं तदत्तव्यं मुमुक्षुणा॥ सिद्धमननं मक्तजनैरानीतं यन्मठं प्रति। उपपन्नं तदित्याहुम्नयो मोक्षकाङ्क्षिणः" — इति।

मिक्षाननं प्रशंसति यगः, —

"यश्चरेत् सःविवर्णेषु मैक्षमम्यवहारतः। न स किञ्चिदुपाश्नीयादापे मैक्षमिति स्थितिः॥ अव्विन्दुं यः कुशाग्रेण मासि मासि त्रयं पिवेत्। न्यायतो यस्तु भिक्षाशी पूर्वि गत् विशिष्यते। तप्तकाञ्चनवर्णेन गवां मूत्रेण यावकम्॥ पिवेत् द्वादशवर्षाणि न तद्भैक्षसमं भवेत्। शाकमक्षाः पयोमक्षा येऽन्ये यावकमक्षकाः॥ सर्वे भैक्षमुजस्तस्य कलां नार्हिन्त षोड्शोम्। न भैक्षं परपाकान्नं न च भैक्षं प्रतिग्रहः॥ सोम-पान-समं भैक्षं तस्मद्भैक्षेण वर्त्तयेतु" — इति।

अत्र, सर्व्वर्णे व्वित्यापद्विषयम् । अतएव वौधायनोऽपि, — "ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां मेध्यानामन्नमाहरेत् । असम्भवे तु पूर्व्वस्याप्याददोतोत्तरोत्तरम् ॥ सर्व्वपामप्यभावे तु मक्षद्वयमनश्नता । भोक्षं शूद्रादिप ग्राह्मं रक्ष्याः प्राणा विजानता" — इति ।

नच भिक्षां लब्धुमुलकापाताद्युत्पात-कथनं ग्रहदौस्थ्यादि-कथन-मन्यं वा कं उचदुपाधि सम्पादयेत् । तदाह वौधायनः, — "न चोत्पात-निमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्ग-विद्ययाः नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कहिंचित्" — इति ।

वर्ज्यमन्नमाहात्रिः, —

हितं मितं सदाऽश्नीयाद्यत् सुसैनैव जीर्य्यति । धातुः प्रकुप्यते येन तदन्नं वर्जयेद्यतिः । उदक्या-चोदितं चान्नं द्विजान्नं शूद-चोदितम् ॥ प्राण्यक्षे चापि सक्लृप्तं* तदन्नं वर्जयेद्यतिः । पित्रश्चं कल्पितं पूर्व्वमन्नं देवादि-कारणात् ॥ वर्जयेत्वादशों भिक्षां प्रवाधाकरी तथा" — इति ।

परवःधा-प्रसक्तिमेवाभिप्रेत्य मनुराह, — "न ताप्सेर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरथवा श्वभिः । आकोर्ण भिक्षुकैर्वाऽन्येरगारमुपसंव्रजेत्" — इति ।

प्राण्यङ्गे वाससे क्ट्रन्तं, – इति मु॰ पुस्तके पाठः ।

यस्तु भिक्षां दातुं शक्तोऽपि नास्तिक्यान्न प्रयच्छति, तद्रगृहं वर्जये दित्याह वीधायनः. —

भिक्षां न दद्युः पञ्चाहं सप्ताहं वा कदाचन । यस्मिन् गृहे जना मोर्ल्यात्यजेच्चण्डाल-वेश्मवत्" — इति ।

अनिन्ध-गृहस्य वर्ज्जने वाधमाह सएव, —

"साधुं चापतितं विप्रं यो यतिः परिवर्जयेत् । स तस्य सुकृतं दत्वा दुष्कृतं प्रतिपद्यते" — इति ।

युस्तु दरिद्रः श्रद्धालुतया स्वयमुपोष्यापि भिक्षां प्रयच्छति. तस्य भिक्षा न ग्राह्या। तदुक्तं स्मृत्यन्तरे, —

"आत्मानं पीड़ियत्वाऽपि भिक्षां यः संप्रयच्छति ॥ सा भिक्षा हिंसिता ज्ञेया नादद्यात्तादशीं यतिः" — इति ।

भिक्षार्थं वहुषु गृहेषु पर्य्यटितुमलसं प्रत्याह वौधायनः, —
"एकत्र लोमाद्र यो भिक्षुः पात्रपूरणमिच्छति ।
दाता स्वर्गमवाघोति मोक्ता मूञ्जीत किल्विषम्"— इति ।

यतिपात्रं विविनक्ति मनुः, —

"अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युनिर्ब्रणानि च । तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ अलाबुं दारुपात्रं वा मृन्मयं वैणवन्तथा । एतानि यति-पात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' — इति ।

यमोऽपि, —

"हिरण्मयानि प्रात्राणि कृष्णायसमयानि च । यतीनां तान्यपात्राणि वर्ज्ययेत्तानि भिक्षुकः" ।

वोधयनोऽपि. —

"स्वयमाहतपर्णेषु स्वयं शीर्णेषु वा पुनः । भूञ्जीत न वटाश्वत्थकरञ्जानान्तु पर्णेके ॥ कुम्भी तिन्दुकयोर्व्वाऽपि कोविदारार्क्योस्तथा । आपद्यपि न कांस्ये तु मलाशी कांस्यभोजनः ॥ सौवर्णे राजते ताम्रमये वा त्रपु-सोसयोः" — इति ।

भोजन-नियममाह स एव। "भिक्षाचर्यादुपावृत्तो हस्तौ पादौ च प्रक्षालयाचम्यादित्यस्याग्रे निवेदयन्नुदुत्यं चित्रमिति ब्रह्मयज्ञानमिति च उद्धयं तमसस्परीति च जिपत्वा भुञ्जीत" – इति। नृसिंहपुराणेऽपि,—

'ततो निवर्य तत्पात्रं संस्थाप्याचम्य संयमी।
चतुरङ्गुलेषु प्रक्षाल्य ग्रासमात्रं समाहितः॥
सर्व्याविदेवमूतेभ्यो दत्त्वाऽन्नं प्रोक्ष्य वारिणा॥
मुठ जोत पर्णपुटके पात्रं वा वाग्यतो यतिः।
मुङ्वा पात्रं यतिनित्यं क्षालयेनमन्त्रपूर्व्वकम्॥
न दुष्येत्तस्य तत्पात्रं यञ्चेषु चमसा इव।
अथाचम्य निरुद्धा सु रुपतिष्ठेत मास्करम्॥
जप-ध्यान-विशेषेण दिनशेषं नयेद्धुधः।
कृतसन्ध्यस्ततो रात्रं नयेद्वेव-गृहादिषु॥
हत्पुण्डरोकनिलये ध्यात्वाऽऽत्मानमकल्मषम्।
यतिर्धम्मरतः शान्तः सर्व्वभूतसमो वशो॥
प्राप्नोति परमं स्थानं यत्प्राप्य न निवर्तते" — इति।

कुम्म्पुराणेऽपि. —

"आदित्ये दर्शयित्व ५ननं मुञ्जीत प्राङ्मुखो यतिः। हुत्वा प्राणाहुतीः पञ्चप्रासानष्टौ समाहितः। आचम्य देवं ब्रह्माणं ध्यायीत परमेश्वरम् । प्राग्रात्रेष्पररात्रे च मध्यरात्रे तथैवच ॥ सन्ध्यास्वह्नि विशेषेण चिन्तयेन्नित्यमीश्वरम्"— इति ।

अथान्येयतिधर्माः।

तत्राहात्रिः, —

"अतः परं प्रक्ष्यामि आचारो यो यतेः स्मृतः । अम्युत्थान-प्रियालापैर्गुरुवत्प्रतिपूजनम् ॥ यतीनां ब्रतवृद्धानां स्वधम्ममनुवत्तिनाम् । विष्णुरूपेण वै कुर्यान्नमस्कारं विधानतः"— इति ॥

मनुरपि, -

"कृत्त-केश-नल-रमश्रः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेत्रियतो नित्यं सर्व्यमूतान्यपीड्यन् ॥
कपाल वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता ।
समता चैव सर्व्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥
नामिनन्देत मरणं नामिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निद्धेशं भृतको यथा ॥
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपृतं जलं पिवेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमन्देहमाशित्य वैरं कुव्वीत केनचित् ॥
कृद्यन्तं न प्रतिकृद्धचं दाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीणां च न वाचमनृतां बदेत् ॥

^{*} विचरेञ्च यतिनित्यं, — इति सु॰ पुस्तके पाठः ।

अध्यात्मरितरासीनो निरपेक्षो निरामयः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थो विचरेदिह ॥
संरक्षणार्थं भूतानां रात्रावहिन वा सदा।
द्वारीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥
अल्पान्नाभ्यवहारेण रहः स्थानासनेव च।
ह्वियमानानि विषयेरिन्द्रियाणि निवर्चयेत्॥
इन्द्रियाणां निरोधेन राग-द्वेष-क्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते"— इति॥

दक्षोऽपि, —

"नाध्येतव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथञ्चन। एतैः सर्वेः सुनिष्पन्नो यातर्भवति नेतरः" – इति ॥

वृहस्पतिरपि, —

"न किञ्चिद्धे षजादन्यदद्यादा दन्तधावनात्। विना भोजनकालन्तु भक्षयेदात्मवान् यतिः॥ नैवाददीत पाथेयं यतिः किञ्चिदनापदि। पक्कवमापत्सु गृह्होयाद्यावदह्होपभुज्यते*॥ न तीर्थवासी नित्यं स्यान्नोपवासपरो यतिः। न चाध्ययनशोलः स्यान्न व्याख्यानपरोभवेत्"— इति।

नाध्येतव्यमित्येतत् कम्मंकाण्ड-विषयं, अन्यशा "उपनिषदमावर्त्तयेत्" — इति श्रुतिर्वाध्येत । न श्रोतव्यमित्येतद्रब्रह्ममीमांसा-व्यतिरिक्त-विषयम्, "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितष्यः" – इति तन्मीमांसायां

^{*} यज्यते, — इति मु॰ पुस्तके पाठः।

विहितत्वात्। उपपन्नश्च तीर्शोपवासाध्ययन-व्याख्यान तात्पर्यः-निषेधः, निवृत्तिधर्मः-प्रधानत्वात् कैवल्याश्रमस्य। यतः स एवाहः,—

यस्मिन् वाचः प्रविष्टाः स्युः कूपे प्राप्ताः शिला इव ।
न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥
यस्मिन् कामाः प्रविशन्ति विषयेभ्योपसंहताः ।
विषया न पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥
यस्मिन् कोधः शमं याति विफलः सम्यगृष्टिततः ।
आकाशेऽसिर्यथा क्षिप्तः स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥
यस्मिन् क्षान्तिः शमः शौचं सत्यं सन्तोष आर्जत्रम् ।
आकिञ्चन्यमदम्भश्च स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥
वृथा प्रलापो यो न स्यान्न लोकाराधने रतः ।
नान्यविद्याऽभियुक्तश्च स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥
अतीतान्न स्मरेद्रोगांस्तथैवानागतानिप ।
प्राप्तांश्च नाभिनन्देत स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥
अन्धवन्मूकवत् पङ्गु-विधर-क्लीववच्च यः ।
आस्ते व्रजति यो नित्यं स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥

उक्तधम्मीपेतं यति प्रशंसति दक्षः, —

"सिञ्चितं यद् गहस्थस्य पापमामरणान्तिकम्। निर्दिहिष्यति तत् सर्व्वं मेकरात्रोषितो यतिः। संन्यस्यन्तं द्विजं दृष्टा स्थानाञ्चलति भास्करः॥ एषं मे मण्डलं भित्वा परं स्थानं प्रयास्यति"।

तदेवं यतिधम्मां निरूपिताः।

^{*} नास्त्य यं इलोकः मु॰ पुस्तके ।

उक्तानां ब्रह्मचय्यदिनां संन्यासान्तानां चतुर्णामाश्रमाणां प्रत्येक-मवान्तरभेदाश्चतुर्विधाः। तदुक्तं महामारते, —

"ब्रह्मचारी गृहस्थरच वानप्रस्थोऽथ मिक्षुकः। चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः एकैकस्य चतुर्विधाः" — इति।

तत्र चातुर्विध्यं कात्यायन-स्मृतेव्याचक्षते । "ब्रह्मचारि गृहस्थ-वान त्रस्थ-परिव्राजकार चत्वार आश्रमाः षोड्श-भेदा मवन्ति । तत्र ब्रह्मचारिण २ वतुर्विधा भवन्ति, गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो वृहन्निति। उपन यनादूर्द त्रिरात्रमक्षारलवणाशो गायत्रीमधीते, स गायत्रः। अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणे वेदब्रह्मचर्यं चरेत, प्रतिदं द्वादश द्वादश वा, यावद्ग्रहणान्तं वा वेदस्य, स ब्राह्मः । स्वदारनिरतः ऋतुकालगामी सदापरदार विज्ञतः स प्राजापत्यः । आ प्रायणादुगुरोरपरित्यागी स नैष्ठिको वृहन्निति । गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति, वार्त्ताकवृत्तयः शालोनवृत्तयो यायावरा घोरसंन्यासिकाश्रेति। तत्र वार्ताकवृत्तयः, कृषि-गोरक्ष-वाःणज्यमगहितमुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभि-र्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते । शालीनवृत्तयो यजन्तो न याजयन्तो (-धीयाना नाध्यापयन्तो ददतो न प्रतिगृह्नन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यं जनत आत्मानं प्रश्यन्ते। यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽ-धीयाना अध्याययन्तो ददतः प्रांतगृह्वन्तः शतसंवत्सारिमः क्रियामि-र्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते । घोरसंन्यासिका उद्भूत-परिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन्तः प्रतिदिवसमास्तृतोऽछवृत्तिमुपयुञ्जानां शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते । वानप्रस्था अपि चतुर्विधा-भवन्ति, वैसानसा औदुम्बरा वालसिल्याः फेनपारचेति। तत्र, अकृष्टपच्यौषधि-वनस्पतिभिग्नीमविहष्कृतामिरग्निप्रचरणं वैखानसा कृत्वः पञ्चयज्ञक्रियां निर्वर्त्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते । औदुम्बरा

वदर*नोवार-रयामाकैरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चयज्ञक्रियां निर्वर्त्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते । वालखिलया जटावराञ्चीर-चर्म-वल्कल-परिवृताः कार्तिक्यां पौर्णमास्यां पुष्पफलां मुत्सृजन्तः शेषानष्टौ मासान् वृन्युपार्जनं कृत्वाऽग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्त्तयन्त आत्मान प्रार्थयन्ते । फेनपा जोर्ण-पर्ण-फल-भोजिनो-यत्र तत्र वा वसन्तः । परिब्राजकाअपि चतुर्विधा मवन्ति, कुटोचरा-वहूदकाः हंसाः परमहसारचेति । कुटोचराः स्वपुत्र-गृहेषु मैक्षचय्यां चरन्त आत्मान' प्रार्थयन्ते । वहूदकास्त्रिदण्ड-कमण्डलु-जल-पवित्र-पादुकाऽ ऽसनशिसा-यज्ञोपवीतकाषायवेषधारिणः ब्राह्मणकुलेषु भैक्षं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते । हंसा एकदण्डधराः शिखा विज्ञोपवीत-धारिणः कमण्डलुहस्ता ग्रामैकरात्रवासिनो नगरै तीशेषु रिपञ्चरात्रं एकरात्रं द्विरात्रं रि कृच्छ्चान्द्रायणादि चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते । परमहंसा नाम एकदण्डधराः मुण्डाः । कन्था-कौपोन-वाससो व्यक्तलिङ्गा अनुन्मत्ता उन्मन्तवदाचरन्तस्त्रदण्ड-कमण्डलु-शिक्यपद्मजलपवित्रपादुकाऽऽसन शिखा-यज्ञोपवीत्रत्यागिनः शून्यागार-देवगृह वासिनो न तेषां धम्भी ना धम्भी वा, न सत्य नापि च।नृतं सर्वतमाः समलोब्टाश्मका**ऽ**चनाः, यथोप्यन्न चातुर्व्वर्णे भैक्षचय्याञ्चरन्त आत्मानं मोक्षयन्ते ।

"तेषामुपन्नमो धम्भौनियमो वनवासिनाम् । दानमेक गृहस्थानां शुश्रूषा ब्रह्मचारिणाम्"— इति ॥

^{*} वदर, — इति नास्ति स॰ शा० पुस्तकयोः।
र्गं प्रवक्तक, — इति मु० पुस्तके पाठः।
र्गि शिखावर्ज, — इति स० शा० पुस्तकयोः पाठ।
र्गे तीर्थेष्टौ च, — इति मु० पुस्तके पाठः।

^{ों} एकरात्र' द्विरात्र', — इति नास्ति स० शा० सो० पुस्तकेषु । ाँ मुण्डाः, — इति नास्ति स० प्रस्तके ।

युक्तञ्च परिव्राजकानामात्म-मोक्षणम्, तत्त्वज्ञान-पर्य्यवसायित्वात् पारिव्राज्यस्य । एतदेवाभिष्रेत्य एवं निर्वे बनं स्मृत्यन्तरे दर्शितम्,—

"परिवोध त् परिच्छेदात् परिपूर्णावलोकानात्। प रपूर्ण-फलत्वाच्च परिव्राजक उच्यते। परितो व्रजते नित्यं पर वा व्रजते पुनः। हित्वा चैवापर जन्म परिव्राजक उच्यते" — इति।

तदेवमध्यायादौ मूलवचने, "चातुर्विग्याश्रमागतम्" – इत्याश्रमशन्देन बुद्धिस्था आश्रमचतुष्टय-धम्माः परिसमापिताः, — इति ।

> द्वितीये त्वध्याये स्फुटमिमिहितोजीवनकृते रुपायः कृष्यादिः पुनरश्च समस्ताश्रमगताः। गरीयांसो धर्म्माः किमिप विवृताः स्वाश्रमपदा — त्तमेवं व्याकार्षोन्महितिधषणोम धव-विमुः॥

इति श्रीमहाराजाधिराज - परमेश्वर वैदिकमार्गप्रवर्त्तक - श्रोवोरवुक -भूपाल-साम्राज्य-घुरन्धरस्य माधवामात्यस्य कृतौ पराशरस्मृति -व्याख्यायां माधवीयायां द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ सृतीयो १ स्यायः।

ॐ नमः शिवाय ॥

प्रथम-द्वितीयाध्यायाभ्यां चातुर्विण्यंश्रमाः साक्षात्प्रतिपादिताः, आश्रमधम्मीरं च सूचिताः। तेषु च धम्मेषु शुद्धस्यैवाधिकारः,

^{*} नस्त्यर्थं इलाकोबङ्गाय पुस्तकेषु । क्वांचत्रु पुस्तके तृतीयाध्यायस्यादौ इलोकोऽय दृश्यते ।

"शुचिता कम्मं कर्तव्यम्" – इति श्रुतेः। सा च शुद्धर्यद्यपि पुरुषस्य स्वामाविकी तथापि केनचिदागन्तुकेन शौचार्येन दोष- रूपेण पुरुषगतातिशयेन किचत्कालं प्रतिबध्यते। तन्नाशौचं कालेयत्तास्नानाद्यपनोद्यं, अतस्तृनोयेऽध्याये तत्त्रतिपादिष्पादौ प्रतिबन्धापगमेनोत्तिस्मतां शुद्धि प्रतिज नीते, —

अतः शुद्धिं प्रवक्ष्यामि जनने मरणे तथा । इति ।

यतो जननमरणयोधंममीधिकार परिपन्धिनयशुद्धिः प्रोप्तोति अतः स्तिवर्त्तकोपाय-त्रितपःदनेन शुद्धि प्रवक्ष्यःमि । जनन-मरणयोश्च अशुद्धि-प्रापकत्वं मनुना दिशितमः, —

"दन्तजातेऽनुजाते च कृतच'ले च संस्थिते । अशुद्धा वान्धवाः सन्वें सूतके च तथोच्यते" — इति ॥

प्रतिज्ञातां शुद्धिं वर्णानुक्रमेण दर्शयति, —

दिनत्रयेण शुद्धचन्ति ब्राह्मणाः प्रेत्सूनके ॥ १ ॥ क्षत्रियो द दशहिन वैश्यः पञ्चदशाहकैः । श्रूदः शुद्धचित मासेन पराशर-वचो यथा॥ २ ॥

ननु दिनत्रयेण शुद्धचन्ति बाह्मणाः, — इत्येतद्वहु-स्मृति-विरुद्धम्। तथाच दक्षः, —

"शुद्धयेदिप्रो दशाहेन द्वादशाहेन मूमिपः । वैश्यः पञ्चदशाहेन श्रुदो मासेन शुद्धचित" — इति ।

देवलोऽपि, —

"दश'हं ब्रह्मणानान्तु क्षत्रियाणां त्रिपठचकम् । विंशद्रात्रं तु वैश्यानां श्रुद्राणां मासमेव हि" — इति ॥ वसिष्ठोऽपि, —

"व्राह्मणो दशरात्रेण पञ्चदशरात्रेण क्षत्रियः। वंश्यो विंशतिरात्रेण शूद्रो मासेन शुद्धचति" — इति॥

नैषदोषः । विशेषु त्रयहाशौचस्य समानोदक-विषयत्वात् । तथाच मनुः — "त्र्यहात्तू दकदायिनः" — इति । दशाहाशौच-प्रतिपदकानि दक्षादि-वद्यनानि सिपण्ड-विषयाणि,

"दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु बिधीयते" —

इति मनुस्मरणात् । कूम्मंपुराणेऽपि, —

"दशाहं शावमाशीचं सिपण्डेषु विपश्चितः" — इति ।

वृहस्पतिरपि, -

"दशाहेन सिपण्डास्तु शुद्धबन्ति प्रेतसु कि । त्रिरात्रेण सकुल्यास्तु स्नात्वा शुद्धचन्ति गोत्रजाः"—इति ।

ननु, क्षत्रियो द्वादशाहेन, — इत्येतदप्यनेकस्मृतिविरुद्धम्। तत्र, विसम्बद्धवेवलाभ्यां क्षत्रियस्य प्रव्वदशाहाशीचमुक्तं, तद्वचनं चोदा-हतम्। शातातपस्त्वेकादशाहमाह, —



पराशरमाधवे

अत्र ६७२ पृष्ठातः ६७६ पृष्ठाया न्यूनत्त्रेऽपि न पाठन्यूनता
आञ्चङ्कनीयेति पाठकैरवधातव्यम् ।



"एकादणाहाद्राजन्योवैश्वोदादणभिस्तथा। श्रद्गोविंगतिराचेण ग्रुद्धते स्तस्रतके"-दति। बद्धपराथरोऽपि,—

> "चित्रयस्त दशाहेन स्वक्षमिन्तः ग्रुचिः। तथैव दादशाहेन वैग्यः ग्रुद्धिमवाप्रुयात्"—इति॥

श्रवीच्यते । विद्यातपमोस्तार्तम्येन विरोधः समाधेयः । यावद्या-विद्यातपमी विवर्द्धते, तावत् तावदाशोचं संकुच्यते । श्रतएव याज्ञवस्क्योन्यायवर्त्तनः श्रूद्रम्यायर्द्धमाशौचमारः,—

"च चस्य दादशाहानि विशः पञ्चदशीव तु।

चिंग्रदिनानि श्रूद्रस्य तदर्द्धं न्यायवर्त्तनः"—इति ।

देवलोऽघेतदेवाभिप्रेत्य विषादीनामाग्रीच-तारतस्यमाइ,-

"चलार्यधीतवेदानामहान्याभौचिमियते ।

वेदाग्नि-युक्त-विषय यहमाशौचिमयते॥

एताभ्यां श्रुत-युक्तस्य दिनमेकं विधीयते।

एतैः साकं कर्म-युक्तः भद्यः गुःचिरसंग्रयः॥

एतेर्युक्तस्य राजम्त दादशैकादशादश।

े वैभ्यस्यैवं पञ्चदशदादश्वैकादश क्रमात्॥

श्रर्द्धमामन्तु ग्रश्रूषोः श्र्द्रस्वाग्रौचिमयते"—इति ।

यनु, चित्रयादेस्तिपञ्चकादिकं तेनैवोक्तं; तिद्धातपोरिहत-विषयम्,

"प्राक्ततानां तु वर्णानामाश्रीचं संप्रकीर्त्तितम्"—इति वाक्यश्रेषात्।

दत्तोऽपि दग्न पचानुपन्यस, गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्ववस्था-माइ,—

> "मद्यः भौतं तथैकाहं ऋहञ्चतुरहस्तया । षड्-दश-दादशाहञ्च पनोमामस्तयैवच ॥ भग्णानं तथा चान्यत् पत्ताश्च दग्र स्नुतके। उपन्यास-क्रमेणैव वनाम्यहमग्रघतः॥ युन्यार्थतोविजानाति वेदसङ्ग-समन्वितस् । मकल्पं मरहस्यं च कियावां श्रेत्र स्नुतकम्॥ राजर्विग्दीचितानाञ्च वाले देशान्तरे तथा। व्रतिनां मिन्तणां चैव मद्यः घोचं विधीयते॥ एकाहाच्छुध्यते विष्रोयोऽग्नि-वेद-समन्वितः। इं!ने हीनतरे वाऽपि चहस्रतुरहस्तथा॥ तया हीनतम चैव षडदः परिकीर्त्तितः। ये द्याहादयः प्रोतावर्णानान्ते यथात्रमम्॥ त्रवाला चाष्यज्ञला च श्रदलाऽश्रंसाया दिज:। एवं विधस्य विप्रस्य सर्वदा स्नृतकं अवेत्"—इति ।

त्रत्र, 'चलार्यधीतवेदानाम्'—दत्यादिनोक्तोऽघ-संकोचोयुगान्तर्-

"साधाय-रत्त-मापेचमघ-मंकोचनं तथा"— दत्यनुक्रस्य,

"कलो युगे विमान् धर्मान् वर्ज्यानाज्ञर्मनीषिणः"—इति स्रायन्तरेऽभिधानात् । "दशाइएव विष्रस्य सिपण्डमर्णे मिति। कल्पान्तराणि कुर्वाणः कलौ व्यामोद्दकिल्विषी" दित

हारीत-वचनाच । जकरीत्या चित्रयादेखेऽपि वचनान्तर-विरोधः पिरहर्त्त्यः । एवच्च मित, विप्रस्य ममानोदकेषु विरावं मिपिष्डेषु दश्रगाचम् । चित्रयादीनां दादशाहादि यन्त्रृज्वचनोक्तं,तदेव स्थितम् । यद्यपि चित्रय-वैश्ययोः पञ्चदशाह-विंगतिगाच-वचनानुमारेण दाद-शाह-पञ्चदशाहाशोच-वचनं गुणवदघ-मंकोच-पर्मिवाभाति, देवजञ्च गुणवदिषयानेनेवोदाजहार, तथापि शिष्टाचारादे स्मृत्यनुग्रहाच चित्रय-वैश्ययोम्ब्रुज्वचनोक्तएव सुख्यः कन्त्यः । श्रतएव मनु-कूर्म-द्वाः,—

"शुद्धोि दिप्रोदशा हैन दादशा हैन भूमिएः। वैश्यः पञ्चदशा हैन शूद्रोमा सेन शुद्धाति''—इति। मार्काण्डेयोऽपि,—

"दशाहं त्राह्मणिक्तिष्ठेद्दानहोमादि-वर्जितः। चित्रयोदादशाहन्तुः वैग्योमामार्द्धमेवन ॥ श्रूद्रस्तु माममामीत निज-कर्म-विवर्जितः"—इति।

व्हस्पतिरपि,-

"चिचियोदादशाहेन ग्रुद्धाते स्तस्ति । वैश्यः पञ्चदशाहेन श्रुद्दोमाचेन ग्रुद्धाति" दित् ।

विष्णुरिष । "त्राह्मणस्य सिषिण्डानां जनन-सर्णयोर्द्धणाइमाणीचं दादणाचं राजन्यस्य पञ्चदणाचं वैष्यस्य भाषः ग्रहस्य"—इति । पञ्चदणाद-विषातिराच-वचनं तु यावळ्जीवाणीच-वाक्यसिव निन्दा- परलेन युगान्तर-विषयलेन वा* व्याख्येयम्। 'पराग्ररावचोयया'— इत्यनेन खमतलं दर्भयन मतानारेख्यप्य-संकोच-विकास-पराणि वचनानि मन्तीति स्वचयति। तानि चामााभिर्व्यवस्थापितानि। उत-स्थाभौ चस्य कर्म्याधिकार-परिपन्थितात् सन्ध्याद्युपासनस्यापि निद्य-निप्राप्तावपवादमाह,-

उपासने तुं विप्राणामङ्ग-शुडिश्व जायते॥२॥ इति।

उपासनं सन्ध्यावन्दनाग्नि हो चाद्यनुष्ठानं, तस्मिन् प्रमते ताल्का-लिकी गरीर-गुद्धिभवति। तदाइ गोभिल:,--

"त्रग्निहोत्रादि-होमार्थं ग्रुद्धिसात्कालिको स्पृता। पञ्चयज्ञान कुर्व्वीत ह्यशुद्धः प्नरेव मः"—इति । यावत्कालेनाग्निहोत्रं निष्पद्यते, ताबदेव ग्रुद्धिनं त्रपरि। पुलस्योऽपि,—

> "मन्ध्यामिष्टिं चहं होमं यात्रज्जीवं ममाचरेत्। न त्यजेत् स्रतने वाऽपि त्यजन् गच्छत्यधोदिजः॥ स्रतके स्टतके चैत्र सन्ध्याककी न सन्धजेत् । मनमोचार्येन्मन्त्रान् प्राणायामस्ते दिजः"—इति।

श्रञ्जलि-प्रचेपे तु वाचिकोचारणमभिष्रेत्य पैठीनसिराइ। "स्वतं बाविचाऽचि प्रिषय प्रदिष्णं कला सूधें धायन्मस्क्यात्"। मनमोचारणस्य मार्जनादि-मन्तेव्यपि सिद्धलादञ्जलौ विशेष-विधानं वाचिकाभिप्रायम् । यन् मनुनोक्तम्,—

^{*} युगान्तरविवयत्वेन वा, इति मुद्रितातिरिक्तपुक्तकेषु न दृश्यते। ं समाचरेत् इति सा॰ एक्तके पाठः।

"उभयत्र दशाहानि जुलस्थातं न भुत्राते। दानं प्रतिग्रहोहोमः खाध्यायश्च निवर्तते"-दति। तत् स्मार्त्त-वैश्वदेवादि-विषयम्। तदाह जाद्यकर्णः,-"पञ्चयज्ञ-विधानञ्च न कुर्यान्मृत्युजन्मनाः"—दति। यन्तु जावालेनोक्तम्,—

"सन्ध्यां पच महायज्ञानित्यनं स्वितनमं च।
तन्त्रध्ये हाययेदेव श्रशीचान्ते तु तत्किया"—इति।
तदाचिक-सन्ध्याऽभिप्रायम्। स्नार्त्त-कर्म-वर्जनं खयं कर्दकविषयं, श्रन्येन तु कारयेदेव। नदाइ यहस्पतिः,—
"स्वतने स्वतने चैव ह्यश्रनी श्राह्य-भोजने।
प्रवासादि-निमित्तेषु हावयेन तु हापयेत्" ॥

जात्रकर्षाऽपि,—

"स्त्रतके तु ससुत्पन्ने सान्तं कर्म कथं भवेत्। पिण्डयज्ञं चहं होसमसगोत्रेण कारयेत्"—इति।

मूल-वचने विप्र-ग्रहणं चित्रचादीनासुपलचणम् । दिविधञ्चा-ग्रह्णित्वं कम्प्रानिधकार-लचणमस्पृष्यत-लचणञ्च । तचाङ्गग्रह्मिर-त्यनेनैकस्य नियम्तिक्ता, चकारेणापरस्यापि । यथाऽग्रोचे तात्का-लिकी दिविधाऽग्रह्मिस्या जननेऽपि तत्प्राप्तो विशेषमाइ,—

ब्राह्मणानां प्रस्तो तु देहस्पर्शाविधीयते। इति। जनने यपिण्डानां यार्वकालिकोऽङ्गसर्गः, न तु प्रावतत्तान्ता-लिकः। त्रतप्रवापस्तम्बः,—

[#] होससन्यगोचेया,—इति सु॰ पुत्तने पाठः।

"स्तके स्नितका-वर्ज्जं संस्पर्भान निविध्यते। संस्पर्भे स्नितिकायास्त स्नानसेव विधीयते"—इति ॥ कूर्षेऽपि,--

"स्नतने तु सपिण्डानां संस्पर्धानेव दुख्यति"-इति । पैठीनसिर्पि,—

"जनौ मिपण्डाः ग्रुचयोमातापिचोम्त स्वतकम् । स्वतकं मातुरेव स्वादुपस्पृष्य पिता ग्रुचिः"—इति । जनने मातापित्व-व्यतिरिकाः मर्वे मिपण्डाः स्पृष्याः, मातापि-चोम्तु नास्ति स्पृष्यत्वम् । तचापि पिता स्वानेन स्पृष्योभवित, दशाइमस्पृष्यत्वं मातुरेव । तथा च वसिष्ठः,—

"नाग्रोचं विद्यते पुंसः संसर्गञ्चेत्र गच्छति। रजस्तनाग्रुचि ज्ञेयं तच पुंसि न विद्यते"—इति। संवर्त्तीऽपि,—

"जाते पुत्रे पितुः स्नानं मचेलन्तु विधीयते।

माता ग्रिडोद्गारेन स्नानान्तु स्पर्गनं पितुः"—इति।

मरणे वर्णानुक्रमेण ग्रुद्धिर्दिर्भिता। इदानी जननेऽपि वर्णन्क्रमेण ग्रुद्धिर्दिर्भिता। इदानी जननेऽपि वर्णन्क्रमेण ग्रुद्धिं दर्भयति,—

जाती विप्रोदशाहेन दादशाहेन सूमिपः॥ ३॥ वैश्यः पञ्चदशाहेन सूद्रोमासेन सुद्धाति। इति।

जाती जनने । स्पष्टमन्थत् । द्रयञ्च ग्रद्धिः कमाधिकार-विषया । समनन्तरातीतेन वचनेन स्पर्ध-विषयायाः ग्रद्धेरुकत्वात् । जन्म-दिवसे तु नास्त्यग्रद्धिद्दीनादि-विषये । श्रतएव मनुः,— "जाते सुमारे तददः कामं सुर्यात् प्रतिग्रहम् । हिरण्य-धान्य-गो-वामित्तिलानां गुड-पर्णिवाम्"—इति । ग्रांखिलिखिनौ । "सुमार-प्रमवे प्राङ्गाभिच्छेदनात्" गुड-तिल-हिरण्य-वस्त-प्रावर्ण-गो-धान्यानां प्रतिग्रहेष्यदोषः, तदहरिष्टोके"। दृद्ध-याश्चवस्क्यः,—

"कुमार-जन्म-दिवसे विष्टैः कार्यः प्रतिग्रहः। हिरण्य-भू-गवाश्वाज-वासः-ग्रव्याऽऽसनादिषु॥ तत्र सब्वैं प्रतिग्राह्यं कृतान्त्रन्तु न भत्तयेत्। भत्तयिवा तु तन्मोद्दाद्दिजश्वान्द्रायणश्चरेत्"-द्दति। बौधायनोऽपि,—

"गुड़तेल-हिरणानाङ्गोधान्यानाच वाषमाम् । तस्मित्नहनि दानञ्च कार्यं विष्रैः प्रतिग्रहः ।। प्राङ्गाभि-च्छेदमाद् ग्राञ्चाणितानीत्यपरे जगुः"—इति ।

यास्तु जन्मदाखाः स्नृतिकारम्हाभिमानिन्योदेवताः , तार्षां पूजायां प्रथम-षष्ठ-दश्रम-दिवसेखाः द्विनीस्ति । तथा च वासः,—

"स्रतिकाऽ वास-निखयाजनं दानाम देवताः। तासां याग-निमित्तन्तु ग्रुद्धिर्जन्मिन कीर्त्तिता॥ प्रथमे दिवसे षष्टे दश्रमे चैव सर्वदा। चिस्त्रेतेषु न कुर्वीत स्रतकं पुत्त-जनानि"—इति।

नाभ्यामिक्झायां,—इति मु॰ प्रस्तके पाठः।

[†] विद्रैः कार्यः प्रतिग्रन्हः,—इति मु॰ पुत्तके पाठः।

[‡] स्तिकाभिमानिन्धोदेवताः,—इति पाठोवक्रीयपुक्तकेषु प्रायः।

मार्क्क खेरीऽपि,—

"रचणीया तथा षष्ठी निमा तच विभेषतः। राचौ जागरणं कुर्याच्चन्मदानां तथा विलम्॥ पुरुषाः मस्त-इस्ताञ्च नृत्य-गीतेञ्च योषितः। राचौ जागरणं कुर्युर्दमसां चैव स्ततके"—इति॥ यचिक्रिसोक्तमः—

"नाशोचं स्रतके प्रोक्तं सिपण्डानां कियावतास्"—इति।
तत्पूर्व्वोक्ताहोचादि-विषयत्वेन वा समनन्तरोक्तजन्मदानां विलविषयत्वेन वा नेत्यम्। अन्यथा 'जातो विप्रोदशाहेन'—इत्येतदचनं निर्विषयं स्थात्। उकस्य प्रेताशोचस्य जाताशोचस्य च कचित्
संकोचमाइ,—

एकाहाच्छुद्यते विप्रोयोऽग्नि-वेद-समन्वितः ॥ ४॥ व्यहात् केवलवेदस्तु दिहीनादशभिहिनैः। इति।

!

चाहिकविषयं, श्रमंकुचित- दत्तेषु दशाहम्,—रति व्यवसा। एत-सुकरीत्या,—

"मद्यः श्रोचं तथैका इं श्रवस्य तुरस्त्रया । व्याद्य त्राद्याद्या हानि पचीमा सम्वीवच"—इति

द्वोकाः पचाव्यवस्थापनीयाः। वृत्ति-संकोचेनाश्रोच-संकोचमाइ संग्रहकारः,—

"शिलोञ्कायाचितैर्जीवन् सद्यः ग्रुखोद्दिजोत्तमः"—इति। नन्, विद्वदिषयलेनैवायमाश्रोच-संकोचः सर्वकर्षस् किस्रेयते, 'योऽग्नि-वेद-समन्वितः'—इति विशेषण-सामर्थात्। तन्नां,

"द्याइं प्रावमाग्रीचं मिपखेषु विधीयते"—

द्याविश्वेषणः दशाहाशीच-विधानात्। न च, सामान्य-प्राप्तस्य दशाहाशीचस्य विद्विषये वाधः,—इति श्रङ्गनीयः ; वाधस्यानुपप-त्तिकृतुकत्वाद्यावत्यवाधितेऽनुपपत्तिर्न शाम्यति तावदाधनीयं, श्रव चाध्ययन-प्रतिग्रहादिमाचएव दशाहाशीच-वाधेनैकाहाशीच-विधानस्य चितार्थत्वात्र सर्वेच दशाहाशीच-वाधः। श्रग्न-वेद-समन्तितम-श्रक्षनिकस्यैकाहाशीच-विधि-स्तत्यर्थं, न लेकाहाशीचविध्यधिकारि-विशेषणम्। यन्तु,—

"उभयत्र द्यासानि कुलखात्रं न भुज्यते । दानं प्रतिग्रहोहोमः खाध्यायस्य निवर्तते—इति

[#] सर्वकमास, - इति गास्ति मु॰ पुस्तके।

[†] खत्र, 'बाचार्यशिवापि'—इबिधकमिल मु॰ पुलके ।

[‡] इति विश्रेषेण,—इति सु॰ एसाने पाठः।

मनुना प्रतिग्रहादि-निषेधनं क्रतम्, तदमंकुचितविच्यम् । यदा, जन्नापनाद-प्रतिप्रमन्नाभिप्राधेण वा नेयम् । यदि वृत्ति-मंकोचामंकोचानेनाग्रीच-मंकोचामंकोच्योः कार्णं, तह्यव्यन्तामंकुचि-तव्निर्निण्यामरणमाग्रीचं प्राप्नोतीत्याग्रंक्याग्रीचानिधं दर्भयति,

जन्म-कर्मा-परिसृष्टः सन्धोपासन-वर्जितः। नामधारक-विप्रस्तु द्शाहं स्नतकी भवेत्॥ई॥ इति।

जन्म-कर्म-परिश्नष्टः गर्भाधानादि-संस्कार-रहितः, सन्ध्योपासन-वर्जितः सन्ध्योपासनादि-नित्य-नैमित्तिक-कर्माण्यकुर्व्वाणः । ज्ञत-एवासौ नामधारक-विप्रोभवित् । तस्यापि दशाहमेवाशौचम् । नाम-धारक-विप्र-खद्धपं दर्शयित व्यासः,—

> "ब्रह्म-वीज-समुत्पन्नोमन्त-संस्कार-वर्जितः । जातिमाचोपजीवी च स भवेन्नाम-धारकः॥ गर्भाधानादिभिर्युक्तस्त्रथोपनयनेन च । न कर्मवित् न वाऽधीते स भवेन्नाम-धारकः"-इति।

ननु, संस्कार-रहितस्य नामधारक-विप्रस्य सरणान्तिकमाण्णीचं कूर्मपुराणेऽभिह्निम्,—

"क्रिया-हीनस मूर्खस महारे।गिणएवच। यथशेचरणसाडमरणान्तमधोचकम्"—इति॥ दचोऽपि.—

 ^{&#}x27;यदा'—हत्वादि, 'नेयम्'—हत्वनां नान्ति नद्गीयपुक्तकेषु, खी॰
 गा॰ पुक्तके च।

"व्याधितस्य कर्वस्य स्था-यसस्य धर्वरा । क्रिया-हीनस्य मूर्खस्य स्ती-जितस्य विशेषतः॥ व्ययनायक-वित्तस्य पराधीनस्य नित्यशः। श्राद्ध-कर्म-विहीनस्य भसान्तं सृतकं भवेत्॥ नासृतकं कराचित्यार्यावक्रीवन्त् सृतकम्"-इति।

तत् कथं दशाहाशौचिमिति। उंचिते। निन्दार्घवादलादेतेषां वचनानां न यावक्रीवाशौच-विधि-प्रतम्। श्रन्यथा,

नामधारकविप्रस्त दशाइं सूतकी भवेत्"-

दत्येतद्वनं विष्येत । चतुर्णामिषवर्णानामाश्रीचमिभधायाधु-नोत्तमवर्णेन हीनवर्णास्तत्पन्नानामुत्तमवर्ण-मंबिष्यिन जनने मर्णे चाश्रीचमाह,—

एकपिएडास्तु दायादाः पृथग्दार-निकेतनाः। जन्मन्यपि विपत्ती च तेषां तत्स्रतकं भवेत्॥७॥ इति।

एकः पिण्ड उत्तमवर्ण-दे हः उत्पादका येषान्ते तथा। पृथादारा-निकेतनाः हीनवर्णाः स्तियः निकेतनानि अत्पत्ति-स्थानानि येषान्ते तथा। दायादाः पुनाः। तेषासुत्तमवर्ण-संवन्धिनि जनने मर्णे च स्रति, तत्सृतकसुत्तमवर्ण-संवन्ध्याशीनं भवेत्। तथा च मनुः,—

"अर्वेषू त्मम-वर्णानामाश्रीचं कर्युराहृताः। तदर्ण-विधि-हृष्टेन खाशीचनु ख-योनिषु"—इति॥

श्रयमर्थः । सर्वे दीनवर्णाउत्तमवर्णानां संबन्धिनि जनने मर्णे वा उत्तमवर्ण-विधि-दृष्टेन दग्रराचादिकाग्रीचं कुर्युः, खयोनिषु जातेषु स्तेषु च खाग्रीचं कुर्युः । कीर्सेऽपि,— "ग्रह-विट्-चित्रयाणान्तु ब्राह्मणे संस्थिते सित । दणराचेण ग्राह्मः स्थादित्याच कमलोङ्गवः"—इति ॥ देवलोऽपि,—

'सर्ववर्णेषु दायादाये खुर्विप्रस्य वान्धवाः।
तेषां दशासमाश्रीचं विप्राश्रीचे विधीयते"—इति॥
एतसाश्रीचमविभक्त-विषयम्। तथासापस्तम्वः,—
"चन-विट्-श्र्द्र-जातीनां यदि स्ताम्टत-स्रतके।
तेषान्तु पैत्वकाश्रीचं विभक्तानान्वपैत्वकम्"—इति॥

त्रपैत्व मात्रजातीयमित्यर्थः । त्रधमवर्ण-संबन्धिन जननादौ उत्तमवर्षस्य यदाशौचं, तद्कं कृक्षपुराणे,—

> "षड्राचं स्थात् चिराचं स्थादेकराचं क्रमेण तु। वैश्य-चिचय-विपाणां शुद्रे स्वाग्रौचिमस्यते" – इति ।

विष्णुरिष । "ब्राह्मणस्य चित्रय-विट्-श्र्देषु सिषिण्डेषु बड्डाच-चिराचैकराचै:, चित्रस्य विट्श्र्द्रेषु बड्डाच-चिराचाभ्यां, वेश्यस्य श्रुद्रेषु बड्डाचेण"—इति । यहस्पतिस्तु प्रकाराच्नरेणाशीचमाइ,—

> "दशाहाच्छुध्यते विप्रोजना-हान्योः खयोनिषु । सप्त-पञ्च-चिराचेस्त चच-विट्-श्र्ट्र-योनिषु''— इति ॥

श्रव, षड्राव-सप्तरावादिपचयोर्विकल्पः, खेदादिना वा खवस्या। उमस्य भिन्नजातीय-विषयस्याग्रीचस्य सजातीयेष्विव साप्तपुरुषलप्राप्ती नदविधमाद,—

तावत्तत् स्ततं गीचे चतुर्थ-पुरुषेश तु। इति । तत् स्तकं भिन्नजातीय-धन्तति-विषयोक्तमात्रीचं तावत्, यावत् चिपुरुषं, चतुर्धपुरुषेण तु निवर्त्तते, तत्र सापिण्डानिरनेः।
"सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते।
सजीतायेषु वर्णेषु चतुर्थे भिन्नजातिषु"—इति
रहुपराग्रर-वचनात्। ग्रातातपोऽपि,—

"यद्येकजातावहतः पृथक्वेत्राः पृथाधनाः ।

एकपिण्डाः पृथक्षीचाः पिण्डस्वावर्तते निषु"—इति ।

सजातीरोषु पञ्चमादिष्वाशीच-तारतम्यं वक्तं सापिण्डा-निरुत्ति-

माच,-

दायादिन्छेदमाप्नाति पन्त्रसावाऽऽत्स-वंश्रजः॥८॥ इति।

द्यमञ्चेन पिण्डोलच्यते। तसादिच्छेदमाप्तोति श्रात्मवंश्रजः पञ्चमः। वाग्रव्हात् षष्ठ-मप्तमौ वा। तत्र मापिण्डां निवर्त्तते,—इति। तद्कां गौतमेन। "पिण्ड-निवृत्तिः पञ्चमे मप्तमे वा"—इति। वाग्रव्हात् षष्ठे॥ यद्थं सापिण्डा-निवृत्तिः प्रमे न्यत्रे तार्द्रानीमाइ,

चतुर्थे दशराचं स्यात् षण्निशाः पुंसि पश्चमे । षष्ठे चतुरहाच्छुद्धिः सप्तमे तु दिनचयात्॥ ८॥ इति ।

पित्रपत्ते कूटस्यमारभ्य गणनायां चतुर्थे दशरात्रमाशोचं, पश्चमे खड्डात्रं, खष्टे चत्ररात्रं, सप्तमे तिरात्रमिति । नन्, सापिण्डास्य सप्तप्रस्वपर्यान्तवात् सपिण्डेषु चाविशेषेण दशाहाशोचित्रधानादा-श्लोचस्य सङ्गोच-विधानमनुपपत्नम्। सापिण्डास्य सप्तप्रस्व-पर्यन्ततं सत्यपुराणेऽभिहितम्,—

''लेपभाजश्वतुर्घाद्याः पित्राद्याः पिष्डभागिनः ।

सप्तमः पिण्डदश्चेषां सापिण्डां साप्तपुरुषम्"—इति ॥ सनुरुपि,—

> "सपिष्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते । समानोदक-भावस्तु जन्म-नास्नोरवेदने"—दति ॥

षत्यं, तथापि पश्चमादिषु भाषिण्डानिष्टत्तेविकस्पेन स्रतातात् तदन्तेधेनाभौच-मङ्कोच-विधानं विकस्पेन युज्यते । उदाह्तश्च गौतम-वचनं, "पिण्ड-निष्टत्तिः पञ्चमे महामे वा"—इति । पैठी-निष्किपि "चीनतीत्य माहतः, पञ्चातीत्य पिहतः"—इति ।

नन्वेवं तर्षि पञ्चमादीनां ममानोदकलेन, 'श्राहासूदकदायिन:'दित विरावमाश्रोचं प्राप्नुयात् । श्रतः षड्रावादि-विधानमनुपपत्नमिति । सत्यं मञ्जमादिषु विरावाश्रोचं प्राप्नोति, तथापि विशेषविधानादपोद्यते । मामान्यशास्त्रस्य विशेषशास्त्र-विषयेतरविषयलस्य
युक्तलात् ॥ उक्तस्य प्रेताश्रोचस्य कविद्यवादमाह,—

भृग्विप्र-मर्गो चैव देशान्तर-स्ते तथा। वाले प्रेते च सच्यस्ते सद्यः शौचं विधीयते॥१०॥

स्गु: प्रपातः, श्रियः प्रसिद्धः। स्वाध्य-सरणं प्रसादादिना विना दुर्धार्णमात्रोपलचणम्, प्रायश्चित्तान्तरोधात्। तनिभित्ते सरणे सित तसंबन्धिनां सर्वेषां सिपण्डानां सद्यः श्रीचं न तु दशाहाशीचिमिति। तथा च याञ्चवस्यः,—

"इतानां नृप-गो-विष्रेरचचं चात्मघातिनाम्"—इति। नृषेऽभिषिकः चियः। गोष्रब्दः ग्रुङ्गि-दंश्र्वादीनां धर्वेषासुप-

चच, यद्यपि,—इति भवितुं युक्कम् ।

खचकः । विषयइणं चष्डालायुपलवकम् । एतेर्नृपादिभिष्तानां विधिमन्तरेणात्मत्यागकारिणां ये मंबन्धिनः मिष्डाः, तेषामन्वचं यावच्छव-दर्भनमाभोचं, न तु दशाइपर्थन्तमित्यर्थः। दुर्मृतानाभुदक-दानादिकमपि नास्ति । तथाच मनुः,—

"चण्डालादुदकात् मर्पाद्वाह्यणादैद्युतादिष ।
दंष्ट्रिभ्यञ्च पश्चभ्यञ्च मरणं पापकर्षाणाम् ॥
चदकं पिण्डदानञ्च प्रेतेभ्यायत् प्रदीयते ।
नोपतिष्ठति तत् धर्वमन्तरिचे विनम्यति ॥
नाम्रोचं नोदकं नाश्रु न दाहाद्यन्तकर्षः च ।
ब्रह्म-दण्ड-हतानाञ्च न कुर्यात् कट-धारणम्"--इति ॥
ब्रह्मदण्डोब्राह्यणमापः,श्रिभचारे। वटमब्देन मव-वहनोप-

योगि-कटादिकमभिधीयते। त्रापसम्बोऽपि,—

"वापादयेद् य त्रात्मानं खयमग्गुदकादिभिः। विचितं तस्य नाग्रीचं नापि कार्यादकितया"-इति॥

एतच दृद्धिपूर्वक-मरण-विषयम्। श्रतएव गौतमः। "गो-ब्राह्मण-हतानामन्वचं राजकोधाचाययुद्धे प्रायोऽनामनमस्तामिविषोदको-द्वस्थनप्रपतनैश्वेच्छताम्"—दित । प्रायोमहाप्रस्थानम्, श्रनामनमन-मनम्, प्रपतनं सगुपतनम्। एतेर्बुद्धिपूर्वकं हतानां सपिण्डस्थान्वच-साम्रोचिभित्यर्थः। श्रतश्चेतदुकं भवति। सपीदिना चण्डालादिना वा विग्रहं कुर्वन् यस्तैर्हतः, तस्त्रेवायं पिण्डदानादि-निषेधः। एवं दृष्ट-दंध्यादीन् ग्रहीतुमाभिमुख्येन गच्छतोमरणेऽयमाभौचादिनिषेधः। एवं राष्टाः प्रातिकूच्यमाचरतोमरणे। एवं वाद्यस्यां नदी-तरणेऽपि।

एवं वर्वचानुषत्थेयम्। ऋतएव ब्रह्मपुराणम्,— "एङ्गि-दंष्ट्र-नखि-वाल-विष-वक्ति-महाजनैः। सुदूरात् परिहर्त्तवाः कुर्वन् कीड़ां स्टतन्त वः ॥ नागानां विप्रियं कुर्वन् दम्धञ्चाष्यच विद्युता । निग्रहीताञ्च ये राज्ञा चोरहोषेण कुचित् ॥ परदारान हरनाञ्च रोवात्तत्पतिभिर्हताः। श्वसानैश्व सङ्गीर्णेश्वन्डानारीश्व विग्रहम्॥ छला नैर्निइतास्तदचण्डाचादीन् समाश्रिताः। कोधात् प्रायं विषं विह्नं ग्रस्तसुदन्धनं जलस् ॥ गिरि-वत्त-प्रपातञ्च ये कुर्वन्ति नराधमाः । महापातिकनोये च पतितास्ते प्रकीर्त्तिताः॥ पतितानां न दाइ: खान्नांत्येष्टिन्नां स्थि-सञ्चय:। न वाऽश्रुपातः पिण्डोऽस्य कार्ये श्राद्धादिकं कचित्"-इति॥ चण्डालादि-इतानामग्रि-संस्कार-निषेधीनाहिताग्रि-विषयः। श्राहिताग्नि-विषयले, "श्राहिताग्निमग्निभिर्यञ्चपानैश्च दहेत्" श्रुतिविहिताग्नियञ्चपाचादि-प्रतिपत्ति-लोप-प्रयङ्गादिति । मैंबं, खत्यनारे चण्डालादिइताहिताग्निषंबन्धिनामग्रीनां बज्जपा-नाणां च प्रतिपत्त्यन्तर-विधानात्;

> "वैतानं प्रचिपेदप् प्रावषण चतुष्पणे। पात्राणि तु द्देदग्री यजमाने रूणास्ति। प्रात्मनस्थागिनां नास्ति पतितानां तथा किया॥ तेषामिष तथा गङ्गा-तोथे संस्थापनं हितम्"—हिता।

तस्मात् भर्वेषां दुर्हतानाभिविशेषेण दाहादि-निषेधः। श्रयमा-ग्रोच-श्राद्धादि-निषेधो यावत् मंवत्सरम्। पूर्णे तु मंवत्सरे प्रेतस्य श्राद्धादि-मंप्रदान-योग्यता-सिधायें नारायणविलं कला मर्वमोर्झ-दैहिकं कार्यमेव। तदुकं षट्चिंगनाते,—

"गो-त्राह्मण-हतानाच्च पिततानां तयेवच ।

ऊद्धें मंवत्मगत् कार्यें मर्वमेवौद्धेदेहिकम्"—इति ॥

नागायणवलेच्च प्रेतग्रद्धापादकलं व्यासेनोक्तम्,—

"नागायणं ससुद्दिग्य गिवं वा यत् प्रदीयते ।

तस्य ग्रद्धिकगं कर्मा तद्भवेन्नेतदन्यथा"—इति ॥

भर्प-इते लयं विशेष: ; संवत्सरपर्यन्तं पञ्चन्यां नागपूजां कता संवत्सरानन्तरं नारायणविलं कता मीवणं नागं दद्यात्, प्रत्यचञ्च गाम् । तदुत्रं भविष्योत्तरपुराणे,—

"सुवर्णाकारनिष्यत्नं नागं क्रवा तथैव गाम्। व्यामाय दत्त्वा विधिवत् पितुरानृष्यमात्रुयात्"—इति॥ प्रभाद-सर्णे लाशौचमस्येव। तथाचाङ्गिराः,— "यदि कश्चित् प्रमादेन मियतेऽग्न्युदकादिभिः। विहितं तस्य चाशौचं कार्या चैवोदक-क्रिया ""—इति॥ ब्रह्मपुराणेऽपि,—

"प्रमादाद्य नि:शंकमकस्मात् विधि-चोदित:।

^{*} तस्याम्मीचं विधातव्यं कर्त्तव्या चोदकित्रया,-इति सु॰ पुत्तके पाठः।

ग्रुङ्गि-दंष्टि निख-याल-विप्र * विद्युच्चलाग्निभिः ॥ च खालैर थवा चौरे निंहतोय च कु चित्। तस्य दाचादिकं कार्यं यसान्न पतितस्तु सः"—इति ॥ विधितोस्यविद्य-मर्णे तु विशेषः। तथा च शातातपः,— "रद्धः भोच-क्रिया-ल्प्नः प्रत्याख्यात-भिषक्कियः ॥ त्रात्मानं घातयेद्यस् सम्बग्यनशनादिभिः । तच विरावमागोचं दितीये लस्थि-मञ्चयः॥ वतीये तदकं कवा चतुर्घे श्राद्धमाचरेत्"—इति। श्रस्ति च स्वविद्य-विधिः । तथाचादित्यपुराणे,— "दुश्चिकित्यैर्महारोगैः पीड़ितस्तु पुमान् यदि । प्रविशेञ्चलनन्दीप्तं कुर्धादनश्रनं तथा ॥ श्रगाधतोयराणिं वा स्रगोः पतनसेव वा । गच्छेन्मदापद्यं वाऽपि तुषारगिरिमादरात्॥ प्रयागवटपाखायां देइ-त्यागङ्गरोति वा । उत्तमानाप्रयात् लोकान्नात्मघाती भवेत् कचित्॥ वाराणस्यां मृतोयम् प्रत्यास्यात-भिषक्तिय:। काष्ठ-पाषाण-मध्यम्याजाञ्चवी-जल-मध्यगः॥ त्रविसुकोन्मखस्यस्य कर्ण-मूल-गते। इर:। प्रणवन्तारकं त्रृते नान्यथा कुचचित् कचित्"॥ त्रह्यगर्भः,—

^{*} विष,-इति सु॰ पुन्तके पाठः।

"चोऽन्ष्ठातुं न मक्तोति मोहाञ्चाध्यपपीड़ितः। मोऽग्नि-वारि-महायाचां कुर्वनासुच दुष्यति"—इति॥ देमान्नरस्टतहति, श्रमपिएडे देमान्नरस्टते मद्यः मौचिमत्यर्थः। तदाह सनुः—

"बाले देशान्तरस्थे च पृथक्षिष्डे च मंस्थिते।

सवामाजलमाञ्जल्य मद्यापव विश्वधिति"—दित ॥

देशान्तरस्थालेन च मिष्डो विशिष्यते। देशान्तर-लचणं दृद्धम
नुनोक्तम्,—

"महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः । वाचोयत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुखते"—इति ॥ ब्रह्म्यतिनाऽपि,—

"देशान्तरं वदन्येने षष्टियोजनमायतम्। चलारिंशाददन्येने श्रन्ये निंशानयैव च"—दति॥ योजन-लचणन्तु सात्यन्तरेऽभिहितम्,—

"तिर्चग्यवोदराण्धो पूर्वावा बीच्यलयः"। प्रमाणमङ्गुलस्थोतं वितस्तिर्दादशाङ्गुलम्॥ वितस्तिर्दगुणोऽरिक्सिसान् किष्कुस्ततोधरः। धनुःसदसे दे कोशस्तुःसोद्यनु बोक्यम्"—रित ॥

बालोऽत्राक्तनामा, तिसम् सते वित तस्पिछानां मर्थ-निमिन्ते बद्यः ग्रीचिमत्वर्धः।

श्री चयक्तका, —क्विति कु॰ क्विति पाठः।

तथा च गङ्घः। "प्राङ्नाम-कर्णात्सद्यः ग्रुद्धः"--इति। कात्यायनोऽपि,--

"श्रनिष्टमें दशाहे तु पञ्चलं यदि गच्छति ॥

मद्यापव विग्रुद्धिः स्थात् न प्रेतं नोदकिक्रिया"—इति ।

मातापित्यस्रोदर-व्यतिरिक्त-विषयमेतत् । तथा च व्याप्रः,—

"बाले मृते मिण्डानां मद्यः श्रोचं विधीयते ।

दशाहेनैव दम्पत्योः मोदराणां तथैवच"—इति ॥

जातमृते मृतजाते वा मिण्डानां मद्यः श्रोचम् । जन्मदिवसे

शिग्रुमरणे मात्रादीनां दशाहेनैव ग्रुद्धिः, दिवसान्तरमरणे तु शेषा
स्रोभिर्विग्रुद्धिः । तथा च व्याष्ठः,—

"त्रन्तर्रशाहे जातस्य शिशोर्मिकामणं यदा।

स्रतकेनेव ग्रुद्धिः स्वात्पिचोः शातातपोऽत्रवीत्"—इति । स्वत्यक्तरमपि। "श्रन्तर्शाहोपरतस्य यत् पिचादीनां मरणाशीचं तत् स्वतकाहोभिः"—इति । गच्छतीति श्रेषः । जनन-निमित्तन्ता-श्रीचं सर्वेषामस्थेव । तथा च हार्रोतः । "जातस्वते स्वतजाते वा स्विपिष्डानां दशाहः"—इति । वहस्यतिरिप,—

"द्शाहाभ्यन्तरे वाले प्रमीते तस्य वान्धवै: । शावाशीचं न कर्त्तव्यं सृत्याशीचं समाचरेत्"—इति ॥ एतच नाभिच्छेदादूर्द्धं वेदितव्यम् । तथा च जैमिनिः,— "यावन्न किद्यते नालं तावन्ताशिति सृतकम् । किन्ने नाले ततः पञ्चात् स्नतकन्तु विधीयते"—इति । शाभिच्चेदात् प्राम्बृह्वानुराह,— ''जीवन् जातोयदि ततोस्तः स्तकएव तु । स्रतकं भकलं सातुः पित्रादीनां विरावकम्"—इति । यन्, यहत्प्रचेतोवचनम्,—

"मुह्नमें जीवितोबालः पत्रलं यदि गच्छित । भातः शौचं दशाहेन मद्यः शौचाम्तु गोविणः"—इति ॥ तदिश्चित्राद्यनुष्ठानार्थं मद्यः शौच-प्रतिपादनपर्म् । तथाच श्रह्यः । "त्रश्चित्राद्यनुष्ठानार्थं स्नालोपस्पर्शनात्तत्कालं शौचम्"-इति । संन्यस्ते स्टते सति तत्सिपिष्डानां मद्यः शौचम्। तथाचवामनपुराणम्,—

"बास्ते प्रविज्ञते चैव देशान्तर-स्ते तथा॥
सद्यः श्रीचं समाख्यातं विद्युत्पात-स्ते तथा"—इति ।
स्रित्यन्तरमपि,—

"सर्व-सङ्ग-निरुत्तस्य धानयोग-रतस्य च ।

न तस्य दइनं कार्यं नाग्रीचं नेादक-क्रिया"—ित॥

पूर्व समिपिण्डस्य देशान्तर-गतस्य सर्णश्रवणे तत्-मिपिण्डानां

सद्य: श्रीचसिभिधायाधुना देशान्तर-गतस्य मिपिण्डस्य संवत्सरादूध्यं

सर्ण-श्रवणेऽपि तत्-सिपिण्डानां सद्यः श्रीचं विद्धाति,—

देशान्तर-सतः कश्चित् सगोवः श्रयते यदि॥१०॥ न विराच महोराचं सदः स्नात्वा श्रुचिर्भवेत्*॥ इति।

सगोत्रः सपिण्डः। तस्य देशान्तरगतस्य संवत्यरादू हैं मरण-श्रवणे तत्-सपिण्डानां न चिराचमहाराचं वाऽशोत्रं, किन्तु सदः शौतम्।

सद्यः खानेन मुध्यति,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

इज्ञाहादूर्द्धमर्व्याक् विपचात् विरावं, वण्मामादर्व्याक् पिचणी क्षाचीक् संवत्सरादेकाहिमत्यर्थः । तथाच देवलः,—

"श्रा विषवात् विरावं स्थात् वणसामात् पविणी ततः।
परमेकारमावर्षादृद्धं स्नातोविग्रध्यति"—इति ॥
विण्प्रि,—

"श्रर्वाक् विपचात् विनिशं षण्कामाच दिवाविश्वस्। श्रदः संवत्सरादर्वाग् देशान्तर-स्टतेब्वपि"—इति ॥

श्रव दिवाशब्देनाहर्दयमुख्यते । "धएमाम्यात् पविणी"—इति वचनान्तरात् । याज्ञवल्क्योऽपि,—

"प्रोषिते कालग्रेषः स्थात् पूर्णे दन्नोदकं ग्रुचिः"—इति । प्रेषिते देशान्तरस्ये सपिण्डे स्टते श्राभौचमध्ये श्रुते सित तत्काल-भेषेणेव श्रुद्धिः, पूर्णे मंवत्सरे स्थतीते तन्मरणश्रवणे स्वात्नोदकं दन्ना भ्रुचिभवतीत्यर्थः । तथाच सनुः,—

"संवतारे वातीते तु स्पृष्ट्वेवापोविश्रध्यति"—इति ।

यत्तु गौतमेने। त्रम्,— "श्रुला चोध्वं दशस्याः पिचणी" — इति । त्र्वं स्थास्य स्थास्य दित्रयम्। "वणमामात् पिचणी" — इति देवलस्मरणात्। यत् पुनर्विमष्ठवचनम्— "देशान्तरस्य स्टते ज्ञष्वं दशाहात् श्रुला एकरात्रम्" — इति । यत्र गद्यविष्णुवचनम्, — "यतीते लागोचे संवस्य स्थान्तस्थे क्रते। यत्र गद्यविष्णुवचनम्, — इति । तद्रध्वं पणमामाद्वीक् मंवस्य दित्यस्। "परमेकाह्माव- र्षात्। तद्रध्वं पणमामाद्वीक् मंवस्य दित्यस्। "परमेकाह्माव-

"श्रतीते द्वराचे तु चिराचसग्रचिभवेत्"—इति।

तत् विण्नादर्वाग् द्रष्टयम् । "त्र्वाक् विष्वानिष्मिम्"— इति विज्युम्भरणात् । त्रव मूलवचनोत्तं धद्यःशौचविधानं ज्ञातिमाव-विषयं, पिवादि-विषये तु विशेषः । तथाच पैठीनिधः,—

''पितरौ चेकृता स्थातां दूरस्थाऽपि हि पुचकः।

श्रुत्वा तदिनसार्भ्य दशाहं सतकी भवेत्"—इति ॥ दचोऽपि,—

> ''सहाग्रह्-निपाते तु श्रार्द्रवस्त्रीपवासिना। श्रुत्तेतिऽच्देऽपि कर्त्तव्यं प्रेतकार्यं यथाविधि''—इति॥

संवत्सगदूर्ध्वसपाशौचोदकदानादिकं कार्ये, न पुनः सानमाचा-क्इद्धिकित्यर्थः। पिल-पत्यां माल-व्यतिक्तियां विशेषोदचेण दर्शितः,—

''पिल-पत्यामतीतायां मालवर्ज्जं दिजात्तमः।

संवत्सरे व्यतीतेऽपि चिराचमग्रचिभवेत्" - इति ॥

इदं चातिकान्नाशीचसुपनीतोपरम-विषयम् । तथाच बान्नपादः,-

''तुल्यं वयमि सर्वेषामितकान्ते तथैव च।

उपनीते तु विषमं तिसिन्नेवातिकालजम्" इति ॥

श्रयमर्थः । वणमागदिक्षे वयसि यदाशीचं: "श्रादल्जकानः सद्यः" दत्यादिवचन-विहितं, तसर्वेषां ब्राह्मणादीनां तुत्त्यमित-श्रिष्टम् । श्रितिकान्तं दशाहादिके विरावाद्याशीचं यत्, तत् मर्वेषां समानम् । उपनीते तु स्ति दश-दादश-एञ्चदश-विश्वदिनानीत्येवं विषममाश्रीचं ब्राह्मणादीनाम् । श्रितिकालजमितिकान्ताशीचं तसिन्ने-वोपनीतापरमण्यः, नानुपनीतोपरमेः—इति । जनने लिकान्ता-श्रीचं व्यक्ति । तदाह देवलः — "नाग्रुद्धिः प्रसवाशोचे व्यतीतेषु दिनेष्वपि"—इति । सन्तरपि,—

> "निर्देशं ज्ञाति-सरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च। सवासाजलमाञ्जत्य श्रुद्धोभवति सानवः"-दति॥

श्रव पुत्र-ग्रहणात् निर्दृशेऽपि पितुः स्नानेन शुद्धिः, श्रिपित्डा-नान्वितिकान्ताश्रीचं नास्तीत्यर्थः। श्रन्तर्दृशाचे तु श्रेषाचोभिर्विशुद्धिः। तथाच श्रङ्कः,—

> "देशान्तरगतं श्रुला कल्याणं मरणं तथा। यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाग्रिचिभंवेत्"—इति।

दिविधोहि देशान्तर-स्तः; क्रतसंस्कारोऽक्रतसंस्कारञ्च। तत्र क्रतसंस्कारस्य सरण-अवणे संवत्सरादर्व्वागूर्ट्धं वाऽशोचं वचन-द्रयेन व्यवस्थापितम्। अक्रतसंस्कारस्य सरण-अवणे लाशोचग्रहण-पिण्डदा-नादेः कालविशेषोविविच्यते। अक्रतसंस्कारोऽपि दिविधः, सरण-दिवस-ज्ञानाज्ञानभेदात्। यस्य हि सर्ण-दिवसेविज्ञातः, तस्य प्रत्याब्दिकादि-आद्धं तद्दिवस-एव कर्त्तव्यं, आशोचग्रहण-पिण्डोदक-दानन्वनिषद्ध-नचवादिकं पर्यालोच्य तवानुष्ठेयम्, शिष्टाचारस्य तथा प्रवृत्तलात्। यस्य तु दिवसेवन विज्ञातः, तं प्रत्येतदुच्यते,

देशान्तरगते। विप्रः प्रयासात् कालकारितात्*॥११॥ देह-नाशमनुप्राप्तस्तिथिने ज्ञायते यदि। हाष्णाष्टमी त्वमावस्या हाष्णा चैकादंशी च या॥१२॥

^{*} कालचोदितात्,—इति सु॰ एस्तके पाठः।

उदकं पिएउदानच तच श्राइच कार्येत्*।

तीर्घ- यात्राऽऽदिना केनचित्रिमित्तेन देशान्तर-गतस्य विष्रस्य चिरकाल-वज्ञदेशपर्यटनादि-मम्पादितादायाम-वाज्ञस्याद्यत्र कापि देहनाश्रोभवित, श्रतप्य तन्त्ररण-तिथिन ज्ञायते मरण-वार्ता च यदा कदाचित् श्रुता भवित, तत्र तदीयाश्रोच-स्वीकारसिलोदकपिण्डदानो-पक्तमादिकश्चेत्येतदुभयं कृष्णाष्टम्यादिषु तिस्रषु तिथिष्टिक्स्या कस्यां-चित्तिथौ कर्त्तस्यम् । तस्याभेव तिथावाब्दिकश्राद्वश्च कर्त्तस्यम् ।

यद्यपस्मिन् वचने त्राभौच-स्वीकारः बाचानोपात्तः, तथापि पूर्व्वात्तर-वचनयोराभौच-त्वियवेन तत्प्रकरणवादाभौच-स्वीकारमन्तरेण तिलोदक-पिण्डदानामभवाचाभौच-स्वीकारोऽप्यच विविवतः,—
हति गम्यते। उदकादि-बद्धकर्त्तयोपन्याचेन त्राद्धप्रकरणस्य कृत्सस्थाप्यच सङ्ग्रहोविविच्ताः। संग्रहीतञ्च तत्प्रकरणस्य प्रपृद्धिस्माभिः
प्रपञ्चिययते।

पूर्वमकतनाचीवालस मरणे मिपिएडानां सदाः शुद्धिरभिहिता, इदानीं कतनाचीऽपाजात-दन्तस वालस मरणे सह संस्कारेणाश्रीचं निषेधित,

श्रजातदन्ताये वालाये च गर्भादिनिः सुताः । ॥१३॥ न तेषामग्रि-संस्कारा नाग्रीचं नादकितया।

श्रजातदन्ताश्रनुत्पन्नदन्ताः कतनामानोये <mark>बाबाम्रताः, ये च गर्भा-</mark>

^{*} यतदचनदयं मूलवचनमेवेति याखायाः पूर्वापरपर्यालाचनया प्रतीयते। युद्धितपुर्वते तु मूलवचनतया न मुद्धितमेतत्।

र्ग गर्भादिनि खताः, - इति से। गा प्रक्रा पाठः।

दिनिसुताः पितृताः, तेषां तसिपिष्डेर्नाग्नि-संस्कारादिकं कर्त्तथ-मित्यर्थः । तथाच ब्रह्मपुराणम्,—

"स्तीणान्तु पिततोगर्भः षद्योयातोस्तिऽघवा । श्रजातदन्तामार्षेवा स्ततः षड्भिर्गतस्वघा । वस्तार्धेर्भ्रिषतं कला न्युप्तयस्तु स काष्ठवत् । खनिला तु भनैर्भ्रसिं सद्यः भौचं विधीयते"—इति ॥

स्तीणां योगभीः पिततः, यश्च जननचणएव स्ताः, यश्च वासा-श्वात् प्राङ्स्तः, यश्च वासासादूर्द्धभाष्यजातदन्तः धन् स्ताः, स काष्ठ-वद्गूमिं खनिला निचेत्रयः। मात्रादियति रिक्तेः श्विपार्डेनी ग्रीचादिकं कर्त्त्रयमित्यर्थः। विष्णुरिप । "त्रजातदन्ते वाले प्रेते सद्यएव माग्नि संस्कारोनोदकित्रया"—इति ।

पूर्वच गर्भ-पाते सपिण्डानां वन्धूनां. यदाः शुद्धिमभिधायाधुना मातुन्तिसित्तमागोचमस्तीत्यादः,

यदि गर्भीविपद्येत स्रवते वार्धि योषितः॥ १४॥ यावन्मासं स्थितागर्भी दिनन्तावनु स्रतकम्।

यदि गर्भस्य स्वाव-पातौ स्थातां, तदा यावत्यु मासेषु गर्भः स्थितस्वन्माम-सङ्घा-यम-दिनं योषितामातः स्वतकं स्वत्याग्रीच-मित्यर्थः। तथा च याज्ञवस्त्यः,—

"गर्भस्रावे मास-तुत्थाः निग्नाः ग्रुद्धेन्तु कारणम्"—इति । मास-तुत्था-निग्नाः,—इति चतुर्थमासप्रस्त्यासप्तमादेदितव्यम् । प्रार्वेक् तु यथावर्षे चिराचादयः । तथा च सरीचिः,—

^{*} विनिः हताः, — हति सा॰ गा॰ पुस्तके पाठः।

"गर्भ-सुत्यां यथामासमितिरे त्यत्तमे यहम्। राजन्ये तु चत्ररात्रं वैश्वे पञ्चाहमेव तु ॥ श्रष्टाहेन तु शूद्रस्य शुद्धिरेषा प्रकीर्त्तिता" - इति ।

श्रिचे साम्बयं गर्भसावं उत्तमे ब्राह्मणे श्राह्म । गौतमोऽपि । "गर्भमाय-यमा राजिः संसने गर्भस्य श्राष्टं वा"—इति । श्रवं गर्भमायसमराजि-श्रवं योर्विस्थातोविकन्यः । सामवयं यावत् श्रदं, ततः परं सास-समाराज्यद्दति । श्रादिपुराणे,—

"षण्मामाभ्यन्तरं यावद्गर्भ-स्रावेशभवेद्यदि । तदा मामममेस्नामां दिवमैः ग्रुद्धिरिखते"—इति ॥ एतच स्नाविमित्ताभौचं मातुरेव । पात-विमित्तन्तु पित्रादी-नामणस्ति । तथा च मरीचिः,—

"स्वावे मातुस्तिरातं स्वात् सिपिखाशीच-वर्जनम् । पाते मातुर्यथामामं मिपिखानां दिनत्रयम्''—इति ॥ विस्विरेऽपि। "उनदिवर्षे प्रेते गर्भपतने वा सिपिखानां निरान्नं" इति । स्वावे पितुर्विशेषमास सद्भवसिष्ठः । "गर्भस्वावे मासतुस्था-रात्रयः स्त्रीणां स्वानमात्रमेव पुरुषस्व" इति ।

नन्, छाव-पातयोरप्राप्त-प्रसवकाललाविश्वेषाद्नयी; कीविश्वेष • द्रस्यतत्राद,

श्रा चतुर्थाद्भवेत् सावः पातः पश्यम-षष्ठयाः ॥१५॥
श्रातकर्षे प्रस्तिः स्यादशादं स्नतकं भवेत्।—इति॥
चतुर्थमामाभ्यन्तरे गर्भनागः स्नावः। पश्चमषष्ठयोर्गर्भनामः पातः।

तच माषयञ्चया विहितमाग्रीचं मातुर्भवेत्। च्रतऊर्डं सप्तममाम प्रस्ति गर्भनिर्गमः प्रसवः। तच मातुः प्रसवनिमित्तमाग्रीचं दशाष्टं भवेदित्यर्थः। चतु चतुर्विंग्रतिमते उक्तम्,

"श्रधलात्रवमात्रामाच्छुद्धिः स्वात् प्रमवे कथम् ?

स्ते जीवति वा तस्मिन् श्रहाभिमीप-मङ्ख्या"—इति ॥
श्रस्थायमर्थः । नवमात्रामादर्व्वाक् सप्तममासादारभ्य प्रभवे सति
तित्रिमन्तमाग्रीचं स्वतिकाव्यतिरिक्तमर्व्वमिपण्डानां मामसङ्ख्याकैरहोभिविधीयतद्दित । स्वतिका-विषयत्वे, दगाइविधि-विरोधः प्रसञ्चेत ।

नन्वेवं तर्हि, जातौ विप्रोदणाहेन,—दित मर्वसिपण्डानां जननिमित्तदणाहाग्रीच-विधायक-वचनं विरुध्येत । तन्त्र, तस्य नवम-दण्यम-मासप्रभव-विषयत्वेनोपपन्तेः । श्रय वा, एकविषयत्वेऽिष विकन्त्येन व्यवस्थाउम् ।

वालखाग्नि-मंस्कारे मत्याशीचं दर्शयति,

दन्तजातेऽनुजाते च क्षतचूडे च संस्थिते ॥१६॥ श्राप्त-संस्करणे तेषां चिराचमशुचिभवेत्। द्रति॥

जातादन्तायखाषी दन्तजातः । तदनु पञ्चान्तातोऽनुजातः, श्रन्-त्पन्नदन्तदिति यावत् । कतं चूडाखां कर्षायखामौ कतचूडः । तच जातदन्तखाकतचूडखानुजातख च मत्यग्नि-संस्कारे वर्तीयवर्षकतचूडे च संस्थिते तेषां सपिण्डस्तिराचमग्रुचिभवेदित्यर्थः । तचाकतचूडखा जातदन्तखा दाइपने चिरावाशीचमङ्गिरसामम्,

^{*} तेषां सिपाछागां चिराचममुद्धिभेवेदित्यर्थः,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

"यद्यायकतत्त्वहोते जातदन्तम् संस्थितः। दाइयिला तथायेनमाशीचं यहमाचरेत्" - इति॥ पुराणेऽपि,—

"श्रनतीतदिवर्षस् प्रेतीयवापि दहाते ।
श्राप्तीचं वान्धवानानु विरावन्तव विद्यते"—इति ॥
यन्तु विष्णुवचनं, "दन्तजाते लक्षतचूडे लहोराषेण"—इति
तम् खननपचे वेदितस्यम् । श्रजातदन्तस्य क्षतचूडस्य दहने विराचाः
श्रीचं षट्विंशकातेऽभिहितम्,—

"जद्याचातद्नः स्थात् कतत्रुस्तः संस्थितः।

तथापि दाइयेदेनं यदश्चाग्रीचमाचरेत्"—इति ॥

वनु यभेने।कम्,*

"श्रजात-दन्ते तनये शिशी गर्भचुते तथा। यपिण्डानान्तु वर्वेषां श्रहारात्रमशीचकम्"—इति ॥ तदक्तत्त्रुडविषयम्। नन्त्रनुजातस्य कत्त्रुडलं कथं, तस्य वृतीये विदितलादिति चेत्, न,

"चूडाकर्मा दिजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।

प्रथमेऽन्दे त्वतीये वा कर्मयं श्रुतिचौदनात्"—इति

मनुना विकल्पेन स्तृतलात् । श्रिष्मसंस्कर्णे,—इत्येतदिकल्पेना
भिधानं जातदन्तानुजातयोरेव न निवर्षकृतचूडे, तनाग्निसंस्कारस्य

नियतलात् । इतरनाग्निसंस्कार-विकल्पोमनुना दर्भितः,—

"नाचिवर्षस्य कर्त्तवा नात्भवैहदक्रिया।

^{*} अनुगोक्तम्,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

जातदन्तस्य वा कुर्यानानि वाऽपि कते सति"—इति ॥ चदकित्रयेति त्रश्चिसंस्कारोपलच्लार्थम्। वयोऽवस्याविशेषेलाशौचिविशेषं दर्शयितः,

त्रा दन्तजनानः सद्य त्रा चूड़ानेशिकी स्मृता ॥ १७॥ चिराचमा व्रतादेशाद दशाराचमतः परम्। इति॥

दन्तजननात् प्रागतीतस्य वालस्य संबन्धिनां सिपिण्डानां सदाः श्रीचम्। दन्तजननादृध्धं प्राक् चूडाकरणादतीतस्य संबन्धिनां निश्चिन्कां, निशायां भवा, श्रहाराचमग्रद्धः। व्रतादेशाउपनयनम्। ततो- द्र्ष्टीक् चूडायाश्चोध्धंमतीतस्य संबन्धिनां चिराचमग्रद्धः। ततः परं द्रश्चराचमित्यर्थः। तथा च संग्रहकारः,

"नामोदनोद्भवाची जादुपनी तेरधः क्रमात् । मद्यः शौचमदस्य हो नियताग्न्युदकः परः"—इति ॥ शङ्कोऽपि,—

"श्रजातदन्ते तनये यद्यः श्रोचं विधीयते ।
श्रहोराचात्त्रया ग्रद्धिवाले लक्षतचूडके ॥
तथैवानुपनीते तु च्यहाच्कुध्यन्ति वान्धवाः"—इति ।
यत्तु काम्यपवचनं, "वालानामजातदन्तानां चिराचेण ग्रद्धिः"—
इति । तन्मातापित्वविषयम् । श्रतएव मनुः,—

"निरस्य तु पुमान् ग्रुक्रसुपसृम्य विग्रध्यति । वैजिकादपि संबन्धादनिरुंधादघं च्यदम्"—इति ॥

^{*} किया,—इति सु॰ एक्तके पाठः।

वैजिक्संबन्धेाजन्यजनकभावः। यनु स्रत्यन्तरम्,
"प्राङ्नामकर्णात्मद्यएकाहोदन्तजन्मनः"—द्दि।

तह्हने विदित्यम् । खनने तु सद्यः प्रदृद्धः । "म्रजातदन्ते वाखे प्रेते सद्यण्व नास्यग्निसंस्कारोनोदकिक्वया"—इति विष्णुसरणात्। यन्तु विष्णुसरणात्। यन्तु विष्णुसरणात्। यन्तु विष्णुसरणात्। यन्तु विष्णुसरणात्। यन्तु विष्णुसरणात्। यन्तु विष्णुसरणात्। यस्"—इति । तष्ट्यातदन्तस्याग्निसंस्कारे द्रष्ट्यम् । ततस्वैवं य्ववस्या । नामकरणात् प्राक् सद्यः ग्रोचं नियतं, तदूष्ट्वं प्राक् दन्तजननादग्निधंस्कारिक्वयायामेकादः श्रव्यथा सद्यः ग्राह्यः, तस्याप्यजातदन्तस्य चूडाकरणे चिराचं, दन्तजननादृष्ट्वंमवाक् चूडाकरणादेकादं खनने, श्रिसंस्कारे तु श्रव्यः, अध्यं चूडायाः प्रागुपनयनात् श्रदः, उपनयना-दूर्द्वं ब्राह्यणादीनां द्रणाद्यादिकमिति । इयं यवस्या पुमपत्यमरणे द्रष्टया । स्थपत्ये तु विभेषोष्टद्वमनुना दर्णितः,—

"त्रप्रोढायान्तु कन्यायां बद्यः ग्रोचं विधीयते। त्रहस्त्वदत्तकन्यासु दत्तासु च श्रष्टं तथा"—इति॥ त्रप्रोढायां त्रकृतचूडायामित्यर्थः।

"श्रचूडायान्तु कन्यायां षदाः श्रीचं विधीयते"— इत्यापख्य-स्वरणात् । श्रदत्तकन्यासु वाचाऽदत्तासु श्रहोराचं, दत्तासु वाग्दत्तासु व्यष्टम् । तथाच मरीचिः । "चूडाकरणे षषः श्रीचं प्राग्वाग्दानादेकादः दत्तानां प्राक् परिणयनात् श्रहम्"— इति । ब्रह्मपुराणेऽपि,—

^{*} तदखनने,—इति मु॰ पुक्तके पाउः।

"श्रा जनानस्तु चौड़ान्तं कन्या यदि विपद्यते।
सद्यः भौचं भवेत्तव भवंवर्णेषु नित्यमः॥
ततोवाग्दानपर्यन्तं यावदेकाइमेव हि ।
ततः परं प्रवद्घायां चिराचिमिति निश्चयः॥
वाक्पदाने कते तत्र घोयश्चोभयतस्त्रग्रहम्।
पितुर्वरस्य च ततोदत्तानां भर्त्तरेव हि।
स्वजात्युक्तमभ्रोचं स्थान्गृतके ज्ञातके तथा"—इति॥
धीरी—

पुलस्योऽपि,-

"सद्यस्त्रप्रौहकन्यायां प्रौढायां वासराच्छ्तिः ।
प्रदत्तायां त्रिरात्रेण दत्तायां पिचणी भवेत्"—इति ॥
प्रदत्तायां प्रकान्तदानायां वाचा दत्तायामिति यावत् । वाग्दानानन्तरं स्टतायां त्रिरात्रम् । मनुर्ष्यादः,—

"स्तीणाममंद्धतानान्तु त्राहाच्छुध्यन्ति वान्धवाः । यथोक्तेनैव कन्पेन ग्रुध्यन्ति तु मनाभयः''—इति ॥ वान्धवाः पतिमपिण्डाः। मनाभयः पित्वमपिण्डाः। यथोक्तेन कन्पेन चिराभेण । त्रातएव मरीचिः,—

"त्रवारिपूर्वं प्रसा तु या नैव प्रतिपादिता। त्रमंक्कता तु मा छोया निरात्रमुभयोः स्मृतम्"—इति ॥ जभयोर्वरिपत्यचयोः। त्रम्ञतत्त्रुडायां भूयत् मद्यः ग्रीचिविधानं कतत्त्रुडायां यदेकाइविधानं, तन्मातापित्यातिरिक्तविषयम् ।

''प्रताऽप्रतास योषित्यु संक्षताऽसंक्षतास च। मातापित्रोक्तिरात्रं स्थादितरेषां यथाविधि"—इति॥ "त्रजातदन्तासु वित्रोरेकाहम्"—इति शङ्क्षकार्ष्णाजिनिश्यां विश्रेषसार्णात्। त्रदत्तासु त्रिरात्रविधानं जातदन्तविषयम्। त्रजान्तदन्तास्वेकाहविधानात्। संस्त्रतासु पित्रोक्तिरात्तं तद्ग्रहमरणे वेदितव्यम्। तथा च विष्णुः। "संस्त्रतासु स्त्रीषु नाश्रीचं पित्रपचे तत्प्रस्वभरणे चेत् पित्रग्रहे स्थातां तदैकरात्रं तिरात्रं च"—इति। तस्यवे भरणे च बन्धुवर्गस्थैकरात्रं पित्रोक्तिरात्रमिति व्यवस्था। वद्यापुराणेऽपि,—

"दला नारी पितुर्ने इस्वेताय वियेत च।
तद्वन्धुवर्गस्त्रे केन ग्रुचिक्तक्रनकस्त्रिभः"—इति ॥
पिनोद्दपरमे संस्नतानां स्त्रीणां निरानम्। तथाच दृद्धमनुः,—
"पिनोद्दपरमे स्त्रीणामूढानान्तु कथं भवेत् ।
चिरानेणेव ग्रुद्धिः स्वादित्याद भगवान् यमः"—इति ॥
पिनोर्मातापिने।हपरमे विवादसंस्कारसंस्नतानां दृष्टितृणां निरानेण ग्रुद्धिरित । दौष्टिन-भगिनीसुतयोरसंस्नतयोः पिन्यान्नौदं

"शंकिते पिनणों रात्रिं दौहिने भगिनीसते। शंकिते तु निरानं स्थादिति धर्भीत्यवस्थितः"—इति ॥ दौहिने भगिनीसते वाऽनुपनीते स्वते धित पिनणीमागामि-वर्त्तमानाहर्द्वययुक्तां रात्रिं मातामहादिः चपयेत्, उपनीते तु तस्मिन् स्वते सति सातामहादीनां निरानमाभौनं भनेदित्यर्थः। मातामहा-दीनां सर्णे दौहिनादीनां निरानमाभौनम्। तथा च दृहस्यतिः,— "व्यहं मातामहान्यार्थश्रोनियेख्यः विश्वति"—इति ।

मंद्धतयोक्तिराषम् । तथा च टद्धमनुः,−

श्राचार्याऽवाषिण्डः सनुपनयनादिकक्ता। श्रीवियस्त्वेकग्राखा-ध्वायी, मेनी प्रातिवेद्यलादिनोपसम्पनः। एतेषु मातामद्वादिषु स्टतेषु निराचिमित । विष्णुरिप । "श्राचार्यो मातामके च व्यतीते निराचेण"—दति। मनुरिप,—

"श्रीचिये त्रपमयने चिराचमग्रचिर्भवेत्"—इति । एतिचराचाग्रीचं परकर्टकदद्दनादी वेदितव्यम् । "ग्रुरोः प्रेतस्य ग्रिव्यस्त पित्रमेधं समाचरन् । प्रेताद्दारैः समन्तच दग्रराचेण ग्रुद्धाति"—इति स्वकर्टकदाद्दारी मनुना विशेषस्मरणात्। मात्रस्वसादिषु चिराच-मागौचम् । तदाद्द प्रचेताः,—

"मात्रव्यस्मातुलयोः श्वश्रूश्वग्र्रयोगुरोः ।

मृते चर्लिज याज्ये च निरानेण निष्णुद्धाति"—इति ।

गुरुराचार्यः । च्हितिकुलपरम्पराऽऽयातः । याज्योऽपि तथानिधः ।
यन् याज्ञवल्क्यवचनम्,—

''गुर्वन्तेवास्यनूचानमातुलश्रोचियेषु च''—इति ।

यनु विष्णुवननम्,—"श्वाचार्यपत्नीपुत्रोपाध्यायमातुलश्वत्रद्वश्वश्रूग्वत्र्यमहाध्यायिश्रिक्षेव्यतीते व्वेकरात्रेण"—इति । तत्र गुह्हपाध्यायः,
श्वन्तेवामी श्रन्योपनीतिश्रियः । खोपनीते तु, "श्विष्यमतीर्धमब्रह्या—
चारिष्ट चिरात्रमहोरात्रमेकाहः"—इति बौधायनेन चिरात्रविधानात् । मातुलः श्रनुपकारी विदेशस्थोवा । श्रोत्रियोऽनुपमस्यन्नः ।
ग्वश्रूश्वग्रद्धरावष्यनुपकारिणौ विदेशस्थोवा । एकस्मिन् गुह्कुलेऽन्यकालं महाध्यायी । एते ब्वेकरात्रिमिति व्यवस्था । यन् सनुनोक्तस्,—

"मातुले पित्तणीं हात्रिं शिष्यितिग्वास्थेवेषु च"—इति । तस्यायमर्थः । ख्ल्पोपकारके मातुले । शिष्योऽन्योपनीतमाङ्गवेदा-ध्यायी । च्हिलिक् श्राधानप्रस्तियावज्जीवमार्लिज्यकारी । बास्थवाः स्नाटिपिटवान्धवाः । एतेषु पित्तिष्याश्चोचिमिति । श्रनौरमपुवादिषु त्रिरात्रमाश्चोचम् । तदाह विष्णुः,—

"त्रनीरसेषु पुत्रेषु जातेषु च स्तेषु च।

परपूर्वासु भार्यासु प्रस्तासु स्तासु च"—इति॥

विराविभत्यनुवर्त्तते। हारीतोऽपि,—

''परपूर्वास आर्थास पुत्रेषु कतनेषु च। आतासहे तिरात्रं खादेकाइन्, सपिखतः''-इति॥ श्रह्वोऽपि,-

''त्रनोर सेषु पुत्रेषु आर्याखन्यगतासु च। परपूर्वासु च खासु विरावाच्छुद्धिरियते''—इति।

श्वनीर्माः चेत्रजादयः। परपूर्वाः पुनर्भुवः। श्रन्यगताः खैरिणः। एतेष्वनीर्मादिषु यत्प्रतियोगिकं भार्यावं पुत्रवच तस्यैवेदं तिराच-माश्रीचिमत्यर्थः। यन्त्रेकाइविधानम्,—

''त्रनोर्सेषु पुत्रेषु भार्याखन्यगताम् च''—इति । तदमनिधिविषयम् । मनिधाविष पित्सपिण्डानामेकाइएव । तथाच सर्गोचिः,—

"एकाइम्त सिपाडानां चिराचं यत्र वै पितुः"-इति। यनु प्रजापतिनोक्तस्,-

''ऋन्या श्रितेषु दारेषु परपत्नीसुतेषु च।

गोचिणः खानग्रद्धाः खुक्तिराचेणैव तत्विता"—इति ॥
खानादेव ग्रुद्धिरिति यत्, तत्ममानोदकविषयं त्रमितिषिविषयं
वा । एकस्यां मातरि पिटदयोत्पादितयोभीचोरन्यतरिसन्मृतेऽन्यतरस्य
चिराचमाग्रोचं भवति । तथा च मरीचिः,—

"मानैकया दिपितको भातरावन्यगोनको।
एकाइं स्नतकं तन निरानं स्नतके तयोः"—इति ॥
श्रमिपाख्योनिमंबिश्चमरणे पित्राखाशीनम् । तदाइ गौतमः,—
"पित्रणीममिपाखे योनिमन्भे महाध्यायिनि वा"—इति ।
श्रमिष्टः। श्रमिपाखः स्ववेधानि स्तः। योनिमंबन्धा मातस्यसीयपित्रस्यसीयादयः। महाध्यायी गुरुकुले महकत्स्ववेदाध्यायी। चकारादुर्वङ्गणादयोऽपि मंग्रह्मन्ते। तेषु पित्रणीं तत्संबन्धप्रतियोगी चपयेदिति। तथा च त्रहन्मनुः,—

"मातुले शाउरे मिने गुरी गुर्वेगणास च।
श्राणीचं पिचिणीं राजिं हाता मातामची यदि॥
श्राउरयोर्भगिन्याच्च मातुलान्याच्च मातुले।
पिनोः खमरि तदच पिचणीं चपयेनिशाम्"—इति॥
यनु विष्णुनोक्तम्। "श्रमपिण्डे खवेग्मनि हाते एकराचम्"—इति।
तदप्रधानग्रहमरणे वेदितयम्। यदपङ्गिरमोक्तम्,—

"ग्रहे यस हतः कश्चिद्यपिष्डः कथञ्चन।
तस्राणग्रोचं विज्ञेयं चिराचं नाच संग्रयः"—इति॥
तद्यपिष्डश्रोचियविषयम्। यनु व्हनानुनैवोक्तम्,—
"भगिन्यां संस्थितायान्तु भातर्यपि च संस्थित।

सिने जामाति प्रेते दौहिने भगिनीसते॥

ग्यालके तत्सुते चैव सद्यः सानेन ग्राधिति"—इति।

तत्र भगिन्यादौ सद्यःग्रह्मभिधानं देणान्तरमरणविषयम्। जामात्रग्रालकस्त्रतयोः सन्निधावेव सद्यःग्रह्मिति। निवासराजन्यहिन स्टतेऽहराण्योचं, रानो चेद्रानिमानिमिति। श्रतएव मनुः,—

"प्रेते राजनि षच्योतिर्यस्य स्थादिषये स्थितः"—इति । ज्योतिषा सौरेण नाचनेण वा षद्द वर्त्तते यदाश्रौचं,तत् षच्योतिः। श्रद्धनि चेद्यावत्पूर्यदर्शनं, राचौ चेद्यावन्त्रचन्दर्शनित्यर्थः। ग्राममध्ये श्रवे स्थिते ग्रामस्य तावदाश्रौचम्। तदाह रहमनुः,—

"याममध्यगतोयावक्कवित्विष्ठिति कस्यित्। यामस्य तावदाश्रीचं निर्गते ग्रिचितामियात्"—इति॥ यामस्य तावदाश्रीचं निर्गते ग्रिचितामियात्"—इति॥ यामस्यरादाविष सच्चोतिराश्रीचम्। तदाइ सएव,— "यामस्यरे कुलपतौ स्रोचिये च तपस्तिनि। शिष्ये पञ्चलमापन्ने ग्रिद्धिनैचनदर्शनात्"—इति॥ कुलपतिः समूइपतिः। स्रोचियोदेशान्तरस्यः। उक्तस्याश्रीचस्याग्निस्त्वाचारिणोरपवादमाइ,—

ब्रह्मचारी यहे येषां ह्रयते च हुताश्रनः ॥१८॥ सम्पर्के न च कुर्व्वन्ति न तेषां स्नतकं भवेत्। इति॥

ब्रह्मचारी उपकुर्वाणकोनैष्टिकञ्च, येषाङ्गृहे इतामना इयते श्राम-होचमनुष्टीयते, तेषामग्रिहोचानुष्टानकाले नास्यामौचं; यदि ते स्त-किशाः सह संसर्गं न कुर्युः । तदुक्तं कूर्यो,— "नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्। नाशीचं कीर्त्तितं सङ्गः पतिते च तथा स्टते"—इति॥ देवलोऽपि,—

"नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्। नाशौचं स्नतके प्रोक्तं शावे वापि तथैव च"—इति॥ व्हस्यतिरपि,—

"खाधायः क्रियते यत्र होमञ्चोभयकालिकः। षायंप्रातर्वेश्वदेवं न तेषां स्नतकं भवेत्"—इति ॥ षंषर्गस्यास्पृष्यलकर्मानधिकारलचणाशौचापादकलमन्वययतिरेका-भ्यासुपपादयति,—

सम्पर्काद्घते विग्ने जनने मर्गो तथा॥१८॥
सम्पर्काच निरुत्तस्य न प्रेतं नैव स्नतकम्। इति॥
स्पर्काच निरुत्तस्य न प्रेतं नैव स्नतकम्। इति॥
स्पर्धार्थमेतत्॥ किञ्च,
प्रिल्पिनः कारुका वैद्या दासी दासाश्र नापिताः॥२०
राजानः स्रोचियाश्रेव सद्यःशोचाः प्रकीर्त्तिताः॥
सव्रतः सचपूतश्र श्राहिताशिश्र योदिजः॥२१॥
राज्ञश्र स्नतकं नास्ति यस्य चेच्छित पार्थिवः॥
उद्यते। निथने दाने श्रात्ती विप्रो निमन्त्रितः॥२२॥
तदैव ऋषिभिर्दृष्टं यथा साचिन शुध्यति। इति॥

विष्यनिश्चनकाराद्याः । कार्काः स्वपकारप्रस्तयः। वैद्याश्चि-किस्तकाः। चोनियाः पद्यः प्रचानिकाः । व्रतेन चान्द्रायणादिनियनेन यद वर्त्तते इति सन्नतः। सन्पूतो गवासयनाद्यधिकतः। एते स्वस्तर्भणि
सद्यः शोचाः । राज्ञः, राजसंबिध्यनो सान्यस्य, यस च पुरोद्दितस्थानन्यसाध्यमन्त्राभिचारादिकसंसिध्ययं साशो चाभाविम्ब्हित, तयोरिष
तत्त्रत्वसंणि स्वतः नास्ति। निधनशब्देन तसाधनस्रतः सङ्कासोलन्यते।
तन्तान्त्रादिदाने चोद्यतः क्रतोपक्रमः, श्रानः श्रापदं प्राप्तः, श्राद्वादौ
निमन्त्रितोविप्रस्थ, तदैव सद्यापव श्रुध्यतीति च्रिषिभिर्दृष्टम्। यथा कालेन
दादश्यराचादिना, तथेत्रर्थः। तथा चादिपुराणे,—

"शिल्पिनश्चित्रकाराद्याः कर्म यसाध्यन्यसम्।
तत्कर्म नान्यो जानाति तसाच्छुद्धाः खकर्माण ॥
स्वपकारेण यत्कर्म करणीयं नरे स्विदः।
तदन्यो नेव जानाति तसाच्छुद्धः स स्वपकृत् ॥
चिकित्सकोयत्कुरुते तदन्येन न श्रक्यते ।
तस्माचिकित्सकः स्पर्शे शुद्धो भवति नित्यशः॥
दास्योदासाञ्च यत्किञ्चित् सुर्वन्यपि च स्नीस्था ।
तदन्यो न समः कर्नु तस्मान्ते शुच्यः सदा ॥
राजा करोति यत्कर्म खग्नेऽप्यन्यस्य तत् क्ष्यम् ।
गुवं सति नृपः शुद्धः संस्पर्शे स्वतस्वते ॥
यत्कर्म राजस्वयानां दस्यश्चगमनादिकम् ।
तत्नास्ति यस्मादन्यस्य तस्मान्ते शुच्यः स्मताः"—इति ॥

विष्णुरिष। "श्रमीचं न राज्ञां राजनमीण न प्रतिनां प्रते न सिचिणां सचे न कारूणां कार्कमीण न राजाज्ञाकारिणां तिह- क्लायाम्"—इति। प्रचेताश्रिण,—

"कार्वः शिल्पिनो वैद्याः दासी दासास्त्रधैव च। राजानो राजस्त्याञ्च सद्यःशोचाः प्रकीर्त्तिताः"—इति ॥ बद्धपराशरोऽपि,—

"राज्ञां तु स्नतकं नास्ति व्रतिनां न च घितणाम्। दीचितानाञ्च सर्वेषां यस्य चेच्छति पार्थिवः॥ तपोदानप्रदत्तेषु नाग्रोचं स्टतस्नतके"—इति। स्रत्यन्तरमपि,—

"नित्यमन्त्रप्रसापि कच्छ्रचान्द्रायणादिषु।
प्रवृत्ते कच्छ्रहोमादी न्नाह्मणादिषु भोजने॥
ग्रहीतनियमस्यापि न स्थादन्यस्य कस्यचित्।
निमन्त्रितेषु तिप्रेषु प्रारक्षे श्राद्धकर्मणि॥
निमन्त्रितस्य विप्रस्य खाध्यायनिरतस्य च।
देहे पिढषु तिष्ठत्मु नाष्ट्रोचं विद्यते कचित्॥
प्रायश्चित्तप्रस्तानां दाढन्नह्मविदां तथा"—इति।
मनुर्पि,—

"न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सित्रणाम्। ऐन्द्रं स्थानसुपामोना ब्रह्मभ्रता हि ते सदा॥ राज्ञोमादात्मिके स्थाने सदाःशौचं विधीयते। प्रजानां परिरचार्थमासनं तत्र कारणम्"—दति॥ याज्ञवक्कोऽपि,—

"च्हितजां दीचितानाञ्च यज्ञीयं कर्म कुर्वताम्। सचि-व्रति-व्रह्मचारि-दाल-व्रह्मविदां तथा॥ दाने विवाचे यज्ञे च संगामे देशविश्ववे।
ज्ञापद्यपि च कष्टायां सदःशौरं विधीयते"-इति॥
इारीतोऽपि,—

"शंग्रामस्यस राजन्यो वैश्वो मध्ये गवां स्थितः। सत्री च त्राह्मणो नित्यं ब्रह्मचारी च वै ग्राचः"—इति॥ पैठीनसिरपि,—

"विवाहयज्ञदुर्गेषु यात्रायां तीर्यकर्माण। न तत्र स्नतकं तदत् कर्म यज्ञादि कारयेत्"—इति॥ ब्रह्मपुराणोऽपि,—

"श्रथ देवप्रतिष्ठायां गणयागादिकर्मणि। श्राद्धादौ पित्रयश्चे च कन्यादाने च नो अवेत्"—इति॥ श्राङ्किराश्रपि,—

"जनने अर्णे चैव विध्वाशीचं न विद्यते। यज्ञे विवाहकाले च देवयागे तथैव च"—इति॥

श्रत्र विवाहादी यद्यः शोचसुपकान्तविवाहादिविषयम्। श्रव नृपादीनामसाधारणकात्यव्यतिरिक्तविषयेष्याशीचमस्यवे । तथास ब्राह्मे पुराणे,—

> "राज्यनाश्वस्तु येन खादिना राज्ञा खमछले। प्रयाखतश्च संगामे होसे प्राष्ट्यानिके सित॥ सन्तादितपंणैर्वाऽपि प्रजानां श्वान्तिकसंणि। गोमङ्गलादी वैष्यानां क्रषिकालात्ययेखपि॥ श्राश्रीचं न अवेह्नोकें सर्वत्रान्यन विद्यते"—इति।

किञ्च,

प्रमवे ग्रहमेधी तु न कुर्यात् सङ्करं यदि ॥२३॥ दणाहाच्छुध्यते माता त्ववगास्य पिता शुचिः। इति॥

प्रसवे जनने ग्रहसेधी ग्रहस्यः पिता स्नृतिकया मह यदि संस्थां न कुर्यात्, तदा स्नानेन शुद्धोभवित, माता तु दशाहेन शुद्धा भवतीत्यर्थः।

नन्वेवं तर्हि पितुः कर्मानिधिकार् ज्ञणसप्याग्रोचं न स्थादि-त्यतन्त्राह,—

सर्वेषां शावमाशौचं मातापिचोत्तु सुतकम् ॥२४॥ सुतकं मातुरेव स्यात् उपस्पृश्य पिता श्रुचिः। इति॥

यथा सपिएडानां कमानिधिकारलच्छामाग्रीचं मसूर्णं, तदिवतु-रिष । सातापित्रोम्त स्नतकमस्पृथ्वलच्छामाग्रीचं, तत्रापि दशाइमस्पृ-श्यत्वं सातुरेव पितुम्त स्नानपर्यन्तसेवेत्यर्थः । तथा च पैठीनसिः,—

"जनौ मपिएडाः ग्रचयो मातापिचोस् स्रतकम्।

स्रतकं मातुरेव स्थादुपस्पृग्य पिता ग्राचि:"—इति॥

श्रयमधः। जनने मातापित्यतिरिकाः सर्वे सपिएडाः स्पृग्याः, मातापित्रोस्त नास्ति स्पृग्यत्वं, तत्रापि पिता स्नानेन स्पृग्योभवति, दगादन्वस्पृग्यत्वं मातुरेव। तथा च विभष्टः,—

"नामोचं विद्यते पुंषः संबर्गं चेन्न गच्छति। रजयाचाम्यचि जोयं तच पुंषि न विद्यतं"—इति॥ सम्बन्तिऽपि,— "काते पुत्रे पितुः खानं सर्वेखन्तु विधीयते।

माता शुद्धोद्दशाष्ट्रेन खानान्तु स्पर्शनं पितुः"—इति ॥

वृष्टस्यतिरपि,—

''शावाशीचं तु सर्वेषां स्नतकं मातुरेव च।
कानं प्रकुर्यान् पिता ज्ञातयो न सर्वेक्तिनः"—इति॥
गोतमोऽपि,—

"मातापित्रोम्त स्नतकमुपस्पृष्य पिता ग्रुचिः"-इति । त्रादिपुराणेऽपि,—

"सूतकी तु सुखं दृष्टा जातस्य जनकस्ततः।

क्रला यचेलं सानन् ग्रुद्धो भवति तत्चणात्"—इति॥
स्वितिकया यद संसर्गकरणे तिनिमित्तमसृथ्यलं दशाहमसीत्याह,
यदि पत्न्यां प्रस्ततायां सम्पर्कं कुरुते दिजः॥२५॥
स्वतकन्तु भवेत्तस्य यदि विप्रः षड्क्रवित्। इति॥

स्तिकया पत्या मह पितः मंग्रें यदि कुर्यात्तदा विद्याकर्मयुष्णस्य विप्रस्याप्यस्पृश्यत्वक्वणं स्तिकं भवेत्, किसुतान्यस्रेत्यर्थः । तथा च सुमन्तुः । "मातुरेव स्तिकं तां स्पृष्णतञ्च नेतरेषाम्"—इति । स्निकां स्पृष्णतोजनकस्यास्पृश्यत्वस्रचणं स्तिकं भविति, नान्येषामित्यर्थः ।

ननु जननिभित्तमेवास्पृद्धलं भर्त्तुः स्नानानन्तरमि सिं म स्थादत श्रास्त्र-

सम्पर्काञ्जायते दोषो नान्यो दोषोऽस्ति वै दिने ॥२६॥

^{*} स्त्रतके इति, सु॰ पुस्तके पाठः।

तसात्सवप्रयत्नेन सम्पर्कं वर्जयेदुधः। इति॥

खानानन्तरं भर्त्तः संसर्गनिमित्तकएव दोषोऽस्पृश्यवापादको जायते, न जननिमित्तको दोषोऽस्ति, तसादिदान् मन्पर्के सह श्यनासनभोजनादिकं वर्जयेदित्यर्थः । तथा च वहस्पति:,—

"यहीः बहाबिपिण्डोऽपि प्रकुर्याच्छ्यनाम् । बान्धवो वा परोवापि स दमाहेन मुध्यति"—इति॥ विष्णुरिष । "त्राह्मणादीनामाभौचे यः सकदेवान्नसस्रीयात्तस्य तावदाभौचं यावत्तेषामाभौच्यपगमः"—इति । स्रविरिपः,—

"मणक्कित्रायते दोषः पारक्ये म्हतजनानि ।
तदर्जनात्पितुरपि सद्यःश्रोचं विधीयते"—इति ॥
प्रारक्षे यज्ञादो कर्नुः ग्रुद्धिरुका, इदानीं कन्पितद्रव्यस्थापि
ग्रुद्धिरुखीत्यादः,

विवाहे।त्सवयचेषु त्वन्तरा सतस्रतके ॥२९॥ पूर्वसङ्गल्पितं द्रव्यं दीयमानं न दुष्यति। इति॥

श्रत्र विवादग्रहणं पूर्वप्रदत्तचौड़े।पनयनादिसंस्कार्कर्मी।पलच-णार्थम्। उत्सवोदेवतोत्सवः, तेन च देवप्रतिष्ठादिकसुपलच्यते। यज्ञो च्योतिष्टोमादिः। तेषु प्रारम्धेषु श्रन्तरा मध्ये यदि म्हतस्रतके मरण-जनने स्थातां, तदा पूर्वमङ्गल्पितं द्रव्यं देवताचे ब्राह्मणेभ्यो दीयमानं न दुखतीत्यर्थः। तथाच कतः,—

"पूर्वमङ्गन्पितं द्रव्यं दीयमानं न दुष्यति"—इति। पक्के तु विशेषः स्रात्यन्तरे दर्शितः,— "विवाहोत्सवयज्ञादिखन्तरा स्तस्तने। इट्रतमनं परैदें यं दाद्दन् भोकृंञ्च न सृभेत्" – इति॥ इतान्त्रमस्ति किभिदेंयं, स्ततनी तु दाद्दन् भोकृंञ्च न सृभे-दित्यर्थः। यन्तु स्रत्यन्तरम्, —

"द्रवाणि खामिसंबन्धादघानि लग्ज्यीनि च। खामिग्ज्येव ग्रथ्यन्ति वारिणा प्रोचितान्यिप"—इति॥ तदसङ्कान्पितद्रव्यविषयम्। कानिचिद्सङ्कान्पितान्यिप द्रव्याणि स-र्व्वदा ग्रुद्धानि। तथा च मरीचिः,—

"लवणे मधुमांसे च पुष्पमूलफलेषु च।

प्राक्तकाष्ठदणेष्ट्रपु द्धिमर्पःपयःसु च॥

तेलोषध्यजिने चैव पकापके खयं यहः।

पण्णेषु चैव सर्वेषु नाष्ट्रोचं स्तस्तके"-इति॥

श्रनेकाशोचनिमित्तसत्त्रिपाते प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकारनी तां निवारयति,

त्रावत्या तु दशाहस्य पुनर्भरणजन्मनी ॥२८॥ तावत्स्यादशुचिविंप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम्। इति॥

यदा दशाहाशीचकालमध्ये तत्तु त्यस्य ततोऽल्पस्य वाऽऽशीचस्य निमित्ते स्थानमरणे स्थातां, तदा पूर्व्वप्रदत्तं तदाशीचं यावदिनर्दश्यम-निश्तिदशाहं स्थात् विप्रस्तावदेवाश्चिभवित न पुनर्मध्योत्पन्नमरणादि-निमित्तकदशाहाद्याशीचवानित्यर्थः। तथा च मनुः,—

[🐾] भ्रोषमञ्जं,—इति पाठान्तरम्।

"श्रन्तर्द्याहे खाताह्येत् पुनर्भरणजनानी। तावत्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्यादनिर्द्यम्"—इति॥ याज्ञबक्कोऽपि,—

"श्रन्तरा जन्ममर्णे ग्रेषाद्दोशिर्विग्रध्यति"—इति।

विष्णुरिष। "जननाशीचमध्ये यद्यपरं जननं स्थान्तच पूर्ब्बाशीच-व्यपगमे शृद्धिः मरणाशीचमध्ये ज्ञातिमरणेऽप्येवम्"—इति। श्रिष-श्रब्धाच्चननेऽपि मरणाशीचकालेनेव शुद्धिरित्यर्थः। यदा जननि-मित्तदशाद्दाशीचमध्ये मरणमापतित, तदा मरणादारभ्य दशाष्टं कार्यम्। तथा चाङ्गिराः,—

"स्रतने स्तनं चेत्यान्मृतने लघ स्रतनम्। तचाधिक्वत्य स्तनं भौचं नुर्यात्र स्रतनम्"—इति॥ षट्चिंभनातेऽपि,—

"शावाशोचे समुत्यन्ने स्नतकन्तु यदा भवेत्। शावेन शुध्यते स्नतिने स्नतिः शावशोधनी''—इतिं॥ चतुर्विंशतिमतेऽपि,—

"स्तजातकयोर्घामे या ग्रुद्धिः या तु कथ्यते।
स्तिन ग्रुद्धाते जातं न स्ततं जातकेन तु"—इति।
श्रक्षणाश्रीचमध्ये दीर्घकालाशीचप्राप्ती न पूर्व्वेण ग्रुद्धिः। तदुक्तसुधनमा,—

"खन्याशीचस मधे तु दीर्घाशीचं भवेद्यदि। न पूर्व्येष विश्वद्धिः स्थात् खकालेनेव श्वध्यति"—इति॥ यसेनापिः— "श्रघष्टद्धिमदाश्रीचं पश्चिमेन समापयेत्।
यथा चिराचे प्रकान्ते दशाइं प्रविशेद्यदि॥
श्राश्रीचं पुनरागच्छेत् तत्समाय विश्रध्यति"—इति।
प्रथमप्रयत्ताश्रीचकालापेचया दीर्घकालानुवर्त्तनेन विरद्धाधवदाश्रीचं यदि मध्ये ससुत्पद्यते, तदा पश्चिमेन खकालेनेव समापयेदित्यर्थः। श्रङ्गोऽपि,—

''समानाशौ वसमाति प्रथमेन समापयेत्।
श्रममानं दितीयेन धर्माराजवनीयथा''—इति॥
श्रममानं दीर्घकालाशौ विमायर्थः। हारीतोऽपि,—
''श्रावान्तः श्रावश्रायाते पूर्व्वाशौ चेन श्रथति।
गृहणा लघु श्रध्येनु लघुना नैव तहुह॥
श्रघानां यौगपद्ये तु ज्ञेया श्रुद्धिर्गरीयसा"।

गुरुलघुले तु समानजातीययोः कालापेचया, विजातीययोः खरूपेणैव । तदुक्तं तेनैव,—

' मरणोत्पत्तियोगे तु गरीयोमरणं भवेत्"—इति । काचित्कालापेचया लच्चाग्रीचमध्यवर्त्तिनी गुर्व्वाग्रीचन्ध पूर्व्वाग्रीच-कालेनापगमोऽलि । तदाइ देवलः,-

> "परतः परतोऽग्रुद्धिरघरद्धौ विधीयते। खाचेत्पञ्चतमादकः पूर्व्वेणैवाच शियते"—इति॥

वर्त्तमानाग्रीचमध्यवर्त्तिन जननादी यदाऽघटद्विदीर्घकालमा-जीचं, तदा परतः प्राप्तं जननादिकमारभ्याग्रद्धिर्विधीयते। तद्यदि पूर्व्वप्रकलमाग्रीचं पञ्चमदिनात्परतोऽध्यनुवर्त्तते, तदा पूर्व्योवेव पूर्व्या- श्रीचकालेनेव दशाहाशीचस्यापि ग्रिहिर्विशिस्यते विधीयते । एतदुकं भवति । श्रन्तरा पिततस्याशीचस्य दीर्घकालतेऽपि यदि पूर्व्वप्रवत्ता-माशीचसुत्तराशीचकालादर्ह्वाधिककालं स्थात्, तदा पूर्व्वप्रवत्ता-श्रीचकालेनेवोत्तरस्यापि ग्रुह्मित्रता तद्यया । गर्भपातनिमित्त- षडहाशीचमध्ये यदि दशाहाशीचमापतेत्, तदा षडहाशीचशेषेणैव दशाहाशीचस्यापि निवित्तिरिति । एवमन्यवापि श्रुह्मिककाला-श्रीचशेषेणैवाधिककालाशीचस्यापि निवित्तरवगन्तव्या ।

श्रन्तरा पिततस्वाभीचस्य भेषेण गुद्धिरित्यत्र विभेषो गौतमेनोतः। "रात्रिभेषे दाभ्यां प्रभाते तिस्रिभः"—दित । राश्मिश्रद्धेनाहोरात्रं लच्यते । रात्रिः भेषोयस्याभीचस्य, तिस्मित्वद्यमाने यदाऽभौचान्तरमापतेत्, तदा पूर्व्वाभौचकालानन्तरं दाभ्यां रात्रिभ्यां
गुद्धः। प्रभाते तस्यारात्रेश्वरमे यासे पुरा सर्व्यादयादाभौचमितपाते तिस्भीरात्रिभः गुद्धिनं तु पूर्व्वाभौचकालभेषेणेति । तथा
भङ्खालिखताभ्यामिष। "श्रय चेदन्तरा प्रभीयेत जायेत वा भिष्टैरेव दिवसैः गुर्थेदहःभेषे दाभ्यां प्रभाते तिस्रिभः"—दित ।

श्वातातपेनापि।

"राचिशेषे ह्यहाच्छुद्धियां मशेषे त्राहाच्छु चिः"—इति ।
बौधायनेनापि । "श्रथ यदि दशराचिष्तिपाते यदाद्यं दशराचसमाशौचमानवमाद्दिवसात्"—इति । श्रस्थार्थः । यावन्तवमदिवसपरिसमाप्तिस्तावत् न पूर्व्वाशौचकालभेषेणोत्तराशौचस्य निवृत्तिरिति । नवमश्रब्देनोपान्यद्विसखपलच्यते । ततस्य चित्रयादीनामप्यन्यदिवसाशौचसन्तिपाते दिराचं प्रभाते चिराचिमत्यवगन्नव्यम् ।

देवलेनापि,—

"पुनः पाते दशाहात्प्राक् पूर्वेण सह गच्छित। दशकेऽक्ति पतेद्यस्य द्वाहतः स विश्रुध्यति॥ प्रभाते तु चिराचेण दशराचेष्वयं विधिः"—इति।

दशाहात्प्रागित्यच दशाहप्रब्होऽन्यदिवसोपलचकः। दशराचेिष्व-त्येतदिप दादशराचाद्यपलचणम्। समानाशौचयोः सिन्नपाते पूर्व-श्रीषेण प्रदुद्धिरियस्य कचिदपवादः प्रह्वांन दर्शितः,—

"मातर्यग्रे प्रमीतायामग्रुद्धौ वियते पिता।

पितः शेषेण श्रद्धः स्थानातः कुर्यान् पिचणीम्"-दित ॥
माति पूर्व्वं म्हतायां यदि तिविभिन्ताशोषमध्ये पिता सियेत,
तदा न पूर्व्वाशोषशेण श्रद्धः, किंतु पित्राशोषकालेनैव श्रुद्धः।
तथा, पूर्व्वं पिति स्ते तिविभिन्ताशोषमध्ये माति प्रमीतायामिष न पित्राशोषकाल-शेषेण श्रुद्धः, किंतु पित्राशोषं समाण पिचणीं कुर्यादित्यर्थः।

जनस्य दशाहादाशौवस्य विषयान्तरेऽप्यपवादमाह,—

ब्राह्मणार्थे विपन्नानां बन्दीगाग्रहणे तथा ॥२८॥ श्राह्मेषु विपन्नानामेकरानमग्रीचकम्। इति॥

ब्राह्मणप्राणरचणार्थं इतानां, वन्दीयहणे गोग्रहे च मित ति ति निम्नार्थं इतानां, त्राहवेखाभिमुख्येन इतानां, ये मिण्डाम्तेषा-मेकराचमेवाग्रीचं न द्रगराचादिकमित्यर्थः। यनु मद्यःग्रीचिमत्यनु-इत्ती मनुनोक्तम्,— "डिम्भाइवइतानाञ्च विद्युता पार्थिवेन च। गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति स्वभिपः"-इति॥

तद्षनिधिविषयम्।

रणहतसिपण्डानामेकाहाशीचिविधिशेषतया नविभः स्नोकैराहवे हतं प्रशंसति । तत्र प्रथमं परिवाजकदृष्टान्तेनादित्यमण्डलभेदिलं दर्शयन्त्रशादुत्तालोकप्राप्तिं दर्शयति,—

दाविमौ पुरुषो लोके स्वर्यमण्डलभेदिनौ ॥३०॥ परिब्राड्योगयुक्तस्र रणे चाभिमुखोद्दतः । इति ॥

योगाश्या सेने श्ररसुपासीनः परिव्राजकोऽ चिरादिसार्गेण ब्रह्मजोकं गच्छन् मार्गमध्ये वाव्यादित्यचन्द्राणां मण्डलानि क्रमेण भिला तत्र तिथ्य उत्तरतोत्तराधिकेश्यः क्रिद्रेश्यो निर्गत्य क्रमेण विद्युदादिलोकान् सञ्चरन् ब्रह्मलोकं प्राप्तोति। क्रिद्रनिर्गमणं वाजसने यित्राह्मणे श्रुतम्। "स वायुमागच्छित तसी स तत्र विजिहीते यथा रघचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स श्रादित्यमागच्छिति तसी स तत्र विजिहीते यथा उद्म्यस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमागच्छिति तसी स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते" — इति।

तच चिरकालं महता प्रयासेन योगमभ्यस्ता परिव्राजकेन तह समानगतिलं रणहतस्यायुक्तं तस्मादस्पकालप्रयासलादित्याणञ्चा, कालान्पलेऽपि धेर्यातिष्रयेन प्रयाससाम्यं स्वचितुमभिसुखद्रत्युक्तम् । तमेव स्वचितमधं विश्वदीकरोति.— यच यच इतः श्रूरः श्रनुभिः परिवेष्टितः ॥३१॥ श्रक्षयान् लभते लोकान् यदि क्षीवं न भाषते। इति ॥

लोके शस्त्रधारिणमेकमिष दृष्टा महती प्राणभीतिजीयते। युद्धकाले तु प्रतिमेन्यगताः सर्वेऽिष श्रवनः शस्त्रधारिणोमारणोद्यताएनं
परिवेष्टयन्ति । तदानीमृत्पद्यमानायाभीतेरियन्तेव नास्ति, तादृशीं
भीति सोद्वा प्रतिभटाभिमुख्यं गच्छतः श्रुरस्य धेर्यं योगिधेर्यादणधिकम् । नि योगिनो यमनियमादिषु किचित्राणभीतिः समाविता।
तते यथा जागरणे बङ्गषु वसरेषु श्रनुभवनीयस्य भोगस्य मुहर्नेमाचवित्तिनि खप्ते साक्तर्यं दृश्यते, तथा चिरकालभावियोगसाम्यं रणे
धैर्यवतः किं न स्थात्। धैर्यातिश्रयेन साम्यमच विवित्तिमिति दर्शयितं,
यदि क्षीवं न भाषते,—इत्युक्तम्। क्षीवं नर्पुसक्तं विकलता, तस्तृषकं
भीत्याविष्कारकवाक्यं यदि न भाषते, तदानीं योगिसाम्याद्वयान्
ब्रह्मांकोकावान्तरविश्रेषान् सालोक्यादीन् सभते।

परित्राजकदृष्टान्ते सर्थमण्डलभेदितं सभावयति,

संन्यस्तं ब्राह्मणं दृष्टा स्थानाचलित भास्तरः ॥३२॥ एष झे मण्डलं भित्ता परं स्थानं प्रयास्यति। इति॥

यद्यपि मण्डलस्याचेतनरिक्षसमूहरूपवात्तद्वेदेऽपि नास्ति का-चिद्दादित्यस्य वेदना, तथापि पूर्व्वमत्यनानीचपदे वर्त्तमानस्रेदानी-सुचपदप्राप्तिस्थित्तक्षेप्रहेतुर्भवति। श्रतएव, भिला परं स्थानं प्रयास-तीत्युक्तम्। एतदेवाभिष्रेत्य व्यासन्नाइ,—

> "कियाविद्विर्हि कौन्तेय, देवलोकः समावृतः। न चैतिदिष्टं देवानां मर्त्येरपि वर्त्तनम्"—इति।

सुसुचुपरिवाजकदर्शनमाचेण* निष्यत्रस्य भास्करचलनस्योप-न्यासाद्योगिनो यथोक्रफलं दृढीकृतं भवति ।

रणे चाभिमुखोदतदति दार्शान्तिकेऽभिद्वितं, तच इतवं धैर्था-तिश्रयस्थोपलचणं, श्रम्वत्यपि खबधे पर्चाणप्रवत्तस्य धीरस्य यथोका-फलमञ्जावादित्याद,—

यस्तु भग्नेषु सैन्येषु विद्रवत्मु समन्ततः ॥ ३३ ॥ परिवातुं यदा गच्छेत् स च क्रतुफलं लभेत्। इति॥

कतुर्वायमेधः । ब्रह्मकोकप्राप्तिफललात् । श्रयमेधस्य च तत्फाललं वाजसनेविश्वाखायां भुज्युबाह्मणे, "क न्वसमेधयाजिनो गच्छिका"-इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनयोर्विस्पष्टमवगम्यते ।

यः परिवाणार्थं प्रवृत्तस्य प्रवृत्तिमाचेण ऋतुफलसुतं, प्रवृत्तस्य गाचच्छेदे सति इतलाभावेऽपि फलातिशयोऽस्तीत्याइ,—

यस्य छेदस्रतं गाचं ग्रामुद्गरयप्तिः॥ ३४॥ देवकान्यात्तु तं वीरं हरन्ति रमयन्ति च। इति॥ गाचं ग्रीरं, छेदचतं इस्तपादाद्यवयवच्छेदेनोपद्तम्।

परिचाणाय प्रवृत्तस्य गाचक्दे यत्फालं ततोऽप्यतिष्ययं सर्णे दर्भयति,—

देवाङ्गनासहसाणि श्रूरमायाधने इतम् ॥ ३५॥ त्वरमाणाः प्रधावन्ति मम भन्ता ममेति च। इति॥ यद्यपि यज्ञमङादिकं युद्धमरणं चोभयमप्येकविधस्य फलस्य समानं

[&]quot; सुसुच्चोः परिव्राजकदर्शनमाचेगा,—इति सु॰ पुक्तके पाठः।

बाधनं, तथापि युद्धभरणसात्यन्यकालमाध्यतेन वैकलामभवा-द्त्रमगाधनविमियार,

> यं यज्ञसङ्घेस्तपसा च विप्राः स्वगे पिगो। वाऽच ययैव यान्ति। श्राणेन यान्येव हि तच वीराः प्राणान् सुयुद्धेन परित्यजन्तः॥३६॥ इति।

विप्रशब्देन निष्कामा विवित्तताः। तथाच खर्गेषिणो वेति विकल्प उपपद्यते। ऋच पुष्यकोकेषु यं लोकविशेषं यद्येव येन प्रकार्विशेषेण देवकन्यावरणादिना युकाः धन्तोथान्ति । तच तेषु पुष्यक्रीकेषु तसेव कोकविशेषक्तेनेव प्रकारेण युद्धहतावीराश्च यानि। चणेनेत्यृत्रं कालाल्पलमेतेव्वतिशयः।

ननु कालस्यान्पलेऽपि प्राणभीतेर्दृष्यरिहरलात्यूष्टींकं युद्धधैधं दुर्क्षेथि मित्या शङ्घ विचारवतः पुरुषस तत् सुलभमित्यभिप्रेत्य तं विचारं दर्भयति,—

जितेन लभ्यते लक्षीर्भतेनापि सुराङ्गणा। ऋणध्वंसिनि कायेऽसिन् का चिन्ता मर्णेर्णे॥३०॥इति

जितेनेति कर्चरि निष्ठा। ततो जयेन बच्चीलाभः, मर्णेन सुराङ्गनालाभः। यदि कायजीवनलोभासस्त्रीदेवांगनालाभी न पर्याची चेते, तथापि लाभपित्यागमात्रं तस्य नेवलमविशिष्यते। कायस्त सर्वया न चिरं जीवति, तस्य कर्मप्रापितायुष्यवप्रवर्त्तिलेन चणप्रध्वं िषखभावसात्।

श्रत्यन्तनिषिद्धभिष रुधिरपानं यत्र निर्तिश्रयस्कतलेन परिणमते, तत्र पुर्ण्लोकप्राप्ती कोविसायद्वत्याह,—

> ललाट देशे रुधिरं सवस्र यस्याइवे तु प्रविश्रेस वक्त्रम्। तत् सोमपानेन किलास्य तुच्यं संयामयत्त्रे विधिवस दृष्टम्॥ ३८॥ इति।

षंग्रामयज्ञप्रतिपादके नीतिशास्त्रादौ पुरोभागे प्रदारो वीर-लचणनेनोपवर्णितद्रति विवचितत्वात् विधिवदृष्टमित्युकम्।

तदेवं नविभः स्नोकैराभोचिविधिस्तावकलेन युद्धमरणस्य प्रभंसा कता । यसाद्रणदतोऽत्यन्तपुष्णात्मा, तसात्तन्मृतौ परिव्राजकम-रणद्रवाधिकाभौचाभाव उपपद्यते । श्रथवा । तएते नवस्नोकाः प्रकर-णादुल्ह्या राजधर्मेषु स्थापनीयाः, युद्धस्य चित्रयधर्मालात् । यथा दर्भपूर्णमासप्रकरणे श्रूयमाणो रजस्वलाव्रतकलापः प्रकरणादुल्हस्य क्राल्थपरिद्वारेण पुरुषार्थतयोपवर्णितस्तदत् ।

धर्मार्थमनायबाह्यणग्रववहनादी प्रशंधापूर्व्वकं सद्यःशीचं विद-धाति;—

श्रनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति दिजातयः।
पदे पदे यज्ञफलमानुपर्व्वाह्मभन्ति ते॥ ३८॥
न तेषामगुभं किञ्चित् पापं वा गुभकर्मणाम्।
जनावगाहनात्तेषां सद्यःश्रीचं विधीयते॥४०॥ इति।
श्रनाथं वस्तुरहितमष्पिण्डं ब्राह्मणमदृष्टाधं ये दिजातयोवहन्ति

स्पृमन्ति दहन्ति च, ते पदे पदे यज्ञफलानि क्रमेण प्राप्नुवन्ति, तथा तेषामग्रुआदिकमपि नास्ति, तेषां सानादेव यद्यः ग्रुद्धिर्विधीयते इत्यर्थः । तथा च दद्धपरामरः,—

"प्रेतस्पर्धनसंस्कारे ब्राह्मणो नैव दुखित । वोढा चैवाग्निदाता च सद्यः स्नाला विश्वधित"—इति॥ चन्तु हारीतेनोक्तम् । "प्रेतस्पृशोग्रामं न प्रविशेषुरानचत्रदर्भना-द्रात्री चेदादित्यस्थ"—इति । यच देवलेनोक्तम्,— "श्रक्ति चेदहनं कुर्यात् ऊर्द्धमस्तमयाद्रवेः ।

स्त्राक चदहन सुयात् जड्डमसमयाद्वः।
स्त्राला ग्रहं विभेडिपो राची चेदुदयाद्वेः"—इति॥
तत् स्त्रेहादिना करणीयनिर्हरणे वेदित्यम्।

किं तु प्राणायामोऽपि कर्त्तवाह,— श्रमगोचमबन्धुच्च प्रेतीभूतं दिजोत्तमम्। विहत्वा च दहित्वा च प्राणायामेन सुद्धात॥४१॥ इति॥

श्रमगोत्रमयपिण्डमबन्धं बन्ध्रहतं प्रेतं ब्राह्मणं ये वहन्ति दहन्ति, तेवां प्राणायामेन श्रुद्धिरित्यर्थः । न नेवलं खानप्राणायामौ, श्रम-स्पर्शे।ऽपि कर्त्तव्यः । तदुक्तमङ्गिरमा,—

"यः कञ्चिनिर्हरेत् प्रेतमयिण्डं कथञ्चन। स्नाना यचेलं स्पृष्टाऽग्निं तिसन्नेशक्ति वे ग्रिचिः"—४ति॥ स्नेहादिना प्रेतनिर्हरणं कूर्वतोऽयिष्डिखाग्रीचमस्ति। तथाच सनुः,—

> "श्रयपिण्डं दिजं प्रेतं विप्रोनिर्ह्तय बन्धुवत्। विश्वध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान्॥

ययनमित तेषां यः स दशाहेन, शुध्यति । श्रनदन्ननमन्तेव न च तस्मिन्ग्टहे वसेत्"—इति ॥

यसु प्रेतिनर्हरणं कला तहु विषित न च तदल्लसङ्गाति तस्य दिश्वसाधीचं, यसु तहु वंषन् तदल्लसङ्गाति तस्य दधरानं, यः पुनः प्रेतं निर्वत्य तहु इवाषं तदल्लञ्च परित्यन्ति तस्य दधरानं, यः एतत्यवर्णविषयम् । श्रववर्णधविनर्दारे तन्नातीयमाधीचं कार्धम् । तदाह गौतमः । "श्रपरश्चेदणः पूर्ववर्णसुपसृधे त्यूर्वेवाऽपरं तन्क-वोत्तमाधीचं"—दिति। उपस्पर्धनं निर्दरणम् । ब्राह्मणस्य श्रद्धधविनर्दारे मायमाधीचम्, श्र्द्रस्य ब्राह्मणधविनर्दारे दधाहमाधीचं भवतीत्यर्धः । यस्लर्थलोभादस्वर्णधविनर्दरणं करोति तस्य दिगुणमाधीचं भवतीति । तथाच व्याद्वः,—

"श्रवरश्चेद्वरं वर्षं वरोवाऽण्यवरं यदि । वहेच्छवं तदाशोचं वत्त्यर्थे दिगुणं भवेत्"—इति ॥ श्रथवर्णप्रेतनिर्हारे तदुक्तमाशोचं, तत्र वेतनाश्रयणे दिगुणमाशोचं भवतीत्यर्थः । यनु विष्णुपुराणे,—

> "योऽसवर्णं तु मूख्येन नीला चैव वहेन्तरः। श्राभोचं तु भवेत्तस्य प्रेतजातिसमं सदा"—इति॥

तदापिद द्रष्टव्यम्। त्रर्थलोभात्सवर्णमववहनादौ खजात्युक्तमा-भौचं कार्यम्। तथाच कूर्मी,—

> "यदि निर्हरित प्रेतं प्रलोभाकान्तमानमः। द्याहेन दिजः ग्रध्येद्वाद्याहेन स्वामिपः॥ श्रद्धेमासेन वैष्यस्त ग्रद्वोमासेन ग्रुध्यति"—द्वि।

यस्तु सपिण्डएव प्रेतं निर्हर्ति न तसामौचाधिकां, प्रेतनिर्हर-णस्य विचितलात् । तदाह देवलः,—

"विहितं तु षिणि हानां प्रेतिन हरणादिकम्। तेषां करोति यः कश्चित् तस्याधिकां न विद्यते" – इति॥ श्चाधिकामाणौचाधिकामित्यर्थः। यमानोदकप्रेतिन हरणे दणाहम्। तदाह सएव, —

"यः समानोदकं प्रेतं वहेदाऽष दहेत वा।
तस्याभीचं दभाहं तु धर्मज्ञामुनयो विदुः"—इति॥
प्रश्लाचारिणः प्रेतवहनकरणे व्रतलेषः। तदाह देवलः,—
"ब्रह्मचारी न कुर्वीत भवदाहादिकाः* कियाः।
यदि कुर्याचरेत्वच्छं पुनः संस्कारमेव च"—इति॥
पिचादिभववहने तु न दोषः। तथाच मनुदेवलो,—
"श्राचार्यं खमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्।
निर्द्धत्य तु व्रती प्रेतान् न व्रतेन वियुच्यते"—इति॥
विश्वष्ठोऽपि। "ब्रह्मचारिणः भवकर्मणा व्रतनिवित्तरस्य मातापिचोर्युरोवीः"—इति। याभ्यवस्योऽपि,—

"ऋचार्यपिच्रपाधायं निर्देत्याऽपि वृती वृती। स तदलञ्च नास्त्रीयान च तैः सह संवस्त्"-इति॥

घेतवाद्वादिकाः,—इति सु॰।

[†] ग्रकटाझच,—इति सो० दि०।

त्रती ब्रह्मचारी विप्रादीनां निर्हरणादिकं कला यद्याभौचिभिः बद्द वामं तदलञ्च परित्यज्ञति, तदा व्रती व्रतचर्याल वियुज्यते दत्यर्थः। ब्रह्मपुराणेऽपि,—

"श्राचार्यं वाऽष्णुपाध्यायं गुरुं वा पितरं तथा।

मातरं वा ख्यं दग्ध्या व्रतम्यस्तत्र भोजनम् ॥

कला पतित वे तस्मात् प्रेतान्नं न तु भचयेत्।

श्रन्थत्र भोजनं कुर्यान्न च तैः मह मंवसेत्॥

एकाइमग्रचिर्ध्वा दितीयेऽइनि ग्रध्यितः"—दिति।

बाह्यणग्रववहनादो ग्र्ष्टं न नियोजयेत्। तदाह मनः,—

"न विप्रं खेषु तिष्ठत्म मृतं ग्र्ष्टेण हार्येत्।

श्रम्वर्ग्या ह्याङ्गितः सा स्थाच्छूद्रमंस्पर्भद्रिषता"—दिति॥

श्रव खेषु तिष्ठत्स्वत्यविविचितं, श्रस्वर्ग्यवदोषश्रवणात्। विष्णु
रिष् । "मृतं दिजं न ग्रुहेण निर्दार्येन्न ग्रुहं दिजेन"—दिति।

यमोऽिष,—

"न ग्रुद्रो यजयानं वै प्रेतिस्तं समुद्रहेत्।

यस्यानयित ग्रुद्रोऽग्निं त्रणं काष्ठं ह्वींषि च॥

प्रेतत्वं हि मदा तस्य म चाधर्षेण लिप्यते"—इति।

बाह्यणदिश्वनिर्हारे दिङ्नियमोदिर्शितोमनुना,—

"द्विणेन स्तं ग्रुद्रं पुरदारेण निर्हरेत्।

पश्चमोत्तरपूर्वेस्त यथायोगं दिजन्मनः"—इति॥

हारीतोऽपि। "न यामाभिसुखं प्रेतं हरेयुः"—इति।

श्वनुगमनाग्रीचमाह,—

त्रनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव वा। स्नात्वा सचेलं स्पृष्ट्वाऽप्तिं पृतं प्राप्त्य विश्वध्यति। इति॥

ज्ञाति मिपिएड्यितिस्तं बन्धुं, मिपिएडानुगमनस्य विहितलात्। ज्ञज्ञातिमबन्धुं वा समानोत्ष्ठष्टजातिप्रेतं कामनयाऽनुगम्य सचेलं स्मात्वाऽिमं स्पृष्टा एतसुक् गुध्यति दत्यर्थः। तथाच याज्ञवल्यः,—

"ऋनुगन्याक्षि स्नाला सृष्टाऽग्निं एतसुक् ग्रुचिः"—इति॥ कूर्कोऽपि,—

'प्रेतीभ्रतं दिजं विप्रो योऽनुग्च्हेत कामतः। स्त्रात्वा सचेलं स्पृष्टाऽग्निं हतं प्राप्य विशुध्यति"—इति॥ स्त्रच च विश्रेषः कथ्यपेनोतः,—

''त्रनुगम्य शवं बुधा जाला सृष्टा ज्ञताशनम्। मर्पिः प्राय्य पुनः खाला प्राणायामैर्विशुधित''-इति॥

न च एतप्राग्रनस्य भोजनकार्ये विधानाद्गीजननिष्टितिरिति वाच्यम्। तस्य प्राथिसत्तिवेन विधानात्। प्राणायामैरिति बज्जवचनस्य कपिच्चलन्यायेन चिले पर्यवमानात्, चिभिः प्राणायामैः गुध्धित,— दत्यर्थः।

निक्रष्टजात्यनुगमनाशोचमार,—

श्वियं खतमज्ञानाद् ब्राह्मणोयोऽनुगच्छित। एकाइमण्डिस्ता पच्चगच्चेन गुध्यति॥ श्वच्च वैश्यमज्ञानाद्वाह्मणोयोऽनुगच्छित। छत्वाऽऽश्रीचं दिराचच्च प्राणायामान् पडाचरेत्॥ प्रेतीसृतन्तु यः यूद्रं ब्राह्मणा ज्ञानदुर्व्वलः । ज्ञनुगच्छेन्नीयमानं चिराचमश्चिभेवेत् ॥ चिराचे तु ततः पूर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम् । प्राणायामश्रमं कृत्वा एतं प्राग्य विशुध्यति । इति ॥

यो ब्राह्मणः श्रज्ञानान्गोर्स्थात् चित्रयं प्रेतसन्गच्छति, स एकाइसाधौचं छला पञ्चगयेन ग्रथ्यति। ब्राह्मणोवेष्यगवानुगमनं छला
दिगवागौचानन्तरं षड्भिः प्राणायामः ग्रथ्यति। ग्रुट्रगवानुगमनं
छला चिरावमागौचं समाप्य सहानद्यां खाला ग्रतं प्राणायामान् छला
हतप्राध्यनेन ग्रुध्यति। उपक्रमोपमंहार्पर्यालोचनया चित्रयादिशवानुगलानेऽपि सचेलखानाग्रिस्पर्भहतप्राग्रनान्यनुमन्धेयानि। एवच सति
च्रिष्यस्य वैद्यगवानुगमने एकाहं ग्रुट्रग्रवानुगमने ह्यहं, वैद्यस्य
ग्रुट्रग्रवानुगमने एकाहं ग्रुट्रग्रवानुगमने ह्यहं, वैद्यस्य
ग्रुट्रग्रवानुगमने एकाहमागौचिसत्यूह्नीयम्। तथाच कृर्ध्वी,—

"एका हात् चित्रये शुद्धिर्वेग्ये स्थात्मा ह्यहेन तु । शुद्धे दिन त्रयं प्रोकं प्राणायामग्रतं पुनः"-इति॥

दिजानां श्रद्धवानुगमननिषेधे कदा तै: श्रूदा श्रनुसर्च्या-इत्यतश्राह,—

विनिर्वर्त्य यदा ग्रहा उदकान्तमुपिस्थिताः। दिजैस्तदाऽनुगन्तया एष धर्मः सनातनः। इति॥

खदकप्रब्देनोदकिष्योखते। तखा श्रनः समाप्तः। तां निर्वत्यं श्राधीचं परिसमाप्य यदा स्थिताः, तदा दिजैरगन्तुतथाः श्रनु सर्नथाः,—इति। एवं, ब्राह्मणसातुरचियवैद्यानुमर्णं चित्रयसायातुरवैद्यानु-सर्णमात्रौचानन्तरसेवेत्यूहनीयम्। त्रात्रौचमध्ये त्रातुरयञ्जने लाग्रौच-सस्ति। तच ब्राह्मणसरणविषयातुरयञ्जने पारस्करः,—

> "ऋस्थिषञ्चयनाद्वीग्रहिता स्नानमाचरेत्। ऋन्तर्दशाहे विप्रस्य ऊर्द्धमाचमनं स्रातम्—इति॥

विष्ठस्य स्टतस्य द्याहाभ्यन्तरेऽस्थिषष्ठयनाद्वाग्नाह्मणः चिन-यादिवाऽऽतुर्यञ्चनं कला सानमाचरेत्। ततजर्द्धमाचमनमाचरे-दिति । चित्रयमरणविषयातुरयञ्चने चित्रयादीनां, वैष्यमरणवि-षयातुरयञ्चने वैष्यगूद्रयोश्च प्रागस्यिषञ्चयनात् स्वेलं सानं, ततजर्द्धं स्नानमाचमेव। तस्रकें ब्रह्मपुराणेऽभिद्धितम्,—

> "म्हतस्य यावदस्यीनि ब्राह्मणस्याह्तानि तु। तावद्योऽबान्धवस्तत्र रोति तद्वान्धवैः यह॥ तस्य स्वानाद्भवेस्कुद्धिसतस्वाचमनं स्रतम्। यस्तेसं स्वानमन्येषां शकते वस्थियञ्चये॥ कृते तु केवसं स्वानं चत्रविट्श्ट्रजन्मनाम्"—इति।

ब्राह्मणस्य चित्रयंग्यमरणविषयातुरयञ्चने श्रस्थिषञ्चयनाद्वागे-कादमाश्चीचं स्रचेलं सानञ्च, ततऊद्वें स्रचेलं सानमाचम्। तथाच ब्रह्मपुराणम्,—

"श्विष्यसञ्चयने विप्रो रौति चेत् चनवैष्ययोः।
तदा खातः सचेलस्त दितीयेऽइनि ग्रुधिति॥
कृते तु सञ्चये विप्रः सानेनैव ग्रुचिभवेत्"—इति।
खिखस्य वैष्यसरणविषयातुर्यञ्चने विशेषात्रवणेऽपि बाह्यणस्य

समनन्तरचिष्यमरणविषयातुरयञ्चने यदाशीचं विविचतं तदेवाचेति न्यायतोऽचावगम्यते । ग्रूट्रमरणविषयातुरयञ्चनेऽस्थिमञ्चयनात् प्राक् ब्राह्मणस्य चिराचमाशीचं, चिचयवेग्ययोदिराचं, ततऊद्धें दिजाती-नामेकराचमेव । ग्रुट्रसाशें विनाऽऽतुरयञ्चनेऽस्थिमञ्चयनादर्वागेकराच-माशीचं, ततऊद्धें मञ्चोतिराशीचमिति । तथाच पारस्करः,—

> "त्रस्थिषञ्चयनाद्वीग्यदि विप्रोऽश्रु पातयेत् । स्तते ग्र्हे ग्रहं गला चिराचेण विग्रुध्यति ॥ श्रस्थिषञ्चयनादृध्वं मामं यावद्विजातयः । श्रहोराचेण ग्रुध्यन्ति वाममः चालनेन च ॥ सजातेर्दिवसेनेव द्वाहात् चित्रयवैष्ययोः । स्पर्भे विनाऽनुगमने ग्रुहोनकेन ग्रुध्यति"—इति ॥

श्रवाश्रुपात श्रातुरव्यझनमाचोपलचणार्थः। सजातेः श्र्ट्रस्थास्थि-सञ्चयनार्दाक् स्पर्भे विनाऽनुगमने त्रातुरव्यञ्जने दिवसेनाहोराचेण श्रुद्धिः, ततळ्यं नकेन राचौ चेद्राच्याऽहनि चेदङ्का श्रुद्धिरिति। एवञ्च श्रवनिर्हरणानुगमनसहातुरव्यञ्जनादिनिमित्तमाशौचमसपिण्डा-नां, सपिण्डानान्त् विहितलात् नास्ति। तथाच हारीतः,—

"विचितं हि षपिण्डस्य प्रेतनिर्चरणादिकम्। दोषः स्थात्त्वयपिण्डस्य तचानाचिकियां विना"—इति॥ प्रेतनिर्चरणादिकसित्यचादिग्रब्देन दाहोदकदानादिकसुच्यते। श्रमुगसादिविधिर्याज्ञवस्कोन दिर्शितः,—

> "त्रा सामानादत्त्रत्रय इतरो ज्ञातिभिर्म्धतः। यमस्रतं तथा गाथां जपद्गिर्लाकिकामिना॥

षद्यःशौचाउपेतश्चेदाहिताग्निर्ययार्थवत्"-इति।

अनिह्नवर्षादितरः सम्पूर्णदिवर्षास्तोज्ञातिभः सपिण्डैः सम्मानस्ट्रिमं चावदनुगन्तवः। तथा, यमस्तं परेयुवांसमिति षोष्ठम्र्षं
तथा यमदेवत्यां गाथाच जपित्र्र्लेकिकाग्निना स द्राध्यः। उपेतजपनीतस्रोन्धृतः, तदा त्राहिताग्निस्कारमकारेणार्थवत् प्रयोजनवद्यथा
भवति तथा द्राध्यः। त्र्यसभिप्रायः। येषां स्रमोधनप्रोचणादीनामाहिताग्निविह्नतसंकाराणां करणमर्थवत्, दारकार्यक्षपं प्रयोजनस्रक्ति, तान्यनुष्ठेचानि। यानि तु जुप्तार्थानि पात्रप्रयोजनादीनिः
तान्यनुष्ठेचानि। यथा कृष्णलेखतिदेशप्राप्तेष्ववधानप्रोचणादिषु दारजोपादवधातादीनामननुष्ठानं प्रोचणादीनान्तनुष्ठानिमिति। त्रव जीकिकाग्नियद्यणं जातारणेरभावे, तत्सद्भावे तु तस्मिन्धाधितोऽग्निर्वाद्यः न तु जोकिकाग्निः तस्माग्निम्बार्थकोनोत्परोः।
जीकिकाग्निव्यख्यानाम्यादिवितिरक्तोग्राह्यः, तेषां निषद्भवात्।
तथाच देवलः,—

"चण्डालाग्निरमेधाग्निः स्तनाग्निय नहिन्। पिताग्नियिताग्निय न ग्रिष्टग्रणोचिताः"—इति॥ प्राह्मिताग्निस्त स्रोताग्निना दम्ध्यः, स्नाहिताग्निरंह्याग्निना, इतरो खौकिनेन। तदाह द्वयान्नवस्त्यः,—

"श्राहिताग्नियंयान्यायं दाधवास्त्रिभिरग्निभिः। श्रनाहिताग्निरेकेन लोकिकेनेतरोजनः"—इति॥ एकेन ग्टह्याग्निना दाहश्च स्वपनाद्यनन्तरं कर्त्त्रयः। तथाच सात्यायनः,— "दुर्वलं खापयिला च ग्रद्धचेलाभिषंटतम्। दिचणामिरमभूमो विदेशत्यां निवेशयेत्॥ घतेनाभ्यक्तमासुत्य सवस्त्रचोपवीतिनम्। चन्दनोचितमर्थाङ्गं समनोभिविभ्रवयेत्॥ हिरण्यक्रकलान्यस्य चित्रा किद्रेषु सप्तस्। सुखे वक्तं निधायेनं निर्दरेयुः सुतादयः॥ श्रामपाचेऽन्नमादाय प्रेतमग्रिपुरःसरम्। एकोऽनुगच्छन् तस्यार्द्धमर्द्धपय्युत्मृजेद्भवि॥ श्रद्धमादद्दनं प्राप्तमामीनोदित्तणासुखः। सयञ्चान्वाय शनकैः सतिलं पिण्डदानवत्"—इति॥

पिण्डदानिविधिना त्रादहनं सामानपर्यन्तमानीतमनं प्रविपेदित्यर्थः। दाहानन्तरं चितिसनवेत्तमाणाज्ञातयो जलमभीपं गला
स्नालोदकं सकत् चिर्वा दद्यः। तथाच कात्यायनः,--

"श्रयानवेचमेत्यापः मर्ज्यव गवस्पृगः । स्नाला मर्चेसमाचम्य दद्युरस्वोदकं स्थले ॥ गोत्रनामपदान्ते च तर्पयामीत्यनन्तरम् ।

दिचिणाग्रान् कुणान् कता सितनन्तु पृथक् सकत्"—इति ॥
पैठीनसिरिप । "प्रेतं मनमा ध्यायन् दिचिणाभिमुखस्त्रीनुदकाज्ञानिनयेत्"—इति । एतचायुग्मितिधिषु कार्यं, "प्रथमहत्तीयपञ्चमसप्तमनवसेषूदकिषया"—इति गौतमस्मरणात् । प्रेतोपकारविभेषापेच्या तु यावन्त्याणोचिदनानि तावदुदकदानावित्तः कार्या ।
तथाच प्रचेताः,—

"दिने दिनेऽञ्चलीम् पूर्णाम् प्रदेशात् प्रेतकारणात्। ताबहुद्धिश्च कर्त्तवा यावित्पण्डः समायते"—इति। याबद्दश्यमः पिण्डः समायते, ताबद्ञ्जलिटद्धिः कार्येद्यर्थः। श्रवापरोविभेषस्तेनैवोक्तः,—

"नदीकूलं ततो गला श्रीचं छला यथार्थवत्।
वस्तं संशोधयेदादौ ततः खानं समाचरेत्॥
सचेलम्तु ततः खाला ग्रुचिः प्रयतमानमः।
पाषाणं तत श्रादाय विषे दद्यात् द्याञ्चलीन्॥
दादश चित्रये दद्यादेश्ये पश्चदश स्तृताः।
चिश्रच्छूद्राय दात्रयास्तृतः सम्प्रविश्रेष्टृहम्॥
ततः स्त्रानं पुनः कार्यं ग्रह्शोचञ्च कार्यत्"—इति॥
श्राज्ञातिभिरपि कचित् उदकदानं कर्त्त्यम्। तदाह याज्ञ-

"एवं सातामदाचार्यप्रेतानामुदककिया। कामोदकं मखिप्रत्ताखसीयश्वष्ठरविजाम्"—इति॥

प्रत्ता परिणीता दुिहत्भगिन्यादिः । खसीयोभागिनेयः । श्रव प्रेतानां सातामद्वादीनां सिपण्डवदुदकदानं नित्यं कार्यं, सख्यादीनां तु कासतः न नित्यतया, श्रवरणे प्रत्यवायाभावादिति ।

उदकदानानन्तरं पिण्डदानमपि कर्त्त्रथम् । तथाच विष्णुः। "प्रेतस्थी-दकनिर्वपणं कत्वा एकश्च पिण्डं कुण्डेषु दद्युः"—इति। पिण्डोदकदानश्च वावदाणीचं कार्यम्। तदाइ भएव। "यावदाणीचं तावस्रेतस्थोदकं पिण्डश्च दद्युः"—इति । वर्णानुक्रमेण पिण्डमञ्चानियमः पारस्करेणोकः,— "ब्राह्मणे द्य पिण्डाः खुः चित्रये दाद्य स्टताः। वैग्ये पञ्चद्य प्रोकाः भूदे त्रियत्प्रकीर्त्तिताः"—दिते॥ अभौचक्रासे यावदाभौचमिति विष्णुवचनात् पिण्डयङ्गोचप्राप्तौ भ्रातातपः,—

"त्रामौचस च हासेऽपि पिष्डान् दद्यात् दम्मैव तु"—इति । चिराचामौचपचे दम्मिण्डदानप्रकारः पारस्करेण दर्भितः,—

"प्रथमे दिवसे देवास्त्रयः पिष्डाः समाहितैः । दितीये चतुरो दद्यादस्थिमञ्जयनं तथा ॥

चींस दद्यात् हतीयेऽक्ति वस्तादीन् चास्येत् तथा"-इति॥ खदसदानवित्पण्डदानं न सर्वैः कर्त्तयभि तु पुचेणेव, तदभावे सिक्षिदितेन सिपण्डेन, तदभावे माहसिपण्डादिना । तदाइ गौतमः। "पुचाभावे सिपण्डाः माहसिपण्डाः शिष्यास दद्यः तदभावे स्वित्मा-चार्यै।"-इति। पुचेष्यपि ज्येष्ठएव पिण्डं दद्यात्। तथाच सरीजिः,-

"सर्वेरनुमतिं कला चोष्ठेनैव तु यत्कतम्। द्रयोण वाऽविभन्नेन सर्वेरेव कतं भवेत्"—इति॥

यदा पुचामनिधानादिनाऽन्यः पिण्डद्वां करोति, तदा दशाह-मध्ये पुचमानिध्येऽपि सएव दशाहं पिण्डं दद्यात्। तदुक्षं ग्रह्य-परिश्चिष्टे,—

"त्रमगोत्रः सगोते। वा यदि स्ती यदि वा पुमान्।
प्रथमेऽइनि यः कुर्यात् म दणाहं समापयेत्"—इति॥
यथा दणाहं पिष्डदाने कर्त्वनियमः, तथा द्रव्यनियमोऽपि।
तदाह ग्रुनःपुष्टः,—

"शासिना शकुभिकीऽपि शाकैकीऽणय निर्विपेत्।
प्रथमेऽस्नि यहुवां तदेव साह्शास्किम्"—इति॥
यदा तु दशासमध्ये दर्शपातस्तदा दर्शपवोत्तरं तन्त्रं पिष्डोदकदानस्तपं समापयेत्। तदास स्वयाद्यक्षः,—

"श्रामीचमन्तरा दर्मी यदि खासार्ववर्णिनः। समाप्तिं प्रेततन्त्रस्य कुर्युरित्याद्द गौतमः"—इति॥ भविष्यपुराणेऽपि,—

"प्रवृत्ताभीचतन्त्रस्त यदि दर्भं प्रपद्यते । समाप्य चोदकं पिष्डं स्नानमाचं समाचरेत्"—इति॥ पैठीनसिरपि,—

"श्राद्येन्दावेव कर्त्तव्या प्रेतिपिष्डोदकिष्ठया।
दिरीन्दवे तु कुर्व्वाणो पुनः प्रावं ममश्रुते"—इति॥
मातापित्वविषये तु विश्वेषो गास्त्रवेनोकः,—
"पित्रोराश्रीचमध्ये तु यदि दर्शः ममापतेत्।
तावदेवोत्तरं तन्त्रं पर्यवस्थेत् श्राह्यात् परम्"—इति॥
पित्रोराश्रीचमध्ये तु त्रिराचात्परं यदि दर्शः ममापतेत्, तदैवोत्तरं तन्त्रं दर्शे समापयेत्, नार्व्वाग्दर्शापाते। यत्त् स्लोकगौत-

"श्रम्तर्रशाहे दर्शे तु तत्र मर्के ममापयेत्। पित्रोस्तु यावदाश्रीचं दद्यात् पिण्डान् जलाञ्चलीन्"—इति॥ तत् चिराचाद्वीग्दर्शापाते वेदितयं, श्रहात्परमिति गासवेत्र श्रिवितत्वात्। पिण्डोदकदानानमत् वास्ववैरातुराशायणं कार्यम्।

सेनोत्तस्,-

तथाच याज्ञवस्काः,—

"क्रतोदकान्ससुत्तीर्खात्मृदुशादलमंस्थितान्। स्रातानपवदेयुस्तानिति हासै: पुरातनै:"—द्रति। द्रतिहासस्तु तेनेव दर्शित:,—

"मानुष्ये कदलीसाक्षे नि:सारे सारमार्गणम्। करोति थः स मसूहो जलबुद्धुदसन्तिभे। पञ्चधा संस्तः कायो यदि पञ्चलमागतः॥ कर्माभः खग्नरीरात्येस्तन का परिदेवना। गन्त्री वसुमती नाग्रसुदधिद्दैवतानि च॥ फेनप्रख्यः कथं नाम मर्त्यलोको न यास्यति"-द्रित॥ कात्यायनोऽपि,—

"एवं कतोहकान् सम्यक् सर्वान् शादलसंस्थितान्। श्राञ्जतान् पुनराचान्नान्वदेयुस्तेऽनुयायिनः। मा शोकं कुरुतानित्य पर्व्यस्मिन् प्राणधर्म्माणि॥ धर्मे कुरुत् यह्नेन यो वः ४इ करिष्यति"—इति। शोके दोषोऽपि याज्ञवस्क्येन दर्शितः,—

"स्रेग्नात्रु वान्धवेर्मुतं प्रेतोसुङ्के यतोऽवज्ञः । स्राते न रोदितयं हि कियाः कार्याः प्रयत्नतः"—हित स्रातुरायामनानन्तरहत्यं याज्ञक्कोनोक्तम्,—

"दित मिचिन्य गच्छेयुर्ग्ट बालपुरः मराः। विद्यय निम्नपत्राणि नियतादारवेशानः॥ श्राचम्याग्यादि मिललं गोमयं गौरमर्षपान्। प्रतिभेयुः समासभ्य कलाऽस्मिनि पदं सनैः"—इति॥
श्राचापरोतिभेषः सङ्घोन दर्धितः। "दूर्वाप्रवासमित्रं उपमं चास्तभ्य ग्टस्दारे प्रेताय पिष्डं दत्ता पश्चात् प्रविभेयुः"—इति। श्राभौचिनियमा मनुना दर्भिताः,—

"ऋचारलवणाद्धाः खुर्तिमञ्जेयुष्य तेऽत्वहम्। मांसामनस नास्त्रीयुः मयीरंख पृथक् चितौ"—इति॥ मार्कण्डेयेनापि,—

"क्रीतलक्षाधनास्वेव भवेयुः सुसमाहिताः। न चैव मांसमस्रीयुर्वजेयुर्व च योषितम्"—इति॥

गौतसेनापि। "श्रधःश्रयासना ब्रह्मचारिणः सर्वे समासीरनासं न अचयेयुराप्रदानात् प्रथमहतीयसप्तमनवसेषूदककर्म नवसे वाससां त्यागः श्रक्ये त्वन्यानाम्"—इति। प्रदानं प्रेतेकोद्दिष्टश्राद्धं, वाससां त्यागस्त प्रचालनाधं रजकार्पणं, श्रन्यं दश्रममदः, तत्रान्यानामत्य-न्तपरित्याञ्यानां वाससां त्याग इत्यर्थः। प्रथमेऽद्दनि प्रेतसुद्दिष्य जसं चौरं चाकाशे शिक्यादौ पाचदये स्थापनीयम्। तदाद स्वाचवस्क्यः,—

''जलमेकाइमाकाभे खाणं चीरभ्रं म्हण्मये''-रिता

प्रचमति विषप्तमनवमदिवसानामन्यतमस्मित्रस्थित स्थान कार्यम्। तदाइ सम्बर्तः,—

> "प्रथमेऽक्ति हतीये वा सप्तमे नवमे तथा"। श्रिष्यसञ्चयनं कार्यं दिने तद्गी जिः सह"—दिति॥

क पश्चित्रयवा, — हति सु॰।

चतुर्थे दिवसेऽस्थिमञ्चयनमार विष्णुः । "चतुर्थे दिवसेऽस्थि-सञ्चयनं कुर्युः तेषां गङ्गास्थि प्रचेपः"—इति । श्रस्थिसचयने तिथिवारनचनिषेधोयसेनोकः,—

> "भौमार्कमन्दवारेषु तिथियुग्मेषु वर्जयेत्। वर्जयेदेकपादृचे दिपादृचेऽस्थिमञ्चयम्॥ प्रदात्रजमानचने निपादृचे विशेषतः"—इति।

वृद्धमनु:,—

"वखनाई।दितः पञ्चनचचेषु चिजनासः ।।
दिचिपादृचयोश्चैव नन्दायां च विजेषतः ॥
प्रज्ञचरणादिदितीये द्याषाड़ादयमेव च ।
पृथ्ये च इस्तनचचे फलगुनीदयमेव च ॥
भानुभौमार्किस्गृषु अयुग्मतिथिषन्ध्ययोः ।
चतुर्देग्धां चयोदग्धां नेधने च विवर्ज्ञयेत् ॥
प्रश्चिषद्यनं कार्यं कुलचयकरं भवेत्"—इति ।
वापनं दश्मेऽहिन कार्यम् । तदाह देवलः,—
"दश्मेऽहिन सम्प्राप्ते खानं यामादिहर्भवेत् ।
तच त्याच्यानि वाषांषि केश्रक्षअत्रनखानि च"—इति ॥
स्वत्यान्तरे तु एकादशाहादवागिनयमेन वापनं कार्यमित्युक्तम्,—
"दितीयेऽहिन कर्त्तयं चुरकर्म प्रयक्षतः ।

[•] हडमनुः,—इत्यारभ्य एतदन्तीयत्योगास्ति सुदितातिरिक्तपुक्तकेषु।

ं वपनं,—इति सु॰। एवं परच।

हतीये पश्चमे वाऽपि सप्तमे वाऽऽप्रदानतः"—इति ॥
प्रदानमेकादशाद्दिकं श्राद्धम्। श्रवाप्रदानतः इति वचनात् प्रनियमोऽवगन्यते । बौधायनेनापि,—

"श्रमुप्तनेशोयः पूर्वं गोऽत्र नेशान् प्रवापयेत् । दितीयेऽक्ति त्तीयेऽक्ति पश्चमे मप्तमेऽपि वा ॥ यावच्छाद्धं प्रदीयेत तावदित्यपरं मतम्"—इति ।

वापनस्य पुचाणां कनिष्ठभातृणाञ्च। तथा वापसमः। "बनुभा-विनास्य परिवापनम्"—इति। ऋनु पस्राद्भवन्ति जायन्ते इति पुचाः कनिष्ठभातरस्य। श्रथवा। श्रनुभाविन इति पुचाएव निर्द्धियन्ते,—

> "गङ्गायां भारकरचेचे मातापित्रोग्रीर्मतौ । श्राधानकाले सोमे च वपनं सप्तसु स्रतम्॥"

इत्यच मातापिचोर्म्हतौ इति विश्वेषेणोपादानात् । एवं नियतः खन् खेवीऽपि खाशौचान्ते पिण्डोदकदानं समापयेत् । तदेकोहिष्टमु खाद्धमेकादशेऽफि कुर्यात् । तथाच मरीचिः,—

> "श्वाशीचान्ते ततः सम्यक् पिष्डदानं समायते । ततः श्राद्धं प्रदातयं सर्ववर्षेष्वयं विधिः''—इति ॥

तत त्राघोषानन्तरमेनादघेऽकि बाह्मण एनोहिष्टमाहं सुर्यात्। एकोहिष्टमेनादघेऽप्तनि सुर्यादित्ययं विधिः वर्ववर्षेषु षणियादिषु धमानद्रत्यर्थः।

नन्या शोच बमा प्रानन्तर मेवे को हिष्ट विधिः वर्षे विष वर्षेषु किं न खात्। एकाद शेऽहिः श्रधिकका खाशीचिनां चित्र वादीनां ग्रह्य-भावात्। "शुचिना कर्षा कर्त्त्र व्यम्"—इति ग्रह्येः कर्षा श्रुत्तेन विधानात्। "श्रषाणौचापगसे"—इति बाधारक्षेनोपक्रस्यैकोहिष्टस्य विष्णुना विदितलाच।

"श्राद्यश्राद्धमग्रद्धोऽपि कुर्यादेकादग्रेऽहिन।
कर्नुसात्का सिकी ग्राद्धरग्रद्धः पुनरेव सः"—हित
ग्रह्धवचनेनाग्रोचमध्ये एकादग्रेऽह्मि एको दिष्टविधाना स्पेविधिति
चेत्। न। सातर्थये प्रमीतायां तदाग्रोचमध्ये यदि पिता स्वियेत,
ततो सातुरेको दिष्टश्राद्धसेकादग्रेऽह्मि श्रग्रद्धोऽपि कुर्यादिति
विषयान्तरसम्भवात्। यन्त,—

"एकाइमेऽक्ति यक्काद्धं तत्सामान्यसुदाहतम्। चतुर्णामपि वर्णानां स्नृतकन्तु पृथक् पृथक्"—इति पैठीनसिवचनं, तत्सायमर्थः। श्रामौचानन्तरदिने यक्काद्धं विहितं, तत्त्वतुर्णामपि वर्णानां साधारणं न ब्राह्मणस्थैवेति। कथं तर्ह्यकादमाह-मन्द्रस्थोपपत्तिरिति चेत्। न। खन्नणया तस्यामौचानन्तरदिनपरत्वेनो-पपन्तेः।

श्वनोच्यते। एकादशाहकालविशिष्टमेकोहिष्टश्राद्धं चतुणां वर्षानां विधीयते। "न विधी परः श्रन्दार्धः"—इति न्यायेनेकादशाहशन्दस्य लचणयाऽशोचानन्तरहिनपरतानुपपन्तेः। स्रति सुख्ये दृन्यन्तरकन्पनाया श्वन्यायात्वाच, एकादशाहण्य चित्रयाहिभरप्येकोहिष्टश्राद्धं कर्न्त्यम्। नन्वेकादशेऽक्ति चित्रयादीनां शुद्धभावाच्छाद्धेऽधिकारो नास्ति हत्युक्तमिति चेत्। न। कर्नुस्तात्कालिकी शुद्धिरिति वचनात्तात्वालिकाः शुद्धेः सन्वात्। यन् श्रङ्खान्वचनस्याशोचमध्ये श्वाशो-चान्तरस्राप्तावेकोहिष्टसेकादशेऽक्ति श्वश्रद्धोऽपि कुर्याहिति विषय-

विशेषे तात्पर्यस्कम् । तन्न । तनापि गुडाभावादित्यस चोचस् समान-लात्। माझान्येन प्रवृत्तस्य शङ्कांवचनस्य विना कारणं विशेषपरलेन खङ्कोचायोगाच । यत्तृकं, श्रथाशौचापगमद्गति सामान्येनोपकम्य विष्णुनैको दिष्टविधानादा शौचानन्तर सेव मर्वेरेको दिष्टं कर्न्य सिति। तन्त्र । विष्ण्वचनस्य दशाहाशौचित्राह्मणविषयनेनोपपन्तेः । तसा-देकादशाइएव ज्वियादिभिग्येकोदिष्टं कर्त्त्यमिति सुष्ट्रकम्।

श्रय संग्रहीतश्राइनिर्णयः प्रपच्चाते।

ंग्रतो इं जेन श्रद्ध्या द्रवायागः श्राद्धम्। तद्त्रं ब्रह्मपुराणे,— ''देशे काले च पाने च श्रद्धया विधिनाच यत्। पितृनुहिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाह्तम्"-इति॥

तच पार्व्यणेकोहिष्टभेदेन दिविधम्। पुरुषचयसुद्दिश्य यत् कियते, तत् पार्वणम्। एकपुरुवोद्देशेन यत् कियते, तदेकोहिष्टम्। एवं दिविधमपि श्राद्धं नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन विधा भिद्यते। तच जीवनीपाधी चेादितं नित्यम्। यथा श्रमावस्थादी चोदितं श्राद्धम् । श्रनियतनिमित्तकं नैमित्तकम्। यथोपरागादौ। कामनो-पाधिकं काम्यम्। यथा तिथिनचनादिष् । यन् विश्वामिनेण द्राद्रश्रविधलम्त्रम्,—

> ''नित्यं नैमिन्तिकं काम्यं रहित्राहं मिपल्डनम्। पार्व्वणं चेति विज्ञेयं गोष्ट्यां गुज्ज्यंमष्टमम्॥ कथ्या इं नवमं प्रोक्तं दैविकं दशमं सरतम्। याचास्त्रेकादणं प्रोक्तं पुद्धार्थं दादणं सतम्"-इति॥ त जित्यने मिनिककाम्यावान्तरभेदविवचयेव, न तु ततः पार्थका-

विवचया । तथारि । तच नित्यसित्यहरहः स्राह्मसुखाते । नैमि-स्तिकसित्येकोहिष्टम् । तहाह पारस्कर:,—

> "त्रहत्यहिन यक्त्राद्धं तिकात्यमिति कीर्त्तितम्। वैश्वदेवविहीनन्तु श्रममावुदकेन तु॥ एकादिष्टन्तु यक्क्राद्धं तस्त्रीमित्तिकसुच्यते। तदणदैवं कर्त्तव्यमयुग्मानाभ्येद् दिजान्"—इति॥

काम्यमित्यभिभतार्थिसञ्जर्थम्। वृद्धित्राद्धिमिति पुच अन्यविवाहादौ कियमाणम्। सपिण्डनं सपिण्डोकरणम्। पार्चणिमिति प्रति पर्च कियमाणम्। गोष्ठ्यामिति गोष्ठ्यां कियमाणं त्राद्धम्। तदाह वृद्धविष्ठः,—

"श्रभिष्रेतार्थसिद्धार्थं काम्यं पार्त्वणवत् स्थतम् ।

. पुत्रजनाविताहादो रुद्धिश्राद्धसुदाह्यतम्।
नवा'नीतार्घपात्रञ्च पिण्डस्य परिकीर्यते ॥
पित्रपात्रेषु पिण्डेषु सपिण्डीकरणन्तु तत् ।
प्रति पर्व भवेद्यसात् प्रोच्यते पार्वणन्तु तत् ॥
गोष्ठ्यां यिक्षयते श्राद्धं गोष्ठीश्राद्धं तद्च्यते ।
बह्रनां विदुषां प्राप्तौ सुखार्थं पित्तत्रये''—दिति ॥
ग्राद्धार्थमिति ग्राद्धये कियमाण्यम् । तदाह प्रचेताः,—
"कियते ग्राद्धये यन्तु ब्राह्मणानान्तु भोजनम् ।
ग्राद्धार्थमिति तत् प्रोक्तं श्राद्धं पार्वणवत् स्यतम्" ॥

[#] सदा,-इति सु º।

कर्षाङ्गिति यागादौ कियमाणम्। दैविकमिति देवानुहिष्स कियमाणम्। याचात्राद्धिमिति प्रवेशनिर्गमयोः कियमाणम्। तदार पारस्करः,—

> "निषेक्षकाले मोसे च मीसन्तोद्ययने तथा। क्रीयं पुंसवने त्राह्नं कर्माक्तं बृद्धिवस्त्रतम्॥ देवानुहिष्य क्रियते यत्तहैविकसुच्यते। तिव्यत्र्याह्वत्कुर्यात् दाद्ध्यादिषु यत्ततः॥ गच्छन् देशान्तरं यद्धि त्राह्मं कुर्यान्तु परिषा। तथावार्षिसिति प्रोक्तं प्रवेशे च न संग्रयः"—इति॥

श्रन कर्माङ्गित वचनमकरणे कर्मवैगुण्यज्ञापनार्थम्। वर्षिषा वर्षि:प्रधानकेनेत्यर्थः। श्रन्वर्थे नेवलेन द्वप्तरसम्भवात्*।

अय देशवयनम।

आहुश दिचणाप्रवणे गोमयाद्यपिति हे शे कार्यम्। तथा व विष्णुधर्को त्तरे,—

> "इचिणाप्रवणे देशे तीर्थादौ वा ग्रहेऽपि वा। अक्षंस्कागदिसंयुक्ते श्राद्धं कुर्यात्रयक्षतः"—इति॥

तीर्धं देविषिसेवितं कुलम् । त्रादिशब्देन पुण्यात्रमादि यक्कतं।
असंस्कारे। गोमचादिनोपलेपः। त्रादिशब्देनागुद्धिद्रव्यापमारणम्।
याज्ञवस्क्योऽपि,—

^{*} खाच,—इत्यारभ्य एतरन्तीयत्योगास्ति सो॰ ना॰ पु॰।
† जन्नस्,—हति सु॰।

"पिरित्रिते शुचौ देशे द्विणाप्रवणे तथा"—इति। परिश्रिते परितः प्रकादिते, ग्रुचौ गोमयादिने।पिलिप्ते दिल्ला-प्रवणे दिन्तणोपनते देशें, श्राद्धं कुर्यादित्यर्थः। खतोदिन्तिणाप्रवणला-षकावे देशस्य यव्नतोदचिणाप्रवणत्वं कार्यम् । तथाच मनुः,— "ग्रुचिं देशं विविनन्त् गोमयेनोपलेपचेत्। दिचिणाप्रवणञ्चीव प्रयत्नेनोपपाद्येत्"—इति ॥ किमिकीटाद्यपदतं देशं श्राङ्के विवर्जयेत्। तदाइ यमः,— "इचं क्रिमिइतं क्षित्रं सङ्गीर्णानिष्टगन्धिकम्। देशन्वनिष्टशब्दञ्च वर्जयेक्द्राद्धकर्माणि"—इति॥ क्तिस्रं मपद्मम्। सङ्गीर्णमन्यैः सङ्गीर्लम्। मार्केण्डेयोऽपि,— "वर्च्या जन्तुमयी रूचा चितिः सुष्टा तथाऽग्निना । चनिष्टद्षणब्दोगा द्र्गिन्धः श्राद्धकर्षाणि"—इति ॥ लिमादिदेशेष्विपि श्राद्धं न कार्यम्। तदाइ शङ्खः,— "गोगनायाजरप्टेषु क्रविमार्या तथा भुवि । न कुर्थाच्छाद्धसेतेषु पारकाशिचिम्ससिषु"—इति ॥ क्र त्रिमायां वेदिकादौ । पारक्यासु परपरिग्टहीतासु । तास ग्टह-गोष्टारामादयः। न पुनस्तीर्धादिस्थानानि । तथाचादिपुराणस्,— "श्रटवी पर्वताः पुष्णा नदीतीराणि यानि च। सर्वाण्यस्वामिकान्याङ्गनं हि तेषु परिग्रहः॥ वनानि गिरयो नद्यस्तीर्घान्यायतनानि च। देवखातञ्च गर्नाञ्च न खामी तेषु विद्यते"—इति॥

^{*} पनिचिते,—इति सो॰ ना॰। एवं परत्र।

तं चित्ते चित्रे वेषु कृतं श्राद्धमितश्यक्षलप्रदं भवति । तदाइ देवलः,—

> "श्राद्धस्य पूजितो देशो गया गङ्गा सरस्वती। कुरुतेत्रं प्रयागञ्च नैमिषं पुष्कराणि च॥ नदौतटेषु तोर्शेषु शैलेषु पुलिनेषु च। विविक्तेस्वेव तुर्थान्त दत्तेनेषु पितामदाः"—इति॥

व्यासे।ऽपि,-

"पुष्करेष्वचयं श्राद्धं जपहोमतपांमि च।
महोदधौ प्रयागे च काम्याञ्च कुरुजाङ्गले"—हित॥
मञ्जादिधौ प्रयागे च काम्याञ्च कुरुजाङ्गले"—हित॥

"गङ्गायसुनयोस्तीरे पयोध्यमग्रुष्टिके । नर्मदाबाज्ञदातीरे स्गृतङ्गिह्मालये॥ गङ्गादारे प्रयागे च नैमिष पुष्करे तथा। मन्त्रिस्त्यां गयायाञ्च दत्तमचयतां व्रजेत्"—इति॥ ब्रह्माण्डपुराणोऽपि,—

'नदीससुद्रतीरे वा इदे गोष्ठेऽय पर्वते।
ससुद्रगानदीतीरे सिन्धुसागरमङ्गमे॥
नद्योवा मङ्गमे ग्रस्तं ग्रालगामग्रिलान्तिके।
पुष्करे वा कुरूचेचे प्रयागे नैमिषेऽपि वा॥
ग्रालगामे च गोकर्षे गयायाय विभवतः।
चेचेट्येतेषु यः श्राद्धं पित्थिक्तिसमन्तिः॥

[&]quot; पयोष्णा असरकार्टके, - इ ति सुः।

करोति विधिना सर्चः क्षप्रकृत्यो विधीयते''—इति ॥ वहस्यतिरपि,—

"कांचिक पितरः पुचान्नरकापातभीरवः।
गयां यास्त्रित यः किन्त्रत् योऽस्मान् बन्तारियद्यति॥
किरियति द्योस्पर्गिष्ठापून्तं तथैव च।
पास्त्रियति दृद्धते श्राद्धं दास्त्रति चान्वस्य॥
गयायां धर्भपृष्ठे च यदिम ब्रह्मणस्त्रया।
गयायां वे चेव पितृषां दन्तमचयस्"—हिता॥
विष्णुरिष,—

"गयाग्रीर्षं वटे चैव तीर्थं वामरकण्ट्के इति।

यच कचन नर्मदातीरे यमुनातीरे गङ्गायां विशेषतो गङ्गायारे प्रयागे गङ्गामाग्यङ्गमे कुषावर्चे विल्वे नीलपर्वते कुझाये स्गुनतु कुङ्गे केदारे महालये लिलकायां सुगत्थायां प्राप्तकार्यां प्रस्तुतीर्थं महागङ्गायां तद्लिकात्रमे कुमारधारायां प्रभाषे यच कचन मर्ख्यां विशेषतो नैमिषार्ण्ये वाराणस्थामगस्थात्रमे कुलान्यमे की जिल्लाम्मे की जिल्लाम्मे की जिल्लाम्मे की जिल्लाम्मे वहंवायां महर्चे विष्णुपदे खर्गमागप्रदेशे गोदा-वर्यां गोमत्यां वेचवत्यां विपाणायां वितल्लायां यतदूतीरे चन्द्र-भागायामेरावत्यां पिन्धोस्तीरे दिखेणे पञ्चनदे स्रोज से चैवमादिष्यया-त्येषु तीर्थेषु मरिदरास मङ्गमेषु प्रभवेषु पुलिनेषु प्रस्वणेषु पर्वत-विष्णुपवेनेषु व गोमयेनोपलिप्तेषु गरहेषु च हिता। श्रवाणि पिष्टगाया भवन्ति,—

कुलेऽस्थाकं स जन्तुः स्वाची नी दखाळ्नलाञ्चलिम् ।

नहीचु वड्डतोयासु ग्रीतलासु विशेषतः॥

श्विष जायेत सोऽस्माकं कुले कश्चित्ररोत्तमः।

गयाग्रीर्षे वटे श्राद्धं यो नो दद्यात्ममाहितः॥

एष्ट्या वहवः पुचा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।

यज्ञेत वाऽश्रमेधेन नीलं वा वृषसुत्पृजेत्"—दित ॥

गयाग्रीर्षप्रमाणञ्चादिपुराणेऽभिहितम्,—

'पञ्चकोशं गयाचेत्रं कोश्रमात्रं गयाशिरः।

महानद्याः पश्चिमेन यावद्गृधेश्वरो गिरिः॥

जन्तरे ब्रह्मयूपस्य यावद् चिणमानमम्।

एतद्गयाशिरो नाम निषु लोकेषु विश्रुतम्"—इति॥

श्राद्धकालास्वमावास्याऽष्टकादयः। तदाह याज्ञबल्काः,—

"श्रमावास्थाऽष्टका रहिः कष्णपनोऽयनदयम्। द्रयं त्राह्मणसम्पत्तिविषुवत्पूर्यमङ्गमः॥ यतोपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रस्वर्ययोः। श्राद्धं प्रति रुचिश्चैव श्राद्धकानाः प्रकौत्तिताः"—इति॥

यस्मिन्दिने चन्द्रमा न दृश्यते, सा श्रमावास्या । तत्र श्राह्यं नित्यम् । तथाच लोगाचि:,—

> "त्राद्धक्कर्यादवश्यन् प्रमीतिपत्वको दिजः। दृन्दुत्त्वये मासि मासि हृद्दौ प्रत्यन्दसेवच"—इति॥

ऋष्टकाञ्चतसः मार्गप्रोधीदिचतुष्टयापरपवाष्टसः। "हेमनाप्रिण-रयोश्चतुर्धामपरपवाणामष्टमोष्ट्रका"—इति प्रोनकसारणात्। तत्रापि श्राद्धं नित्यम्। तदाच पितामदः,—

"श्रमावास्यायतीपातपोर्षमास्यष्टकासु च।

विदान् श्राद्धमकुर्वाणः प्रायश्चित्तीयते तु सः"-दति॥

ष्टिः पुत्रजन्मादिः, तेन तिष्ठिष्टः कालो लच्छते । कृष्णपर्चो-ऽपरपर्चः । श्रयनद्वयं दिखिणायनसुत्तरायणञ्च । द्रव्यं कृषरमांषादि, ब्राह्मणः श्रुताध्ययनसम्पद्धः, तयोः सम्पत्तिर्काओ यस्मिन् काले स तथोकः । विषुवन्मेषतुलासंक्रान्ती । सूर्यसंक्रमः सूर्यस्य राभेराम्य-न्तरप्राप्तिः । सूर्यसंक्रमभन्देनैवायनविषुवतोरूपादाने सिद्धे पृथगुपा-दानं फलातिभयज्ञापनार्थम् । व्यतीपातोयोगविभेषः, सहाव्यती-पातो वा ।

> "सिंहस्त्री गृहभोमो चेन्प्रेषस्त्रे च रवी हि वा। दादग्री इस्तमंथुका व्यतीपातो महान्हि सः॥ श्रवणाश्विधनिष्ठाई।नागदैवतमस्तकैः। वद्यमा रविवारेण व्यतीपातः स उच्यते"-दति

ष्टद्भमनुवचनात् । नागदैवतसञ्जेषानचत्रं, सखकं स्वगणिरः । यचमा श्रमावास्या रविवारेण श्रवणादीनासन्यतमेन नचत्रेण युका, य व्यतीपात रत्यर्थः । गजच्छायासचणं स्वत्यन्तरे दर्शितम्,—

"यरेन्दुः पित्रदैवत्ये चंमश्चैव करे स्थितः।

याम्या तिथिभंवेत्सा हि गजच्छाया प्रकीर्त्तिता"—इति ॥ पित्रदेवत्यं मघानचत्रं, इंसः सर्घः, करो इखनचत्रं, याम्या तिथि-ख्वयोदणी । पुराणेऽपि,—

"इंसे इसिन्यते या तु मघायका नयोदशी।

तिथिर्वेवखती नाम या काया कुञ्चरख तु"-इति॥ ग्रहणं चन्द्रसर्यथोरिति ग्रहणसुपरागः। श्रनापि कानविशेषः श्राद्धाङ्गलेन खीकार्थः। तदाह रुद्भविष्ठः,—

"चिद्याः स्पर्धसमये तथानि पितरस्तथा। मनुष्या मध्यकाले तु मोचकाले तु राचसाः"-इति॥ श्राद्धं प्रतिक्चिरिति यदा श्राद्धं प्रतीच्छा तदैव कर्न्तयमिति। चकारेणान्येऽपि श्राद्धकालाः संग्रह्यन्ते। श्रुतएव यमः,-

"त्राषाक्यामण कार्त्तिकां माणां चीन् पञ्च वा दिजान।
तर्पयेत्पित्पपूर्वन्तु तदस्याचयमुखते"—इति॥
देवसोऽपि,—

"तिया रोचिणीयुक्ता वैद्याखन्य विता तु या।

सघाभिः विचिता कृष्णा नभस्ये तु चयोदग्री॥

तथा ग्रतभिष्गगुक्ता कार्त्तिने नवसी तथा।

इन्दुचयगजन्कायावैधतेषु युगादिषु॥

एते कालाः ससुद्दिष्टाः पितृणां प्रीतिवर्द्धनाः"—इति।

युगादयोऽपि श्राद्धकालाः। ते च मत्यपुराणे दर्धिताः,—
"वैश्राखस्य तिया तु नवमी कार्त्तिकस्य तु।
साघे पञ्चदश्री चैव नभस्ये च नयोदश्री॥
युगादयः स्तृता ह्येता दत्तस्याचयकारकाः"—इति।
विष्णुपुराणेऽपि,—

"वैज्ञाखमामस्य च या ततीया नवस्थमी कार्त्तिकरः क्रपने।

नभस्यमाषस्य च ज्ञापने चयोदणी पञ्चदणी च आचे॥ पानीयभणच तिलीविभिन्नं दद्यात् पित्रभ्यः प्रयतो सनुख्यः। त्राद्धं कृतं तेन ममामहसं ग्इस्थ सेतत पितरो वदन्ति"—इति ॥ मनाइयोऽपि श्राद्धकालाः । तद्कं सत्यपुराषी,-"श्रय्यक्श्कानवसी कार्त्तिके दादशी शिता। हतीया चैव माघद्य मिता भाद्रपदस्य च। फाल्गनस्य लमावास्या पौषस्यैकादशी सिता। त्राचाहस्यापि दशमी माघमायस्य सप्तमी॥ श्रावणस्थाष्ट्रमी हच्णा तथाऽऽषादी च पूर्णिमा। कार्त्तिकी फारगनी चैची ज्येष्ठी पचढणी सिता॥ मचनग्रदयसैते दत्तस्थाचयकारकाः"-इति। कृतिकादिमचपाणि काम्यम्बद्धकालाः। तथाच थाज्ञवस्यः,-''द्धरें च्यपत्यमोजञ्ज ग्रौधें के चंबलं तथा। प्रभीकाश बीभाग्यं सम्हिं सुख्यतां ग्राभाम् ॥ प्रसम्बन्धनाचीय वाणिज्यप्रस्तीनि । श्वरोगितं यशोवीतशोकलं परमाङ्गितम् ॥ धनं वेदान् भिषक्षिद्धं कुष्यङ्गाश्रयज्ञाविकस् । श्रयानाय्य विधिवद्यः स्राद्धं संप्रयक्किति॥

हात्तिकादिभरण्यमं य कामानाप्र्यादिमाव् '-इति।

मार्कण्डेयोऽपि,-

"क्लिकास पितृनचे खर्गमाप्तीति मानवः। श्रवत्यकामो रोचियां सोम्ये तेनखितां सभेत्॥ चार्द्रायां भौर्यमाप्तीति चेचादि तु पुनर्वसौ । पुष्टिं पुछे पित्वनर्श्वन्नेषासु वरान् सुतान्॥ मचासु खजनश्रेष्ठां सीभाग्गं पत्सानीषु च। प्रदानशीलो भवति गापत्यञ्चोत्तरासु च॥ प्राप्तीति श्रेष्ठतां सत् इस्ते आद्भप्रदो नरः। रूपवन्ति च चिचासु तचापत्यान्यवापुयात्॥ वाणिञ्चलाभदाः खात्यो विवाखाः पुनकामदाः । कुर्खेताञ्चानुराधाञ्च दच्ञ्चकपवर्त्तनम्॥ निष्ठाखर्चाधिपत्यञ्च मूले चारोग्यमुत्तमम्। जावाङास यग्न:प्राप्तिर्त्तरास विग्रोकता॥ श्रवणे च गुभाषोकान धनिष्ठासु धनं महत्। वेदवेलाऽभिजिति तु भिषक्षिद्धि वाक्षे॥ प्रजाविकं प्रौष्ठपदे विन्देद्वार्थां तथोत्तरे। रेवतीषु तथा रोधमिश्वनीषु तुरङ्गमान्॥ माद्धं जुवैंसाधाऽऽप्तीति भरणीखायुरत्तमम्। तस्मान्काम्यानि कुर्वीत ऋचे खेतेषु तचवित्"— इति॥

खौक्यं खोमदैवत्यं स्माचीर्षमित्यर्थः । चक्तप्रवर्त्तनं धर्वाचाचाः प्रतिचाताभावेन प्रवर्त्तनम् । श्रभिजित् श्रभिजित्वंज्ञकं नचनम् ।

वाडिव्यवच्य द्याती विद्याखा प्रत्रकामरा,—इति मु॰।

श्रुतिः । "उपरिष्टादाषाड़ानामधस्तात् श्रोणायाः"—इति । तत्तु वेधनिक्ष्पणम् । भिषक्षिद्धिरोषधफलावाप्तिः । वाक्णं श्रतभिषज्नवन्म । कुणं चपुषीषादिकम् । विष्णुरिष । "खर्गं इत्तिका-खपत्यं रोष्टिणीषु ब्रह्मवर्षमं मीन्ये कर्मणां पिद्धिः रोद्रे भुवं पुनर्वषौ पृष्टिं पृष्ये श्रियं मार्णे मर्वान् कामान् पित्र्ये मीभाग्यं फलगुनीषु धनमार्थस्ते ज्ञातिश्रेष्यं दस्ते कृषवतः सुतांस्त्वाद्रे वाणित्र्य-ष्टिं खातौ कनकं विश्वाखासु मिचाणि मेचे श्राके राज्यं कृषिं सूले समुद्रयानिषद्धं सार्थीं सर्वान् कामान् वैश्वदेवे श्रीक्ष्यमभिजिति सर्वान् कामाञ्क्वणे वस्तं वासवे श्वारोग्यं वाक्णे कुणद्रव्यमाने ग्रव्यम् कामाञ्क्वणे वस्तं वासवे श्वारोग्यं वाक्णे कुणद्रव्यमाने ग्रव्यम् हिंदुंभ्रेग् गाः पौष्णे तुरङ्गममित्रने जीवितं थान्ये"—इति ।

श्वादित्यादिवाराश्च काम्यश्राद्धकालाः। तदाच विष्णुः। "सततमा-दित्येऽक्ति श्राद्धं कुर्वन्नारोग्यमाप्नोति सौभाग्यं चान्द्रे समरविजयं कौजे सम्बान् कामान् बौधे विद्यामभीष्टां जैवे धनं श्रोके जीवितं श्रामेश्वरे"। कूर्कपुराणेऽपि,—

"श्रादित्यवारे लारोग्रं चन्द्रे मौभाग्यमेव च।

कुने सर्वन विजयं सर्वान् कामान् बुधस्य तु॥

विद्यां विश्विष्टाञ्च गुरौ धनं वे भागवे पुनः।

श्रानैखरे भवेदायुरारोग्यञ्च सुदुर्सभम्"—इति॥
विष्णुधर्मीान्तरे,—

"न्नतः काम्यानि वच्छामि श्राद्धानि तव पार्थिव।

^{*} धिमित्,—इत्वारभ्य यतदन्तीयत्थो नान्ति सुदितातिरिक्कप्रक्तनेषु।
† माध्ये,—इति सु॰।

श्वारोग्यमय सौभाग्यं समरे विजयं तथा॥
सर्वकामां खाथा विद्यां धनं जीवितसेवच।
श्वादित्यादिदिने स्वेवं श्वाद्धं कुर्वन् सदा नरः॥
का से णैतान्यवाप्नोति नाच कार्या विचारणा"—इति॥
प्रतिपदादितिथयोऽपि कास्यश्वाद्धकालाः। तदाइ मनुः,—

"कुर्वन् प्रतिपदि श्राद्धं मुरूपान्विन्दते मुतान्।
कन्यकान्त दितीयायां तिर्वायाग्तु विन्दनः ॥
पण्ण्न् चुद्रां खतुर्यान्तु पञ्चम्यां भोभनान् मुतान्।
षष्ठ्यां यूतं किषञ्चे मप्तम्यां सभते नरः॥
श्रष्टम्यामपि बाण्ज्यं सभते श्राद्धदः मदा।
स्थान्त्वम्यामेकखुरं दश्यमां दिखुरं बद्ध॥
एकादश्यां तथा रूपं ब्रह्मवर्षितः मुतान्।
दादश्यां जातरूपन्तु रजतं रूपमेवच॥
ज्ञातिश्रष्टयं नयोदश्यां चतुर्दश्यान्तु सुप्रजाः।
प्रीयन्ते पितरश्चास्य ये शस्त्रेण रणे दताः॥
श्राद्धदः पञ्चदश्यान्तु मर्व्वान् कामान् समञ्जते"—इति।
याज्ञवक्क्योऽपि,—

"कन्यां कन्यावेदिनश्च पश्चन् चुद्रान् सुतानिप्। चूतं कृषिञ्च वाणिज्यं तथैकदिश्वफानिपि?॥

^{*} सम्पदः,---इति सु०।

[†] छतं,—इति सी॰ ना॰ पु॰। एवं परत्र।

[े] प्रश्रून् वै सत्सुतानिष, — इति सु॰।

[🖇] दिश्रफेकश्रफांक्तथा,—इति मु॰।

नस्रवर्षस्त्रनः पुत्रान् खर्षक्ष्ये सनुपने । जातिश्रेष्ठां सर्वकामानाप्रोति श्राद्धदः सदा॥ प्रतिपत्प्रस्ति होतां वर्जियला चतुर्दशीस । बास्तेण तु इता ये वै तेभ्यस्तच प्रदीयते"—इति ॥

कन्यावेदिनो जासातरः। एतानि फलानि खणापचप्रतिपत्त-स्तिष्वभावास्थापर्यन्तासु तिथिषु श्राद्धदः क्रमेण प्राप्नोति। श्रतस्व कात्यायनः। "स्त्रियः प्रतिरूपाः प्रतिपदि दितीयायां ततीयायां चतुर्थां नुद्रपत्रवः पुत्राः पश्चम्यां चूतं षष्ट्यां कृषिः सप्तम्यां वाणिज्य-मष्टम्यामेकण्यपं नवम्यां दश्रम्याङ्गावः परिचारका एकादण्यां दादण्यां धनधान्यरूपं ज्ञातिश्रेष्ठ्यं दिरण्यानि चयोद्य्यां पुचास्तवः स्रियन्ते णक्त्रस्ताश्चतुर्द्रभ्याममावास्यायां सर्वम्"—द्रति। श्रयश्च स्वापत्त-प्रतिपदादितिथिषु श्राद्धविधिः पर्नेष्वेवापरपचेषु, न आद्रपदायर-पचएव। श्रतएव श्रीनकः। "प्रीष्ठपद्या श्रपर्पने आधि साधि चैवम्"-इति । श्रापस्तम्बोऽपि । "सर्चे ब्वेवापर्पचसाद्याद्यः सु कियमार्ष पितृन् प्रीणाति कर्त्तुस्त काखनियमात्फलविश्वेषः प्रथमेऽदनि कियमाणे स्तीप्रायमपत्यं जायते दितीये स्तेनास्टतीये बह्मवर्च-खिन: चतुर्थे पशुमान् पश्रमे पुमांसो बद्धपत्यो न चापत्य: प्रमी-थते[†]वछे दिशीलोऽचशीलस्य सप्तमे कर्षे राद्धिः श्रष्टमे पुष्टिः नवसे एकख्राः दशमे व्यवहारे राद्धिः एकादशे कृष्णायमं त्रपु भीभं दादगे पश्रमान् नथोदमे बङ्घपुत्रो बङ्घमित्रो दर्भनीयापत्यो-

^{*} युवानस्तत्र,—इति सु०।

[!] धनायते, - इति सु॰।

युवनारिणस्त भवित चतुर्द्धे प्रायुधे राद्धिः पश्चर्यो पुष्टिः"— इति । भाद्रपदापरपचिवषये मार्कण्डेयः,—

> "कन्यागते सवितरि दिनानि दग्र पञ्च च। पार्व्वणेनेव विधिना तत्र श्राह्मं विधीयते॥ प्रतिपद्धनलाभाय दितीया हि प्रजापदा। वरार्थिनां हतीया च चतुर्थी प्रचनाप्रनी॥ श्रियं प्राप्नोति पचन्यां षष्ट्यां पूज्यो अवेन्नरः। गणाधिपत्यं सप्तस्यामद्यस्यां बुद्धिसुत्तमाम् ॥ स्तियो नवम्यां प्राप्तोति दश्रम्यां पूर्णकामतास्। वेदांखणाऽऽप्रयासर्वानेकादम्यां कियापरः॥ दाद्यां इमनाभञ्च प्राप्तीत वित्यूजनः। प्रजां सेधां पश्डं पुष्टिं खातन्यं टङ्किस्तमाम् ॥ दीर्घमाय्रचेम्बं कुर्जाणसु चयोदशीम्। न्यवाप्नोति न धन्देशः श्राह्मं श्रहापरो नरः॥ युवानः पितरो यस्य स्ताः प्रस्तेण वे इताः। तेन कार्यञ्चतुर्देग्यां तेषासृद्धिमभीषा।। त्राद्धं सुर्वन्नमावासामनेन पुरुषः गुरिः। धर्चीन् कामानवाप्तीति खर्गवासं समस्रते"-इति॥

नक्षस्य सम्पापचप्रतिपत्रम्धतिद्यपश्चित्नानि सत्त्रोऽपरपनः सिन्ति कित्यागते सित महासय इति प्रोक्तः । तत्र पार्वणेनैव विधिना स्राद्धं कुर्यात् । तदाह रहसनुः,—

''नअख्यापरः पचो यच कनां <mark>ष्रवे</mark>द्रविः।

य महालयपंज्ञः स्वाद्गज्ञहायाऽऽक्रयसचा"—इति॥ यनु प्राव्यायनिनोक्तम्*,—

"नभससापरे पचे तिथिषोड़ ग्रकन्तु यत्।

कन्यास्थाकां नितं चेत् स्थात् स कालः श्राद्धकर्षणः"—इति ॥
तत्तिथिरद्धावधिकदिवसेऽपि श्राद्धं कुर्यात्र तु पञ्चद्यदिनेध्वेवेत्यनेनाभिप्रायेण । श्रयवा । श्रययुजः ग्रुक्तप्रतिपदा सच्च नभस्थापरपचस्य घोड्यदिनात्मकत्नं, तस्या श्रपि चीणचन्द्रत्नाविधेवेणापरपचानुप्रवेशसम्भवात् । तदाच्च देवलः,—

"श्रदःषोड्णकं यनु ग्रुक्तप्रतिपदा सद। चन्द्रचयाविशेषेण साऽपि दर्भातिप्रका सहता"— इति॥ नन्वेतसिन्पचे, दिनानि दश्य पञ्च चेति वचनस्य का गतिः?

उचते। दादमसु कपालेष्यष्टाकपालवत् घोड्मसु दिवसेषु पञ्चदम-दिनवचनमवय्त्यानुवादो भविष्यति (१)। त्राधवा। पञ्चदमदिवस-

^{*} कात्यायनेनोक्तम्, - इति सु०।

⁽१) चित्त जातेष्टः 'वैश्वानरं द्वादशक्षपानं निर्व्वपेत् पुत्रे जाते"—
इत्यनेन विद्या। तत्रेदमाम्रायते। ''यदद्याकपानाभवित गायत्रे। वैनं
ब्रह्मवर्षसेन पुनाति, यद्मवकपानस्त्रित्रदेतेवास्मिले जोदधाति, यद्भकपानीविराजैवास्मिन्नद्वाद्यं दधाति, यदेकादशक्षपानस्त्रित्रुभैवास्मिन्नित्रयं दधाति, यद्दादशक्षपानो भवति जगत्र्यवास्मिन् पश्चन्
दधाति, यस्मिन् जातरतामिष्टिं निर्व्वपति पृतर्यव स तेजस्त्राद्वाददन्द्रियावी पश्चमान् भवति"—इति। तत्र वाक्यभेदभयादद्याकपानादेव्विध्यन्तराणि न सन्ति, किन्तु द्वादशक्षपानान्त्रव्वित्तिनामद्याकपानादीनामवय्यानुवादेन तत्र तत्र प्रजवादकीर्त्तनद्वादेण प्रकृताद्वादशक्षपाना वैश्वानरेष्टिरवैनं स्त्रूयते इति मीमांसाप्रथमाध्यायचतुर्थपादगतिकादशाधिकर्षे सिद्धान्तितम्। तद्वदन्नाष्यवगन्तयः
मिति भावः।

षोज् श्रदिवसविधो बीहियवविदिकत्योऽसः । मभसापरपबसः कन्या-स्थाकी न्वितलेन प्रशस्तरतोत्यते, तदभावेऽपि तसः प्रशस्तात् । तदाइ जावासिः,—

"त्रगतेऽपि रवी कन्यां श्राद्धं कुर्न्यात सर्वया। त्राषाळाः पषमः पत्तः प्रमत्तः पिटकर्मस् ॥ पुत्रानायुक्तयाऽऽरोग्यमैयर्थमतुलं तथा। प्राप्तोति पञ्चमे दत्ता श्राद्धं कामांक्तयाऽपरान्"—इति ॥ ख्टन्यनुरपि,—

''त्रावाहीमदिं कला पश्चमं पत्तमात्रिताः।

काञ्चिति पितरः क्षिष्ठा त्रत्रमण्यदं जलम्॥

तस्मात्त्रचेव दातयं दत्तमन्यत्र निष्णलम्।

त्रवाहीमदिं कला यः पत्तः पश्चमो भवेत्॥

तत्र त्राद्धं प्रकुर्वित कन्याखोऽकी भवेत्रवा"—इति॥

श्रस्य पत्तस्य रवेः कन्यागतलेन प्रणस्ततरत्वश्चादिपुराणे दर्धितम्,—

'पत्तान्तरेऽपि कन्याखे रवे। त्राद्धं प्रणस्ते।

कन्यागते पश्चमे तु विशेषेणेव कारयेत्"—इति॥

श्रोकगीतमोऽपि,—

"कन्यागते सवितिर यान्यहानि तु षोड्ण । क्रतुभिस्तानि तुःखानि सम्पूर्णवरदिवणैः"—इति ॥ श्राव्यायनिरपि,—

> "पुर्णः कन्यागतः स्तर्यः पुर्णः पचश्च पश्चमः। कन्यास्थाकान्वितः पचः सोऽत्यनं पुर्णाच्चते"—इति॥

श्वादिमधावषानेषु यन कचन कन्यार्कान्तितलेन छत्तः पचः पूच्यदत्यर्थः । श्वतएव कार्चाजिनिः,—

"श्रादौ मध्येऽवषाने वा यच कन्यां ब्रजेद्रविः।

म पचः सक्तः पूज्यः आद्भुषो इवकं प्रति"-इति॥

प्रतिपदादिद्शान्तं श्राद्धं कर्त्तुमधमर्थस्रेत्, पश्रम्यादिद्शान्तमष्ट-म्यादिद्शान्तं वा यथाप्रिक्त श्राद्धं कुर्यात्। तदाद्द गौतमः। "श्रपर-पचे श्राद्धं पित्रभ्योदद्यात् पश्चम्यादिद्शान्तमप्टम्यादि दश्रम्यादि सर्व्य-स्मिन् वा"—इति । ब्रह्माण्डपुराणेऽपि,—

> "नभख्यक्षणपचे तु स्राद्धं कुर्याद्दिने दिने। चिभागद्यीमपचं वा चिभागं लर्द्धमेव वा"—इति॥

श्रच प्रतिपदादिदशीक्तमित्यस्मिन्पचे नन्दाऽऽदिकं न वर्ज्यम्। तदाइ काणीजिनिः.—

"नभस्रखापरे पने श्राह्मं कुर्याद्दिने दिने ।" नैव नन्दाऽऽदि वर्च्यं खान्नेन वर्च्या चतुर्द्यां"—इति ॥ नन्तेतत्

"प्रतिपत्मस्तिष्वेकां वर्जियला चतुर्दशीम्"—इति

याज्ञवस्कावचनेन विष्धित इति चेत्। न। तस्य वचनस्य पश्चम्यादिपचिवषयनेगोपपनेः। श्रन्यचा, कार्णाजिनिवचनस्यानर्थकां प्रबच्चेत। श्रतस्व कात्यायनः। "श्रपरपचे श्राद्धं कुर्न्चीत जर्द्धं चतुर्था यदसः सम्यद्यते सप्तम्या जर्द्धं यदसः सम्यद्यते स्वतं चतुर्द्शों, प्रापेगायपरपचं नातिकासेत्"—इति। सनुरिष,—

"क्षणपने दशम्यादी वर्जायला चतुईशीम्। साद्धे प्रश्वलास्त्रिथयो वर्थेता न तथेतराः"—इति॥ तचाणसामर्थे पञ्चमपस्य पस्मीमारभानन्तरपन्नपञ्चमीपर्य-न्तास तिथिष्वनिषिद्धायामेकस्यानिष्यो यथापकावं रही ब्राह्मं सुर्यात्। तदास्यमः,—

"इंचे वर्षासु कत्याखे शाकेनापि ग्रहे वसन्। पञ्चम्योरन्तरे दद्यात् उभयोरपि पचयोः"—इति ॥ श्रश्चन्यादिना पद्यमपचे श्राद्धाकरणे यावत् कत्याराश्ची सुर्थ-स्तिष्ठति यावच्छाद्धं दद्यात्, तचायकरणे यावद् वृद्धिकदर्शनिति । तदाह सुमन्तुः,—

"कन्यारामी महाराज, याविसष्ठिहिभावसुः। तस्मात्कालाङ्गवेद्वेयं त्रिश्चकं यावदागतम्"—इति॥ पुराणेऽपि,—

"कन्यागते सविति पितरो यान्ति व सुतान्। श्रून्या प्रेतपुरी सर्चा यावर्ष्टश्चिकदर्भनम्॥ ततो व्रश्चिकसंप्राप्तौ निराधाः पितरो गताः। पुनः स्वभवनं यान्ति धापं दत्ता सुदारूणम्॥ स्वर्धे कन्यागते श्राद्धं यो न कुर्याद्गृहाश्रमी। धनं पुत्राः कुतस्तस्य पित्वनिश्वासपीड्नात्॥ वश्चिके समतिकान्ते पितरो दैवतैः सह। निश्वस्य प्रतिगच्छन्ति धापं दत्ता सुदारूणम्"—इति॥

न्त्रादिपुराणेऽपि,—

"प्राविज्तो यमः प्रेतान् पितंश्वाय यमासयाम्। विश्वर्षयिता मानुष्ये कता ग्रन्यं खकं पुरम्॥ नुधार्ताः कीर्त्तयन्तश्च दुष्कृष्ठतश्च खयं छतम्।
काञ्चन्तः पुत्रपौत्तेभ्यः पायसं मधुसंयुतम् ॥
तस्मान्तांस्तत्र विधिना तर्पयेत्पायसेन तु।
मध्वाज्यतिनमिश्रेण तथा ग्रीतेन चास्मसा॥
ग्रासमात्रं परग्रहादन्तं यः प्राप्तुयान्तरः।
भिचामात्रेण यः प्राणान् सन्धारयति वा ख्यम्॥
यो वा संवर्द्धते देहं प्रत्यन्तं खात्मविकयात्।
श्राद्धन्तेनापि कर्त्त्वयं तिस्तिर्द्धीः सुसञ्चितः"—इति॥

यमालयादिसर्जियला खकं पुरं शून्यं कला मनुखलाके पित्नन्-वासयतीत्यधाद्वत्य योजना। पायमं काङ्क्तः पितरस्तिष्ठन्तीत्यधा-द्वारः। तत्र वर्च्यानाद गार्ग्यः,—

"नन्हायां भागविदने त्रयोदायां तिजनानि । एषु श्राद्धं न कुर्वीत ग्रही पुत्रधनवयात्"—इति ॥ बद्धगार्गोऽपि,—

"प्राजापत्ये तु पौष्णे च पित्रार्ते भागवे तथा।

यसु श्राद्धं प्रकुर्वित तस्य पुत्रो विनम्यति"—हित॥

प्राजापत्यं रोहिणी, पौष्णं रेवती, पित्रार्ते मघा। श्रिक्षरा श्रिप,—

"त्रयोदम्यां कृष्णपत्ते यः श्राद्धं कुरुते नरः।

पञ्चलं तस्य जानीयात् ज्येष्ठपुत्रस्य निश्चितम्॥

सघासु कुर्व्वतः श्राद्धं ज्येष्ठः पुत्रो विनम्यति"—हित।

श्रत्र सघात्रयोदम्यां श्राद्धनिषेधः नेवलिपत्वर्गविषयः। ननु

केवलिपत्वर्गाद्देशेन श्राद्धप्राप्ती सत्यां तिश्वषेधो युक्तः,—

"पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहा ध्रुवम्।
प्रविश्रेषेण कर्त्तव्यं विश्रेषात्ररकं व्रजेत्"—इति

धौम्यवचनेन नेवलैकवर्गाद्देशश्राद्धनिषेधात्माप्तिरेव नास्ति, श्रतो नैवं व्यवस्था विवच्यते दति। मैवं, सत्यामपि धौम्यसतौ व्यामोद्दादेव प्राप्तस्थैकवर्गश्राद्धस्य निषेधात्। यथा रागप्राप्तस्य कलञ्चलचणस्य, "न कलञ्चं भचयेत्"—दति निषेधसद्वत्। श्रतएव कार्णाजिनिः,—

"श्राद्धन्तु नैकवर्गस्य चयोदश्यासुपक्रमेत्। श्राद्धन्तु चस्य स्थः प्रजां स्थिन्ति तच ते"—इति॥ स्यास्यन्तरस्रिए,—

> "इच्छेत् चयोदशीत्राह्यं पुचवान् यः सुतायुषोः। एकस्यैव तु नो दद्यापार्व्यणन्तु समाचरेत्"-इति॥

यः पुत्रवान् सुतायुषोरभिष्टद्धिमिच्छेत्, स एकस्यैकवर्गस्यैव श्राद्धं नो दद्यात्, श्रापि तु मातामद्द्वगादेशेनापि पार्वणं समाचरे-दिल्यर्थः । तस्त्रादेकवर्गादेशेनेव मघात्रयोदस्यां श्राद्धिनिषेधो न तु श्राद्धस्यैव, तत्र श्राद्धस्य प्रमस्त्वात् । तथात्र मङ्कः,—

> "प्रोष्ठपद्यामतीतायां माघायुकां चयोदशीम्। प्राप्य श्राद्धन्तु कर्त्तयं मधुना पायसेन स॥ प्रजामिष्ठां यश्रः खर्गं श्रारोग्यस्र धनं तथा। नृष्णां श्राद्धे सदा प्रीताः प्रयक्तन्ति पितामहाः"—इति॥

महाभारतेऽपि,—
"ज्ञातीनान्तूत्तरेष्क्रेष्ठः कुर्वन् माहं नयोदमीम्।
नावम्यन्तु युवानोऽष्य प्रमीयन्ते नरा यहे"—हित॥

श्रव मघाचयोदयां त्राद्धे पिन्छनिवंपणं न कुर्यात्, तसां युगादिन्नेन पिग्डनिवंपणनिवंधात् । तथाच पुलस्यः,—

"श्रयनिद्वतये श्राहं विषुविद्वतये तथा। युगादिषु च सर्वासु पिण्डिनिर्वेपणाकृते"—इति ॥ कर्त्त्रामित्यध्याद्वारः। मघाऽन्त्रितत्वेनापि पिण्डिनिर्वेपणं नास्ति। तथाचादिपुराणे,—

''मंक्रान्तावुपवासेन पारणेन च भारत।
मघायां पिण्डदानेन ज्येष्ठः पुत्रो विनय्यति"—इति॥
चतुर्द्देग्यां श्राद्धनिषेधोऽयग्रस्तवतिषयः। श्रपम्हत्युद्दतामान्तु
चतुर्द्देग्यामपि श्राद्धं कार्यम्। तदाच सरीचिः,—

"विषयस्वयापदाचितिर्चग्राह्मणचातिनाम् । चतुर्देश्यां किया कार्या श्रन्येषान्तु विगर्दिता"—इति ॥ प्रचेता श्रिप,—

"रुचारोच्छलोचादिविद्युक्तलविद्यादिभिः। निखदंद्रिविपन्नानासेवां घसा चतुर्द्धां"—इति॥ याज्ञवक्त्योऽपि,—

"शक्तेण तु इता ये वै तेश्यक्तव प्रदीयते"—इति ॥
श्वव चतुर्द्ध्यां शक्तादिइतानाभेवेति नियम्यते, न पुनञ्चतुर्द्ध्यामेवेति। एवञ्च मति, दिनान्तरेऽपि पितामहादिष्टिप्तिषिद्धार्थं महाखयग्राद्धं कार्यम्। चतुर्द्ध्यां महालयग्राद्धस्थैकोदिष्टक्तेन विहितलात्
तेनाच पितामहादिष्टप्रेरभावात्। तस्य चैकोदिष्टक्पलं सुमन्तुराष्ट,—
"समलमानतस्थापि पितुः श्रक्तहतस्थ तु।

एकोहिष्टं सुतैः कार्यं चतुर्द्ग्यां महाखये"-इति ॥

यस्त्रमागतस्य स्पिण्डीकृतस्य प्रस्तुहतस्य पितुञ्चतुर्द्द्यां महास्वाचे स्तिरेकोहिष्ट्रश्राद्धं कार्यमित्ययः। यस्य पितामहोऽपि प्रस्ताहिना हतः, तेन द्योरपि चतुर्द्रग्रामेकोहिष्टश्राद्धं कार्यम्। त्याच
स्वत्यान्तरम्। "एकिमान्द्योर्वेकोहिष्टिविधिः"—इति। श्रयमर्थः। एकस्मिन्पिति प्रस्तादिना हते, द्योर्व्या पित्वपितामह्योः प्रस्तादिना
हतयोञ्चतुर्द्वग्रां पुनेण तयोः प्रत्येकमेकोहिष्टश्राद्धं कार्यमिति। यस्य
पित्वपितामहप्रपितामहास्त्रयोऽपि प्रस्तह्नताः, तेन चतुर्द्वग्रां पार्वस्वीवादानात्। दद्य चिष्ठकारापरार्कयोर्वकोहिष्टविधिरिति विभेस्वीपादानात्। दद्य चिष्ठकारापरार्कयोर्वकोहिष्टविधिरिति विभेस्वीपादानात्। दद्य चिष्ठकारापरार्कयोर्वतम्। चिष्वपि पिनाहिषु
प्रस्त्रहतेषु चयाणामपि पृथक् पृथ्येकोहिष्टमेव कार्यमिति देवस्वामिमतम्। श्रव चयाणां प्रस्तृहत्वे पार्वणश्राद्धस्य सामादिधायकवचनाभावादेकस्मिन्दयोर्वेत्यस्योपस्यक्तास्यार्थवेनाष्पुपपत्तरेकोहिष्टच्यमेव
कार्यमिति देवस्वामिमतं युक्तमिति प्रतिभाति। प्रस्तादिष्टतानां
हिनान्तरे पार्व्यणविधिनैव श्राद्धं कार्यम्। श्रतप्त प्रजापतिः,—

"संकान्तावुपरागे च वर्षात्मवमदानये। निर्व्वपेद्दत्तिपाडांस्तीनिति प्राइ प्रजापतिः"—इति॥ स्नात्सगिन्यादीनां सदानयत्राद्धमेकोद्दिष्टविधानेन कार्यस्। तथाच समन्तुः,—

''सिपण्डीकरणादूकी यत्र यत्र प्रदीयते । आचे भगिन्ये पुत्राय खामिने मातुलाय च॥ सित्राय गुरवे आद्भकोहिएं न पार्वणम्''—इति । न्त्रापसम्बोऽपि,-

"श्रपुत्रा ये स्ताः केचित् स्तियश्च पुरुषाश्च ये।
तेषामिष च देयं स्थादेकोहिष्टं न पार्व्वणम्"—इति।
स्तियो भगिन्याद्यः, पुरुषा भाषाद्यः। कात्यायनोऽषि,—
"सम्बन्धित्रान्धवादीनामेकोहिष्टन्तु सर्वदा"—इति।
यानि पुनरेकोहिष्टनिषेधकानि वाक्यानि, यथा सिषण्डीकरणं
प्रकेत्य जात्वकर्णः,—

"त्रतज्ञ न कर्चयमेको हिष्टं कदाचन ।

सिपण्डीकरणान्च तत्प्रोक्तमिति सुद्गलः ।

प्रेतलचैन निस्तीर्णः प्राप्तः पित्रगणन्तु सः ॥

च्यवते पित्रलोकान्तु पृथक्पिण्डे नियोजितः ।

सिपण्डीकरणादूध्यं पृथक्वं नोपपद्यते ॥

पृथक्वे तु इते पञ्चात्पुनः कार्या सिपण्डता"—इति ।

कार्ण्णाजिनिरिप,—

"ततजङ्कें न कत्त्रं यमेकोहिष्टं कदाचन।
सिपल्डीकरणान्तञ्च प्रेतस्थैतदमङ्गलम्"—इति।
यमोऽपि,—

"यः सपिण्डीकृतं प्रेतं पृथक्पिण्डे नियोजयेत् । विधिन्नस्तेन भवति पित्रहा चोपजायते"—इति ॥ पुराणेऽपि,—

"प्रदानं यत्र यत्रैषां यपिण्डीकरणात्परम् । तत्र पार्व्वणवच्छाद्धसेकोहिष्टं त्यनेहुधः"—इति ॥ तानि मर्जाणि प्रतिपदोत्तेकोहिष्टविध्यभावे द्रष्ट्यानि । एत-च्छाद्धं स्नतकादिना मुख्यकालातिकमे लागोचापगमानन्तरकालएव कार्यम् । तथाच च्ह्यग्रहः,—

"देये पित्वणां श्राद्धे तु श्रामौचं जायते तदा। श्रामौचे तु व्यतिकान्ते तेभ्यः श्राद्धं प्रदीयते"—इति॥ यन्त्वचिवचनम्,—

"तद्दश्चेत्रदुखेत नेनचित्रूतकादिना। स्रतकानन्तरं कुर्यात् पुनस्तद्दरेव वा"—इति॥

स्तकानन्तरकाले वा श्रनन्तरे वा मासि तत्पचे तिनियो वेति पचदयसुपन्यस्तं, तवाद्ये पचे विरोधएव नास्ति, पुनस्तदहरेव वेत्ययं पच: स्ततकव्यतिरिक्तनिमित्तान्तरेण विष्ने समुत्पन्ने प्रतिमासं चयाहे विह्निकोद्दिष्टमासिकश्राद्धविषयदित स्वयारङ्गवचनाविरोधाय व्यव-स्थाप्यते । श्रतएव देवलः,—

"एकोद्दिष्टे तु संप्राप्ते यदि विष्ठः प्रजायते।
श्रम्यसिंस्त्रत्तियौ तसिन् श्राद्धं कुर्यात्रयत्रतः"—इति॥
श्रम्यसिन्ननन्तरे मासि तन्तियौ स्तितियौ, यसिन् श्रुक्ते कृष्णे
वा स्त्रतसिन्यत्ते श्राद्धं विष्ठवश्रात्कुर्यादित्यर्थः। श्राभौचिनिन्नन्तकिने तु सासिकश्राद्धमपि स्तकानन्तरमेव श्रम्थ्यस्ट्रङ्गवचनवज्ञान्द्रस्थ्यम् । देवस्वामिनाऽप्येवमेव विषययवस्था कृता। एतत्
स्रम्थस्टङ्गवचनं स्नतकाशौचविषयम्। निमिन्नान्तरतस्तद्द्वविष्ठाते,

"एको हिष्टे तु संप्राप्ते यदि विष्नः प्रजायते"— इत्यादि स्मत्यन्तरवचनमिति । यनु व्याचेनोक्तम्,— "श्राङ्गविन्ने ससुत्पन्ने श्रन्तरा स्टतस्रतने । श्रमावास्यां प्रकुर्व्वीत ग्रुद्धावेने मनीविणः"—इति ॥

त्रन्तरा प्रयोगमधे पाकोपक्रमात् प्राक् खतके खतके वा जाते त्रमावास्थाममावास्थायां ग्रद्धौ ग्रद्धानन्तरं वा आहुं प्रकुर्व्वतित। एतदनुसामिकसांवत्सरिकआहुविषयम्। त्रतएवोकं षड्विंशसतेन,—

"मासिकेऽब्दे तु संप्राप्ते ऋन्तरा स्टतस्नतके।

वदन्ति शुद्धौ तत्कार्यं दर्शे वाऽिष विचचणाः" - इति ॥ दर्शग्रहणं शुक्करुणेकादम्योरूपलचणार्थम् । श्रतएव मरीचिः,—

"श्राद्धविद्वे ससुत्पन्ने त्रविज्ञाते स्टतेऽइनि । एकादम्यान्त कर्त्त्रयं कष्णपत्ते विशेषतः"—इति ॥

हणापचे या एकादभी तस्यां विशेषतः कर्चयमिति योजना।
पित्रकार्ये कष्णपचस्येव विशेषतो ग्राह्मलात्। कष्णेकादभीतोऽपि
श्वमावास्याया सुस्यलं पित्रकार्ये दण्डापूपन्यायसिद्धम्। एतद्कां
भवति। श्वाभोचसमनन्तर्कालो सुस्यकालसन्तिकष्टलाच्छ्रेष्ठतमः।
दर्भकालस्तु सुस्यकालप्रत्यासन्त्यभावात् ततो जघन्यद्दति। श्वतएव
स्वयग्रहङ्गः,—

"ग्रुचीश्वतेन दातव्यं या तिथिः प्रतिपद्यते। या तिथिक्तस्य कर्त्तव्या न चान्या वै कदाचन"—इति॥ ग्रुचिना तावच्छाद्धं कर्त्तव्यं, तचाग्रीचवग्रान्मुख्यकाले ग्रुद्धाभावे ग्रुद्धानन्तरं या तिथिः प्रतिपद्यते लभ्यते, या तिथिक्तस्य कर्मणी-ऽङ्गलेन खीकर्त्तव्या। श्राग्रीचाद्यनुपघाते तु मुख्यकालो नालस्यादि-ग्रारितकमणीयः। तदाइ यएवः— "तिथिक्केदो न कर्त्त्रश्चो विनाऽऽश्चीचं यदृक्कथा।

पिण्डं श्राद्धञ्च दातवं विक्कित्तं नैव कारयेत्"—इति॥

चकारेणाग्नौकरणं ससुक्तिनोति। श्राद्धश्च्द्देनाच ब्राह्मणतर्पण
बाचं विवित्ततं, पिण्डदानस्य पृथगुपात्तलात्। विक्कित्तं नैव कारयेदिति ब्राह्मणं कर्त्तुमसमर्थश्चेत्पिण्डप्रदानमाचमपि कुर्यात्, सर्वथा
पिचर्चनस्य विक्केदं न कुर्यादिव्यर्थः 'श्रतएव निगमः। "श्राहिताग्नेः
पिचर्चनं पिण्डेरेव ब्राह्मणानपि वा भोजयेत्"—इति। श्रव व्यवस्थिन

तोविकन्यः। सित सामर्थे ब्राह्मणतर्पणं पिण्डप्रदानञ्च कुर्यात्, तचा
सामर्थ्ये पिण्डप्रदानमाचिमति। यत्तु हात्तीतेन श्राद्धविन्ने ससुत्पन्ने
श्रमावास्यादिव्यामश्राद्धं विहितम्,—

"श्राद्धविन्ने दिजातीनामामश्राद्धं प्रकीर्त्तितम्। श्रमावास्थादिनियतं मामग्राम्बसरादृते"—इति॥

मासं मासिकं, साम्बत्धरं सांवत्सरिकम्। तङ्गार्थारजोदर्भनक्त-विञ्जविषयम् । तथाऽऽहोश्रनाः,—

''त्रपत्नीकः प्रवासी च यस्य भार्या रजस्ता। सिद्धान्नं न प्रकुर्वीत श्रामन्तस्य विधीयते''—इति॥ कात्यायने।ऽपि,—

"त्रापद्यनद्यौँ तीर्घे च प्रवासे पुत्रजन्मनि। न्यामत्राद्धं प्रकुर्वित यस्य भार्था रजस्तला"—इति॥ व्याम्नवादोऽपि,—

"श्रान्तिवे देशकालानां विश्ववे षसुपिखते। श्रामश्राद्धं दिजीः कार्थे श्रदः कुर्याखदैव हि"—इति॥

न च कात्यायनयाप्रपादवचनपर्यालोचनया माधिकप्रत्याब्दिक-बोर्षामश्राद्धं प्राप्नोतीति मन्तयम्। माममास्वत्वराहृते,—इति विश्रेषवचनेनासश्राद्धस्य तद्वातिरिकविषयवागमात् । मरीचि:,-

"त्रनिश्चकः प्रवासी च यस्य आर्था रजखला। श्रामश्राद्धं दिजः कुर्यात्र तत्कुर्यान्मृतेऽइनि"—इति ॥ तदामश्राद्धं मृतेऽइनि न कुर्यात्, किन्तु पकान्नेनैव कुर्या-दित्यर्थः। लागाचिरपि,—

"पुष्पवत्खपि दारेषु विदेशस्योऽप्यनियकः। श्रक्तेनैवाब्दिकं कुर्यात् हेका वाऽऽमेन वा कचित्''--इति ॥ यनु सात्यनारे भाषायां रजखलायां मृतेऽइनि श्राद्धनिषेधः,--"मृतेऽइनि तु संप्राप्ते यस्य भार्या रजस्वला।

श्राद्धं तदा न कर्त्तव्यं कर्त्तव्यं पञ्चमेऽच्नि"-इति॥ तस्थायं विषयः । ऋपुत्रायाः पत्याएव पत्युर्ऋतास्त्राद्धेऽधिका-राद्यदा खयमेव रजखला स्थानदा म्हतेऽइनि श्राद्धं न कर्नवां, किन्तु पञ्चमेऽइनीति । तथाच स्रोकगौतमः,--

"ऋपुचा तु यदा भार्या संप्राप्ते भर्तुरान्दिके। रजखला भनेता तु कुर्यात् तत्प च मेऽ इनि"—इति॥ प्रभाषखण्डेऽपि,-

"ग्रद्धा मा त चतुर्घेऽकि सानानारी रजखला। दैवे कर्माणि पित्ये च पञ्चमेऽइनि ग्रुध्वित''—इति॥ श्रम्ये तु,--

''श्राद्धीयेऽइनि संप्राप्ते यस्य भार्या रजस्तना। श्राद्धं तच न कर्त्तयं कर्त्तयं पञ्चमेऽइनि''—इति

स्रोकगीतमवचनमन्यया पठिला, श्राद्धादी कर्षणि भार्थया गरी-वाधिकारश्रवणात्तस्यां रजादर्शनदृषितायामधिकारनिय्त्तेर्भुख्यकाल-मतिक्रस्य पञ्चमेऽइनि श्राद्धं कर्त्त्वमिति मन्यन्ते।

नम्बस्मिन्याठेऽमावास्यादिश्राद्धस्यापि पश्चमेऽहन्युत्कर्षः प्राप्तोति ? स्रोतं, श्राद्धविन्ने दिजातीनामिति हारीतवचनेनामावास्यादिस्वाम-स्थास्त्रकार्ये पोमकार्ये पूर्तीकविदिहितलात् । श्राद्धीयेऽहनीत्यस्य वच-नस्य स्टताह्यतिरिक्तविषयलेन मार्थकलमस्त्रित चेत् । भवेदेतदेवं, श्राद्धि विषयान्तरं वक्तुं प्रकात । न लेतदस्ति, स्टताहविषयलन्तु स्टतेऽहिन तु संप्राप्ते इति स्वत्यन्तरवचनादेवावगस्यते । तस्मादेक-भार्येण स्टताहश्राद्धं रजोदर्प्यनस्यविन्नोपरमकालएव कर्त्तयं, भार्या-स्तर्यक्रिन लिखकारानपगमान्त्रस्यएव काले कर्त्त्यमिति । यदव स्तर्ना तद्वाह्यम् ।

श्राद्धे भोजनीयबाह्यणपरीचा कर्न्या। तत्र श्राद्धं प्रक्रत्य यमः,—
"पूर्व्यमेव परीचेत ब्राह्मणान् वेदपारगान्।
श्रार्थेत्रभवेदें। विविद्धां स्विरित्रवान्॥
दूरादेव परीचेत ब्राह्मणान्वेदपारगान्।
दृष्टान्या यदि वाऽनिष्टां स्वत्का लेनेवमानयेत्"—इति॥

पूर्वमिति निमन्तणात् पूर्वमित्यर्थः। प्ररीरप्रभवादोषाः कुष्ठा-पष्णारादयः। दूरादिति प्रपितामहादारभ्य भोजनीयबाह्मणपर्य-म्नम्। तथाच छागलेयः,— "उक्तलचणमणज्ञैर्विद्याधीलगुणान्वितै:।
पुरुषचयविष्यातैः मर्वः श्राद्धं प्रकल्पयेत्"—इति ॥
मर्वे पार्वणकोद्दिष्टात्मकम्। श्रतएव मनुनाऽपि पितुः श्रोनियवेन
पुचस्य श्रेष्ठ्यमुक्तम्,—

"श्रश्नोतियः पिता यस्य पुत्रः स्यादेदपारगः।
श्रश्नोतियो वा पुत्रः स्थात् पिता स्यादेदपारगः॥
ज्यायांषमनयोतियाद्यस्य स्याच्क्रोत्तियः पृताः"—इति॥
श्राद्धे भोजनीयात्राह्मणा याज्ञवस्क्येन दर्शिताः,—
'श्रय्याः सर्वेषु वेदेषु श्रोत्रियोत्रह्मविद्युवा।
वेदार्थवित् ज्येष्ठसामा विमधुस्तिस्पर्णकः॥
कर्मानिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्नित्रह्मचार्रणः।
पित्रमात्रपराञ्चेव ब्राह्मणाः श्राद्धसम्पदः"—इति॥

स्विदादिषर्ववेदेस्वया वर्णिताध्ययनक्रमाः। श्रोनियाः श्रुताध-यनप्रयाः। ब्रह्मवित् ब्रह्मज्ञानवान्। युवा सध्यसवयस्कः। युव-लख्य पर्वविभेषणम्। वेदार्थितिद्धर्मज्ञानवान्। ज्येष्ठधासिति सामवि-भेषस्तद्दतं च। तद्दताचर्णेन यस्तद्धीते, स ज्येष्ठसासा। विसधुः स्वयदेवदेवदेशः तद्दतञ्च। तद्दताचर्णेन तद्ध्यायी विसधुः। विसु-पर्णस्वग्यज्ञवयोरेकदेशस्तद्दतञ्च। तदाचर्णेन यत्तद्धीते स विसु-पर्णकः। ब्राह्मणा न चित्रयादयः। उक्तलच्णा एते ब्राह्मणाः श्राद्धस्याचयफलप्रयादकाद्व्यर्थः। व्हस्पतिरिष्,—

> "यरोकं भोजयेच्छा है कन्दोगं तत्र भोजयेत्। चर्चो यजूषि धामानि त्रितयं तत्र विद्यते॥

त्रहेत पृथिवीं धर्वा धरी सरी सरी सरी सरी सरी सरी सरी सामाम कर चिन्त कः ॥

वह स्थित पित्र ये सामाम कर पितास सः ।

वितः पितास सामा कन्दोगोऽभ्यधिक स्ततः"—इति ॥

श्रातातपोऽपि,—

"भोजयेद्यस्त्यर्घणं देवे पित्ये च कर्षाणि। मानन्तसचयचैव फलं तस्येति वै मुतिः"—इति॥ यसोऽपि,—

''वेद्विद्यावतस्वाताः स्रोतिया वेदपारगाः। स्वधर्मनिकताः शान्ताः क्रियावन्तस्वपस्विनः॥ तिभ्धो इञ्च क्यञ्च प्रमन्नेभ्यः प्रदीयते"—इति। सनुक्पि,--

"श्रोत्रियायेव देयानि इयक्यानि दाहिभः।
श्रहंत्तमाय विप्राय तस्ते दत्तं महाफलम्॥
एकेकमिए विदांस देवे पित्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बह्रनिए"—इति॥
विस्रष्ठोऽपि। "यतीन् ग्रहस्यान् साधून् वा"— इति। भोजयेदिति श्रोषः। ब्रह्माण्डपुराणेऽपि,—

"श्चिखिभ्यो धातुरकेभ्यः चिदण्डिभ्यश्च दापयेत्"—इति। श्चिखिनो ब्रह्मचारिणः। धातुरकाः धातुरक्वक्षधारिणो वान-प्रक्याः। चिदण्डिनो वाक्कायमनोदण्डिक्पेताः यतयः। श्वच परः परः श्रेष्ठः। ततएव नारदः,— "यों वे यतीननादृत्य भोजयेदितरान् दिजान्। विजानन् वसतो ग्रामे कव्यं तद्याति राचसान्"—इति॥ ब्रह्माण्डपुराणेऽपि,—

"त्रलाभे ध्यानिभिनूणां भोजयेदुह्मचारिणम्। तदलाभेऽण्दाधीनं ग्टहस्यमपि भोजयेत्"—इति॥

उदाधीनो ह्यसम्बन्धः। श्रतण्वापक्तमः। "ब्राह्मणान् भोजयेदृह्म-विदो योनिगोत्रमन्त्रान्तेवास्थमन्त्रभान्"—इति। योनिसम्बन्धा मातु-लादयः। गोत्रमम्बन्धाः सपिण्डाः। सन्त्रसम्बन्धा वेदाध्यापकादयः। श्रन्तेवासिसंबन्धाः श्रिन्पशास्त्रोपाध्यायाः। एवंविधसम्बन्ध्यतिरिक्तान् ब्राह्मणान् ग्रहस्यादीन् भोजयेदित्यर्धः। श्राद्धे श्रोत्रियादीनां पङ्कि-पावनत्वेनापि पात्रविशेषतां सएवाहः,—

"श्रपाङ्क्योपहता पङ्किः पास्यते सैर्दिकोत्तमैः।
तानिवोधत कार्त्तमेन दिजाय्यान्पङ्किपावनान्॥
श्रय्याः धर्वेषु वेदेषु धर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्यकास्रेव विक्रोयाः पङ्किपावनाः॥
त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्रिः त्रिसुपणः षडङ्गवित्।
ब्रह्मदेयात्ममन्तानश्क्नदोगोज्येष्ठसासगः॥
वेदार्यवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचार्यं सहस्रदः।
श्रतायुश्चेव विक्रेया ब्राह्मणाः पङ्किपावनाः"—इति॥

ब्रह्मदेयात्मधन्तानः ब्राह्मविवाहे।द्रापुत्रः । सदस्तदः गवां स्वर्षस्य वा । यमोऽपि,—

''य सोमपा विरजसो धर्माजाः गान्तबृद्ध्यः।

बक्च चं च चिषीपर्षः चिमधुर्वाऽय यो भवेत्॥ चिनाचिकेता विरजाञ्कन्दोगो च्छेष्ठसामगः। अप्रथर्विश्वरघोऽध्येता सर्वे ते पङ्किपावनाः॥ शिशुर्षिशिहोत्री च न्यायविच षड्कृवित्। मन्त्रब्राह्मणविचैव यश्च खाद्धर्मपाठकः॥ ब्राह्मदेयासुतश्चैव भावग्रद्धः षदसदः। चान्द्रायणत्रतचरः मत्यवादी पुराणवित्॥ निष्णातः सर्वविद्यासु शान्तो विगतकत्त्रषः। गृह्वेदाग्निपूजासु प्रस्तो जानतत्परः ॥ विमुकः मर्वदा धीरो ब्रह्मभूतो दिजोत्तमः। श्रनिमचो न चामिचो मैच श्रात्मविदेवच ॥ स्तातको जप्यनिरतः सदा पुष्पविजिष्यः। च्छजुर्हदः चमी दानाः ग्रानाः मलवतः ग्रुचिः वेदज्ञः सर्व्वशास्त्रज्ञः उपवासपरायणः। ग्टहस्वो ब्रह्मचारी च चतुर्वेदविदेवच ॥ वेदविद्यावतस्ताताः ब्राह्मणाः पङ्किपावनाः'-दृति ।

चैठीनसिरिष । "त्रयातः पङ्किपावना भवन्ति चिनाचिनेतिस्तिमधुस्ति सपर्णश्चीर्णत्रतम्बन्दोगोज्येष्ठमामगो ब्रह्मदेयासमन्तानः सहस्त्रदो वेदाध्यायी चतुर्वेदषङ्क्षवित् त्रयवंशिरमोऽध्यायी पञ्चाग्नवेदजापी चेति, तेषामेकेकः पुनाति पङ्किं नियुक्तो मूर्धनि सहस्तेरणुपहताम्" दति । श्रङ्कोऽपि,—
"ब्रह्मदेयानुसन्तानो ब्रह्मदेयाप्रदायकः।

ब्रह्मदेयापितस्वैव ब्राह्मणाः पङ्किपावनाः ॥ यजुषां पारगा यस्च मान्नां यस्वापि पारगः । श्रयवंशिरमोऽध्वेता ब्राह्मणाः पङ्किपावनाः ॥ नित्यं योगपरो विदान् ममलोष्टाम्मकास्वनः । ध्यानमीलो यतिर्विदान् ब्राह्मणः पङ्किपावनः"—इति ॥

वोधायनोऽपि। "चिमधुक्तिनाचिकेतस्तिस्पर्णः पञ्चाष्मः षड्झ-विक्तिग्रीर्षकोऽध्वेता सामगा इति पङ्किपावनाः"—इति। हारीतोऽपि। "स्थितिरविक्तिन्नवेदवेदिनाऽयोनिर्मङ्करित्तमार्षेयतञ्चेति कुलगुणाः, वेदाङ्गानि धर्षोऽध्यात्मविज्ञानं स्मृतिश्चेति यश्चिधं श्रुतं, ब्राह्मण्यता देविपित्रभक्तता समता सोन्यताऽपरोपतापित्रः उनस्ययता श्रनुद्धतता श्रपारुष्यं मिनता प्रियवादिलं क्वतज्ञता ग्ररुण्यता प्रग्रान्तिश्चेति वयोदग्रविधं ग्रीसम्,

> चमा दमोदया दानमिर्हिमा गुरूपूजनम्। श्रीनं खानं जपोहोमिस्तपः खाध्यायएवच ॥

षत्यवचनं धन्तोषो दृढनतलसुपनतलि विषय गुणाः हक्तं,
तसात् कुलीनाः स्रुतणीलवन्तो हक्तस्याः सत्यवादिनोऽत्यङ्गाः पाङ्गियाः।
दादणोभयतः स्रोनियस्तिनाचिकेतस्तिसुपर्णस्तिमधुस्तिणीर्षको ज्येष्ठसामगः पञ्चाण्यः पडङ्गावद्रुद्रजाणूर्द्धरेताः च्हतुकालगामी तत्वविचिति पङ्गिपानना भवन्ति'। स्थितिरविच्छित्तसन्तानता। स्रविच्छिन्ववेदवेदितेत्यच दिनासादनार्थदेशविणेषवाची वेदिण्ञच्हो द्विःसाध्यं
यागं चचयति। स्रार्षेयतं प्रवरवक्तिंच्छिज्ञाहत्वम्। धर्मीधर्मणास्तं,
विज्ञानं वैशेषिकादिशास्त्वविज्ञानम्। स्यतिवेदशास्ताविस्मर्णम्।

उपव्रतत्वं दशम्यादावेकभक्तता। श्रवानुकन्यो याज्ञवस्कोन दर्शितः,—
"स्वस्रीयऋतिक्जामात्वयाज्ययग्रस्मातुलाः।
चिनाचिकेतदौ हिवशिष्यसम्बन्धिवान्धवाः"—इति॥

श्वतएव मनुः,—

"श्रनुकन्यस्वयं ज्ञेयः घरा मिद्धरनुष्ठितः।

मातामचं मातुलच स्वचीयं श्रग्रं गुरुम्॥

दोहिनं विट्पितं बन्धुम्हिलागाच्यो च भोजयेत्"—इति॥
विट्पितर्जामाता श्रितिथिवा। तदुत्रं देवस्नामिना। विट्पितरतिथिरित्यन्ये वदन्तीति। श्रापसम्बोऽपि। "गुणवदस्नाभे मोदर्थाऽपि
भोजयितव्यः एतेनान्तेवासिनो बास्याताः"—इति। बोधायनोऽपि।
"तदभावे रदस्यविदृचोयजूषि मामानीति श्राद्धस्य मिदमा तसादेवंविधं सपिण्डमप्याययेत्"—इति। विष्णुपुराणेऽपि,—

"पित्वयगुरदौरिवानृतिक्खसीयमातुलान्। पूजयेद्धव्यक्येन रुद्धानितिथिवान्धवान्"—इति॥

श्रव ऋतिक्पित्वसोदर्यपिष्डा वैश्वदेवसाने नियोक्तशाः न पित्रादिस्थाने । तथा चात्रिः,—

"पिता पितामहो स्नाता पुत्रो वाऽष सिपाइकः।

न परस्परमर्थाः (१) स्पूर्न श्राद्धे स्विनस्तया॥

स्वित्वत्पुत्रादयो होते सकुत्या ब्राह्मणा दिजाः।

वैश्वदेवे नियोक्तव्या यद्येते गुणवत्तराः"—इति॥

शिव्यस्यापि वैश्वदेवस्थानएव निवेशः। सोदर्थे विहितस्थार्थस्थ,

⁽१) मध्पकापरनामधेयोग्टह्योतार्चणविश्रेषोऽर्घमित्वचते।

'एतेनान्तेवासिनो व्याख्याताः'—इत्यापस्तम्बेन शिखेऽतिदेशात्। यनु मनुना कस्पान्तरसुक्तम्,—

"कामं श्राद्धेऽर्षयेत्रित्रं नाभिष्ठ्पमि लिरम्। दिषता हि इतिर्भुतं भवति प्रेत्य निष्फलम्'—इति॥ तन्न साचादनुकन्पाभिप्रायेण, किं लनुकन्पानुकन्पाभिप्रायेण। न श्राद्धे भोजयेत्मित्रमिति खेनैव निषिद्धस्य मित्रस्य काममर्चयेदिति। सानुभ्रयमेवाभ्यनुज्ञानात्। विषष्ठोऽप्यनुकन्पानुकन्पमारः,—

> "न्नानृषंस्यं परो धर्मा याचते यत् प्रदीयते । श्रयाचतः सीदमानान् सर्वेषायैर्निमन्त्रयेत्"—इति ॥

श्रानृशंखमुत्तष्टो धर्मः, तेनायाचतः श्रयाचनशीलान्, श्रतएव धीदमानान् निर्गुणानपि मगुणानामनुकन्यानामभावे धर्व्वापायैर्यथा ते निमन्त्रणमङ्गीकुर्वन्ति, तादृशैरूपायैर्निमन्त्रयेदिति । श्रयाचनशी-कानामभावे याचमानाय निर्गुषाय प्रदीयते दति । एतद्यनुकन्यो-भवतीत्यर्थः। सम्भवति सुख्यकन्ये नानुकन्योऽनुष्टेयः। तथाऽऽद्द मनुः,—

"प्रभुः प्रथमकन्पस्य थोऽनुकन्पेन वर्त्तते । न साम्पराधिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्"—इति ॥ साम्पराधिकसुत्तरकालिकं खर्गादिकं फलमिति । अविस्यत्-पुराषोऽपि,—

"ब्राह्मणातिकमोनािख मूर्खे वेदविवर्जिते। ज्वलन्तमग्रिसुत्मुच्य न हि भसािन ह्रयते"—इति। वेदविवर्ज्जिते,—इति निर्मुणमाचोपलचणार्थम्। ज्वतएवोक्ते तचैव,— "व्यतिकान्तर्न दोषोऽस्ति निर्मुणान् प्रति कर्षिचित्। यस्य लेकग्रहे मूर्खेदूरस्यश्च गुणान्तितः। गुणान्तिताय दातवं नास्ति मूर्खे व्यतिक्रमः"—इति॥ यन्तु पुराणान्तरेऽभिहितम्,—

"यस्वासन्तमितकस्य ब्राह्मणं पिततादृते। दूरस्यं भोजयेनू होगुणाळां नरकं बजेत्॥ तस्मात् संपूजयेदेनं गुणं तस्य न चिन्नयेत्। केवलं चिन्नयेज्ञातिं न गुणान्तिततां खग॥ सिन्त्रकृष्टं दिजं यस्त युक्तजातिं प्रियंवदम्। सूखं वा पण्डितं वाऽपि वृत्तदीनम्यापिवा। नातिक्रसेन्तरोविदान् दारिद्याभिद्दतं तथा"—इति॥

तद्दी चित्रजामाचादिविषयम् । श्रतएव मनुः,—

"वतस्यमपि दौहित्रं श्राह्मे यन्नेन भोजयेत्"—इति॥ व्रतस्यं केवलवतस्यमध्यमादिरहितमित्यर्थः। गुणवत्यिविष्ठद्याः तिकसे तु प्रत्यवायोऽस्ति। तथाच पुराणम्,—

"सप्त पूर्वान् सप्त परान् पुरुषानाताना सह।
श्वित स्थ दिजवरान् नरके पातयेत् खग॥
तस्मानातिक मेदिज्ञो बाह्यणान् प्रातिवेशिकान्।
संबन्धिनस्तया सर्वान् दौहित्रं विट्पतिन्तया॥
भागिनेयं विशेषेण तथा बन्धुं खगाधिष।
नातिक सेन्नरश्चेतान सूर्वानिष गोपते॥
श्वितकस्य सहारौद्धं रौरवं नरकं बनेत्"—दित॥

श्रिपरेवकारार्थः । श्रमूर्खानेत्रातिकम्य नरकं व्रजेत्, न मूर्खा-नित्यभिप्रायः। श्राद्धे वर्जनीया ब्राह्मणा याच्चवस्कोन दर्शिताः,—

''रोगी दीनातिरिक्ताङ्गः काणः पौनर्भवस्तथा । श्रवकीणी कुण्डगोलो^(१) कुनखी स्थावदन्तकः ॥

स्टतकाध्यापकः क्षीवः^(२) कन्यादूर्व्यभिग्रप्तकः ।

मिनधुक् पिशुनः सोमविकयी परिविन्दकः॥

मातापितगुरस्यागी कुर्ग्डाघी द्ववलात्मनः।

परपूर्वापितः स्तेनः कर्भदुष्टश्च निन्दितः"—इति ॥ श्रीमी जन्मादादिरोगवान्। जन्मादादिरोगाञ्च देवल्लेन वर्णिताः।

"जन्मादस्लग्दोषोराजयन्मा श्वामोमधुमेद्दोभगन्दरोऽमारीत्यष्टौ पाप-रोगाः"—दित । दीनं न्यूनमधिकमतिरिक्तमङ्गं यस्थामौ दीनाति-रिक्ताङ्गः। एनेनापान्त्वा यो न पत्यति, श्रमौ काषाः। तेन ज

वधिरमूकमूर्खादयो बच्छान्ते । दिव्हा पुनर्भूखस्यां जातः पौनर्भवः । श्रवकीर्णो चतवतः । कुनखी दुष्टनखः । स्यावदन्तः स्वास्मध्यकः ।

कृष्णद्नः। वेतनं ग्रहीना योऽधापयति, व स्तकाधापकः।

श्वयता यता वा दोषेण कन्यां दूषियता^(२) कन्यादूषी । महापातका-भिषप्रकः । परिविन्दकः परिवेत्ता । कुष्डखानं खोऽश्वाति य कुण्डाणी ।

⁽१) कुखगोनी, ''-परस्त्रयां जाती ही सती कुखगोनकी। पत्यी जी-वित कुखः स्थान्मृते भर्त्तरि गोनकः''— इत्युत्तलक्त्रयो।

⁽२) स्तीवः, "न मूर्त्रं पेनिनं यस्य विष्ठा चापु निमन्नति । नेष्ट्रं चीन्नाद-मुकाण्यां होनं स्तीवः स उत्यते"—इत्युत्तनत्त्वायः ।

⁽३) दूषिता,—इति हमानं पदम्। खतरव कन्यामिति कर्मीण दितीया।

कुण्डग्रन्दोगोलकस्यायुपलचकः। विदितकर्मपरित्यागी द्वषसस्युतीद्वषलात्मनः। परपूर्व्वापितः पुनर्भूपितः। श्रदत्तादायी स्तेनः।
कर्मद्ष्याः ग्रास्त्रविरुद्धाचारोपेताः। एते श्राद्धे निन्दिता वर्च्याइत्यर्थः। मनुरपि,—

"ये स्तेनपतितक्षीवा ये च नास्तिकटत्तयः। तान् इञ्जक्ययोर्विप्राननई।न् मनुरव्रवीत्॥ जटिलं चानधी<mark>यानं दुर्वालं कितवन्तदा ।</mark> याजयन्ति च ये पूर्वान् तां श्र श्राद्धे न भोजयेत्॥ चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रियणस्त्रया। यद्मी च पशुपालश परिवेत्ता निराक्तिः॥ ब्रह्मदिट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तरएवच । कुशीलवोऽवकीणी च टपलीपतिरेवच ॥ पौनर्भवश्व काण्य यस्य चौपपितार्रहे। स्तकाध्यापकोयस् स्तकाध्यापितस्तया ॥ श्रद्रिष्योगुरुयीव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ । श्रकारणपरित्यका मातापित्रोग्रीस्तया॥ ब्राह्मीर्थानेश्व संबन्धेः संयोगं पतितर्गताः । श्रगारदाही गरदः कुष्डाश्री सोमविकयी ॥ ससुद्रयायी वन्दी च तैलिकः कृटकारकः। पित्रा विवदमानस्य केकरा मद्यपल्या॥ केकरः तिर्थ्यग्दृष्टिः।

पापरोग्यभिग्रप्तञ्च दास्मिकोर्मविकयी।

धतुः ग्रराणां कर्ना च यञ्चा ग्रेदिधि घूपति: ॥ मिनभूक् स्रतरिन्य पुत्राचार्यक्षयेवच । भामरी गण्डमाली च चित्रयो पिशुनस्त्था ॥ जनारेन्यस वर्चाः खुर्वेदनिन्दकएवच । इस्तिगोऽस्रोद्रदमकोनचचैर्यस जीवति । पिचणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्त्रयेवच । स्रोतमां भेदकश्चीत्र तेषाचावरणे रतः॥ ं ग्टइसम्बेशको दूतो ट्चरोपकएवच। यक्रीडी ग्येनजीवी च कन्याद्रषक एवच ॥ हिंसी रुषलपुत्रस गणाना द्वीव याजकः। श्राचारचीन: क्लीवश्र नित्यं याचनकस्तथा ॥ क्षिजीवी मिन्पिजीवी मिद्धिनिन्दितएवच। त्रीरिश्वको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा॥ प्रेतनिर्यातकश्चेव वर्जनीयाः प्रयत्नतः । एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्षेयात्रराधमान्॥ दिजातिपवरो विदानुभयचापि वर्जधेत्"—इति।

खेने हुन ब्रह्मख्यतिरिकद्रयापहारी विविचतः। तद्र्यापहारिणः तितग्रव्यनोपात्तवात् (१)। पारलो किकफलदं कर्मा नास्तित मन्यमा-। नास्तिकाखेभ्या विज्ञितिका येषान्ते नास्तिकवृत्तयः। जिल्लो-ह्मचारी। श्रनधीयानः,—इति जिल्लिविश्रेषणम्। श्रतश्चानधीयानो ह्मचारी प्रतिषिध्यते। न तु ब्रह्मचारिमानं, तस्य श्राद्धे, 'पश्चाग्रि-) पातियहेतुमहापातकमध्ये ब्रह्मखापहारस्य परिगणनादिति भावः। र्वह्मचारिणः'—इति पाचलविधानात् । न चाध्यनरहितस्य ब्रह्म-चारिणोऽश्रोचियलेन श्राद्धे प्रषत्यभावात् प्रतिषेधोऽनुपपन्नइति बान्त्यम् । यतः,

''व्रतस्यमपि दौहिचं श्राद्धे यत्रेन भेजियेत्"—

इत्यच दौ हिचग्रहण अविविचित भिति आन्या श्रध्यनरहितोऽपि ब्रह्मचारी श्राद्धे ओजनीयतया प्रमकः प्रतिषिध्यतद्गति। दुर्वानः खल्वाटः कपिलकेशो वा। तदुकं मंग्रहकारेण,—

''खल्वाटकञ्च दुर्वालः कपिलञ्च ভে एवच''— इति ॥

कितवी द्यूतासकः। पुरयाजकाः गणयाजकाः। श्रव, श्राद्धे इति
विशेषोपादानाहुर्वालादीनां श्राद्धएव वर्ञ्यतं, न दैवे दत्यवगस्यते।
श्रात्यद्या, प्रकरणादेवोभयत्र निषेधावगमादिशेषोपादानमनर्थकं स्थात्।
श्रात्यव गौतमः। "हविःषु च दुर्वालादीन् श्राद्धएवेके"—इति।
हविःषु च दैवेऽपि एवं पित्र्यवत्परीच्य दुर्वालादीन्तर्जयेत्। एके
सन्वादयः श्राद्धएव न भोजयेत्, दैवे तु भोजयेदित्याक्तरित्यभिप्रायः। चिकितसकाः जीवनार्थमदृष्टार्थञ्च भेषजकारिणः। "तस्माद्श्राद्धाणेन भेषजं न कार्यं श्रपूता होषोऽमेध्यो यो भिषक्"—इति
श्रविश्रेषेणेव निन्दार्थवाददर्शनात्। धनार्थं संवतस्त्रच्यं देवार्चकोदेवलः। तदुकं देवलेन,—

"देवार्चनपरो नित्यं वित्तार्थी वत्सरत्रयम्। श्रमी देवलको नाम इयक्येषु गर्हित:॥ श्रपाङ्कोयः म विज्ञेयः मर्वकर्मासु मर्वदा"—इति। श्रापद्यपि मांसविक्रयिणः। श्रम्पदि विपणजीविलेनेव निषेधे बिद्धे मांधिविक्रियणदित पुनिविशेषोपादानस्य वैयर्थात् । श्रनापिद् वाणिज्येन जीवन्तो विपणजीविनः, न लापद्यपि । तत्र,

"चाचेण अर्घाणा जीवेदियां वाऽष्यापदि दिजः"—

द्गित वाणिज्यस्यापत्कस्पतया विचितत्वात् । विचितत्वागकारणं विना श्रीतसार्त्ताग्रिपरित्यका परित्यकाग्निः । श्रन्पटद्या धनं स्वीक्तत्याधिकरुद्या धनप्रयोजको वार्धिषकः । तथाच स्टितः,—

"समर्घे धनसुद्भृत्य महाघे यः प्रयच्छति ।

स वै वार्ध्विको नाम ब्रह्मवादिषु गर्हित:"-इति॥

यस्ती स्वयरोगी। श्रनापदि पश्चपालः। श्रविवास्ति च्येष्ठे श्रना-स्तिग्नो वा सति यः कनीयान् कतदारपरियस् श्रास्तिग्नाश्चितं अवेत्, स परिवेत्ता तज्ञ्येष्ठस्तु परिवित्तिः। तथाच सनुः,—

"दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरते थोऽयजे स्थिते।

परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्व्वजः"—इति ॥

श्रयजः घोदर्थे। विवचितः। तथाच गर्गः,—

"बाद्ये तिष्ठति ज्येष्ठे न कुर्याद्रारसंग्रहम्।

श्रावसव्यं तथाऽऽधानं पतितस्त्वन्यथा भवेत्"—इति॥

त्रावसथ्यसावस्याधानं, त्राधानं गार्दपत्याद्याधानम् (१) । त्रासी-

द्यें तु न दोषः। तथाच भातातपः,--

"पित्व्यपुचान्सापत्यान् परनारीसृतांस्तया । दाराग्निसोचसंयोगे न दोषः परिवेदने"—इति ॥

⁽१) खावसथ्योयस्यामः सार्त्तामिरिति यावत्। गार्र्डपत्यादयन्तु स्त्रोताः स्रयः। खादिग्रहणात् दिस्तागान्याद्वनीयाग्न्योर्यद्यम्।

परनारीस्ताः चेवजा भातरः । यमोऽपि,—

"पित्यपुत्रान्सापत्यान् परपुत्रांस्तयैवच ।

दाराग्निचधर्षेषु नाधर्मः परिवेदने"—इति ॥

परपुत्रा दत्तकीतादयः भातरः । सोद्यंविषयेऽपि कचिद्दोषी
जास्ति । तथाच शातातपः,—

"क्रीवे देशान्तरस्थे च पितते भिनुकेऽपि वा ।
योगशास्त्राभियुको च न दोषः पिरवेदने"—इति ॥
योगशास्त्राभियुको विरक्तः । काष्ट्रायनेऽपि,—
"देशान्तरस्प्रक्कीवैकष्टषणानसद्दोदरान् ।
वेग्धातिसक्तपितिगृद्रतुस्थातिरोगिणः(१) ॥
जन्जस्त्रान्धविषरकुष्ठवामनखोन्नकान् ।
श्वतिष्ठद्भानभायां स्व किषस्तान् नृपस्य च(१) ॥
धनष्ठद्भिप्रसकां स्व कामतोऽकारिणस्त्रथा ।
कुद्देशन्यकां स्व कामतोऽकारिणस्त्रथा ।
कुद्देशन्यकां स्व कामतोऽकारिणस्त्रथा ।
कुद्देशन्यकां स्व कामतोऽकारिणस्त्रथा ।

ऽकारिणः खेच्छयेव विवादानियत्ताः। देशान्तरगतादिषु कासप्रती-

⁽१) रक्तरमणरकायः पर्छिविश्रेष इति रताकरः। स्रुद्धत्त्वास,
''गोरच्चकान् वाणिजिकान् तथा कार्कुशीलवान्। प्रेथान् वार्द्धिकांस्वैव विद्यान् स्रुद्धवदाचरेत्''—इति मनूक्ककच्छाः।

⁽२) न्द्रपस्य चेति चकारेग सक्तानित्यनुक्तस्यते ।

⁽३) कुलटोन्मत्तचौरांख,—इयन्यत्र पाठः। तत्पाठे तु, परकुलं पर-गोत्रमटति गच्छति प्राप्नोति ये। दत्तकः स कुलटहत्वधीविध्यः।

चामन्तरेण परिवेदने दोषोऽस्ति । तथाच विषष्ठः । "श्रष्टो दश्य दाद्यवर्षाणि च्येष्ठं आतरमनिर्विष्टमप्रतीचमाणः प्रायसित्ती भवति"—इति । श्रनिर्विष्टमष्ठतिववादम् । श्रनेथं व्यवस्था । श्रद्ध- ष्टार्थमर्थाथं वा दादश्यवर्षप्रतीचणं देशान्तरगतच्येष्ठविषयं (१), श्रष्टौ देशिनप्रवद्यं कार्यान्तरार्थं देशान्तरगतविषयम् । तथा स्तृतिः,—

"दादग्रीव तु वर्षाणि ज्यायान् धर्मार्थयोगेतः।

न्यायः प्रतीचितुं भाता श्रूयमाणः पुनः पुनः"—इति ॥ क्रीवादयस्तु न प्रतीचणीयाः। तथाच स्तृतः,—

"जन्मनः किल्लिषी कुष्टी पतितः क्रीवएववा।

राजयस्मामयावी च न नायः खात्प्रतीचितुम्"-इति॥

विरक्तवेग्यातिमकादिषु तु चिरकालानुबच्या विवाहमभावनानि-स्नाविधिवेदनं न दोषाय, तत्र कालावधेरश्रुतलात्। श्राधानविषयेऽपि चोष्ठानुमत्याऽधिवेदने न दोषः। तथाच बद्धविषष्टः,—

"श्वराजञ्च यदाऽनिधारादध्यादनुजः कयम्।

च्चयजानुमतः कुर्यादग्निहोचं यचाविधि"—इति॥

श्वाधानाधिकारिणि च्येष्टेऽनाहिताग्राविषकिनिष्ठस्तदनुमत्याऽऽधानं कुर्यादित्यभिप्रायः । श्वयं न्यायः पित्रादिषु द्रष्ट्यः । तथाचोग्रनाः,—

"पिता पितामहो यस श्रयंत्रो वाऽच कस्यचित्। तपोऽग्निहोत्रमन्त्रेषु न दोषः परिवेदने"—इति॥

यस कस्यचित् पिता पितामहो वाऽयजो वाऽऽहिताग्नि भवति,

⁽१) चहुदार्धमर्घाधं वा देखान्तरमतेखन्वयः।

तस्य तदनुमत्याऽऽधानकरणेऽपि न दोष दत्यर्थः । एवमेव कन्यापरि-वेदनेऽपि दोषतदपवादौ द्रष्ट्यौ । ऋधीतविस्रतवेदो निराक्तिः । तथाच देवलः,—

"श्रधीत्य विस्तृते वेदे भवेदिप्रो निराक्तिः"—द्गति । नानाजातीया श्रनियमदत्तयो गणास्तेषां मध्यवत्ती गणास्यन्तरः। कुश्रीखवो गायकादिः। वषसीपतिस्तु रजससायाः कन्यायाः पतिः। तदुकं देवसेन,—

> "वन्ध्या तु रुषकी ज्ञेया रुषकी च स्तप्रजा। श्रपरा रुषकी ज्ञेया कुमारी या रजखका॥ यस्त्रेनामुद्देत् कन्यां ब्राह्मणो ज्ञानदुर्वक:। श्रश्राद्धेयमपाङ्कोयं तं विद्यादृषकीपतिम्"—इति॥

यस्य ग्रहे उपपितिर्जारः सदा संवसेत्, सौऽपि वर्ज्यः। तदुर्णं देवलेन,—

> "परदाराभिगो मोहात् पुरुषो जार उचाते। स एवोपपतिर्ज्ञेयो यः सदा संवसेद्रृहे"-इति॥

वाग्दुष्टो निष्ठु रवाक्। पितिर्मेदापातिकसंसर्गिभः सह ब्राह्मीर्थानैस् सम्बन्धेर्विद्यायोनिसम्बन्धेर्यः संयोगं गतः, सोऽत्र विवितः। न तु साचात् संसर्गी, तस्य पिततम्बन्देनैवोपात्तवात्। केकरोऽर्धहृष्टिः। स्मग्रेदिधिस्वाः पितरग्रेदिधिषूपितः। च्येष्ठायासनृहायामृहा किनष्ठा था, साऽग्रेदिधिषुः। तदुकं देवलेन,—

> ''ञ्छेष्ठायां यद्यनूटायां कन्यायासु ह्यतेऽनुजा। सा चायेदिधिषू जीया पूर्वा तु दिधिषू मेता"—रित ॥

पुत्राचार्याऽचरपाठकः। भामरी वृत्त्यर्थमेव भागतवर्थार्जकः।
ग्रद्धसम्बेशको वर्धिकद्या वर्त्तमानः। उरभा श्रवयः। तएव वृत्त्यर्थे
पालनीया यस्यासावीरभकः। महिष्यः पान्यायस्यासी माहिषकः।
श्रयवा, व्यभिचारिणीपुत्रः। तदाह देवलः,—

"महिषीत्युचाते भार्या मा चैत्र व्यभिचारिणी। तस्यां यो जायते गर्भः म वै माहिषकः स्तृतः"—इति॥ एतान् पूर्वीकानुभयत्र दैते पित्ये च वर्जयेदित्यर्थः। यमोऽपि,—

"काणाः कुङाश्च षंढाश्च कतन्ना गुरुतन्त्यगाः।

ब्रह्मन्नाश्च सुरापाश्च खोना गोन्नाश्चिकत्सकाः॥

राष्ट्रकामास्त्रधोन्मन्ताः पग्नविकिष्टणश्च ये।

मानकूटास्तुलाकूटाः भिल्पिनो ग्रामयाजकाः॥

राजभ्रत्यान्धविधरा मूर्खखल्वाटपङ्गवः।

व्षलीफेनपीताश्च^(१) श्रेणियाजकयाजकाः॥

कालोपजीविनश्चेव ब्रह्मविकिष्टिणस्त्रथा।

दण्डपूजाश्च* ये विप्राः ग्रामकत्यपराश्च ये॥

श्वागारदाहिनश्चेव गरदा वनदाहकाः।

खण्डाभिनो देवलकाः परदाराभिमर्भकाः॥

श्वावदन्ताः खुनखिनः भिन्पिनः कुष्टिनश्च ये।

विणाजो मध्हन्तारो हस्यश्चदमका दिजाः॥

^{*} दर्राअभूजास,—इति सु०।

⁽१) बन्निपोनिपीताः श्रुद्रापत्यः।

कन्यानां दूषकाश्चेव ब्राह्मणानाञ्च दूषकाः। स्त्रचकाः प्रेष्यकाश्चेव कितवाश्च कुषां लवाः ॥ समयानाञ्च भेत्तारः प्रदाने ये च वाधकाः। त्राजाविका माहिषकाः सर्वविक्रयिण्य थे॥ धनुःकर्त्ता चूतरुत्तिर्भित्रभुक् भस्तविक्रयी। पाण्ड्रोगा गण्डमाली यस्त्री च धामरी तथा॥ पिश्रनः कूटसाची च दीर्घरोगी वृधाऽऽश्रमी। प्रवञ्चोपनिवृत्तश्च व्या प्रवजितश्च यः॥ यञ्च प्रविजिताच्चातः प्रवच्चाऽवसितश्च यः। तावुभी ब्रह्मच्खानाइ वैवखतो यमः॥ राज्ञ: प्रेष्यकरीयश्च गामस्य नगरस्य वा। ससुद्र यायी वान्ताभी नेभविक्रियणस्य ये॥ अवकीर्षी च वीरघः (१) ग्रुधः पिटदूषकः। गोविकयी च दुवालः पूगानां चैव याजकः॥ अद्यपञ्च कदर्यञ्च^(२) सह पित्रा विवादकत्।

^{*} यव,--इति सा० गा०।

र् कूटयाजी,-इति से । ना ।

⁽१) वीर प्रः षाधिपरित्यागी। "वीर हा वार्ष देवानां ये। प्रिमुद्धास-यते"— इति श्रुतेः।

⁽१) ''कदर्थः, ''बात्मानं धर्मक्रत्यञ्च एत्रदारांच पीड़यन्। योबोभातृ खचिनोत्यधान स कदर्थद्रति स्तृतः''—हत्वक्षच्याः।

दास्थिको वर्धकीभन्ता त्यकात्मा दारदूषकः॥

मिद्रश्च निन्दिताचारः खकर्मपरिवर्जकः।

परिवित्तः परिवेत्ता भृताचार्थाः निराकृतिः (१)॥

ग्रद्राचार्यः स्ताचार्यः ग्र्द्रिणयम्त नास्तिकः।

दयस्त्रदारकाचार्या मानकृत्तीलकस्त्रथा॥

चोरा वार्ध्विका दृष्टाः परखानाञ्च दूषकाः।

चतुरात्रमवाद्याञ्च भवे ते पङ्किदूषकाः॥

दत्येतेर्म्वर्णर्थकांस्तांदिजात्र नियोजयेत्"—इति ।

विद्यादिगुणयोगेऽप्येतेषां वर्जनीयस्तं ब्रह्माण्डपुराणेऽभिष्टितम्,—

"श्रद्धार्षगुणयोगेऽपि नैते जातु कथञ्चन।

निमन्त्रणीयाः श्राद्धेषु सम्यक् फलमभीष्यता" विद्यादिगाण्यायाः श्राद्धेषु सम्यक् फलमभीष्यता विद्याद्वा ॥

एवं ब्राह्मणान्यागेव सम्यक् परीच्य पूर्वेयुर्निमन्त्रयीत । तथाच हारीतः। "यत्नेविम्बिधान् श्राद्धमाचरिष्यन् पूर्व्वेयुर्निमन्त्रयेत्"—इति। श्रमभवे परेयुर्निमन्त्रयीत । तथाच कूर्मे,—

> ''यो अविद्यति से आद्धं पूर्वेद्युरिभपूजयेत्। असक्षवे परेद्यं यथोक्तैर्षचणैर्युतान्''—इति॥

देवलोऽपि,-

"यः कर्त्ताऽस्मीति निश्चत्य दाता विप्रान्त्रिमन्त्रयेत्।

^{*} भ्रत्याचार्थी,—इति सु०।

⁽१) निराक्ततः,—''यल्वाधायासिमालस्यादेवादी ज्ञीभरिखवान्। निरा-कर्त्ताऽमरादीनां स विज्ञेयोनिराक्षतिः''- इत्युक्तलच्याः। आधीत-विस्तृतवेदे। वा (६८३ ए०)।

निरामिषं पहाडुक्ता पर्वभुक्तजने ग्रहे॥
श्रमभावे परेद्युकी ब्राह्मणांसान्तिमस्त्रयेत्"—इति।
श्रम विशेषो मनुना दर्शितः,—
''पूर्वेद्युरपरेद्युकी श्राद्धकर्माणुपिस्ति।
निमन्त्रयीत व्यवरान् सम्यम्विप्रान् यथोदितान्"—इति॥
वराहपुराणे,—

"वस्त्रशौचादि कर्त्तव्यं यः कर्त्ताऽस्मीति जानता।
स्थानोपलेपनं भूमिं कवा विप्रान्तिमन्त्रयेत्॥
दन्तकाष्ठच विस्रजेत् ब्रह्मचारी ग्रुचिभेवेत्"—इति॥
श्राद्धभूमिं परिग्रह्म गोमयादिना तत्स्थानोपलेपनं कत्वा विप्रान्
गुन्नो निमन्त्रयेदित्यर्थः (९)। तथाच ब्रह्माण्डपुराणम्,—

"पूर्वेऽकि रात्रौ विप्राय्यान् कतशयन्तनाश्रनान्। मला निमन्त्रथेदेविपियुद्शिसमन्तिः"-दिति॥

निमन्त्रणप्रकारः प्रचेतमा दर्शितः,-

"क्षतापषयः पूर्वेद्यः पितृन् पूर्वे निमन्त्रयेत्। भवद्भः पितृकार्यमः षम्पाद्यञ्च प्रषीदत॥ स्रोत्येन विश्वदेवार्थे प्रणिपत्य निमन्त्रयेत् (१)"— इति। भ्याच प्रणितपूर्व्वकं निमन्त्रणं प्रूट्सविषयम्। तथाच पुराखम्,—

"द्विणं चरणं विप्रः सयं वै चिचयस्रया।

⁽१) तथाच, भूमिं,—इत्यनन्तरं परिम्ह इत्यथाहारइति भावः।

⁽१) क्षतापसचः प्राचीनावीती । पिदृग् उद्दिश्वेति श्वेषः । सखेन उपवीतिना ।

पादावादाय वैद्योदी श्रद्रः प्रणतिपूर्वकम्''—इति। दिचिणचरणस्पर्भी जानुप्रदेशे कर्चयः। तथाच सत्यः,—

"द्विणं जानुमालभ्य तं मयाऽच निमन्त्रितः"—इति । पूर्वे निमन्त्रयेदित्यच^(१) पूर्वपदस्य वैश्वदेवार्षे निमन्त्रयेदिति स्विहितेनान्वयः । श्रतएव छहस्यतिः,—

"खपनीती ततो स्त्वा देनताऽधैं दिजोत्तमान्। श्रपसयोन पित्रो च खयं धियोऽधवा सृतः^(२)"—इति॥ पार्व्वणश्राद्धे ब्राह्मणमङ्खामाइ पैठीनिसः। "ब्राह्मणान् सप्त पञ्च दौ वा श्रोजियानामन्त्रयेत्"—दिति॥

यदा पश्च बाह्यणाः, तदा दैने दो पित्ये त्रय दित निभागः।
"दो दैने पित्कार्ये त्रीन्"—दित मनुसारणात्। तसादयुग्मसङ्ख्या
समितिभागार्थं पित्ये त्रय दित युक्तम्। यन् गौनकेन पित्येऽपि
युग्मितिधानं कृतं, "एकेकस्य दो दो"—दित, तदृद्धित्राद्धिविषयम्।
पित्रादिस्थानेषु सित सामर्थ्यं एकेकस्य चींस्त्रींन्तिप्रान् भोजयेत्।
तथाच गौनकः। "एकेकमेकेकस्य चींस्त्रीन्ता"—दित। त्रात्यन्तिभवे
सत्येकेकस्य पञ्च सप्त वा ब्राह्मणान् भोजयेत्। तथाच गौतमः।
"नवावरान् भोजयेदयुजो वा यथोत्सादम्"—दिति॥

श्वर्रार्थः। यथोत्सा इं यथाविभवं पित्रादिम्यानेषु प्रत्येकमयुजः पञ्च सप्त वा बाह्मणान् भोजयेदिति। वचनस्य कथं पञ्चसु सप्तसु वा बाह्मणेषु पर्यवसानम् ?

⁽१) पितृन् पूर्वं निमन्त्रयेदिति प्रचेतावचने हत्यर्थः।

⁽२) निमन्त्रयेदिति पेषः।

'शामर्थोऽपि नवस्थोऽवाग्मोजयीत सति दिजान् । नोध्वं कर्त्तव्यसित्याज्ञः केचित्तद्दोषदर्श्वनः (१)"— दति ब्रह्माण्डपुराणवचनादिति ब्रूमः । श्रीनकगौतमास्यासुको-ऽयं श्राद्धविक्तरो मनुना नादृतः,—

"दो देवे पित्नार्थं चीन् एकेनमुभयच वा।
भोजयेतमुमस्द्वाऽपि न प्रमच्चेत विस्तरे॥
सित्नायां देशकाली च श्रीचं बाह्यणमस्दम्।
पद्मैतान्त्रिस्तरे इन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्"॥
दत्यकारणमेव विस्तरप्रतिषेधात्। श्रतएव स्दूरहस्पतिरपि,—
"एकेनमथवा दो चीन् देवे पित्ये च भोजयेत्। ॰
सित्नायाकालपाचादि न सम्पद्येत विस्तरे"—दिति॥
विस्तरोऽपि,—

"दा दैवे पित्नार्ये चीनैकैकसुभयन वा।
भोजयेत्युसम्द्रहोऽपि विस्तरन्तु विवर्जयेत्"—इति॥
श्रतण्व याद्यवरुक्येनापि सङ्कोषण्य पन्नो विहितः,—
"दो दैवे प्राक्षयः पित्रजत वैकैकसेववा।
सातासहानासण्ये तन्त्रं वा वैश्वदेविकस्"—इति॥
एकैकसुभयन वेति ब्राह्मणाद्यसभवे वेदितयम्।यन्तु महोनोक्तस्,—
"भोजयेदणवाऽण्येनं ब्राह्मणं पङ्किणावनस्"—इति।
तदण्याभविषयम्। यदावेकण्य भोका तदैवसाह विषष्टः,—

⁽१) तद्दोषदर्शिनः ब्राह्मणवाज्जल्यदोषदर्शिनः। स च दोघोऽनुपदमेव वच्यते।

"यदोकं भोजयेच्छा है देवं तत्र कथं भवेत्। श्रत्नं पात्रे समुद्भृत्य सर्वस्य प्रकातस्य तु॥ देवतायतने कला यथाविधि प्रवर्त्तयेत्। प्रास्येदग्नौ तदत्रन्तु दद्यादा ब्रह्मचारिणे"—दति॥ निमन्त्रणे नियमान्तरमाइ मत्स्यः,—

"पठित्रमन्त्य नियमान् श्रावयेत् पैत्वकान् बुधः । श्रकोधनैः श्रोचपरैः सततं ब्रह्मचारिभिः॥ भवितयं भविद्मश्च मया च श्राद्धकारिणा"—इति । निमन्त्रितैर्यत्कर्त्तयं तदां हात्रिः,—

"ते तन्तघेत्यविघ्नेन गतेयं रजनी यदि।
 यद्याश्रुतं प्रतीचेरन् श्राद्धकालमतन्द्रिताः"—इति॥

ते निमन्त्रिता विप्रासं श्राद्धकर्त्तारमिवप्नपूर्वकं तथाऽस्त्रित्युक्ता यथाश्रुतं विदितं नियमजातं, श्राद्धकालं श्राद्धे भुकं यावत् जीर्धति तावदनुतिष्ठेरिवित्यर्थः । तथाच प्रचेताः,—

"श्राऽश्वपरिणामान् ब्रह्मचर्धं दयोः स्रतम्"—इति । यमोऽपि,—

"त्रामिन्तितास्त ये विप्रा श्राद्धकाल उपस्थिते। वसेयुर्नियताहारा ब्रह्मचर्यपरायणाः॥ श्रहिंसा सत्यमकोधो दूरे चागमनिकया। श्रभारादहनञ्चेति श्राद्धस्थोपामनाविधिः"—इति॥

तथाऽस्त्रित्यङ्गीकारः यति सामर्थे त्रनिन्दितामन्त्रणविषयः।
तथाच कात्यायनः। "त्रनिन्दोनामन्त्रिते नातिकामेत्"। प्रक्रेन न

प्रत्याख्यानं कर्त्त्वमिति । यस्त्वामन्त्रणमङ्गीकृत्य सत्यपि सामर्थे पञ्चान्त्रिवार्यति तस्य दोषोऽस्ति । तथाच मनुः,—

"नेतितस्त वयान्यायं दयकये दिजोत्तमः। कयश्चिद्यतिकामन् पापः ग्रुकरतां वजेत्"—इति॥ नेतिता निमन्तितः। यमोऽपि,—

"त्रामन्तितञ्च यो विप्रो भोकुमन्यत्र गच्छति।
नरकाणां प्रतं गला चण्डालेष्यभिजायते"—इति॥
निमन्तितज्ञाह्मणपरित्यागे प्रत्यवायोऽस्ति। तथाच नारायणः,—
"निकेतनं कारियला निवारयति दुर्मातिः।
जह्मचत्यामवाप्नोति पूद्रयोनौ च जायते"—इति॥
यस्त्वामन्त्रितो विप्रश्चाह्नते।ऽपि श्राद्धकालातिक्रमं करोति

तस्य प्रत्यवाय श्रादिपुराणेऽभिहितः,—

"श्रामन्त्रितश्चरं नैव कुर्यादिप्रः कदाचन।
देवतानां पित्वणाञ्च दातुरत्रस्य चैव हि॥
चिरकारी भवेद्रोही पद्यते नरकाग्निना"—इति।

दात्रभोन्नोर्नेह्मचर्यनियमातिकसे प्रत्यवायस्त तच तचोकः। तच

बद्धमनु:,—

"च्छतुका लं नियुक्तो वा नैव गच्छेत् स्तियं कि चित्। तच गच्छन् समाप्नोति द्यनिष्टफल मेव तु"—दित ॥

के नित,—इति पाठः से । ना० । एवं परच।

[†] ऋतुकालं प्राप्येति भ्रेषः। ऋतुकाले,—इति समीचीनः पाठः।

गौतमः। ''मद्यः श्राद्धी शृद्रातन्यगतन्तत्पुरीषे मामं नयेत पि-दृन्''—इति। श्राद्धी श्राद्धकर्ना मद्यम्तत्त्रणमारभ्येत्यर्थः। मनुः,—

"त्रामन्त्रितस्तु यः त्राद्धे दृषच्या यह मोदते। दातुर्थद्दुष्कृतं किचित् तत्मुर्वे प्रतिपद्यते"-इति॥ यमः,-

"त्रामिन्तितस्तु यः त्राङ्के त्रध्वानं प्रतिपद्यते । भवन्ति पितरस्तस्य तन्त्रांसं पांग्डभोजनाः"—इति ॥ त्राङ्कदिनकृत्यं प्रचेतसा दिश्वितम्,-

''श्राद्धभुक् प्रातक्त्याय प्रकुर्धाद्दन्तधावनम् । श्राद्धकर्त्ता तु कुर्व्वीत न दन्तधावनं बुध''—इति ॥ देवलाऽपि,—

"तथैव यन्तितो दाता प्रातः स्नाता सहाम्बरः।
श्रारभेत नवैः पानैरन्नार्धं खवान्धवैः॥
तिनानविकरेत्त्रच सर्वतो बन्धयेदजान्।
श्रापदातं सर्वे तिनैः ग्राध्यत्यजेन च॥
ततोऽनं बद्धसंस्कारं नैकभाजनभन्नवत्।
घोष्ययेपसम्बद्धस्त यथाप्रकि प्रकल्पयेत्"—इति॥

त्रव द्रवाणि प्रचेतात्राह,—

"कष्णमाषास्तिनाश्चैन श्रेष्ठाः खुर्यनगानयः । भरायना बीरियनास्त्रयेनच मधूनिकाः॥ कष्णाः श्वेताश्च नोराश्च गाह्याः खुः श्राद्धकर्माण"—इति । यनाः सितग्रुकाः ग्रानयः कसमाद्याः। सरायना बीरियनास् चविश्रेषाः। मधूलिका धान्यविश्रेषः। ष्ठणाः खलजाः क्रणावर्षवीइयः। लोहा रक्तशालयः। मार्कण्डेयोऽपि,—

"यवत्रीहिमगोधूमाः तिलमुद्गाः समर्षपाः।
प्रियङ्गवः कोविदारः निष्पावाः (१) श्वात्र श्रोभनाः"—इति॥
त्रत्र गोधूमानामावश्यकत्वमिष्णोक्तम्,—

"ऋगोध्मञ्च यच्छाद्धं कतमणकतं भवेत्" - इति॥ वायुपुराणेऽपि, —

> "विल्वामलकम्हदीकापन्षाम्रातदाडिमम्। चयम्यालेवताचोटखर्जूराणां फलानि च^(२)॥ कशेरकोविदारश्च तालकन्दलया विषम्। कालेयं कालशाकञ्च सुनिषणं सुवर्चला॥ कट्फलं किङ्किनी^(२) द्राचा लकुचं मोचमेवच। कवन्धूगीवकं चारु तिन्दकं मधुषाङ्मयम्॥ वैकङ्कतं नालिकेरं ग्रटगाटकपरूषकम्। पिप्पली मरिचञ्चेव पटोलं टहतीफलम्॥

 [#] निष्पाता,—इति ना॰।

[†] सुनिष्पनं, - इति पाठान्तरम्।

⁽१) निव्यावः श्रिम्बीसदधोदित्तगापधे प्रसिद्धइति कल्पतसः।

⁽२) पालेवतः काग्रमीरके उ इति प्रसिद्धहित श्राह्यचिन्तामिणः। प्रा-चीनामलकद्दित प्रकाशकारः।

⁽३) किङ्किनी खस्तरसा दास्ति नदीधरः। इनायधेन तु किङ्गिनी जनजम्बूरिति वाखातम्।

सुगन्धिमत्यसांषञ्च कलायाः सर्वएवच । एवमादीनि चान्यानि खादूनि मधुराणि च॥ नागरञ्चाच वै देयं दीर्घमूलकसेवच"—इति।

स्दीका द्राचा। श्रामातकः कपीतनः । चयस्विका। श्रचीटः श्रेलोद्भवः। क्रेश्रेर भद्रमुखा। कालेयकं दारुहिरद्रा। सुनिवणं वितुन्न-श्राकम्। कट्फलं श्रीपर्णिका। लकुचो लिकुचः। मोचं कदलीफलं। कर्कं धूर्वदरी। तिन्दुकः सितिमारकः। ग्रटङ्गाटकं जलजन्तिकण्टकम्। स्टतीफलं निदिग्धिकाफलम्। दीर्घम्लकन्तुण्डिकेरीफलम्। विल्वाम-स्वकादीनि प्रसिद्धानि। पालेवतपरूषकादीन्यप्रसिद्धानि। श्रङ्कोऽपि,—

> "त्राघान् पालेवतानिचू मृदीकां चयदा डिमम्। विदायीश्व अचुण्डांश्व श्राद्धकालेऽपि दापयेत्। द्राचामाधुयुतां दयात् प्रकून् प्रक्षरया यह॥ दयाच्छाद्धे प्रयत्नेन प्रदङ्गाटकक प्रेलुकान्"—दिति।

चादित्यपुराणेऽपि,—ः

"मधूनं रामठचीव कर्पूरं मरिचं गुडम्। श्राद्धकर्माणि प्रस्तानि मैन्धवं त्रपुषं तथा"—इति॥

श्रन विश्वेषो मार्क्कण्डेयेन दंशितः,—

"गोधूमैरिनुभिर्मुद्धैः चीणकैञ्चणकैरिप । श्राद्धेषु दत्तैः प्रीयन्ते माममेकं पितामहाः॥ विदायीञ्च अचूडेञ्च विमेः प्रटङ्गाटकैक्ष्या। केचुकैञ्च तथा कन्दैः कर्क्कन्युवदरेरिप॥ पालेवतरातुकैञ्चाष्याचोटः पनमैक्षथा। काकोत्थः चीरकाकोत्थः तथा पिष्डालकैः ग्रुभैः॥

खाजाभिश्व प्रवाभिश्व पपुषैर्वाक् विभिटैः।

सर्षपाराजग्राकाभ्यामिङ्गदैराजजम्बुभिः॥

प्रियालामलकैर्मुखैः पङ्गुभिश्व तिलम्बकैः।

वेचाङ्करैकालकन्दैश्वकिकाचीरिकावचैः॥

माचैः समोचैर्लकुचैक्तथा वे वीजपूरकैः।

सुज्ञातकैः पद्मपलैर्भच्यभोज्यैः सुसंकृतैः॥

रागवाडवचोय्यैश्व विजातकसमन्वितैः।

दन्तैस्तु सासं प्रीयन्ते श्राद्धेषु पितरो नृणाम्"—इति॥

विदारी कृष्णवर्णभूकुषाण्डफलम्। केचुकः कचूराख्यशाकम्। कन्दः शूरणः। उर्व्वातुः खादुकर्कटी। चिभिटिसिक्तकर्कटी। मर्षपेति दीर्घः कान्द्रभः। राजशाकं कृष्णमर्षपः। दृङ्गदः तापस्तरः। प्रियालेशराजादनम्। चिक्रका चिञ्चाः। चीरिका फलाध्यचम्। रागषाडवाः पानविशेषाः। चिज्ञातकं लवङ्गैलागन्धपचाणि। मत्य-पुराणेऽपि,—

"श्रत्नन्तु षद्धिचीरं गोष्टतं श्रक्कराऽन्तितम्। मासं प्रीणाति सर्वान् वै पित्वनित्याद नेशवः"—इति॥ अनुर्पिः—

"तिलेबीहियवैभीषैरिह्म नूलफलेन वा। दत्तेन मामं प्रीयन्ते विधिवत्पितरो नृणाम्॥ दौ मामौ मम्यमां सेन नीन्नामान् हारिणेन तु। श्वारश्वेषाच पतुरः श्वाकुनेनेह पष वै॥ षण्मासांश्कागमांसेन पार्षतेने इसप्त वे(१)।
श्रष्टावेणस्थ मांसेन रौरवेण नवेव तु॥
दश माश्रांस्त त्यांना वराइमहिषामिष्ठैः।
श्रश्च मांसेन माश्रांने ततु॥
संवत्सरन्तु गर्येन पयसा पायसेन वा।
वार्द्वीणमस्य मांसेन त्यप्तिद्वादश्वार्षिकी॥
कालशाकं महाश्रस्तं खद्गं लोहामिषं मधु।
श्रानन्थायेव कन्पने सुन्यनानि च सर्व्वशः'—इति॥
वार्द्वीणसे रक्षवर्णतृद्धच्हागलः। तद्कं विष्णुधर्मोन्तरे,—
"विपिवन्विन्द्रयचीणं(२) यूथस्थायसरं तथा।
रक्षवर्षन्तु राजेन्द्र, क्षागं वार्द्वीणमं विदुः"—इति॥
पिचिविशेषो वा,—

"कृष्णग्रीवो रक्तिश्वराः येतपची विहत्तमः।

स वै वार्शिषसः प्रोक्तः द्रत्येषा वैदिकी युतिः"—द्रति

निगमवचनात्। कालगाकसुत्तरदेशे प्रशिद्धम्। महाग्रस्को मृत्यविग्रेषः। खद्गः खद्गम्याः। लोहो लोहितवर्षस्कागः। सुन्यसानि नीवाराद्यसानि। याद्धे कोद्रवादिधान्यानि वर्जयेत्। तथाच व्यासः,—

"ष्रश्राद्धेयानि धान्यानि कोद्रवः पुलकास्त्रया : हिङ्गद्रव्येषु ग्राक्षेषु कालानलग्राभास्त्रया"—इति॥

⁽१) पार्षतादयो स्टमजातिविश्रोषाः।

⁽२) जनपानकाने यस्यास्यं नासिकादयं च जने निमच्चति, सीऽयं चिपिव हत्युचते। चिभिनीसिकादयमुखैः पिवतीति व्यत्यत्तेः।

कोद्रवाः कोर्दूषकाः। पुलकाः पुलाकाः हान्द्गोऽत हुखः। संस्कारकद्रवेषु हिङ्गुद्रव्यमश्राद्धेयम्। कालः हाणार्जुकः। श्रनल-श्चिचकः। ग्रभा ग्रभाखाः शाकविशेषः। एतानि शाकान्यश्राद्धेन् थानि। नन्,—

"मधूदं रामठच्चैव कर्पूरं मरिचं गुड़म्"-इति

श्रादिपुराणे हिङ्गुद्रव्यस्य श्राद्धेयलमुकं, तत्क्रधं तस्याश्राद्धेयत-मुच्यते,—इति । सत्यं, "श्रातराचे षोडग्रिनं ग्रह्णाति नातिराचे षोडग्रिनं ग्रह्णाति"—इति वर्षापि विधिप्रतिषेधदर्भनादिकस्योऽस्त । एवसेवान्यचापि । भारदाजोऽपि । "मुद्गाहकीमाषवर्जं विद्लानि दद्यात्"—इति । सुद्गः कष्णेतरः, श्राटकी तुवरी, माषो राजमाषः, एतैर्व्चिना विद्लानि दद्यादित्यर्थः । मादग्रहणं कुलत्यादीनाहुप-खचणार्थम् । श्रतप्व चतुर्विंग्रतिभतम्,—

> "कोद्रवात्राजमाणांश्च कुलत्यात्वरकां तथा। निष्पादांस्तु विशेषेण पश्चैतांस्तु विवर्जयेत्॥ यावनालानपि तथा वर्जयन्ति विपश्चितः"—इति।

वर्काः वनसुद्धाः । श्रन्यत्प्रसिद्धम् । श्रव निष्यावनिषेधः स्थाः निष्यावनिषयः,

"क्षण्यान्यानि सर्वाणि वर्जयेत् शाद्धकर्माणि"—इति स्मरणात् । "निष्पावाञ्चाच श्रोभनाः"—इति मार्क्कण्डेयपुराणं कृष्णेतरनिष्पावविषयतया व्यवस्थापितं भवति । सरीचिरणि,—

> "कुलत्याञ्चणकाः श्राद्धे न देथाञ्चैव कोह्वाः। कटुकानि च सर्वाणि विरमानि तथैवच"- सिन।

विष्णु पुराणेऽपि,—

"श्राद्धे न देवा पालङ्घा तथा निष्पावकोद्रवाः। मस्ररचारवास्त्रककुलत्यभणभिग्रवः"—दिति॥

पासङ्घा सुकुन्दः, मस्रो मङ्गत्यकः, चारो यवचारादिः।
विष्णुरिष । "स्रहणिश्रयुष्ठपस्रधार्जककुमाण्डासादुवाक्तांकुपासङ्घातण्डुलीयककुसुस्रमिष्ट्रपीचीरादि वर्जयेत्"—इति । स्रस्तृणो स्रहणः
कान्द्रसत्नात् सुडभावः । षर्षपोऽच राजमर्षपः । "कुसुस्रं राजषर्षपम्"—इति स्रत्यक्तरे विश्रेषितत्वात् । सुर्धा निर्गुण्डा । श्रर्जकः
श्रीतार्जकः । उश्रना श्रिष्,—

"ना लिका शणच्छत्रा कसु सुम्भानम् विङ्भवान् । सुभी कम्बुक दन्ता कको विदारां स्व वर्ज येत् ॥ वर्ज ये हुन्त्र नं श्राद्धे का स्विकं पिण्ड मृत्वकम् । करस्त्रं येऽपि चान्ये वै रसगन्थो त्कटा स्वर्षा"—इति ॥

नालिका दीर्घनालायगताऽल्पपस्ता। क्वाकं सिलिन्धुः। कुभी श्रीपर्षिका। कम्बुकं दत्तालातु। ग्रञ्जनो इरिट्रक्तवर्षः पलाण्डुविशेषः। काञ्चिकं श्रारनालकम्। करञ्जञ्चिरविल्बफलम्। पुराणेऽपि,—

"वांग्रद्धरीरं सुरसं सर्जकं श्रृतिणानि च। त्रवेदोकास्य निर्धासा लवणान्धोवराणि च॥ श्राद्धकर्माणि वर्च्धानि धास्य नार्धा रजखलाः"—इति॥ वांग्रद्धरीरं वंग्राद्धरः। धर्जकः पीतसारकः। श्रवेदोका वेदे निषद्धा निर्धासाः व्रस्थनप्रभवादयः। श्रोपराणि खवणानि क्यतलव- णानि । रजखनाः दिनचयादूर्द्धमिनरत्त्रमः । भरदाजोऽपि,—

"नकोद्धृतन्तु यत्तोयं पन्ननाम्नु तथैवन ।

खन्पाम्नु सुग्नाण्डफनं वज्ञकन्दम पिप्पनी ॥

तण्डूनीयकग्राकश्च माहिषश्च पयोदिध ।

श्रिम्बिकानि करीराणि केविदारगवेधकम् ॥

खुन्नत्यग्रणजम्बीरकरस्थाणि तथैवन ।

श्रिम्बान्यद्रक्तपुष्पं भ्रिगुः चारं तथैवन ॥

नीरमान्यपि सर्व्वाणि भन्द्यभोज्यानि यानि न ।

एतानि नैव देयानि सर्व्वसिन् श्राद्धकर्मणि॥

श्राविकं मार्गमौद्रश्च सर्वमैकग्रफश्च यत्।

माहिषश्चामरश्चिव पयो वर्ष्यं विज्ञानता"—इति॥

त्राविकसवीनां पयः। मार्गं स्गीणां प्यः। श्रीष्ट्रसृष्टीनां पयः। ऐकश्रफं वडवापयः। साहिषं सहिषीपयः। चामरं चमरीपयः। ब्रह्माण्डपुराणेऽपि,—

"दिः खिन्नं परिद्राधञ्च तथैवागावने हितम्।

शक्तराकी टपाषाणैः के श्रेर्यचाणुपद्रुतम्॥

पिण्याकं मधितच्चैव तथाति जवण्ञ यत्।

द्धि श्राकं तथा भन्यमुष्णञ्चोष विविक्तितम्॥

वर्क्तयेच तथा चान्यान् सर्वानिभमतानि ।

सिद्धाः कताञ्च ये भन्नाः प्रत्यचलवणी कताः॥

वाग्भावदृष्टाच्च तथा दृष्टे चोपहतास्तथा।

वास्सा चोपधूतानि वर्ज्यानि श्राह्यकर्षाणि"—हित्॥।

दि:स्वित्नं दि:पक्तम् (१)। परिदाधमिवदाधम्। श्रायावले हितं पूर्श्व-मेवान्येनास्वादितम्। मिथतं विलालितं निर्जलं दिधि। सिद्धाः भन्ना श्रामलकादयः, प्रत्यन्नलवणेन मिश्रिताः। श्रङ्कारेऽपिः—

> "क्रणाजाजीं विडञ्जैत सीतपाकीं तथैतच। वर्जयेद्मवणं सर्वे तथा जम्बूफलानि च॥ अवस्तावरुदितं तथा आद्धेषु वर्जयेत्"—इति।

कृष्णाजाजी कृष्णजीरकः। विडम्बिडालाख्यम्। लवणं कत-लवणम्। श्राद्धे कुषाण्डादिनिषिद्धद्रयोपादाने प्रत्यवायोऽस्ति। तथाच स्पृत्यन्तर्म,—

"कुमार्ष्डं महिषीचीरं त्राठक्योराजमध्याः । चणकाराजमाषाञ्च प्रन्ति त्राद्धमसंग्रयः ॥ पिष्डानुकञ्च ग्रुण्ठीं च करमदींञ्च नालिकाम् । कुमार्ष्डं बज्जवीजानि त्राद्धे दला प्रयात्यधः"—इति ॥ करमर्दः सुषेणः। बज्जवीजानि वीजपूरादीनि । नित्यभोजने

प्रतिषिद्धमपि श्राद्धे न देयम्। श्रतएवोक्तं षड्विंग्रन्ताते,—

"चीरादि महिषीवर्ज्यं श्रभच्यं यच कीर्त्तितस्"—इति । नित्यभोजने वर्ज्यानि प्राकानि पैठीन सिनोक्तानि । "टन्ताक-नालिकापौतकुसुंभासान्तकाञ्चेति प्राकानामभन्त्याञ्च"—इति । पौतं पौतिका । टन्ताकनिषेधसु श्वेतटन्ताकविषयः । श्रतएव देवलः,—

⁽१) दिःपक्षं च तदेव, यत् स्प्रकारशास्त्रापेत्तिपाकि निष्पत्त्यमन्तरं श्रीत्यादिनिष्टत्तये एनः पाकानारयुक्तम्। न लर्डपाकानन्तरं तत्शास्त्रोक्त-सम्भारणरूपपाकान्तरसिद्धं यञ्जनादि । स्रतीतार्थनिष्ठानिर्देशात् ।

"कष्टूरं श्वेतरुनाकं कुक्षाष्ड्य विवर्जयेत्"—इति। कष्टूराष्टारुषायणी, तस्याः फलं कष्टूरम्। कुक्षवृधवदर्जुसं रुत्तालावुषदृशं कुक्षाष्डम्। भविष्यत्पुराणेऽपि,—

"लग्रुनं ग्टञ्जनश्चैव पलाण्डुक्षवकानि च। वन्ताकनालिकालावु जानीयाज्ञातिदूषितम्"-इति ॥ लग्रुनं श्वेतकन्दः पलाण्डुविश्रेषः,-

"लग्रनं दीर्घपत्रश्च पिष्क्रगन्धो महीवधम्। परक्षश्च पलाष्डुश्च लतार्कश्च परारिका॥ गटञ्जनं पत्रनेष्टश्च पलाष्डोर्दश्च जातयः"—इति

सुश्रुतेनोक्तलात् । कवकं ख्वाकम् । हारीतोऽपि । "न वटप्तची-बुम्बरद्धित्यनीपमातुलङ्गानि वा भचयेत्"—इति । मनुर्पि,—

"लो हितान् वचिनयां सान् व्रञ्जनप्रभवां साया। जो लुंगच्यञ्च पीयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत्" - इति॥

को हिता वचिनर्यां का चादयः। को हितग्रहणात् निर्यासलेऽपि पाटकश्वेतवर्षः हिङ्गुकर्पुरादेरप्रतिषेधः। ग्रेजुः स्नेमातकः। पीयूषोऽभि-नवम्पयः। ब्रह्मपुराणे,—

> '' हतारफोनं हतानाएडं पीयूषमय चाईगोः। न गुडं मरिचानन्तु तथा पर्युषितं दिधि॥ दीणं तक्रमपेयञ्च नष्टखादु च फोनवत्"—इति।

हतादुद्धृत्य तत्फेनमाचं न पेयम्। हतादुद्धृत्य मण्डं तद्ग्रह्य न पेयम्। त्रार्द्रगोः प्रसवप्रस्त्यनिटत्तरत्रस्कायागोः पीयूषं न पेयम्। गुडं मरिचोपगतं पर्युषितं दिध च, दीर्षं स्पुटितं तक्तं दीर्घकालिखात्या नष्टखादु च फेनवच्च न पेयम्। याद्यवस्त्योऽपि,—
'मिन्यिनर्द्याऽवत्यगोः पयः परिवर्जयेत्।
श्रोष्ट्रमेक्यफं स्त्रेणमारख्यकमथाविकम्''—इति॥
या रुपेण मन्धीयते सा सन्धिनी, श्रनिर्द्या श्रनिर्गतद्यराचाः
श्रवत्सा वत्सरिहता। एतासां गवां पयः परिवर्जयेत्। श्रारख्यकपयोः
निषधश्रारख्यकमहिषीयितिरिक्तविषयः। तदाद्य मनुः,—

"त्रनिर्द्रशाया गोः चीरमौद्रमैकश्यमं तथा। त्राविकं सन्धिनीचीरं विवत्सायाञ्च गोः पयः॥ त्रारखानाञ्च सर्वेषां स्टगाणां महिषीर्विना"—इति।

विषष्ठोऽपि। "गोमिइध्यकानामिनईशाद्दानां पयो न पेयम्"—
इति। गौतमोऽपि। "खन्दिनीयमस्मिनीनाञ्च"—इति। चीरं
न पेयमिति श्रेषः। खन्दिनी खनएव सवत्पयःसनी। यमसूर्यमस्त्रमः। बोधायनोऽपि। "चीरमपेयं विवत्साया श्रन्यवत्सायाञ्च"—इति। श्रापस्तम्बोऽपि,—

"चित्रवस्ति वस्ता विष्यः श्रुद्रोऽयवा पुनः। या पिवेत्कापिलं चीरं न ततोऽन्योऽस्यपुष्यकृत्"—इति॥ जात्या विश्रुद्धमपि नेशकीटादिसंपर्गदुष्टमाचं संवर्जयेत्। तथास देवलः,—

"विश्रद्धमपि चाहारं मिकताक्तमिजन्तुभिः। नेश्वरोमनखैर्नाऽपि दूषितं परिवर्जयेत्"—इति॥ श्रव मिकतक्तमिजन्तवो खताः विविचताः। एतैः नेश्वरोमादि-भिष्य दूषितं सति सभावे वर्जयेत्, श्रमभावे तु नेश्वादिकसुद्धत्य यम्प्रोच्य हिरण्यभं कला भुझीत। तथाच समनुः। "नेप्रनीट-चुतवचोपहतं श्वभिराष्ठातं लेहितं वा त्रद्धि पर्युषितं पुनः सिद्धं चण्डालाद्यवेचितं त्रभोच्यं त्रन्यत्र हिरणोदनैः स्पृष्टा"—इति। चुतवचः चुतवाग्जातो ध्वनिः। त्रापर्याप शादिभिरवलीढं न भुझीत। तथाच देवलः,—

"त्रवलीहं यमार्जारध्वांचलुक्ट्रम्षकीः। भोजने नोपभुज्ञीत तदमेधं हि मर्जनः"—इति॥ भविष्यत्पुराणेऽपि,—

"सुरालग्रनसंस्पृष्टं पीयूषादिसमन्तिम्। संसर्गादृथते तद्धि ग्र्द्रोच्किष्टवदावरेत्" - इति॥ त्राचादिशब्देन कवाकादिद्ष्ट्रय्थं परिग्रह्यते। स्रत्यन्तरे वर्ज्या-न्तरसुक्तम्,—

'नापणीयं समस्रीयात्र दि:पकं न पर्युषितम्।

हतं वा यदि वा तेकं विष्रो नाद्यात् नखन्युतम्।

यमस्तदर्श्वि प्राष्ट तुन्यं गोमांसभन्तणेः॥

इस्तदत्ताश्च ये स्तेदा लवणयञ्चनानि च।

दातारत्रोपतिष्ठन्ति भोता भुन्नीत किन्विषम्॥

एकेन पाणिना दत्तं श्रुद्धादत्तं न भन्नयेत्"—दित।

त्रापणस्थात्रप्रतिषेधोऽत्राप्पादियतिरिक्तविषयः। तदाद्द श्रुद्धः,—

"त्रप्रपाः सक्तवोधानास्तकं दिध हतं मधु।

एतत् पण्येषु भोक्तयं भाष्डलेचि न चेद्भवेत्"—दिति॥

पर्य्युषितनिषेधोऽपि वटकादियतिरिक्तविषयः। तदाद यमः,—

"म्रपूपाञ्च करकाञ्च धानावटकसकतः। ग्राकं मांधमपकञ्च सुपं क्रस्य सेतच॥ यवागूः पायसञ्चेत यचान्यत्त्रोदसंयुतम्। सक्षे पर्युषितं भोज्यं ग्राकं चेत्परिवर्जयेत्"—इति॥ देवसोऽपि,—

"श्रभोज्यं प्राक्तराहारं ग्रुकं पर्युषितञ्च यत् । श्रपूपा यवगोधमविकारा वटकादयः"—इति ॥

वटका सावादिपिष्टमया प्रसिद्धाः। पुनरपूपग्रहणं त्रीह्यादिपिष्टः विकारोपादानार्थस्। क्षसरं ष्टष्टितलचूर्णसंयुतसोदनस्। श्रन्यदोदना-दिकं खेरसंयुतं ष्टतेन दभा वाऽभिषारितम्। एतत्सर्श्चे पर्युवितसग्रह्मं भोष्यस्। ग्रुक्खक्षपं वृद्दस्यतिनोक्तम्,—

"श्रत्यसं ग्रम्भाखातं निन्दितं ब्रह्मवादिभिः"—इति ॥ श्रम्भभीषदसं वा यदस्य कालान्तरेण वा द्रव्यान्तरसंस्वर्गीण वाऽत्यसं भवति तच्छुमं, न तु स्वभावतोऽत्यसम्। यदग्रिपकं सद्दा- श्रम्भरितं, तत्पर्युवितम् । ग्रम्भरितवेधो दध्यादिव्यतिरिक्षविषयः । तदाष्ट्र ग्रह्मः,—

"द्धि अच्छा ग्रुकेषु सर्वश्च द्धिसकावम्। च्छाविपकां अच्छं खात् सर्पिर्युक्तमिति खितिः"—इति॥ चनग्निक उग्ना च्छावं , तेन पकं ग्रुकं पर्युवितश्चापदि प्रचाचितं भोच्यम्। तदाइ यमः,—

^{*} मांचं मसूर्य, — इति सु॰। † तुवीसपक्षं, — इति सो॰ ना॰। ! तुवीसं, – इति सो॰ ना॰।

"शुक्रानि हि दिजोऽन्नानि न भुद्धीत कदावन।
प्रचालितानि निर्देशिषाण्यापद्धर्मीऽथवा भनेत्॥
मस्रसमाषसंयुक्तं तथा पर्युषितञ्च यत्।
तन्तु प्रचालितं कला भुद्धीत ह्यभिघारितम्"—इति।

श्राश्रयदृष्टमिप न सुञ्चीत। तथाच याज्ञवस्काः,—

"कद्यंबद्धचोराणां क्षीवरङ्गावतारिणाम्।

वैणाभिग्रज्ञवाधुंध्यगणिकागणदीचिणाम्॥

चिकित्सकातुरकुद्धपुंञ्चजीमत्तविद्वषाम्।

क्रूरोग्रपतितवात्यदांभिकोच्छिष्टभोजिनाम्॥

श्रवीराच्तीखर्णकारच्तीजितगामयाजिनाम्।

ग्रच्लविकिध्यक्षीरतन्तुवायश्रविनाम्॥

नृशंसराजरज्ञककृतम्बधजीविनाम्।

चेलधावसुराजीवसदोपपतिवेष्मनाम्॥

एषामन्तं न भोक्त्यं सोमविकिध्यणस्त्रधा"—इति।

कदर्यो जुन्धकः । तथाच स्रत्यन्तरम्,— "त्रात्मानं धर्मकत्यञ्च पुचदारां च पीड़येत् ।

लोभाद्यः पितरो सत्यान् स नदर्य दति स्वतः"—दित ॥ बद्धः प्रद्रङ्खालितः । रङ्गावतारी नटः । वैणो वीणावादनोपजीवी । दीची दीचासंस्कारवान् । तस्य चाभोज्यान्नलमग्रीवोभीयपग्र्वपा-दोमपर्यन्तम् । "त्रमंस्थितेऽग्रीवोभीय यजमानस्य ग्रहे नाणित-स्थम्"—दिति श्रुतेः । त्रातुरः पापरोगग्रसः । कृद्धो दृहतरान्तर-क्रोपः । सन्तो धनादिना गर्वतः । कृरो निष्कृपः । ज्याः परदुः-

खकारी। रजको वस्तरागकारी। चेलधावी वस्त्रप्रचालकः। एषां कदर्यादिमोमविक्रयिपर्यन्तानां चैवर्णिकानामन्त्रं न भोकथिमत्यर्थः। यमोऽपि,—

"चक्रोपजीवी गान्धवं: कितवस्तस्तरस्तथा। ध्वजी दारोपजीवी च ग्रद्राध्यापकयाजकी॥ कुलालिखनकमा च वार्ध्यो चर्मविकयो — इति।

चक्रोपजीवी शकटोपजीवी। गान्धर्व्वा गायकः। ध्वजी मद्यवि-कयी। इतरे प्रसिद्धाः। एते त्रभोज्यात्वा इत्यर्थः। त्रापस्तम्बोऽपि,—

"दावेवाश्रमिणौ भोज्ञौ ब्रह्मचारी ग्टही तथा।

सुनेरत्रमभोज्यं स्थात् सर्वेषां लिङ्गिनां तथा"—इति॥

सुनिश्रब्देन यतिवानप्रस्थौ ग्रह्मेते । लिङ्गिनः पाग्रपतादयः । श्रङ्गिराम्मपि,—

"षण्तामान् यो दिजो भुक्के श्रद्धानं विगर्हितम्। म तु जीवन् भवेष्ट्रद्रो स्टतः या चाभिजायते" - दति॥ यनु सुमन्तुनोक्तम्,—

"गोरमञ्जेव मक्तूय तेलं पिण्याकसेवच ।

श्रपूपान् अत्तयेच्छू द्राद्यचान्यत्पयमा छतम्"—इति॥ यच विष्णुपुराणेऽभिहितम्,—

मम्प्रोत्स विप्रो ग्रहीयाच्छू द्रानं ग्रहमागतम्"—इति । तदापदिषयम् । त्रतएव याज्ञवक्काः.—

"श्रदत्तान्यग्रिहीनस्य जान्तमद्यादनापदि"—दृति । श्रग्निहीनः ग्रद्धः । मांसेव्यपि यद्वकीं तदाह मनुः,— "क्रवादान् ग्रजुनीन्मर्त्वास्तया ग्रामनिवामिनः।
प्रानिर्देशं सेक्रणपां शिहिमस्वैव वर्जयेत्॥
कलस्विकं सवं इंगं चक्राक्षं ग्रामकुकुटम्।
मारमं रच्ज्वालस्व दात्यूहं श्रक्षमारिके॥
प्रतुदान् जालपादां स्रावेश विद्यादान् ग्रीनं वसूरमेवच॥
वक्षस्वैव वलाकास्र काकोलं खन्नरीटकान्।
मत्यादान् विद्याहां स्रावेशव च मर्क्षग्रः"—इति॥
मत्यादान् विद्याहां स्रावेशव च मर्क्षग्रः"—इति॥

कयादाः श्रकुनयो ग्रश्नादयः । ग्रामनिवामिनः श्रकुनयः पागा-वतादयः । श्रनिर्देष्टा श्रपरिज्ञातजातिविशेषा स्मप्तिणः । एकश्रफा श्रम्यादयः । टिष्टिभः निष्ठुरशब्दभाषी पिचिविशेषः । कलम्बिकश्चटकः । अवो जलकुकुटः । चक्राक्रश्चकवाकः । सारमः पुष्कराक्षः । रज्जुवालको-रज्जुवत्पुच्छकः । दात्यूष्टः कालकण्टकः । प्रतुदः ग्र्येनः । जालपादाः जालाकारपादाः । कोयप्टः पचिविशेषः । नखिविष्कराश्चकोरादयः । निभज्जनोमत्यादा निमज्ज्य सत्यभचकाः पचिविशेषाः । श्रोनं श्रुनो-द्ववसासम् । वसूरं श्रष्टकमांमम् । काकोको गिरिकाकः । खञ्चरीटः खञ्चनः । सत्यादा श्रनिमज्जनो सत्यादा विविश्वताः । विश्वराद्या-यास्यश्रकराः । श्रव मत्यनिष्यो राजीवसंद्युण्डकादियतिरक्त-विषयः । श्रत्रण्वोक्तन्तेनेव,—

^{*} बद्धादुः हुकः,—इति सुः।

र् प्रनाथां अवं सांसम्, — इति सुः।

"राजीवाः सिंदतुष्डाञ्च समस्ताञ्चैव सर्वमः"—इति। राजीवाः पद्मवर्षाः सत्याः। सिंदतुष्डाः सिंदसुखाः। मस्तैः ग्रुत्त्वाकारावयवैः पृष्ठभागगतैः सद वर्त्तन्ते इति समस्ताः। एते सर्वमः श्राद्धे नित्यभोजने च भच्या इत्यर्थः। देवलोऽपि,—

"उन्नुकतुर्रयोगरभतुक्कुटवायमाः। चकोरः कोकिनो रज्जुदानकञ्चाषमद्गुको॥ पारावतकपोतौ च न भच्छाः पचिणः स्मृताः। श्रभच्छाः पद्भुजातीनां गोखरोष्ट्राश्वकुञ्चराः॥ सिंद्याप्रचित्ररभाः सर्पाजगरकास्त्रथा। श्राखुमूषकमार्जारनकुन्नग्रामद्गुकराः॥ श्राखुमूषकमार्जारनकुन्गग्रामद्गुकराः॥ श्राखुमूषकवित्रीपिगोनाष्ट्रस्कमर्क्कटाः"—इति।

कुररः जल्लोगः । महुर्जनकातः । दीपिणव्दो यात्रविशेषपरः । गोलाङ्ग्लो वानरविशेषः । मर्कटग्रहणं सर्व्वेषां पत्रनखानामुपनचणार्थम् । श्वत्यव मनुः । "सर्व्वान्यञ्चनखां स्वया"—दित । न भन्नयेदिति योजना । श्वन पञ्चनखानां भन्न्यत्विषयो गोधादिपञ्चकयितिस्त्रविषयः । तथाच देवनः,—

"पञ्च पचनखा अच्या धर्मेतः परिकोत्तिताः।

गोधा कूर्षः श्रशः श्वाविट् श्रस्थकश्चेति ते स्रताः"—इति ॥ धर्षात इति चिंगमञ्जा क्रयादिप्राप्ता भच्या द्रत्यर्थः । न चायम- पूर्वविधिः, रागप्राप्तलात्तक्रचणस्य । नापि नियमः, पचप्राप्यभावात् । स्वतो गोधादिपञ्चनखपञ्चकस्यतिरिका न भच्या दित परिम्ह्यीव परिश्रिक्षते । एवच सति विश्रेषनिषेधवसात्तनांसभचणे प्रत्यवाद्यो-

नैतर्नेत्ववगम्यते । त्रतएवोक्तं मनुना,-

"न सांबभचणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवित्तरेषा भृतानां निवित्तस्त महाफाला"—इति॥
यन् तेनैवोक्तम्,—

"नाक्तला प्राणिनां हिंधां मांसमुत्पदाते कचित्। न च प्राणिवधः खार्यसस्मान्त्रासं विवर्जयेत्॥ समुत्पत्तिञ्च मांसस्य वधवन्धौ च देहिनाम्। प्रसमीद्य निवर्त्तेत सर्व्वमांसस्य भचणात्"—इति॥ यच याज्ञवल्कोनापि,—

"वंधेस नरके घोरे दिनानि पशुलोमिशः। संमितानि दुराचारो यो इन्यविधिना पश्न्"—इति॥ तिश्विद्धप्राणिहिंसापूर्व्वक्रमांसभचणिवषयं, न तु क्रयादिप्राप्त-मांसभचणविषयं, प्राणिवधनिन्दापूर्व्वक्रमेव मांसनिषेधसार्णात्। यस्म मनुनैवोक्तम्,—

"फलम्लाधनेकीधीर्भन्यनानाञ्च भोजनैः।
न तत्फलमवाप्तीति यन्मांषपरिवर्जनात्"—इति॥
तत्र मांषवर्जनस्य महाफलसाधननं प्रोचितादिस्यतिरिक्तविषयम्।
प्रतप्रवोक्तन्तेव,—

"प्रोचितं अचयेन्यांसं बाह्मणस्य च काम्यया। यथाविधि नियुक्तस्य प्राणानामेव चात्यये"—इति॥ प्रोचितमिष्टिषिष्टं मांसं, बाह्मणस्य काम्यया बाह्मणकामनया च,*

^{*} त्राचायकाभगायां च,-इति खेा॰ ना॰।

वयाविधि निवुतः श्राद्धे निमन्त्रितश्च, प्राणात्यये चुन्निमिन्ते याधि-निमित्ते वा, भांसं भत्तयेदित्यलं प्रमत्यन्त्रप्रमत्या।

निमन्त्रितेभ्यो त्राह्मणेभ्यो यहेयं तहाइ कात्यायन:,—

"तेलसुदर्भनं स्त्रानं दन्तधावनसेवच।

कत्तरोमनखेभ्यम्त दद्यात्तेभ्योऽपरेऽइनि"-इति॥

स्तानं स्नानपाधनम्। दन्तधावनं दन्तधावनमाधनं काष्टादि, दद्या-दित्यर्थः । एतनैनादिद्रानमनिषिद्गतियिविषयम् । निषिद्गतिथिषु तिलतेलप्रतिनिधिलेनामलकोदकं दद्यात्। तथाच आर्कण्डेय:,—

"श्रकः षट्म सुहर्नेषु गतेषु च यतान्* दिजान्। प्रत्येकं प्रेषयेत् प्रयान् प्रदायामनकोदकस्" — इति ॥

श्रामलकोदकदानमणमावास्याचितिकितिषयम् । ''धाचीफले-ग्मावास्थायां न स्वायात्"—इति स्मृत्यन्तरे निषेधात् । तेलादिदाने विशेषो देवलेन दक्षितः,—

ने लखुदर्तनं स्नानं स्नानं यञ्च प्रयम्बिशम् !

पाचेको दुखरेई द्यादेशदेशिकपृतंकस्"-इति॥

श्रीद्रवरं ताम्रपाचस् । यत्तु प्रचतमोक्तस्,-

"श्राद्धभुग्यो नखग्राश्रुच्छंदनं न तु कारयेत्"—इति।

तिविधि विषयम्। श्राद्धदंशं प्रकल्छानि द्रयाणि पुराण-ऽभिहितानि,—

"अपम्लं महामूनान् कुग्नांस्तचोपकत्पयेत्। थवां स्तिलान बीची: कांस्थमाप: गुडी समाच्ता:॥

^{*} गतेख्य च तान्, — इति सु० ।

यार्षराजततामाणि पाचाणि स्वात्समिनाधु। पुष्पधूपस्गन्धादि चौमस्चच मेचणम्''—इति॥

तिला जित्तला ग्राह्मास्तद्समावे ग्राम्याः। जित्तलललएसुनां सत्य-इतेन,—

''जित्तिलाम्त तिलाः प्रोत्ता खणावणी वनेभवाः''—इति। तेषां प्रश्चलकापम्तम्बश्चाइ,—

"ऋटयां ये ममुत्पना ऋकष्टफलितास्त्या।

ते वे श्राद्धे पविचाम्त तिलाको न तिलाखिलाः ""-इति॥

निमन्तितत्राह्यणानामुपवेशनार्थमामनं वधी। तत्र विशेषो मनु-नोकः। "कुतपञ्चाधने दद्यात्"—इति। कुतपो नेपालदेशप्रभवसे-षादिरोमनिर्मितकम्बलः। तदुकं स्पृत्यन्तरे,—

''सधाक्तः खङ्गयाच्छ तथा नेपालकम्बलः।

रूपं दभास्तिला गावा दौहिनशाष्ट्रमः स्टतः॥

पापं कुत्सितमित्या इस्तस्य मन्तापकार्णम्।

श्रष्टावेते यतस्तसात् कुतपा दति विश्रुताः''—दिति ॥

कांस्यपार्णराजनताम्रपात्राणि भोजनार्थमर्चार्थं चोपकल्यानि। श्रत्र भोजनार्थं पलाश्रपत्रपात्राण्येवोपकल्यानि न तन्यपर्णपात्राणि। तथाचात्रिः,—

''न म्हण्सयानि कुर्वीत भोजने दैविपित्रयोः। पालाग्रेभ्यो विना न स्युः पर्णपाचाणि भोजने''— इति॥

क ते वे स्थाडिष देयाः स्युक्तिनास्ते निर्तानाः स्युताः, — इति सु॰।

त्रधीर्थं लत्यपर्णपात्राण्यनिषद्भानि । त्रतएव वैजावापः,—
"खादिरोडुम्बराण्यर्थपात्राणि त्राद्धकर्मणि ।
त्रय्यसम्हण्मयानि स्तुरपि पर्णपुटास्तया"—इति ॥
त्रत्रोपकन्पनीयं पुत्र्यं ब्रह्माण्डपुराणे दर्शितम्,—
"शुक्काः समनसः श्रेष्ठास्त्रया पद्मोत्पन्नानि च ।
गन्थरूपोपपन्नानि यानि चान्यानि कत्स्त्रयः"—इति ॥
मार्कण्डेयपुराणेऽपि*,—

"जात्यश्च सर्वा दातव्या मिल्लाः येतयू यिकाः। जले द्वानि सर्वाणि कुसुमानि च चम्पकम्"—इति॥ यत्वित्रिरमोक्रम्। "न जातीकुसुमानि न कदलीपत्रम्"—इति। क्रतुर्पि,—

"श्रमुराणां कुले जाता जाती पूर्वपरिग्रहे।
तस्या दर्शनमानेण निराधाः पितरो गताः"—इति ॥
श्रव जातीकुमुमनिषेधो वैकल्पिकः। श्रव वर्ञ्यानि कुसुमानि
मत्योनीकानिं,—

"पद्मविल्वार्कधुसूरपारिभद्राटक्ष्वकाः!। न देयाः पित्वकार्येषु पयश्चैत्राविकं तथा"—इति॥ पारिभद्रो मन्दारः, श्राटक्षो वामकः। प्रङ्कोऽपि,—

^{*} गास्येतत् मु॰ प्रस्तके।

[†] तेनैवोक्तानि,—इति मु॰।

[ं] रूक्षरः,—इति सो॰ ना॰।

"उग्रमभीन्यगभीनि चैत्यदृचोद्भवानि च^(९)। पुष्पाणि वर्जनीयानि रक्तवर्णानि यानि च"-इति॥ भव रक्तवर्णनिषेधो जलोद्भवयति रिक्तविषयः । श्रतएवोक्तन्तेनेव,— "जलोज्जवानि देयानि रक्तान्यपि विशेषतः"—इति। विष्णुरपि । "वर्जयेद्गमन्धीनि कष्टिकजातानि रक्तानि पुष्पाणि च, सितानि सुगन्धीनि कत्टिकिजातान्यपि दद्यात्"—इति।

धूपद्रव्यमपि विष्णुधर्मीत्तरे दर्शितम्,-

"धूपो गुगालको देयस्तथा चन्दनसारजः। श्रगस्य सकर्पुरस्तुसम्बस्त्वक् तधैवच"-इति॥

तुरुष्कः सम्मकीष्टचः, लक् स्ववङ्गम् । मरीचिरपि,— "चन्दनागरूणी चोभे तमालोषीरपद्मकम्"-इति।

वर्जनीयधूपद्रव्यं विष्णुराच । "जीवजञ्च सर्वं न धूपार्थम्"—इति । (जीवजं कस्तर्यादि।) "चन्दनकुङ्गमकर्पूरागरूपद्मकान्यनुलेपनार्घै"— इति।

दीपायसे इद्र यमाइ मरीचिः,-

" हतादा तिलतेलादा नान्यद्रयानु दीपकम्" - इति । श्रव चान्यद्रव्यनिषेधो वसामेदोरूपद्रव्यविषयो^(२) न पुन: कौसु-भादितैलविषयः। श्रतएव,—

^{*} वर्जयेदुग्रमभीन्यमन्धीनि,—इति सु॰।

⁽१) चैत्रवृष्टः पूज्यत्वेन खातोवदः।

⁽२) इन्मेर्सु वपा वसा, -- इत्यमरः।

" हतेन दीपो दातख्यस्य यवाऽन्योषधीर में: । वमामेदोद्भवं दीपं प्रयक्षेन विवर्जधेत्" — इति ॥ सौभस्र चोपकन्पनं वस्तालाभविषयं, स्रति सम्भवे सौमं वस्त-सुपकस्पनीयम् । श्रतएव स्रत्यन्तरम्, —

"कौ शेयं चौमकापामं दुकूलमहतं तथा। श्राद्धेचेतानि यो दद्यात्कामानाश्रोति पुष्कलान्"—इति॥ कौ शेयं क्षमिको श्रोत्यतन्तुजम्। चौममतमीलक्षकावतन्तु-सकावम्। दुकूलमिति सूचावस्तम्। श्रहतम्,—

"र्षष्ठीतं नवं श्वेतं सद्यं यस धारितम्। श्रहतं तिद्वजानीयात् सर्वकर्मासु पावनम्"—इति^(२)॥ एवं दभीदिमेचणान्तं द्रव्यमुपकस्थ्य खाला ग्रक्तं वासः परि-इधात्। तथाच स्टितः,—

"खालाऽधिकारी भवति देवे पिछो च कर्माणि"—इति। "श्राद्धकः च्हुक्षवासाः स्थात्"—इति। खानाननारं यत्कर्त्तवां तदाः यमः,—

"ततः खाला निवन्तेभ्यः प्रत्युत्याय कृताष्ट्राखिः। पाद्यमाचमनीयश्च सम्प्रयच्केद्ययाक्रमम्"—इति॥

हतास्त्रितः खागतिमयुक्ता त्रध्वहतोपहतिग्रुद्धार्थं पाद्प्रसा-सनार्थमाचमनीयञ्चोदनं क्रमेण प्रयच्छे दित्यर्थः। तदनन्तरं ग्रहाङ्गणे मण्डसदयं कार्यम्। तथाच मत्यः,—

⁽१) कौ श्रेयं क्रमीत्याद्यारभ्य एतदन्तीयत्यो नास्ति सुदितातिरिक्त-

"भवनखायतीभूमौ(१) -गोमयेनानु लिप्तायां गोमूनेण तु मण्डले"—दित। गोमथसहितेन गोमूचेण मण्डले कार्ये इति ग्रेषः। श्रव विश्रेषमाह

श्रमु:,— "उदक्षवमुदी यं स्थाइ चिणं द चिणा प्रवम्" — इति । उदीचां वैश्वदेविकं मण्डलसुदक्प्रवणं, दिचणं पित्यं मण्डलं दिचिणाप्रवणं कुर्यात्। तत्र मण्डलकरणप्रसृत्यात्राद्वपरिश्वमाप्तेवैश्व-देविकं कर्मा प्रदिचणं यज्ञोपवीतिना कार्यं पित्यमपस्यं प्राचीना-वीतिना^(१) कार्यम् । तथाच मनुः,—

"प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यसतन्त्रिणा। पित्रयसानिधनात्कार्थं विधिवद्रभेपाणिना"-दति॥ श्रचैव विशेषान्तरमाच कात्स्रायनः,-"दिचिणं पातयेत् जानु देवान्यरिचरन् सदा।

पातयेदितरच्चानु पिल्ल्यरिचरन् सदा"-इति॥

ग्रातातपोऽपि,— ''खद्त्रुखस्त देवानां पित्रणां दिचणासुखः''—इति।

बोधायनोऽपि,—

* उदङ्मुखमुदीचं—इति सो॰ गा॰।

(१) सर्वे स्वेवाद प्रमुक्त केषु स्नोक स्थास्य दितीयपादी न दाखते।

⁽२) यच्चोपवीतिपाचीनावीतिनी, "उपवीतं यचसूत्रं प्राद्धृते दिचारी करे प्राचीनावीतमन्यस्मिन्"—इत्यनेनोन्वेयौ । खपसव्यं पिढतीय, "तर्जन्यकुष्ठयोरनारा खपसत्यमवसन्धि तेन पिट्टभ्यो द्यात्"— इत्युक्तेः।

"प्रदिचणन्तु देवानां पित्वणामप्रदिचणम्।" देवानाम्हजवो दर्भाः पित्वणां दिगुणाः स्मृताः"—इति॥ मण्डलकरणानन्तरकर्त्त्रथमात्र ग्रामुः,— "उत्तरेऽचतमंगुक्तान्पूर्वाग्रान् विन्यसेत् कुग्रान्। दिचणे दिचणागांस्य सतिलान्विन्यसेद्वुधः"—इति॥ मत्यपुराणेऽपि,—

"श्रचताभिः सपुष्पाभिस्तदभ्यर्चापस्यवत्।
विप्राणां चालयेत्पादानभिनन्द्य पुनः पुनः"—इति॥
श्रपस्यवत् पूर्वसुदीच्यमण्डलं पञ्चाद्विणमण्डलमभ्यर्चित्यर्थः।
देवपूर्वकं विप्राणां पादप्रचालनं कुर्य्यात्। श्रतण्व ब्रह्मानिक्त्रम्,—
"पाद्यञ्चेव तथैवाधें देवमादी प्रयोजयेत्।
प्रस्तोदेवीति सन्त्रेण पाद्यञ्चेव प्रदापयेत्"—कानाः।
पाद्यादिदानं नामगोचोच्चार्णपूर्वकं कर्त्त्यम्। तदुतं साद्यः
पुराणे,—

"नामगोत्रं पित्वणान्तु प्रापकं ह्यक्ययोः"—इति।
पादप्रचालनानन्तरं यत् कर्त्त्रयं तदाह सुमन्तुः,—
"दर्भपाणिर्दिराचम्य लघुवासा जिवेन्द्रियः।
परित्रिते ग्रुचौ देशे गोमयेनोपनेपिते॥
दचिणाप्रवणे सम्यगाचान्तान् प्रयतान् ग्रुचौन्।
श्रासनेषु सदर्भेषु विविक्तेषूपवेश्रयेत्"—इति॥
विविक्तेषु परस्परमसंस्पृष्टे व्वित्यर्थः। मनुर्पि,—
"श्रासनेषु तु क्रुतेषु वर्षिश्रत्मु पृथक् पृथक्।

उपस्पृष्टोदकान् सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत्"—इति ॥ उपवेशनप्रकारो यसेन दर्शितः। "श्रासनं संस्पृशन् संयोन पाणिना दिचिणेन ब्राह्मणसुपसंग्रह्म समाध्वसिति चोक्षोपवेशयेत्"—इति । धर्मेऽपि,—

"जान्वालभ्य ततो देवानुपवेश्य ततः पित्तन् । समस्ताभिर्वाद्वतिभिरासनेषूपवेश्ययेत्"—इति ॥ श्रादिपुराणेऽपि*,—

"विप्रो तु प्राङ्मुखो तेभ्यो दो तु पूर्वं निवेणयेत्। ग्रन्नोदेवीतिमन्त्रेण पाद्यं चैव प्रदापयेत्[†]। उत्तराभिमुखान्विप्रांस्तीन् पित्रभ्यस्य मर्वदा"—इति॥

याज्ञवन्त्योऽपि,—

"दो दैवे प्राक् चयः पिश्च उदगेक कि के वा।

माताम हानाम प्येवं तन्त्रं वा वैश्वदे विकम्" — इति ॥

माताम हानाम प्येविमिति संख्यादिङ् नियम योरिति देशः। वैश्वदैविकं कर्म श्राद्ध दयार्थमा छन्या उनुष्ठेयं तन्त्रेण वेत्य भिप्रेत्य तन्त्रं वा
वैश्वदै विक मित्युक्तम्। श्रतण्व मरीचिः, —

"तथा मातामहत्राद्धं वैश्वदेवसमन्वितम्। कुर्वित भक्तिसम्पद्मस्तन्तं वा वैश्वदैविकम्"—इति॥ श्रव दयोरपि श्राद्धयोवैश्वदैविककर्मणः तन्त्रावृक्तिविधानादेक-

^{*} षादिवयुरागेऽपि, - इति मु॰।

[†] नास्तीदसद्धं सुदितातिरित्तापुस्तकेषु।

प्रयोगविधिप्रयोज्यलं भिन्नप्रयोगविधिप्रयोज्यलञ्च प्राप्तम् । ततस्रकाः धिकारपूर्वसाधनलं भिन्नाधिकारपूर्वसाधनलञ्चावगस्यते*।

उपविष्टनाम्मणनियमाः स्पृत्यन्तरे दर्शिताः,—

"पवित्रपाणयः सर्वे ते च मौनव्रतान्विताः।

उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पर्भं वर्जयन्तः परस्परस्''—इति॥

मौनिलञ्च ब्रह्मोद्यकयाव्यतिरिक्तविषयम्। श्रतएव यमः,—

"ब्रह्मोद्यास्य कथाः कुर्यः पित्यणासेनदी प्रितस्"—इति। उपविष्टेस्विप ब्राह्मणेषु यतिर्ब्रह्मचारी वा यद्यागच्छिति, तदा षोऽपि श्राद्धे भोजयितयः। तदाह यसः,—

"भिचुको ब्रह्मचारी वा भोजनार्थमुपस्थितः। उपविद्येखनुप्राप्तः कामन्तमपि भोजयेत्"— इति॥ कामलेयोऽपि,—

"पूजयेत् श्राद्धकालेऽपि यति च ब्रह्मचारिणम् । विष्रानुद्धरते पापात् पित्सात्गणानिष"—इति ॥ सनुरपि,—

"ब्राह्मणं भिचुकं वाऽपि भोजनार्घमुपस्थितम्। ब्राह्मणेरभ्यनुद्धातः ग्रितिः प्रतिपूजयेत्"—इति ॥ ब्राह्मणोपवेषानानन्तरं खत्यं पुराणेऽभिह्तिम्,— "श्राह्मभूमौ गयां ध्याला ध्याला देवं गदाधरम्। ताभ्याद्धेव नमस्कृत्य ततः श्राद्धं प्रवर्त्तयेत्"—इति॥

^{*} ततस्वेकाधिकारात् पूर्व्वसाधकातं भिद्राधिकारात् पूर्व्ववाधकात्रस्य साव-गन्यते,— इति सो॰ प्रा॰। ॰ धिकारापृर्वेसाधनत्वमिति त्वस्माकं प्रतिभाति।

श्राद्धं करिष्यदृत्येवसुपविष्टान् त्राह्मणान् पृच्छे दित्यर्थः। श्रात-एवोकं तत्रेव,—

"उभी हस्तो समी क्रवा जानुभ्यामनारे स्थिती।

सप्रश्रयञ्चोपविष्टान् सर्व्यान् एच्छेत् दिजोत्तमान्"—इति॥

कुरुव्येति तैः श्रनुज्ञातो देवताभ्यः पित्रभ्यश्चेति मन्त्रं चिः पठेत्।

तद्त्रं ब्रह्माण्डपुराणे,—

"देवताभ्यः पित्रभ्यस्य महायोगिभ्यएवच।

नमः खधाये खाहाये नित्यभेव नमो नमः॥

श्राचेऽवसाने श्राद्धस्य चिरात्रनं जपेत्सदा"—इति।

श्रान्तरं सर्व्यतस्तिलाचिकिरेत्। तदुक्तं निगमे। "श्रपहता इति

तिलाचिकिरेत्"—इति। तिलाचिकीर्य दर्भाष्ठनं दद्यात्। तदुक्तं

पुराणे,—

"कुरुष्विति स तेरुको दद्याद्भीसनं ततः"—इति। दर्भासनदानस्य बाह्मणहस्ते उदकदानपूर्वकं कार्य्यम्। अतएव याज्यवस्त्राः,—

"पाणिप्रचालनं दत्ता विष्टरार्थान् कुष्णानिप"—इति॥
विष्टरार्थानामनार्थान् कुष्णानामनेषु दत्त्वेत्यर्थः। तदुक्तं पुराणे,—
"श्रामने चामनं दद्यादामे वा दिखणेऽपि वा"—इति।
वामे वा दिखणेऽपि वेत्ययं विकन्यः पिचर्थदेवार्थन्नाद्धाणामनदानविषयतया व्यवस्थितो द्रष्ट्यः। श्रतणवोक्तं तचैव,—
"पित्वक्षंणि वामे वे देवे कर्षाण दिखणे"—इति।
देवे कर्षाणामनदाने विश्रोषः काठकेऽभिष्टितः। "देवामां मण्या-

दर्भाः"—इति। त्रामनं दत्ता पुनर्निमकायीत। तदा संग्रहकारः।
"ततः पुनरपो दत्ता निमकायेत्। देत्रे चणः कियतां, ततः श्रोम्
तथिति विप्रो ब्रूयात्। प्राप्नोतु भवानिति कर्त्ता पुनर्बूयात्,
प्राप्तवानिति विप्रः पुनर्बूयात्"—इति। निमक्त्रणञ्च निरङ्गुष्टं इस्तं
गरहीता कर्त्त्रयम्। तदुक्तं पुराणे,—

"निरङ्गुष्टं ग्रहीला तु विश्वान् देवान् समाइयेत्"—इति । श्रङ्गुष्ट्यतिरिक्तं हस्तं ग्रहीला निमन्य विश्वान् देवान् समाइये-दित्यर्थः। श्रावाहनेतिकर्त्तयतामाह यमः,—

"यवहत्तत्तातो देवान् विज्ञाप्यावाहनं प्रति । श्वावाहयेदनुज्ञातो विश्वदेवास द्रत्यृचा ॥ विश्वदेवाः ग्रद्यणुतेति मन्त्रं ज्ञा ततोऽचतान् । श्वोषधयेति^(१) मन्त्रेण विकिरेन्तु प्रद्चिणम्"—इति ॥ प्रद्चिणं द्चिणपादादिमस्त्रकान्तमचतान्विकिरेत् श्वारोपये-दित्यर्थः । विश्वदेवास्तु द्रग्र वृह्नस्यतिना द्र्शिताः,—

"क्रतुर्द्चो वसुः सत्यः कालः कामस्त्रचैवच। धुनिस रोचनस्रैव * तथा चैव पुरूरवाः॥ स्रार्द्रवास्य देशेते तु विश्वेदेवाः प्रकीर्त्तिताः"—इति॥

^{*} धुरी विलोचनस्वेव, — इति सुः। धुरिस्व लोचनस्वेव, — इत्यन्य न

[🕆] माधवास्त्र,—इत्यन्यत्र पाठः :

⁽१) चोषधयेति,—इत्यच विसर्गनोपे सन्धिरार्षः। खोषधय इति,—

तेषां अध्ये पुरूरवाई वमंज्ञका विश्वदेवा श्वचावाद्याः, पार्वण-श्राद्धलात्। श्रतएव श्रञ्चः,—

"इष्टिश्राह्म कर्त्रचः मंकीत्यों वैश्वदैविके ।

नान्दीसुखं सत्यवस्त काम्ये च धुनिरोचनौ ॥

पुक्रवार्ट्रवो चैव पार्वणे ससुदाइतो ।

नेसित्तिके कालकासावेव सर्व्यच कीर्त्त्येत्"—इति ॥

इष्टिश्राह्मं कर्साङ्गश्रह्म । तच्च पारस्करेण दर्शितस्,—

"निषेककाले सोसे च सीसन्तोखयने तथा ।

ज्ञेयं पुंसवने श्राह्मं कर्साङ्गश्रह्मन्यदिति ज्ञायते ।

वृद्धिवदित्यनेन वृद्धिश्राद्धान्न कर्साङ्गश्राद्धसन्यदिति ज्ञायते ।

नान्दीसुखं वृद्धिश्राह्मस् । तत्स्वरूपं वृद्धविष्ठ श्राह्म,—

"पुत्रज्यविवाहादो तृद्धिश्राद्धसृदाह्मस्"—इति । श्रादिश्रब्देनाह्मप्राश्चनचूड्राकरणादिसंस्कारा ग्रह्मन्ते न सु गर्भा-धानपुंसवनसीमन्तोन्नयनानि, तत्र क्रियमाण्ख कर्साङ्गश्राद्धलात्^(२)। काम्यं फलकामनोपाधिकम्^(२)। पार्व्यणममावास्थाश्राद्धस्^(४)। नेमि-न्तिकं सपिण्डीकर्णम् । ननु,

⁽१) मिषेककालोगभीधानकालः। सोमः सोमयागः। सीमन्तोद्रयन-पुंसवने गभीवस्थाकर्त्तस्थसंस्कारविश्वेषौ।

⁽२) एकमेव दृद्धिमासं तत्र तत्र तत्तिक्षदेवागां लाभाषं कम्माक्षतेग वृद्धिमाद्धिग च परिभाषितिमत्वनुसन्तेयम्।

⁽३) ''कामाय तु चितं काम्यमभिप्रेताचेसिखये''— इति पुराखेष स्मर्थिते।

⁽श) ''खमावाखां यत् जियते तत् पार्व्ययमुदाद्धतम्''— इति स्वर्खाः स्थिति भाषः ।

"एको दिष्टमु यत् श्राद्धं तस्त्रीमित्तिकसुच्यते"—
दति नैमित्तिकग्रब्द एको दिष्टे कृद्रलात्क्रयं सिपच्डीकरणे प्रयुच्यते दति। सत्यं, तथापि 'तद्यदैवं कर्त्तव्यम्'—इत्येको दिष्टस्य
देवद्दीनलेन कामकासमंज्ञकानां विश्वेषां देवानामन्वयानुपपणे एको दिष्टयुक्तं सिपच्डीकरणं नैमित्तिकग्रब्देन सचणयोच्यते। विश्वा देवानावाद्याच्चं पाचासादनादि सुर्यात्। तथाच याज्ञवस्क्यः,—

"यवैरम्वपकीर्याण भाजने सपविचने ।

प्रको देखा पयः चिप्ता यवोऽसीति यवांसाया"—इति ॥ मास्यपुराणेऽपि,—

"विश्वान् देवान् यवैः पुष्पैरभ्यर्चायनपूर्वकम् । पूर्यत्याचयुग्मन्तु स्थाय दर्भपविचने"—इति ॥ प्रचेता श्वपि,—

"एकैकस्त तु विप्रस प्रस्थं पाचे विनिचिपेत्। यवोऽसीति यवान् कीर्का^(९) गन्धपुष्पेः सुपूजितम्" – इति॥ प्रस्थंपाचाणि सौवर्णराजतादीनि। तदास्र कात्यायनः। "सौवर्ण-राजतौदुम्बरखद्ममणिमयानां पाचाणामन्यतमेषु, यानि वा विद्यन्ते, पचपुटकेषु वा" — इति। यानि वा तैजसानि कांस्यादीनि, तेषु वेत्यर्थः। राजतं पाचं पित्ये विनियुच्यते, न देवे। तदास्व राजतं पाचमधिक्तत्य, —

⁽१) कीला विकाय। "क्यु विकेषे"—हति खारवात्।

"शिवनेचोद्भवं (१) यसादतस्त् पित्वस्तम् ।

श्रमण्गसं तत् यस्ने देवकार्येषु वर्जितम्"—इति ॥

श्रमण्गसं प्रतिपाचं भेदेन कार्यम् । तदुक्तं चतुर्विभितिमते,—

"दे दे भसाके देवानां पाचे कत्वा पयः चिपेत्" ।

पविचकरणेतिकर्त्त्रथतामाच याज्ञवस्त्रः,—

"पविचे स्य इति मन्त्रेण दे पविचे च कार्येत् ।

श्रन्तर्दर्भे कुभिष्क्षं कौभे प्रादेभसमिते"—इति ॥

श्रम्तदर्भे कुभमन्तरे कता किन्ने । श्रत्तप्व यज्ञपार्श्वः,—

"श्रोषधीमन्तरे कता श्रृष्टाङ्गुलिपर्वणोः ।

किन्द्यात् प्रादेभमाचन्तु पविचं विष्णुरव्यति ॥

न नखेन न काष्टेन न लोव्हेन न म्हण्सयात्"—इति ।

श्रमन्तरं, खाद्दार्था इति मन्त्रेण देवतार्थं ब्राह्मणसमीपेऽर्घ्यपाचं स्थापयेत् । तथाच गार्ग्यः,—

"खाइति चैव देवानां होमकर्माणुदाहरेत्"—इति । देवानां होमकर्मण्यर्थदाने कर्माणुपस्थिते पाचं स्थापितं खाहार्था इति मन्त्रमुचारयेदिति प्रकरणादेव गम्यते । श्रर्थपाचं स्थापियला विप्रहस्तेऽधं दद्यात् । तदाह याज्ञवस्क्यः,—

"या दिवा इति मन्त्रेण इस्तेष्वर्धे विनिचिपेत्।" श्रर्घदाने विशेषमाइ गार्गः,—

"दत्ता इस्ते पविचन्तु संपूष्यार्धं विनिचिपेत्"-इति ।

⁽१) "सोऽरोदीत्, यदरे।दीत् तत् समस्य समस्य यदम् वाशीयत तम्मतमभवत्"—इति ब्राह्मखवान्यमचातुतन्थेयम् ।

रस्रिव्यिति वञ्जवसमसुपक्षसमतैकवत्तनानुरोधादविविचितस् । तदनन्तरसुदकपूर्व्यकं गन्धादि देयम्। तथा च याञ्चवस्काः,—

"दचोदकं गन्धमाखं धूपदानं प्रदीपकम्"-इति ।

गन्धादिदानमाक्कादनस्याणुपलचणं, तदन्तर्गतत्वात्। एवमासन-प्रस्त्याक्कादनपर्यन्तं वैश्वदेविकार्चनं काण्डानुसमयेन^(१) कृत्वा श्वास-माद्याक्कादनपर्यन्तं पिचर्षनं प्राचीनावीत्यप्रदिणं कुर्यात्। तदाव याज्ञवस्काः,—

"श्रपस्यन्ततः क्रला पिद्वृषामप्रदिचणम्"—इति ।

नतु दैवे पित्ये च श्रासनाद्याच्छादनपर्यन्तानां पदार्थानामपि पदार्थानुसमयेनैवानुष्ठानं न्याय्यं न तु काण्डानुसमयेन । पदार्थानु समये चि तेषां प्रधानप्रत्यासन्तिर्भवित श्रवेषम्यं च, श्रन्यथां केषाञ्चित् प्रधानप्रत्यासन्तिः केषाञ्चिकेति वैषम्यमापद्येत । सत्यम्, श्रासनादि-पदार्थेषु वचनवस्नात्काण्डानुसमयएव स्वीक्रियते । वाचनिकत्वञ्च, 'श्रपस्यं ततः छत्ना'—इति वेश्वदैविकासनादिपदार्थकाण्डादृद्धं पिचर्चनविधानात् । श्रासनादिदानप्रकारमाइ सएव,—

"दिगुणांस्त सुप्रान् दता सुप्रन्तस्त्रेत्यृचा सह । त्रावास्त्र तदनुष्ठातो जपेदायान्तु न स्ततः ॥ यवार्थास्त्र तिस्तेः कार्याः सुर्यादर्थादि पूर्ववत् । दताऽर्थं संस्रवांसोषां पाचे कता विधानतः ॥

⁽१) देवे रकेकं काखं क्रात्मा पिन्ये तत् कर्त्तंथमिति काय्डानुसमयः। देव रकेकं पदार्थं क्रात्मा पिन्ये स पदार्थः कर्त्तंथ इति पदार्थानुसमयः। पदार्थसमूदः काख्यम्। तथाच देवे खासनप्रस्तवाक्कादनामा क्रात्य-धर्मसमापनाननारं पिन्ये तत्करकोपदेशास्य काय्डानुसमयः।

पित्थः स्थानमसीति न्युकं पात्रं करोत्यधः" - दिति ॥ दिगुणान् दिगुणभुग्नान् मतिलान् कुण्णानासनार्थं ददात्। तदुक्तं काठके। "पित्वणां - दिगुणां सिलैः" दिति ।

श्वासनदानात्पूर्वं पश्चाचोदकं द्द्यात्। तथः चाश्वायनः।
"श्वपः प्रदाय दर्भान् दिगुणभुग्नानामनं प्रदाय"। श्वपः प्रदायति
श्वाद्धे चणः क्रियतामिति पूर्ववत् जलं दत्ता। पितृनावा हियस्थे द्दिति
श्वाद्वाणान् सृष्ट्वा श्वावाद्येति तैरनुज्ञातः उग्रन्तस्वेति मन्त्रेणावाद्वा
नमो वः पितर दति तिलान् मस्तकादिद्चिणपादान्तमवकीर्यायान्तु नः पितर दति मन्त्रेणोपतिष्ठते। तथाच प्रचेताः.—

"िश्वरःप्रस्रति पादान्तं नमो व इति पेत्वेन"-इति । उपस्थानानन्तरक्रत्यसुन्नं पुराणे,-

"जपेदायान्तु नः इति मन्तं सम्यगग्रेषतः । रचार्थं पित्सचस्य चिःक्ततः सर्व्यतो दिशम् तिसांसु प्रचिपेन्यस्त्रमुचार्यापहता इति" ॥

श्रधांद्याच्छादनानं पूर्ववत् कुर्यात्। श्रनाध्यपात्रासनादौ
विश्रेषोविष्णुना दर्शितः। "दिचिणाग्रेषु दिचिणापवर्गेषु चमसेषु
विव्यपश्रासिञ्चेच्छन्नोदेवीरिति"। श्रयमर्थः। दिख्णाग्रेषु दर्भेषु
दिचिणापवर्गतयाऽऽसादितेषु पवित्रान्तिहेतेषु चमसेषु त्रव्यर्थपानेषु
श्रमोदेवीरिभष्टयद्दति मन्त्रेण प्रतिपात्रमप श्रामिञ्चेदिति।

ग्रीनकोऽपि। "पानेषु दर्भान्तर्हितेष्वपः प्रदाय ग्रस्नोदेवीरभिष्टय-द्रत्यनुमन्त्रितासु तिलानावपति, तिलोऽसि सोमदवत्यो गोसवो देवनिर्धितः। प्रजमङ्गः प्रजस्थिया पितृनिमाँ बोकाश्यीणयाहि नः ख्वधानम इति"। श्रव च पित्रादीनां त्रयाणामेकेकस्थानेकब्राह्म-णनिमन्त्रणे सर्वेषामेकब्राह्मणनिमन्त्रणेऽपि त्रीण्येवार्घपात्राणि न तु ब्राह्मणमञ्ज्ञया। श्रतएव वैजवापः,—

"सीर्ला पित्एणं त्रीखेव कुर्यात्पात्राणि धर्मावित् । एकसिना बद्धषु वा ब्राह्मणेषु यथाविधि" ॥ सीर्ला तिसानर्घीदनेषु चिश्वेत्यर्थः । श्रर्थपवित्रञ्चायुगामञ्ज्ञया कर्त्त्रयम् । तदुत्रं चतुर्विग्रतिमते,—

"तिस्रस्तिसः प्रसाकाः सुः पित्रपाचेषु पार्व्वणे"—द्ति । तिस्तप्रचेपानन्तरं गत्धपुष्याणि प्रचिपेत् । तदुक्तं ब्रह्मपुराणे,— "ऋर्थाः पुष्पेश्च गन्धेश्व ताः प्रपूज्याश्व ग्रास्तवत्"—इति । या श्रर्धार्डास्ता श्रापस्ता गन्धादिभिः पूज्या दत्यर्थः । श्रनन्तर-कर्त्तव्यसाह भौनकः,—"ताः प्रतिग्राहिययन् खधार्घा दति"। ता-त्रपो बाह्यणैः प्रतिग्राष्ट्रियम् स्वधार्था इति मन्त्रेण स्वापयेदित्यर्थः। ततः पविचान्तर्हितेषूदकपूर्व्वकं या दिव्या इति मन्त्रेणार्घीदकं दद्यात् । तथाच पैठीनिसः । "ततो ब्राह्मणहस्तेषूदकपूर्व्वं दर्भाग्पदा-योदकपूर्वकमर्घीदकं ददाति या दिया दत्युक्षाऽसावेतत्ते अर्घी-दकमित्यप उपस्पृष्वैवमेवेतरयोः"—इति । श्रच विशेषमा इधर्मः। "या दिया त्राप दति पात्रं पाणिभ्यासुद्भृत्य नाम गोत्रञ्च ग्रहीला मपवित्रहर्सेऽर्थं दद्यात्"-इति । यनु पैठीनसिवचने हर्सेव्विति बज्ज-वचनम्, तत् चींस्तीनेकैकचेति विचितन्नाह्मणसङ्घापचे। न्नाह्मण-इस्तेषूदकपूर्वं दर्भाग्यदायेति पित्रर्थनाह्यणार्चनएव बद्धवचनप्रयो-गात्। त्रन्यथा, एवमितरयोरिति पितामचप्रपितामहार्थन्नाह्यणा-

र्चनस्व पृथि विधानं न स्थात्। (१) एवमध्यं दला तेषामर्घी दकानां संस्वान् विष्रहस्तेभ्यः पाचेषु गिस्तान् पिल्पाचे संग्रह्म तत्याचं न्यु असधो सुखं "पिल्भ्यः स्थानमिष्यं"—इत्यधः सुर्यात् भूमौ निदन्धात् दत्यर्थः । न्यु अकरणानन्तरकर्त्त्रथमा इ वैज्ञावापः,—

"तस्रोपरि कुग्रान्दला प्रदद्याद्देवपूर्वकम् । गन्धपुष्पाणि धूपञ्च दीपवस्त्रोपवीतकम्"-इति ॥

दैवपूर्वकिमित्ययं पदार्थानुसमयो याज्ञवक्कोक्रकाण्डानुसमयेन प्रच विकन्पते दत्यविरोधः। एवं गन्धपुष्पादिभिर्नाह्मणानभ्यर्थामौ करणाख्यं कर्म कुर्यात्। तदाच कात्यायनः,—

"गन्धान्त्राह्मणसास्त्रता पुष्पाष्यृतुभवानि च।
धूपं चैवानुपूर्वेण श्रमौ कुर्यादतः परम्"—इति॥

श्रग्नौ करणप्रकारमाच याज्ञवसकाः,—

"त्रमौ करियमादाय प्रस्कत्यमं घतमुतम् । कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातो ज्ञलाऽमौ पित्यज्ञवत् ॥ ज्ञतमेषं प्रद्धान्तु भाजनेषु समास्तिः । यथासाभोपपनेषु रौषेषु तु विमेषतः"—इति ॥

श्रमौ करियन् इतमुतमत्रमादाय "श्रमौ करियो"—दिति ब्राह्म-णान् एच्छेत्। इतम्रब्देन माकादेनिरासः। ततः कुरुयेति तैरनु-भ्रातः, "सानिध्यसुपसमाधाय* मेचणेनावदाय सोमाय पित्सते खधा-

^{*} सन्निधावुपसमाधाय,—इति सु॰।

⁽१) दत्त्वार्र्ध्यं संख्वांत्तेषां (०२४।६) इति याज्ञवक्यवचनं व्याचके एव-मध्यं दत्त्वेत्यादिना ।

नमोऽग्रये कव्यवाहनाय खधानमः"—इति पिण्डपित्यज्ञविधानेनाग्रौ जुड्डयात् । ततोमेचणं ज्ञला ज्ञतग्रेषं यथालाभोपपन्नेषु पित्रादि-भाजनेषु द्यात् न वैश्वदेवभाजनेषु । तदुकं पुराणे,—

"त्रग्नीकरणग्रेषन्तु न दद्यादैश्वदैविके"—इति।

श्रयोकरण्च प्राचीनावीत्युपवीती वा कुर्यात्। तत्प्रकृतिश्वतस्य पिण्डिपित्यज्ञस्य दैविकलपैत्वकलाभ्यासुभयविधलेन विकल्पितो-भयधर्मकलात्, तिद्वकृतिश्वताग्नीकरणहोसेऽपि प्राचीनावीतिलोप-वीतिलयोर्विकल्पोऽवगस्यते। श्रव च यथाणाखं व्यवस्था द्रष्ट्या। श्रयोकरण्च सार्त्तलेन विवाहाग्नी कर्त्तव्यम्। यदा तु सर्वाधाने-नौपासनाग्निर्नास्ति, तदा दिचणाग्नी जुद्धयात्, तदसिन्धाने लोकि-काग्नौ। तथा च वायुपुराणम्,—

"श्राह्तय द्विणाग्निन्तु होमार्थं वे प्रयत्नतः। श्रम्यर्थं नोकिकं वाऽपि जुज्जयात्कर्मसिद्धये"—इति । श्रम्यर्थमोपासनाग्निकार्यसिद्धार्थम्। द्विणाम्यसिव्धाने पाणौ होमः कर्त्तयः। तथा च स्रत्यन्तरम्,—

"हस्तेऽग्रोकरणं कुर्यादग्नी वा साग्निको दिजः" – इति । साग्निकः सर्वाधानेनाहिताग्निर्द चिणाम्यसिक्चधाने हस्ते क्षीकि – केऽग्नौ वाऽग्नोकरणं कुर्यादित्यर्थः । यदा वर्धाधानेनाहिताग्नि-रप्यग्निमान् तदौपासनाग्नावग्नीकरणं कुर्यात्, तदभावे दिजपाणा – वप्तु वा। तथाच मार्कण्डेयः,। "श्रमाहिताग्निस्वौपासनाम्यभावे

पित्रादिभोजनपात्रेषु.—इति सु॰।

[ं] यदा लर्डाधानेनाचितामिरनाचितामिर्वाऽमिमान्, — इति मु॰।

दिनेऽप् वा" - इति । श्रनाहिताशिश्रन्देनार्धाधानेनाहिताशिर्ध-श्रते । श्रप्तग्रीकरणं जलसमीपे श्राद्धकरणे वेदितव्यम् ।

तदाच कात्यायनः,—

"विष्णुधर्मीत्तरे वाऽषु मार्कण्डेयनयः स्तरः।

स यदाऽपां समीपे साच्छाद्धं ज्ञेयो विधिस्तदा"-इति।

यनु मनुनोक्तम्,-

"त्राम्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपाद्येत्"—इति । तद्वस्यारिविषयम्। तदास्र जात्र्वनर्णः,—

"श्रम्यभावे तु विष्रस्य पाणौ दद्यानु दिचिणे। श्रम्यभावः स्थतस्तावद्यावद्वार्थ्यां न विन्दिति"—इति। विद्यमानेऽप्यग्नौ काम्यादिषु चतुर्षु श्राद्धेषु बाह्मणपाणावेव होमः। तदाद्धर्यह्मकाराः,—

"ज्ञन्वष्टकां च पूर्वेद्युमीसिमासि च पार्वेणम् । काम्यमभ्युद्येऽष्टम्यामेको हिष्टमयाष्टमम् ॥ चतुर्वाद्येषु साग्नीनामग्रौ होमो विधीयते । पित्रमाह्मणहत्वे सादुत्तरेषु चतुर्व्वपि"—हति ।

"हेमन्ति शिरयो खतुणी मपरप चाणा महस्यो ऽष्टकाः" – दित वि-चितान्यहका श्राद्धानि । तचा हका श्राद्धाना सुत्तर दिने नवस्यां किय-साणं श्राद्धमन्व हक्यम् । पूर्व्वेद्युः सप्तस्यां कियमाणं श्राद्धं 'पूर्वेद्युः' — दित पदेन जवणयोक्तम् । प्रतिमासं कियमाणमापरप चिकं श्राद्धं 'मासिमासि' — दत्यनेनोक्तम् । पार्व्यणं सर्वेश्वाद्धप्रक्षती स्तममावस्था-श्राद्धम् । कास्यं पुक्रादिष्य चका मनया कियमाणं श्राद्धम् । पार्थु-



दियिक श्राद्ध सभ्युद्य दित पदेनोक्तम् । अष्टका ख्या द्ध महस्या सिति पदेनो कम् । एको दिष्टपदेन सिपण्डी करणं लचणयो कं, सिपण्डी करणे एको दिष्टखापि सद्भावात् । एषां सध्ये त्राद्येषु चतुर्षु साग्निकाना स-ग्नावेवा स्रोकरण हो सः, उत्तरेषु साग्नीनां पित्रावा ह्याण हस्त एवे ति । पाणौ हो से तु विशेषः कात्या यनेन दिर्शितः, —

"पिश्चे यः पिङ्क्षमूर्द्धन्यस्तस्य पाणावनग्निकः। ज्ञत्वा मन्त्रवदन्येषां द्वणीं पानेषु निचिपेत्" - इति । यनु यसेनोक्तम्,--

''दैविविप्रकरेऽनिद्धाः कलाऽग्लोकरणं दिजः''—इति। तच विकल्पेन व्यवस्था द्रष्टव्या। दैविकनाह्यणपाणा होम-पचेऽपि पित्थवाह्यणपाचेस्वेव ग्रेषं निधिपेत्। श्रतएव वायु-पुराणम्,—

"डला दैवकरेऽनिशः ग्रेषं पिश्चे निवेदयेत्। न हि स्ताः ग्रेषभाजो विश्वदेवाः पुराणगैः"—इति। पाणा होने यत्कर्त्तयां तदाह ग्रोनकः। "श्रनशिश्चेदादां ग्रहीत्वा भवत्स्वेवाग्नोकरणम्—इति पूर्ववत्त्तयाऽस्त्विति"। श्रयमर्थः। श्राद्यं हतम्रुतमन्नं ग्रहीत्वा "भवत्स्वेवाग्नोकरणहोमं करिये"—इति पूर्ववत् पृद्वा तथाऽस्त्विति तरनुज्ञातोजुद्ध्यात्,—इति। यमोऽपि,—

''त्रग्नोकरणवत्तव होमोदैवकरे भवेत्। पर्य्यस्तदर्भानास्तीर्य्य यतो ह्याग्रममो हि सः''—इति। पर्य्यस्तदर्भाः परिस्तरणयोग्यदर्भाः। दैवकरग्रहणेन पित्रवाह्यण-

^{*} इसन्ति शार्थोरिखार्थ्य एतदन्तोग्रज्ञो नाल्ति ना॰ पुल्तके।

करोऽणुपलच्यते । उभयवापि विकल्पेनाग्नौकरणस्य विधानात् । पाणितले जनस्यानस्य विनियोगमाच स्टब्सपरिग्रिष्टकारः,—

"यच पाणितले दत्तं यचान्यदुपक ल्पितम्।

एकी भावेन भोक्यं पृथग्भावो न विद्यते ॥

तं पाणितले दत्तं पूर्वभ्रम्भन्यबुद्धयः।

पितरस्तेन तथ्यन्ति ग्रेषान्नं न लभन्ति ते"—दति।

यदः देवविप्रकरे हो सस्तदा । पत्न साता सह श्राद्ध दया थे सक देवा-नुष्ठेयः । वै यदेव भेदेऽपि तचा धिकरणकारकस्य संप्रतिपन्न लात् । यदा पित्र बाह्य करे हो सस्तदा साता सहबाह्य एक रेऽपि पृष्य गनुष्ठेयः, वैश्व-देविकतन्त्र लेऽपि तचा धिकरणकारकस्था संप्रतिपन्न लात् (१) ।

तथा च कात्यायनः,—

(१) देवन स्वायहक्ते होमविधानपचे देवन्नास्वयास्त्रेवाधोकरणहोमस्वाधारहति सरव तस्वाधिकरणकारकं, खाधारस्वेवधिकरणकारकतया स्वरणात्। वैश्वदेवभेदेऽपि एकस्मिन् वैश्वदेवन्नास्वयाहक्ते
अयोकरणहोमे क्रतेऽपि प्रास्त्रोक्तरवाधारे स क्रतोभवतीति नास्य
पुनरावृक्तः। पित्रव्रास्त्रणहक्ते होमपचे हि पित्रव्रास्त्रणहक्तरव
होमस्वाधिकरणकारकं भवति। मातामहपच्ते तु न पित्रव्रास्त्रणो
वर्त्तते किन्वन्थरव। पित्रव्रास्त्रणहक्ते होमविधिक्त पित्रपच्यय
प्रवर्त्तते। तस्य च 'मातामहानामप्येवं'— इत्याद्यतिदेश्वन्नान्मातामहपचे प्राप्तिः। यवस्र पित्रव्रास्त्रणस्योने मातामहन्नास्त्रणवत्
पित्रत्रास्त्रणहक्तस्याने मातामहन्नास्त्रणहक्तोऽपितत्पच्वीयाभोकरणहोमाधारतया खतिदेशेन प्राप्यते हति यक्तमधिकरणकारकस्य
भिन्नसम्। तथाचाधिकरणकारकभेदात् होमोऽपि भेदेनैव कर्त्तथहति भावः।

"मातामहस्य भेदेऽपि कुर्यात्तन्त्रे च' साग्निकः"—इति । वैश्वदेविकस्य भेदे तन्त्रे च मातामहस्य मातामहार्थनाह्यण-स्थापि पाणौ होमं साग्निकः कुर्यादित्यर्थः । पाचाणि दिः प्रचा-स्थित् । तथा च ब्रह्माण्डपुराणम्,—

"प्रचाल्य इस्त्पाचादि पञ्चादि दिधाभवत्।
प्रचालनं जलं दर्भेसिलसिश्रं चिपेच्छुचौ"—इति।
इस्तेन निर्मृष्टं पाचादौति सध्यसपदलोपी समासः। श्रादिशब्देन ध्तादिधारणाधं ग्रह्मते। एवं प्रचालितेषु प्राचेषु इत्रश्रेषं
प्राचीजावौतौ पिट्टपाचेषु निधाय सम्पादितान् पदार्थान् परिवेषयेत्।
तथा च श्रोनकः,—

'' इत्वाऽग्री परिणिष्टन्तु पित्पाचेव्यनन्तरम्। निवेधैवापस्येन परिवेषणसास्रोत्''—इति । भ्रापस्योनेति इत्रोषनिवेदनेनान्वेति न परिवेषणेन । श्रतएव कार्णाजिनिः,—

"श्रपस्रयेन कर्त्त्रयं पिश्रं छत्यं विशेषतः।
श्रवदानादृते सर्वसेवं सातासहेस्विषि"--इति।
परिवेषणप्रकारो सनुना दिर्शितः,—
"पाणिभ्यासुपसंग्रह्य ख्वयसवस्य बर्द्धितस्।
विप्रान्तिके पितृन् ध्यायन् श्रनकेरूपनिचिपेत्"—इति।
श्रवस्य वर्द्धितसन्नेन पूणें परिवेषणपानं विप्रान्तिके भोजनार्थ-

[#] कुर्थात्तत्रेव, — इति गा॰ ग्रा॰।

पाचे । खयमिति वचनात् खयं परिवेषणं सुख्यम् । श्रतएव वायु -पुराणम्,—

"फलस्यानन्तता प्रोका खयंतु परिवेषणात्" — इति । यन्तु तनेवोक्तम्, —

"परिवेषणं प्रश्नस्तं हि भार्य्यया पित्तत्त्रये। पित्तदेवमनुष्याणां स्त्रीयहायोयतः स्रतः"— इति । तदितरापेचया वेदितव्यम्। भार्य्ययाऽपि मवर्णयेव परिवेषणं कार्य्यम्। तथा च नारायणः,—

"यद्र्यं यत्पित्रञ्च यत्पित्रं यत्सुखावहम् । दिजातिभ्यः सवर्णाया हक्तेनेव तु दीयते"—इति । हस्तेन हक्तद्वयेनेत्यर्थः । ६स्तेनापि न साचाद् देयं, ऋषि तु दर्यादिदारा । अतएव वृद्धणातातपः,—

"उभाभ्यामपि इस्ताभ्यासाहत्य परिवेषयेत्"—इति । सत्योनोक्तम्,--

"इस्तद्त्तासु ये खेहा लवणयञ्जनादयः। दातारस्रोपतिष्ठन्ति भोका भुज्जीत किल्विषम्"— इति।

विष्णुपुराणेऽपि,-

''नापवित्रेण इस्तेन नैकेन न विना कुश्रम्। नायसेनेव पात्रेण श्राद्धेषु परिवेषयेत्''—इति। श्रायसेन श्रयोसयपात्रेण नैव परिवेषयेत्। परिवेषणे कानि

^{*} इन्तन, - इलादिः एतदन्तीयमी नास्ति ना॰ एकके।

पात्राणि प्रश्वसानीत्यपेचिते विष्णुः। "घतादिदाने तेजसानि पाचाणि वा फलगुपात्राणि वा प्रश्वसानि। श्रत्र च पित्रगाथा भवति,—

> मौवर्णराजताभ्याञ्च खङ्गेनौदुम्बरेण च। दत्तमचयतां यान्ति फरगुपाचेण वाऽष्यण'—दति।

खर्नेन खन्नमगरङ्कातदर्थादिना । पालगुपाचेण काकौदुम्बरि-काख्यदचदारुकतद्थीदिना । श्रन्यान्यपि परिवेषणीयान्या सनुः,—

"भद्धं भोज्यञ्च विविधं मूलानि च फलानि च।

हद्यानि चैव मांगानि पानानि सुरभीणि च॥

उपनीयं तु तस्वैं प्रनकै: सुममाहित:।

परिवेषयेनु प्रयतः गुणान् सर्वान् प्रचोदयन्"—इति।

प्रोनकोऽपि,—

"ग्राकं सर्वसुपानीय निवेद्य च पृथक् पृथक्। विधिना दैवपूर्वं तु परिवेषणमारभेत्"—इति ।

ममादितं मर्व्वपानेषु प्रचिष्य पानाभिमन्त्रणं कुर्यात् । तदास प्रचेताः । "मर्व्व प्रकृतं दला पानमान्य जपेत्"—इति । श्रन विशेषमाह याज्ञवन्कः,—

"दलाऽत्रं पृथिवीपात्रसिति पात्राभिसन्त्रणस्। कलेदं विष्णुरित्यत्रे दिजांगुष्ठं निवेशयेत्"—इति। श्रनन्तरकर्त्त्रथमाद्यात्रिः,—

"इस्तेन मुक्तमनाद्यमिद्मनमितीरयेत्। खाइति च ततः कुर्यात् खमत्तादि निवर्त्तयेत्॥

^{*} खद्रेन,-इत्यादि रतदन्तं गांचित ना॰ ग्रा॰ स॰ प्रस्तकेषु।

गंदिमंबस्थनामानि इद्मनं ततः खधा । पितृन् कमाद्दीर्येति खसत्तां विनिवर्त्तयेत्"—इति ।

श्रयमर्थः। विश्वेभ्यो देवेभ्य इति देवतोद्देशेन शब्दोद्यारणानन्तर-मिटमन्नमित्युद्यारयेत्, ततः खादेति मन्त्रमुद्यारयेत्, ततो न ममेति खलपरित्यागं कर्ग्णत्। ततः पित्रादिक्रमात् संबन्धगोत्रनामोद्यारण-पूर्वकं* देवतोद्देशं कलेदमन्नमिति प्रदेयं द्रव्यं निर्दिश्य, खधेति कथ-दानप्रकाशकं मन्त्रमुद्यार्थं, न ममेति खलपरित्यागं कुर्यात्। त्रन-न्तरक्रत्यमाद लघ्यमः,—

"श्रव्यक्षीनं क्रियाक्षीनं मन्त्रक्षीनञ्च यद्भवेत् । सर्व्यमच्चिद्रमित्युक्षा ततो यक्षेन भोजयेत्"—इति । श्रच्छिद्रं जायतामित्युक्षा । श्रनन्तरकर्त्त्रयमाक्ष प्रचेताः,—

''त्रपोप्रानं प्रदायाय साविचीं ,चिर्जपेद्य।

मधुवाता दित त्वं (१) मध्यित्येतित्वकं तथा"—दिति ।
मधु दत्येतत् विरावर्त्तनीयमिति चतुर्थपादस्यार्थः । साविषीं
सन्यादितकां जपेत् । तथा च याज्ञवल्काः,—

"स्रव्याक्तिकां गायत्रीं मधुवाता इति त्वस् । अद्वा यथासुखं वाच्यं भुद्धीरं स्तेऽपि वाग्यताः"—इति । यथासुखमित्यत्र जुषध्वमित्यधाद्वारः । श्रतण्व व्यासः,—

^{*} सम्बन्धनामगोत्रीचारणपूर्वकां,-इति सु॰।

⁽१) त्वनं,—इत्यार्षे (इयं प्रयोगः। "ऋचि चेरत्तरपदादिखे।पच इन्द-सि"—इति पाकिनिकारकात्।

"जषध्वमिति ते चोकाः सम्यम्बिधतभाजनाः। क्षतमौनाः समश्रीयुरपोशानादनन्तरम्"-इति । श्राद्धभोक्ता बिलं न दद्यात्। श्रतएवाचिः,— "द्ते वाऽष्यथवाऽद्ते भूमौ यो निचिपेदिसिम्। तदसं निष्फलं याति निराग्नैः पित्निर्भगतम्''—इति ॥ भोजनोपक्रमानन्तरकर्त्तव्यमाच् कात्यायनः। "श्रश्रत् जपेद्याच-तिपूर्वां गायत्रीं सप्रणवां सक्तिर्वा रचोन्नीः पित्रसन्तान् पुरुष-सक्तमप्रतिरथमन्थानि च पविचाणि(१)"-द्ति । मनुरपि,--"साधायं त्रावयेत्पित्रे धर्मग्रास्ताणि चैव चि। श्राख्यानानीति हामां सुप्राणानि खिलानि च^(१)"—इति। भन सूक्तजपो यज्ञोपवीतिना कर्त्तवः । श्रतएव युमद्ग्निः,--"म्रपसयोग कर्त्तयं सर्वे श्राद्धं यथाविधि । सुन्नाती चन्नपं सुद्धा विप्राणा स्व विमर्ज्जनम्" - दिति ॥ दाहभोतृनियमानाइ दृद्धभातापतः,--"श्रपेचितं योन दद्यात् श्राद्धार्थसुपकस्पितम्। कपणी मन्दवृद्धिलु न स श्राद्धफलं सभेत्।

⁽१) ऋग्वेदीय छ। ।। १० पद्मसङ्क्षागता ऋचः रच्लेक्षाः ।

⁽२) खाध्यायेविदः । धर्म्भशास्त्राणि मानवादीनि । खाख्यानानि सीपर्य-मैचाववणादीनि । इतिष्वासामद्याभारतादयः । प्राणानि "सर्गख प्रतिसर्गख वंशामन्यन्तराणि च । वंशानु चरितचेव प्राणं पञ्चल-एखम्"—इत्कुक्कच्यणानि ब्रह्मप्राणादीनि । खिलानि स्रीसूक्क-प्रिवसङ्ख्यादीनि ।

श्रपेचितं याचितवं श्राद्धार्थसुपकस्पितम् । न याचते दिजोमूदः स्र भवेत् पित्वघातकः"—इति । ननु,

> "याचते यदि दातारं ब्राह्मणा ज्ञानदुर्वकः । पितरस्तस्य दुखन्ति दातुर्भीकुर्न संप्रयः"—इति । "क्षच्क्रदादप्रराचेण सुच्यतेऽकर्मणस्ततः । तसादिदान्नैव दद्यान्न याचेन्न च दापयेत्"—इति

वायुपुराणस्ति विरुधेयातामिति चेत्। भैवम्। तयोरतपकिष्पतिवषयत्नेनाप्पपपत्तेः। उपकल्पितवस्तुनोऽप्यत्यन्ताधिकस्य दानप्रतिग्रहो ग्रङ्कालिखिताभ्यां निषिद्भौ। "नात्यन्ताधिकं द्खास्र
प्रतिग्रङ्कीयात्"—इति। त्रनपेचितवस्तुनो निवारणप्रकारमास्र
निगमः,—

"नाम्नपानादिकं श्वाद्धे वारयेन्सुखतः कचित्। श्रनिष्टलाद्वज्जलादा वारणं चल्लमंज्ञया"—इति।

वारणं याचनस्याणुपलचणार्थम् । सुखतोयाचने मौनभङ्गा-विभोषात् । ऋषेचितवस्य ददामीत्युक्ता न देथम् । तथाच यमः,—

"यावद्भविष्यं भवति यावदिष्टं प्रदीयते ।

तावदश्रन्ति पितरो यावसाह ददाम्यहम्"—इति ।

भोजनकाले दार्हिनयमाः ब्रह्माण्डपुराणे दर्शिताः,—

"न चात्रु पातयेत् कर्त्ता नाग्रद्धां गिरमीरयेत्।

^{*} जातु,—इति मु॰।

न चोदीचेत भुद्धानान् न च कुर्वीत मत्यरम् । न दीनोनापि वा कुद्धो न चेवान्यमना नरः । एकायमाधाय मनः श्राद्धं कुर्यात्यदा वुधः"—इति ।

भोकृनियममाच सुमन्तुः,-

"श्रक्षोधनो रसान् सम्यगद्याद्यद्यश्र* रोचते ।

श्वा व्हरेभीजननेषां कामतो † नावप्रेषणस्"-द्ति ।

निगमेऽपि । "तृष्णीं भुञ्जीरन् न विस्नोकयमाना श्रनुद्भृत्य । पापम्"-इति । बोधायनोऽपि,-

"पादेन पादमाक्रम्य योभुक्के उनापदि दिजः।

नैवासौ अञ्चते प्राद्धे निराघाः पितरागताः"— इति । प्रचेता श्रिप,—

"पीलाऽऽपोग्रानमश्रीयात् पाचे दत्तमगर्हितम्।

र्यवैन्द्रियाणां चापच्यं न सुर्शित्याणिपादयोः"—इति ।

मनुरपि,-

"श्रत्युष्णं धर्वमसं खादश्रीरंसैव वाग्यताः।
न च दिजातयोत्रृयुर्दाचा पृष्टा इविर्गुणान्"—इति।

श्रश्रीरंखैनेत्वेवकारः प्रमादात्परसर्धस्पर्येऽपि भोजनानिवृत्त्वर्थः।

त्रतएव प्रह्नः,—

^{*} सम्यगादद्याद्यदि,—इति सु॰।

[†] कमतो,--इति गा॰।

[🚶] चविषोक्षयन्तोनाद्भवः,—इति सु॰।

"त्राद्धपंक्ती तु भुद्धानी ब्राह्मणी ब्राह्मणं खुग्रेत्। तद्वमत्यजन् भुक्ता गायत्र्यष्ट्रग्रतं जपेत्"—द्गति। पुनः सएव,—

"ह्रद्वारेणापि योनूयाद्वसादाऽपि गुणान्वदेत्। भत्तलाचोद्वरेत्पानं मुच्चेद्वस्तेन वाऽपि तत्। प्रौद्रपादोविष्ठःकचोविष्ठर्जानुकरोऽथवा। श्रङ्गुष्ठेन विनाऽश्राति मुखग्रव्देन वा पुनः। पौताविश्रष्टन्तोयादि पुनसद्धत्य वा पिवेत्। खादिताद्वं पुनः खादेनोादकानि फलानि वा। मुखेन वा धमेदकं निष्ठीवेद्वाजनेऽपि वा।

द्रत्यमञ्जन् दिजः श्राद्धं हला गच्छत्यधोगतिम्"-दृति । पौद्रपादः श्रासनाद्याह्द्द्रपादः। वहिःकचउत्तरवासोवहिर्धत-कचदितयः । दावृनियममाह श्रङ्खः,—

"श्राद्धे नियुक्तान् भुद्धानान् पृच्छे सवणादिषु।
जिच्चिष्टाः पितरोयान्ति पृच्छतो नाच संग्रयः।
टातः पतित वाद्धवै जिज्ञा भोक्रेश्व भिद्यते"—

दातुः पति वाद्धवै जिज्ञा भोकुञ्च भिद्यते"—इति । श्रन्यानपि भोकृनियमानाच्च प्रचेताः,—

"न स्पृत्रोदामस्तिन भुद्धानोऽत्रं कदाचन। न पादौ न त्रिरोवस्तिं न पदा भाजनं स्पृत्रोत्। भोजनन्तु न निःग्रेषं कुर्यात् प्राज्ञः कषञ्चन।

* प्रौद्धादः,—इत्यादिरेतदन्त्रेयत्र्योगास्ति ना॰ प्रस्तते।

श्वन्यच दभ्नः चीरादा चौद्रात् समुभ्यएवच"— इति । न च, "म निन्देयुनीवग्रेषयेयुः"—इति जमदग्निवचनविरोधः,— द्ति वाच्यं, तस्याधिकावग्रेषणविषयतात्। श्रतएवोक्रन्तेनैव। "श्वर्षं पुनरुषुष्टयन्तस्यासंस्नुतप्रमीतानां भागधेयतात्" - इति । डिच्छिष्टाचंक्कतप्रमीतादिभागधेयतञ्च मनुराह,

"श्रमंक्सतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् । उष्क्षिष्टभागधेयं स्थाद् दर्भेषु विकिरस यः"- इति । एवं नियमेन भुक्तवत्यु विप्रेषु यत् कर्त्तव्यन्तदास प्रचेताः, -"सप्तान् नुद्धाऽसमादाय सतिसं पूर्ववक्तपेत्"—इति।

पूर्ववस्थादितकाङ्गायत्रीं मधुमतीञ्च जपेत्, - इति । तदाइ कात्यायनः। "गायत्रीं मधुमतीं मधुमध्विति च ज्रष्टा ह्याः खेति पृष्कृति"—इति । प्रश्नानन्तरं व्यासः,—

"त्रप्ताः खेति च प्रष्टास्ते बृयुसृप्ताः सा इत्यय"—इति । श्रमनार्वर्ज्यमाच मनुः,—

"सार्ववर्षिकमन्नाचं मंनीयाञ्चाच वारिणा। यसुत्युजेह्यमवतामयतो विकिरन्युवि"—इति ।

सर्ववर्णा व्यञ्जन्विश्रेषा यसिंस्तत्सार्ववर्णिकम्। श्रच विश्रेषमार प्रचेताः । "ये श्रग्नीति ऋवि चिपेत्"—इति । सुवि दर्भासृताया-मिति । श्रतएव मनुना, "दर्भेषु विकिरश्च यः"- इत्युक्तम् । विकिरं दला श्वाचामेत्। श्रतएव मरीचिः, —

"श्राङ्केषु विकिरं दला योगाचामेमातिभ्रमात्। पितरसास्य वापासम्यवन्यु व्हिष्टभोजिनः"—इति । मननरं गण्डूषार्थमुदकं दद्यात् । तथाच मदासमावाक्यम्,--

"ततस्वाचमनार्थाय दद्याचापः मक्तस्रक्षत्"—इति ।

पिश्वबाह्मणपूर्वकं हस्तप्रचाननाचमनार्थमुदकं दद्यात् । तदाह-विष्णुः । "उदङ्गुखेव्याचमनमादौ दद्यात् ततः प्राक्मखेषु ततस्तु प्रोचणम्"—इति । श्राद्धदेशं मन्त्रोच्य दर्भपाणिः धवं कुर्थात्* । ततः पिण्डनिर्वपणं कुर्यात् । तदाह याज्ञवस्त्यः,—

"मर्वमन्रसुपादाय सतिलं दचिणासुखः ।

उच्चिष्टमसिधौ पिण्डान् दद्यानु पित्यज्ञवत्"—इति ।

श्रयमर्थः । ब्रह्मणार्थपक्तिन्तिसम् भर्वमन्त्रुपादाय पिण्डान् हालो च्हिष्टमंनिधौ पिल्यज्ञकस्पेन पिण्डान् दद्यात् । एतच चरुत्रप-णाभावे वेदितव्यम् । यदा तु चरुत्रपणमङ्गावस्तदाऽग्रौकरणग्रिष्ट-चर्ग्येषेण मद्द सर्वमन्त्रसादाय श्रश्चिमन्त्रिधौ पिण्डान् द्रशःः । तदाद्व मनुः.—

''नीं सु तसाद्धिनः शेषात् पिण्डान् हाता समाधितः।
श्रीदनेनेव विधिना निर्व्यपेद्द चिणासुखः"—दिति।
उच्छिष्टसिचिखक्पमाद्यानिः,—

"पित्वणामासमस्यानाद्यतस्तिष्वरित्रष्

[&]quot; यतत्यरं, 'पेटक ब्राह्म ग्रेषु प्रथमं हरू प्रचालन पूर्वेक माचनार्थमुद्रकं दक्ता पश्चादेश्वदे विक ब्राह्म ग्रेषु दक्ता उनन्तरं प्रोच्चित मिति मन्त्रेष श्राद्ध-देशं संप्रोक्ष दर्भपाणिः सर्वमुपरिक स्मंजातं कुर्यादि वर्षः'—इत्वधिकः पाठः मु॰।

उष्किष्टमनिधानन्तु नोक्किष्टासनसिद्धों"— इति । चिखर बिखिति उक्तिष्टमंमर्गर्हितासन्नदेशोपलचलार्थम् । श्रतएव यामः,—

''त्ररिवयाचमुत्मृज्य पिल्डांस्तच प्रदापयेत्। यचोपस्पृग्रतां वाऽपि प्राप्नुवन्ति न विन्दवः"-इति । पिण्डदाने कालमाच मनुः,—

"पिण्डनिर्वपणं केचित् पुरस्तादेव कुर्वते"—इति ।

भोजनात् पुरस्तादर्चनानन्तरमग्नौकर्णानन्तरं वा पिण्डनिर्वपणं केचिदिच्छिन्ति । श्रपरे तु भोजनानन्तरमाचमनादर्वागू द्वें ब्राह्मणविमर्जनात् पश्चादा पिण्डनिर्व्वपणं क्वचिदिच्छन्तीति, केचिदि-त्यनेनावगम्यते । भोजनात् पुरस्तात् पिण्डनिर्वपणं सपिण्डीकरणात् प्राग्विहितेष्वप्रशस्तेषु श्राद्धेषु, सपिण्डीकरणादिप्रश्रस्तश्राद्धेषु पञ्चादेव पिण्डनिर्वपणम्। तदाह लोकाचि:,—

"त्रप्रश्रास्तेषु यागेषु पूर्वं पिण्डावनेजनम् ।

भोजनस्य, प्रश्रस्ते तु पञ्चादेवोपकस्पयेत्"—इति ।

श्राचमनात् प्रागूध्वं वा ब्राह्मणविसर्जनादूध्वं वा पिण्डिनिवेपण-मिति पचाः प्राखाभेदेन व्यवस्थिताः । तथाच स्रायन्तरम्,—

"सुनिभिभिन्नकाचेषु पिण्डदानन्तु यत् स्टतस्।

तत् खगाखामतं यत्र तत्र कुर्यादिचचणः"—दति ।

तदायलायनपाखिनामाचमनात् प्रागृध्वं वेति पचयोः समलेन विकल्पः। तथाचाश्वलायनः। "भुक्तवत्त्वनाचाकेषु पिण्डान् निद-

धादाचान्तेषु वा"-इति। यखां प्राखायां कालविग्रेषोन मुतः, तच

प्रयोगमौकर्यार्थमाचमनादूधें पिण्डनिर्वपणपचएव ग्रहीतयः। पिण्ड-निर्वपणितिकर्त्तवा ब्रह्माण्डपुराणेऽभिह्निता,—

"सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्यां कुर्यादु लेखनं दिजः।

प्रचर्षणं ततः कुर्यात् श्राद्धकर्मण्यतिद्धतः ।

खण्डनं पेषणं चैव तथैवोक्षेखनिकया।

वज्रेणाथ कुग्रैर्वाऽपि उम्निखेत् तु महीं दिजः"—इति ।

खण्डनं कुणादेन्केदनं, पेषणं स्वर्षणं, वज्जणब्देन सृण उच्यते (१)।
उद्येखनमन्त्रम्य कात्यायनेन दर्णितः । "उद्यिखापहताइति"।
प्रानन्तरं प्रोचयेत् । "तामभ्युच्य"—इति प्राम्यनायनसारणात् ।
तत्र कुणानास्नृणुयात् । तदुक्तं ब्रह्माण्डपुराणे । "चिपेत् कुणांस्तव च दिचणायान्"—इति । ततोऽवनेजनं कुर्यात् । तदाह सुमन्तुः—

"श्वषाववनेनिच्चेति पुरुषं पुरुषं प्रति ।

चिस्तिरेकेन इस्तेन विद्धीतावनेजनम्"—इति।

श्रमाविति पित्रादीन् नामगोत्राभ्यां सम्बोध्य एकेन दिचण-इस्तेन प्रतिपुरुषं त्रिस्तिरवनेजनसुदकिर्निपणं कुर्यादित्यर्थः। श्रचाश्व-स्रायनेनावनेजने मन्त्रान्तरसुक्तम् । "प्राचीनावीती लेखां चिरु-दक्षेनोपनयेच्छुन्धन्तां पितरः"—इत्यादिः। तदिवरुद्धं, ग्राखाभेदेन यवस्थोपपत्तेः। पिण्डदानमन्त्राः कात्यायनेन दिर्भिताः। "श्रमावे-तत्त्तरित ये च लामन्त्रित्येके"—इति। श्रमावित्यसुकगोचासुक-ग्रमीसिति संवाध्य एतने इति मन्त्रेण पिण्डदानं कुर्यात्। एके

⁽१) इत्यमेव पाठः सर्वेषु पुत्तकेषु ।

थे च लामनिति मन्तेण पिण्डदानं कुर्यादित्याद्धः । पिण्डदानं च सर्यं जान्वायः कर्त्त्यम् । तद्कं वाय्पुराणे,—

"मध्यपिस्तिलयुतांस्तीन् पिण्डानिवंपेद्वुधः।

जानु इत्वा तथा स्वयं भूमी पित्रपरायणः"—इति ॥

पिएडदानानन्तरकर्त्तव्यसाह सनु:,-

"न्युष्य पिण्डान् पित्रभ्यस्तु[†] प्रयतो विधिपूर्वकम् ।

तेषु दर्भेषु तं इस्तं निम्डच्या स्पेभागिनाम्"— इति ॥

तच मन्त्रो विष्णुना दिर्णितः। "श्रच पितरो मादयध्वमिति दर्भम्लेषु करावघर्षणम्"—इति। श्रनन्तरकर्त्त्रच्यमा कात्यायनः। "श्रच पितर इत्युक्षोदङ्सुख श्रातमनादावृत्यामीमदन्त पितर-इति जपित"—इति। श्रातमनात् प्राणायामोत्यवायुपीडावधि उदङ्सुख श्रामीत, ततोऽनुक्कुमुन्नेव पर्यावृत्यामीमदन्तेति मनसा जिपितोच्छुसेत्। श्रच विशेषः कर्मप्रदीपे दिर्णितः,—

"वामेनावर्त्तनं के चिदुदगनां प्रचचते।

त्रावृत्य प्राणमायम्य पितृन्ध्यायन्यथार्हतः ॥

जपंस्तेनैव चारुत्य ततः प्राणान् प्रमोचयंत्"-इति ।

श्रमी मदन्तेत्वनुमन्त्रणानन्तरं विष्णुः। "श्रमीः मदन्तेत्वनुमन्त्र्य श्रेषावन्नाणं कला ग्रुत्थन्तां पितर दति पूर्ववदुदक्तिनयनं पिण्डी-परि, ततोऽसावभ्यंकेत्वभ्यञ्चनं दद्यादशावंच्लेत्यञ्चनं, श्रय वस्त्रमभावे

^{*} जान्वाच,—इति सु॰ पुस्तके पाठः।

[†] तत्रान्तु,—इति सु॰ पुन्तके पाठः।

द्शामूर्षां वा एतदः पितरो वासो मानोत् प्रेत्य* पितरो
युङ्च्छम्"'-इति । तदनन्तरं व्याघः,—

"गन्धपुष्पाणि धूपच दीपच विनिवेदयेत्।

एतदः पितरो वासो दशान्दला पृथक् पृथक्"—इति ॥
श्रर्चनानन्तरं मत्यः,—

"यत् किञ्चित्पचिते गेहे भच्यं भोज्यमगहितम् । त्रानिवेद्य न भोक्तव्यं पिष्डमूले कथञ्चन"-द्रित । तदनन्तरं टहस्पतिः,—

"ऋनभ्यर्चीद्पाचं तु तेषासुपरि निचिषेत्" — इति ।

श्रनन्तरं विष्णुः । "श्रधितानुपतिष्ठेत नमो वः पितर इत्यादिना मनोन्वाङ्गवामह इति त्यान्तेनाधितान् पिण्डांश्वालयेत् परेतन पितर इति" । श्रनन्तरकृत्यमाहाश्वलायनः । "श्रियं प्रत्येयाद्ये तमधाश्वन स्तोमेरिति श्रियमग्रीकरणाग्नं गार्हपत्यं यदन्तरिचं पृथिवीम्"—इति । श्रनन्तरकृत्यमाह मत्यः,—

"श्रथाचान्तेषु चाचम्य वारि दद्यात् सकत् सकत्"—इति । ब्राह्मणहस्तेषु सक्तसकदपो दद्यादित्यर्थः । एतदाचमनात् प्राक् पिण्डदानपचे वेदितव्यम् । श्राचान्तेषु तु पिण्डदानपचे श्राचम्य पिण्डदानं क्रला ब्राह्मणहस्तेषूदकं सकत् सक्तद्यात्, कुश्रास्य देयाः । पद्मपुराण्डिपि,—

"श्रचान्तेषूदकं दद्यात् पुष्पाणि सयवानि च"—इति । श्रव यवग्रहणं तिलोपलचणाधं, च श्रब्दः पुनर्णुदकदानससुच-

^{*} ऐसानुगतेत्वत्, — इति सु॰ पुन्तके पाठः।

यार्थः । क्वतकार्यत्वेन तेषु च यवादिषु कुचचित् ग्रुचो देग्रे विस्ट्रेषेषु पुनक्दकादिकं दद्यात्। तथा च मत्यः,—

"त्राचान्तेषु पुनर्दद्यात् जलपुष्याचतोदकम्"-दति । त्रनन्तरकर्त्तव्यमाच सएव,-

"दलाऽऽगीः प्रतिग्रह्णीयात् दिनेभ्यः प्राङ्मुखो बुधः।
श्रघोराः पितरः सन्तु सन्वित्युत्ते पुनर्दिनैः॥
गोत्रं तथा वर्द्धतां नस्त्रथेत्युक्तस्र तैः पुनः।
दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्तिरिवच ॥
श्रद्धा च नो मा व्यगमदङ देयस्र नोऽस्विति।
एताः सत्याणिषः सन्तु सन्वित्युक्तस्र तैः पुनः"—दति॥
श्रवन्तरं पात्रचालनं क्रवा खिस्तिवाचनं कुर्यात्। श्रतणः
नारायणः,—

"त्रचालयिता तत्पाचं खस्ति कुर्वन्ति ये दिजाः। निराग्राः पितरस्तेषां ग्रष्टा यान्ति यथागतस्"—दृति॥ पाचचालने विग्रेषमाच जात्वकर्षः,—

"पाचाणि चालयेत् त्राद्धे खयं प्रिक्योऽयवा सुतः । न स्त्रीभिनं च वालेन नामज्जात्या कयञ्चन"—इति॥

खिश्वाचनप्रकारमा ए। एक्सरः । "खसीति भगवन् ब्रूहीति वाचनम्"—इति । यज्ञोपवीती वैश्वदैविक इस्ते उदकं दत्ता पुरूर-वार्द्रवसंज्ञके भ्योविश्वभ्योदेवेभ्यः खस्तीति भगवन् प्रूहीति कर्त्ता ब्रूबात् । विप्रेण च खस्तीति वक्तव्यम् । पिल्लाह्मण इस्तेष्वय्यवसेव ।

[&]quot; यच्चोपनीती, —हत्वारच्य एतदन्तीयत्यो माल्ति ना॰ पुक्तके ।

श्रनन्तरक्रत्यमाच याज्ञवल्काः। "ततः कुर्वादचय्योदकमेवच"— दति । त्रचयमस्विति ब्राह्मणहस्ते जलं दद्यादित्यर्थः । मार्काखेयोऽपि,—

"पितृणां नामगोत्रेण जलं देयमनन्तरम् । बाह्यणानां दिजेवीच्यमचय्यसिदमस्विति"—इति॥ इस्तिध्वित्यधाद्वत्य योजना । त्रनन्तरं दिचणां दद्यात् । मनुः,— "खिस्तिवाचनकं कुर्यात् श्रचय्योदकमेवच । मितलं नामगोत्रेण दद्याच्छक्ता च दचिणाम्॥ गोभृहिर खवासांसि भवानि ग्रयनानि च। दद्याद्यदिष्टं विप्राणामात्मनः पितुरेवच । वित्तवायोन रहितः पिलभ्यः प्रीतिमाचरन्"—इति ॥

श्रव विशेषमाह पारस्करः। "हिरएं विश्वेभ्यो देवेभ्यो रजतं

पित्रभ्यः श्रन्यच गोरुष्णाजिनं यावच्छकां दद्यात् !।

एकपंक्रपविष्टानां विप्राणां श्राद्धकर्मीण।

भच्छं भोज्यं समं देयं दिचणा लनुसारतः"-दित ॥ श्रनुसारत इति, निमन्त्रितबाह्मणविद्यागुणतारतस्येनेत्यर्थः। पिश्र-देशेन दिचिणादानं प्राचीनावीतिना कार्यम्। श्रतएव जमद्ग्निः। "श्वपस्रव्यन्तृ तचापि मत्यो भगवान् हि से मनः"—इति । तचापि द्चिणादानेऽपीति। यन् तेनवोक्तम्,—

सिलालं,—इति गा०स० पुस्तकयोः

[†] नर्यान,—इति सु॰ पुन्तकी।

[‡] यावच्छनुयात्,—इति गा० प्रस्तके।

"सवैं कर्मापमयोन दिचिणादानवर्जितम्''—इति । तद्त्राद्वाणोद्देशेन दिचिणादानपचे द्रष्टयम्। स च पचे। देवलेन दिश्चितः,—

"श्राचान्तेभ्यो दिजेभ्यस्त प्रयच्छेचेव द्विणाम्''—इति॥ ब्राह्मणोद्देशेन द्विणादाने क्रमसाह अएव,—

''दिणां पित्विप्रेभ्ये द्यात् पूर्व ततो द्योः''—इति। वैश्वदेविकब्राह्मणयोरित्यर्थः। श्रव पित्विप्रेभ्य इति सम्भि-व्याहाराचतुर्थ्ये षष्ठी^(१)। श्रनन्तरं याज्ञवन्क्यः,—

> "दला तु दिचिणां प्राच्या खधाकारसुदाहरन्। वाच्यतासित्यनुज्ञातः प्रकृतेश्यः खधोच्यतास्॥ ब्रूयुरस्तु खधेत्युके श्रमो सिञ्चेक्ततो जलस्। विश्वदेवाञ्च प्रीयन्तां विप्रञ्चोक्त इटं जपेत्॥ दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्तिरिवच। श्रद्धा च नो सा व्यगसदक्त देयञ्च नोऽस्विति॥ हत्युक्तोक्ता प्रिया वाचः प्रणिपत्य प्रसाद्येत्। वाजे वाजे इति प्रीतः पित्यप्रवं विसर्जयेत्"—इति॥

श्चनन्तरं पुत्राची अध्यमिण्डं पत्ये दद्यात्। तथा च वायु-पुराणे,—

"पत्ये प्रजार्थो द्यानु अध्यसं अन्त्रपूर्वकम्"—इति । अध्यसं पिण्डिसित्यर्थः । तत्प्रकारः । तत्र प्राचीनावीती, "श्रपां

⁽१) पिटविष्यस्य चतुर्धानिर्देशात् तत्समिन्या हारात् द्वेषारि-त्यत्र वस्यपि चतुर्ध्यस्येवति भावः। पिटविष्यस्यत्र पिटभ्यस्ति साठक्तु बाक्षाधिकस्य।

लोषधीनागं रमं प्राथयामि भृतक्कतं गर्भं धत्ख''-इति पत्या-श्रञ्जलो मध्यमपिण्डं प्रयच्छेत्। तत्प्राश्चन अन्त्रसु मत्येन दर्शितः,—

"श्राधत्त पितरो गर्भसन्तः सन्तानवर्द्धनस्"--इति । सन्रपि,-

"पतित्रता धर्मपत्नी पिलपुजनतत्परा। मध्यमन्त् ततः पिण्डमद्यात्मस्यक् सुतार्थिनी । श्रायुश्रनं सृतं विन्देत् यशोक्षेधाष्ठमन्वितम्॥ धनवन्तं प्रजावन्तं धार्मिकं सालिकं तथा"-इति । पिण्डप्रदानस्थायोग्यत्यमात्र अएव,-

"ऋपाप्तयौवने टुद्धे सगर्भे रोगसक्सवे। वालपुचकलचेऽपि न दद्यात् पिण्डमञ्जलौ"—इति । पत्या श्रम्निधानादौ पिण्डानां प्रतिपत्यन्तरमा इ रहस्पतिः,— ''श्रन्यदेशगता पत्नी गर्भिणी रेशिणी तथा। तदा तं जीर्ण्ट्यभ: कागो वा ओक्रुमईति"—इति ॥ श्रापस्तम्बोऽपि प्रतिपत्त्यन्तरमारः,—

"यदि पत्नी विदेशस्था उच्छिष्टा यदि वा स्टता। दुरातमा नानुकूला च तस्य पिण्डस्य का गतिः॥ श्राकार्यं गमयेत्पिण्डं जलस्यो दचिणासुखः। पितृणां स्थानमाकामं दिखणा दिक् तथैवच"—इति॥ यत्त् देवलेनोन्नाम,-

^{*} तत्रकार इत्यादिः एतदन्तोग्रन्थो नास्ति सुदितातिरिक्तपुस्तकेषु।

प्रवानस्थेत्वारभ्य एतदन्तोयन्यो नान्ति मुद्रितातिरिक्षपुन्तकेयु।

"ततः कंर्मणि निर्वत्ते तान् पिण्डांस्तदनन्तरम् । बाह्मणोऽग्निरजो गौर्वा भचयेदपु वा चिपेन्" - इति ॥ तत्पुचार्थिताभावविषयम् । तीर्थश्राद्धे पिण्डानामप्रवेव प्रचेपः । तद्कं विष्ण्धर्मीत्तरे,—

"तीर्थश्राद्धे सदा पिण्डान् चिपेत्तीर्घं समाहितः। दचिणाभिसुखो सता पित्या दिक् सः प्रकीर्त्तिता"—इति॥ श्रनन्तरसुच्छिष्टं समार्जयेत्। श्रतएव याज्ञवल्क्यः,—

"तचैव बत्सु विप्रेषु दिजोिच्छिष्टं न सार्जयेत्"—इति । श्रयसर्थः । विप्रविसर्जनात् प्रागुच्छिष्टं न सार्जयेद्पि तु तेषु विसर्जितेषु पिण्डप्रतिपत्तौ च क्रतायासिति । यत्तु व्याधेनोक्तस्,—

"उच्छिष्टं न प्रमृज्यान्, यावनास्त्मितो र्विः"—इति । यच् विषष्टेनोक्तम्,—

"श्राद्धे नोदासनीयानि उक्किष्टान्यादिनचयात्"। च्योतन्ते वे खधाकारास्ताः पिवन्तः क्षतोदकाः"—इति॥ तहुहान्तरसम्भवविषयम् । श्रतण्व प्रचेताः,—

"अत्यवर्गरतो अङ्गे कय्येषं खगोचजेः।

प्राप्तायां श्राह्यानायां दिजोच्छि छं न मार्जयेत्" — इति ॥ उच्छिष्टमार्जनानन्तरं वैश्वदैवं छाता ग्रेषमञ्जं ब्राह्मणेः सर भुष्त्रीत । तथा च मत्यपुराणम्,—

उच्छिष्टात्रानि तत्क्रमात्,— इति ना० पुक्तके।
 श्वासायं त्राडकाने। ऽयं, — इति सु० पुक्तके।

''तत्रस वैम्रदेवान्ते षस्त्यस्तवास्वः । भुज्जीताति यमंयुक्तः सर्वे पित्निषेवितम्" - इति ॥

थदा आद्धं निर्वर्धा वैश्वदेवादिकं क्रियते, तदा तच्छेषादेव तत्कार्यम् । तदाह पैठीनिमः.-

> 'याद्धं निवर्त्य विधिवदेशदेवादिकं ततः। क्यां तियां दयाद्वलकारादिकं तथा"-इति ।

श्रादिमञ्देन नित्यसाद्धं परिग्टह्यते । तत इति पिल्पाकमेषा-दित्यर्थः । नित्यश्राद्धं पृयक्पाकेन कार्यम् । श्रतएव तदिधक्रत्य मार्कण्डेय:। ''पृथक्पाकेन वेत्यन्ये''—इति। श्रव नित्यश्राद्धमणः नियतम् । तदा इ सएव, —

"नित्यक्रियां पितृणाञ्च केदिच्छन्ति मानवाः। न पितृणां तथैवान्ये ग्रेषं पूर्ववदाचरेत्"—इति ॥ यन् लोगाचिणोक्तम्,-

"पिचर्य निर्वपेत्पाकं वैश्वदेवार्थमेवच। वैश्वदेवं न पिचर्घ न दार्श वैश्वदैविकम्"-इति॥ तदाहिताग्रिकर्वकशाद्धविषयं, श्राहिताग्रेः श्राद्धात्रागेव वैश्व-देवस्य तेनेव विह्तिलात्।

- प्रचान्तं कर्म निर्वत्य वैश्वदेवं च साग्निकः । पिण्डयज्ञं ततः कुर्यात्तताऽन्वाद्यार्थकं वृधः"-इति ॥ पचान्तं कर्माम्याधानमन्वाद्यायंकं दर्भश्राद्धम्(१)। यनु पुराण-वचनम्,-

⁽१) "पूर्व्वयुर्धि एक्षाति उत्तरमद्यंगित"—इति सुला, दर्षपौर्ध-

"प्रातिवासरिको होमः श्र श्राद्वादो क्रियते यह ।
देवा हयं न ग्रेज्जन्ति कयञ्च पितरस्तथा"—इति ॥
तत् पिल्पाकादेश्वदेवकरणं वेदितव्यम्। श्रतणव पेठोनिमः,—
"पिल्पाकात् समुद्भृत्य वैश्वदेवं करोति यः ।
श्राम्रन्तद्भवेच्छाद्धं पिल्लणं नोपितष्ठते"—इति ॥
यदाऽग्रोकरणानन्तरं विकिरणानन्तरं वा वेश्वदेविकं कर्म

यदाऽग्रोकरणानन्तरं विकिरणानन्तरं वा वैश्वदेविकं कर्म क्रियते, तदाऽपि पृथक्पाकादेव तत्कार्यं, तच्छेषादेश्वदेवकरणे दोषस्थात्रापि समानतात् १)। श्रग्नोकरणानन्तरं वैश्वदेवकरणं च स्थायन्तरेऽभिहितम्,—

"वैश्वदेवाक्ततीरग्नावर्वाग्* ब्राह्मण्भोजनात्।

मासाङ्गस्याद्याधानस्यामावस्यायां विधानात् पद्यान्तं कस्थाद्याधानमाति भावः। एवं पिरहिपत्यचादनु पश्चादाङ्ग्यिते इति खुत्पत्त्या धन्ताहार्स्यपदेन दर्शस्त्राद्यमुच्यते। तथाचोक्तम्। "पित्यचन्तु निर्व्वर्त्ते विप्रश्चन्द्रच्योद्धे दर्शस्त्राद्यमुच्यते। तथाचोक्तम्। "पित्यचन्तु निर्व्वर्त्ते विप्रश्चन्द्रच्योदे दिप्रश्चन्द्रच्योदे विप्रश्चन्द्रच्योदे विष्णान्त्रास्यान्ते स्थानास्यां दितीयं यदन्याद्यां तदुच्यते" — इति च।

- (१) प्रातिवासिको होमो वैश्वदेव होमः।
- (२) तच्छेषात् ख्यौकरणशेषादिकिरणशेषाच । तच्छेषादेश्वदेवकरणेऽपि पिटपाकात् समुद्धृष्येव तत्करणं भवति, तदानीमिप खन्नोत्सर्गस्था-इति तच्चनद्वशोक्तदोषोऽचापि समानस्य भवतीति भावः।

^{*} वेश्वदेवाज्जतीः सर्वा खर्वाग्, - इति मु॰।

जुज्ञयाङ्ग्तयज्ञादि श्राद्धं क्षता ततः स्मृतस्"—इति ॥ यदि पिल्पाकप्रेषादैश्वदेवं यदि वा पाकान्तरादुभयथाऽपि पिल्पाकग्रेषादेव भोजनस्। तदाह याज्ञवल्काः,—

'प्रदिचिणमन्त्रच्य अञ्जीत पित्रचेवितम्''—इति । श्रमति तु पित्रप्रेषे पाकान्तरं क्षवाऽपि भोक्तव्यक्षेव । श्रभोजनस्य निषिद्ववात् । तथाच देवलः,—

"श्राद्धं क्रवा तु यो विप्रो न अुङक्रेऽय क्र कहाचन।
देवा इयं न ग्रह्णनि कयानि पितरस्तया"—इति ॥
यतः पित्रेष्यभोजनं नित्यं, श्रितएवैकाद्य्यादौ नित्योपवामपचे
भोजनप्रत्याचायः स्मर्यते,—

"उपवामो यदा नित्यः श्राद्धं नैमित्तिकं अवेतं वि उपवामं तदा कुर्यादाघाय पित्रमेवितम्"—इति ॥ पित्रमेवितभोजननियमोऽनुज्ञापचएव। श्रितएव प्रातातपः,— "ग्रेषमञ्ज्ञमनुज्ञातं अञ्जोत तदनन्तरम्। इष्टेः मार्धन्तु विधिवद्गुद्धिमान् सुममाहितः"—इति॥ भोजनानन्तरं दात्रभोन्नोर्नियममाह तहस्पतिः,— "तान्त्रिणां ब्रह्मचारी म्याच्छ्राद्धकच्छ्राद्धिकैः सह। श्रत्यथा वर्त्तमानो तो म्यातां निरयणामिनौ"—इति। सक्यप्राणेऽपि,—

"पुनर्भीजनमध्यानं यानमायाममैयुनम्।

^{&#}x27; भुड़ता तु,—इति स्॰।

श्राद्धक्षच्छाद्धभुक्चैव मर्वमेतद्विवर्जयेत्*॥ खाध्यायं कलक्ष्मैव दिवाखप्रश्च खेच्छया"—इति।

श्राद्धभोजिनो विशेषमाह यम:,—

"पुनर्भाजनमधानं भारमायासमैयुनम्।

बन्ध्यां प्रतिग्रहं होसं श्राद्धभुक्षष्ट वर्जयेत्"—इति॥

सन्ध्या हो मयोः प्रतिषेधस्त्वकृतप्रायश्चित्तस्य । कृते तु प्रायश्चित्तं कुर्यादेव । श्रतएव भविष्यत्पुराणम्,—

"दग्रक्तलः पिवेचापो गायत्या श्राद्धभुग्दिजः। ततः संध्यासुपासीत जपेच जुज्जयादपि"—इति॥

एवसुक्तरीत्या पार्वणं कर्त्तुमसमर्थः संकल्पविधिना श्राद्धं कुर्यात् । तद्कं स्रत्यन्तरे,—

"श्रङ्गानि पित्यज्ञस्य यदा कर्त्तं न श्रक्षुयात्। संकल्पश्राद्धसेवासी कुर्यादर्घादिवर्जितस्"—॥

व्यासोऽपि,—

"त्यकाग्नेः पार्वणन्नेव नेकोहिष्टं सपिण्डनम्।

त्रायक्ताग्रेस्त पिण्डोक्तिस्तसात् संकल्य ओजयेत् ‡"—इति ॥ त्रयमर्थः। त्रालखेन योऽग्निं त्यजित स त्यकाग्निः, न तस्य त्राङ्के-ऽधिकारः, किंतु त्यकाग्नियितिरिक्तस्य साग्निकस्य। विधुरादेश्व^(९)

^{*} सर्व्वमेव विवज्येत्, - इति गा॰।

[ो] भाराध्ययनमैथनम्, — इति सु॰।

[!] ये।यजेत्,—इत्यादर्भपुक्तकेषु पाठः। परन्तु भोजयेदिति पाठस्यान्यज्ञ दर्भगत् सङ्गततया च सरव मूले निवेश्चितः।

⁽१) विधुरोस्टतभार्यः।

पिण्डोपलचितत्राद्धेऽधिकार उत्तः। यस्रादत्यकाग्निनाऽधिकारिणा श्राद्धमवण्यं कर्त्तव्यं, तसादिस्रते पार्वणविधावग्रकः संकल्पविधानेन कुर्यादिति । संकल्पविधानलचणं सएवा इ,-

"मंक चंतु यदा कुर्यात्, न कुर्यात् पात्रपूरणम्। नावाइनाग्नीकरणं पिण्डांस्व न दापयेत्"-इति॥ उच्चिष्टपिएडोन दातयः,

"संकल्पं तु यदा आद्धं न कुर्यात् पाचपूरणम् । विकिर्य न दातयः -

इति स्रत्यन्तरात्। एवं दर्शे कर्नवं पार्वण्याद्धसुकं, तिद्वितिभूतं प्रत्याव्दिकं निरूषते। तच बौगाचि:,—

"श्राद्धं कुर्याद्ववायन्तु प्रमीतिपत्वनः खयम्।

द्नुचये मामि मामि ट्डी प्रत्यन्द्रमेवच"-द्ति॥

तचेतिकर्त्त्रयतामाच जात्कर्णः,-

"पितुः पित्गणस्यस्य कुर्यात् पार्वणवत्युतः।

प्रत्यब्दं प्रतिमासञ्च विधिर्ज्ञेयः सनातनः"—इति । पित्रगणस्यः सपिण्डीकृतः। तस्य प्रतिसांवत्सरिकमनुमासिकञ्च

श्राद्धं पार्वणविधिना कुर्यात् । यमद्ग्रिरपि,—

"श्रासाद्यं सहिपाडलमौरसो विधिवत् स्तः।

कुर्वीत दर्भवच्छाद्धं मातापिचोर्म्हते (इनि"-इति ॥

तस्त्रादिकृते,—इति पाठाऽच भवितुं युक्तः । ां चापाच, -इति पाठीमम प्रतिभाति ।

 $\xi \xi$

ननु दर्भातिदेशान्सातासहानासपि श्राद्धं प्रसच्चेत^{११}। नायं वि:। प्रत्याब्दिने षट्पिण्डानां पर्युदस्तवात्। तथाच कात्यायनः.—

"कर्षूममन्त्रितं सुक्का तथाऽऽद्यं आद्भूषोड्श्रम्^(२)।

प्रत्याब्दिकञ्च ग्रेषेषु पिण्डाः खुः षडिति स्थितिः"—इति । कर्षूममन्तितं सपिण्डीकरणम् (२) । यन् यमेनोकम्,—

"सपिण्डीकरणादूधं प्रतिसम्बत्सरं सुतैः।

मातापित्रोः पृथक्कार्यमेकोहिष्टं स्तेऽहिन"—इति ॥ यच स्ताहं प्रक्रत्य व्यासेनोक्तम,—

"एको दिष्टं परित्यच्य पार्वणं कुरुते नरः।

श्रुष्ठतं तिक्षज्ञानीयाङ्गवेच पित्रघातकः"—इति ॥
तच पार्वणैकोदिष्ठयोतिकन्ताः । न्यास्य

तत्र पार्वणैकोहिष्टयोर्विकच्यः। तत्रापि चुद्धाचारतो व्यवस्था। श्रमावास्थायां प्रेतपचे^(४) च म्हतानां पार्वणं नियतम्। तदाह

- (१) दर्भे मातामचानामि श्राद्धसत्त्वादिति भावः।
- (२) कर्षूनीम पिगड्रानार्थमवटविष्रोषोऽन्वरुक्यश्राद्धे ग्रः ह्ये विद्यितः । द्याद्यं पित्रत्वप्राप्तेरादिभूतं, मरग्गोत्तरं कर्त्त्येषु श्राद्धेषु मध्ये प्रथमः कर्त्यं वा । श्राद्धषोड्षं, ''द्वादप्रप्रतिमास्यानि खाद्यं वाग्यासिके तथा । सिपाडीकरणचैव इत्येतत् श्राद्धषोड्ण्यम्''—इति कात्याः यनेनैव विद्यतम् ।
- (३) कात्यायनीये कस्त्रे सिपाडीकर्णे कर्यू विधानानुपनम्भात् सिपाडी-कर्यास्य घोड्ग्रमाद्धान्तर्गतत्वाच कर्यू समन्वित परेनान्यस्थायमाद्ध-यस्यामेव यक्तमुत्यस्थामः।
- (१) प्रेतपच्तीऽश्वयुक्त्वणपचः।

"त्रमायां तु चयो यख प्रेतपचेऽथवा पुनः।
पार्वणं तस्य कर्त्तयं नैकोदिष्टं कदाचन"—दति॥
यतेस्तु न काण्येकोदिष्टं, किं तु सर्वत्र पार्वणसेव। तयाच

प्रचेताः,-

"दण्डग्रहणमाचेण नैव प्रेतो भवेद्यतिः। श्रतः सुतेन कर्त्तवां पार्वणं तस्य सर्वदा"—इति॥

श्रव केचित्पार्वणैकोहिष्टयोरन्यथा व्यवस्थामाइः,-

"प्रत्यब्दं पार्वणेनैव विधिना चेनजौरसौ।

कुर्यातामितरे कुर्युरेकोहिष्टं सुताद्या"-इति

जाद्यकर्ण्वचनात् (१) । तद्युक्तम्, "एकोहिष्टं तु कर्त्तव्यमीर्चेन स्तेऽइनि ।

यपिण्डीकरणादूधं मातापित्रोस्त पार्वणम्"-इति

पैठीनसिवचनविरोधात्^(२)। जात्रकर्णवचनं तु चया इयति रिक्त-प्रत्यब्दकर्त्तव्या चयदती चादिविषयतेना पुपपदते। यनु सुमन्तुनो-

भाम,"कुर्याच विधिवक्ताइं पार्वणं योऽग्रिमान् दिजः।

पिचोरनग्रिमान्धीर एकोहिष्टं स्टतेऽइनि"-इति॥

तद्युक्तम्,

- (१) तथा चौरसचीचमयोः पार्व्यामन्येषामेकोहिस्सिति नेषांचिस्तरे स्वतस्था पर्य्यवस्थति।
- (२) मेडीनविचनने बारवकाप्येकोदिस्विधानात्तस्विश्रीधः।

''वक्कग्नयस्त[े] ये विप्रा ये चेकाग्नय एवच[ः]।

तेषां सपिण्डनादूर्ध्वसेकोहिष्टं न पार्वणस्"—इति स्रायन्तरे साग्निकस्थाणेकोहिष्टविधानात्^(२)।

एकोहिष्टलचणमाह याज्ञवल्यः,-

"एको दिष्टं दैवही नमे का घैकपविचकम्।

श्रावाचनाग्रीकरणरचितं स्वपसव्यवत् ।

उपितष्ठतामित्यचय्यस्याने विप्रविसर्जनम् ।

श्रभिरस्थतांसिति वदेद्ब्र्युस्तेऽभिरतास्म ह"—इति । त्यायनोऽपि । "त्र्यकोटियसेकं प्राप्ति ने को कि

कात्यायनोऽपि। "त्र्येको दिष्टमेकं पात्रमेकोऽर्घ एकं पिण्डं व नावाइनं नाग्नोकरणं नात्र विश्वेदेवाः खदितमिति तिप्तप्रश्नः

सुखदितमित्यनुज्ञानसुपितष्ठतामित्यज्ञयस्थाने श्रभिरम्यतासिति विसर्गे श्रभिरतास्रोत्यपरे"—इति । तच्चेकोद्दिष्टं चिविधं, नवं नविसिश्रं पुराणं चेति । श्रच प्रथमाहाद्येकादग्राहान्तविहितं नव-

श्राद्धम्। तथा चाङ्गिरा:,—

"प्रथमेऽकि हतीये च पञ्चमे सप्तमेऽपिता।

त्रयम् । कि तिनाय च पञ्चमे सप्तमेऽपिता। नवमेकाद्शे चैव तन्नवश्राद्धमुच्यते"— इति॥ वसिष्ठोऽपि,—

- * एकः पिग्छ इति गा०।
- (१) वक्रययः श्रीतायिमनाः। एकाययः स्नात्तीयमनाः।
- (२) तथाच पार्व्याकोदिष्टयोर्व्यक्तस्ययवस्येव साधीयसीति भावः।

"सप्तमेऽकि तिर्गेयेऽकि प्रथमे नवसे तथा*।

एकाद्गे पञ्चमे खुर्नवश्राद्धानि षट् तथा॥

केचित्पञ्चेव, नवमं भवेदन्तरितं यदि।

एकाद्गेऽकि तत् कुर्यादिति स्पृतिकृतो विदुः (९)"—इति॥
श्रव पचद्वयस्य व्यवस्या भिवस्य मिना दर्भिता,—

"नवश्राद्धानि पञ्चाङ्कराश्वलायनभास्तिनः।
श्रापस्तम्वाः षित्याङ्किभाषामेतरेयिणाम्।"—इति।
वैश्वादीनां विभेषो भविष्यत्पुराणे दर्भितः,—

"नव सप्त विभां राज्ञां नवश्राद्धान्यनुक्रमात्।
श्राद्यन्तयोर्वर्णयोस्त्र(२) षित्याङ्कर्महर्षयः"—इति॥

षषां नवत्राद्धानासुपरि कर्त्तवं साधिकं नविमत्रम्। तथा चाय-लायनः। "नविमत्रं षडुत्तरम्^(१)"—इति। साधिकानासुपरि कर्त्तव्यं प्रत्याब्दिकादि पुराणम्। श्रतएव हारीतेन प्रायस्वित्तकार्यः कसेणः!

प्रथमेऽक्रि हतीयेऽक्रि सप्तमे नवमे तथा,—इति ना॰।

[†] विभाषा तैतिरीयिणाम्, — इति सु॰।

[🏌] प्रायस्वित्तनाराङ्कामेया,—इति ना॰ सु॰।

⁽१) नवमदिनविश्वितं श्राद्धं यदि दैवात्तदानीं न श्वतं, तदैकादश्चे । तत् कर्त्तव्यमित्यर्थः।

⁽२) बाबमायोर्वर्क्षयोत्रीषासमूद्रयोः।

⁽१) वज्ञासुत्तरं घडुत्तरम् । नवमाज्ञानासुपरि कर्त्तवासिवर्षः ।

नत्रसासिकयोः प्रायश्चित्तसिधायोत्तरकालीनं श्राद्धं पुराणग्रव्देन व्यवद्वत्य प्रायश्चित्तं विह्वितस्,—

"चान्द्रायणं नवस्राद्धे प्राजापत्यं तु मामिने।

एकाइस्तु पुराणेषु प्रायिश्चनं विधीयते"—इति॥

इत्यं पार्वणैकोहिष्टे श्वभिहिते, श्रयोभयात्मकं मिपण्डीकरण-

सुचाते। तत्र लौगाचि:,--

"श्राद्वानि षोड्णापाच विद्धीत सपिण्डनम्"—इति । षोड्ण श्राद्वानि जात्कर्णन दर्णितानि,—

"दादण प्रतिमाखानि माद्यवाएमासिके तथा। नैपचिकाब्दिके चेति माद्धान्येतानि वोड्ग"—दति॥

श्ववाद्यवाएसासिकाब्दिकग्रब्दाः जनमासिकोनवाएसासिको-नाब्दिकपराः। दादग्रमासिकानां कालो याज्ञवक्क्येन दर्शितः,—

"मृतेऽइनि तु कर्त्तसं प्रतिसासं तु वत्सरम्। प्रतिसम्बत्सरचैवसाद्यमेकादग्रेऽइनि"—इति॥

वसरं वसरपर्यनं मासि मासि मृतेऽहिन श्राहुं कर्त्तचं, सिपण्डी-करणादूर्धं प्रतिसम्बसरं मृतेऽहिन कर्त्तचं, श्राद्यं तु मासिकसेका-द्येऽहिन कर्त्तव्यम् (१)। जनधाएमासिकादीनां कालसाह गालवः,—

"जनषाण्मासिकं षष्टे मासाई ज्ञूनमासिकम्। वैपचिकं त्रिपचे खादूनाव्हं दादग्रे तथा*"—दति॥

^३ दादचेऽहनि,—इति सु॰।

⁽१) षाद्यं मासिकमूनमासिकमित्वर्षः। तथाच षाद्यमेकादचेऽरनीवस्य षाद्यं दादश्रमासिकानामादिभूतं तेषाः पूर्वं वर्षविवर्षो वीधाः।

ञ्चोकगौतमोऽपि,-

"एकदिचिदिनेह्ने चिभागनोनएव* वा। श्राद्धान्यूनाब्दिकादीनि कुर्यादित्याह गौतमः"—इति॥ जनमासिकस्य कालविकन्यमाह गोभिनः,—

"मरणाद्दादगाहे खानाखूने वीनमासिकम्"—इति । जनानां वर्ञ्धं कालमाह गार्ग्यः,—

"नन्दायां भागविद्ने चतुर्द्ग्यां चिपुष्करे। जनश्राद्धं न कुर्वीत ग्रची पुचधनचयात्" - इति॥ सरीचिरपि, -

"दिपुष्करे च नन्दासु सिनीवाखां(१) सगोर्दिने। चतुर्दश्याञ्च नोनानि कत्तिकासु चिपुष्करे"—इति॥

तिथिवारनचनिश्रोषाणां नयाणां मेलनं निपुष्करम्। दयोर्म-लनं दिपुष्करम्। के ते विश्रेषाः? दितीयामप्तमीदादम्धो भद्रा-तिथयः, भानुभौमश्रानेश्वरवाराः, पुनर्वसूत्तरप्रस्णुनीविश्राखोत्तरा-षादापूर्वभाद्रपदानचनाणि^(२)।

^{*} चिभागन्यून एव,—इति सु॰।

⁽१) नन्दासु प्रतिपत्षस्ठे कादणीषु। "सा दृष्टेन्दुः सिनीवासी"—इति कोषात् चतुर्देशीयुक्तांमावस्या सिनीवासीणब्देनोच्यते।

⁽२) तदुक्तं ज्योतिषे,—

^{&#}x27;'विषमचरणिष्ठां भद्रा तिथियदि जायते। दिनकरण्यापुत्राणां कथञ्चन वासरे। मुनिभवदितः सोऽयं योगिष्कपुरुष्करसंचितः''—इति।

(श्विमेतानि घोड़ प्रश्नाद्वानि क्रला ततः सिपण्डनं विद्धीत।
तस्य कालमाहानिः। "श्रथ सिपण्डीकरणं सम्बक्षरे पूर्णं त्रिपचे वा
यदह्वां दृद्धिरापद्यते (२)" - दृति। बोधायनो पि। "श्रथ सम्बक्षरे
पूर्णं सिपण्डीकरणं त्रिपचे वा तिये मासि षष्ठे वैकादके वा
दादणाहे वा"—दृति। एकादणाह-दादणाह-तियपच-तियमास-षष्ठमासेकादणमास-सम्बक्षरान्त-शुभागमाः,—दृत्यष्टी कालाः
प्रकीर्त्तिताः। तत्र व्यवस्थामाह हारीतः,—

"या तु पूर्वममावास्या स्वताहाद्द्यमी भवेत्।
सिपण्डीकरणं तस्यां कुर्य्यादेव सुतोऽग्निमान्"— दति।
स्वताहादूर्द्वदिनमारभ्येत्यर्थः। कार्ष्णाजिनिरिप,—
"सिपण्डीकरणं कुर्यात् पूर्ववद्याग्निमान् सुतः।

परतोदग्रराचाचेत् कुह्ररब्दोपरीतरः"-दृति।

श्राहिताग्निना श्रमावास्थायां पिण्डपित्यज्ञस्थावग्रकर्त्त्रस्थातात् सपिण्डीकरणमन्तरेण तदसभावाचेकादग्रेऽक्रि दर्शागमे सपिण्डीकरणं

यस्य नन्तत्रस्थैकः पाद रकराशिष्ठितः स्वपर्पादत्रयं चापरराशि । घटकं, तन्नन्तं विषमचरणिधिष्ठामित्युचते । तच सत्तिकापुनर्वेसः प्रस्ति । परमत्र सत्तिकायाः एचगुपादानात् तिहृष्टाय पुनर्वेसः प्रस्तिकामेव दर्शितम्।

⁽१) श्राद्धानि घोडुशापीय,—इति लोगाध्विचनं व्याक्षरोति रव-मित्यादिना।

⁽२) श्रयायां पूर्याः पचस्तिपचः, तस्मिन्, मर्यात् हतीयपचे रति यावत्। रुद्धिः सुभागमः।

कार्यम् । पिण्डपित्वयञ्चकर्त्तवातः स्रूयते । "स्रमावास्थामपरास्त्र पिण्डपित्वयञ्चेन चरन्ति"—इति । सपिण्डोकरणात् पूर्वं पिण्डपि-त्वयञ्चस्वासभावो गास्तवेन दर्शितः,—

"यपिष्डीकरणास्रेते पैत्वकं पदमास्थिते ।
श्राहिताग्नेः सिनीवास्थां पित्वयज्ञः प्रवर्त्तते"—इति ।
दर्भानागमे तुं साग्निर्दादभेऽक्ति सपिष्डनं कुर्यात् । तदुकं
भवियातपुराणे,—

"यजमानोऽग्निमान् राजन्, प्रेतञ्चानग्निमान् भवेत् । दादगान्ते भवेत्काय्ये सपिण्डीकरणं सुतः"—इति । गोभिसोऽपि,—

"साग्निक्स यदा कर्क्ता प्रेतञ्चानग्निमान् भवेत्। दादग्राक्ते तदा कार्य्यं सिपण्डीकरणं सुतैः"—इति। प्रेतस्य साग्निले वतीयपचे सिपण्डीकरणं कार्यम्। तदाक सुमन्तुः,—

"प्रेतस्रेदा हिताग्निः स्थात् कर्त्ता अवेत्। सिपण्डी करणं तस्य कुर्यात्पचे त्तीयके"—इति। जभयोः साग्निकले दादणा है सिपण्डी करणं कार्य्यम्। "साग्निकस्त यदा कर्त्ता प्रेतो वाऽप्याग्निमान् भवेत्। दादणा है तदा कार्यं सिपण्डी करणं पितः"—इति। जभयोरनग्निले दादणा हादणः सप्त काला इस्क्या विक-स्थाने। तदुकं भविष्यागुराणे,—

"सपिण्डीकरणं कुर्यात् यजमानस्वनग्रिमान्।

श्वनाहिताग्नेः प्रेतस्य पूर्णेऽव्दे भरतर्षभ॥

दादगेऽहिन षष्ठे वा निपचे वा निमामितेः ।

एकादगेऽपि वा मासि मङ्गलं स्थादपिस्थितम्"—दिति ।

गतेषु मन्नसु कालेषु दादग्राहः प्रग्रस्तः । तदाह व्यान्नः ;

"श्वानन्यात्कुलधर्माणां पुंसाञ्चेवायुषः चयात् ।

श्वस्थितेश्च ग्रीरस्य दादग्राहः प्रग्रस्यते ।"—दिति ।

एतस्पर्वे नेवर्णिकविषयं, ग्रद्रस्य तु दादग्राहण्य प्रतिनियतः (२) ।

श्वतस्य श्वपिण्डीकर्णं कर्त्तव्यमित्यनुदन्तो विष्णुः,—

"मन्तवर्जं हि ग्रद्राणां दादग्रेऽहिन कौर्त्तितम्?"—दिति ।

त्रिमासि वा,—इति पाठान्तरम्।

[†] याज्ञवस्काः,—हति सु०।

[!] चस्थिरतात्,—इति सु॰।

[§] दादणाहे सविगडनम्,—इति सु०।

⁽१) कुलधम्मांगामानन्यादित्यनेन येषां द्वादणाचे सिपाडीकरणं कुला-चारः, तेषां द्वादणाचः प्रणन्तः इत्यमिच्तिम्। पुंसाद्येवायुषः च्तया-दित्यनेन यदा न्योतिरागमादिना संवत्सरादर्व्यागधिकारिया आयः च चयोऽवधार्थते, तदाऽपि द्वादणाचः प्रशन्त इत्यक्तम्। स्वस्थितस्य श्रारीरत्य इत्यनेन यदा स्वतुपेच्चणीयकार्यानुरोधेन विदेश्रगमनमा-वश्यकं सम्भास्यते, तदाऽपि द्वादणाचः प्रशन्त इति प्रतिपादितम्।

⁽२) एकादग्राचायरुविधकालमध्ये दादग्राच्यमपद्याय समिवधकालिय-धानं ब्राह्मणादिवणचयविषयं, श्रुद्रस्य तु दादग्राद्यस्य सिपारी-

यदा संवत्सरपूर्त्तः प्रागवैकादणाष्ट्रादिषु षोड्णकाद्वानि क्रता सिपाडीकरणं कियते (१), तदा पुनरिप खखकाले मासिकादीन्था- वर्त्तनीयानि । तदाष्ट्र गोभिकः,—

"यस्य संवत्परादर्वाम्विचिता तु सपिण्डता।

विधिवत्तानि कुर्वीत पुनः श्राद्धानि षोड्ग"-इति ।

विधिवदिति यथायोगमेकोहिष्टेन पार्वणेन वा विधिनेत्यर्थः। तदाच पैठीनसिः,—

> "सिपण्डीकरणादर्वासुर्याच्छाद्वानि घोड्म। एको दिष्टविधानेन कुर्यात्सर्वाणि तानि तु॥ सिपण्डीकरणादृद्धें यदा कुर्यात्तदा पुनः।

प्रत्यब्दं यो यथा सुर्यात् तथा सुर्यात्मदा पुनः"—इति । भावर्त्तनं चोर्डभाविनामेव नाधीभाविनाम्^(१) । तदाच कार्णा-जिनिः,—

⁽१) यद्यपि एकादशाहादयः सपिग्छीकरणकालतयैनोत्ता न तु घोड्श-श्राद्धकालतया, तथापि घोड्शश्राद्धानन्तरं सपिग्छीकरस्य कर्त-श्राद्धात् घोड्शश्राद्धान्यकत्वा सपिग्छीकरस्यासस्थतात् क्रमानुरोधेन तदन्तापकर्षन्यायात् घोड्शश्राद्धान्यपि तेषु कर्त्तथानीति भावः'। तदन्तापकर्षन्यायस्य मीमांसापस्थमाध्यायप्रथमपादीय दादस्थमि-करस्यम्।

⁽२) तथाच यदा सिषकीकरमं क्रियते, तदूर्द्धकानभाविनामेव श्राद्धानां स्वस्तकाने प्रनरावितः कार्या, न तु तत्पूर्वभाविनां सकानस्ताना-सिखर्थः।

"त्रवीगब्दाद्यत्र यत्र सिपिण्डीकरणं क्षतम् ।
तदूर्द्धमासिकानां स्थाद्यथाकालमनुष्ठितिः"—इति ।
सिपण्डीकरणादूर्द्धमावर्त्तनीयानामनुमासिकादीनां वृद्धिप्राप्ती
पुनरपकर्षः । तदाच प्राङ्खायनिः,—

"मिपिण्डीकरणाद्वीगपक्वय क्रतान्यपि । पुनरप्यपक्वयन्ते दृद्ध्युत्तरनिषेधनात्"—इति । निषेधस्य कात्यायनेनोक्तः,—

"निर्वर्षा दक्कितन्त्रन्तु मासिकानि न तन्त्रयेत्" – इति । यपिण्डीकरणस्य गौणकालमाच स्वयाद्वङ्गः, –

"धिपिण्डीकरणश्राद्धसुक्तकाले न चेत् क्रतम्*। रौद्रे इस्ते च रोहिष्यां मैचभे वा समाचरेत्"—इति। यपिण्डीकरणेतिकर्त्तव्यतामाह याज्यवस्त्रः,—

"गन्धादकतिनेधुंकं कुर्यात्पाचचतुष्टयम् । श्रर्थार्थं, पित्रपाचेषु प्रेतपाचं प्रवेचयेत्॥

ये समाना इति दाभ्यां ग्रेषं पूर्ववदाचरेत्"-इति ।

कात्यायनोऽपि। "ततः संवत्सरे पूर्णे चलारि पात्राणि सित्सगन्धोदकः पूरियला त्रीणि पित्सणामेकं प्रेतस्य प्रेतपाचं पित्रपाचेव्यासिञ्चति ये समाना द्रति दाभ्यामेतेन पिण्डोव्यास्थातः" —दिति। यदा पिता स्रियते पितामहस्तिष्ठति, तदा प्रपितास-हादिभिः सह पितुः सापिण्ड्यम्। तद्कं ब्रह्माण्डपुराणे,—

[#] कदम्, - इति गा०।

"मृते पितरि धस्याय विद्यते च पितामहः। तेन देयास्तयः पिष्डाः प्रपितामहपूर्वकाः"—इति। केचित्तच सापिण्डामेव^(१) नाभ्युपगस्कृत्मि,

"युक्तमास प्रमीतानां^(१) नैव कार्या सपिष्डता"—इति वचनात् । त्रपरे पुनरस्य वचनस्य माद्यपिद्यमद्वयितिरिक्तविष-यलं मन्यन्ते । उदाहरन्ति च स्कन्दपुराणवचनम्,—

"युक्तमेण स्तानाञ्च सिप्डीक्रतिरियते।

यदि माता यदि पिता मर्त्ता नैष विधिः स्वतः *"—इति । त्रच रद्धाचाराद्वावस्था द्रष्टया^(२)। मातुः सापिएडां पिताम-ध्वादिभिः सह कर्त्तवम्। तदाह प्रङ्काः,—

^{*} चैव विधिः स्तृतः, — इति मु॰। मम तु, भर्ता चैंव विधिः स्तृतः, — इति पाठः प्रतिमाति। मूचोक्तपाठे तु, रष इत्यनेन बुद्धिस्यस्य सिष्यते करणिनमेधस्य परामर्गः। तथाच, माचादिषु सिष्यते करक-मिस्यते, तच नैव विधिन सिष्यहोक्तरणिनमेधविधिरित्ययेः।

⁽१) सापियद्यं सपियदीकरयाम्।

⁽२) पितामचे जीवति पितुर्मरसे पिता खुत्कमात् प्रमीत इतुष्यते।

⁽३) युत्कमस्तानां सिपछीकरणं न कार्यमियोकं मतम्। युत्कम-स्तानामि मारूपिरमहूंणां सिपछनं कार्यमिखपरमतम्। तत्र रद्धाचाराद्यवस्था। येषां पूर्वजैः युत्कमस्तानां सिपछनं न कृतं, तेन न कार्यमेव तथाविधस्यवे सिपछनम्। येषान्त पूर्वजैः युत्क-सस्तानामि माचारीनां सिपछनं कृतं, तेथुंत्कमस्तनाचारीनां सिपछनं कार्यमेवेति भावः।

"मातुः षपिण्डीकरणं कयं कार्यं भवेत्सुतैः । पितामद्यादिभिः षाद्वं षपिण्डीकरणं स्मृतम"—इति प्रमीतिपद्यकस्य विकल्पमात्र यमः,—

"जीवत्पिता पितामञ्चा मातुः सुर्य्यात् सपिएङताम्। प्रमीतपिष्टकः पिचा पितामञ्चाऽथवा सुतः"—इति ।

पुचिकासुतो झाहसपिण्डनं मातामहादिभिः सह कुर्यात् । तथाच बोधायनः,---

"श्रादिशेत् प्रथमे पिण्डे मातरं पुत्तिकासुतः। दितीये पितरक्तस्थास्तृतीये च पितामद्रम्"—दति। चितारोद्दणे तु अर्लीव सापिण्डां नियतस्^(१)। तदाद्व श्रातातपः,—

> "मृता चाऽनुगता नायं सा तेन सहिपण्डताम्"। श्वर्षति स्तर्गवासेऽपि यावदास्त्रतसंञ्जवस् (१)"—इति ।

^{*} खर्षिग्छनम्,—इति सु॰।

⁽१) तथाच प्रिक्तियाऽपि चितारोश्व छते तस्या ध्यपि सिप्यहीकर्यां अलीव कर्मयां, य तु तिलाकादिभिरित्यर्थः । एवमनुमर्यापची, धमीविषद्धः पित्रा पितामश्चाऽथवा सुतः'—इत्युक्तविक स्पोऽपि व अवति इति इस्यम्।

⁽२) खानुस्तायाः भृतसंत्रवपर्यन्तं प्रसयकालपर्यन्तं खर्गवासे सत्यपि, सा अक्षां सञ्च सपिग्छनम्हंतीत्वर्धः। यद्यप्यनुमर्गोनेव तस्याः खर्गवास-स्व अवति न तु प्रेतत्वमृत्यद्यते, तथापि भन्नां सञ्च तस्याः सपिग्छनं खनंव्यमिति तात्पर्यम्।

यमोऽपि,-

"पत्या * चैकेन कर्त्तव्यं अपिण्डीकरणं स्तियाः।

साऽस्ताऽपि चि तेमेक्बं गता मम्बाइतिव्रतेः(१)''--इति।

भनैक भन्दः पितामस्यादि विकल्पनिष्टस्यर्थः, न मिपुरुषया वृत्त्यर्थः। यपिण्डोकरणस्य धार्वणैको द्विष्टक्ष्पत्वात् (१)। एतत्सर्वं आद्वादिविवाचेष् द्रष्ट्यम् । श्रासुरादिविवाचे चतुर्धा विक्रक्पाः(१) । तत्र पचनयभाष श्चातातपः,--

"तसाचा तिष्यतामच्चा तच्छ्या वा सपिण्डनम्।

* विचा,-इति मा॰।

- (१) सा ख्री खब्दताऽपि जीवयपि मन्ताक्रितिवतेः तेन अर्घा सक् रेक्सं गता, खतौ स्तायाक्तस्याः पत्या सञ्च सिप्रहीकर्यां मुक्कमित्यर्थः । ष्यत्र, मन्त्राः पाणियङ्गादिमन्त्राः, खाळतयो विवाङादिङ्गोमाः, व्रतानि विवाशास्त्रतया विश्वितानि ब्रह्मवर्यादीनि। यभिः कर्योः सा पत्या संहैकां गता, साङ्गविवाहेन तस्याः तत्रारीराईल-निष्यत्तेरिति भावः।
- (२) पत्या चैकेन, इत्येक प्रब्देन पिताम हादयीन यावर्फन्ते। सपिखी-कर गरा न्यार्वेण विक्रतितया पार्वेणवत् चै पुरुषिकत्वस्य पिट्टपत्ते न्याय्यतात्। किन्त्वेकप्राब्देन पितामस्मादिभिः सपिग्छीकर्यामित्वयं कल्पोखविष्ट्यते इति भावः। (३) खासुरादिविवाशोदामां ख्वीयां समियहीखर्यं तस्या मात्रा पिता-
- मस्या तत् श्वश्वा वा कार्यमित्यादिविधेषविधिवजात् पत्या खपिताः मच्चादिभियां सपिखनिमित यामान्यविधियांच्यादिविवाची कृष्टिन

विषये व्यवतिष्ठते। स्त्रपवादविषयपहित्वागेवीत्सर्गस्य रुप्तेहित भावः '

त्रासुरादिविवाहेषु वर्णानां योषितां भवेत्''— इति । चतुर्थं पद्यमाच सुमन्तः,— "पिता पितामचे योज्यः पूर्णे मंत्रक्षरे सुतैः ।

माता मातामचे तददित्याच भगवन् त्रिवः"-दति ।

मातुः सापिएड्रो गोचनियसमाच मार्कएडेयः,— "ब्राह्मादिष् विवाहेषु या त्रद्रा कन्यका भवेत्।

अर्हगोत्रेण कर्त्त्रया तस्याः पिष्डोदकिकया ॥

श्रासुरादिविवासेषु पित्रगोचेण धर्मवित्"—इति । गोलाचिरपि,-

"मातामस्य गोत्रेण मातुः पिण्डोदकिकयाः।

कुर्वीत पुचिकापुत्र एवमार प्रजापतिः (१)"—इति। पत्याः सपिएडां दर्भयति पैठीनसिः,—

"श्रपुचायां स्तायान्तु पतिः कुर्यात् सपिएङताम् ।

श्वश्रादिभिः सहैवास्थाः सपिएङीकरणं भवेतृ (२)''-इति ।

विद्यानां,—इति पुक्तकान्तरीयः पाठः समीचीनः। विद्यानामिति

पत्यः मापिएञ्चमाच गोनाचिः,—

- विवाश्वितामामित्यर्थः। [†] गोचनिर्धायमाष्ट,—इति गा॰ स०।
- प्रस्तोदद्यादित्वर्थः। (२) यदा प्रतिः समिष्टनं कारोति, तदा श्वश्र्यादिभिः सम्हैव स्त्रियाः सिपि-्यहमं कुर्व्याहित्वर्धः।

(१) पुष्तिकाया आधादिविवाचेनोढ़ाया खिप पिग्छादिकं तत्पद्यमेचेळ

"मर्वाभावे खयं पत्यः खभर्तृणाममन्त्रकम् मपिण्डोकरणं कुर्युः ततः पार्वणमेवच"—इति ।

मुमन्रप,-

"श्रपुचे प्रस्थिते । कर्चा नास्ति चेच्छा द्वकर्मणि । तत्र पत्थपि कुर्वीत मापिए द्यं पार्चणं तथा"— इति ।

यत्त् सरत्यनरम्,—

"श्रपुत्तस्य परेतस्य नैव कुर्यात्मपिष्डताम् । श्रुणौचमुदकं पिण्डमेकोहिष्टं न पार्वणम् ॥ श्रपुत्ता ये म्हताः केचित्पुक्षा वा तथा स्त्रियः । तेषां मपिष्डनाभावादेकोहिष्टं न पार्वणम् (२)"—इति । तत्पुत्त्वोत्पादनविधिप्रशंमापर्तया व्याख्येयम् । यतीनां मा-पिण्डां निषेधत्युणना,-

^{*} स्त्रियोऽपिवा,—इति मु॰।

⁽१) प्रस्थिते स्ते। संस्थिते,—इति तु युक्तः पाठः।

⁽२) सिपाडनाभावात् पार्व्वणं नेति, "सिपाडीकरणादूर्द्धं प्रेतः पार्व्वण-माम्भवेत्"—इत्यनेन क्वतसिपाडनस्यैव पार्व्वणभागित्वोक्तेरिति आवः।

⁽३) खपुलस्यापि सिपाएनं पार्वगद्धास्येत, पुर्वोक्तवचनात्। खन तदभावोक्तिन्तु प्रलोत्पादनविधिप्रश्रंसार्था। इत्यमभ्यित्तंः प्रजोयत्तदभावे सिपाएनं पार्वगद्धास्य न भवति, खतन्तदुत्पादने सर्व्वथा
यिततस्यमिति तदिधिः प्रश्रस्यते। तथाच खपुलस्य खिपाएनं
पार्वगद्ध नान्तीति सतोऽप्यभाववचनं खनुदरा कन्येत्यादिवदिति
भावः।

"सिपिण्डीकरणं तेषां न कर्त्तयं सुतादिभिः। चिदण्डयहणादेव प्रेतन्तं नेव जायते ।। एकोद्दिष्टं न कुर्वीत यतीनाञ्चेव सर्वदा। च्यह्नसेकादग्रे तेषां पार्चणन्तु विधीयते"— इति। इत्युभयात्मकं सिपण्डीकरणं निरूपितम्।

अय पार्वणविक्ततिरूपं रहियाइ किरूप्तते।

तच याज्ञवलक्यः—

"एवं प्रदिचिणावृत्तो वृद्धौ^(२) नान्दीमुखान पितृन्। यजेत दिधकर्कन्धुमिश्राः पिण्डाः* यवैः क्रिया"—इति। एवं, पार्वणविदित्यर्थः। तथाच विष्ण्धर्मीत्तरे,—

"दृद्धौ समर्चयदिदान् नित्यं नान्दीसुखान् पितृन्। सन्पादितो विशेषस्तु श्रेषं पार्वणवद्भवेत्"—इति।

पार्वणविद्यानेनावाहनचिपुरुषोद्शादयोऽतिदिश्यन्ते। श्रयं तु विशेष: सम्पादित:, नान्दीसुखमंज्ञकाः पितर:,—इति। एतस प्रद-चिणावृद्वदरद्धादीनां याज्ञवल्क्योक्तानासितरेषां च विशेषाणा-

^{*} प्राप्ते,—इति सुः।

[†] मिष्टान् पिग्छान्, — इति ना॰ सु॰।

⁽१) "बाग्दगाडोऽण मनोदगाडः कायदगाडम्लणेवच। यसीवा नियता नृद्धि-च्छिदगाडीति स उचाते"—हत्यक्तं दगाडचरां बोध्यम्।

⁽२) बद्धिराष्ट्रास्यमानं कम्म विवाद्यादिकम्।

सुपनचणम्। ते च विशेषाः कात्यायनेन दर्शिताः। "श्राभ्युद्धिके श्राद्धे प्रद्विणसुपचारः, पित्र्यसन्त्रवर्जनस्वजो दर्भाः, यवैस्तिलार्थं, सुसम्पन्नसिति तृप्तिप्रश्नः, सुसम्पन्नसित्यनुज्ञा, द्धिवद्राचतिसिश्राः पिण्डाः, नान्दौसुखान् पितृनावह्यिय्ये दृति पृच्छति, नान्दौसुखाः पितरः प्रोयन्तासित्यचय्यस्थाने, नान्दौसुखान् पितृनर्चिय्ये दृति पृच्छति, नान्दौसुखाः पितरः पितासहाः प्रपितासहाश्च प्रौयन्ता-सित्यनेन स्वधां कुर्यान्, युग्मानाभयन्"— दृति । प्रचेता श्रपि,—

"मात्रशाद्धन्तु पूर्व स्थात् पित्रणां तदनन्तरम् । ततो मातामहानाञ्च दृद्धौ श्राद्धचयं स्थतम् ॥ न अपेत् पेत्वकं जप्यं । न मांसं तच दापयेत् । प्राञ्चुखा, देवतौर्यन चिप्रं देशविमार्जनम्"—इति ।

प्राद्मुखः, पिण्डदानादिकं कुर्यादित्यथाहारः। श्रतएव प्रचेताः,—

"श्रपस्र न कुर्वीत न कुर्यादप्रदिषणम् *(२)। यथा चोपचरेद् देवान् तथा दृद्धी पितृनपि।

प्रद्यात्प्राङ्मुखः पिण्डान् रही सयेन^{्।} वाग्यतः''—इति । पिण्डदाने विश्रेषमाह विश्वष्ठः,—

• व कुर्यात्तु प्रदिवासम्, -इति ना०।

⁽१) छानेन पार्व्वगातिदेशप्राप्तियतगाषादिजपाऽच निषिध्यते।

⁽२) स्वत्र पार्वणवत् वामावर्त्तनीयचारी न कर्त्तवः, किन्तु दित्तणावर्ते-नेत्वर्थः।

⁽२) सच्चेन उपभीतिना । प्राचीनावीतिलखापसचत्यास्त्रीलात् ।

"प्राद्मुखो देवतीर्घेन प्राक्कुलेषु ते कुंग्रेषु च ।
दला पिण्डान् न कुर्वीत पिण्डपात्रमधोसुखस्''—इति ।
पिण्डदानं न चोच्छिष्टमस्त्रिधौ,

"प्रदेशात् प्राङ्मुखः पिण्डान् दृद्धौ नाम्ना न वाद्यतः" — इति गातातपस्परणात् । नामोच्चारणं च प्रथमपिण्डएव न दितीये । तदुकं चतुर्विंगतिमते, —

"एकं नाम्हा परं त्यां दिद्यात् पिण्डान् पृथक् पृथक्"—दित । एकेकस्मे दौ दौ पिण्डो, तत्राद्यं नाम्बा दितीयं त्यां दिशादित्यर्थः । दृद्धिश्राद्धे पिण्डदानं वैकन्पिकम् । तथा स भविखत्पुराणम्,—

"पिण्डिनिर्वपणं कुर्यात् न वा कुर्याचराधिप । टिद्धिश्राद्धे महावाहो, कुलधर्मानवेद्ध तु"—इति ॥ टिद्धिश्राद्धिनिमत्तान्याह लेगगित्तः,—

"नवास्त्रवीलगोदाने श्रोमोपायनपुंभवे। स्त्रानाधानविवास्य नान्दीत्राद्धं विधीयते (२)"—इति।

⁽१) प्राक्कूलेषु प्रागग्रेषु।

⁽१) गावः केशाः दीयन्ते खाडान्ते खात्रीत यात्पचा गोदानं गास केशान्तापरमामधेयप्रस्थात्तसंस्तारविश्वेषः। सोमः सोमयागः। उपायनं प्रतिष्ठा। पुंसवः पंसवनापरनामधेयोगर्भसंस्तारविश्वेषः। खानं, खाध्ययमानन्तरं स्वस्त्यात्रमप्रवेशात् पूर्व्वं कर्त्त्वं समावर्त्तं-माषरमामधेयसाम्भवनं प्रस्थादौ विक्तिम्। खाधानसप्राधानम्। गर्भाधानं वा।

कार्षाजिनिर्पि,—

"कन्यापुत्त्रविवाचेष् प्रवेशे नववेश्मनः।

नामकर्मणि वालागां चूडाकर्मादिके तथा॥

सीमन्तोस्रयने चैव पुत्रादिमुखदर्भने।

नान्दीमुखान् पित्रगणान् पूजयेत् प्रयतो रहे।"—इति ॥

व्ह्रगार्ग्ये।ऽपि,—

"श्रम्याधानाभिषेकादाविष्टापूर्त्तं स्त्रियास्तरौ^(१)।

विद्वित्राद्धं प्रकुर्वीत श्रात्रमग्रहणे तथा"— इति ॥

दत्यं श्राद्वानि निरूपितानि । श्रधुना तत्कर्त्ता निरूपते ।

तच वृष्ठस्पति:,—

"प्रमीतस्य पितुः पुनैः श्राद्धं देथं प्रयक्षतः ।

ज्ञातिबन्धुमुचिक्येर्च्हित्रम्लापुरोहितः^(२)"—इति ॥

विष्णुपुराणेऽपि,—

"पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रो वा तददा आव्यक्तितः।

(१) कभिषेकोराजाभिषेकः। इष्टं "खिधिक्षोत्रं तपः सत्यं वेदानाञ्चानु-पालनम्। खातिष्यं वैश्वदेवस्व इष्टमित्यभिधीयते"— इत्युक्तसत्त्वायम्।

पूर्त्तं, "वाषीकूषतङ्गाहि देवतायतनानि च। ध्वन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तिस्यभिधीयते"— इत्यक्तास्वरूपम्। स्त्रियाच्छतौ गर्भाधाने।

पूर्तामवामधायत — इत्युक्त खरूपम् । स्त्रिया ऋता गमाधान । (२) ''प्रमेहित च कुर्वीत कृष्ण्यादेव चर्त्वित्रम्। तेऽस्य ग्रह्माणि कस्प्रांणि

कुर्य्युवतानिकानि च"—इति स्मर्यात् ग्रह्मक्ष्मकर्त्ता प्रराह्मितः, वैतानिकक्षम्भकर्त्ता ऋत्विक्। वैतानिकं श्रीतम्। ध्यतस्य समर्थते।

"चमाधियं पाकयज्ञानिष्यहोमादिकान् मखान्। यः करोति इती यस्य स तस्यर्त्विशिष्टोच्यते"—इति। यपिण्डयन्तिर्वाऽपि क्रियार्चा नृप, जायते"—इति । तत्र सुख्यानुकन्या (१) विविनक्ति प्रञ्जः,—

"पितुः पुत्रेण कर्त्त्वा पिण्डदानोदककियाः । विकास कियाः प्रति ॥ प्रतिसङ्घ रेऽपि,─

"पुत्तः कुर्यात् पितुः श्राद्धं पत्नी तु तदस्विधी । धनहार्य्यय दौहित्रस्ततो श्राता च तत्सुतः ॥ श्रातुः सहोदरो श्राता कुर्याद्दाहादि तत्सुतः । तत्तस्त्वसोदरो श्राता तदभावे तु तत्सुतः"—द्गति ॥ पुत्तप्रब्देन सुख्या गौणाञ्च पुत्ता ग्रह्मन्ते (२) । तेषां सर्वेषासभावे पौत्तः कुर्यात् । तस्थाभावे तु पत्नी । श्रतएव दृहस्पतिना पौत्तस्थ

पुचिकापुत्तमास्यसुक्तं,—

"पौत्तोऽय पुचिकापुत्तः खर्गप्राप्तिकरावुभौ ।

रिक्ये च पिण्डदाने च समौ तौ परिकीर्त्तितौ"→दति। न चैतावता तयोः समविकन्यः ग्रङ्गनीयः,

⁽१) मुख्यक्तस्यः प्रथमकल्यः। चानुकल्यः प्रतिनिधिकस्यः चामत्कस्यः, — इति यावत्।

⁽२) अख्यो प्रचिकोरसो इतर चेचजादयो गौगाः। "आन्याभावे यथा तैलं सद्भः प्रतिनिधीक्तम्। तथैकादग्र प्रचाः खुः प्रचिकोरस-योविना"—इति स्नरणात्। प्रचिकोरसयोरप्योरसस्य श्रीधम्। "संख्नतायां सवर्णायां स्वयमुत्पादयेच् यम्। तमीरसं विजानीयात प्रकं प्रथमका च्यातम्"—इति स्नरणात्।

"मैव" पौसिष कर्त्तं पुस्रवांसेत् पितामरः"—इति
कात्यायनसरणात् । पत्र्यभावे तु सोदर इत्ययं क्रमः, पत्र्यादायरुरणे द्रष्ट्यः । श्रन्यथा यो दायरुरः, सएव कुर्यात् । श्रत
एव विष्ण्वापसानौ । "यञ्चार्यरुरः स पिण्डदायी"—इति । पुत्रः
पित्वित्ताभावेऽपि पिण्डं दद्यात्तदभावे सपिण्डोद्यात्, सपिण्डा
भावे समानोदकादयः कुर्यः । तथा च मार्कण्डेयपुराणम्.—

"पुत्राभावे सपिण्डास्त तदभावे सहोदकाः"।
मातः सपिण्डा ये वा स्पूर्यं वा मातः सहोदकाः॥
सुर्युरेनं विधिं सम्यक् अपुत्रस्य श्रुताः ।
सुर्यान्मातामहायेव पुष्तिकातनयस्त्रथा।॥
सर्वाभावे स्त्रियः कुर्युः स्त्रभर्तृणाममन्त्रकम् ।
तदभावे च नृपतिः कारयेन्तस्य रिक्थतः।
तत्स्यानीयेर्चरैः सम्यक् दाहाद्याः सकलाः किथाः ।
सर्वेषासेव वर्णानां बान्धवो नृपतिर्थतः"—इति॥

^{*} नैतत्,—इति मु॰।

[†] सताः,—इति गा॰।

[🗜] गास्तीदमर्छं गा॰ स॰ पुन्तक्रयोः ।

ऽ तच्चातीयैर्नरैः,—इति मु॰।

⁽१) "सहै। इकाः समानी दकाः। "सिपाइता तु प्रस्वे सप्तमे विभिवस्ते। समानी दक्षभावस्तु जन्मनासी रवेदने" -- इत्यनेन सिपाइसमानी दक्ष-थीर्भेद उम्नेथः।

सर्वाभावे स्त्रियः कुर्युरित्यासुरादिविवासोटस्तीविषयम्। यत पुत्राभावे तु पत्नीत्यनेन संस्विरोधः। तस्याः पत्नीत्वाभावात स्रतप्य प्रातातपः तस्याः पत्नीतं निषेधति,—

"क्रयकीता तुया नारी न सा पत्यिभिधीयते ।

न सा दैवे न सा पिश्चे दासीं तां कवयो विदः (१)"— दिति।

पूर्वमध्यमोत्तरासु पुचादीनां व्यवस्थितमधिकारं दर्णयति

पराग्ररो विष्णुपुराणे,—

"पूर्वा क्रियाः मध्यमा च तथैवोत्तरसंज्ञिताः । चित्रकाराः क्रिया द्वीतास्तासां भेदं ग्रहणुष्य मे ॥ श्वा दाहादा दशाहाच मध्ये याः स्युः क्रिया मताः ।

खाद्याचाद्वादण्लाचाच,—इति सु०।

⁽१) "बासरोद्रविणादानात्"—हवादिना धनदानपूर्व्यक्षकन्याग्र च्यास्वासरिववाच्चात् धनेन ग्रचीतायाच्य क्रयक्षीतत्वात् न तस्याः पत्नीत्वम्। व्यतस्वासरादिविवाचो ज्ञायाः पत्नीत्वात् सर्वाभावे तस्याः
व्यधिकारः, ब्राह्मगदिविवाचो ज्ञायाः पत्नीत्वात् ग्रन्नाभावे व्यधिः
वार इति सर्वाभावे स्वियः कुर्य्युरिति ग्रन्नाभावे तु पत्नी स्वादियनयोवंचनयोनं विरोधः। यद्यपि च्यासरिववाच्चमाने द्रविग्यदानोकोस्तदिवाचेनो ज्ञायास्य क्रयक्षीतत्वया पत्नीत्वाभावो न ग्रान्धवादि
विवाचो ज्ञाया स्वासरादिविवाचो ज्ञाविषयमित्य च्रादियदमसङ्गते
प्रतिभाति, तथापि व्यासरिववाचे ने ज्ञात्याः सर्वाभावे व्यिक्ताः।
दर्शनात् तदपेक्त्रणा परतो निर्दिष्टेन ग्रान्धवीदिविवाचेनो ज्ञायः स्वि

ताः पूर्वाः, मध्यमा मासि मास्वेको दिष्टसंजिताः॥

प्रेते पिद्यलमापने सपिष्डीकरणादनः ।

क्रियन्ते याः क्रियाः पित्र्याः प्रोच्यन्ते ता नृपोक्तराः ॥

पिद्यमाद्यसपिष्डेस्त समानसस्त्रिस्त्रथा ।

तस्त्रज्ञातगतेस्वेव राज्ञा वा धनज्ञारिणा ॥

पूर्वाः क्रियास्य कर्त्त्रथाः पुनाधेरेव सोक्तराः ।

दौद्दिनैर्वा नरश्रेष्ठ*, कार्य्यास्त्रक्तनयेस्त्रथा"—इति ॥

मिष्डाधैरवनिपत्यनैः पूर्वाः किया मध्यमास्य कर्त्तस्याः। पुनाधैरेव भात्यस्तत्त्वाः दौष्टिनाधैस्रोत्तराः क्रियाः कर्त्तस्याः, न मिष्डाधैरवनिपत्यन्तिरित्यर्थः। श्रीरमः सुतोऽनुपनीतोऽपि दाहा-दिकाः क्रियाः कुर्यात्। तदाह सुमन्तः,—

"श्राद्धं कुर्यादवश्यन्तु प्रमीतिपत्वको हि यः। व्रतस्यो वाऽव्रतस्यो वा एकएव भवेद्यदि"—इति॥

त्रव्रतखोऽनुपनीतः । तदाच रुद्धमनुः,—

"क्षर्यादनुपनीतोऽपि श्राद्धमेको हि यः सुतः। पित्यज्ञाङ्कतिं पाणौ जुङ्गयाद्वाह्मणस्य सं:(१)"- दति॥

श्वन विश्रेष: प्रचेतसा[†] दर्शित:,-

^{*} दोष्टिनेर्भागिनेयेख,—इति सु॰।
† व्याञ्जेग,—इति सु॰।

⁽१) खनुपनीतस्याहिताधित्वाभावात्, "न पैत्रयश्चियोश्चोमो कौकिकामी विधीयते"—इति मनुना पिढयश्चियश्चोमस्य कौकिकामौ निषेधाः खनुपनीतेन ब्राह्मयापायावमौकर्याश्चोमः कर्त्तव्य इति भावः।

"कृतचूडस सुर्वीत खदकं पिण्डमेव च।
स्वधाकारं प्रयुद्धीत वेदोचारं न कारयेत्"—इति ॥
मातापिचोक्भयोरपि सुर्वितित्यर्थः। तथा च स्वस्त्र्यन्तरम्,—
"कृतचूडोऽनुपेतस्त पिचोः श्राद्धं समाचरेत्।
खदाइरेत् स्वधाकारं न तु वेदाचराण्यसौ"—इति॥
यनु मनुनोक्रम्,—

"न श्वास्त्रन् युष्यते कर्म किश्चिदामौश्चिबन्धनात्।
नाभियाद्वारयद्वेद्वा खधानिनयनादृते (१)"—दित ॥
तत् निवर्षकृतचूड़ाविषयम्। तथा च सुमन्तुः,—
"श्वनुपेतोऽपि कुर्वीत मन्त्रवत् पैत्रमेधिकम्।
यद्यमौ कृतचूड़ः स्थाद् यदि स्थाच निवत्सरः"—इति ॥
श्रय मातामद्वादिश्राद्वाधिकारनिर्णयः। तच व्यामः,—
"पित्वातामद्वांश्चेव दिजः श्राद्वेन तर्पयेत्।

श्रमृणं स्थात् पितृणान्तु ब्रह्मस्रोकं च गच्छति''— दति ॥

मातामहानामि।ते बद्धवचनं मातुः पितामहप्रपितामहयो
रिप^(२) मङ्ग्रहार्थम् । तथा च पुलस्यः,—

"मातुः पितरमारभ्य चयो मातामहाः स्पृताः। तेषानु पित्वच्छाद्धं कुर्युर्दु हित्सूनवः"—इति॥

⁽१) मौज्जिबन्धन मुपनयनम् । स्वधानिनगनं श्राद्वसम्पादकमन्त्रज्ञातम् । स्वधा श्राद्धं निनीयते सम्पाद्यते स्वनेनेति खत्पत्तेः ।

⁽२) पितासस्प्रिपितासस्योशिखात्र सातुकिति पृश्वीयस्। तेन, साह-कर्न्ः प्रसातासस्ट टह्मप्रसातासस्य येशिखर्थः

पित्रशाद्धवनातामस्त्राद्धमपि नित्यं, श्वकरणे प्रत्यवायसार-णात्। तद्त्रं स्कन्दपुराणे,—

"पार्वणं कुरुते यस्तु केवलं पित्रहेतुतः।
मातामद्यन्न कुरुते पित्रहा ४ प्रजायते"—इति॥
ऋष्यक्रक्रोऽपि,—

"पितरो यच प्रज्यने तच माताक्षदा ध्रुवम्। श्रविशेषेण कर्त्तव्यं विशेषाचरकं वजेत्"—इति॥

मातामस्त्राद्धं कचिद्पवद्ति कात्यायनः,—

"कर्षूसमितितं सुद्धा तथा श्राद्धश्च षोड्ग्रम्।

प्रत्याब्दिकञ्च ग्रेषेषु पिष्डाः स्युः षडिति स्थितिः"—इति॥
कर्षू समन्वितं सपिण्डीकरणश्राद्धम्। षोड्ग्रयच्णकेकोहिष्टोपखचणार्थम्। सङ्गातमर्णे श्राद्धक्रमसाह स्वय्यद्भः,—

"भवेद्यदि सपिण्डानां युगपन्मरणं तथा।

सम्बन्धावित्तमालीचा तत्कमाच्छाद्धमावरेत्"-इति॥

श्रव पत्यादिसपिण्डेषु सम्बन्धासत्तिरेवं द्रष्ट्या । पंतिपत्योः सम्बन्धः प्रत्यासन्नः, एकप्रतियोगिकलादयवधानाच्च^(१) । पुचस्य तु मातापित्ददयनिरूप्यलेन विलम्बितप्रतिपत्तेविप्रकृष्टः सम्बन्धः । भात्तुसु पित्रज्ञत्वयवधानेन ततोऽपि विप्रकृष्टः । एवमन्यवादनीयम् । पत्थादीनां पित्रोश्च सङ्घातमर्णे स्थ्याद्यक्षः,—

⁽१) पतित्वं पत्नीमाचनिरूषं, पत्नीत्माप पतिमाचनिरूप्यमिखेकपति । धोगिकत्यमत्रवास्यविधितत्वस्य निर्वाबन्धमः ।

"पत्याः पुत्रस्य तत्पुत्रश्चाषोक्तत्तनयस्य च।

स्तुवाश्वश्रोस्य पिनोस्य महातमरणं यदि ॥

श्वर्वागव्दान्माटिपिटपूर्वं सापिण्डामाचरेत्"—इति।

तत्पुत्रः पुत्रपुत्रः। तत्तनयो श्वाटतनयः। यत्तु देवलेनोक्तम्,—

"पितरौ प्रमृतौ यस्य देहलस्याग्रु चिभवेत्।

न देवस्तापि पित्रस्य यावत् पूर्णां न वत्सरः"—इति॥

तत्पूर्वोक्तपत्यादित्यतिरिक्तसपिण्डविषयम्। श्वतण्व स्तोगास्तिः,—

"श्वन्येषां प्रेतकार्याणि सन्दागुरुनिपातने।

सुर्यात् सम्बत्सरादर्वाक् श्राद्धसेकन्तु वर्जयेत्"—इति॥

प्रेतकार्याणि दन्दनादीन्याद्यश्चाद्वान्तानि विविचितानि,

"श्वाद्यं श्राद्धस्याद्वोति क्यारिक्तम्योग्यानि विविचितानि,

"श्वाद्यं श्राद्धस्याद्वोति क्यारिक्तम्योग्यानि विविचितानि,

"श्वाद्यं श्राद्धमाइद्घोऽपि कुर्यादेकादग्रेऽहिन"—इति विश्रेषस्प्रर्णात्। एकमित्यन्यदित्यर्थः (१)। पिचोः सङ्घातसर्णे देवसः,—

> "पिचोरूपरमे पुचाः क्रियां कुर्युईयोरपि। श्रनुद्वसौ च नान्येषां महातमर्णेऽपि वा"—इति॥

^{*} एकमिलेकस्य वर्ष्कयेदिलार्थः, — इति ना०। † वान्येषां, — इति ना०।

⁽१) तथाच पिटमाटमर्गे वत्सरमध्ये पत्नादीनां दाहादि प्रेतकार्थे स्नाद्यस्व कर्मचमेव। पत्नादिभिन्नसपिगडानान्तु दाहादाद्यस्नाद्यः पर्यन्तमेव कार्थे, व तेषां प्रेतसाद्यमणि,—इति खवस्यानिस्कर्षः।

श्रन्गमनेन पित्रोः सङ्घातमर्णे मात्रन्गमनेन दिनान्तर-मर्णेऽपि तत्तद्वादशाहे क्रियां कुर्युः, श्रन्येषां पित्रोश्च सङ्घात-मर्णे यथाकालं न कुर्युः, किन्तुं विपचएव। तदाह लौगाचिः,—

"पत्नी पुत्रस्तथा पौत्रो साता तत्पुत्रसा श्रिपि। पितरौ च यदैकस्मिन् स्रियेरन् वासरे तदा॥ श्राद्यमेकादभे सुर्यात् चिपचे तु सपिण्डनस्"—इति। पित्रोरनुगमनं विना सङ्घातसर्णे सातुरनुगमनं विना दिनान्त-

"एकाइमरणे पित्रोरन्यसान्यदिने सतौ।

मर्णेऽपि मातुस्तिपचे सपिण्डनं सुर्यात् । तथा च देवलः,—

सपिएडनं चिपचे स्थादन्यानम्हतिं विना"—इति॥
साहपिहश्राद्धदयस्य दैवात्कालेकोऽपि पिहश्राद्धं पूर्वं कुर्यात्।
तदाह कार्णाजिनिः,—

"पिचोः याद्धे समं प्राप्ते नवे पर्युषितेऽपि वा। पित्यपूर्वं स्तः कुर्यादन्यचासत्तियोगतः"—इति॥

श्रन्यच मार्टिपत्यतिरिक्तविषये सम्बन्धासत्तियोगतः कुर्या-दित्यर्थः। यनु प्रचेतसोक्तम्,—

"नेकः श्राद्धदयं कुर्यात् समानेऽहिन कुचिन्"—हित ॥ तदैकिसान् श्राद्धे कियमाणे दैवतैक्यात् यद्यन्यस्य प्रसङ्गात् सिद्धि-

^{*} यथाकाले कुर्युः किञ्च,—इति ना॰। । पत्नी पत्तः खुषा पौत्ती साहतत्तनया खपि,—इति सु॰।

स्ति वयम् (१) । यथा नित्यश्राद्धामावास्थाश्राद्धयोर मावास्थाश्राद्धेन नित्यश्राद्धिसिद्धिः प्रामिङ्गको । यथा वा, दार्धिक युगादिश्राद्ध-योर्थुगादिश्राद्धेनेव दार्धिक सिद्धिः (१) । पित्रोर्धता हैक्ये सत्यन्वारो-हणविषये लोगा चिणा विशेष उक्तः,—

> "स्तेऽहिन समासेन पिण्डिनिर्व्वपणं पृथक्। नवश्राद्धन्तु दम्पत्योरन्वारोहण्ण्व तु"—द्गि॥

पिएडनिर्व्यपणं श्राद्धं समासेन पाकाद्येक्येन पृथगसपत्नीकं क्षेत्रं त्। नत्रश्राद्धमपि तथा कुर्यात्। स्रात्यन्तरमपि,—

"एकचित्यां समारूढी दम्पती निधनं गती।

पृथक् आद्धं तथा कुर्यादोदनं न पृथक् पृथक्' - इति॥
श्रनेकमात्भिरेकचित्यामनारोहणे हते पाकादीकोन प्रथमं पितुसादनन्तरं माचान्मातुस्ततो ज्येष्टादिकमेण कुर्यात्। तदाह स्गु:,-

[ं] च,—इति मु॰।

⁽१) चन्योदेशीन प्रवत्तावन्यस्यापि सिद्धिः प्रसङ्गः।

⁽⁼⁾ तथा च खमावस्यतरच नित्यश्राद्धविधेः, युगादीतरच च दर्णश्राद्ध-विधेरनुरानप्रयोगकत्वात् तत्तिदिधीनां प्रामाण्यस्पपयते । नित्यश्रा-द्वेनामावस्याश्राद्धसिद्धौ दर्शश्राद्धेन युगादिश्राद्धसिद्धौ चामावस्यादि-श्राद्धविधीनां कुचाप्यनुरानप्रयोगन्द्वायावात् खप्रामाण्यं स्थादिति भावः । एवस्र विश्रेषेण सामन्यसिद्धिने तु सामान्येन विश्रेषसिद्धिन रिति तात्पर्यम् ।

⁽३) तथाच वित्रोः श्राहं एघरेव कुर्यात्, न तु वितुः श्राद्धं सपत्नीका तथा कृत्वा तावते व साह श्राद्धं सतं अन्येते यर्थः।

"एककाले गतास्नां बह्नगमय वा दयोः।
तन्तेण श्रपणं कुर्यात् श्राद्धं कुर्यात् पृथक् पृथक् ॥'
पूर्वकस्य मृतस्यादौ दितीयस्य अवन्यतः।
हतीयस्य ततः कुर्यात् सिंजपातेस्वयं क्रमः"—इति॥

पूर्वकस्य मुख्यस्य पितुः, दितीयस्य ततो जघन्यासा जनन्याः, वितीयस्य ततोऽपि जघन्यया मातुरित्यर्थः (१) । पार्वणैकोह्छियोः मिन्नपाते जावालिः,—

"यरोकच भवेताच्चेदेकोहिष्टं च पार्वणम्।
पार्वणं तच निर्वत्य एकोहिष्टं घमाचरेत्*"—इति॥
प्रानेकनिमित्तपविपाते निमित्तानुक्रमेण श्राद्धं सुर्णात्। तथा
च कात्यायनः,—

"दे बह्रनि निमित्तानि जायेरजेकवासरे। नैमित्तिकानि कार्याणि निमित्तोत्पत्यनुकसात्"—इति॥ यद्यप्येकदेवताकश्राद्धदयमेकस्मिञ्चहिन न युक्तं, एकानुष्ठानेने-तरप्रयोजनस्थापि प्रसङ्गात् सिद्धेः; तथापि नैमित्तिकानि वचन-बलादनेकान्यप्यनुष्ठेयानि। तथा च जावालिः,—

"श्राद्धं क्रवा तु तस्येव पुनः श्राद्धन्न तहिने। नैमित्तिकन्तु कर्त्त्वयं निमित्तानुक्रमोदयम्"—इति॥

^{*} एको द्विन्तु निर्वर्चे पार्वमं विनिवर्त्तयेत्, — इत्यन्य पाठः ।

⁽१) माटपटमच सपतीमाटपरं बोध्यम्।

नित्यकाम्ययोरेकदेवताकयोः सिव्याते काम्येनैव नित्यसिद्धः। तद्कं स्पृतिसंग्रहे,—

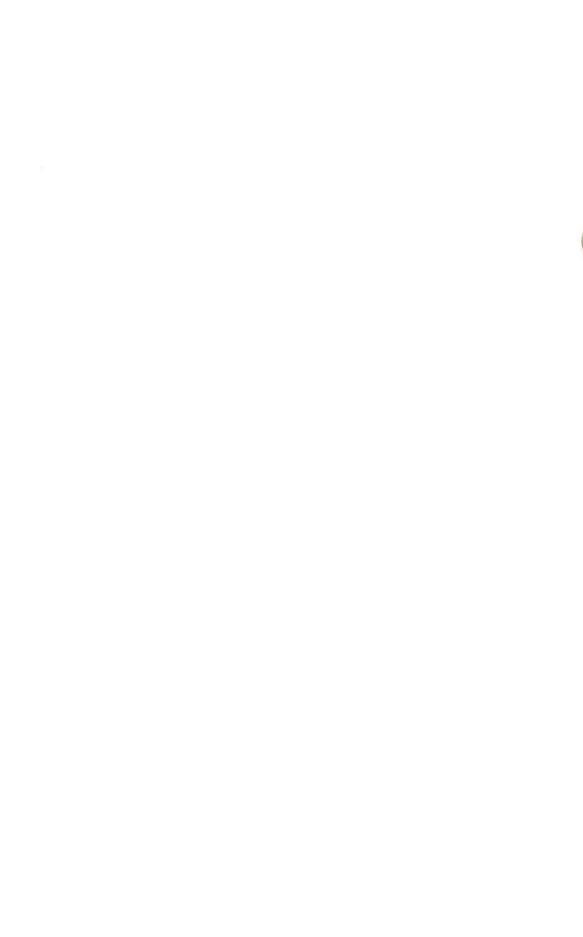
"काम्यतन्त्रेण नित्यस्य तन्त्रं त्राद्धस्य सिध्यति"—इति॥ यचाग्रोचिवधानजातमजहत्त्वार्यप्रयुक्ता दृगा प्रोक्तं यच च संग्रहीतवपुषां त्राद्धं मसद्यी पदम् । न्नध्यायं तदवाद्यनिर्णयविदां तार्त्तीयमार्त्तिच्चदं सोऽयं व्याक्षहते स्वतन्त्रमहिमा मन्त्रीयरोमाधवः॥

इति श्रीमहाराजाधिराजपरमेयरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-श्रीवीर-वुक्कभूपालमाम्राज्यधुरन्थरस्य माधवामात्यस्य क्वती पराग्ररस्यति-याख्यायां माधवीयायां हतीयोऽध्यायः समाप्तः॥०॥

॥०॥ समाप्तञ्चाचारकाण्डम् ॥०॥

शुहिपनम्। — 💮 — ॥

| इ.ह | प स्ती | च प्राडम् | शाहम्। |
|----------------|------------|--------------------|-----------------------|
| 2 | १२ | ल ता | क्रती |
| ų | રપૂ | स्मृतिष | स्रिविषु |
| Ę | १० | य त्पत्स | र्यात्यस् न्येष्ठे |
| १६ | وح | ले छे | |
| " | 39 | निर्व्विश्रम | निव्विशान् |
| २ ३ | २ 8 | पूर्व्यपचा | पूर्वपची |
| २ 8 | 39 | तथा | तथा च |
| २८ | 5 | सुि | मुनि |
| ३० | २ २ | मुदितातमविवेश | मुदितातमतत्त्वविवेज |
| 3 8 | २ | च्यासभ्य ते | छार्भ्य ते |
| 20 | २ ४ | चित्तस्य | चित्तस्य |
| ३८ | ٤ | पारभते | मारभते |
| 8 ° | २० | परियान्यमाया | परिणममाना |
| 84 | 35 | इत्युत्त-प्र | इयुता-स |
| 8 € | د, ۹ ه | मी॰ च॰ १ पा॰ २ सू॰ | मी॰ ६ छ। पा॰ २२ स |
| e ₈ | ₹• | प्रमात | प्रमीत |
| y < | १३ | धम्म | धर्म |
| y E | २ | श्रिष्यः | ष्रिष्टीः, |
| £ 8 | ~ | सव | सब्ब |
| E.C. | २ १ | यस्य | तस्य |
| 90 | १२ | वत्सल | वत्सन ! |
| ગ્દ્ | २० | लच् गम् चते | लच्या उचेते |
| 6 | २१ | नुगात्व | गुगल |
| ० ६ | १२ | तचेकाद भ्री | त चैकाद श्री |
| ् ५ | १० | भूलत्वेन | मूलत्वन |
| ٤٦ | २ १ | मल | अ |
| € € | ₹ | 'च सङ्गम्य | ''ब्रसङ्गस्य - |
| a: | ११ | दहस्य | देह्स्य |
| | | | |







ORIENTAL BOOK CENTRE

5824,Near Shiv Mandir, New Chandrawal, Jawahar Nagar, Delhi-110007 Phone: 91-11-23851294, 55195809

E-mail : newbbc@indiatimes.com



Rs. 3000.00 (Set in 3 Vol.